प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास



रतिभानु सिंह नाहर, एम० ए०, डी० फिल०

किताब महल, इलाहाबाद, देहली

प्रथम संस्करण, १९५६
द्वितीय संस्करण, १९६१
तृतीय संस्करण, १९६७
चतुर्थ संस्करण, १९७१
पंचम संस्करण १९७४
पुनः मुद्रित १९७५
पुनः मुद्रित १९७७
पुनः मुद्रित १९७९
पुनः मुद्रित १९८०
नवम् संस्करण १९८१
दशम् संस्करण १९८२

शाखाएँ (१) २८, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, नईदिल्ली
(२) अशोक राजपथ, पटना
(३) मनोज बिल्डिंग, सेंट्रल बाजार रोड,
रामदास पेठ, नागपुर

यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित है।

मूल्य ३०.००

प्रकाशक किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक किताब महल (होलसेल डिवीजन) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

पचम सस्करण

'प्राचीन भारत का राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास' का यह चतुर्थ सस्करण आपके हाथो मे है। आपने इसके प्रथम चार सस्करणो का जिस प्रकार स्वागत किया, उसके लिए हम आपके आभारी हैं। इस विषय के अध्येताओ की आवश्यकताओ, नयी सामग्री, नये शोधकार्यों के प्रकाश मे पूर्णतया सशोधित और परिमार्जित यह सस्करण पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

—प्रकाशक

तृतीय सस्करण

इस सस्करण मे मैंने एक बार उन समस्त समस्याओ व ऐतिहासिक गुत्थियो की जाँच करने की चेष्टा की है जिन पर नये अनुसधानो से कुछ प्रकाश पड सका है, पर साथ ही यहाँ मुझे यह भी ध्यान रखना पड़ा है कि ग्रन्थ केवल शास्त्रीय विवेचन तक ही सीमित न रह जाय अथवा जिनके लिए ग्रथ की रचना हुई है उनके हितो की उपेक्षा का विषय न बन जाय। अत इस सस्करण मे मैंने केवल कुछ आवश्यक साम ग्रियो को ही सगृहीत किया है।

विश्वविद्यालय के प्राध्यापको का मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ जो मुझे समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझाव देते रहे हैं। 'पूर्ण कुछ भी नहीं है और ज्ञान के क्षेत्र म कुछ भी ब्रह्म-वाक्य नहीं है', इसे स्वीकार करते हुए मैं अपना यह लघु प्रयास प्रस्तुत कर रहा हूँ।

—लेखक

इतिहास की सामग्री | १

भारतीय इतिहास की स्थिति

मानव की विगत विशिष्ट घटनाओं का ही दूसरा नाम इतिहास है। आज की प्रत्येक ऐसी घटना कल का इतिहास बन जायगी। इसी प्रकार, अतीत के सभी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास एवं परिवर्तन, भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान एवं पुनरुत्थान वर्तमान का इतिहास बनकर प्राचीन मानव तथा उसके कृत्यों की स्मृति दिला रहे हैं। किन्तु, अतीत और वर्तमान का निकट सम्बन्ध स्थापित करने का कोई माध्यम अथवा साधन चाहिए जो युगों की लम्बी दूरी को कम कर सके—इतना कम कि पुरातन, नूतन बनकर, हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाय। साहित्यकारों एवं विभिन्न प्रकार के कलाकारों की कृतियाँ ही वह साधन हो सकती हैं जो अतीत की स्मृति दिला सकें। विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताओं का ज्ञान इन्हीं कृतियों के आधार पर प्राप्त हो सका है। साहित्यकारों की रचनाओं तथा वास्तु-कला, भास्कर-कला, चित्रकला तथा अन्य ललित कलाओं के कलाकारों की रचनाओं में केवल इतना अन्तर है कि एक मुखरित है तो दूसरी मूक, पर दोनों की उपयोगिता निर्विवाद है। मिस्र की प्राचीन सभ्यता का ज्ञान वहाँ के पिरामिडों तथा स्फिक्स द्वारा अधिक स्पष्ट हो गया है, यूनान के प्राचीन इतिहास का बोध कराने में हेरोडोटस (Herodotus) की महान् कृति 'हिस्ट्रीज' (Histories) का महत्त्व विशेष उल्लेखनीय है और इसी प्रकार रोम के इतिहास पर प्रकाश डालने में लिवी (Livy) के 'एनल्स' (Annals) की उपयोगिता निर्विवाद है।

भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी इसी कोटि के कृतियों की आवश्यकता है। उस प्राचीन काल का विवरण साहित्यकारों की कृतियों में प्राप्त हो और उस विवरण के आंशिक साक्ष्य रूप में प्राचीन कलाकारों द्वारा निर्मित भवनों, मूर्तियों, चित्रों तथा अन्य कला की वस्तुओं का अभाव न हो, इतिहास जानने का इससे उत्तम अन्य कोई साधन नहीं। पाश्चात्य इतिहासकारों का सदैव यह आरोप रहा है कि प्राचीन भारत का इतिहास जानने का कोई विश्वसनीय साधन नहीं है। फ्लीट महोदय के सम्मुख तो यह प्रश्न उठता है कि क्या प्राचीन काल के हिन्दुओं की अभिरुचि इतिहास-रचना की ओर थी? उक्त महोदय को यह भी शंका उत्पन्न होती है कि प्राचीन भारतीयों में इतिहास रचना की शक्ति थी भी, अथवा नहीं। इसी प्रकार, सुप्रसिद्ध इतिहासकार अल्बेरूनी ने भी प्राचीन भारतीयों की इतिहास रचना-सम्बन्धी उदासीनता का उल्लेख किया है। अल्बेरूनी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि प्राचीन भारतीयों से यदि किसी समय या काल का इतिहास या उस समय की किसी घटना विशेष के विषय में पूछा जाता है तो वे 'कथाएं कहना आरम्भ कर देते हैं'। एक इतिहासकार ने तो यह भी कह दिया है कि भारतवर्ष का कोई इतिहास ही नहीं है।[१] पूर्ण इतिहास की बात तो पृथक

१ "India has no history but episodes"

रही, भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओ की तिथियो के विषय मे लगभग सभी इतिहासकारो ने जोर देकर कहा है कि प्राचीन भारत की महत्त्वपूर्ण घटनाओ की तिथियाँ या तो प्राप्य नही, या जो कुछ प्राप्य भी हैं, वे सदिग्ध तथा भ्रममूलक हैं। एल्फिन्स्टन महोदय ने तो यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व की किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना की तिथि निर्धारित करना कठिन है। किन्तु, जहाँ तक प्रमुख घटनाओ की तिथियो के अभाव का प्रश्न है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विश्व के लगभग सभी प्राचीन देशो का यह दुर्भाग्य रहा है कि उनके इतिहास को तिथिक्रमानुसार नही रक्खा जा सका। आधुनिक अन्वेषणा तथा अन्य नवप्राप्त सामग्रियो के सम्मिलित अध्ययन के पश्चात् तिथिक्रम का ज्ञान भले ही प्राप्त हो सका हो, पर प्राचीन इतिहास अपने वास्तविक रूप मे तिथिक्रमानुसार नही है। वि० स्मिथ महोदय ने समस्त राष्ट्रो के तिथिक्रमानुसार इतिहास के अभाव के कारण ही लिखा है कि "समस्त राष्ट्रो का इतिहास क्रमबद्ध करने के लिए निश्चय ही तिथियो का अभाव है।" ऐसा लगता है कि प्राचीन मानव की यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि वह तिथियो को महत्त्व न देकर तिथि की घटनाओ को प्रधानता देता था। विश्व के इने गिने देशो मे ही तिथिक्रमानुसार इतिहास रचना का पता चलता है। राजाओ की सुविस्तृत तालिकाओ तथा तत्सम्बन्धी असख्य घटनाओ का विवरण लगभग प्रत्येक देश मे किवदन्तियो, दन्तकथाओ तथा पौराणिक कथाओ मे प्राप्त होता है। भारतीय इतिहासकार के सम्मुख तो ऐसी सूचियो का बाहुल्य है। किन्तु सब कुछ होते हुए भी निस्सदेह यह नही कहा जा सकता कि प्राचीन भारतीयो को इतिहास रचना से प्रेम न था या उनमे ऐसी शक्ति न थी। फ्लीट महोदय की यह शका कि प्राचीन हिन्दुओ मे इतिहास रचना की ओर अभिरुचि थी अथवा नही, या उनमे ऐसे गुण विद्यमान थे अथवा नही, विशेष तर्कसगत नही। इसी प्रकार कावेल महोदय का यह मत कि "हिन्दू-काल मे हम उस समय तक की घटनाओ का विस्तारपूर्वक तथा निश्चित रूप से वर्णन नही कर सकते, जब तक भारत अन्य राष्ट्रो के सम्पर्क मे नही आया" अक्षरश सत्य नही है। वास्तव मे प्राचीन भारतीयो को इतिहास रचना मे उतनी ही रुचि थी, जितनी अन्य विषय के ग्रन्थो की रचना मे। अन्तर था केवल दृष्टिकोण का। आज के 'इतिहास' की परिभाषा परिवर्त्तित हो गयी है इतिहासकारो का दृष्टिकोण परिवर्त्तित हो गया है और इतना ही नही, सम्भावना तो अब है कि आज का यह परिपक्व ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी परिवर्त्तित होता जा रहा है, जो सम्भवत निकट भविष्य मे ही पूर्णतया विभिन्न हो जायगा। कल तक जिन भीषण रक्तपातो नरसहारो तथा विजयो पर सहस्रो पृष्ठ रँग दिये जाते थे और उसी समय कला, सभ्यता तथा सस्कृति की सूक्ष्म मूल प्रवृत्तियो का बहुधा उल्लेख मात्र कर दिया जाता था, आज या तो दोनो परिस्थितियो के साथ न्याय किया जाता है और समान रूप मे प्रकाश डाला जाता है, या सभ्यता एव सस्कृति को अधिक से अधिक प्रकाश मे लाने का प्रयास किया जाता है। हमारा यह अभिप्राय नही कि आज का इतिहासकार शुष्क ऐतिहासिक घटनाओ की ओर दृष्टिपात ही नही करता, पर वास्तव मे सोचता वह कुछ ऐसा ही है। प्राचीन आर्यों ने इतिहास को क्या रूप दिया था, उनके लिए इतिहास क्या था, इसका पूर्ण ज्ञान हम उनकी निम्नलिखित परिभाषा से प्राप्त हो जाता है—

पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरण धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रचेतिहास ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण,

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ही प्राचीन आर्यों का इतिहासशास्त्र था। उनकी इस परिभाषा को सम्मुख रख कर क्या यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्राचीन आर्यों ने 'इतिहास-रचना' मे उदासीनता दिखलाई, अथवा उनमे 'इतिहास' लिखने की शक्ति न थी? डाक्टर बेनी प्रसाद ने उचित ही लिखा है कि " तिथियो के न होने से विकास (सभ्यता के विकास) का क्रम अच्छी तरह स्थित नही होता। पर, इसके बाद जो कठिनाई पडती है, वह सामग्री की कमी से नही, किन्तु बहुतायत से पैदा होती है।' वास्तव मे, यदि तिथिक्रम के प्रश्न को थोडी देर के लिए पृथक् करके सोचा जाय तो भारतीय इतिहास की सामग्री का इतना बाहुल्य है—यद्यपि उस अथाह सामग्री-सागर मे प्रक्षिप्तांशो, प्रतिवादो तथा अत्युक्तियो का अभाव नही—कि उन्हें इतिहास का मूलाधार तथा इतिहास जानने के साधनो का माध्यम बना कर जीवन-पर्यन्त कोई अन्वेषण कर सकता है। कुछ काव्यात्मक, किन्तु यथार्थ रूप मे प्राचीन काल की लिखित सामग्रियो की अथाह सिन्धु और ऐतिहासिक घटनाओ की मणियो से उपमा दी जा सकती है। समुद्र मे प्रत्येक स्थान पर मणियाँ नही, और प्रत्येक मणियाँ मूल्यवान् नही। ठीक इसी प्रकार प्राचीन भारतीय ग्रन्थो मे प्राचीन इतिहास निहित है। प्राचीन भारतीय कलाकारो की कृतियां भी कम नही, जिनसे हमारे प्राचीन इतिहास का बोध हो सके। मूर्तिकला, चित्रकला, भवन निर्माण-कला तथा अन्य ललित कलाओ के उत्कृष्ट उदाहरण आज भी अपनी भग्नावस्था मे हमारी प्राचीन सभ्यता एव संस्कृति की स्मृति दिला रहे हैं। भारतीय इतिहास की सामग्री का पूर्ण विवरण आगे दिया गया है।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि किसी भी देश का इतिहास जानने के केवल दो साधन होते हैं—पहला साहित्यकारो की कृतियाँ तथा दूसरा विभिन्न कलाकारो की कृतियाँ। भारतीय इतिहास के साधनो को भी इन्ही दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक।

साहित्यिक सामग्री को सुविधा के लिए इस प्रकार विभाजित किया गया है—(१) धार्मिक साहित्य तथा (२) इहलौकिक साहित्य। धार्मिक साहित्य भी दो प्रकार का है—(क) ब्राह्मण ग्रथ तथा (ख) अब्राह्मण ग्रन्थ (बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ)। ब्राह्मण ग्रन्थो को भी श्रुति तथा स्मृति, दो भागो मे विभाजित किया गया है। श्रुति के अन्तर्गत चारो वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदो की गणना की जाती है और स्मृति मे दो महाकाव्य रामायण एव महाभारत, पुराण तथा स्मृतियाँ आती हैं। इसी प्रकार, इहलोकपरक साहित्य निम्नलिखित पाच प्रकार का है—(क) ऐतिहासिक, (ख) अर्ध ऐतिहासिक, (ग) विदेशी विवरण, (घ) जीवनियाँ तथा (ङ) कल्पना प्रधान एव गल्प साहित्य (विशुद्ध साहित्य)।

ऊपर साहित्यिक सामग्री का विभाजन किया गया है। अब पुरातात्त्विक सामग्री के विभिन्न भागो का उल्लेख किया जायगा। पुरातात्त्विक सामग्रियां कुछ तो अपने वास्तविक रूप मे प्राप्त हुई हैं और कुछ उत्खनन द्वारा। जाने कितनी ऐसी सामग्रियाँ अभी पुरातत्त्ववेत्ताओ के फावडो की प्रतीक्षा में धरती के नीचे पडी हैं जो इतिहास मे कोई नया परिच्छेद जोडने या विवादास्पद विषयो का साक्ष्य बनने के लिए व्याकुल हैं। इन पुरातात्त्विक सामग्रियो को मुख्यत तीन भागो मे विभाजित किया गया है—(१) अभिलेख, (२) प्राचीन स्मारक तथा (३) मुद्राएँ।

साहित्यिक सामग्री

(१) धार्मिक साहित्य

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेद—वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। प्राचीनता तथा अनुपमेय महानता के कारण ही ये मानव रचित न होकर ईश्वर प्रदत्त माने गये हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। यों तो लगभग सारे वेदों की उपयोगिता इतिहास-अन्वेषण में आंशिक रूप से वांछनीय है, किन्तु ऋग्वेद, जो प्राचीनतम है, इस विषय में अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ है। प्राचीन काल में आर्य किस प्रकार और कहाँ तक भारतवर्ष में अपना प्रसार कर सके थे, अनार्यों से उनके संघर्षों का वर्णन, सप्तसिन्धु का गुणगान आदि ऋग्वेद से ही प्राप्त होता है। इस आदि ग्रन्थ के अभाव में सम्भवतः आर्यों के विस्तार का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन कार्य हो जाता।

ऋग्वेद में दस मण्डल हैं। उनमें कुल १०२८ सूक्त हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त, अन्य वेदों का भी अपना महत्त्व है। डा० राधाकृष्णन ने इन वेदों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए अपनी प्रसिद्ध रचना Indian philosophy (भारतीय दर्शन) में लिखा है "While the Rigveda describes the period of conflict between the fair skined Aryanns and the dark Dasyus, which Indian mythology makes into a strife of Devas and Rakshasas the Atharvaveda speaks *to us of the period when the conflict is settled and the two are trying* to live in harmony by mutual give and take"

ब्राह्मण—वैदिक मन्त्रों तथा संहिताओं की गद्यटीकाओं को ब्राह्मण कहा जाता है। प्राचीन ब्राह्मण ऐतरेय, पंचविंश, शतपथ, तैत्तरीय आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतरेय के अध्ययन से ही राज्याभिषेक तथा कुछ प्राचीन अभिषिक्त राजाओं के नामों का ज्ञान प्राप्त होता है। इनकी सूचनाओं को अन्य सामग्रियों की सहायता से इतिहासपरक बनाया जा सकता है। इसी प्रकार, शतपथ, जो अपने १०० अध्यायों के कारण ही शतपथ कहलाता है भारत के पश्चिमोत्तर के गान्धार, शाल्य तथा केकय आदि और प्राच्य देश कुरु पाञ्चाल, कोशल तथा विदेह पर प्रकाश डालता है। सुप्रसिद्ध आर्यराजा परीक्षित तथा उसके काफी बाद तक का भारतीय इतिहास का ज्ञान ब्राह्मणों द्वारा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषद्—उपनिषदों में बृहदारण्यक, छान्दोग्यादि अधिक प्राचीन हैं। इन ग्रन्थों से बिम्बसार के पूर्व का इतिहास जानने में सहायता ली जा सकती है। प्रो० मैकडोनेल तथा डा० राजेन्द्रलाल मिश्र ने यह सिद्ध किया है कि इनका रचना-काल बिम्बसार के पूर्व का है। परीक्षित, उसके पुत्र जनमेजय तथा बाद के राजाओं का उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है जिससे यह स्वीकार किया जा सकता है कि उनकी रचना परीक्षित के कुछ बाद और बिम्बसार से पहले हुई होगी। वास्तव में, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के सम्मिलित अध्ययन से ही परीक्षित से लेकर बिम्बसार तक के इतिहास पर कुछ सोचा जा सकता है। उपनिषदों की दार्शनिकता को ध्यान में रखते हुए यह दावे से कहा जा सकता है कि प्राचीन आर्यों का दर्शन अन्य सभ्य देशों के दर्शन से कहीं आगे बढ़ा था। प्राचीन आर्यों के आध्यात्मिक विकास का पूर्ण ज्ञान [illegible] से ही प्राप्त होता है। प्राचीन काल की धार्मिक अवस्था, चिन्तन तथा

नतिक विकास के ये जीते-जागते उदाहरण हैं। वेदों तथा ब्राह्मणों की महानता को य अधिक शक्तिशाली बना देते हैं।

वेदांग—कालान्तर में वैदिक अध्ययन के निमित्त विशिष्ट विद्याओं की शाखाओं का जन्म हुआ जो वेदांग के नाम से विख्यात हैं। मुण्डक उपनिषद् में छ वेदांगों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—"शिक्षाकल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषम्", अर्थात्—शिक्षा (Phonetics), कल्प (Ritual), व्याकरण (Grammar), निरुक्त (Etymology), छन्दशास्त्र (Metrics) तथा ज्योतिष् (Astronomy)। वेदांग की छ शाखाओं से ही वैदिक पाठ को सरल एव सुबोध बनाया गया। आगे चलकर इन विषयों के पठन-पाठन में युक्त परिवर्तन हुए और इस प्रकार वैदिक शाखाओं के अन्तर्गत ही उनका पृथक् पृथक् वर्ग स्थापित हो गया। इन्हीं वर्गों के पाठय ग्रन्थों के रूप में सूत्रों का निर्माण हुआ। कल्पसूत्रों का चार भागों में विभाजित किया गया। महायज्ञों से सम्बन्धित सूत्रों को श्रौतसूत्र, गृह-संस्कारों पर प्रकाश डालने वाले सूत्रों को गृह्यसूत्र, धर्म अथवा नियमों से सम्बन्धित सूत्रों को धर्मसूत्र और यज्ञ एव हवनकुण्डों की क्रमश वेदी एव नाप आदि से सम्बन्धित सूत्रों को शुल्वसूत्र कहा गया। वेदांग का यह विस्तृत क्षेत्र तत्कालीन धार्मिक अवस्था का एकमात्र निदर्शन है। इन्हीं सूत्रों में सामाजिक अवस्था का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। किन्तु, कठिनाई यह है कि ये इतने विस्तृत तथा अथाह सागर की भाँति हैं कि इनमें से ऐतिहासिक तथ्यों को खोज निकालना सरल कार्य नहीं। ऋग्वेद से लेकर सूत्रों की रचना तक का समय लगभग दो हजार ई० पू० से पाँचवी शताब्दी ई० पू० तक माना जाता है। इस लम्बे अर्से का इतिहास इसी वैदिक साहित्य से प्रकाशित होता है।

दो महाकाव्य—वैदिक साहित्य के पश्चात् भारतीय साहित्य के दो स्तम्भ रामायण तथा महाभारत का अविर्भाव होता है। वास्तव में, सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य में ये अपना ऊँचा स्थान रखते हैं। भारतीय इतिहास को अधिक से अधिक प्रकाश में लाने का श्रेय बहुत कुछ इन महाकाव्यों को ही दिया जा सकता है। रामायण के रचयिता महाकवि वाल्मीकि ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का जीवन चरित्र लिख कर तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति को बोधगम्य बना दिया है।

मूल महाभारत के रचयिता व्यास मुनि माने जाते हैं। किन्तु, महाभारत के तीन संस्करण हुए —जय भारत तथा महाभारत। महाभारत का वर्तमान रूप प्राचीन इतिहास आख्यायिकाओं, कथाओं तथा उपदेशों का भण्डार माना जा सकता है। महाभारत प्राचीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। राजनीतिक परिस्थितियों का भी कुछ विवरण इसमें दिया गया है, किन्तु दुर्भाग्यवश तिथिक्रमानुसार इतिहास का इसमें सर्वथा अभाव है। कुछ कल्पित कथाओं के समावेश से भी ऐतिहासिक तथ्यों के अन्वेषण में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

पुराण—महाकाव्यों के पश्चात् पुराणों का स्थान आता है। पुराणों की संख्या १८ है। पुराणों की रचना का श्रेय सूतलोमहर्षण अथवा उनके पुत्र (सौति) उग्रश्रवस या उग्रश्रवा को दिया गया है। पुराणों के अन्तर्गत पाँच विषयों का वर्णन साधारणतया हुआ है—(१) सर्ग (आदि सृष्टि), (२) प्रतिसर्ग (प्रलय के पश्चात् पुनर्सृष्टि), (३) वंश (देवताओं तथा ऋषियों की वंश-तालिका), (४) मन्वन्तर (कल्पों के महा-युग, जिनमें मानव का स्रष्टा मनु माना गया है) तथा (५) वंशानुचरित (प्राचीन राज-

कुलो का इतिवृत्त)[१]। पुराणो के उक्त पाँच विषय होते हुए भी अठारहो पुराणो मे वशानुचरित का प्रकरण नही प्राप्त होता। यह दुर्भाग्य ही है, क्योकि पुराणो मे जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण विषय है, वह वशानुचरित है। वशानुचरित केवल भविष्य, मत्स्य, वायु विष्णु, ब्रह्माण्ड तथा भागवत पुराणो मे ही प्राप्त होता है। गरुड पुराण मे भी पौरव, इक्ष्वाकु और बार्हद्रथ राजवशो की तालिका प्राप्त होती है, किन्तु इनकी तिथि पूर्णतया अनिश्चित है।

पुराण इतिहास की प्रचुर सामग्री उपस्थित करते है। वे प्राचीन काल से लेकर गुप्त काल तक के इतिहास से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण घटनाओ का परिचय करा देते है जिनकी प्रामाणिकता के लिए हमे अन्य साक्ष्यो का सहारा लेना पडता है। इतिहासकारो को पुराणो से सर्वथा यह असन्तोष रहा है कि ये तिथिपरक नही और साथ ही काल्पनिक घटनाओ, कथाओ एव गल्पो का समावेश तो इन पुराणो मे काफी छूट के साथ किया गया है।

स्मृतियाँ—ब्राह्मण ग्रन्थो मे ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से स्मृतियो का भी विशेष महत्त्व है। मनु, विष्णु याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, पराशर आदि की स्मृतियाँ विशेष उल्लेखनीय है। ये धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात है। स्मृतियो की संख्याओ के विषय मे डॉ० बेनी प्रसाद ने लिखा है कि "पद्मपुराण ने ३६, वृद्ध गौतम ने ५६ या ५७ नन्द पण्डित ने वैजयन्ती मे ५७ और वीरमित्रोदय मे मित्रमिश्र ने ५७ स्मृतियाँ गिनायी है।" इन सभी स्मृतियो मे साधारण वर्णाश्रम धर्म, राजा के कर्त्तव्य तथा श्राद्ध एव प्रायश्चित्त इत्यादि के विषय मे प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार, केवल सामाजिक तथा धार्मिक विषयो पर जितना इन स्मृतियो मे लिखा हुआ है, उतना सम्भवत अन्य किसी ग्रन्थ मे नही।

अब्राह्मण ग्रन्थ

बौद्ध ग्रन्थ—गौतम बुद्ध का अवतरण भारतीय इतिहास की सर्वोत्कृष्ट घटना केवल इसलिए नही है कि वे महात्मा थे। यह तो आध्यात्मिक जगत के लिए ग्राह्य है पर भौतिक दृष्टिकोण से भी यह अवतरण महान् है। गौतम बुद्ध के अनुयायियो ने जिस साहित्य का सृजन किया उसका उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक होते हुए भी भारतीय इतिहास की सामग्री उसमे बहुत कुछ निहित है। बौद्ध ग्रन्थो मे त्रिपिटक अधिक महत्वपूर्ण है। सुत्त विनय तथा अभिधम्म तीनो मिलकर त्रिपिटक कहलाते हैं। सुत्त मे दीघ, मज्झिम सयुक्त अगुत्तर तथा खुद्दक पाँच निकाय हैं। इन सभी निकायो मे बौद्ध सिद्धान्त तथा कहानियाँ हैं। सिद्धान्तो का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत है, क्योकि बौद्ध दर्शन के अध्ययन मे ये काफी योग देते हैं। कहानियाँ भी तत्कालीन सामाजिक अवस्था का प्रसगत वर्णन करती है। पातिमोक्ख महावग्ग, चुल्लवग्ग सुत्तविभग तथा परिवर मे भिक्खु भिक्खुनियो के नियमो का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त पाँचो ग्रन्थ विनय के अन्तर्गत है। अभिधम्म के सात सग्रह हैं। इनमे तत्त्व ज्ञान की चर्चा की गयी है। बौद्ध धर्म तथा तत्कालीन सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियो के अध्ययन मे इन ग्रन्थो का महत्त्व काफी है।

त्रिपिटको की सबसे बडी विशेषता यह है कि ये बौद्ध सघो के सगठन का पूर्ण विवरण उपस्थित करते है। साथ ही तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो का भी बोध कराते हैं।

१ सर्गश्च प्रति सर्गश्च वशो मन्वतराणि च। वशानुचरितश्चैव पुराणम् पचलक्षणम् ॥

जातक—बौद्ध-ग्रन्थो मे जातक का दूसरा स्थान है। इनकी सख्या लगभग ५४९ है। जातको के महत्त्व के विषय मे सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान विन्टरनित्स ने लिखा है—"जातक केवल इसलिए ही अमूल्य नही कि उनके साहित्य और उनकी कला का प्रकाशन वैसा है, अपितु तीसरी शताब्दी ई० पू० की सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से भी उनका वैसा ऊँचा मान है।" जातको म भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाय सग्रहीत हैं। यद्यपि इनका दृष्टिकोण पूर्णतया धार्मिक है, किन्तु इनके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। सास्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र पर तो ये पर्याप्त प्रकाश डालते है। कुछ जातको से बुद्धपूर्व तथा बुद्धकालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियो का भी आभास मिलता है।

दीपवस, महावस—त्रिपिटक तथा जातको के पश्चात दीपवस तथा महावस नामक दो पालि महाकाव्यो का स्थान है। मौर्य-साम्राज्य के इतिहास का अध्ययन करने मे य दोनो ग्रथ अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। किन्तु, इनकी सूचनाओ को स्वीकार करते समय तक एव विवेक से काम लेना आवश्यक है।

मिलिन्दपञ्हो—यह अन्य पालि ग्रन्थ है। इस पुस्तक म यूनानी नरेश मिलिन्द या मिनैन्डर और बौद्ध भिक्षु नागसेन का वार्तालाप है। इस ग्रथ म तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक अवस्थाओ के अतिरिक्त आर्थिक अवस्था का भी पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। भारत के विदेशी व्यापार का तो इसमे सजीव चित्रण किया गया है। तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का भी प्रासगिक विवरण इस पुस्तक म प्राप्त होता है।

उपर्युक्त बौद्ध-ग्रन्थ पालि भाषा मे लिखे गये है। इनके बाद सस्कृत ग्रन्थो का विवरण दिया जायगा।

दिव्यावदान—सजीव सस्कृत गद्य की यह पुस्तक अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। अशोक तथा उसके उत्तराधिकारियो के विषय मे इससे बहुत अधिक जानकारी प्राप्त होती है।

मजुश्री मूलकल्प—यह भी सस्कृत का ग्रन्थ है। इससे मौर्य के पूर्व तथा हर्ष तक की राजनीतिक घटनाओ का बीच बीच मे उल्लेख मात्र कर दिया गया है। यह ग्रन्थ भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण स काफी महत्त्व रखता है।

ललित विस्तार—इससे महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन पर प्रकाश पडता है और प्रसगत तत्कालीन धार्मिक अवस्था तथा सामाजिक रीतियो का भी वर्णन प्राप्त हो जाता है।

अन्य बौद्ध ग्रन्थ भी भारत की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियो पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालते हैं पर उन सब का वर्णन यहाँ वाछित नही है।

जैन ग्रन्थ—बौद्ध ग्रन्थो की भाँति जैन ग्रन्थ भी पूर्णतया धार्मिक हैं। इन ग्रन्थो मे **परिशिष्टपर्वन** विशेष महत्त्वपूर्ण है। **भद्रबाहुचरित्र** दूसरा महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ साथ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन पर कुछ प्रकाश पडता है। उपर्युक्त दो प्रमुख ग्रन्थो के अतिरिक्त **कथाकोष, पुण्याश्रव-कथाकोष लोक विभाग त्रिलोक प्रज्ञप्ति, आवश्यक सूत्र, भगवती सूत्र, कालिकापुराण** आदि अनेक जैन ग्रन्थ भारतीय इतिहास की सामग्री उपस्थित करते है। जैन-साहित्य मे कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनका प्रकाशन या जिनका अन्य भाषाओ मे अनुवाद नहीं हो सका है, जिससे बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्रियाँ नही प्राप्त की जा सकी हैं, किन्तु कल्पसूत्रो से जो कुछ सामग्री प्राप्त हो सकी है, उसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

(२) इहलोकपरक साहित्य

जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, इहलोकपरक साहित्य पाँच प्रकार का है—(क) ऐतिहासिक, (ख) अर्द्ध-ऐतिहासिक, (ग) विदेशी विवरण, (घ) जीवनियाँ तथा (ङ) कल्पना-प्रधान एवं गल्प-साहित्य (विशुद्ध साहित्य)।

(क) ऐतिहासिक ग्रन्थ

इतिहास का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत राजाओं तथा उनके उत्तराधिकारियों का वर्णन, शासन-प्रबन्ध तथा अन्य राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी आती हैं। यहाँ 'ऐतिहासिक' शब्द का जो वास्तविक अर्थ लिया गया है, उसका तात्पर्य राजाओं तथा उनके शासन प्रबन्ध से है। इन पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों को ही यह संज्ञा दी गयी है।

राजतरंगिणी—कल्हण की राजतरंगिणी ही प्राचीन भारतीय साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसे ठीक अर्थ में ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसकी रचना ११४९-५० ई० में हुई थी। राग-द्वेष विनिर्मुक्त होकर तथ्यों की विवेचना करना ही कश्मीरी पण्डित कल्हण का उद्देश्य था। राजतरंगिणी के लेखक का दृष्टिकोण पूर्णतया ऐतिहासिक था। उसने कश्मीर का पूर्ण इतिहास (आदिकाल से अपने काल तक का) लिखा है। विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् ही कल्हण ने अपनी पुस्तक की रचना की। यद्यपि इस ग्रन्थ में कुछ काल्पनिक कथाओं का समावेश है, पर सातवीं शताब्दी ई० के पश्चात का जो कश्मीरी इतिहास इस पुस्तक में वर्णित है, उस पर पूर्ण विश्वास किया जा सकता है।

गुजराती इतिहासकार—कश्मीर की भाँति गुजरात में भी अपने वीरों के गुणगान तथा उनकी स्मृतियों को नवीन बनाने की प्रथा प्रचलित हुई। अनेकानेक कवियों तथा लेखकों ने इस ओर सफल प्रयास किया। सोमेश्वर का नाम इनमें विशेष रूप से लिया जा सकता है। इनकी दो पुस्तकें रासमाला तथा कीर्ति-कौमुदी गुजराती इतिहास के, कुछ पहलू पर काफी प्रकाश डालती हैं। अरिसिंह के सुकृति-संकीर्तन, राजशेखर के प्रबन्ध-कोष, जयसिंह के हम्मीर-मद-मर्दन तथा वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति के अध्ययन से गुजरात का इतिहास आभासित हो जाता है। मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि, उदयप्रभा की सुकृतिकीर्ति-कल्लोलिनी तथा बालचन्द्र का वसन्तविलास भी ऐसे ही ग्रन्थ हैं, जिनसे गुजरात का इतिहास मुखरित हो उठता है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थों तथा ग्रंथकारों का उद्देश्य प्रशस्ति एवं गुणगान रहा है, किन्तु इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का भी अभाव नहीं। चालुक्य-वंश के अधीन गुजरात की ऐतिहासिक गतिविधि का तो सजीव चित्रण हमें उपयुक्त ग्रंथों से ही प्राप्त होता है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र—इतिहासेतर ग्रन्थों में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में मौर्यकालीन भारत की शासन-पद्धति, राजनैतिक व्यवस्था, सामाजिक व आर्थिक जीवन का विशद् विवेचन है। इस प्रकार, ई० पू० चौथी शताब्दी के इतिहास के लिए इस ग्रन्थ से अच्छी सहायता मिलती है।

शुक्रनीतिसार—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ की भी अपनी उपयोगिता

नोट—जिन ब्राह्मण बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उनका यथास्थान विशेष परिचय आगे के प्रकरणों में दिया जायगा। विद्यार्थियों को चाहिए कि उन ग्रन्थों के विशेष अध्ययन के लिए उन्हें अवश्य पढ़ें।

है । इसके अध्ययन से तत्कालीन भारतीय समाज, उसके चिन्तन तथा उसकी प्रवृत्ति का पूर्ण बोध होता है । राजनीति-सम्बन्धी कुछ तथ्यो का ज्ञान (जो कि किसी विशेष राजा का नही है) हमे इसी प्रकार के नीतिग्रन्थो से होता है ।

कामन्दकीय नीतिसार—लगभग सातवी-आठवी शताब्दी ई० मे कामन्दक ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनेकानेक सिद्धान्त अपनी पुस्तक नीतिसार मे सग्रहीत किये तथा कुछ मौलिक पदो की रचना भी की। कामन्दीय 'नीतिसार' भी अर्थशास्त्र की भाँति प्रचलित हो गया और अनेकानेक सस्कृत टीकाकार तथा लेखको ने इसे उद्धृत भी किया। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समक्ष कामन्दकीय नीतिसार का उतना महत्त्व नही, किन्तु उस युग के राजस्व सिद्धान्त, राजा के कर्तव्य तथा अन्य सामाजिक रीतियाँ (जिनका सम्बन्ध राज्य तथा राज्य के हितो से था) कामन्दकीय नीतिसार से अधिक स्पष्ट हो जाती हैं ।

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र की परिपाटी मे कम से कम बीस ग्रन्थो की रचना हुई, किन्तु वे या तो काल के प्रवाह मे समाप्त हो गये, या किसी विशालकाय ग्रथ की महानता मे विलुप्त हो गये । कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पश्चात् केवल एक और अर्थशास्त्र प्राप्त होता है जो बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के नाम से विख्यात है । विषय की उपयोगिता के दृष्टिकोण मे ही इस ग्रन्थ को भी ऐतिहासिक ग्रन्थ की कोटि मे रक्खा गया है । इसकी रचना तिथि के विषय मे कोई प्रामाणिक साक्ष्य प्राप्य नही है । ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसके कुछ अशो की रचना नवी तथा दसवी शताब्दी ई० मे हुई ।

(ख) अर्द्ध ऐतिहासिक

इस वर्ग मे जिन ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है, उनके विषय मे केवल इतना कह देना उचित होगा कि उनके लेखको का उद्देश्य यद्यपि ऐतिहासिक न था, पर जिस मार्ग का अनुसरण करके ग्रन्थ-रचना हुई है, वह इतिहास के समानान्तर है । अत, इन ग्रन्थो म ऐतिहासिक घटनाओ का प्रतिबिम्ब आभासित होता है । इन अर्द्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों में पाणिनि की अष्टाध्यायी, गार्गसंहिता, पतञ्जलि का महाभाष्य कालिदास का मालविकाग्निमित्रम तथा विशाखदत्त का मुद्राराक्षस विशेष महत्त्वपूर्ण हैं ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी—यद्यपि यह एक व्याकरण का ग्रन्थ है, किन्तु इससे मौर्य-पूर्व तथा मौर्यकालीन राजनीतिक अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पडता है। इस ग्रन्थ मे कुछ वैयाकरणो का उल्लेख किया गया है, जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके पूर्व भी सस्कृत मे कुछ अन्य व्याकरण-ग्रन्थो की रचना हुई थी ।

गार्गसंहिता—यह पुराण का एक भाग है । इसमे यवन-आक्रमणो का उल्लेख किया गया है । इसी ग्रन्थ मे (कुछ अन्य मान्यता को लेकर) हम प्रथम शती के लगभग या इसके आसपास भारत पर यवनो का आक्रमण होना जानते हैं ।

पतंजलि का महाभाष्य—यद्यपि पाणिनि की अष्टाध्यायी के विवादग्रस्त सिद्धान्तो तथा कुछ अबाधगम्य नियमो को सुलझाने के अभिप्राय म ही पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना की, किन्तु प्रसगत उदाहरणो तथा स्पष्टीकरण के रूप मे जिन उपादानो का प्रयोग किया गया है उनसे प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है ।

मालविकाग्निमित्रम—यह सम्भवत महाकवि कालिदास का प्रथम नाटक है पूर्णतया साहित्यिक प्रवृत्ति का होते हुए भी इस ऐतिहासिक नाटक को अर्ध-ऐतिहासिक

ग्रन्थो की कोटि मे रखा जा सकता है। इस नाटक से शुग वश तथा उसके पूववर्ती राजवशो की समकालीन राजनीतिक परिस्थिति का बोध होता है। राजकुला के आ तरिक जीवन का तो यह दर्पण है।

मुद्राराक्षस—विशाखदत्त कृत यह नाटक यद्यपि कल्पना का आश्रय लेता हुआ अपनी साहित्यिकता की पूणता को प्राप्त कर पाता है, पर च द्रगुप्त मौर्य, उसके मत्री चाणक्य तथा कुछ तत्कालीन राजाओ का उल्लेख करके यह इतिहास को सुलझाने म बहुत कुछ योग देता है। सस्कृत साहित्य का सम्भवत यह प्रथम 'जासूसी' नाटक (यद्यपि इसे ऐतिहासिक नाटक की सज्ञा दी गयी है) मौयकालीन भारत पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

(ग) विदेशी विवरण

भारतीय सामग्री के अतिरिक्त हमारे इतिहास की कुछ अभारतीय सामग्री भी प्राप्त होती है जिससे इतिहास सम्बन्धी अनेकानेक महत्त्वपूण तथ्यो का बोध होता है। ये सामग्री उत्साही यात्रियो, धमनिष्ठ तथा भ्रमणशील विद्यार्थियो एव विदशी इतिहासकारो की रचनाओ से प्राप्त होती है और इसीलिये इन्हे विदेशी विवरण की सज्ञा दी गयी है। विदेशी विवरण का महत्त्व भारतीय इतिहास का तिथिक्रमानुसार अध्ययन करने मे सवमान्य है। वास्तव मे भारतीय सामग्रिया की कमी की पूर्ति करने वाले ये विदशी विवरण ही ह। जहा हिन्दू जैन तथा बौद्ध ग्रन्थ मौन हो जाते ह, वहा ये विदेशी विवरण ही इतिहासकार को कुछ प्रकाश दे पाते है।

प्राचीन सभ्य देशो मे से एक होने के नाते भारत मे प्राचीन काल से ही विदेशी यात्रियो की नावे आती रही। धन, धम तथा भ्रमण हर प्रकार की भावना लेकर यहा यात्रियो के काफिले आये। विदेशी विवरण म विदेशियो के उन वणनो को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिसे लेखको ने सुनकर लिखा है। जिन विदेशी जातियो के भ्रमक पयटक तथा लेखको का इस क्षेत्र मे विशेष महत्त्वपूण स्थान है, उनम यूनानी, रोमन चीनी तिब्बती तथा मुसलमान अधिक प्रसिद्ध है।

विदेशी विवरणो के सम्बन्ध म एक बात प्रारम्भ म उल्लेखनीय है कि इनकी कुछ अपनी सीमाएँ हैं। यूनानी रोमन, चीनी, तिब्बती आदि भारतीय परम्परा से प्राय अपरिचित थ। उनम से बहुतो का हमारी भाषा का ज्ञान न था। ऐसी स्थिति मे इनकी रचनाओ या विवरणो मे कुछ भ्रान्ति के दशन स्वभावत होते हैं। टेसियस विचित्र रीति रिवाजो की तालिका दे सकता है, फाह्यान तथा ह्वेनसाग का हर मदिर बौद्ध विहार दिखाई पड सकता था और अल्बरूनी ग्यारहवी शताब्दी मे भी आख मूदे बैठे हुए पहली शती ई० पू० के भारत का चित्र खीच सकता था, क्योंकि वह ग्रन्थो और उनके प्राचीन ग्रन्थकारो के मध्यकालीन वशजो की खाई को नही समझ सकता था। पर, इन सीमाओ के होते हुए भी, हम विदेशियो के विवरणो के महत्त्व को कम नही कर सकते हैं। हम भारतीय इतिहास के साधनो का उल्लेख करते समय विदेशी विवरणो को इसीलिए और अधिक महत्त्व देते हैं कि उनम से कुछ तो राजदूत के रूप म भी आये है जो प्राय उत्तरदायित्वपूण है। स्वतत्र पयटको की लगन एव उनका उत्साह भी सराहनीय रहा है।

यूनानी—यूनानी विवरणो को सुविधानुसार तीन वर्गों म विभाजित कर दिया गया है—(१) सिकन्दर पूव, (२) सिकन्दर कालीन तथा (३) सिकन्दर के बाद।

(१) सिकन्दर के पूव के लेखक—सिकन्दर के पूव के यूनानी लेखको म स्काई

लैक्स, हिकेटिग्रस मिलेटस, हेरोडोटस तथा केसिग्रस के नाम उल्लेखनीय हैं। स्काईलैक्स एक यूनानी सैनिक था जो पारसीक सम्राट् दारा के आदेशानुसार सिंधु नदी का पता लगाने भारत आया था। उसने अपनी यात्रा का विवरण तैयार किया, किन्तु उसकी जानकारी विशेष कर सिंधु-घाटी तक ही सीमित थी। इस परम्परा का दूसरा लेखक हिकेटिअस मिलेटस (ई० पू० ५४९ ई०-४६६ ई० पू०) था। इसका ज्ञान भी सिंधु घाटी तक सीमित था। इस परम्परा के लेखकों में मूर्धन्य स्थान हेरोडोटस (ई० पू० ४८४-४३१ ई० पू०) का है। उसे 'इतिहास का जनक' कहा जाता है। भारत की जानकारी हमें उसकी प्रसिद्ध रचना 'हिस्टोरिका' में मिलती है। केसिग्रस यूनानी राजवद्य था। इसने भी भारत के विषय में लिखा है। किन्तु, प्रामाणिकता की दृष्टि से उसकी अधिकांश सामग्री सन्देहास्पद है। सिकन्दर के पूर्व के उपयुक्त लेखकों के विवरण अक्षरश सत्य और विश्वसनीय नहीं है, किन्तु इन विवरणों को अन्य शास्त्रों द्वारा प्रामाणिक बना कर कुछ लाभ उठाया जा सकता है।

(२) सिकन्दर-कालीन—सिकन्दर के तूफानी आक्रमण की भीषणता तथा भयकरता को हम भले ही भुला दें, किन्तु भारतीय इतिहास की सामग्रियों के अन्वेषण के क्षणों में उस विजेता की स्मृति आ जाती है। सिकन्दर के साथ कुछ ऐसे भी उत्साही व्यक्ति आये थे जिन्होंने अपने भ्रमण का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया। इन लेखकों में अरिस्टोबुलस, निआर्कस, चारस, युमेनीस आदि प्रसिद्ध हैं। इन लेखकों ने सिकन्दर के आक्रमण का सजीव चित्रण किया है। यद्यपि इनके ग्रन्थ मूल रूप में उपलब्ध नहीं, किन्तु इनके परवर्ती लेखकों ने इनके ग्रन्थों के आधार पर या इन ग्रन्थों के उद्धरणों को लेकर जिन ग्रन्थों की रचना की, उनसे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण से उपर्युक्त लेखकों का महत्त्व अधिक है।

(३) सिकन्दर के बाद—सिकन्दर के भारत से लौट जाने के पश्चात् बहुत से यूनानी लेखक राजदूत या यात्री के रूप में भारत आये। कुछ लेखकों ने सिकन्दर के अनुयायियों के आधार पर ही ग्रन्थ रचना की, जिससे भारतीय इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इन लेखकों में मेगस्थनीज, प्लिनी, टॉल्मी, डायमेकस, डायोडारस, प्लूटार्क, एरियन, कर्टियस, जस्टिन, स्ट्रेबो आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

मेगस्थनीज यूनानी शासक सेल्यूकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया था। मेगस्थनीज कुछ दिनों तक (सभवत ६ वर्षों तक) पाटलिपुत्र में निवास करके वापस लौट गया। उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति के विषय में बहुत कुछ लिखा है। यद्यपि इसकी मूल पुस्तक उपलब्ध नहीं, किन्तु अन्य ग्रन्थों में इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिससे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। मेगस्थनीज की पुस्तक इण्डिका के सहारे कतिपय यूनानी तथा रोमीय लेखकों ने भारतवर्ष का वर्णन किया है, अत इस क्षेत्र में मेगस्थनीज का महत्त्व बहुत अधिक है।

राजदूत के रूप में दूसरा व्यक्ति डायमेकस भारतवर्ष आया था। यह सीरिया के राजदरबार से आया था और आदिमवेटिस (बिन्दुसार) के दरबार में कुछ दिनों तक रहा। इसी प्रकार, डायोनीसियस भी राजदूत के रूप में भारतवर्ष आया था। उपर्युक्त दोनों लेखकों के मूल ग्रन्थों का कोई पता नहीं चलता। हाँ, इनके परवर्ती लेखकों ने इनके नाम का उल्लेख किया है और साथ ही इनके विवरण का भी अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है, जिसके आधार पर कुछ जाना जा सकता है।

अन्य यूनानी लेखकों के केवल नाम तक ही गिनाये जा सकते हैं, क्योंकि उनके विवरण का कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। जो यात्री भारत के जिस कोने में पहुँच पाया, उसने उस आधार पर ही सम्पूर्ण भारत का चित्रण कर दिया।

तॉलमी दूसरा लेखक है, जिसका नाम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष उल्लखनीय है। लगभग दूसरी शताब्दी ई० में इसने भारतवर्ष के भूगोल से सम्बन्धित एक पुस्तक लिखी। तॉलमी का दृष्टिकोण पूर्णतया वैज्ञानिक था, अतः इसके विवरण में सत्य का अंश अधिक है। यद्यपि भारत के भूगोल तथा उसके मानचित्र का ठीक ठीक विचार तालमी के मस्तिष्क में नहीं आया था, तथापि उसका प्रयास पूर्णतया असफल नहीं माना जा सकता।

तालमी के बाद प्लिनी का नाम लिया जा सकता है। इसकी पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री' का भी इस क्षेत्र में बहुत महत्त्व है। प्लिनी ने भारतवर्ष के पशुओं पौधों तथा खनिज पदार्थों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक लगभग प्रथम शताब्दी ई० में लिखी गयी थी।

एरियन के लेख भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। भारत पर मकदूनिया के विजेता के आक्रमण के विषय में कोई भी भारतीय ग्रन्थ प्रकाश नहीं डालता है। ऐसी अवस्था में यदि उपर्युक्त लेखकों ने अपनी पुस्तकों की रचना न की होती तो सिकन्दर के आक्रमण का कोई ज्ञान हमें नहीं प्राप्त हो सकता था। अतः, इनकी उपयोगिता निर्विवाद है।

कर्टियस, जस्टिन तथा स्ट्रेबो की देन को हम भूल नहीं सकते। उनके विवरण में चाहे जितना भी अतिरञ्जन हो, चाहे जितनी भी काल्पनिक उड़ान हो, पर वे हमारे इतिहास के उलझे प्रश्नों को सुलझाने या उनका आंशिक ज्ञान कराने में निश्चय ही सहायक होते हैं।

एक अज्ञात लेखक की पुस्तक 'इरिथियन सागर का पेरिप्लस' भी ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करती है। भारतीय वाणिज्य पर इससे अधिक प्रकाश पड़ता है जो *सम्भवतः अन्य किसी साधन से न प्राप्त होता।*

ईजिप्ट के मठाधीश कासमस की इंडिका प्लुस्टस की पुस्तक 'क्रिश्चियन टापोग्राफी आफ दि यूनिवर्स' का भी उतना ही महत्त्व है। इस पुस्तक का रचना काल लगभग ५४७ ई० है।

चीनी—धार्मिक साहित्य का वर्णन करते हुए हमने महात्मा गौतम बुद्ध के अवतरण के महत्त्व पर एक दृष्टि डाली थी। भारतीय इतिहास को जाज्वल्य बनाने के साथ ही महात्मा गौतम बुद्ध हमारे इतिहास के तिमिराच्छादित अंगों को प्रकाशयुक्त बनाने का भी उपचार अज्ञात रूप में छोड़ गये। यह उपचार बौद्ध धर्म की प्रेरणा का फल था। भारत का बौद्ध धर्म लगभग प्रथम शताब्दी ई० में चीन पहुँचा तो चीन निवासियों के हृदय में भारतवर्ष के प्रति एक विशेष रुचि उत्पन्न हो गयी। धार्मिक तथ्यों के अन्वेषण तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति के लिए चीनी यात्री लालायित हो उठे। उन्हें यह भी अटल विश्वास था कि गौतम बुद्ध की पावन जन्मभूमि निश्चय दर्शनीय तथा आध्यात्मिकता का कोष होगी। इन्हीं आकांक्षाओं के वशीभूत होकर चीनी भारतवर्ष आये और अपनी यात्रा का पूर्ण वृत्तान्त उन्होंने लिपिबद्ध किया। चीनी साहित्य से भारतीय इतिहास के एक लम्बे युग का परिचय प्राप्त हो जाता है। यात्रियों का दृष्टिकोण यद्यपि पूर्णतया धार्मिक था और किसी भी वस्तु को वे उसी

दृष्टिकोण से देखते थे, जिसके फलस्वरूप उनका वणन पक्षपातग्रस्त है, तथापि उनके विवरणो में से इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त हो जाती है।

चीन के प्रथम इतिहासकार शुमाशीन ने लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० मे इतिहास की एक पुस्तक लिखी। शुमाशीन की इस पुस्तक से प्राचीन भारत पर बहुत कुछ प्रकाश पडता है। शुमाशीन के पूर्व अन्य किसी चीनी लेखक ने भारतवर्ष से सम्बन्धित किसी विषय पर प्रकाश नही डाला था।

जिन चीनी व्यक्तियो का इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है, वे तीन यात्री फाह्यान, ह्वेनसाग तथा इत्सिग हैं।

फाह्यान ३६६ ई० मे यात्रा की कठोर यातनायें सहता हुआ भारतवर्ष आया। लगभग १५-१६ वर्ष तक यह धर्म जिज्ञासु भारतवर्ष में रहा और बौद्ध धर्म-सम्बन्धी तथ्यो का ज्ञानार्जन करता रहा। उस समय भारतवर्ष मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। यात्री ने गगावर्ती प्रान्तो के शासन प्रबन्ध तथा सामाजिक अवस्था का पूर्ण विवरण लिपिबद्ध किया। फाह्यान की पुस्तक आज भी अपने मूल रूप मे प्राप्य है तथा उसका अग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है। वह धार्मिक विषयो के अतिरिक्त, इहलोकपरक विषयो की ओर बहुधा उदासीन रह गया, जिससे उसका विवरण अधूरा सा लगता है। पर बौद्ध धर्म के विषय में फाह्यान ने जो कुछ लिखा है वह पर्याप्त है। फाह्यान बौद्ध-सिद्धान्तो, परिपाटियो, नियमों तथा उसकी प्रगतियो के विषय मे हमे पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है।

चीनी यात्रियो मे ह्वेनसांग का स्थान अधिक ऊँचा है। यह लगभग ६२६ ई० में भारतवर्ष आया। उस समय हर्षवर्धन भारत का सम्राट था। ह्वेनसाग बडा ही जिज्ञासु एव उत्साही व्यक्ति था। उसने अपने जीवन के सोलह वर्ष भारतवर्ष के मठो, विहारो, तीर्थस्थानो तथा विश्वविद्यालयो के दर्शन मे बिताये। केवल दक्षिणी भारत को छोड़कर ह्वेनसाग ने लगभग सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। वह राजसभाओ में भी गया। इसने "पाश्चात्य ससार के देश" नामक ग्रन्थ की रचना की। हर्षवर्धन के शासन-काल की राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ परिचय ह्वेनसाग की पुस्तक से प्राप्त हो जाता है। धार्मिक अवस्था का तो इसने बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है। अपने स्वस्थ दृष्टिकोण के कारण ह्वेनसाग "यात्रियो का सम्राट" कहा जाता है। फाह्यान तथा इत्सिग ने अपने समय के सम्राटो का नाम तक नहीं लिया है, जबकि ह्वेनसाग ने हर्षवर्धन तथा उसके समसामयिक अन्य राजाओ के विषय में बहुत कुछ लिखा है। जिन जिन राज्यो से होकर उसने अपनी यात्रा समाप्त की, उन सबका सक्षिप्त वर्णन उसने किया, साथ ही ह्वेनसाग ने सम्पूर्ण भारत की सामान्य अवस्था पर भी विशेष प्रकाश डाला। ह्वेनसाग के वर्णन के अभाव मे सातवी शताब्दी ई० का भारतीय इतिहास सम्भवत इतना अधिक सुलझा हुआ न होता—कम से कम हर्षकालीन सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था के बोध के लिए तो हम काफी भटकना पडता। अन्य सामग्रियो के साथ तो ह्वेनसाग के वृत्तान्त का अध्ययन अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

लगभग ६७३--६५ ई० के बीच इत्सिग नामक एक अन्य चीनी ने भारतवर्ष की यात्रा की। इसने भारतवर्ष की तत्कालीन धार्मिक अवस्था (विशेषकर बौद्ध धर्म की अवस्था) का सजीव चित्रण किया है। इसका वर्णन यद्यपि ह्वेनसाग के समक्ष हल्का पडता है, पर फाह्यान के वर्णन से इसकी उपयोगिता कम नही।

उपर्युक्त तीन सुप्रसिद्ध यात्रियों के अतिरिक्त कुछ अन्य चीनी लेखकों से भी भारतीय इतिहास की सामग्री प्राप्त होती है। उन लेखकों में ह्वेली अधिक प्रसिद्ध है। यह नसांग का मित्र था। इसने ह्वेनसांग की जीवनी लिखी, जिसके अध्ययन से भारतीय इतिहास की कुछ सामग्री प्राप्त होती है।

तिब्बती—तिब्बती लेखक **लामा तारानाथ** के ग्रन्थों 'कग्युर' तथा 'तग्युर' से भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। वास्तव में, चीनी तथा तिब्बती लेखकों से ही मौर्यकाल के उपरान्त से लेकर शक, पार्थियन तथा कुषाण आदि के काल तक के अधिकांश इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है।

अरब—ई० पू० ६वीं शताब्दी तक पश्चिमी एशिया से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और प्रतिवर्ष असंख्य व्यापारी एक-दूसरे देशों में आया-जाया करते थे। कालान्तर में कुछ भारतीय शासकों ने पश्चिमी एशियाई नरेशों से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया। ८वीं शताब्दी ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार स्थापित कर लिया। तब से अरबों और भारतीयों का सम्पर्क अधिक बढ़ गया और अरबी इतिहासकारों को भारत के विषय में भी कुछ लिखने की प्रेरणा मिली। कुछ अरबी इतिहासकारों ने प्रसंगतः भारतवर्ष के विषय में कुछ लिख दिया है, पर इन सब का वर्णन हमारे इतिहास की प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। इन इतिहासकारों में ये अधिक प्रसिद्ध हैं। (इनकी पुस्तकों के नाम उनके सामने कोष्ठक में लिख दिए गये हैं)—

सुलेमान (सिलसिलाउत-तवारीख), **अलमसूदी** (मुरूजुलजहाब), **अलबिलादुरी** (फुतूहअल्-बुल्दान) तथा **अबूजवुलहसन इब्नखुदबा**, **अलइदरीसी** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन इतिहासकारों के ग्रन्थों से भारतीय इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। प्राचीन भारत के इतिहास पर पूर्ण प्रकाश डालने वाले मुस्लिम लेखकों में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रसिद्ध नाम अल्बेरूनी का है। अल्बेरूनी की विलक्षण बुद्धि, अनुपमेय प्रतिभा, प्रशंसनीय धैर्य तथा अजेय उत्साह के आगे अब तक के सारे यात्री फीके पड़ जाते हैं। भारतीय साहित्य के माध्यम द्वारा भारतीय संस्कृति एवं कला-कौशल के अध्ययन में जितनी रुचि अल्बेरूनी ने ली, उतनी इसके पूर्व सम्भवतः किसी विदेशी ने न ली थी। भारतवर्ष के इतिहास को लिखने में जिस परिश्रम तथा धैर्य से अल्बेरूनी ने काम लिया उतना अन्य किसी विदेशी लेखक ने नहीं। वास्तव में अल्बेरूनी को भारतवर्ष का इतिहास लिखने वाला प्रथम विदेशी इतिहासकार कहा जा सकता है।

जिस समय ११वीं शताब्दी ई० में महमूद गजनवी भीषण नरसंहारों, लूट-मारों तथा रक्त-प्लावन में लीन था, उसका दरबारी विद्वान **अल्बेरूनी** साहित्य-सागर में डुबकियाँ लगाकर असंख्य बहुमूल्य मणियों का अन्वेषण कर रहा था। भारतीय समाज, कला, विद्या, ज्योतिष्, गणित तथा अन्य ललित कलाओं के अध्ययन में अल्बेरूनी तन्मय हो गया था। उसने अपने अध्ययन को विस्तृत पुस्तक का रूप दिया। लगभग १०३० ई० में अल्बेरूनी ने इस पुस्तक की रचना की थी। यह पुस्तक 'तहकीके हिन्द' के नाम से विख्यात है। अल्बेरूनी की पुस्तक भारतीय समाज का दर्पण है, और यदि अत्युक्ति न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि यह पुस्तक प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकों में अद्वितीय है, किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अल्बेरूनी की पुस्तक किस युग की सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवस्था का वर्णन करती है। अल्बेरूनी तो ११वीं शताब्दी में भारत आया था, पर उसने आँख के स्थान पर मस्तिष्क से अधिक काम लिया और वह भारतीय समाज को धरती पर न देखकर कागजों पर देखने

लगा। जो कुछ प्राचीन ग्रन्थकारो ने भारतवर्ष के विषय मे विभिन्न भाषाओ मे लिखा था चाहे वह विषय धर्मशास्त्र रहा हो, चाहे अर्थशास्त्र अथवा चाहे समाज या कला-सम्बन्धी शास्त्र वही अल्बेरूनी के ज्ञान का माध्यम हो गया। अल्बेरूनी की जिज्ञासा भारतीय इतिहास की खोज की ओर बहुत थी, जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, किन्तु उसने अपनी जिज्ञासा की तृप्ति का समुचित साधन ढूढने मे कुछ भूल अवश्य की। भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के विषय म अल्बेरूनी ने जितना लिखा है, यदि उसका शताश भी प्रामाणिक ढग से राजनीतिक विषय पर कुछ लिख गया होता तो उसक पुस्तक का स्थान आज भारतीय इतिहास के अन्य ग्रन्थो मे कही अधिक ऊँचा होता। फिर भी, अल्बेरूनी का प्रयास अत्यन्त सफल रहा और हमारे लिए तो उसका विशेष महत्त्व है।

(घ) जीवनियाँ

साहित्यिक सामग्रियो मे जीवनियो का काफी महत्त्व है। इन जीवनियो को यदि प्रशस्ति-काव्य कहा जाय तो अनुचित न होगा, क्योकि इनके लेखको ने अपने आश्रयदाता राजाओ की प्रशसा मे अपनी लेखनी का सदुपयोग किया है। उन लेखको का दृष्टिकोण पूर्णतया साहित्यिक था। वास्तव म, साहित्य-सृजन के निमित्त ही उन्होने राजाओ का परम्परानुसार आश्रय लिया था। अपनी साहित्यिक प्रतिभा के कारण ही वे आज तक सम्मानित है। इन जीवनी लेखको अथवा प्रशस्ति गायको की सख्या बहुत है, पर उनमे से कुछ ही ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं। एक साहित्यिक ग्रन्थ म उपमाओ की जो झडी, अलकारो का जैसा अलकार तथा अत्युक्ति की जो युक्ति होनी चाहिए, वे सब इन जीवनियो मे है। इन ग्रन्थो की साहित्यिकता ही इनकी ऐतिहासिकता को ठेस पहुँचाती है। हर्षचरित, रामचरित, बल्लालचरित, पृथ्वीराज विजय, पृथ्वीराजचरित, कीर्ति-कौमुदी, गौडवाहो, नवसाहसाकचरित, विक्रमाकदेवचरित, कुमारपालचरित, भोजप्रबन्ध तथा हम्मीरकाव्य आदि अनेक ग्रन्थ इन जीवनियो के अन्तर्गत आते हैं।

हर्षचरित—जीवनी-साहित्य मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हर्षचरित का बहुत ऊँचा स्थान है। इस काव्यात्मक सस्कृत गद्य की रचना सस्कृत गद्याचार्य बाणभट्ट ने लगभग ६२० ई० मे की थी। बाण कनौज तथा थानेश्वर के राजा हर्ष के दरबार मे रहता था। अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय बाण ने हर्षचरित के अतिरिक्त अपने अन्य ग्रन्थ 'कादम्बरी' म भी दिया, किन्तु, कादम्बरी का कोई महत्त्व ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करने मे नही है। बाण ने अपने आश्रयदाता हर्ष का जीवन चरित्र अपने महान् ग्रन्थ हर्षचरित मे लिखा, जिसकी महत्ता इतिहास की दृष्टि से सर्वमान्य है। हर्ष के प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी दिग्विजयो का पूर्ण विवरण हर्षचरित से प्राप्त किया जा सकता है।

रामचरित—सन्ध्याकर नन्दी ने रामचरित की रचना की। अपने ग्रन्थ मे कवि ने इतनी विलक्षण वर्णन शैली रक्खी है कि एक ओर तो सम्पूर्ण वर्णन रामायण की कथा मालूम होता है तथा दूसरी ओर बगाल के रामपाल का वर्णन स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। पाल-वश के इतिहास पर यह पुस्तक पर्याप्त प्रकाश डालती है।

बल्लालचरित—बल्लालचरित भी इतिहास की प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। इसकी रचना आनन्दभट्ट ने की थी। सेन-वश के इतिहास को प्रकाशित करने मे इस पुस्तक का बहुत कुछ हाथ है।

कुछ अन्य जीवनियाँ—पृथ्वीराजविजय मे पृथ्वीराज के सघर्षों का काव्यात्मक

वर्णन जयानक ने किया है। इस ग्रन्थ से चौहान-वंश का इतिहास जानने में कुछ सहायता प्राप्त होती है। काव्यमयी भाषा होने के कारण सम्पूर्ण ग्रन्थ में अत्युक्ति का बाहुल्य है, अतः इसके विवरणों को सावधानी से ग्रहण करना चाहिए।

पृथ्वीराजचरित या रासो भी इसी कोटि का ग्रन्थ है। इसका रचयिता चन्दवरदाई पृथ्वीराज का दरबारी था। उसने पृथ्वीराज तथा गोरी के संघर्ष का पूर्ण वर्णन किया है। इस पुस्तक में भी अत्युक्ति का अभाव नहीं, तथापि इससे चौहान-वंश पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

कुमारपालचरित की रचना जयसिंह ने बारहवीं शताब्दी में की थी। जयसिंह[1] कुमारपाल का दरबारी था। इसने अन्हिलवाड़ के शासक जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है।

गौडवहो के रचयिता वाक्पतिराज ने कन्नौज के राजा यशोवर्मन के दिग्विजय का सविस्तार वर्णन किया है। चालुक्य वंश के अंतिम काल की राजनीतिक परिस्थिति का कुछ विवरण इस ग्रन्थ से प्राप्त किया जा सकता है।

नवसाहसांकचरित का रचयिता पद्मगुप्त परिमल वाक्पति मुञ्ज का दरबारी था। उसने अपने आश्रयदाता मुञ्ज उपनाम वाक्पति मुञ्ज का विस्तृत वर्णन अपने ग्रन्थ में किया। पद्मगुप्त के ग्रन्थ से परमार वंश के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

विक्रमांकदेवचरित का स्थान जीवनियों में अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी रचना लगभग १०७६-११२६ ई० में प्रमुख कवि बिल्हण ने की थी। कल्याणी के चालुक्य वंश के इतिहास पर इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। विक्रमादित्य अथवा विक्रमांक किस प्रकार सिंहासनारूढ़ हुआ, इस विषय का पूर्ण विवरण हम इसी ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इन परिस्थितियों पर पूर्ण प्रकाश डालने कारण इस ग्रन्थ का महत्त्व अत्यधिक है। बल्लाल का भोजप्रबन्ध तथा जयचन्द्र का हम्मीरकाव्य भी इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इनके रचयिता ने भी आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों से काव्य-रचना की है।

अधिकांश उपर्युक्त ग्रन्थ पूर्णतया साहित्यिक हैं। उनका वर्णन आलंकारिक है अतः वे इतिहास से बहुत दूर चले जाते हैं, तथापि उनसे तत्कालीन अवस्था का थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य प्राप्त हो जाता है। साहित्यिक ग्रन्थ होने के नाते इन्हें विशुद्ध साहित्य की कोटि में रक्खा जा सकता था, किन्तु ये जीवनी भी हैं जिनका स्वतः एक पृथक वर्ग है।

(ङ) विशुद्ध साहित्य

विशुद्ध साहित्य में हमारा अभिप्राय उन साहित्यिक ग्रन्थों से है जिनकी रचना साहित्यकार ने 'कला कला के लिए' के दृष्टिकोण से की है। आत्मसंतोष या किसी अन्य प्रेरणा के वशीभूत होकर इस कोटि के ग्रन्थों की रचना हुई। इन ग्रन्थों से इतिहास का एक अंग—सभ्यता एवं संस्कृति—प्रकाशयुक्त होता है। विशुद्ध साहित्यिक ग्रन्थों से हमें उनके समय की प्रचलित भाषा, साहित्य जनसाधारण की अभिरुचि या संक्षेप में सामाजिक अवस्था का बोध होता है। इन ग्रन्थों में हर्ष के तीन नाटक नागानन्द, रत्नावली तथा प्रियदर्शिका विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों से सातवीं शताब्दी के भारत पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता है। कालिदास के कुछ नाटकों की गणना भी इस कोटि के ग्रन्थों में की जा सकती है। बौद्ध जातकों के पश्चात् सातवीं-आठवीं

१ जयसिंह अन्हिलवाड़ के शासक से भिन्न।

शताब्दी म कथाग्रथो की रचना मे पुन एक बाढ-सी आयी । इन ग्रथो मे गुणाढय की पैशाली बृहत्कथा (जो लुप्त हो चुकी है, पर जिसका उल्लेख अनेक लेखको न किया है) बुद्ध स्वामी की बहत्कथा, क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मञ्जरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशुद्ध साहित्य भी हमारे इतिहास की कुछ परिस्थितियो से हमारा परिचय कराने म काफी सहायक सिद्ध होता है ।

पुरातात्त्विक सामग्री

साहित्यिक सामग्री के विषय मे पिछले पृष्ठो म पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है । साहित्यिक सामग्री की भाति पुरातात्त्विक सामग्री का भी सुविधा के लिए पूव विभाजन की भाति पृथक पृथक् वणन किया जायगा ।

(१) अभिलेख

अभिलेखो की उपयोगिता के विषय मे केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि जहाँ हर प्रकार के साधन शिथिल पड जाते हैं, वहा इन अभिलेखो से ही कुछ इतिहास जाना जा सकता है । प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था पर जितना प्रकाश इन अभिलेखो से पड सकता है, उतना अन्य किसी साहित्यिक या पुरातात्त्विक सामग्री से नही । प्राचीन भारत का इतिहास शिलाओ, ताम्रपत्रो तथा अन्य धातुओ पर जो कुछ उन प्राचीन लोगो ने लिख दिया है, वह अमिट है । साहित्यिक सामग्री की भाँति प्राय उसमे प्रक्षिप्ताश नही हो सकते । भाषा विशेष से अभिलेखो का काल भी स्पष्ट हो जाता । कुछ अभिलेख तो ऐतिहासिक शृखला को स्थापित है रखने मे बहुत सहायक हुए है ।

दुर्भाग्यवश अशोक के पहले का कोई अभिलेख नही प्राप्त होता । अशोक के काल मे ही अभिलेखो का आरम्भ होता है । अशोक के बाद से सम्पूर्ण भारत मे अभिलेखो का बाहुल्य ह । इनके अतिरिक्त कुछ विदेशी अभिलेख भी हैं जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास की सामग्री प्राप्त की जा सकती है । अत अभिलेखो का अध्ययन यदि निम्न दो प्रमुख वर्गो मे विभाजित करके किया जाय तो अधिक सुविधा होगी—

(अ) देशी अभिलेख तथा (ब) विदेशी अभिलेख ।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, भारत के अभिलेख का श्रीगणेश अशोक के काल से होता है । अथवा यह कहा जा सकता है कि अशोक ही प्रथम शासक था जिसने भारतीय अभिलेखो को जन्म दिया । इसलिए भारतीय अभिलेखो को भी अशोककालीन तथा अशोक के परवर्ती, दो भागो मे विभाजित किया गया है । अशोककालीन अभिलेख से तात्पर्य स्वय सम्राट अशोक द्वारा निर्मित अभिलेखो से है और अशोक के परवर्ती अभिलेखो म वे सभी राजकीय तथा अन्य अभिलेख आते हैं, जो बाद के सम्राटो द्वारा तथा उनके काल मे निर्मित हुए ।

सवप्रथम अशोक के अभिलेखो पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योकि इनका स्वय एक वग है । अशोक जब कलिंग विजय के पश्चात अशोक महान हो गया तो अपनी आध्यात्मिक विजय के लिए उसने मानवता के मूलभूत सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने का निश्चय किया । जनता जनादन को हर प्रकार के कष्टो से मुक्त करना उस सुन्दर माग पर लाने तथा राजा एव प्रजा का निकट सम्बन्ध स्थापित करने के अभि

प्राय से ही अशोक ने अपने सम्पूर्ण राज्य के कोने-कोने म स्तम्भ तथा शिलालेखो का जाल बिछा दिया। अपनी राजाज्ञा तथा घोषणाओ को अशोक ने स्तम्भो तथा शिलाओ पर उत्कीर्ण कराया। सर्वसाधारण को अधकार से प्रकाश मे लाने के लिए ही इस महान ने ऐसा किया। अशोक का उद्देश्य जो कुछ भी रहा हो, पर इतिहास के विद्यार्थी के लिए य अभिलेख अधिक मूल्यवान् हैं। अशोककालीन सभ्यता तथा सस्कृति पर इन अभिलेखो से बहुत कुछ प्रकाश पडता है। स्वय अशोक ही भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण अग है और इसका पूर्ण इतिहास जानने के लिए हमें इसके अभिलेखो का ही सहारा लेना पडता है। अत इन अभिलेखो की उपयोगिता इस विषय मे निर्विवाद है। विश्व इतिहास म इस प्रकार के अभिलेख नही पाये जाते।[1]

डॉक्टर त्रिपाठी का मत है कि अशोक के पूर्व के भी अभिलेख पाये जाते हैं।[2] पर प्राचीन भारत के इतिहास को प्रकाशित करने म अशोककालीन तथा अशोक के पश्चात् के अभिलेख ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अब तक १५०० से भी अधिक सख्या मे विभिन्न प्रकार के अभिलेख गुप्त-काल के पहले के प्राप्त हुए हैं। उन सबकी किसी न किसी विषय मे उपयोगिता है, पर उन असख्य अभिलेखो का उल्लेख करना यहाँ असम्भव है।

अशोक के पश्चात् के अभिलेखो मे जिन्हें राजकीय कहा जा सकता है, कुछ प्रशस्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अभाव मे हम भारतीय इतिहास के आलोक-स्तम्भ तक का भी बोध न हो पाता। इसमे हरिषेण की प्रशस्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह प्रशस्ति भारतीय नेपोलियन वीर समुद्रगुप्त की प्रशसा मे अशोक-स्तम्भ के नीचे ही उत्कीर्ण की गयी है जो आजकल प्रयाग के किले मे है। गुप्त-वश के महान् सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजया तथा उसके वैयक्तिक गुणो पर पूर्ण प्रकाश डालनेवाली सामग्री इस प्रशस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई नही है। सम्भवत इस प्रशस्ति के अभाव में हम समुद्रगुप्त की महत्ता न जान पाते। गुप्त-वश का इतिहास जानने म कुछ अन्य अभिलेखो का भी सहारा लेना पडता है।

अनुदानो की स्वीकृति-सम्बन्धी अनेक गुप्त अभिलेख प्राप्त हुए जो प्राय सभी महत्त्वपूर्ण गुप्त-नरेशो से सम्बन्धित हैं। मुहरो एव मुद्राभिलेखो की सख्या को तो हम निश्चित रूप से एक बहुत भारी, अत असख्य कह सकते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार-गुप्त, स्कन्दगुप्त आदि का इतिहास इन अभिलेखो से उसी प्रकार अधिक प्रकाशित हो पाया है, जसे प्रयाग प्रशस्ति से समुद्रगुप्त का। गुप्तो की वशावली के निर्माण मे तो इन अभिलेखो का बहुत बडा हाथ है। यह अनुदान पत्रो मुहरो तथा मुद्राभिलेखो की ही देन है कि गुप्तो के उस अन्धकारपूर्ण इतिहास की भी एक स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकी है—जहा अन्य साक्ष्य या तो मौन थे या फिर भ्रामक विवरण प्रस्तुत कर रहे थे। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने गुप्तो के इतिहास के साधनो पर प्रकाश डालते हुए अभिलेखो के विषय मे लिखा है—

"The inscriptions are sources of much important and reliable history for the Gupta s Some inscriptions are chronicles of events, as is the Allahabad Pillar inscription of Samudra Gupta or the Mandasor Pillar inscription of Yasodharman Others are records of religious endowments or secular donations' —*Gupta Empire*, p 1

१ अशोक के अभिलेखों के विशेष अध्ययन के लिए देखिये तत्सम्बन्धी परिच्छेद।

२ पिप्रा का (बस्ती) कलशलख (I R A S, १८९८, पृष्ठ ५७३ ८८) तथा बडली (अजमेर) अभिलेख।

भोज की ग्वालियर की प्रशस्ति से प्रतिहारो के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रशस्ति का भी अधिक महत्त्व है, क्योकि इसके अभाव मे प्रतिहारो का पूर्ण इतिहास जानना कठिन हो जाता। जिस काल तथा जिन राजाओं पर प्रकाश डालनेवाली अन्य कोटि की सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, उनके अभिलेखों को भले ही उतना महत्त्व न दिया जाय, किन्तु अन्य कोटि की सामग्रियों के अभाव में तो अभिलेखो की उपयोगिता निर्विवाद है। उपर्युक्त दोनो अभिलेख इसी कोटि के हैं।

इसी प्रकार सेन-वंश पर प्रकाश डालने वाली सामग्रियो मे सेनवंशीय राजा विजयसेन की प्रशस्तियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये प्रशस्तियाँ देवपारा में प्राप्त हुई हैं। काव्यात्मक शैली मे विजयसेन की विजयो का उल्लेख इस प्रशस्ति मे किया गया है।

ऐहोल-अभिलेख से जो चालुक्य-नृपति पुल्केशिन द्वितीय की प्रशस्ति मे उत्कीर्ण किया गया है, चालुक्य-वंश के सुप्रसिद्ध सम्राट् का ज्ञान प्राप्त होता है।

असंख्य दानपत्र, समर्पण-पत्र तथा स्मारक के रूप मे अभिलेखो का निर्माण हुआ, जिनसे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का बोध होता है। राजपूताना मे अजमेर और मध्य भारत मे धार नामक स्थानों मे प्रस्तर-पत्रो पर उच्चकोटि के नाटको के अंश उत्कीर्ण हैं। पुदुकोट्टा या पुदुक्कोत्तई (मद्रास) मे संगीत के नियमो का उल्लेख किया गया है।

हथिगुम्फा का अभिलेख खारवेल राजाओ पर पूर्ण प्रकाश डालता है।

अभिलेख संस्कृत, प्राकृत अथवा मिश्रित, तमिल, तेलगू तथा कन्नड आदि भाषाओ मे खुदे हुए हैं। इन विभिन्न कोटि के अभिलेखों के अध्ययन से केवल किसी विशेष राजा के विषय मे ही जानकारी नही होती है, अपितु इनकी भाषा के आधार पर तत्कालीन शक्तिशाली अथवा प्रचलित भाषा की लोकप्रियता अथवा उसकी शक्ति का पता चलता है। साथ ही तत्कालीन साहित्यिक शैली एवं साहित्य की प्रगति का भी बोध होता है। कला के विभिन्न अंगो पर प्रकाश डालने मे ये अभिलेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दानपत्रो से राज्य की सीमाओ का बोध होता है। राजा तथा प्रजा के बीच भूमि-सम्बन्धी समझौते का भी पता इन अभिलेखो से मिलता है।

प्रशस्ति-अभिलेखो के अतिरिक्त अन्य वर्ग के अभिलेख भी प्रशस्ति से ही आरम्भ किये जाते थे, जिनसे तत्कालीन राजकुलों का ज्ञान प्राप्त होता है।

उत्तरी भारत से अधिक अभिलेख दक्षिणी भारत मे प्राप्त हुए हैं, किन्तु ये उतने प्राचीन नहीं हैं। इसीलिए इनका ऐतिहासिक महत्त्व भी उतना नहीं है। अभिलेखो मे ब्राह्मी लिपि जो बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाती है, और खरोष्ठी लिपि, जो दाहिनी से बाईं ओर को लिखी जाती है, दोनो का प्रयोग किया गया है।

असंख्य भारतीय लेखो के अतिरिक्त कुछ विदेशी लेख भी प्राप्त हुए हैं जो हमारे इतिहास पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इनमे एशिया माइनर में बोगजकोई के लेख मे वैदिक देवताओ का उल्लेख किया गया है। आर्यों के संक्रमण का बोध इस अभिलेख से होता है। पर्सिपोलस तथा नक्शेरुस्तम (ईरान) के अभिलेखो से प्राचीन भारत तथा ईरान के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है।

(२) प्राचीन स्मारक

प्राचीन काल की सभ्यता के भग्नावशेष, प्राचीन मानव की कला के उत्खनन द्वारा प्राप्त हुए हैं और उनसे हमारे इतिहास पर पूर्ण प्रकाश ... प्राचीन स्मारक के अन्तर्गत कितनी वस्तुएँ आ सकती हैं, यह कहना कठिन है

मे पुरातत्त्व-सम्बन्धी शेष वर्गों के अतिरिक्त (अर्थात् अभिलेख, मुद्रा तथा ललित कला सम्बन्धी वस्तुओं को छोड़ कर) जो कुछ भी धरती के नीचे या ऊपर बना हो वस्तु हो या एक ऐसी वस्तु हो जिसके रूप में हम अपने प्राचीन की याद आये, वह प्राचीन स्मारक में आयेगी। प्राचीन स्मारकों की महत्ता यद्यपि राजनीतिक इतिहास जानने में उतनी नहीं, क्योंकि इनमें राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख करना कठिन था। पर हाँ, कभी कभी राजाओं का नाम, उनका वंश और साथ ही अपनी 'टेकनीक' के आधार पर उनका अनुमानित काल बताने में ये अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं को प्राचीन स्मारकों के अध्ययन में कठिनाई का सामना अवश्य करना पड़ता है, किन्तु उस अध्ययन से सभ्यता तथा संस्कृति के जिस पहलू पर जितना प्रकाश पड़ता है, उतना अन्य किसी साक्ष्य से नहीं। साहित्यिक सामग्री किसी काल विशेष की किसी विशेष कला की शैली के विषय में बतला सकती है, पर उसका जीता-जागता उदाहरण हमें प्राचीन स्मारकों के रूप में ही प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार के भवन, राजप्रासाद, सार्वजनिक हॉल जनसाधारण के घर विहार, मठ, चैत्य, स्तूप, समाधि आदि असंख्य वस्तुएँ अपने मूल रूप में या भग्नावशेष रूप में हमारे पिछले इतिहास को प्रकाशित करती हैं। अपने साधारण रूप में तो ये अपनी कला के विषय में बतलाती हैं, पर इनके विशेष अध्ययन से हम तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पूजा-पद्धति तथा धार्मिक विश्वासों को जानने के लिए तो जितना सहायक प्राचीन स्मारक हुए हैं उतना सम्भवतः अन्य कोई सामग्री नहीं।

संस्कृति के अध्ययन के लिए हमें पूर्णतया साहित्यिक साक्ष्यों पर नहीं आश्रित रहना चाहिए, क्योंकि साहित्यकार अपने कल्पना-जगत में बहुत कुछ निर्मित कर जाता है। किन्तु प्राचीन स्मारक में अत्युक्ति कहाँ, वह तो जितनी कलाकार की शक्ति थी, उसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। प्राचीन स्मारकों के अध्ययन के लिए हमारे पास सामग्रियों की कमी नहीं। उत्खनन तथा अन्वेषण द्वारा निरंतर ऐसी वस्तुएँ प्राप्त की जा रही हैं जिनसे भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। अभिलेखों की भाँति प्राचीन स्मारकों को भी देशी तथा विदेशी दो वर्गों में विभाजित कर दिया गया है। भारतवर्ष में जो स्मारक प्राप्त हुए हैं, उन्हें देशी तथा जो भारतवर्ष के बाहर प्राप्त हुए हैं उन्हें विदेशी की संज्ञा दी गई है।

देशी स्मारक—प्राचीन स्मारकों में जैसा कि बतलाया जा चुका है, बहुत कुछ सामग्री तो भवन, मन्दिर तथा विहार आदि के रूप में प्राप्त हुई है और अधिकांश खुदाइयों द्वारा धरती के नीचे मिली है। लार्ड कर्जन द्वारा स्थापित पुरातत्त्व विभाग की देन इस क्षेत्र में सराहनीय है।

प्राचीन स्मारकों को प्रकाशयुक्त करने में पुरातत्त्व विभाग ने अधिक धैर्य एवं साहस से काम लिया है। फलस्वरूप मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, तक्षशिला, मथुरा, कोसम, सारनाथ, कसिया, पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगिरि, साँची भरहुत लक्ष्मणेश्वर, अगदी, बनवासी, पत्तदकल, चित्तलद्रुग, तालकड, हेलविड, मास्को आदि में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनमें इतिहास के कतिपय अन्ध युगों का ज्ञान प्राप्त हुआ है। मोहनजोदड़ो-हड़प्पा की खुदाइयों ने तो इतिहास का एक नया परिच्छेद ही जोड़ दिया है एक बिल्कुल ही नवीन सभ्यता का बोध कराया है। इस खुदाई ने हमारे सांस्कृतिक इतिहास को हजारों वर्ष पीछे ढकेल दिया है। देशी स्मारकों में इसका सर्वोच्च स्थान है। यहाँ के भग्नावशेषों से हमें उस अतीत संस्कृति की स्मृति (कल्पना के माध्यम द्वारा) आ जाती है विश्व की अन्य सभ्यताओं को चुनौती दे रही थी। दक्षिण के अगदी, लक्ष्मणेश्वर,

बाराबरी, नागार्जुनी, सित्तन्नवासल आदि की गुफाओं से जो सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, उनसे भारत का धार्मिक इतिहास बहुत कुछ आलोकित होता है। गुफाओं के अतिरिक्त धरती के ऊपर के भवन, मन्दिर, स्तम्भ आदि भी प्राचीन स्मारक के रूप में ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं सामग्रियों का भण्डार भी बहुत है। असंख्य मन्दिर, स्तूप, गुफाएँ, विहार आदि सम्पूर्ण भारत में इधर-उधर प्राप्य हैं जो समसामयिक धार्मिक प्रवृत्तियों, कला-सम्बन्धी शैलियों, कलाकारों की सफलताओं, वाणिज्य व्यवसाय आदि अनेक समस्याओं के समाधान रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। सारनाथ का चमकदार स्तम्भ प्रस्तर उस प्राचीन काल की रचनाओं का उत्कृष्टतम उदाहरण है। सर जान मार्शल ने स्पष्ट शब्दों में इसे स्वीकार किया था कि यह भारतवर्ष की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति है और प्राचीन विश्व में इसकी समता की अन्य किसी देश की कला नहीं। अजन्ता तथा एलोरा की गुफाओं की गणना भी महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्मारकों में की जाती है। इन्हें देखकर हम प्राचीन भारत की चित्रकला का बोध करते हैं। कला के उत्कृष्ट उदाहरण जितने इन गुफाओं में निहित हैं उतने सम्भवतः अन्यत्र नहीं। खजुराहो का कन्दरिया मन्दिर, भीतरगाँव (कानपुर) का मन्दिर, नालन्दा की महात्मा गौतम बुद्ध की ताम्रमूर्ति आदि भारतीय कला का स्पष्ट बोध कराकर इतिहास के रिक्त अंश की पूर्ति करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये मूक भग्नावशेष भी किसी प्रकार इतिहास ज्ञान में सहायक सिद्ध हुए हैं। इन कलाओं की वस्तुओं से यह न समझना चाहिए कि इनसे केवल किसी काल विशेष की कला-सम्बन्धी प्रगति का ही बोध होता है, वरन् इनके सहारे अनायास हमें तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से भी परिचित कराता है। इतना ही नहीं कभी कभी तो इन पर उत्कीर्ण तिथियों या संक्षिप्त लेखों से राजनीतिक परिस्थितियों का भी बोध कराता है।

विदेशी स्मारक—भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी कुछ ऐसे स्मारक चिह्न प्राप्त हुए हैं जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इन स्मारकों में जावा, कम्बोज, मलाया, स्याम, प्राचीन चम्पा, बोर्नियो, बाली आदि प्राप्त प्राचीन स्मारक विशेष उल्लेखनीय हैं। जावा में डारंग पठार का शिव मन्दिर, मध्य जावा बोरोबोदार एवं प्रमबनन के देवालयों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय उपनिवेश स्थापना में भी पर्याप्त अभिरुचि रखते थे। इसी प्रकार अंगकोरवाट तथा अंजरदलाम में भी प्राचीन स्मारक चिह्न उपलब्ध हुए हैं जिनसे भारतीय औपनिवेशिक प्रसार एवं भारतीयों की कला का बोध होता है। जावा में कुबसन नामक स्थान के भग्नावशेषों से शंख, चक्र, पद्म तथा त्रिशूल आदि का विद्यमान रहना प्रमाणित हुआ है। इससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म जावा तक प्रसारित था और इस धर्म के अनुयायी वहाँ पर्याप्त संख्या में रहते थे। इसी प्रकार मलाया में 'गुनांग जेराई' में एक देवालय एवं कुछ पाषाण मूर्तियाँ मिली हैं। इनके सम्बन्ध में ईवन महोदय का कथन है 'ये भग्नावशेष स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि यहाँ के निवासी हिन्दू मतावलम्बी थे। शिव, गणेश, पार्वती, दुर्गा आदि पूजा किया करते थे, क्योंकि इन देवताओं की प्रतिमायें यहाँ प्राप्त हुई हैं।'[1] प्राचीन हिन्दुओं के औपनिवेशिक प्रसार अथवा हिन्दू धर्म के प्रसार का दूसरा प्रमाण कासो पर्वत पर प्राप्त एक अन्य भग्न वैष्णव मन्दिर तथा विष्णु की मूर्ति से प्राप्त हो जाता है। बाना पर्वत पर इन धार्मिक चिह्नों का पाया जाना निश्चय ही यह साबित करता है कि प्राचीन हिन्दू मलाया तक अपना प्रसार कर चुके थे। ऊपर जावा के विभिन्न स्थानों पर प्राप्त धार्मिक चिह्नों का उल्लेख किया गया है। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्मारक जावा द्वीप के बिल्कुल निकट ही बाली

द्वीप मे मन्दिर एव मूर्तियो के रूप म प्राप्त हुए हैं। बोनियो के मुकरकमन् नामक स्थान मे एक स्वर्ण विष्णु मूर्ति प्राप्त हुई है। कोम्बे मे एक गुहा प्राप्त हुई है। ये सारे प्राचीन स्मारक भारतीय धम एव सस्कृति के प्रसार के द्योतक हैं। कोम्बे की गुहा मे दो भवन हैं। इनमे मे एक भवन मे १२ प्रस्तर-प्रतिमायें हैं। ये सारी प्रतिमायें भारतीय शैली पर निर्मित हिन्दू देवताओ की हैं। शिव, गणेश, नन्द, अगस्त्य, ब्रह्मा आदि की मूर्तियाँ इनमे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनम भी शिव मूर्तियो का आधिक्य है। सेलिवस के पश्चिमी तट पर सिकेन्देड के निकट कम नदी के तट पर महात्मा गौतम बुद्ध की एक भग्न प्रतिमा प्राप्त हुई है। इसी प्रकार पश्चिमी बोनिया म कपु-अस नदी की घाटी मे हिन्दुओ की प्राचीन बस्तियो के चिह्न प्राप्त हुए हैं। ये सारे प्राचीत स्मारक हमारे इतिहास को स्पष्ट करने मे सहायक होते हैं, अत इनका विशेष महत्त्व है।

(३) मुद्रायें

वैसे तो समस्त पुरातात्त्विक सामग्रियाँ ऐतिहासिक सूचनायें प्राप्त करने के साधनो मे अपना विशेष महत्त्व रखती हैं, किन्तु मुद्राओ का स्थान इनमे काफी ऊँचा है। इस क्षेत्र मे मुद्राओ की महानता के प्रमुख कारण ये हैं कि य निष्पक्ष हैं अर्थात् इनमे किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी मत-विशेष का पक्ष लेकर पक्षपातयुक्त तथ्य का सम्पादन नही होता। ये पूणतया राजकीय होती हैं (केवल जाली सिक्को को छोडकर)। इनसे जो कुछ सूचना प्रतिपादित होती है, उस पर काफी विश्वास किया जा सकता है। *इनकी दूसरी विशेषता यह है कि ये राजाओ की वश-परम्परा का बोध कराती* हैं। तिथि एव नामयुक्त मुद्राओ का तो इस क्षेत्र मे अत्यधिक महत्त्व है। इनसे हमे इतिहास की उलझी हुई तिथियो का बोध होता है। जिन मुद्राओ मे तिथियाँ नही भी दी गई हैं वे भी कम महत्त्व की नही, क्योकि उनकी तकनीक के आधार पर उनके *समय का निर्धारण कुछ अन्वेषण के पश्चात किया जाता* है। मुद्राओ की अन्य विशेषता यह है कि इनसे राजाओ के साम्राज्य विस्तार का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, पर मुद्राओ के प्राप्ति-स्थान के आधार पर साम्राज्य विस्तार के निर्धारण मे काफी सावधानी से काम लेना पडता है, क्योकि केवल मुद्राओ के प्राप्त होने से यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि उस स्थान तक अमुक सम्राट् का आधिपत्य है। इनके कुछ अन्य आर्थिक कारण भी हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्राओ से देश की राजनीतिक परिस्थिति पर प्रचुर प्रकाश पडता है।

मुद्रायें राजनीतिक परिस्थिति के अतिरिक्त आर्थिक परिस्थिति पर भी कुछ प्रकाश डालती हैं। उनकी धातुओ के आधार पर हम तत्कालीन आर्थिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। पर, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि उत्तम कोटि की धातु की निर्मित मुद्राओ के बाहुल्य का अर्थ है—समाज धन धान्यपूर्ण था और निम्नकोटि की धातुओ की मुद्राओ से तत्कालीन आर्थिक हीनता का बोध होता है। वास्तव मे मुद्राओ की धातुओ की उत्तमता कुछ तो राजकोष की समृद्धि पर आधारित है और कुछ चलानेवाले सम्राट् की रुचि एव परिपाटी पर निभर है।

मुद्राओ का एक और महत्त्व भी है। य सम्राट विशेष के धम तथा उसकी रुचि की ओर भी परिलक्षित करती हैं। मुद्राओ पर उत्कीर्ण चिह्नो से हमे यह ज्ञात होता है कि अमुक राजा, अमुक धम का अनुयायी था, पर कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं कि एक ही मुद्रा पर विभिन्न धार्मिक चिह्न उत्कीण हैं। कनिष्क की मुद्राओ को हम इसी कोटि मे रख सकते हैं। फिर भी अधिकाश मुद्रायें जिन पर कोई विशेष धार्मिक चिह्न उत्कीण है, राजाओ के धम का ठीक-ठीक बोध कराती हैं। राजाओ की रुचि का तो

बिल्कुल ही ठीक बोध इन मुद्राओ से होता है। यदि मनोवैज्ञानिक आधार पर मुद्राओ के आकार प्रकार, उन पर उत्कीर्ण पशु पक्षी एवं अस्त्र शस्त्र का अध्ययन किया जाय तो उस राजा के वैयक्तिक जीवन का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रायें ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करने मे अन्य साधनो से कम महत्वपूर्ण नही हैं। अब कुछ विशेष मुद्राओ द्वारा प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यो का उल्लेख करके विषय को और स्पष्ट बनाया जायगा।

अत्यन्त प्राचीन काल की मुद्रायें—प्राचीन कालीन मनुष्यो ने मुद्रण-कला मे विशेष उन्नति नही की थी। अत तत्कालीन मुद्राओ पर केवल कुछ चित्र या चिह्न मात्र उत्कीर्ण हैं। इन मुद्राओ से कोई राजनीतिक सूचना नही प्राप्त होती, केवल धार्मिक स्थिति का आंशिक बोध होता है।

यूनानी मुद्रायें—इन मुद्राओ का विशेष राजनीतिक महत्त्व है। भारत मे पंजाब तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर यूनानियो ने लगभग दो सौ वर्षों तक अपना प्रभुत्व स्थापित रक्खा था। इनके विषय मे हमे इन मुद्राओ से पर्याप्त सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। ये मुद्रायें बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओ द्वारा जारी की गई थी जिन्होंने यहाँ पंजाब के भूभाग पर राज्य किया था। लगभग दो सौ वर्षों मे ३० से भी अधिक राजाओ ने अपनी मुद्रायें जारी की जिनसे उनके विषय मे जानकारी प्राप्त की जाती है। यदि ये मुद्रायें नही प्राप्त हुई होती तो उनके विषय मे हमारा ज्ञान नितान्त अल्प होता।

सीथियन तथा पार्थियन मुद्रायें—इनकी मुद्रायें यूनानी मुद्राओ से काफी साम्य रखती हैं, पर ये सुन्दरता मे उनसे हीन हैं। मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् सीथियन एवं पार्थियन का भारत पर प्रभुत्व रहा और इनका इतिहास जानने मे मुद्राओ से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। पश्चिमी क्षत्रपो के इतिहास का बोध इन्ही मुद्राओ से हो पाता है। यहाँ साहित्यिक साक्ष्य बहुत कुछ मूक हो जाते हैं।

भारतीय मुद्रायें—भारतीय सम्राटो की मुद्रायें भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। कुछ भारतीय सम्राटो का इतिहास मुद्राओ के अभाव म अधूरा रह जाता। पांचाल, मालव यौधेय के मित्र राजाओ का इतिहास जानने के लिये हमे उनकी मुद्राओ की ही सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार सातवाहन-कुल के राजाओ का इतिहास भी मुद्राओ द्वारा प्रकाशित होता है। गुप्त सम्राटो के इतिहास के विभिन्न साधनो मे मुद्रायें भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। समुद्रगुप्त की मुद्राओ के आधार पर ही हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। उसकी मुद्राओ पर उत्कीर्ण वीणा के आधार पर ही हम उसे संगीत-कला का प्रेमी घोषित करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये राजकीय मुद्रायें (यद्यपि प्राचीनतम भारतीय मुद्रायें जिन्हें पंचमार्क की मुद्रायें कहते है, कुछ विद्वानो के मतानुसार प्राइवेट भी हैं और स्वर्णकारो द्वारा राजाज्ञा प्राप्त करके चलाई गई थी)[1] राजकीय सूचनायें देने मे काफी सहायक सिद्ध होती हैं। पर जैसा कि प्रारम्भ मे ही बताया गया है, इनके आधार पर साम्राज्य-सीमायें निर्धारित करने मे बहुत सतर्क रहना चाहिये। यहाँ दक्षिण भारत मे बहुतायत से पाये जाने वाले रोमन सिक्को का उल्लेख कर देना विषयेतर न होगा। दक्षिण मे पाई जाने वाली इन रोमन मुद्राओ से हमे यह कदापि न समझ लेना चाहिये कि यहाँ रोमनो का साम्राज्य था, या उनका किसी प्रकार का राजनीतिक

१ वि० स्मिथ तथा रैप्सन का ऐसा मत है और आधुनिक अनुसंधान मे पंचमार्क की मुद्राएँ साधारण रीति से जनसाधारण मे प्रचलित थीं।

प्रभुत्व इस भूभाग पर था। डॉक्टर त्रिपाठी के शब्दों में "यह केवल भारतीय विलास की वस्तुओं और गरम मसाला के बदले बार बार बरसने वाले रोमन सुवर्ण के प्रति इतिहासकार प्लिनी के विषाद का स्मरण कराते है।" वास्तविकता भी कुछ ऐसी ही है। निश्चय ही इससे रोमनों तथा भारतीयों के व्यापारिक सम्बन्ध का बोध करना चाहिये, क्योंकि रोमनों का दक्षिण भारत पर प्रभुत्व स्थापित रहना तर्कसगत नही और न इतिहास की किसी अन्य सामग्री से यह प्रमाणित होता है।[1]

प्रश्न

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

१ 'यह कहना निरर्थक है कि प्राचीन भारत के इतिहासकारों को किसी ऐतिहासिक रचना के अभाव का सामना करना पड़ता है। (१९४७)

२ प्राचीन भारतीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण मूल साधनो का विवेचन कीजिए। (१९५२, १९७०)

३ 'क्या यह सच है कि महान बौद्धिक तथा महान साहित्यिक क्रियाशीलता के बावजूद भी भारत ने कोई हेरोडोटस या थूसिडाइडस—यहां तक कि कोई लिवी या टैसिटस भी नहीं उत्पन्न किया ?' उपयुक्त कथन की विवेचना कीजिए। (१९५५)

आगरा यूनिवर्सिटी

१ मध्य एशिया मे पाये गये कुछ महत्त्वपूर्ण भग्नावशेषों पर एक टिप्पणी लिखिए जो प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हों। (१९४४)

२ प्राचीन भारतीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण मूल साधनो का विवेचन कीजिए। (१९४७)

३ ऐतिहासिक जानकारी के साधनो के रूप में प्राचीन भारत के अभिलेखो तथा सिक्को का तुलनात्मक मूल्याकन कीजिए। (१९४३)

४ ऐतिहासिक तथ्यो के स्रोतो के रूप मे प्राचीन भारत के अभिलेखो एव सिक्को का तुलनात्मक मूल्याकन कीजिए। (१९५१)

बनारस यूनिवर्सिटी

१ भारतीय इतिहास के स्रोतो मे अभिलेख एव सिक्के मुख्य रूप से प्रकाश डालते हैं। (१९५३)

२ भारत के प्रारम्भिक इतिहास के विभिन्न साधनों का वर्गीकरण और व्याख्या कीजिए और उनके सापेक्षिक महत्त्व का विवेचन कीजिए। (१९५२)

कानपुर विश्वविद्यालय

१ प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रमुख साधनो का उल्लेख कीजिए। (१९६८)

२ इतिहास के स्रोत रूप मे पुराणों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। (१९७०)

---

१ भारतीय इतिहास के स्रोतो के विषय मे प्रो० नीलकान्त शास्त्री की Sources of Indian History with Special Deference to South India नामक पुस्तक मे अच्छा प्रकाश डाला गया है। विशेष कर दक्षिण भारत के इतिहास के साधनो के सम्बन्ध मे इस पुस्तक से अच्छी सहायता मिल सकती है।

प्रागैतिहासिक काल की मानव-सभ्यता | २

मानव-सभ्यता का इतिहास वस्तुत मानव के विकास का इतिहास है। पर आज तक यह प्रश्न विवादग्रस्त रहा है कि आदि मानव और उसकी सभ्यता का विकास कब और कहाँ हुआ ? इस दिशा मे जो महत्त्वपूर्ण खोजें हुई हैं, उनके अनुसार ऐसा अनुमान किया जाता है कि लगभग अस्सी करोड वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे थे। मनुष्य अपने प्रारम्भिक जीवन मे पशुवत था। इस पशुवत् जीवन से ऊपर उठाने के लिए उसने सहस्रो वर्ष लिए। मनुष्य के सहस्रो वर्ष के इस विकास का लिपिबद्ध और क्रमागत प्रामाणिक इतिहास प्राप्त नही है। इसलिए मानव-सभ्यता के इस युग को इतिहासकारो ने प्रागैतिहासिक युग की सज्ञा दी है। इस विशाल युग मे मनुष्य मुख्यतया अपने जीवन-यापन के लिए, जीवन रक्षा के लिए जिन पत्थरों के बने हुए हथियारो और औजारो और अन्य उपकरणो का प्रयोग करता था उन्ही के नाम पर इस विशाल युग का नामकरण किया गया है। इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल की मानव-सभ्यता को मुख्यतया निम्नलिखित सोपानो मे बाँटा गया है—

(१) आदिम पाषाण काल।

(२) पूर्व पाषाण काल।

(३) उत्तर पाषाण-काल।

(४) धातु काल।

प्रारम्भिक पाषाण-युग या आदि युग

इस युग के मनुष्यों के विषय में हमे बहुत कम ज्ञान है। इस ज्ञान अल्पता का प्रमुख कारण यह है कि इस युग के मनुष्यो के अस्त्र शस्त्र या औजार प्राप्त नही होते। इनके अभाव में हम केवल कल्पना के आधार पर कुछ अनुमान लगा सकते हैं जो सत्य के कहाँ तक निकट पहुँच पायगा, यह नही कहा जा सकता। भूगर्भविद्या विशारदों ने ऐसा अनुमान किया है कि वे लोग निश्चय ही पशु से मिलती-जुलती प्रवृत्तियो से युक्त रहे होंगे। जैसा कि बताया जा चुका है, दैनिक जीवन मे वे पशुओ से भिन्न न थे। पशुओ की भाँति ही वे वृक्षो की सघन छाया मे निवास करते थे। इस प्रकार वे धूप से अपनी रक्षा करते थे। वर्षा से शरीर रक्षा करने के लिये वे गिरि-कन्दराओ की शरण लेते थे। कदाचित् गिरि-कन्दराओ को वे अपने अनुकूल तोड-फोडकर बना लेते थे। वर्षा के अतिरिक्त वर्ष के शेष महीनो मे वे घूमते-फिरते रहे होंगे। उनका भोजन क्या रहा होगा, इसके विषय मे हम स्पष्ट अनुमान लगा सकते हैं। जब उनके पास कोई बडा हथियार नही था तो यह निश्चय है कि बडे-बडे पशुओ का शिकार वे बहुत कम करते रहे होंगे—शायद कभी नही, पर साधारण एव छोटे-मोटे पशुओ का शिकार वे बडी सरलतापूर्वक करते रहे होंगे। आखेट द्वारा प्राप्त मास तो उनके भोजन का एक प्रमुख पदार्थ था। पर प्रकृति ने भी उन्हें कुछ

खाद्य-पदार्थ प्रदान किया था। जगलो मे स्वत उत्पन्न होने वाले फल, कन्द-मूल, कुछ विशेष प्रकार की पत्तियाँ, जडें आदि उनका भोजन रहा होगा। सम्भवत मछली का शिकार करना भी वे जानते थे। उनके खाद्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद दूसरा प्रश्न यह उठता है कि वे किस रूप मे इन पदार्थों का प्रयोग करते थे, उसे किसी प्रकार पकाना या भूनना उन्हे आता था अथवा नही। यहा हम अग्नि के साधनो पर ध्यान देना होगा। उस प्राचीन काल मे अग्नि के साधन बहुत सीमित थे। गहन जगलो या पर्वतो की घाटियो मे बहुधा आग लग जाया करती थी। यह अरण्याग्नि सुरक्षित की जा सकती थी। चकमक पत्थर को रगडकर भी अग्नि उत्पन्न की जा सकती थी। अग्नि प्राप्ति के इन दोनो साधनो के अतिरिक्त सम्भवत अन्य तीसरा साधन उस प्रागैतिहासिक काल मे नही था। अब यह निश्चय करना है कि प्रारम्भिक पाषाणयुगीय मनुष्य इन दोनो विधियो मे से दोनो से या किसी एक से परिचित थे अथवा नही। कुछ विद्वानो का यह मत है कि दो सूखी पत्तियो के बीच चकमक पत्थर को रगडकर वे अग्नि उत्पन्न कर लिया करते थे और उनके स्त्री-बच्चो का यह उत्तरदायित्व था कि उस अग्नि को सुरक्षित रक्खें। यदि यह सत्य है तो यह भी सम्भव है कि स्वत उत्पन्न होने वाली अग्नि को भी वे सुरक्षित रखने का प्रयास करते रहे होंगे और अग्नि प्राप्ति की यह पद्धति अधिक प्राचीन रही होगी। किन्तु कुछ विद्वान् इस मत का खण्डन करते हैं और उनकी यह धारणा है कि प्रारम्भिक पाषाणयुगीय मनुष्य पशुओ से किसी प्रकार भी भिन्न नही था। उसे अग्नि का प्रयोग बिल्कुल ही नही आता था। कन्द मूल, फल तथा मास आदि तो वह बिना पकाये या भूने ही खाता था। पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उस आदि काल के मनुष्य को अग्नि का महत्त्व आज से किसी प्रकार भी कम न था। अग्नि उसके लिए प्राण रक्षिका थी। अग्नि से ही वह हिंसक जीव जन्तुओ से अपनी रक्षा कर सकता था। आत्मरक्षा के समस्त साधनो से पशु-पक्षी भी परिचित होते है। अत यह अनुमान कि वे अग्नि का प्रयोग जानते थे, तर्कसगत लगता है। उनके वसन के विषय मे भी कम मतभेद नही। कुछ इतिहासकारो के विचार से वे नग्न रहा करते थे, किन्तु कुछ लोगो का यह मत है कि वे पेडो की छाया या सम्भवत पशुओ की खाल को सुखाकर उसी से अपना तन ढकते थे। लज्जा न सही, शरीर-रक्षा के लिए तो उन्हें वसन आवश्यक ही रहा होगा। उनके भोजन-वसन पर विचार कर लेने के पश्चात् अब हम उनके सामाजिक सगठन पर एक विहगम दृष्टि डालेंगे। हमे ज्ञात है कि उस आदि काल मे धरती के किसी किसी भाग पर ही मानव का अधिकार हो पाया था। जब जनसख्या इतनी कम थी तो आत्मरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि एक प्रदेश के या एक भूभाग के समस्त मनुष्य अपना एक जत्था बनाकर रहें। जत्था बनाकर रहने की भावना के मूल म चाहे अन्य जितने भी कारण रहे हो, पर सुरक्षा का कारण प्रारम्भिक एव महत्त्वपूर्ण कारण है। मनुष्यो का जत्था बनाकर रहना किसी प्रकार भी असम्भव नहीं, जबकि हम देखते हैं कि विशेष जाति के पशु अपना-अपना पृथक जत्था बनाकर रहते हैं। अत यह स्वत सिद्ध है कि वे आदिकालीन मनुष्य एक समूह बनाकर रहते थे।

पाषाण-युग

आदि युग की समाप्ति के पश्चात मानव-जीवन सभ्यता की प्रारम्भिक सीढियाँ पार करके कुछ आगे बढता है। इस युग मे उसने जो कुछ हथियार बनाये थे, सभी पत्थर के थे, जैसा कि हम आगे देखेंगे और इसीलिए इसे पाषाण-युग की सज्ञा दी गई है। विकास-सोपानो की दृष्टि से इस युग को दो उपविभागो मे विभक्त किया गया

है—क पूर्व पाषाण-युग तथा ख उत्तर पाषाण-युग। यहाँ हम इन दोनो युगो का पृथक् पृथक् अध्ययन करेंगे।

पूर्व पाषाण-युग

जिस युग का वर्णन किया जा चुका है, वह कोरी कल्पना (चाहे वह भूगर्भ-विशारदो, चाहे पुरातत्त्ववेत्ताओ या इतिहासकारो की हो) पर आधारित है। पर जिस युग का अध्ययन हम यहाँ करने जा रहे हैं, उसके लिए हमारे पास कुछ ठोस सामग्री है। यह सामग्री और कुछ नही, वे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ हैं जिनका प्रयोग मनुष्य अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये करता था।[1] इन्ही अवशेषो के आधार पर पुरातत्त्ववेत्ताओ ने पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्यो के रहन-सहन, खान पान आदि का अनुमान लगाया है जो बहुत कुछ सत्य के निकट ज्ञात होता है। यहाँ यह कह देना विषयेतर न होगा कि प्रारम्भिक पाषाण-काल या आदि काल का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह न केवल भारत के आदि निवासियो का वर्णन था, वरन् विश्व के समस्त भागो मे जहाँ कि मनुष्य रहते थे, उन सभी मनुष्यो का वर्णन था। पर पूर्व पाषाण-काल का वर्णन करते समय हम अपने को केवल भारतवर्ष तक ही सीमित रखेंगे। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि पूर्व पाषाण के अवशेष फ्रास, स्पेन आदि अन्य देशो की अपेक्षा भारत मे बहुत प्राप्त हुए हैं। भारत मे भी ये अवशेष कुछ विशेष स्थानो तक ही सीमित हैं। उत्खनन द्वारा प्राप्त भग्नावशेषो की परीक्षा से यह ज्ञात हुआ है कि पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्य अपने औजारो से जिस पत्थर का प्रयोग करते थे वे 'क्वाटजाइट' हैं। 'क्वार्टजाइट' एक विशेष प्रकार का पत्थर है जो इन निवासियो को दक्षिण भारत मे कुदप्पा की पहाडियो तथा कुछ अन्य दक्षिणी पहाडियो मे प्राप्त हो जाता था। राजकीय सग्रहालय, मद्रास की प्रागैतिहासिक सामग्रियो की विवरण-पत्रिका के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इस युग की वस्तुएँ मद्रास, कुदप्पा तथा चिंगलपुट मे अधिक सख्या मे प्राप्त हुई हैं। दकन या दक्षिण भारत मे इन वस्तुओ का प्राप्त होना यह प्रमाणित करता है कि यह भाग भारतवर्ष का प्राचीनतम आबाद प्रदेश था। 'क्वाटजाइट' पत्थर के अतिरिक्त वे अन्य प्रकार के पत्थर का प्रयोग भी करते थे। इनके औजार तथा अस्त्र-शस्त्र पत्थर के ही होते थे, पर कुछ लकडी तथा हड्डियो के भी रहे होंगे। इनके हथियारो का विभाजन वी० रगाचार्य ने अपनी पुस्तक Pre-Musalman India मे इस प्रकार किया है—(१) फरसा, (२) बाण, (३) भाला, (४) खोदने के हथियार, (५) फेंकने वाले पत्थर, (६) लकडी काटनेवाले हथियार, (७) चाकू, (८) छीलनेवाले, (९) हथौडे तथा (१०) चमक पैदा करने वाले हथियार। अपने इन्ही हथियारो से वे वन्य पशुओ का शिकार करते थे और इसमे वे काफी रुचि लेते थे। वे अपने रहने के लिए किसी प्रकार का भवन या झोपडी सम्भवत नही बना पाये थे। कर्नूल जिले की कुछ गुफाएँ पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्यो का आवास मानी जाती हैं।[2] अतः हम देखते हैं कि जिस प्रकार इनके पूर्वज प्रारम्भिक पाषाण-कालीन मनुष्य गिरि-कन्दराओं तथा वृक्षो मे रहते थे, उसी प्रकार ये भी पहाडियों की गुफाओ तथा वृक्षो की छाया मे रहते थे। निश्चय ही वर्ष के अधिकाश दिन ये बाहर काट देते रहे होंगे और केवल वर्षाकाल मे गुफाओ की शरण लेते रहे। इन्होंने कृषिकार्य सीखने का प्रयास किया होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है, क्योकि उनके पास खोदने के हथियार थे और प्रकृति-प्रदत्त बीज उन्हें सुगमता से प्राप्त थे। पर इतिहासकार

१ राधाकुमुद मुकर्जी, *Hindu Civilization*, p 9

२ वी० रगाचार्य, *Pre Musalman India*

इससे सहमत नहीं और अधिकांश विद्वानों का यह विचार है कि पूर्व पाषाण युगीय मनुष्य कृषि से पूर्णतया अपरिचित रहा और इस क्षेत्र में वह पूर्ववत् बना रहा।

इनके वस्त्र के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि ये बहुधा नग्न रहते थे, किन्तु अधिकांश विद्वान् इस पक्ष में हैं कि ये पेड़ की पत्तियों, छालों तथा पशुओं की खाल से अपने शरीर को ढकते थे। अग्नि के प्रयोग के विषय में भी कुछ इसी प्रकार का मतान्तर है जिसका निराकरण प्रारम्भिक पाषाण-युग के परिच्छेद में किया जा चुका है, और वही तक यहाँ भी मान्य समझना चाहिये। उन्हें उनकी सभ्यता-सम्बन्धी की जानकारी प्रगति की परीक्षा के आधार पर इतिहासकारों ने असभ्य घोषित किया है। उनके सम्पूर्ण जीवन की तुलना उन्होंने पशुओं से की है और बताया है कि चतुर एवं शक्तिशाली पशु की भाँति दुर्बल पशुओं का आखेट कर प्रकृति द्वारा सुगमता से प्राप्त फल, जड़ आदि का भोजन कर वृक्षों के नीचे या गिरि गुफाओं में निवास कर वे अपने जीवन के दिन काट दिया करते थे। उन्हें बर्तन बनाना बिल्कुल नहीं आता था, अत जल के लिए विवश होकर उन्हें सरिता झरना या बहुत बड़े-बड़े कासारों के निकट बसना पड़ता था। प्रातःकाल से लेकर सूर्यास्त तक वे पशुओं के आखेट के रूप में फिरते थे और रात्रि में हिंसक पशुओं से स्वयं अपनी रक्षा के निमित्त चिन्तित होकर किसी सुरक्षित स्थान पर सो जाते थे। वे समूहों में रहते थे जिसे अर्थहीन सामाजिक संगठन कह सकते हैं। वे शव विसर्जन किस प्रकार करते थे यह अभी तक प्रामाणिक रूप से नहीं ज्ञात किया जा सका है। दफनाने तथा जलाने की क्रिया सभ्य समाज के पुश्तैनी अधिकार के रूप में है अत वे असभ्य पूर्वपाषाण-कालीन मनुष्य इन दोनों प्रथाओं से वंचित रहे होंगे। ऐसा मानकर इतिहासकारों ने यह घोषित कर दिया है कि वे अपने शवों की कोई चिन्ता नहीं करते थे और उन्हें यों ही खुला छोड़ देते थे। पर झट से ऐसी घोषणा कर देना तर्कसंगत नहीं। यदि यह सत्य है कि घृणा, प्यार, राग द्वेष आदि मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं तो अपनों के प्रति मोह और श्रद्धा उस पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्य में भी रही होगी। यदि सिन्धु घाटी में प्राप्त अस्थि भस्म या हड़प्पा की कब्र-सी कोई वस्तु यहाँ नहीं प्राप्त हो सकी तो इसमें आश्चर्य नहीं। इन दोनों युगों में काफी दूरी है। समय का एक बहुत लम्बा रास्ता तय करके तो सिन्धु घाटी का युग आता है। पूर्व पाषाण-युग की अवधि कुछ नहीं तो तीस हजार ई० पू० से पन्द्रह हजार ई० पू० तक है जबकि सिन्धु सभ्यता का काल कठिनता से तीन चार हजार ई० पू० है। इतना ही नहीं, विश्व के अन्य देशों में पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य भी अपने शवों को दफनाता था जैसा कि फ्रांस, स्पेन आदि में प्राप्त कब्रों से परिलक्षित होता है। इन कब्रों में वह न केवल अपने प्रिय शव को ही दफनाता था, प्रत्युत उसकी प्रिय वस्तुओं को भी वह उसके साथ दफना देता था। सौभाग्यवश विदेशों में इसी काल की कब्रें प्राप्त हुई हैं पर खेद है कि भारत में ऐसी कब्रें नहीं मिलीं या जो मिलीं भी उन्हें पूर्व पाषाण-कालीन न मानकर उत्तर पाषाण-कालीन माना गया। सम्भव है वे उत्तर पाषाण-कालीन ही हों क्योंकि उनके प्राप्ति स्थान पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्य की पहुँच के परे थे, पर इसके लिए हमारे पास क्या प्रमाण है कि भारत के पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्य अपने शव को यों ही बर्बरता से फेंक देते थे, जबकि हम ज्ञात है कि धरती के अन्य भूभागों के इसी काल के मनुष्य उसे दफनाते थे। यह हमारा अपने इतिहास के प्रति मोह या पक्षपातयुक्त भाव नहीं है अपितु यह सम्पूर्ण मानव के समान विकास सम्बन्धी वास्तविकता के प्रति न्याय की माँग है। यहाँ मानव के समान विकास-सम्बन्धी वास्तविकता का उदाहरण दे देना विषयेतर न होगा। विश्व इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि लगभग

सात या छ हजार ई०पू० से लेकर तीन या दो हजार ई० पू० के भीतर, अर्थात् इस चार-पाँच हजार के भीतर विश्व मे कुछ आगे पीछे अनेक सभ्यताओ का उदय हुआ। इनमे सुमेरियन, बेबीलोनियन, असीरियन, कल्डियन, मिस्री, यूनानी तथा सिन्धु घाटी आदि की सभ्यतायें प्रमुख हैं और ये ही प्राचीन सभ्यताओ की स्तम्भशिला हैं।

दक्षिण के ये निवासी किस जाति के थे, इस विषय मे केवल इतना ही यहाँ जान लेना पर्याप्त होगा कि ये भारत के आदि निवासी थे। वास्तव मे इन्ही आदिम जातियो ने सभ्यता का बीजारोपण किया जिसे आने वाली पीढी ने विकासोन्मुखी बनाया।

उत्तर पाषाण-काल

यह युग लगभग पन्द्रह हजार ई० पू० के कुछ पहले से ही आरम्भ हो जाता है। पूर्व पाषाण-काल के विषय मे लिखते हुए यह बताया गया था कि इस युग के भग्नावशेष बहुत ही नगण्य हैं, पर इसके ठीक प्रतिकूल उत्तर पाषाण-काल के अवशेष पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होते हैं। साथ ही जहाँ पूर्व पाषाण कालीन लोगो ने अपने को केवल दक्षिण भारत मे ही सीमित कर दिया था, जैसा कि उनके प्राप्त भग्नावशेषो से ज्ञात है, वहाँ दूसरी ओर उत्तर पाषाण-कालीन मनुष्य का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारत है। यह रहस्योद्-घाटन उनके भग्नावशेषो से ही होता है। इस पर पुन ध्यान देना चाहिये कि प्रारम्भिक पाषाण-कालीन मनुष्य का कोई भग्नावशेष प्राप्त नही (काल के कराल गाल मे या लम्बी अवधि के गर्भ मे खो गया) पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्यो के इने गिने ध्वसावशेष हैं, पर उत्तर पाषाण-युगीय मनुष्यो के भग्नावशेष प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हुए है। अत हमे पहले इन प्राप्त भग्नावशेषो पर ही ध्यान देना चाहिये। अन्वेषण द्वारा अब तक जो अवशेष प्राप्त हो सके हैं, उनका विभाजन इस प्रकार किया गया है[1]—(१) चकमकीय उपादान (Pigmy Flints), (२) औजार के कारखान (Implements Factories), (३) क्षार ढेर (Cindermounds) (४) 'कटोरीदार चिह्न या तक्षण-कला-सम्बन्धी (Cup-Marks), (५) लाल खडिया की चित्रकारी या चित्र-कला-सम्बन्धी (Ruddle or Haematite Drawings) तथा (६) कब्र या समाधियाँ (Tombs)।

उत्तर पाषाण-कालीन मनुष्यो के प्रसार का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उपर्युक्त भग्नावशेषो के प्राप्ति स्थानो का उल्लेख करेंगे।

चकमकीय उपादान के अन्तर्गत चकमक पत्थर द्वारा निर्मित उन समस्त छोटे छोटे औजारो को रखा गया है जो आधा इन्च से लेकर डेढ इन्च तक लम्बे हैं। ये बहुधा नुकीले तथा समद्विबाहु त्रिभुजाकार हैं। इन औजारो की मुठिया भी लकडी की बनी होती थी। छीलने, काटने, कुरेदने, फाडने आदि का काम इन्ही औजारो से लिया जाता था। इनके अवशेष विन्ध्य की पहाडिया, मिर्जापुर रीवाँ, बघेलखण्ड आदि स्थानो मे प्राप्त हुए है। छोटा नागपुर, असम तथा बर्मा मे भी इसी वर्ग का एक विशेष प्रकार का औजार प्राप्त हुआ है जो छेनी के आकार का है। इस प्रकार का औजार इण्डोचीन तथा मलाया पेनिनसुला मे भी प्राप्त हुआ है।

विभिन्न प्रकार की वस्तुओ के कारखाने भी दक्षिण भारत मे अपने ध्वसावशेष के रूप मे प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत के विभिन्न भागो मे उत्तर पाषाण-कालीन मनुष्यो की बस्तियो के चिह्न भी इन्ही कारखानो के चिह्नो के साथ प्राप्त हुए हैं।

---

१ उपर्युक्त विभाजन के लिए देखिए आ० के० मुकर्जी, *Hindu Civilization*

चाक द्वारा निर्मित उच्च कोटि के बर्तन भी यहाँ मिले हैं। ये सारे अवशेष उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यो के प्रसार का बोध कराते हैं।

दक्षिण भारत मे जिस प्रकार पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्यो के भग्नावशेष मिले हैं, उसी प्रकार उत्तर पाषाण-कालीन मनुष्यो के अवशेष भी भारत के अन्य भागो के साथ-साथ दक्षिण भारत मे बहुतायत से मिले हैं। ये दक्षिण भारत के बेलारी जिले मे पर्याप्त मात्रा मे मिले हैं।

कटोरीदार चिह्न या तक्षण कला सम्बन्धी वस्तुओ के चिह्न किसी एक स्थान पर ही नही प्राप्त हुए हैं, प्रत्युत भारत के अधिकाश भागो मे इसके उदाहरण प्राप्त हुए हैं।

उत्तर पाषाण-कालीन मनुष्य किस प्रकार चित्रकला मे दक्ष था, इसका जीता-जागता उदाहरण हमे मिर्जापुर, होशगाबाद कैमूर की पहाडियो आदि मे प्राप्त हुआ है। मिर्जापुर जिले मे बारहसिंगे पर आक्रमण करते हुए एक आखेट का चित्र प्राप्त हुआ है। होशगाबाद मे एक जिराफ का रेखाकन है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये जिराफ से परिचित थे। इसी प्रकार सिंगापुर मे भी कुछ चित्र मिले हैं जिनमे एक कुछ बगारू सा है। घोडे तथा हिरन के चित्र भी अकित किये गये थे जो यहाँ प्राप्त हुए हैं।

कब्रें या समाधियो के चिह्न भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर हम उनकी शव विसर्जन क्रिया के साथ-साथ उनके प्रसार का बोध करते हैं। मिर्जापुर मे सम्भवत किसी युग का अस्थि-पजर प्राप्त हुआ है। जिस समाधि मे यह अस्थि-पजर पडा था, उसमे कुछ चमकीले बर्तन भी रखे थे। इसी युग का एक बहुत बडा कब्रिस्तान कोलर जिले मे प्राप्त हुआ है। इस कब्रिस्तान मे ५४ कब्रें हैं। पट्टावरम मे, मद्रास शहर के निकट भी एक समाधि सी 'मेढी' मिली है। चिंगलपट वेल्लौर तथा आर्कट मद्रास, आदि स्थानो पर भी ऐसी समाधिया प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार मद्रास के अतिरिक्त भारत के अन्य भागो मे भी समाधियाँ विभिन्न प्रकार एव ढग की मिली हैं। मैसूर, निजाम राज्य तथा बम्बई म इनका बाहुल्य है। ५४ कब्रोवाले कब्रिस्तान से भी अधिक बडी एक समाधि भूमि तिन्नवल्ली जिले मे ताम्रपर्णी नदी के तट पर आदिचनल्लुर नामक स्थान पर प्राप्त हुई है।

इन भग्नावशेषो के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ये लगभग सम्पूर्ण भारत मे फैल चुके थे। पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्य की भांति ये केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित न थे। उनके इन भग्नावशेषो के आधार पर हम इनके रहन-सहन की भी अनुमानित रूपरेखा तैयार कर सकते हैं। निश्चय ही इनको भवन निर्माण कला का बोध हो चुका होगा। हा, इनके भवन किस प्रकार के होते थे, यह कहना कुछ कठिन-सा है। पर विद्वानो ने ऐसा अनुमान किया है कि ये घास-फूस की झोपडिया बनाते थे और उन्हे प्रौढता प्रदान करने के लिए उन पर मिट्टी का लेप कर देते थे। लकडियो द्वारा भवन निर्माण किया जाना बिल्कुल स्वाभाविक है, क्योकि जिन पेडो की डालो की छाया मे वह बैठता था उन्ही डाल पत्तो को अपने इच्छानुकूल बनाने की उसने कोशिश की होगी। ये लोग जब कब्रिस्तान और भवन बनाना जान गये थे चाहे वह किसी अवस्था मे रही हो यह अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है कि शरीर के निकटतम आवरण वस्त्र की व्यवस्था भी इन्होने की होगी क्योकि जो अपने-अपने परिवार तथा अपनी वस्तुओ के लिए एक आवरण 'घर' या झोपडी बना सकता था और शव का आवरण कब्र या समाधि निर्मित कर सकता था, वह स्वय अपना तन

ढकने के लिए चिन्तित न हो, यह असम्भव है। कुछ इतिहासकारों के मत में वे केवल वल्कल, पत्तियाँ, छाल, घास आदि से ही अपना तन ढकते थे, परन्तु अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि उत्तरार्ध काल में उन्होंने वस्त्र बनाना सीख लिया था। पाषाण युग (दोनों पाषाण-युग—पूर्व तथा उत्तर पाषाण-युग) मे हथियार पत्थर के अधिक होते थे और अन्य वस्तुएँ ने बहुत कम (या यदि रहे भी होंगे, समय ने उनका विध्वंस कर दिया) और इसीलिए इसे पाषाण-युग कहा भी गया है। पर दोनों पाषाण-युगों की प्रगति मे काफी अन्तर पड चुका था, यह हमने अभी देखा है। इनकी मुख्य वस्तुओं अस्त्र शस्त्र मे भी काफी परिवर्तन हो चुका था। यद्यपि अधिकांश पुराने हथियार अब भी चले आ रहे थे, पर अब वे उतने भोंडे नही थे। उत्तर पाषाण-कालीन मनुष्यों ने अब उन्हें सुन्दर, तेज और सुडौल बनाना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने उस पर एक प्रकार की पालिश करना सीख लिया था। अब वे काफी चमकीले थे। इससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ये आदिकालीन मानव भी उत्तरोत्तर सौन्दर्यानुभूति के लिए व्याकुल, सौन्दर्योपासना के लिए परेशान हो रहे थे। कारखानों के जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि इस युग में कुछ कलाओं की विशेष उन्नति हुई। इन कलाओं में सम्भवत बर्तन कला प्रमुख थी। दक्षिण के कतिपय स्थानों में बर्तनों के अवशेष तथा कब्र में रखे हुए बर्तनों को देखकर यह ज्ञात होता है कि वे लोग प्रारम्भ मे हाथ से बर्तन बनाते थे, फिर कालान्तर मे वे चाक द्वारा बर्तन बनाने लगे। चाक का प्रयोग बर्तन बनाने मे विश्व मे सर्वप्रथम कहाँ हुआ, इसका अनुमान लगाना कुछ कठिन सा ही है, पर सभी इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि चाक का प्रयोग उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य ने ही सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। अब भी वे झीलों या नदियों के तटों पर रहते थे। यद्यपि पानी के पात्रों का निर्माण वे करने लगे थे, पर साथ ही कुछ अन्य आवश्यकतायें भी बढ गई जिनकी पूर्ति के लिए जल के निकट निवास करना आवश्यक था। इन आवश्यकताओं में सबसे प्रधान थी कृषि तथा दूसरी पशु-सम्बन्धी थी। अब अपने आखेटक जीवन को थोड़ा-सा घटाकर उन्होंने कृषि की ओर बहुत सूक्ष्म ध्यान दिया। सम्भवत नारियाँ ही इस काम को करती रही होगी और पुरुष अब भी आखेट के लिए वनों मे भटकता रहा होगा। उसकी कृषि में वे ही पदार्थ आरम्भ मे रहे होंगे जिनका उपभोग वह प्रकृति से प्राप्त करके सदियों से करता आ रहा होगा। उन्ही पदार्थों को वह अब अपनी इच्छानुसार उपजाने लगा। आदि मानव ने यह भी अनुभव किया कि कुछ पशु जिनका वह शिकार करता है, ऐसे भी हैं जिनके पालने से अपेक्षाकृत अधिक लाभ हो सकता है। अत उसने पशुपालन भी आरम्भ किया। यह नही कहा जा सकता कि सर्वप्रथम वे किस पशु से परिचित हुए। पर यह तो निश्चय है कि प्रारम्भ मे उन्होंने उन्ही पशुओं का पालन आरम्भ किया होगा जो उन्हें देखकर भयभीत हो जाते थे और भागते थे। हिंसक पशुओं से वे स्वयं डरते थे। अत उनका पालन सम्भव नही था। इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि वे गाय, बैल, भेड, बकरी आदि पालते रहे होंगे। पर, यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि अपने पालतू पशुओं को भी आखेट के अभाव मे उसी प्रकार मारकर खा जाते रहे होंगे जैसे आज का सभ्य मानव करता है। पशुपालन से उन्हें दूध भी प्राप्त होने लगा। फल फूल अब वे स्वयं थोड़ा-बहुत उगाने लगे थे, आखेट अब भी करते थे। अत ये सारे पदार्थ उनके भोजन मे रहते होंगे। मछली पकड़ने के लिए सम्भवत उन्होंने जाल-सी कोई वस्तु बना ली होगी क्योंकि उन दिनों जब कि भारी भारी झील और बड़ी-बड़ी नदियों के निकट वे लोग रहते थे, यह सम्भव नही था कि बिना किसी विशिष्ट उपकरण के मछली का शिकार हो सके। बर्तन तथा कुछ अन्य वस्तुओं की प्राप्ति से कुछ ऐसा परिलक्षित होता है कि वे लोग पाकविज्ञान से परिचित

थे। आग से भूनकर खाने वाला पाकविज्ञान को शीघ्र ही समझ सकता है, या कम से कम समझने की ओर अग्रसर हो सकता है। इस युग के मनुष्य ने केवल अपने हथियारों तथा अपने उपकरणों को सँवारने का प्रयास नहीं किया, वरन् स्वयं अपने को सँवारने बनाने की भी इसने चेष्टा की। बाल काटने की कंघियाँ तथा गुलूबन्द से यह प्रमाणित होता है कि इनकी स्त्रियाँ शृंगार से विशेष अभिरुचि रखती थीं। भोजन, वमन, भवन आदि पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब हम उत्तर पाषाण-कालीन मनुष्यों की मानसिक स्थिति का बोध करेंगे—मानसिक स्थिति से अभिप्राय वास्तव में सहृदयता अथवा संवेदना से है जो पूर्णतया हृदय के विषय हैं पर उन्हें यहाँ मानसिक इसलिए कहा गया है कि प्रारम्भ में जब तक अस्तित्व शून्य है, तब तक हृदयगत विशेषताओं एवं तत्सम्बन्धी प्रगति का कोई प्रश्न नहीं उठता। उस युग की ठीक यही दशा थी।

कला के क्षेत्र में उस प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य ने भी उन्नति की थी, यह विचार हमें वैसे सुगमतापूर्वक ग्राह्य नहीं, पर हम विवश होकर इस सत्य का समर्थन तब करना पड़ता है जब हमें उनके तत्सम्बन्धी अवशेष प्राप्त होते हैं। उनके भग्नावशेषों के विषयों में लिखते हुए हमने पिछले पृष्ठों में बतलाया था कि उनके अवशेषों में 'कटोरीदार चिह्न' या तक्षण-कला-सम्बन्धी अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। भारत के अधिकांश भागों में प्रस्तर शिलाओं या चट्टानों पर उत्कीर्ण ये नमूने निश्चय ही आश्चर्यजनक हैं। यहाँ यह कह देना विषयान्तर न होगा कि भारत में सर्वप्रथम कलात्मक प्रवृत्ति तथा उसके प्रस्फुरण का बोध हमें उत्तर पाषाण-काल में होता है, जबकि विश्व के अन्य भागों में पूर्व पाषाण-कालीन मनुष्यों ने ही इस ओर पर्याप्त उन्नति कर ली थी और उनकी इसी उन्नति की समीक्षा करते हुए एक विद्वान ने लिखा है कि "चित्र कोमलता, शक्ति और निपुणता से इतने परिपूर्ण हैं कि उनको देख कर यह दु:खद भावना उठती है कि कला ने कम से कम इस क्षेत्र (चित्रकला) में मानव इतिहास के सुदीर्घ काल में अधिक उन्नति नहीं की है।"[1] तक्षण-कला के अतिरिक्त चित्रकला में भी ये कुछ दखल रखते थे। इनके उदाहरण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं। यद्यपि ये रेखाचित्र पूर्णतया अपनी प्राथमिक अवस्था में हैं, पर इनमें एक अभिव्यक्ति है, ये भावहीन नहीं है। भाले द्वारा बारहसिंह पर आक्रमण करने का चित्र स्पष्ट रूप से यह व्यक्त करता है कि (क) आखेट उनका प्रिय विषय था (ख) वे पशुओं को वश में करने के लिए उन पर मनुष्य का आधिपत्य दिखलाना चाहते थे तथा (ग) उनकी अदम्य शक्ति एवं उत्साह सराहनीय है। घड़ियाल, हिरन, शिकारी आदि के जो रेखाचित्र प्राप्त हुए हैं, उन सब की आकृतियाँ बहुत कुछ ठीक हैं। मनुष्य के जो चित्र उन्होंने बनाए हैं, वे 'कार्टून टाइप' के हैं, यद्यपि सम्भवतः उनका अभिप्राय व्यंग्य चित्र से नहीं रहा होगा। कुछ चित्रों को देखने से ऐसा परिलक्षित होता है कि वे नृत्य मुद्रा के हैं। इनकी कलात्मक प्रवृत्ति का कुछ बोध कर लेने के पश्चात् हम इनके धार्मिक विश्वासों की समीक्षा करेंगे। किसी प्रागैतिहासिक काल या अत्यन्त प्राचीन काल के धार्मिक विश्वासों या रीति रिवाजों का बोध हमें प्राप्त मूर्तियों, मुहरों या ताबीजों पर उत्कीर्ण या चित्रित आकृतियों तथा पूजापरक सामग्रियों से होता है। तीन हजार ई० पू० में सिंधु घाटी के निवासी विभिन्न धार्मिक प्रथाओं एवं विश्वासों से बँधे थे इसका बोध हमें प्राप्त मूर्तियों या ताबीजों द्वारा ही हुआ है। पर दुर्भाग्यवश उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों के भग्नावशेष इस प्रकार के नहीं हैं। वे हमें उनके धार्मिक विश्वासों का बोध

१ देखिए विल डूरट, *Our Oriental Heritage*, p 97

कराने मे असमर्थ-से ही हैं। पर कुछ इतिहासकारो ने ऐसा अनुमान किया है कि वे प्रकृति-पूजक थे। प्रकृति-पूजा को किसी भी आदिकालीन मानव के ऊपर मढ देना बहुत सरल कार्य है क्योंकि यही धर्म का प्रारम्भिक रूप है। अत कुछ इतिहासकारो ने उन्हें प्रकृति पूजक घोषित करते हुए बतलाया है कि वे वृक्ष तथा चट्टानो मे देवता का निवास समझते थे, और उन्हें पूजते थे। पर यह कहाँ तक सत्य है, नहीं कहा जा सकता। कुछ लेखको ने उनमें 'ब्रह्मवाद' तथा 'लिंग-पूजा' तक का विद्यमान रहना अनुमानित किया है। पर इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। साथ ही यह सम्भव नही कि तक्षणकला तथा चित्रकला से परिचित उत्तर पाषाणकालीन मनुष्य अपने धर्म का कोई दृश्य चित्रित नही करता। उनके सामाजिक संगठन के विषय में हमे कुछ विशेष ज्ञान नहीं है। केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि अब भी समूहो मे रहने की प्रथा प्रचलित थी। किसी राजनीतिक संगठन की कल्पना करना तर्कसंगत नही। यह विकास की बहुत बाद वाली सीढी है।

कुछ इतिहासकारो ने पूर्व पाषाण काल तथा उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों की जातियो मे भेद माना है और कुछ ने उन्हे एक ही स्वीकार किया है। उनकी जातियो के विषय मे प्रचलित मत मतान्तरो को छोड यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य जो केवल दक्षिण मे ही रहता था, लगभग १५ हजार वर्षों मे उन्नति अवश्य कर सका होगा और यह भी काफी सम्भव है कि उसने धीरे धीरे उन्नति कर ली।

पाषाण युगो की कुछ विशिष्टिताएँ

भारतीय पाषाण युगीन औजारों को आकार, प्रकार (Typologically) तथा कालक्रमानुसार (Chronologically) तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है।- प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी मे तथा मध्यवर्ती पूर्व पाषाण काल (Lower and Middle Paleolithic) के औजार आते हैं। तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत अल्पपाषाणीय उद्योग (Microlithic industries) को रखा जाता है। प्रथम तथा तृतीय श्रेणी के विषय मे तो हमारे पास कुछ तत्त्वयुक्त सामग्री है परन्तु द्वितीय श्रेणी की परिभाषा देना भी कुछ कठिन सा प्रतीत है।

सर्वप्रथम हम प्रथम श्रेणी के पाषाणीय औजारो का उल्लेख करेंगे।

भारत म कुछ पाषाण काल (Palaeolithic Period) का उदय ४००,००० वर्ष ईसापूर्व से माना जाता है। भूगर्भशास्त्र (Geology) के अनुसार यह काल मध्यवर्ती प्लायस्टोसीन (Pleistocene) में आता है। भारतीय पूर्व पाषाण काल के औजारो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

बिल्लौर उपकरण (Pebble Implements)—यह औजार नदी द्वारा बहाकर लाये हुए क्वार्टजाइट (Quartzite) पत्थर के गोल-गोल टुकडो से बनाया जाता था। बहुधा हम इन औजारो पर मूल पत्थर के चिह्न (Cortex or crust or the pebble) देख सकते हैं। इन औजारों को भारतीय प्रागैतिहासिक काल मे हम सोन उद्योग (Soan Industries) के अन्तर्गत मानते हैं। सोन नदी की घाटी (पंजाब) मे इस प्रकार के औजार हमे सर्व प्रथम प्राप्त हुए थे। इसी उद्योग का दूसरा नाम Chopper Chopping Industry भी रखा गया है। अफ्रीका के कुछ भागो मे हमे भारतीय बिल्लौर औजार जैसे प्राप्त हुए हैं। इसी परम्परा का बाद मे विकास हस्तकुठार सभ्यता (Hand axe culture) नाम से होता है।

हस्तकुठार सभ्यता (Hand axe culture)—यह औजार नासपाती जैसी शक्ल के हैं। इनका एक किनारा (edge) नुकीला (pointed) होता है। इसी किनारे की सहायता से पाषाण काल के लोग अपनी आवश्यकता का सामान बटोरते थे। पाषाण के दूसरे भाग को मुठिका (butt-end) की संज्ञा दी जाती है क्योकि इसी भाग को पकड कर तत्कालीन लोग अपना कार्य करते थे। यूरोप मे इस सभ्यता को कोर उद्योग (Core industry) के अन्तर्गत रखा जाता है, अर्थात् पाषाण के मूल भाग मे ही हस्त कला का निर्माण किया जाता था। हस्तकुठार उद्योग को दो परम्पराओ मे विभक्त किया जाता है। भद्दे, बडे तथा निपुण कारीगरी से हीन औजारो को अबीवीलीय (Abbevillian) परपरा की कोटि मे रखा जाता है क्योकि अबीविले नामक स्थान पर ही सर्वप्रथम इस प्रकार के पाषाण प्राप्त हुए थे। जब मनुष्य ने अपने अनुभव से कुछ अधिक सीखा तो उसने उपयोगिता के सिद्धांत के साथ ही साथ सौन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त भी सम्मिलित कर लिया। अब हथियार केवल उपयोगिता के लिए ही नही बनाये जाते थे प्रत्युत मानसिक तृप्ति के लिए उन्हे सुन्दर रूप भी दिया जाता था। अतएव अशुलीय (Acheulean tradition) परम्परा के हथियार मनुष्य की कार्यकुशलता एव निपुणता के उदाहरण हैं। इसी परशु परिवार के अन्तर्गत Cleavers भी माने जाते है। इनका किनारा चौडी छेनी (wide chisel edge) जैसे होता था। परशु (Cleavers) अधिकतर अशुलीय (Acheulean) परम्परा के साथ मिलते हैं। भारत मे इस प्रकार के पाषाण सर्वप्रथम मद्रास के कुछ भागो मे प्राप्त हुए थे, अतएव भारतीय हस्तकला उद्योग को मद्रास उद्योग (Madras Industry) का नाम दिया जाता है।

पटिया उपकरण (Flake implements)—यह औजार पत्थर के मुख्य भाग से निकले हुए या अलग किए हुए पत्थर के टुकडो मे बनाए जाते थे। इसी प्रकार के औजारो (पटिया) को क्यत दो पद्धति से तैयार किया जाता था। पहली को तो हम क्लक्टोनियन (clactonian) पद्धति कह सकते हैं। इस पद्धति मे एक पत्थर के बिना किसी प्रारम्भिक तराशी (primary flaking) किए हुए दूसरे पत्थर के टुकडो पर मारा जाता था। इसी लिए इस पद्धति को कभी-कभी खण्डोपरिखण्ड पद्धति (block-on block technique) की सज्ञा भी दी जाती है। इस पद्धति के बने हुए औजार आकार मे बडे और १२०° के कोण के होते थे। इस प्रकार की पद्धति अधिकतर मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था मे प्रयुक्त होती थी। दूसरी प्रकार की पद्धति को लेवाल्या (Levallois) या घाट शैली कहते हैं। इसमे शिला-खण्ड पर घाट काट लिया जाता था और जब तक वाञ्छित उपकरण का घाट शिला-खण्ड पर उत्कीर्ण हो जाता था तो एक दूसरे पत्थर से उस पर चोट की जाती थी जिससे पत्थर की वाञ्छित आकृति पृथक् हो जाती है। काटने या छीलने वाले धारदार हथियार प्राय इसी पद्धति से बनाये जाते थे।

अब हम भारतीय पूर्व पाषाण काल (Palaeolithic) की कुछ परम्पराओ का विस्तार से वर्णन करेंगे।

भारतीय प्रागैतिहासिक काल के पिता ब्रूज फूट (Bruce Foote) ने सर्वप्रथम १८६३ में, मद्रास के निकट पल्लवरम (Pallavarm) नामक स्थान पर एक पूर्वपाषाण कालीन औजार प्राप्त कर भारतीय पाषाण काल का उद्घाटन किया था। उन्ही की प्रेरणा एव स्फूर्ति का कारण है कि आज भारत का युवक पुरातत्ववेत्ता भारत के कोने-कोने मे अपने राष्ट्रीय प्रागतिहासिक काल की खोजबीन मे लीन एव अध्यवसाय के

साथ व्यस्त है। यद्यपि भारतीय पुरातत्त्व विभाग अभी एक शिशु रूप में है लेकिन फिर भी इनसे पर्याप्त प्रगति की दिशा मे तीव्रगति से प्रयाण का उद्योग किया है।

धातु-युग

विश्व के विभिन्न भागो के निवासियो ने धातुओ का प्रयोग आरम्भ किया किन्तु यह कहना कठिन है कि किस स्थान मे कौन-सी धातु का प्रयोग सर्वप्रथम आरम्भ हुआ। धातु युग को तीन भागो मे विभक्त किया गया है—(१) ताम्र युग, (२) कास्य युग तथा, (३) लौह युग। अपने क्रमानुसार ही ये आरम्भ हुए, अर्थात् सर्वप्रथम ताँबे का प्रयोग, तत्पश्चात् काँसे का प्रयोग और अन्त मे लोहे का प्रयोग किया जाने लगा। विश्व के अन्य स्थानो मे तो ये तीनो धातु युग पाये जाते हैं पर भारत मे केवल सिन्ध को छोडकर अन्यत्र कास्य का प्रयोग नही किया गया था। अत भारतवर्ष में केवल ताम्र तथा लौह युग ही रहा। इन युगो का आरम्भ कब से हुआ यह भी एक प्रश्न है जिसका कोई भी प्रामाणिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। कुछ विद्वानो के कथनानुसार ये लोग उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यो के ही वशज थे और कुछ लोगो के मतानुसार ये उत्तर पश्चिम से भारत मे आये। इन्हें भारत के आदि-वासियो (उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों) के वशज मानने वालो का अपने मत के समर्थन मे यह कहना है कि उत्तर पाषाण कालीन उपकरण एव अस्त्र शस्त्रो के आकार-प्रकार समान हैं और साथ ही यह भी विशेषता है कि पाषाण तथा धातु का प्रयोग साथ-साथ होता रहा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनो भिन्न युगो के मनुष्य एक ही जाति के थे। पर इस सम्बन्ध मे कुछ भी प्रामाणिक रूप से अभी नहीं कहा जा सकता।

ताम्र युग के विषय में हमें केवल ध्वसावशेषो से कुछ सूचना प्राप्त होती है। मध्य भारत के गुंगेरिया नामक गाँव मे ४२४ ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं। हिमालय से कानपुर तथा हुगली से सिन्धु नदी तक ताम्र-उपकरण पर्याप्त सख्या मे प्राप्त हुए हैं। औजारो में तलवार, फरसे, बर्छा, खजर आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार उत्तर भारत ही इस युग का केन्द्र था।

लौह युग ताम्रयुग के बाद आरम्भ होता है। यद्यपि दक्षिण भारत की प्राप्त कब्रों में काँसे के कुछ उपकरण प्राप्त हुए हैं पर इससे यह नही समझना चाहिये कि वह साधारण प्रयोग मे था। वास्तव मे ये वस्तुयें धनाढ्यो की विलासिता की सामग्री हैं और आयात द्वारा प्राप्त हैं। उत्तर भारत मे ही लोहे का प्रयोग सर्वप्रथम आरम्भ हुआ। तत्पश्चात् दक्षिण भारत मे फादर हेरोडोटस के कथनानुसार पारसीक सम्राट् के लिए यूनानियो के विरुद्ध योरप में ४८० ई० पू० मे लडने वाले भारतीय सिपाहियो मे लौह शस्त्रास्त्र का प्रयोग किया था।

धातु युग के मनुष्यों के सामाजिक जीवन मे पहले की अपेक्षा कुछ सुधार अवश्य हुआ होगा, अभी केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है।

प्रश्न

Allahabad University

1 When and where is the earliest indication or tool making man in Pleistocene India? Discuss the palaeolithic sequence in that region 1954

2 Describe the distribution and typology of Indian microliths 1954

3 Describe the Stone Age of India 1955

4 Describe briefly the main stages of Palaeolithic Age Illustrate your answer by citing suitable examples 1957

5 Describe the Palaeolithic industries of the handaxe culture-complex in India, with special reference to any two of the following areas (a) The Central Indian plateau, (b) Western India, (c) South-eastern India 1957

6 Describe briefly the main stages of Palaeolithic cultures What do you understand by handaxe culture complex ? 1958

7 Describe the Palaeolithic culture of North western India. Discuss its date 1958

8 Describe the Palaeolithic industries of handaxe culture complex in India with special reference to any two of the following areas (a) Central India plateau (b) Western India, (c) South India, (d) Rajasthan 1959

9 Discuss critically the problem of mesolithic in India with special reference to Gujrat and Mirzapur 1959

10 Describe briefly the nature, extent and date of Sohan cultures 1960

11 Discuss the main characteristics of Neolithic industries 1960

१२ पूर्व पाषाण काल मे मानव सभ्यता के विकास का वणन कीजिए। (१९६१, १९६८)

१३ उत्तर पाषाण काल में संस्कृति [illegible] विकास का सक्षिप्त वणन कीजिए। (१९६९)

सिन्धु सभ्यता | ३

आदि मानव ने धरती पर अवतरण के साथ ही जो कुछ सीखा, वह किसी वन्य पशु के कायकलापो से भिन्न न था, पर धीरे धीरे मनुष्य ने उन्नति करना आरम्भ किया। निश्चय ही असभ्यता से अधसभ्यता तथा अधसभ्यता से सभ्यता के प्रथम सोपान तक पहुँचने म उसे वर्षों की असख्य शृखलायें पार करनी पडी—समय की एक लम्बी दूरी तय करनी पडी। विश्व का कौन-सा कोना सवप्रथम सभ्यता की प्रथम किरण से प्रकाशित हुआ था इसका कोई ज्ञान दुर्भाग्यवश प्राप्त नही है। हाँ, इतना अवश्य ज्ञात हो सका है कि प्राचीन विश्व की सभी सभ्यताएँ नदियो की घाटियो मे ही उदित हुई एव फली फूली। दजला-फरात की घाटी मे ही सुमेरियन, वेबीलोनियन तथा असीरियन आदि सभ्यताओ का जन्म एव विकास हुआ, नील नदी की हरी-भरी घाटी मे ही मिस्र की प्राचीन सभ्यता उदित एव विकसित हुई। ठीक इसी प्रकार भारत मे भी सिन्धु नदी की घाटी म भी एक अत्यन्त शान्तिमयी सभ्यता का जन्म हुआ जिसका ज्ञान हमे एक लम्बे समय तक नही रहा। विश्व इतिहास का अध्ययन करते समय पहले हम सुमेरियन, वेबीलोनियन, मिस्री आदि सभ्यताओ की प्राचीनता पर आश्चय करते थे क्योंकि ये सभ्यताएँ ईसा के तीन चार हजार वष पूर्व की हैं और भारत की प्राचीन सभ्यता के नाम पर हमारे पास प्राचीन आय सभ्यता अर्थात् ऋग्वैदिक सभ्यता थी जिसका काल किसी प्रकार भी १५०० या २००० ई० पू० से पहले नही माना जा सकता। सभ्यता की दौड मे हजारो वष तक पिछडा रहना यह कुछ खटकता-सा था—यद्यपि प्राचीनतम युग मे सभ्यता एव सस्कृति मे आगे बढ़ जाना आधुनिक युग के लिए न तो विशेष लाभ की वस्तु है और न कोई विशेष महत्त्व की है, यह दूसरी बात है कि हम अपनी ऐतिहासिक प्राचीनता पर थोडा गर्व कर लें।

किन्तु सौभाग्यवश आज के कुछ वष पूव ही भारत की प्राचीनतम सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए जिनके आधार पर हमे सुमेरियन, वेबीलोनियन एव मिस्री आदि सभ्यताओ की समकालीन भारतीय सभ्यता का बोध हुआ है।

सर जान मार्शल ने सिन्धु घाटी की सस्कृति के प्रकाश मे आने के पूर्व ही भारत की भव्य महानता का अनुमान लगाया था। उनके अनुसार—

"Before the rise of the Maurya Empire a well developed and flourishing civilization has existed in India for at least a thousand years, yet of the structural monuments erected during those ages not one example has survived the Cyclopean walls of Rajagriha"

परन्तु जब यह सभ्यता प्रकाश म आई तब हमे इसकी सवश्रेष्ठता का ज्ञान हुआ। पडित जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्दुस्तान की कहानी' मे लिखा है – "यह एक दिलचस्प बात है कि हिन्दुस्तान की कहानी के इस उषाकाल मे हम उसे एक नन्हें बच्चे के रूप में नही देखते हैं, बल्कि इस वक्त भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था।

वह जिन्दगी के तरीको से अनजान नहीं है, वह किसी धुँधली और न हासिल होने वाली दूसरी दुनियाँ के सपनो मे खोया हुआ नही है, बल्कि उसने जिन्दगी की कला में, रहन-सहन के साधनो मे काफी तरक्की कर ली है, और न महज सुन्दर चीजो की रचना की है, बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगो और खास चिह्नो—अच्छे हम्मामो और नालियो को भी तैयार किया है।''

इतिहास के साधन—इस प्राचीन भारतीय सभ्यता (सिन्धु सभ्यता) का ज्ञान हमे किस प्रकार प्राप्त हुआ है, यह इतिहास भी रोचक है। आज से हजारो वर्ष पूर्व की यह सभ्यता धरती के नीचे अपने भग्नावशेष छोड कर विलीन हो गई थी। पर पुरातत्त्ववेत्ताओ के अदम्य उत्साह एव अपरिमित धैर्य के फलस्वरूप वे तिमिरविलीन भग्नावशेष दिन का प्रकाश देख सके। निम्नलिखित स्थानो की खुदाइयो से ही सिन्धु घाटी की सभ्यता का बोध होता है—

(१) मोहेनजोदडो, (२) हडप्पा, (३) अम्बाला, (४) करांची, (५) चैन्हदडो एव झूकरदडो तथा (६) केलात (बलूचिस्तान)।

उपर्युक्त खुदाइयो मे सभ्यता के वास्तविक रूप को सम्मुख लाने का श्रेय मोहन-जोदडो एव हडप्पा की खुदाइयो को ही दिया जा सकता है क्योंकि ये ही सिन्धु सभ्यता के केन्द्र थे और अधिकाश भग्नावशेष (कम से कम सभी महत्त्वपूर्ण भग्नावशेष या प्राचीन स्मारक) यही प्राप्त हुए हैं। अत इन दोनो स्थानो की भौगोलिक स्थिति तथा उनकी खुदाइयो का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जायगा।

मोहेनजोदडो—मोहेनजोदडो का शाब्दिक अर्थ 'शवो की ढेरी' है। यह सिन्धु के लरकाना जिले मे सिन्ध तथा नर नहर के मध्य स्थित है। सर्वप्रथम १६२२ ई० मे आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के पश्चिमी सर्किल के अध्यक्ष श्री राखालदास बनर्जी को यहाँ एक बौद्ध समाधि प्राप्त हुई थी। इस आशा से कि यहाँ बौद्ध धर्म-सम्बन्धी कुछ सामग्रियाँ प्राप्त होगी, बनर्जी ने उत्खनन-कार्य आरम्भ करवाया। पर यहाँ बौद्ध सामग्रियो का अवशेष न मिलकर एक पूरी सभ्यता का अवशेष प्राप्त हुआ। तत्पश्चात पानी को छूती हुई सात तहो तक खुदाई हुई। इस खुदाई मे इतनी प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है कि लिखित विवरण के अभाव मे भी (यद्यपि उक्त विवरण का अभाव न होते हुए भी लिपिबद्ध सामग्री का अपठनीय होना एक प्रकार का अभाव-सा ही है) हम उस प्राचीन सभ्यता की रूपरेखा अंकित कर पाते हैं।

हडप्पा—यह माटगोमरी जिले मे एक स्थान है। यहाँ सर्वप्रथम १६२२ ई० मे दयाराम ने अन्वेषण-कार्य आरम्भ किया था और कुछ भग्नावशेष प्राप्त किये थे, किन्तु तत्पश्चात् आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के डाइरेक्टर जेनरल सर जान मार्शल के निरीक्षण मे यहाँ पर्याप्त उत्खनन-कार्य हुआ जिससे धरती मे छिपी हुई सभ्यता का परिचय प्राप्त हुआ। Mohenjodaro and the Indian Civilization नामक विवरण तीन खण्डो मे सचित्र प्रकाशित करके मार्शल महोदय ने इस सभ्यता का ज्ञान प्राप्त कराया।

इसी प्रकार अम्बाला, करांची तथा बलूचिस्तान आदि की खुदाइयो से भी इस सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। इन्ही भग्नावशेषों के आधार पर ही इस सभ्यता का मूल्यांकन किया गया है। भारत की स्वाधीनता प्राप्ति और देश विभाजन के परिणामस्वरूप सिन्धु सभ्यता के अधिकाश स्थान पाकिस्तान मे चले गए। परन्तु स्वाधीन भारत मे जो महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक अन्वेषण हुए हैं, उनके आधार पर हम सिन्धु

शहरो मे एक या दो स्नानागार प्राप्त हैं। इसी प्रकार सम्भवत सिंधु सभ्यता के काल मे भी उसके बडे नगरो मे सार्वजनिक स्नानागार रहे होंगे जिनमे से यह एक प्राप्त हुआ है। इस प्रस्तर स्नानागार मे निम्नलिखित खण्ड हैं—

(१) चारो ओर बरामदे जिनके पीछे गैलरियाँ है तथा चारो ओर कमरे हैं, (२) एक कुण्ड जिसकी लम्बाई ३० फीट, चौडाई २३ फीट तथा गहराई ८ फीट है और दोनो ओर जल की सतह तक को छूती हुई सीढियाँ हैं। (३) कुएँ हैं जिनसे आवश्यकता पड़ने पर स्नानागार के कुण्ड को जल से भरा जाता था। (४) महान् स्नानागार की कुल लम्बाई १८० फीट, चौडाई १०८ फीट है तथा इसकी बाहरी दीवारो की मोटाई ८ फीट है। जलाशय के जल की सुरक्षा तथा उसकी नींव को सुदृढ रखने के अभिप्राय से यहाँ के राजगीरो ने विशेष चातुर्य से काम लिया है। जलाशय को जल से भरने या रिक्त करने के लिए जो व्यवस्था की गई है, वह निश्चय ही काफी असाधारण है। एक छ फीट से भी ऊँची प्रणालिका पाई गई है जिससे पानी निकाला जाता रहा होगा।

पुरातत्त्ववेत्ताओ ने एक विशेष प्रकार के खण्ड को देखकर ऐसा अनुमान किया है कि यह हम्माम रहा होगा जिसमे स्नानार्थ जल गर्म किया जाता रहा होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के सुन्दरतम स्नानागारो से यह स्नानागार किसी प्रकार भी कम सुन्दर नही है। इसकी मजबूती का सबसे बडा प्रमाण तो यह है कि यह लगभग ५००० ई० पू० का बना हुआ आज भी भली प्रकार सुरक्षित है।

नगर—नगरों के भग्नावशेषो के अध्ययन के आधार पर ही पुरातत्त्ववेत्ताओ ने ऐसा अनुमान किया है कि निश्चय ही सिंधु घाटी की सभ्यता नगर-सभ्यता थी, वैदिक सभ्यता की भाँति यह ग्राम्य-सभ्यता नही थी। उत्खनन द्वारा उस प्राचीन दिव्य नगर का जो ध्वसावशेष प्राप्त हुआ है उसे देखकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नगर-निर्माण एक निश्चित योजना (plan) द्वारा होता था। नगर निर्माण योजना के महत्त्व को वे प्राचीन कालीन मनुष्य भली भाँति समझ गये थे, यह भी महत्त्व का विषय है। यहाँ की सडकें काफी चौडी हैं जिनसे छोटी छोटी शाखायें और गलियाँ फूटी हैं। यहाँ सडको के चौराहे या तीन मुहानियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सडको के किनारे जो भवन बने हुए हैं वे सादे पर सुन्दर हैं। यह प्रारम्भ मे ही कहा गया है कि यहा जल-वृष्टि अधिक होती थी, अत इस अपार जल से नगर की सुरक्षा के लिए मोरियो की व्यवस्था अनिवार्य थी। सिंधु निवासियो ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था जैसा कि प्राप्त भग्नावशेषो से ज्ञात होता है। सम्पूर्ण नगर म मोरियो का जाल बिछा था। प्रत्येक घर मे मोरी होती थी जो घर का पानी सडक के नीचे बनी हुई नाली मे गिरा देती थी और इस प्रकार जल अन्य बडी-बडी प्रणालियो द्वारा शहर के बाहर निकल जाता था। इसी प्रकार सडक तथा अन्य सार्वजनिक स्थानो का जल भी प्रणालिकाओ द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था।

नगरो की स्वच्छता का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। सडको के किनारे कूडा फेंकने के बहुत बडे-बडे बर्तन प्राप्त हुए हैं जिससे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यहाँ म्युनिसिपल बोर्ड-सी कोई संस्था अवश्य रही होगी जो नगर की सफाई करती थी। गार्डन चाइल्ड ने नगर की स्वच्छता का ध्यान रखते हुए ही लिखा है, "गलियों की सुन्दर पंक्तियाँ तथा प्रणालिकाओ की उत्तम व्यवस्था एव उनकी सतत् स्वच्छता से इस बात का संकेत मिलता है कि यहाँ कोई नियमित नगर-शासन था जो अपना कार्य सावधानी से सम्पन्न करता था। इसका अधिकार इतना सुदृढ़ था कि बाढो के कारण बार-

सभ्यता की कुछ और महत्त्वपूर्ण बातो को जानने मे समर्थ हुए हैं। बीकानेर, रूपड, आलमगीरपुर, काली बंगा तथा लोथल आदि स्थानो मे विगत दो दशको मे महत्त्वपूर्ण उत्खनन कार्य किए गए हैं। इन कार्यों से सिन्धु घाटी की सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षो पर प्रकाश पडा है।

भवन—कच्चे-पक्के, छोटे-बडे हर प्रकार के भवनो के भग्नावशेष उत्खनन द्वारा प्राप्त हुए हैं। भवन-निर्माण मे सिन्धु सभ्यता के निवासी कितनी सावधानी, स्वच्छता एव सुन्दरता से काम लेते थे, इसका प्रमाण हमे उनके भवनो से प्राप्त हो जाता है। मकान चौकार बनाये जाते थे। बीच मे एक आगन होता था और उसके चारो ओर छोटे-बडे कमरे होते थे। यहाँ के मकानो मे दरवाजे, खिड़कियाँ, स्नानघर, पानी रखने का स्थान आदि के अतिरिक्त कूडादान एव जल निकालने वाली नालियाँ भी बनी होती थीं जो घर के पिछले भाग से निकलकर मुख्य नाले मे मिल जाती थी। लकडी और ईंटों से मकान की छतें पटी होती थी। मोहेनजोदडो एव हडप्पा के मकानो की एक विशेषता यह थी कि किसी भी मकान का दरवाजा या कोई खिड़की प्रमुख राजमार्ग की ओर नही खुलती थी। आधुनिक युग मे हम इसके ठीक विपरीत देखते हैं। राजमार्ग की ओर खिडकी दरवाजो के न खुलने का कोई कारण ज्ञात नही होता है। जैसा कि अभी ऊपर बतलाया गया है, यहाँ छोटे-से-छोटे मकान तक भी होते थे और बडे-बडे भवनो का भी निर्माण होता था। दो कमरेवाले मकानो से लेकर बडे-बडे राजमहलो के सदृश विशाल भवनो के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें एक बहुत ही विशाल भवन है जिसका अगला भाग ८५ फीट, गहराई ९७ फीट तथा जिसमे ३२ वर्गफीट का आँगन है। इस भवन के विशालकाय द्वार, हाल तथा बरामदो को देखकर यहाँ के कारीगरो की निपुणता का बोध होता है। मकानो की बाहरी दीवारें भी काफी मोटी होती थी। पाँच फीट तक मोटी दीवारोवाले मकान भी बनाये जाते थे। कुछ बहुत बडे-बडे हाल भी हैं जो सार्वजनिक भवन पाठशाला या मन्दिर हो सकते हैं। एक ८० वर्ग फीटवाला हाल भी प्राप्त हुआ है। पक्की इटे भी भिन्न भिन्न आकार की प्राप्त हुई हैं। कुछ इटें २०॥ इच लम्बी १०॥ इच चौडी तथा ३॥ इच मोटी होती थी। इन्हीं बडी बडी ईंटों से ऊपर के कक्ष मे जाने के लिए सीढियाँ बनाई जाती थी। मकान मे कुएँ भी खुदे होते थे जो आकृति मे आधुनिक कुआ की भाँति ही गोलाकार होते थे। पत्थर का अभाव होने के कारण पकी ईंटों का ही भवन निर्माण मे अधिक प्रयोग होता था। हडप्पा मे एक विशाल अन्नालय प्राप्त हुआ है। प्राचीन सभ्य देशों मे खत्तियोंमे अन्न भरने की प्रथा (एक दूसरे परिमार्जित रूप मे भारत मे भी) सिन्धु मे थी। इस अन्नालय के दो भाग है जिनम छ छ हाल हैं। हाल के बाहर बरामदे भी हैं। मोहेनजोदडो तथा हडप्पा के भवन बिल्कुल सादे बने हुए हैं। इस सादगी का कोई कारण विशेष हो सकता है क्योकि केवल यह कहकर सन्तोष नही किया जा सकता है कि उनके भवन निर्माता इस कला म दक्ष न थे। उनकी दक्षता के जीते-जागते उदाहरण वास्तुकला एव मूर्तिकला सम्बन्धी अन्य सामग्रियाँ हैं। स्वय इन भवनो की भीतरी बनावट ही इसका प्रमाण है कि सिन्धु-निवासी भवनो को अलकृत कर सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'कला उपयोगिता के लिए' के सिद्धान्त को सम्मुख रखकर भवनो का निर्माण करते थे और वे उसे अधिक अलकृत बनाने की अपेक्षा अधिक ठोस बनाने की चिन्ता करते थे।

स्नानागार—खुदाइयो मे अब तक जितने भवनो के अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमे सर्वोत्तम एव सर्वोत्कृष्ट एक स्नानागार है। आधुनिक युग मे लगभग अधिकांश प्राचीन

बार निर्मित भवनों की तैयारी के समय निर्माण एवं सड़कों की सुनिश्चित पंक्ति को बनाये रखने के नियमों का पालन होता था।"[1]

धातु एवं तत्सम्बन्धी सामग्रियाँ—जो कुछ भग्नावशेषों के रूप में प्राप्त होता है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सिंधु घाटी के निवासियों ने सोना, चाँदी, टिन, ताँबा, काँसा, सीसा आदि का प्रयोग जान लिया था। पर वे लोहे का प्रयोग नहीं जानते थे या यों कहें कि वहाँ लोहे का अभाव था। सोने का प्रयोग आधुनिक युग की भाँति ही आभूषण में होता था। जिस सोने का प्रयोग यहाँ के निवासी करते थे उसमें कुछ 'एलक्ट्रन' की मात्रा है जिससे हम यह कह सकते हैं कि यह आयात द्वारा दक्षिण में कोलार या अनन्तपुर से प्राप्त किया जाता था, क्योंकि इस प्रकार का सोना यहाँ प्राप्त होता है। इसी प्रकार कच्चे ताँबे के साथ काँसे का मिश्रित रहना यह सिद्ध करता है कि यह राजपूताना, बलूचिस्तान या फारस से मँगाया जाता था क्योंकि इस प्रकार का ताँबा यहाँ प्राप्त होता है। पत्थर का स्थान अब ताँबे ने ग्रहण कर लिया था और विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्र, गृह-सामग्रियाँ आदि ताँबे की बनाई जाती थीं।

टिन का साधारण प्रयोग नहीं होता था। इसे ताँबे के साथ मिश्रित करके काँसा तैयार किया जाता था। काँसे की प्राप्ति से यह स्पष्टत ज्ञात होता है कि ३००० ई० पू० में भी भारत में काँसे का प्रयोग होता था अत इससे यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है कि भारतवर्ष में काँसे का युग नहीं रहा। पर टिन या काँसा स्वयं सिंध के खनिज पदार्थ नहीं रहे होंगे। इनका आयात सम्भवत उत्तर फारस तथा पश्चिमी अफगानिस्तान से किया जाता रहा होगा।

सिंध में पत्थर का अभाव था। भवनों आदि के निर्माणार्थ यहाँ के निवासी अन्य स्थानों से पत्थर मँगाते थे। भाखर से बलुआ पत्थर आता था जिससे जल प्रणालिकायें (नालियाँ) ढकी जाती थीं। इसी प्रकार किथर की पहाड़ियों से जिप्सम' प्राप्त किया जाता था जिससे बर्तन तथा मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। कुछ अन्य प्रकार के पत्थरों से दरवाजे, बटखरे, मूर्तियाँ आदि बनाई जाती थीं। कुछ कीमती पत्थरों के आभूषण भी बनाये जाते थे। इस प्रकार पत्थर के लिए इन्हें नीलगिरि, पामीर, बदख्शाँ, तुर्किस्तान या तिब्बत आदि तक जाना पड़ता था।

सूत कातने के चरखे—मोहेनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त भग्नावशेषों में सूत कातने के चर्खे का बहुतायत से घरों में पाया जाना भी इस बात का प्रमाण है कि उन दिनों सूत कातना साधारण कार्य था और प्रत्येक व्यक्ति इस कार्य को करता था। वैदिक सभ्यता के पोषक ग्रामों में आज के एक शताब्दी पूर्व बिल्कुल यही प्रथा थी। *प्रत्येक घर की बुढ़िया चर्खा कातती थी और उससे वह अपना जीवन यापन करती थी।* यह नहीं कहा जा सकता कि सिंधु घाटी के निवासियों के ये चर्खे घर की केवल वृद्धाओं द्वारा चलाये जाते थे या सर्वसाधारण चलाते थे। पर कुछ कीमती चर्खों को देखकर यह भी धारणा बनाई गई है कि धनी एवं निर्धन समान रूप से चलाते थे। पर केवल

१ वी० गार्डन चाइल्ड, *What Happened In History*

"Many well planned streets and a magnificent system of drains regularly cleared out reflects the vigilance of some regular municipal government Its authority was strong enough to secure the observance of town planning bye laws and the maintenance of the approved lines for streets and lanes over several reconstructions rendered necessary by floods"

चर्खों के बहुमूल्य होने से ही ऐसा अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सूत प्राप्त करने के लिए इनके पास ऊन तथा रुई दोनो प्रसाधन थे। एक रजत-कलश से लिपटा सूती कपड़े का एक टुकड़ा प्राप्त हुआ है।

उपर्युक्त भग्नावशेषों के अतिरिक्त पशुओं की अस्थियाँ, आभूषण, अस्त्र शस्त्र, मुहरें आदि अनेकानेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर हम इस प्राचीनतम सभ्यता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इन ध्वसावशेषों का वर्णन प्रसगतः आगे किया जायगा। विषय को सरल बनाने के लिये सिन्धु घाटी के निवासियों की विभिन्न परिस्थितियाँ (सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक) का पृथक्-पृथक वर्णन किया जायगा।

सामाजिक अवस्था

(१) भोजन—लगभग सभी प्राचीन सभ्य देशो के निवासियो का मुख्य व्यवसाय कृषि रहा है क्योंकि मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट है और अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे उसे जो कुछ कम या अधिक ज्ञान प्राप्त हो सका, वह प्रकृति-सम्बन्धी ही। सिन्धु घाटी के निवासियो ने भी इस क्षेत्र मे काफी उन्नति कर ली थी। सौभाग्यवश वहाँ जल का बाहुल्य था, अतः सिंचाई-सम्बन्धी किसी कठिनाई का सामना इन्हे नही करना पड़ता था। उत्खनन द्वारा गेहूँ तथा जौ के दाने प्राप्त हुए हैं। कृषि-सम्बन्धी प्रमुख औजार नही मिले हैं। अतः यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि ये जुताई-बुआई किस प्रकार करते थे।

यहाँ खजूर की गुठली भी प्राप्त हुई है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये लोग इसकी खेती करते थे और कुछ अन्य फलो के उत्पादन से भी परिचित रहे होंगे। ये शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों थे। दूध के प्रयोग से भी ये परिचित थे।

(२) वसन—सूत कातने के चर्खों तथा सूती कपड़े के एक टुकड़े की प्राप्ति का उल्लेख ऊपर किया गया है। इस आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन्हे वस्त्रो के उत्पादन मे पर्याप्त सफलता प्राप्त हो चुकी थी। वे सूती, ऊनी दोनो प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करते थे। उनके वस्त्र-सम्बन्धी ज्ञान के लिए सौभाग्यवश एक पुरुष की मूर्ति प्राप्त हुई है जो शाल ओढ़े है। यह शाल बायें कन्धे के ऊपर से होकर दाहिनी आँख के नीचे से जाता है। दाहिना हाथ बिल्कुल खुला है। शाल ओढ़ने की प्रथा को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे धोती का या इसी से मिलते जुलते किसी वस्त्र का प्रयोग करते रहे होंगे। स्त्रियों के वस्त्र भिन्न थे। हड़प्पा मे उत्खनन द्वारा प्राप्त साक्ष्य के आधार पर यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ सर पर एक विशेष वस्त्र पहनती थीं जो पीछे की ओर पंख-सा उठा रहता था।

(३) आभूषण—सिन्धु घाटी के स्त्री-पुरुषों को आभूषणों से विशेष प्रेम था। धनी एवं निर्धन समान रूप से इस ओर आकृष्ट थे। अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे कम या अधिक कीमती आभूषण बनवाते थे। कुछ आभूषण ऐसे थे जो स्त्री-पुरुष दोनो पहनते थे। इन आभूषणो मे हार, भुजबन्द, कंगन और मुद्रिका हैं। स्त्रियों के आभूषणों में नथुनी, करधनी, बाली अधिक प्रचलित थी। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है, सोने, चाँदी, कीमती पत्थर आदि अनेक धातुओं एवं खनिजों से ये परिचित थे। अतः धनी लोगो के आभूषण सोने, चाँदी, मणियों एवं जवाहरातो के होते थे और निर्धनों के आभूषण सुलभ हड्डियों, ताँबे तथा पकी मिट्टियों के होते थे।

(४) विलास-सम्बन्धी अन्य सामग्रियाँ—शृगार की ओर स्त्रियों की विशेष अभिरुचि

थी। हाथीदांत की कंघियों तथा पीतल के आइने का प्रयोग वे करती थी। मुख तथा ओष्ठ रंगने के लिए भी वे एक विशेष प्रकार के पदार्थ का प्रयोग करती थी।[1]

(5) आमोद प्रमोद—जीवन मे आमोद-प्रमोद का महत्त्व उस प्राचीन काल मे भी कम न था। ओलम्पिया स्पोर्ट्स की पुनरावृत्ति विश्व मे आज भी हो रही है। पर इससे भी प्राचीन काल मे सिंधु घाटी के निवासियों ने इसको जीवन में उचित स्थान दिया। प्राचीन काल का प्रिय खेल शतरंज यहाँ के निवासियों का प्रिय खेल था। कुछ ऐसी सीलें प्राप्त हुई हैं जिन पर धनुष-बाण से जंगली हिरण तथा बकरों का आखेट करते दिखलाया गया है। इससे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि उनके मनोरंजन का एक अन्य साधन आखेट भी था। पक्षियों को पालकर ये उन्हें लड़ाते थे। मुर्गों की लड़ाई का इन्हें विशेष शौक था। कुछ ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर तुरही, वीणा आदि के चित्र उत्कीर्ण हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि नृत्य एवं संगीत से भी इन्हें प्यार था। कांसे की एक नर्तकी मूर्ति भी इस सत्य को प्रमाणित करती है।

तरुणों के अतिरिक्त बालकों के मनोविनोद एवं खेल का भी यहाँ समुचित प्रबन्ध था। अन्य शारीरिक खेलों के विषय मे तो हमे कोई विशेष ज्ञान नहीं है किन्तु प्राप्त खिलौनों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बच्चों के जीवन में खेल का काफी महत्त्व था। उत्खनन द्वारा असंख्य खिलौने प्राप्त हुए हैं जिनमे झुनझुने, सीटियाँ, गाड़ियाँ जिनमे बैल जुते रहते थे और जिन पर चिड़ियाँ बैठाई जाती थीं, आदि प्रधान हैं। ये सारे खिलौने बहुधा मिट्टी के होते थे। नर-नारियों एवं पशु पक्षियों की आकृतियाँ भी मिट्टी की बनाई जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ के निवासी अपने बालकों के शारीरिक विकास एवं मनोविनोद का विशेष ध्यान रखते थे।

(6) रहन सहन के कुछ अन्य ढंग—भवनों एवं नगरों का वर्णन करते समय हमने बताया है कि इनके भवन हवादार एवं स्वच्छ होते थे। भवनों की सादगी से कुछ ऐसा भी आभासित होता है कि वे अपने भवनों को कुछ ऐसी वस्तुओं से सजाते रहे होंगे जो शीघ्र नश्य नहीं रही होगी। पर अलंकार से दूर रहना इनके लिए सम्भव नहीं जान पड़ता। ये छोटी दाढ़ी तथा मूँछें रखते थे। कंघी की सहायता से अपने बालों को पीछे की ओर फेरते थे।

(7) तौल के बटखरे—उत्खनन द्वारा पर्याप्त मात्रा में बटखरे प्राप्त हुए हैं। छोटे बटखरे बिल्लौर या स्लेटी पत्थर के हैं और ये प्रायः छपहले आकृति के हैं किन्तु बड़े बटखरे गोल मंदी के नोकीले हैं। इतिहासकारों का ऐसा मत है कि ये बटखरे अपनी शुद्धता में मेसोपोटामिया तथा एलम के बटखरों से भी बढ़कर हैं।

(8) अन्तिम क्रिया—मोहेनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाइयों से उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर इनके मृतक संस्कार की कल्पना की जा सकती है। ये तीन प्रकार से अपने शवों की अन्तिम क्रिया करते थे—(१) या तो उनको पूरी समाधि दे दी जाती थी, या (२) पहले शव को खुले स्थान मे इसलिए छोड़ दिया जाता था कि वह पशु-पक्षियों का आहार बने और तदुपरान्त अवशेष अस्थि-पंजर को दफना देते थे, या (३) पहले शव को जला देते थे और तब भस्म को भाण्ड में रखकर दफना देते थे।

१ सर जान मार्शल ने इनकी विलासिता एवं शृंगारिकता पर लिखा है—
"यहाँ साधारण नागरिक सुविधा और विलास का जिस मात्रा मे उपभोग करता था, उसकी तुलना समकालीन सभ्य संसार के अन्य भागों से नहीं हो सकती।"

हाँडियो तथा कलशो मे इस प्रकार का भस्म तथा जली अस्थियाँ प्राप्त हुई हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिंधु सभ्यता के काल मे जलाने की प्रथा प्रचलित थी। मोहेनजोदडो की सडको और एक कमरे से लगभग बीस अस्थि-पजर उपलब्ध हुए है, पर यहा कोई कब्र नही मिली है। किन्तु हडप्पा मे एक कब्रगाह भी प्राप्त हुआ है।

(9) सामाजिक सगठन—सिंधु निवासियो के सामाजिक जीवन का वर्णन सक्षेप मे ऊपर किया गया है। पर उनके सामाजिक सगठन पर भी कुछ प्रकाश डाल देना अनिवार्य है। सुमेरिया, बेबीलोनिया, काल्डिया एव यूनानी सभ्यताओ के काल मे वहाँ के सामाजिक सगठन का अध्ययन करने से हमे ज्ञात होता है कि इन अधिकाश सभ्य देशो का सामाजिक सगठन उत्तम, मध्यम तथा निम्न तीन वर्गों मे सम्पूर्ण समाज को विभक्त करके हुआ था। राजा तथा उसके सामन्त एव कभी-कभी पुरोहित को उत्तम वर्ग मे रखते थे। मध्यम वर्ग मे जमीदार तथा व्यापारी आते थे और निम्न वर्ग मे बहुधा दास और किसान आते थे। पर सिंधु निवासियो का सामाजिक सगठन इनसे विशेष साम्य नही रखता। यहा सम्पूर्ण समाज चार वर्गों मे विभक्त था —(१) विद्वान्, (२) योद्धा, (३) व्यापारी तथा (४) श्रमजीवी।

पुजारी, ज्योतिषी तथा वैद्य आदि की गणना विद्वान् वर्ग मे की जाती थी। सैनिक कार्य करने वाले तथा जनरक्षको को योद्धा वर्ग मे रक्खा गया था। औद्योगिक कार्य करने वाले तथा वणिको का तृतीय वर्ग व्यापारियो का था। चतुर्थ वर्ग मे घर मे काम करने वाले नौकर तथा अन्य श्रमजीवी थे। छोटे-मोटे घरेलू उद्योग धन्धों मे लगे व्यक्तियों को भी इसी वर्ग मे रक्खा गया था।

आर्थिक दशा

प्रारम्भ मे ही बताया जा चुका है कि इनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। यह ज्ञात नही कि कृषि मे ये हल का प्रयोग करते थे कि नही क्योकि उसके अवशेष या खेत जोतने के अन्य किसी प्रकार के अवशेष प्राप्य नही हैं। पर इनके पशुओ के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ये हल का प्रयोग जानते थे। हो सकता है लकडी का होने के कारण वे नष्ट हो गये हो। आजकल की भाति उस युग मे सिन्धु-भूमि शुष्क एव वृष्टिहीन नही थी, ऐसा पहले ही सिद्ध किया जा चुका है। सिंधु एव मिहरान तथा उनकी सहायक नदियो से सिचन-कार्य सुविधापूर्वक हो जाता था और यही कारण है कि सिचाई के औजारो के चिह्न नही प्राप्त हुए हैं। गेहूँ, जौ और खजूर का उत्पादन ये काफी करते थे। कृषि-कार्य के सहायक उद्योग पशुपालन से भी ये अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। अस्थि-पजरो पर तथा मुहरो पर उत्कीर्ण चित्रो के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनके पालतू पशुओ मे से बैल, गाय, सुअर, कुत्ते और हाथी प्रमुख थे। ऊँट तथा घोडे की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई है। पर घोडे की हड्डियाँ ऊपरी तह पर प्राप्त हुई है जिससे यह परिलक्षित होता है कि घोडे का प्रयोग बाद मे प्रारम्भ हुआ। वैसे इनके घरो मे सुअर, घडियाल, मछलियो तथा चिडिया की भी हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं जिन्हे सम्भवत ये मारकर खाते थे। कुछ पत्रों पर गैंडा चीता, भालू बन्दर तथा खरगोश के चित्र उत्कीर्ण हैं जिनसे ये परिचित मालूम पड़ते हैं।

विभिन्न प्रकार के घरेलू उद्योग धन्धे भी इनकी जीविका के प्रमुख साधन थे। इनमे स्वर्णकारी, कुम्भकारी, बढईगिरी, लुहारी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आभूषणो

के विषय मे पहले ही बताया जा चुका है।[1] कुम्भकार चाक द्वारा रकाबियाँ, कटोरियाँ, प्यालियाँ, मटके, कुण्डे, भाण आदि बनाते थे। मिट्टी के खिलौने बनाकर भी ये अच्छी आय कर लेते थे। मिट्टी के बर्तनो एव खिलौनो के अतिरिक्त ये दीवट, चूहेदानी तथा पिंजडे भी मिट्टी से बनाते थे।

बढ़ई का महत्त्व भी इन दिनो कम न था। मोहेनजोदडो एव हडप्पा की चौडी-चौडी सडको पर बैलगाडियाँ अधिक चलाई जाती थी। अन्तर्देशीय व्यापार मे बैलगाडियो का महत्त्व अधिक था। बच्चो की गाडियाँ और कुर्सियाँ तथा इसी प्रकार के अन्य छोटे-छोटे सामान बढ़ई बनाते थे। भवन-सम्बन्धी लकडी की सामग्रियाँ, दरवाजे, खिडकियाँ आदि बनाने मे भी ये काफी दक्ष थे।

यहाँ लुहारी का प्रयोग इसके सकीर्ण अर्थ में नही किया गया है, अर्थात केवल लोहे की सामग्री बनानेवाले को ही 'लुहार' की सज्ञा नही दी गई है। वास्तव मे धातु-कार को लुहार कहा गया है और अस्त्र शस्त्र तथा आभूषणो के अतिरिक्त धातु की अन्य समस्त सामग्रियाँ बनाने वालो को लुहार कहा गया है। ये ताँबा, कासा आदि से गदा, फरसा, खजर, बर्छे, धनुष-बाण आदि बनाते थे। धातुओं के बर्तन भी यही लोग बनाते थे।

बुनकरो ने भी इस युग मे काफी उन्नति की थी। पकी मिट्टी तथा हड्डियो के टेकुओ, सूत की नलिकाओ आदि की प्राप्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत की कताई पर्याप्त होती थी और यहाँ के बुनकर कुशलतापूर्वक कपडे बुनते थे। ये ऊनी तथा सूती दोनो प्रकार के वस्त्र तैयार करते थे।

इनके अतिरिक्त जौहरी, हाथीदाँत के काम करनेवाले, रँगरेज, पत्थर छाँटनेवाले विभिन्न प्रकार के लोग नाना प्रकार के उद्योग-धन्धों द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।

कृषि, पशुपालन एव घरेलू उद्योग धन्धो के अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र मे भी इन लोगो ने पर्याप्त उन्नति की थी। वाणिज्य एव व्यवसाय मे ये विश्व के अन्य नगरो की अपेक्षा काफी उन्नतिशील थे। चौडी चौडी सडको की पटरियो पर छोटी-बडी दुकानें होती थी। इनका विदेशी व्यापार 'सुमेरिया' तक फैला था। इनके विदेशी व्यापार के विषय मे गार्डन चाइल्ड का कथन है, "सिंधु घाटी के नगरो की निर्मित सामग्रियाँ दजला-फरात के बाजारों मे बिकती थी और उधर सुमेरियन कला की कुछ शैलियो, मेसोपोटेमिया की शृगार-सामग्रियो तथा एक बेलन के आकार की मुहर का अनुकरण सिंधु निवासियो ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल तथा विलास की वस्तुओं तक ही सीमित न था। अरब सागर के तटों से लाई मछलियाँ मोहेनजोदडो की भोजन-सामग्री मे सम्मिलित थी।' इनके विदेशी व्यापार भारत के अडोस-पडोस एशिया के विभिन्न नगरो से भी होते थे। आयात व्यापार के विषय मे धातु एव खनिज पदार्थों के प्रकरण मे थोडा-बहुत प्रकाश डाला गया है और बताया गया है कि सोना, ताँबा, पत्थर तथा मणियो का आयात ये विदेशो से करते थे। इनके आतरिक व्यापार के विषय मे प्रोफेसर गार्डन चाइल्ड का मत है, " स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि सिंधु के नगरो मे शिल्पी बिक्री के लिए वस्तुएँ बनाते थे। इन

१ इन स्वर्णकारो की निपुणता के विषय मे एक विद्वान ने लिखा है, "वे बांड स्ट्रीट के किसी आधुनिक जौहरी की दुकान से आये हुए प्रतीत होते हैं, ईसा से ५००० ई० पू० प्रागैतिहासिक काल के घर से आये हुए नहीं जान पडते।" लोथल से प्राप्त एक कण्ठहार लगभग ५००,००० लघु मनको से बनाया गया है।

सामानो के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने मुद्राओ का प्रचलन या मूल्य का माप स्वीकार किया था या नही, और यदि किया था तो क्या था—इसका ठीक पता नही है। अनेक विशाल भवनो और मकानो से लगे हुए सुरक्षित गोदामो से यह ज्ञात होता है कि इन घरो के स्वामी व्यापारी थे। इन घरो की सख्या और आकार यह बताते हैं कि यहाँ सुसगठित एव समृद्धशाली व्यापारियों की बस्ती थी।"[1]

धार्मिक दशा

वैसे तो कछ विद्वानो ने सुमेरियन सभ्यता के प्रारम्भिक काल मे एकेश्वरवाद की कल्पना की है, पर यह कल्पना सत्य के कहाँ तक निकट है यह नही कहा जा सकता। वास्तव मे यह प्राचीन सभ्य देशो के अध्ययन से अब तक यही ज्ञात हो पाया है कि वे समस्त प्राचीन निवासी प्रारम्भ मे बहुदेववादी, प्रकति-पूजक या शक्ति के उपासक थे। एकेश्वरवाद की कल्पना उन्होने कालान्तर मे की है। सिन्धु घाटी के निवासियो की धार्मिक अवस्था भी कुछ इसी प्रकार की थी। इनके धर्म के विषय मे ज्ञान प्राप्त करने के प्रमुख साधन मुहरें, तावीजें, मूर्तियाँ आदि हैं। इन मुहरो या तावीजो पर उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर ही हम उनके धर्म के बाह्य रूप का बोध कर पाये हैं। स्पष्ट एव पठनीय लिखित सामग्री के अभाव मे उनके दर्शन का कोई ज्ञान हमे प्राप्त नही है। उनके धार्मिक विश्वासो एव आस्थाओ का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ, इसका भी प्रामाणिक ज्ञान हमारे पास नही है।

(1) मातदेवी की उपासना—मोहेनजोदडो तथा हडप्पा मे असख्य देवियो की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जैसी कि बलचिस्तान में मिली हैं। इसी प्रकार की मूर्तियाँ पश्चिमी एशिया, इजियन सागर के आसपास, एलम, एशिया माइनर, मेसोपोटमिया, सीरिया पैलेस्टाइन क्रीट, साइरस, बालकन, इजिप्ट आदि मे प्राप्त हुई हैं। विद्वानो का यह मत है कि ये मूर्तिया मातृदेवी या प्रकति देवी की मूर्तियाँ हैं। मातृदेवी या प्रकृति देवी की इस उपासना को प्राचीन कालीन सिन्ध मे देखकर हमे उस प्राचीन वैदिक कालीन मातृपूजा, (आद्य शक्ति या प्रकृति, पृथ्वी या अग्नि जिनका उल्लेख ऋग्वेद मे किया गया है) से लेकर आधुनिक काल के 'ग्राम्यदेवता' (जिनकी सख्या अनन्त है) तक की स्मृति आ जाती है और भारत के धार्मिक विश्वासो की इस शृखला का बोध करके आश्चय-सा होने लगता है। इस मातृदेवी की उपासना वे किस प्रकार करते थे, इसका प्रमाण हमे हडप्पा मे प्राप्त एक अन्य सील के चित्र मे मिलता है (यदि इस चित्र का सम्बन्ध पूर्वकथित मूर्तियो से हो)। उक्त चित्र मे एक ऐसी स्त्री बनी हुई है जिसके पेड़ से एक पौदा निकल रहा है। चाकू लिए हुए एक पुरुष है और एक स्त्री जिसकी सम्भवत बलि चढाई जानेवाली है, हाथ ऊपर किये खडी है। यदि इसे मातृ-देवी मान लिया जाय (जैसा कि अधिकाश विद्वान मानते हैं) तो यह निश्चयपूवक कहा जा सकता है कि ये मातृदेवी की पूजा बलि द्वारा भी करते थे और बलि मे नरबलि भी सम्मिलित थी।

(2) आदि पशुपति की उपासना—एक सील पर एक देवता की मूर्ति उत्कीर्ण है। इस देवता के तीन मुख और दो सीग हैं। यह योगासन म बैठा है। इसकी दाहिनी ओर एक हाथी और एक सिंह हैं, बाई ओर बारहसिंहा तथा भैंसा चित्रित है। सर पर शिरस्त्राण है। आसन के नीचे एक दो सीगवाला हिरन है। विद्वानो ने इस चित्र का गहन अध्ययन किया है। तीन मुख से त्रिमुख और त्रिनयन (शकर भगवान् का) चारो ओर पशुओ के

१ गार्डन चाइल्ड *What Happened In History*

चित्रा से ऋग्वेद के रुद्र और पशुपति शिव, योगासन से भी योगिराज शिव, दोनो सीग शिव तथा शिरस्त्राण को त्रिशूल (शंकर भगवान का हो) अनुमानित किया है। इस प्रकार आदि पशुपति की पूजा का आभास मिलता है। कुछ विद्वानो ने हिरन और दो सींगो तथा शिरस्त्राण द्वारा कल्पित तीन वस्तुओ (त्रिशूल) को बौद्धो के त्रिरत्न की कल्पना की है पर यह तर्कसंगत नही प्रतीत होती क्योंकि बौद्ध धर्म की प्राचीनता सिंधु घाटी के निवासियों के धर्म मे खोजना अधिक तर्कसंगत नहीं जँचता। मार्शल ने सिंधु घाटी म शैवधर्म की उत्पत्ति मानकर उसे विश्व का प्राचीनतम धर्म स्वीकार किया है। उनके अनुसार—

"Among the many revelations that Mohenjodaro and Harappa have had in store for us, none perhaps is more remarkable than this discovery that Saivism has a history going back to the Chalcolithic Age or perhaps even further still and that it thus takes its place as the most ancient living faith in the world"

श्री टी० एम० पी० महादेवन् ने भी मार्शल की इस विचारवादिता का खंडन बड़े ही सूझ-बूझ से साथ किया है। उन्होंने तथाकथित शिव के चित्रण को शिव न होने के पक्ष मे कई जोरदार मत दिए हैं। उनके अनुसार—

"The figure on the 'roughly carved seal' provides only very slender evidence for the theory which Marshall evolves out of it"

लिंग तथा योनि पूजा के प्रतिबिम्ब पाषाणों को जान मार्शल शैवधर्म की पुष्टि मे प्रमाणस्वरूप उपस्थित करता है। उनके अनुसार—

"They were all sacred objects of sort, the larger ones serving as aniconic agalmala for cult purposes the smaller are amulets to be carried on the person just as miniature lingas are commonly carried by saivites of to-day"

परन्तु महादेवन महोदय ने मार्शल के इस मत का भी खंडन किया है और इस प्रकार शैवधर्म की प्राचीनता का पूरा ताना-बाना ही उखड़ जाता है। हम तो अब नए तथ्यों के प्रकाश मे आने तक अपने सत्यनिर्णय के प्रतिपादन की प्रतीक्षा करनी होगी। सर जान मार्शल ने अपने मत की कमजोरी का आभास किया था, अतएव वह कहता है—

"Our task is but just beginning Fresh materials are coming to light almost daily and our horizon, therefore, is insensibly changing In such conditions any approch to finality is out of the question"

मोहेनजोदड़ो मे एक सील पर एक और भी चित्र अंकित मिला है जो योगी का है और एक नाग दोनों ओर पूजा मे हाथ ऊपर उठाये हुए है। एक दूसरा चित्र भी वही अंकित है जो केवल एक मुखवाले देव का है। शक्ति-पूजा की कल्पना भी प्राप्त चित्रों के आधार पर की जा सकती है जो सम्भवतः मातृदेवी की पूजा या पृथ्वी-पूजा के उपरान्त आरम्भ हुई।

(3) योनि-पूजा—शिव एवं शक्ति की उपासना के साथ-साथ लिंग-पूजा या योनि पूजा भी प्रचलित थी। शिव की पूजा के साथ लिंग की पूजा का विकास होना हिन्दू धर्म की पूजा-पद्धति से समता स्थापित करता है। पत्थरों की बनी हुई लिंग तथा योनि की आकृतियाँ सिंध तथा बलूचिस्तान दोनो स्थानों में पाई गई हैं। लिंग-पूजा आदि पशुपति की पूजा निश्चय ही प्रमाणित हो जाती है।

वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा—वृक्ष पूजा या प्रकृति-पूजा के प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलते हैं। वृक्ष-पूजा दो रूपो मे होती थी—(१) वृक्ष को उसके प्राकृतिक रूप मे पूजना तथा (२) प्रतीकात्मक रूप मे, अर्थात उस वृक्ष मे किसी देवता का निवास मानकर। सिंधु निवासियो की वृक्ष-पूजा को जानकर हिन्दू धर्म में प्रचलित वृक्ष पूजा की स्मृति आ जाती है। तुलसी के वृक्ष की पूजा आज भी इसके वास्तविक रूप मे होती है और पीपल मे वासुदेव भगवान का वास मानकर उसकी पूजा करते हैं। प्रथम प्रकार की पूजा, अर्थात वृक्ष को उसके वास्तविक रूप मे पूजने की प्रथा का उदाहरण हडप्पा की कुछ मुहरो से प्राप्त होता है। (हिन्दुओं के पवित्र वृक्ष) पीपल की दो डालों के बीच में एक देवता का चित्र मोहेनजोदडो मे प्राप्त हुआ है। (ध्यान रहे कि पीपल के पेड की पवित्रता न केवल हिन्दू धर्मावलम्बी ही स्वीकार करते हैं वरन यह भगवान बुद्ध का बोधिवृक्ष होने के नाते बौद्ध मतावलम्बियो का भी पावन वृक्ष है। इस देवता की आराधना मे सात अन्य मूर्तियां चित्रित की गई हैं जो नारी चित्र हैं। इसमें एक पशु का भी चित्र है जिसके शरीर का कुछ भाग बैल का है तथा कुछ बकरे का और जिसका मुख मनुष्य का है। ऐसा अनुमान है कि यह पशु उक्त पीपल देवता का वाहन है। कुछ अन्य चित्र भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर इनकी वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा का बोध होता है।

पशु-पूजा—सिंधु सभ्यता के निवासी पशु पूजा भी करते थे। इस सम्बन्ध मे मुहरो तथा प्रस्तर पत्रो पर चित्रित या उत्कीर्ण मूर्तियो का प्रमाण पर्याप्त होगा। उनकी पशु-पूजा का सबसे बडा प्रमाण तो यह है कि वे पशुओ की आकृतियां कुछ विशेष आकार प्रकार की बनाते थे। कुछ पशु आधे मनुष्य और आधे पशु थे, जैसा कि ऊपर बकरे का उल्लेख किया गया है। आधा भेड, आधा बकरा, आधा हाथी और आधा बैल या इसी प्रकार के अन्य मिश्रण से किसी पशु की आकृति का निर्माण करना यह सिद्ध करता है कि वे पशुओ मे भी दैवी अंश मानते थे और उनकी आराधना करते थे। और कुछ नही तो किसी देवता विशेष के वाहन रूप मे तो उसकी पूजा करते ही रहे होंगे। कुछ पशुओं से इन्हें विशेष प्यार था और उनकी आकृतियां ये नितान्त कलात्मक ढंग से बनाते थे। बडी लटवाला बैल या सांड, भेडा, भैंस, शेर आदि इसी कोटि के पशु हैं। इन पशुओ के प्रति विशेष प्यार होने का कोई अन्य कारण नही हो सकता, सिवाय इसके कि ये इनके धार्मिक पशु हो। पिछले पृष्ठ मे आदि पशुपति का उल्लेख करते हुए शेर तथा भैंसा के चित्रो का अंकित होना बतलाया गया था। सम्भव है ये देवता उनके पूज्य हो। आज भी वाहन रूप की हिन्दू शंकर के नन्दी-बैल, दुर्गा के सिंह, यमदेव के भैंसे, ब्रह्मा के भेडे, इन्द्र को गज की सत्ता स्वीकार करते हैं। श्री के० एन० शास्त्री ने अपनी छोटी सी पुस्तिका 'New Light on the Indus Civilization'' मे भैंसे के सिरवाले देवता के विषय मे विस्तार से विचार किया है। उनका कहना है कि यह देवता शिव के पाशुपत रूप की अपेक्षा वैदिक देवता रुद्र के अधिक निकट है।

धार्मिक प्रथायें—इनकी धार्मिक प्रथाओ के विषय मे हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है। ये सम्भवत स्नान से शरीर पवित्र करने मे विश्वास करते थे और सम्भवत इसीलिए मोहेनजोदडो मे स्नान करने का इतना सुव्यवस्थित प्रबन्ध किया गया था। इन्होने सम्भवत मन्दिरो का निर्माण नही किया था, पूजा-पाठ या तो खुले स्थानो मे या घरों में किया करते थे।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि सिंधु घाटी के निवासियों के धर्म तथा हिन्दू धर्म में पर्याप्त साम्य है और इसी साम्य से प्रभावित होकर मार्शल महोदय ने लिखा है, "सिंधु घाटी के लोगों के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती-जुलती बातें हमें अन्य देशों में भी मिल सकती हैं और यह बात सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के विषय में ठीक सिद्ध होगी। लेकिन सब कुछ होते हुए भी उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि आधुनिक युग के प्रचलित हिन्दू धर्म से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है।"[1] प्राचीन सभ्य देशों में धार्मिक अन्धविश्वासों, जादू-टोना आदि का अधिक विवरण प्राप्त होता है। सिंधु सभ्यता में भी हम इस प्रकार के अन्धविश्वासों का पता चलता है। स्वर्ग-नरक के विषय में इनकी कोई कल्पना थी या नहीं और यदि थी तो क्या थी, इसका भी कोई ज्ञान हमें नहीं है। आमिषाहारी होने के कारण इनकी धार्मिक प्रथाओं में कुछ हिंसात्मक भी रही होंगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है पर इसका भी कोई मान्य साक्ष्य नहीं है।

स्टुअट पिगट महोदय ने भी हिन्दू धर्म का स्रोत सिंधु घाटी से माना है।

कला

कला के क्षेत्र में यहाँ के कलाकारों ने काफी उन्नति की थी। ये 'कला उपयोगिता के लिए, पर विशेष जोर देते थे। सुविधा के लिए इनकी विभिन्न कलाओं का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

(१) भवन निर्माण-कला—सिन्धु घाटी के भवनों का विवरण पीछे दिया जा चुका है। हम मानते हैं कि इनके भवन यद्यपि स्वच्छ एवं सुडौल होते थे, पर इनमें कलात्मकता का अभाव था। विशाल भवनों एवं हालों को देखकर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वे इस कला में दक्ष थे और मकानों को अधिक से अधिक उपयोगी बनाना चाहते थे। बृहत् स्नानागार इनकी इस कला का द्योतक है।

(२) मूर्तिकला—वास्तव में यहाँ के कलाकार मूर्तिकला में ही विशेष उन्नति कर सके थे। इनकी मूर्तियाँ अधिक कलात्मक एवं कल्पनापूर्ण हैं। यूनानी तथा भारतीय (सिंधु) मूर्तिकारों की प्रवृत्तियों की तुलना भी विशेष रुचिकर है। यूनानी मूर्तिकार शरीर के अवयवों को हृष्ट-पुष्ट एवं पूर्ण विकसित दिखाने के पक्ष में थे जबकि सिंधु के कलाकार मुखमण्डल की भावाभिव्यक्ति पर अधिक जोर देते थे। यूनानी मूर्तियों को देखकर रसानुभूति नहीं हो पाती, पर सिन्धु की मूर्तियों को देख हृदय में भावातिरेक तो उठता है। यहाँ नर्तकी की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। नर्तकी त्रिभंगी मुद्रा में नर्तन करने के लिए प्रस्तुत है। वह पैर ऊपर उठाकर पद प्रक्षेप करना चाहती है। दो पुरुषों की भी मूर्तियाँ उत्खनन द्वारा प्राप्त हुई हैं। यहाँ की मूर्तिकला की प्रशंसा में जान मार्शल ने लिखा है, "सिंधु घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर अपनी एक विशिष्ट छाप है। इस काल में हम अन्य देशों में कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहाँ की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या अन्य पशुओं की मूर्तियों से साम्य रखती हो, या उन उत्कीर्ण मुहरों से, विशेष रूप से जिन पर छोटी सींगों के कूबड़वाले बैलों की नक्काशी है और जो निर्माण-कौशल तथा सुडौलपन की दृष्टि से अद्वितीय हैं, न यही सम्भव है कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी

१ सर जान मार्शल, *Mohenjodaro & the Indus Civilization*

प्रतिमाओ की तुलना रचना की सुघराई की दृष्टि से किन्ही अन्य मूर्तियो से कर सके, सिवाय इसके कि जब यूनानी सभ्यता की प्रौढकाल की मूर्तियाँ देखें।"[1]

(3) मुहर निर्माण कला—इस क्षेत्र मे तो यहाँ के मनुष्यो ने आशातीत उन्नति की थी। मुहरें भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरो, हाथीदाँत, धातुओ तथा मिट्टी की बनाई जाती थी। इनके आकार भी विभिन्न हैं। अधिकाश मुहरें गोलाकार हैं। मुहरों की सुन्दरता उन पर उत्कीर्ण पशु आकृतियो से और बढ़ जाती है।

(4) अन्य कलाएँ— कुम्भकार कला, स्वर्ण-कला, बरतन बनाने की कला आदि पर पहले ही पसगत प्रकाश डाला जा चुका है। चित्रकला का स्वतन्त्र रूप देखने को नही मिलता पर इससे यह अनुमान लगाना कि वे चित्रकला से अनभिज्ञ थे, तर्कसगत नही। वास्तव मे चित्रकला का प्रदर्शन बहुधा शीघ्र नश्य वस्तुओं पर होता है जिनका इतने दिनो तक सुरक्षित रहना असम्भव ही है। मिट्टी के बरतनो और तावीजो पर जो चित्र बने हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि वे चित्रकला से परिचित रहे होगे।

(5) लेखन-कला[2]—यहा के निवासी लिखना-पढना अवश्य जानते थे, जैसा कि मुहरो पर उत्कीर्ण लेखो से ज्ञात होता है पर कोई लेख-पत्र नही प्राप्त हुआ है। लगभग ५०० मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर कुछ लिखा है। इनकी लिपि चित्रात्मक प्रतीत होती है और प्रत्येक चिह्न किसी शब्द या वस्तु विशेष के लिए बना है। ये दाहिने से बायें को लिखते थे पर कुछ मुहरो मे कुछ पक्तिया बाये से दाये को भी चलती हुई पाई गई हैं। दुर्भाग्यवश इनकी लिपि अब तक नही पढ़ी जा सकी है। इनके लेखो मे कुछ मात्राओ का भी अनुमान किया गया है और जिन्हे स्वर चिह्न होने का अनुमान किया गया है वे सम्भवत बाद मे प्रचलित हुई। विद्वानो ने इनकी लिपि के विषय मे ऐसा अनुमान किया है कि यह लिपि सम्भवत वही लिपि है जिसका प्रयोग सुमेर, एलम मिस्र तथा अन्य प्राचीन पश्चिमी देशो मे होता था। कुछ ऐसी लिखावट मिली है जिसमे पहली पक्ति तो दाहिने से बायें को है पर दूसरी बाये से दाहिने को है। इस प्रकार की लिखावट को 'बस्त्रोफेदन' (Boustrophedon) कहते हैं।

सिंधु-सभ्यता के निर्माता—भारत की इस महत्वपूर्ण सभ्यता के निर्माता कौन थे, इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद रहा है। रामचन्द्रन शकरानन्द, दीक्षितार तथा पुसलेकर जैसे विद्वानो का विचार है कि सिंधु सभ्यता के निर्माता वैदिक आर्य थे। परन्तु वैदिक और सिंधु सभ्यता के तुलनात्मक अध्ययन से इस मत को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। प्रसिद्ध विद्वान श्री लक्ष्मणस्वरूप के अनुसार सिंधु सभ्यता के निर्माता आर्य थे परन्तु यह सभ्यता वेदो मे वर्णित सभ्यता न होकर उसके बाद की सभ्यता है। कुछ विद्वानो के अनुसार सिंधु सभ्यता के निर्माता आर्यों के भारत आगमन के पूर्व आनेवाली कोई जाति थी। अनेक विद्वानो के अनुसार सिंधु सभ्यता के निर्माता ऋग्वेद मे वर्णित दास-दस्यु थे। ये दास-दस्यु कौन थे, इस विषय में भी इतिहासकार और पुराविद् तथा भाषाविद् एकमत नही हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, फादर हेरास तथा हाल जैसे विद्वानो के अनुसार दास-दस्यु द्रविड थे।

---

१ सर जान मार्शल, *Mohenjodaro & the Indus Civilization*

२ विशेष विवरण के लिये देखिये डॉ० जी० आर० हण्टर लिखित *Script of Harappa and Mohenjodaro* तथा एच० हेरास लिखित *The Story of the two Mohenjodaro Signs*

अस्थियो के अवशेषो तथा प्रतिमा मस्तको के वैज्ञानिक अध्ययन से ऐसा परिलक्षित होता है कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता किसी एक जाति के नही थे वरन् कई जातियो के सम्मिश्रण से इस सभ्यता का निर्माण हुआ था। इन मिश्रित जातियो मे प्रागस्त्रलायद (Proto Australoid), मेडिटरेनियन, अल्पाइन तथा मगोल विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ० मुकर्जी ने बतलाया है कि प्रागस्त्रलायद लोग निश्चय ही भारत के किसी भाग से ही यहाँ आये होंगे, मेडिटरेनियन एशिया के दक्षिणी भाग से आये होंगे और मगोल तथा अल्पाइन क्रमश पूर्वी तथा पश्चिमी एशिया से स्थानान्तरण करके यहाँ बस गये होंगे। उत्खनन द्वारा प्राप्त अस्थियो के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है और इसका समर्थन मोहेनजोदडो मे प्राप्त प्रस्तर मूर्तियाँ भी करती हैं। प्रतिमाओ को विचाराधीन रख कर अज्ञात निर्माताओ की जाति का पता लगा रहे हैं।[1] पर दुर्भाग्यवश प्रतिमाओ की सख्या भी बहुत कम है। हड़प्पा मे भी अपर्याप्त प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। सुमेरियन तथा उनकी अन्य जातियो को भी इस सभ्यता का निर्माता मानने के लिए अनेक इतिहासकार तैयार हैं। अनुमान यह है कि द्रविड़ ही (चाहे वे उस अनादि काल मे जिस रूप रग के रहे हो) भारत के किसी भाग मे या पश्चिम की ओर से स्थानान्तरण करके यहाँ आकर बस गये और कुछ अन्य जातियो (सम्भवत प्रागस्त्रलायद जाति) के सम्मिश्रण से इस सभ्यता के निर्माण मे तल्लीन हो गये।

गार्डन चाइल्ड ने सिंधु घाटी के लोगो को सुमेरियन माना है। उनके इस समान जातीय एकता के ही कारण हम दोनो सस्कृतियो मे सामान्य तत्त्व देखते हैं। डॉ० हाल ने सुमेरियनो का मूल स्थान मेसोपोटामिया के पूर्व मे रखा है और भारत के द्रविडो को भी सुमेरियनो की जातीयता का अग बताया है। प्राचीन काल मे द्रविड सम्पूर्ण भारत मे व्याप्त थे। ब्राहुई भाषा अब भी इस बात का प्रमाण है, लेकिन आर्थर किम कहते हैं—

"The people who spoke Sumerian had their affinities with the peoples of the Caucasian or European type and we may regard south western Asia as their cradle land until evidence leading to different conclusions comes to light"

अतएव हम अभी तक किसी निश्चित समाधान तक नही पहुँचे हैं।

सिंधु सभ्यता का मूल प्रसार और समय—सिंधु सभ्यता के मूल के विषय मे उनके निर्माताओ का सही ज्ञान न होने के कारण भ्रम होना आवश्यक है। फिर भी इस सभ्यता के मूल तत्त्वो पर एक विहगम दृष्टि डालकर हम उसका मूल ढूढ़न का प्रयास कर सकते हैं। प्रारम्भ म ही यह बताया गया है कि आदि काल मे या प्रागैतिहासिक काल म बडी बडी नदियो की घाटियो मे विश्व के अनक भूभागो पर सभ्यता का जन्म होने लगा था। मिस्र को नील नदी की देन कहते हैं अर्थात् मिस्री सभ्यता का जन्म देने का कारण नील नदी है। दजला फरात की क्रोड मे ही सुमेरिया तथा बेबीलोनिया आदि की सभ्यता फूली फली थी। यागत्सीक्याग तथा ह्वागहो नदी ने प्राचीन काल को जन्म दिया। इसी प्रकार हो सकता है कि अपने स्वाभाविक एव प्राकृतिक रूप

१ आर० के मुकर्जी ने अपनी पुस्तक *Hindu Civilization* में प्रागस्त्रलायदो का सम्बन्ध कोल भील आदि स स्थापित किया है। उन्होंने प्रतिमाओं के अध्ययन मे बहुत सावधानी से काम लेने का सकेत किया है क्योंकि कलाकार प्रतिमा मस्तक का निर्माण करते समय मानव मस्तिष्क का ठीक-ठीक चित्रण करने के लिये बाध्य न थे और न वे मानव जाति के इतिहास के वैज्ञानिक ही थे।

मे सिंध तथा मिहरान जैसी बडी नदियो ने सिंधु घाटी की सभ्यता को जन्म दिया और कौन जानता है कि गंगा-यमुना की गोद मे भी कोई बहुत प्राचीन एवं परिपक्व सभ्यता निहित हो और जो पुरातत्त्ववेत्ताओ के फावडो की प्रतीक्षा कर रही हो। इस प्रकार इस सभ्यता के मूल के विषय मे जो हम प्रथम अनुमान लगा सकते हैं वह स्वाभाविक और प्राकृतिक विकासोन्मुखी गति है।

विश्व इतिहास का अध्ययन करते समय जब हम विभिन्न देशो की संस्कृतियो का मूल ढूढते है तो उस समय हमे उनके मूल तत्त्वो को देखना पडता है और देखते यह हैं कि किस सभ्यता की छाप किस पर है। जहाँ एक के मूल तत्त्व अक्षरश दूसरे से मिलते-जुलते हैं वहाँ हम उन दोनो सभ्यताओ, समान या समान नही तो एक दूसरे की उत्तराधिकारिणी (यदि समकालीन नही हैं तो) घोषित करते हैं। कारण यह है कि सभ्यताओ के मूल तत्त्व ही उनकी मौलिकता के द्योतक हैं। जो सभ्यता मौलिक नही, उसकी कोई देन नही हो सकती और जिस सभ्यता की कोई देन नही उसका कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व नही। इसी दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए हम सभ्यताओ का अध्ययन करते हैं। हम देखते हैं कि विश्व की लगभग सभी प्रमुख सभ्यताओ की अपनी एक मौलिकता है अपनी एक अलग छाप है। इस प्रकार वे एक दूसरे से भिन्न हैं। पर इस वैभिन्न्य मे भी एक साम्य होता है। लेखन कला को ही लीजिये। मिस्र की लिपि क्रीट से भिन्न है। इसी प्रकार क्रीट की लिपि सुमेरियन लिपि से भिन्न है आदि आदि। पर इस विभिन्नता मे एक साम्य यह है कि ये सभी लिपियाँ चित्रात्मक हैं। इसी प्रकार कला सम्बन्धी विषयो मे विभिन्नता रहते हुए भी एक साम्य है। विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न टेकनिक के बर्तन बनाये जाते थे पर चाक और अग्नि द्वारा बर्तनो की पक्की रँगाई का ढंग समान था। अत सभ्यताएँ एक ओर तो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न रहती हैं पर एक आधारभूत तत्त्व समान होते हैं। सिन्धु सभ्यता भी अपनी कुछ मौलिकता रखती है और उसकी इसी मौलिकता के आधार पर हम यह कहने का दावा कर सकते है कि यह मेसोपोटामिया या मिस्र आदि की सभ्यताओ से बिल्कुल भिन्न है। सर जान मार्शल ने भी यह स्वीकार किया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता अपनी समकालीन अन्य सभ्यताओ से बिल्कुल भिन्न है। ऐसी दशा मे हम इसका मूल कही और ढूँढने का प्रयास न करके इसे पूर्णतया स्वविकसित तथा अन्य देशो की सभ्यताओ की नकल से परे भी एक सभ्यता मानें तो अधिक तर्कयुक्त होगा।

सिन्धु सभ्यता कहाँ तक स्थानीय मेधावी शक्ति का प्रस्फुटन थी और कहाँ तक यह विदेशी प्रभाव से प्रभावित थी? डॉ० ह्वीलर ने मेसोपोटामिया को स्रोत माना है सिन्धु सभ्यता के उदय का। उनके अनुसार मेसोपोटामिया की सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता के कई वर्ष पूर्व से फल-फूल रही थी। नागरिक जीवन के आवश्यक तत्त्वो का इन स्थानो पर पूर्णतया विकास हो चुका था जैसे मध्यवर्ग के कल्याण का प्रभावशाली नागरिक चेतना का। अतएव सिन्धु घाटी के निर्माता भी अपने नगरो की सडको पर या अन्य सार्वजनिक स्थलो पर सुमेर की जनता जैसा जागरूक होकर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते थे। बल्कि सिन्धु घाटी के नगरो मे तो हम अधिक विकसित नागरिक चेतना का भी परिचय पाते हैं। हम यद्यपि मेसोपोटामिया की भाँति सिन्धु सभ्यता मे 'राजकीय स्मारको के अवशेष नही पाते हैं और न ही हम सिन्धु घाटी के लोगो की लकडी पर नक्काशी करने की कारीगरी से परिचित हैं परन्तु इन अभावो की पूर्ति तो हमे सिन्धु घाटी की शानदार सीलो मे प्रतिबिम्बित तथा उत्कीर्ण पशुओ से होती है।

यद्यपि सुमेर तथा सिंधु घाटी की सभ्यता में एक साधारण सी समानता है परन्तु इस समानता से हम राजनैतिक प्रभुत्व की कल्पना नहीं कर सकते। सर जान मार्शल एवं अन्य कुछ विद्वानों ने सिंधु घाटी का उद्गम सुमेर एवं तत्कालीन पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं को माना है। उन्होंने लिखा है—

"It bears a close resemblance both to second Prediluvian culture, of Elam and Mesopotamia and to the proto historic culture of Sumer"

अन्य विद्वानों ने सिंधु घाटी को भारतीय सभ्यता स्वीकार करते हुए भारत ही की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं से इसका उद्भव स्वीकार किया है। भारतीय स्रोतों को मानने वालों के बीच सबसे बड़ी अड़चन यही है कि सिंधु घाटी की सभ्यता हम एक मन्द गति से विकसित होती हुई नहीं प्रतीत होती है बल्कि शताब्दियों तक की अवधि में यह अपने एक ही रूप में उपस्थित होती है। एकाएक ही सर्वतोमुखी प्रगति कर लेना अवश्यमेव ही शंका का विषय हो सकता है। परन्तु प्रसिद्ध इतिहास विशेषज्ञ श्री एरनोल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) ने Study of History के प्रथम खंड में विश्व की तीन महान संस्कृतियों—नील, यूफ्रेट्स तथा सिंधु घाटी की संस्कृतियों को जंगली जीवन से एकाएक ही विकसित रूप माना है।

कैसे यह तीनों संस्कृतियाँ प्रस्फुटित हुई इसे बताना कुछ दुष्कर-सा है परन्तु सम्भवतः वे एक विशिष्ट परिस्थिति में जिसमें जंगली व्यक्ति को अभूतपूर्व प्रयास करने की प्रेरणा प्राप्त हुई, एक चुनौती को स्वीकार करने के रूप में प्रस्तुत हुए थे। संस्कृति के उत्थान के पूर्व सहारा, अरब तथा ईरान के ऊपरी भाग जल से सींचे जाने हुए घास के मैदान थे। धीरे धीरे तूफानों एवं चक्रवातों ने उत्तर की ओर प्रमाण किया। इस प्रकार धीरे-धीरे और अनवरत रूप से इन भागों में वातावरण परिवर्तित होता रहा। इस प्रकार बर्बर जातियों के सम्मुख एक नई समस्या उपस्थित हुई। कुछ लोगों ने तो अपनी आदतें समयानुसार बदल डालीं। अन्य लोगों ने नील के डेल्टा के जंगलों तथा दलदलों भूमि में प्रवेश किया और उन्हें रहने योग्य बनाया तथा मिस्री संस्कृति को विकसित किया। ऐसे ही परिस्थितियों के मध्य टिगरिस-यूफ्रेट्स तथा सिंधु संस्कृति का विकास हुआ था।

कुछ विद्वानों ने सिंधु घाटी की संस्कृति का स्रोत बलूचिस्तान की विभिन्न सभ्यताओं से माना है। ह्वीलर ने उचित ही लिखा है—

"The Harappans were not an oasis in a desert, the adjacent hills were teeming with variegated life which must have encroached readily upon the riverine civilization had this lacked effective integration"

परन्तु वास्तव में सिंधु घाटी के लोगों में संस्कृति का मुख्य भाव पश्चिमी एशिया की संस्कृति से लिया था। तदनन्तर उस आधार पर उन्होंने एक पूर्णतया स्थानीय सभ्यता की आधारशिला रखी—

"It is legitimate to affirm that the idea of civilization came to the land of the Indus from the land of the Twin Rivers whilst recognizing that the essential self sufficiency of each of the two civilizations induced a strongly localized and specialized cultural expression of that idea in each region" (*Indus Civilization*)

सिन्धु सभ्यता की प्रसार-सीमा का बोध भी हमे प्राप्त भग्नावशेषो से होता है। यह बतलाया जा चुका है कि मोहेनजोदडो, हडप्पा, चन्हूदडो, झूकरदडो, अम्बाला, करांची, केला (बलूचिस्तान) आदि स्थानो मे इस सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। अत यहाँ तक इसका प्रसार मान लेने मे कोई आपत्ति नही। इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण सिन्ध तथा पजाब मे यह सभ्यता प्रसरित थी। इस सभ्यता का प्रसार किन कारणो-वश सम्पूर्ण भारत में या कम से कम उत्तर भारत मे नही हो सका, इसका स्पष्ट ज्ञान हमे नही प्राप्त है। पर धातु एव खनिज पदार्थ-सम्बन्धी प्रकरण मे यह बताया गया है कि मोहेनजोदडो मे जो सोना प्राप्त हुआ है वह मैसूर से ही प्राप्त हो सका होगा। इसी प्रकार अमेजन पत्थर भी नीलगिरि पर्वत से ही मिल सका होगा। तब क्या यहाँ के निवासियो ने इन स्थानों तक अपनी सभ्यता का प्रसार नहीं किया होगा ? या क्या यहाँ कोई पृथक् सभ्यता रही ? डॉ० दीक्षित ने तो इस सभ्यता का प्रसार राजपूताना, काठियावाड, पजाब तथा उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त तक बतलाया है। डॉ० गार्डन चाइल्ड तथा हाल महोदय तो इसका विकास-क्षेत्र बहुत दूर तक बतलाते हैं और वे इस सभ्यता को ही सुमेरियन सभ्यता की जन्मदात्री या उत्प्रेरिका बतलाते हैं। इससे इस सभ्यता की प्राचीनता का भी बोध हो जाता है। सर जान मार्शल का मत है कि सिन्धु-सभ्यता योरप तथा एशिया दोनो महाद्वीपो मे फैली थी और इसमे दजला फरात की घाटी, हेलमन्द की घाटी और सिन्धु की घाटी सम्मिलित थी। पर इस विषय मे जब तक कोई अकाट्य साक्ष्य उपलब्ध नही हो जाता तब तक कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

यह विश्वास करना असभव है कि रहस्यमय नगर-निर्माता भारत के किसी भी भाग से सम्बन्ध नही रखते थे और न ही उन्होंने उसके प्रमाणस्वरूप कुछ अवशेष ही छोडे हैं। परन्तु आधुनिक अन्वेषणो ने यह सिद्ध कर दिया है कि हडप्पा तथा मोहेन-जोदडो की सभ्यता सौराष्ट्र तथा काठियावाड तक फैली हुई थी। उत्तर मे शिमला पर्वत की श्रेणियो से लेकर दक्षिण मे ताप्ती की घाटी मे भगतराव तक, पूर्व मे मेरठ जिले के आलमगीर से लेकर पश्चिम मे सुतकगेनदर तक इस सस्कृति के चिह्न हमे प्राप्त हुए हैं। लगभग ६० स्थलो से हमे हडप्पा सभ्यता के चिह्न मिले हैं। इस प्रकार प्रोफेसर पिगट ने हडप्पा एव मोहेनजोदडो को एक महान् साम्राज्य की दो राजधानियो की सज्ञा दी है—

"We are entitled to regard the Harappa Kingdom, as governed from two capital cities 350 miles apart but linked by a continuous river thoroughfare"

सिन्धु-सभ्यता का समय

मूल और प्रसार की भाँति ही सिन्धु सभ्यता के काल का प्रश्न भी अत्यन्त जटिल है। प्राप्त सप्तस्तरीय भग्नावशेषो के आधार पर कुछ विद्वानो ने इस सभ्यता का काल इस प्रकार अनुमानित किया कि इन स्तरो में तीन युग पश्चात-कालीन हैं, तीन मध्यकालीन हैं तथा एक प्राचीन है। और यदि प्रत्येक स्तर का समय ५०० वर्ष का भी माना जाय तो इस हिसाब से इस सभ्यता का प्रसार-काल ३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी समान मुहरें सिन्धु तथा एलम और मेसोपोटैमिया मे प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर भी इस सभ्यता को २८०० ई० पू० का कह सकते हैं यद्यपि सिन्धु की ये समान मुहरें पश्चातकालीन हैं। मुहरो के अतिरिक्त वास्तु-कला-सम्बन्धी यहाँ कुछ अन्य भग्नावशेष भी ऐसे प्राप्त हुए है जो

मेसोपोटैमिया के समान हैं। अत इस सभ्यता को यदि मेसोपोटैमिया से प्राचीन नहीं तो समकालीन अवश्य मान सकते हैं। बगदाद के निकट प्राचीन एशनन में उत्खनन द्वारा प्राप्त अन्य वस्तुओं के साथ, जो २५०० ई० पू० की प्रमाणित हो चुकी हैं, कुछ भारतीय वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनसे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि सिंधु सभ्यता इससे पूर्व की है। इसी प्रकार बेबीलोनिया के अवशेषों तथा मोहेनजोदडो के अवशेषों में भी कुछ साम्य प्रतीत होता है और वूली महोदय का यह विश्वास है कि सुमेरिया तथा सिंधु नदी की घाटी के निवासी एक बलूचिस्तान या इसके किसी निकटवर्ती प्रदेश में निवास करने वाली किसी एक ही जाति की संतान हैं। यदि यह सम्भव है तो यह भी माना जा सकता है कि सिंधु घाटी की सभ्यता बेबीलोनियन सभ्यता से प्राचीन है क्योंकि सुमेरियन सभ्यता के पश्चात् ही दजला-फरात की घाटी में ही (जहाँ सुमेरियन सभ्यता का उदय हुआ था) बेबीलोनियन सभ्यता का विकास हुआ।

प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने सिंधु घाटी का समय निश्चित करते हुए लिखा है—

"If we regard 2300 B C as the mean date in the career of the Indus civilization which was then in 'full flower' we get the period 2800 1800 B C as the possible date of this civilization This will harmonize with the evidence of archaeology, Vedic philology, ancient Indian history and Near Eastern history" (*G C Pandey*)

लेकिन सामान्यत ह्वीलर महोदय का ही काल निर्धारण ठीक माना जाता है। उनके अनुसार—

"The period 2500 1500 B C has been estimated as likely to have comprised the material available, without prejudice to such further evidence as may eventually be forthcoming from the unplumbed depths of Mohenjodaro or Chanlu daro' (*Indus Civilization*)

गार्डन चाइल्ड का कथन है, "ईसा के चार हजार वर्ष की अबीदोस (Abydos), उर (Ur) या मोहेनजोदडो की भौतिक संस्कृति पेरिक्लाज के काल एथेंस अथवा किसी मध्यकालीन नगर की सभ्यता से तुलना कर सकती है। भवन निर्माण-कला, वस्तु निर्माण-कला या मुहर निर्माण-कला और मिट्टी के बर्तनों की चमक तथा सुन्दरता को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के प्रारम्भ में सिंधु सभ्यता बेबीलोनियन सभ्यता से काफी आगे थी। किन्तु भारतीय संस्कृति का वह पश्चात्कालीन स्वरूप था। इसने इसके पूर्व और प्राचीन समय में भी पथ-प्रदर्शन किया होगा। ये अनुसंधान और आविष्कार जो पूर्व सुमेरीय संस्कृति को अभिहृत करते हैं बेबीलोनिया की भूमि पर देशीय विकास थे, परन्तु उनकी प्रेरणा भारत से प्राप्त हुई थी।"[1]

सर जान मार्शल भी इस सभ्यता की प्राचीनता तथा इसकी महानता का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, "मोहेनजोदडो तथा हडप्पा दोनों स्थानों में एक बात जो स्पष्टतया प्रकट होती है और जिसके सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं हो सकता, वह यह है कि इन दोनों स्थानों में जो सभ्यता हमारे सम्मुख आई है वह कोई प्रारम्भिक सभ्यता नहीं है अपितु ऐसी है जो सभी युगों की प्राचीन हो चुकी थी, भारत भूमि पर सुदृढ़ हो चुकी

१ गार्डन चाइल्ड, *New Light on the Most Ancient East*

थी और उसके पीछे मानव की शताब्दियो की कृतियाँ हैं। इस प्रकार अब से यह स्वीकार करना पडेगा कि ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की भाँति भारतवर्ष उन सबसे प्रमुख देशो मे से है, जहाँ सभ्यता का जन्म और विकास हुआ था।'

उपर्युक्त विवरणो एव उद्धरणो से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता काफी प्राचीन सभ्यता थी और विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओ से किसी प्रकार कम न थी वरन् कुछ बातो मे उनसे अधिक उन्नतिशील थी।

सिन्धु घाटी के निर्माता एव आर्य

सिन्धु घाटी की सस्कृति तथा आर्य सभ्यता के परस्पर तुलनात्मक विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिन्धु घाटी के निर्माता आर्य सस्कृति से पृथक सस्कृति के पोषक थे। ऋग्वेद से हमे पता चलता है कि इन्डो-आर्य समाज अशत पशुओ को चराने वाला तथा अशत खेती करने वाला समाज था जिनको नगर की सभ्यता का ज्ञान भी नही था या जिन्हे नगरो की जटिल आर्थिक व्यवस्था का परिचय नही था। उनके घर लकडी की बल्लियो द्वारा बनाये जाते थे। मोहेनजोदडो एव हडप्पा मे हम सघन जनसख्या वाले नगरो का अस्तित्व पाते हैं। यहाँ लोगो के मकान पकाई हुई ईंटों के बनाये जाते थे एव उनके स्वास्थ्य के लिए प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था थी। मकानों मे स्नानागार, कूप तथा अन्य जीवन की आवश्यक वस्तुए रहती थी। इन्डो-आर्य लोगो को जिन धातुओ का ज्ञान था उनमे सुवर्ण या ताम्र सम्मिलित थे बल्कि यजुर्वेद एव अथर्ववेद की रचना के समय तक रजत एव लौह का भी प्रयोग होने लगता है। सिन्धु घाटी के लोगो मे हम सोने की तुलना मे चाँदी का अधिक प्रयोग देखते हैं। यही नही घर के बर्तन पाषाणो के भी बनाये जाते थे जो कि उत्तर पाषाण काल की देन है। ताम्र के बने बर्तन भी हम इस सस्कृति के अन्तर्गत पाते हैं। लोहे का कोई भी अवशेष हमे नही मिलता है। आक्रामक हथियारो के लिए वैदिक आर्य तीर धनुष, भाले कुल्हाडी एव खजर रखते थे—और सुरक्षा के लिए वे कवच तथा लौह टोप रखते थे। सिन्धु घाटी के लोग भी तीर, धनुष, भाला, कुल्हाडी रखते थे, यही नही वे मेस (mace) का भी प्रयोग करते थे। उनकी सुरक्षा के हथियारो मे हम किसी भी हथियार का अवशेष नही पाते। वैदिक आर्य मासभक्षी राष्ट्र के सदस्य थे लेकिन मछली के प्रति वे घृणा रखते थे क्योकि उनका उल्लेख ऋग्वेद मे कही भी नही है। लेकिन सिन्धुवासी मछली तथा अन्य जल मे रहने वाले जीवो का भक्षण करते थे। आर्यो के जीवन मे घोडे का महत्वपूर्ण स्थान था लेकिन सिन्धु घाटी के लोग घोडे से परिचित नही थे। वैदिक सभ्यता के लोग गाय का अत्यधिक आदर करते थे परन्तु सिन्धुवासी बैल को विशिष्ट स्थान प्रदान किए हुए थे। वैदिक धर्म सामान्य रूप से मूर्तिपूजा का विरोधी था। सिन्धुवासी मुख्य रूप से मूर्तिपूजक थे। वैदिक धर्म में स्त्री देवता का सदैव गौण स्थान रहता था लेकिन सिन्धुवासियो मे स्त्री देवताओ का स्थान पुरुष देवताओ के समकक्ष ही था। सिन्धु के लोगो की आराध्य देवी माता देवी थी। यही नही, शिव की उपासना मे भी वे लोग मन केन्द्रित कर सकते थे। ऋग्वेद मे अग्नि को सर्वप्रमुख देवता माना गया है और अग्निकुण्ड प्रत्येक घर मे होना एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। मोहेनजोदडो के निवासियों के घरों में हम लोग अग्नि कुण्ड के दर्शन नही पाते हैं इन्डो-आर्य लोग लिगपूजा से घृणा करते थे और इसीलिए उन्होने अपने विरोधियो को शिश्नदेवा कहा है क्योंकि वे लिंग के पूजक थे। यह विरोधी सिन्धुघाटी के लोग ही हो सकते हैं।

आर्य आक्रामक के रूप मे—पुरातत्त्व साधनो तथा साहित्यिक साधनो से लगभग

अब यह सिद्ध हो चला है कि आर्य भारत में आक्रामकों के रूप में उपस्थित हुए थे। उन्होंने हड़प्पायुगीन संस्कृति को नष्ट करके भारतवर्ष में अपनी सभ्यता की नींव डाली थी। बलूचिस्तान में कई स्थानों पर खुदाई करने पर यह पता चलता है कि हड़प्पा कालीन Phase के बाद में हमें नगरों के जला दिये जाने के चिह्न मिलते हैं। किले गुल मुहम्मद इसका जीता जागता प्रमाण है। सिंध एवं पंजाब के हड़प्पा कालीन केन्द्रों में भी इसी तहस-नहस के दर्शन हमें प्राप्त होते हैं। मोहेनजोदड़ो में तो हमें तलवार से काटे गए मनुष्य के ढाँचे मिले हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि एक घमासान युद्ध इस स्थल पर लड़ा गया था। हड़प्पा में तो हम पूर्णतया नवीन सभ्यता के दर्शन पाते हैं। इस प्रकार चन्हूदड़ो में भी हड़प्पा सभ्यता के उपरांत हमें एकदम नवीन सभ्यता के अवशेष मिले हैं। हड़प्पा पश्चात् की सभ्यताओं को हम तीन भागों में रख सकते हैं—झूकर सभ्यता, सिमिट्री एच० (Cemetry H) सभ्यता एवं गिहन्नी सभ्यता। झगर सभ्यता इन सभ्यताओं के भी बाद की है।

इन विभिन्न सभ्यताओं के निर्माता या आक्रमणकारी कौन थे इसमें पर्याप्त मत भेद है परन्तु गार्डन तथा वत्स ने आर्यों को इन सभ्यताओं का निर्माता माना है। इस प्रकार आर्य आक्रमणकारियों के रूप में हमारे सम्मुख इन तथ्यों से आते हैं।

ऋग्वेद में भी हड़प्पा एवं मोहेनजोदड़ो की सभ्यता का परोक्ष रूप से उल्लेख मिलता है। इन लोगों के लिए ऋग्वेद में कई शब्द आए हैं जैसे दास, दस्यु या असुर। उनकी भाषा के लिए मृध्रवाक, वैदिक कर्मकाण्डों के विरोध के कारण उन्हें अकर्मा, अन्यव्रत एवं शिश्नदेव कहा गया है। इस प्रकार अनार्य सभ्यता के यह गुण हड़प्पा कालीन सभ्यता से अनुमोदित होते हैं।

हड़प्पा के नगरों एवं दुर्गों का भी निर्देश ऋग्वेद में मिलता है जैसे पृथ्वी (विस्तृत), उर्वी (चौड़ा), गोमती एवं १०० स्तम्भों वाला (शतभुजी), अश्ममयी (Asmamayi) अर्थात् पाषाण का बना हुआ एवं शारदी (जाड़ों) से सुरक्षित रखने वाला कहा है। इसी प्रकार अनार्य सभ्यता को १०० नगरों वाली सभ्यता कहा गया है। इन्द्र को 'पुरन्दर' (नगरों को विध्वंस करने वाले) की संज्ञा दी गई। यह सब वर्णन हड़प्पा एवं मोहेनजोदड़ो के लिए पूर्णतया उपयुक्त लगते हैं। अतएव हम यदि आर्यों को इस सभ्यता को ध्वंस करने वाले का नाम दें तो कोई अनुचित न होगा।

प्रश्न

Allahabad University

1 Discuss the salient features of Harappan culture with special reference to town planning, sanitation and craft (1960) (1965)

2 Discuss the archaeological evidence for India's contacts with western Asia in the 3rd and 2nd millennium B C (1956)

3 Discuss the main features of Harappan religion and its influence on later Indian religion (1959)

4 Discuss the archaeological evidence of India's contacts with western Asia in the 3rd and 2nd millennium B C (1958)

5 Discuss the salient features of Harappan culture with special reference to town planning, sanitation and arts and crafts (1958)

6 Discuss the Chronology of Harappan culture (1957)

7 What light do the excavated antiquities throw on the religion of the Harappans? Discuss the influence on later Indian religion (1957)

8 Discuss the archaeological evidence of India's contacts with West Asia in 3rd and 2nd millennium B C (1956)

9 Discuss the Chronology of the Harappans (1955)

10 The Harappan civilization, while largely selfsufficient and essentially Indian in its origin, nevertheless did have certain intermittent outside contacts" Elucidate the indigenous nature of the Harappan civilisation and describe its foreign contacts (1953)

११ सिन्धु घाटी के नगरों के विषय में आप क्या जानते हैं ? उनके निवासियों की कला एवं धर्म का वर्णन कीजिए। (१६६६)

आगरा यूनिवर्सिटी

१ मोहेनजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर सिन्धु घाटी की सभ्यता का सविस्तार उल्लेख कीजिए। (१६५४)

२ सिन्धु घाटी की सभ्यता विषयक प्राड-आर्य द्रविड़ सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में अपने तर्कों का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (१६५०)

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

१ मोहेनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर सिन्धु घाटी की सभ्यता का विवेचन कीजिए। (१६५०)

आर्यों का आदि देश | ४

प्राचीन सभ्यता के निर्माताओं में आर्यों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारत की ऐतिहासिक काल की सभ्यता के निर्माता भी आर्य ही थे। पर ये आर्य कौन थे उनका आदि देश कौन था, आदि प्रश्नो के विषय मे विद्वान् इतिहासकार एकमत नहीं हैं। कुछ इतिहासकारो की दृष्टि मे आर्यों का आदि स्थान यूरोप था, कुछ की दृष्टि में उनका आदि स्थान मध्य एशिया था और कुछ की दृष्टि मे वह आर्कटिक प्रदेश था। इस प्रकार विद्वानो का एक वर्ग आर्यों के आदि स्थान को भारत मे बाहर का कोई प्रदेश मानता है। दूसरी ओर अनेक भारतीय विद्वानो ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आर्यों का आदि देश कोई विदेशी स्थान न हो कर भारत ही था। इन दोनो ही वर्ग के विद्वानों ने अपने तर्कों का समर्थन करने के लिए विभिन्न साधनो का प्रयोग किया है। इन साधनो मे मुख्य निम्नलिखित पाँच हैं (१) इतिहास, (२) भाषाविज्ञान, (३) पुरातत्त्व, (४) शरीर रचना शास्त्र (Racial Anthropology) तथा (५) शब्दार्थ विकास शास्त्र।

यहाँ हम आर्यों के आदि देश के विषय मे प्रचलित प्रतिनिधि विचारों पर प्रकाश डालेंगे।[1]

आदि देश योरप—वे विद्वान् जो आर्यों का मूल योरप के ही किसी भूभाग में मानते हैं, अपने मत का प्रचार १८वीं शताब्दी तक बड़ी धूम से करते रहे और उनका मत धीरे धीरे जोर भी पकड़ता गया। इस मत का प्रथम प्रचारक हम फ्लोरेंस के एक सौदागर फिलिप्पो सैसेटी को कह सकते हैं। यह सौदागर पाँच वर्ष तक गोवा मे निवास कर चुका था और भारत की संस्कृत भाषा तथा योरप की अनेक भाषाओं का इसे ज्ञान था। इसने यह घोषित किया कि भारत की संस्कृत भाषा तथा योरप की अन्य भाषाओं मे कुछ साम्य है। यद्यपि भाषा सम्बन्धी साम्य की ओर ध्यान आकृष्ट करा देने मात्र से ही हम उक्त सौदागर को इस मत का प्रचारक नहीं कह सकते, पर आगे चलकर हम देखते हैं कि इस मत के समस्त समर्थक भाषाविज्ञान का ही सहारा लेते हैं और उसी के आधार पर अपने मत की पुष्टि करते हैं। उक्त सौदागर के विचारो का समर्थन सर्वप्रथम बंगाल के प्रधान न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। इन्होंने १७८६ ई० मे एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के सामने अपना एक लेख पढ़ा जिसमें यह बताया कि आर्यों की विभिन्न शाखाओं मे बहुत से शब्द समान हैं और उनमे जो अन्तर पड़ा है वह समय की दूरी के कारण। इन्होंने पितृ, मातृ, आदि शब्दो के साम्य को योरप की अन्य भाषाओं मे दिखलाया। निश्चय ही भाषा का यह साम्य हमे उक्त मत को समझने के लिए एक बार बाध्य करता है। हम देखते हैं कि संस्कृत पितृ, लैटिन

१ आर्यो के मूल के विशेष अध्ययन के लिए देखिये—*Cambridge History of India*, आइजक टेलर, गार्डन चाइल्ड *The C gin of the Aryans*, *The Aryans*

मे 'पेतर', ग्रीक मे 'पतेर', जेद मे 'पैतर', केल्ट मे 'आथर', गाथिक मे 'फदर', तोरचारियन मे 'वतर', तथा अग्रजी म 'फादर' आदि ऐसे शब्द हैं जो बिलकुल मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार सस्कृत 'द्वौ', लैटिन 'दुआ', आइरिश 'दौ', गाथिक 'स्वृ', लुथियानियन द्' तथा अग्रजी 'टू' एक दूमरे मे कितने निकट हैं। भाषा सम्बधी यह साम्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और सर विलियम जोन्स के विचारो का विद्वानो ने स्वागत किया पर यह साम्य अधिक से अधिक केवल यह सिद्ध करता है कि उपर्युक्त भाषाभाषी कभी कही एक स्थान पर रहे होगे। इससे अधिक इस साम्य से और कुछ ज्ञात नही होता। इसमे भी प्रतिवाद का स्थान है। कुछ आलोचको का कहना है कि भाषा का साम्य केवल इसलिए नही हो सकता कि उसके भाषाभाषी एक ही जाति के हो, किसी एक ही स्थान पर दो विभिन्न जातियाँ रह सकती हैं और उनमे भाषा सबधी साम्य हो सकता है। शक्तिशाली भाषा का प्रभाव भी इस क्षेत्र मे काम करता है और किसी स्थान की शक्तिशाली भाषा की छाप सुदूरस्थ भाषा पर पडती है, यदि उन दो विभिन्न स्थानो मे कोई सम्पर्क हो तो। भाषा को आधार मानकर जातीय समस्या सुलझाकर आर्यों के मूल के प्रश्न को सुलझाने की जो रीति सर विलियम जोन्स ने सन् १७८६ मे चलाई, वह १९वी शताब्दी तक बहुत जोर पकडे रही। भाषा-सम्बन्धी साम्य के आधार पर योरप को आर्यों का आदि देश मानने वालो का यह तर्क है कि भारोपीय (इडो-योरोपियन) भाषाएँ काफी अधिक सख्या मे योरप के सीमित क्षेत्रो मे ही पाई जाती है। योरप के बाहर या बहुत दूर इनका प्रयोग नाममात्र को हा है और केवल नगण्य रूप मे वहा इनके मुहावरे बिखरे-से हैं। अत जब कोई भाषा-साम्य का प्रश्न (योरोपियन भाषाओ के साम्य का प्रश्न) आता है तो यह स्पष्ट है कि समभाषाभाषी लोग कभी योरप के ही आदि निवासी रहे होंगे। योरोपीय भाषाओ के भौगोलिक विवरण के आधार पर ही उनका यह मत अवलम्बित है। योरप मे निवास की बात को और पक्के करते हुए ये विद्वान् अपना तर्क इस प्रकार भी उपस्थित करते हैं कि भाषा-साम्य के अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारोपीय (इडो-योरोपियन) भाषाओ मे जितनी भी इस समय जीवित है उनमे से कोई भी अब अपने मूल रूप मे नही है पर लिथुआनियन भाषा आज भी अपने को मूल मुहावरो के निकट रक्खे हुए है। पहले तर्क द्वारा तो योरोपीय सिद्धान्त के समर्थको ने योरप को आर्यों का मूल सिद्ध कर दिया तथा दूसरे तर्क द्वारा उस विस्तृत योरप खण्ड के एक भाग (लिथुआनियन भाषाभाषी भाग) को सम्पूर्ण आर्यों की मूल भूमि बता दी।

योरप के विभिन्न भागो को आर्यों का मूल बताने वालो के तर्कों का विस्तृत वर्णन नीचे दिया जायगा।

हगरी के मैदान के समर्थक डा० पी० गाइल्स हैं। इन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Cambridge History of India* मे लिखा है—

"उनकी भाषा से हमे ज्ञात होता है कि किन किन पशुओ एव वृक्षो का उन्हें ज्ञान था। उन भाषाओ के साम्य से जिन्हें वे बोलते थे हम ऐसा अनुमान करते हैं कि वे लोग पर्याप्त समय तक एक स्थान पर एकसाथ रहे होंगे जिससे कई पीढिया तक वे अपने विशेष गुणो मे विकास लाते रहे। यह क्षेत्र गिरि-शृखला अथवा जल द्वारा अन्य स्थानों मे पृथक कर दिया गया होगा। इन भाषाओ के अध्ययन से हमे यह आभास नही मिलता कि यह लोग किसी द्वीप पर रहते रहे होगे। यह भी सन्देहात्मक है कि समुद्र के लिए उन्हे किसी शब्द का बोध भी था। अत यह असम्भव नही कि वह स्थान समुद्र से परिवेष्ठित हो। इनकी भाषाओ के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि इन्हें किन-

किन वृक्षों का ज्ञान था। ये वृक्ष शीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होते हैं। अत आर्यों का आदि देश शीतोष्ण कटिबन्ध में रहा होगा। वह पर्वत-मालाओं से भी घिरा रहा होगा। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि किन फलों का उन्हें ज्ञान था। यह बहुत सम्भव है कि आर्य लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करते थे। जिन पशुओं का उन्हें ज्ञान था वे बैल, गाय भेड, घोडा, कुत्ता, सुअर, हिरन इत्यादि थे। गधे, खच्चर तथा हाथी से वे अपरिचित थे। जगली पशुओं में उन्हें भेडिया तथा भालू का ज्ञान था किन्तु बाघ अथवा सिंह से वे अपरिचित थे। बत्तख तथा गिद्ध को भी वे जानते। ये लोग खाद्यान्न, विशेषतया गेहूं तथा जौ का प्रयोग जानते थे। योरप में कोई ऐसा अन्य प्रदेश है जहाँ ये सारी बातें प्राप्य हों ? केवल एक क्षेत्र ऐसा है। इसके पूर्व में कारपेथियन पर्वत माला है। दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में आस्ट्रियन, आल्प्स तथा बोहमरवाल्ड और उत्तर में एरज वर्ग तथा अन्य पर्वतमालाएँ हैं जो कारपेथियन से मिल जाती हैं। यह क्षेत्र बडा उपजाऊ है तथा हगरी के मैदान में खाद्यान्नों के पौधे पाये जाते हैं। यहाँ घास के मैदान भी हैं जहाँ घोडे पाले जा सकते हैं। पर्वत की उपत्यकाओं में भेडों के लिए काफी सुविधाएँ हैं। सुअर भी यहाँ मिलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों के ज्ञात वृक्ष भी यहाँ पाये जाते हैं, अत यही क्षेत्र आर्यों का आदि देश रहा होगा।''

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि गाइल्स महोदय ने आर्यों की परिचित वनस्पति एव जीव जगत् आदि के आधार पर आर्यों का मूल ढूढने का प्रयास किया है। उन्होंने उपर्युक्त परिचित वनस्पति एव जीव जगत को भारत, पामीर की पठारी भूमि, योरप का उत्तरी भाग, रूस तथा आर्कटिक प्रदेश में भी पाया जाना माना है पर प्रधानता उन्होंने हगरी को ही दी है, जैसा कि उनके उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है।

दक्षिणी रूस—नेहरिंग नामक एक अन्य विद्वान् ने दक्षिणी रूस को आर्यों का आदि देश बतलाया है। त्रियोल्जे (यूक्राइन) में प्राप्त लगभग तीन हजार ई० पू० के पात्रों के आधार पर ही उक्त महोदय ने अपना मत निर्धारित किया है। पोकोर्नी महोदय ने इस मत का जोरदार समर्थन करते हुए वेजर तथा विश्चुल नदियों के मध्य स्थित मैदान तथा उसके बाहर श्वेत रूस तक आर्यों का देश घोषित किया है। रूस का दक्षिणी भाग स्टेप्स का मैदान निश्चय ही नितान्त उपजाऊ है और साथ ही यह शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित भी है। पर डॉ० पी० गाइल्स ने अपनी पुस्तक में इसका खण्डन किया है और यह बताया है कि ये सारी बातें (जिनका वर्णन उनके उद्धरण में किया गया है) यहाँ नहीं पाई जाती। अत आंशिक प्रमाण मात्र से इस स्थान को आर्यों का आदि देश कहना उचित नहीं। इस प्रकार इन सारी वस्तुओं के लिए हमें कोई अन्य स्थान ढूंढना पडेगा।

जर्मनी—कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि आर्यों का आदि देश जर्मनी या जर्मन प्रदेश में कहीं था। इन विद्वानों में पेन्का महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पेन्का महोदय ने स्कैंडिनेविया को आर्यों का आदि देश निश्चित किया है। अपने मत के समर्थन में इन्होंने जाति-सम्बन्धी विशेषताओं का आधार लिया है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर पेन्का के समर्थकों ने आर्यों का आदि देश पश्चिमी बाल्टिक समुद्र बतलाया है। इन समर्थकों का कथन है कि पूर्व पाषाण युग समाप्त हो जाने के पश्चात जो युग आरम्भ होता है उस युग के मनुष्यों की निर्मित अनेकानेक वस्तुएँ यहाँ प्राप्त हुई हैं। किन्तु केवल पूर्व पाषाण काल के पश्चात् जिस उत्तर-पाषाण काल का आविर्भाव हुआ, उसके ध्वसावशेषों का यहाँ पाया जाना ही यह सिद्ध नहीं कर

सकता कि उक्त स्थान ही आर्यों का आदि देश है। क्योंकि इस युग के ध्वसावशेष यूक्रीलैंड मे भी प्राप्त हुए हैं, तो क्या यह स्थान भी आर्यों का आदि देश है ? ध्वसावशेषों के आधार पर मध्य जर्मनी को भी आर्यों का आदि देश माना गया है। यहाँ जो पात्र प्राप्त हुए हैं, उनके ज्यामितिक रेखाचित्र ठीक इण्डो-योरोपीय जान पडते हैं। अत यह सम्भव है कि मध्य जर्मनी ही वह भूमि हो। पर ऊपर की भाँति इस मत का भी खण्डन आलोचकों ने यह कहकर किया है कि इसी प्रकार के ज्यामितिक साम्य दक्षिणी रूस, पोलैण्ड तथा त्रियाल्जे (युकराइन) मे भी प्राप्त हुए हैं पर इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि ये सारे स्थान आर्यों के आदि देश हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कुछ विद्वानो ने जातिगत विशेषताओ पर अधिक जोर दिया है। रक्तवर्ण एव सुनहले बालो के आधार पर उन्होंने जर्मनी को ही यह स्थान निर्धारित किया है।

उपरोक्त विवरणो से हमे ज्ञात है कि योरप को आर्यों का आदि देश माननेवाले भाषा तथा जातिगत विशेषताओ के आधार पर अपना मत प्रतिपादित करते हैं। आर्यों के आदि देश की समस्या सुलझाते हुए विद्वानो ने योरप के दक्षिणी भाग को यह स्थान बतलाया है। निश्चय ही यहाँ की भूमि उपजाऊ है, यह शीतोष्ण कटिबन्ध मे पडता है और इस सम्बन्ध मे उन्होंने यह भी तर्क उपस्थित किया है कि योरप के दक्षिणी मैदान ही उन स्थानो से निकट हैं जहाँ विभिन्न योरोपीय आर्यों की शाखाएँ प्रशाखाएँ निवास करती हैं। इतना ही नहीं, एशिया की अपेक्षा योरप मे आर्यों की सख्या अधिक है अत यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योरप के दक्षिणी मैदान मे ही कहीं आर्यों का आदि देश है। स्थानान्तरण की सम्भावित सुविधाओ की ओर लक्ष्य करते हुए इस मत के समर्थको का कथन है कि यहाँ बडे बडे गहन जगल, मरुभूमि तथा पर्वतमालाएँ नहीं हैं, अत यहाँ से पूर्व की ओर स्थानान्तरण सरल है। अपने मत की पुष्टि मे इन्होंने दूसरा प्रमाण यह दिया है कि पर्यटन प्राय पश्चिम से पूर्व को हुए हैं पूर्व से पश्चिम को पर्यटन नहीं हुए हैं। इन अनेक प्रकार के तर्कों द्वारा योरोपीय सिद्धान्त के समर्थकों ने आर्यों का देश योरप सिद्ध करने का प्रयास किया है।

इस मत का प्रतिपादन सबसे पहले १८२० ई० मे जे० जी० रहोड ने किया था। ईरान की एक प्राचीन अनुश्रुति को दृष्टि पथ मे रखकर उन्होंने यह मत स्थापित किया कि आर्य लोग प्रारम्भ मे बैक्ट्रिया मे निवास करते थे और वहाँ से व दक्षिण, पूर्व और पश्चिम मे फैले। श्लीगल और पाट ने भी रहोड के मत का समर्थन किया। १८५९ ई० में प्रो० मैक्समूलर के हाथों मे आकर इस मत को एक सशक्त आधार मिला।

आदि देश मध्य एशिया

यह मत भी काफी मान्यता पा चुका है। केवल धार्मिक ग्रन्थो के आधार पर ही इन्होंने अपना मत प्रतिपादित किया है। अपने मत के समर्थन मे इन विद्वानो ने यह तक प्रस्तुत किया है कि आर्य जाति की सभ्यता एव सस्कृति का बोध हमे वेद तथा अवेस्ता से होता है। वेद भारतीयो (भारतीय आर्यों) का तथा अवेस्ता ईरानियो का आदि धार्मिक ग्रन्थ है। ईरान तथा भारत के समीप ही कोई भूभाग आर्यों का आदि देश रहा होगा, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थो मे पर्याप्त साम्य है।[1] एक लेखक का तो यहाँ तक कथन है "केवल एक-आध शब्द या वाक्य खण्ड ही नहीं, वरन एक सम्पूर्ण पद्याश को बिना शब्दावली परिवर्तित किये ही भारतीय से ईरानी भाषा मे लाया जा सकता

१ मिलाइये

देव	तत त्व	वच असुर	त चित	मेधिष्ठ	वशिम इन्द्र	वायु	मित्र
अवेस्ता	तत थ्व	अहुर	त चित	मज्द	वस्मि इन्द्र	वायु	मिथ्र

है।" इतना निकट साम्य यह निश्चयपूर्वक सिद्ध करता है कि ये दो विभिन्न देश के निवासी कभी बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर रहे होंगे और तब कालान्तर में कुछ कारणवश स्थानान्तरण कर गये होंगे। भारत तथा ईरान के बीच ही कहीं इनका आदि देश बताकर इन विद्वानों ने आर्यों के स्थानान्तरण के विषय में यह कहा है कि यहां से आर्यों के तीन जत्थे चले। एक जत्था भारत को, दूसरा ईरान को तथा तीसरा योरप को चला। डॉ० पी० गाइल्स ने जिस प्रकार उनके ग्रन्थों में वर्णित वस्तुओं के प्राप्ति-स्थान के आधार पर ही आर्यों का मूल ढूंढने का प्रयास किया है, उसी प्रकार इन विद्वानों ने भी आर्यों की परिचित वस्तुओं तथा उनके ग्रन्थों के आधार पर अनुमानित जलवायु से युक्त भूमि को आर्यों का मूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्हें मध्य एशिया ही ऐसा स्थान प्रतीत होता है जहां ये सारी वस्तुएं हैं। उनका तर्क इस प्रकार है—कृषिकर्म तथा पशुपालन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। इन दोनों कार्यों के लिए लम्बे चौड़े मैदानों की आवश्यकता है। अपने वर्ष की गणना आर्य हिम से करते थे। इसका अर्थ यह है कि ये किसी शीत प्रधान प्रदेश में रहते थे। किन्तु बाद में वे ही आर्य वर्ष की गणना शरद में करने लगे जिससे यह परिलक्षित होता है कि ये लोग दक्षिण की ओर बढ़ गये जहां अपेक्षाकृत कम ठंडक पड़ती है। नावों का प्रयोग वे जानते थे, इसका यह अर्थ है कि यह भाग झीलों तथा नदियों से युक्त रहा होगा। वे घोड़े से भी परिचित थे। उसका प्रयोग वे सवारी में करते थे। पीपल के पेड़ से वे परिचित थे किन्तु आम तथा बरगद से वे अपरिचित थे। इन सारी वस्तुओं की प्राप्ति मध्य एशिया में ही सम्भव है। अतः यही स्थान आर्यों का आदि देश रहा होगा। यहीं से स्थानान्तरण करके शक, हूणादि जातियां भी भारत आई थीं। इतना ही नहीं इन विद्वानों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यहां से भारत, ईरान तथा योरप को जाना सरल है।

पामीर प्रदेश या रूसी तुर्किस्तान को आर्यों का आदि देश माननेवालों का यह कथन है कि लघु एशिया में बोगाज़कोई में कुछ सन्धि-पत्र के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों में वैदिक देवताओं—इन्द्र, वरुण, मित्र आदि के रूपान्तरित नाम प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों की तिथि १४०० ई० पू० मानी जा सकती है और ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस समय इण्डो-ईरानी लोग लघु एशिया में ही निवास करते थे। पुरातत्त्व साक्ष्यों का सहारा इस सम्बन्ध में अन्यत्र भी लिया गया है। मिस्र में एलअमर्नी नामक स्थान पर मिट्टी के कुछ पात्र प्राप्त हुए हैं जिन पर राजवंशों के नाम उत्कीर्ण हैं। निश्चय ही ये नाम इण्डो-ईरानी हैं जिन पर राजवंशों का नाम इन पत्रों से प्राप्त होता है, वे लगभग १४०० ई० पू० में सीरिया में राज्य करते थे। इस साक्ष्य से भी यह प्रमाणित होता है कि उस समय ईरानी तथा भारतीय आर्य एक ही स्थान पर रहते थे। किन्तु यहां एकसाथ निवास करने के पूर्व भी तो वे यहीं अन्यत्र रह चुके होंगे क्योंकि यदि वे यहीं के मूल निवासी अनादि काल से होते तो १४०० ई० पू० में ही रूपान्तरित शब्दों का प्रश्न न उठता। उनमें किसी प्रकार के रूपान्तर की सम्भावना न थी। निश्चय ही इससे यह ज्ञात होता है कि ये लोग किसी दूसरे स्थान से यहाँ आये और यह साम्य कालान्तर में उपस्थित हुआ। हट महोदय के मतानुसार इण्डो-योरोपीय कबीला ही स्थानान्तरण करके एशिया में आ गया और अब इण्डो-ईरानी कहा जाने लगा। ये लोग काकेसस पर्वत को पार करके यहां पहुँचे थे। उक्त महोदय ने आगे यह कहा है कि यद्यपि साधारण रूप में एशिया में आने वाले इण्डो-योरोपीय लोग पश्चिम से पूर्व की ओर ही आये थे किन्तु पूर्व से पश्चिम एशिया की ओर से भी स्थानान्तरण सम्भव था। हट महोदय के उपर्युक्त मत का एडवर्ड मेयर नामक विद्वान्

ने खण्डन करते हुए लिखा है कि यह कैसे सम्भव है कि जिस प्रदेश को यह बतलाया जाता है कि इन्डो ईरानी लोग सर्वप्रथम यहीं आकर बसे थे उसका कोई नाम निशान अवशेष न रहे क्योंकि आरमीनिया से असीरियन काल तक जितने व्यक्तियों के एवं स्थानों के नाम प्राप्त हुए हैं उनमें से कोई इण्डो-योरोपीय नहीं है। इतना ही नहीं, मीडिया की पहाड़ियों के सीमान्त प्रदेश में जो लोग बसते थे इनमें कोई भी इण्डो ईरानी नहीं। इससे यही परिलक्षित होता है कि भेड़ जाति वाले स्थानान्तरण करके पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते गये थे। हट साहब के मत का खण्डन विद्वत्तापूर्ण ढंग से करते हुए एडवर्ड मेयर महोदय ने पामीर प्लेटो के पास ही आर्यों का आदि देश बताया है। पामीर प्लेटो के आसपास आर्यों का आदि देश मानने के कुछ प्रमाण इस मत के समर्थकों ने इस प्रकार दिये हैं—

भारोपीय भाषाओं में हिट्टाइट प्राचीनतम भाषा है। लगभग १६०० ई० पू० में कैपेडोशिया के रहनेवाले हिट्टी भाषाभाषी थे। गोरजे का ऐसा विचार है कि हिट्टाइट लोगों ने लगभग १६५० ई० पू० में कैपेडोशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था और करीब-करीब इसी समय इण्डो ईरानी लोग भी पामीर प्रदेश या रूसी तुर्किस्तान में पहुँच चुके थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों का आदि देश कैपेडोशिया तथा मध्य एशिया से समान दूरी पर ही स्थित रहा होगा। भारत तथा पश्चिमी योरप आर्यों का आदि देश नहीं हो सकता है। कुछ अन्य विद्वानों ने (जिनमें गोरजे का नाम विशेष उल्लेखनीय है) मेसीडोनिया तथा अनातोलिया में लगभग २८०० ई० पू० के प्राप्त शव-कलशों के आधार पर यह अनुमान किया है कि हिट्टाइट जाति ने जलडमरूमध्यों को पार करके एशिया माइनर में पदार्पण किया था। किन्तु जब इनके सम्मुख यह प्रश्न रक्खा जाता है कि हिट्टाइट जाति ऐतिहासिक युग में मध्य एशिया या पूर्वी एशिया ही में क्यों निवास कर रही थी तो वे इसका उत्तर देने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी दशा में हमें पुनः मेयर के मत का ही अनुमोदन करना पड़ता है। किन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि आर्यों का आदि देश काफी हरा भरा था और आर्य जाति कृषि कार्य करती थी। इसी आधार पर डॉ० पी० गाइल्स ने मेयर महोदय के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि इतना उजाड़-खण्डहर प्रदेश, जैसा कि पामीर प्रदेश है, आर्यों का आदि देश कदापि नहीं हो सकता।

मध्य एशिया में ही कहीं आर्यों का आदि देश बतलानेवालों में से ब्रैंडेन्स्टीन महोदय का भी नाम उल्लेखनीय है। वे किसी प्रकार भी आर्यों का आदि देश योरप में मानने को तैयार नहीं। ब्रैंडेन्स्टीन महोदय ने भाषा के आधार पर ही अपने मत की पुष्टि में लिखते हुए यह कहा कि प्राचीन आर्य यूराल पर्वत के दक्षिण में किरगीज स्टेप में निवास करते थे। प्रारम्भिक भारोपीय शब्दकोश के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि वे पर्वत के पास स्टेप के मैदान में निवास करते थे। तत्पश्चात् ब्रैंडेन्स्टीन महोदय आर्यों के परिचित जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए बतलाते हैं कि आर्य लोग जंगली सूअर, ऊदबिलाव, बारहसिंहा, भेड़िया, लोमड़ी आदि पशुओं से भली भाँति परिचित थे और ये सारे पशु किरगीज के स्टेप में पाये जाते हैं। जिन वनस्पतियों का ज्ञान आर्यों को था उनमें से एक भी योरप में नहीं प्राप्त होतीं। अतः आर्यों का आदि देश यूरोप न होकर किरगीज का स्टेप ही हो सकता है। इसी स्टेप से इण्डो ईरानियों ने पूर्व की ओर स्थानान्तरण किया होगा।

उपर्युक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि डॉ० पी० गाइल्स, ब्रैंडेन्स्टीन, मेयर

आदि विद्वानों ने एशिया में ही कहीं आर्यों का आदि देश ढूंढने का प्रयास किया है। किन्तु इस सिद्धान्त के आलोचकों का यह कथन है कि जब हम यह जानते हैं कि आर्यों के आदि देश में जल का बाहुल्य था और उनकी मातृभूमि नितान्त उर्वरा थी तो मध्य एशिया जैसे अल्प जलवाले तथा कम उर्वरा भूमि को किस प्रकार आर्यों का आदि देश मान सकते हैं। यही नहीं, यदि आर्यों का आदि देश मध्य एशिया में कहीं था तो फिर अपनी मातृभूमि में ही आर्य लोग इतनी कम संख्या में क्यों रह गये और भारतीय आर्यों के आदि ग्रन्थ वेद में मध्य एशिया का कोई संकेत क्यों नहीं है? मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश माननेवालों ने उसकी वांछनीय प्राकृतिक दशा के अभाव-सम्बन्धी प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि मध्य एशिया का यह भौगोलिक परिवर्तन आर्यों के स्थानान्तरण के पश्चात् हुआ।

आर्कटिक प्रदेश आर्यों का आदि देश—वेद के आधार पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश बतलाया है। उनका कहना है कि वेद में ऐसे उल्लेख आये हैं जो उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश मानने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ, वेदों से हमें पता चलता है कि आर्यों का यह ज्ञात था कि एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात का एक वर्ष होता है तथा कई दिनों का प्रातःकाल होता है। 'कई दिनों का प्रातःकाल' यह स्पष्ट बतलाता है कि वहाँ अधिकाधिक तुषारपात होता रहा होगा। प्रारम्भ में उत्तरी ध्रुव प्रदेश तुषारावृत्त था। एक तुषारापात का वर्णन हमें वेद-सा प्रामाणिक ईरानी ग्रंथ अवेस्ता में मिलता है और इसी तुषारपात के कारण ईरानी आर्यों को अपनी जन्मभूमि से स्थानान्तरण करना पड़ा था। लगभग ८००० ई० पू० तक आर्य यहीं उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ही रहे और तत्पश्चात् उन्होंने यहाँ से स्थानान्तरण किया और ६००० ई० पू० के लगभग इनकी एक शाखा मध्य एशिया में आकर बस गई थी। इस प्रकार तिलक जी ने मध्य एशिया के सिद्धान्तवालों का आँसू पोंछते हुए अपने एक नये मत का प्रतिपादन किया है। पर इनका मत अधिकांश विद्वानों को अस्वीकार है।

भारत आर्यों का आदि देश

कुछ विद्वान् प्राचीन आर्यों का आदि देश योरप, मध्य एशिया आदि न मानकर भारत को ही बतलाते हैं। ध्यान रहे कि भारत को आदि देश बतानेवाले अधिकांश विद्वान् भारतीय हैं और यह कहना अनुचित न होगा कि यहाँ उन विद्वानों के तर्क के पीछे आत्म-मोह की एक हल्की पृष्ठभूमि है, फिर भी इनका तर्क बहुत कुछ बुद्धियुक्त एवं गम्भीर ज्ञात होता है। इन विद्वानों में श्री अविनाशचन्द्र दास, श्री गंगानाथ झा, श्री डी० ए० त्रिवेदी तथा डॉ० एल०डी० कल्ला का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वेद में 'सप्तसिंधव' का गुणगान यत्र-तत्र किया गया है। अतः यही भूमि आर्यों का आदि देश रही होगी। पुराण तथा ईरानियों के धार्मिक ग्रंथों के सम्मिलित अध्ययन से भी यह पता चलता है कि कोई संग्राम (पुराणों का देवासुर संग्राम) दो जत्थों के बीच हुआ। इस युद्ध में पुराणों के अनुसार देवताओं ने असुरों को खदेड़ दिया। अवेस्ता में भी इसी प्रकार का विवरण है कि उनके पैगम्बर अपनी जन्मभूमि से भगा दिये गये। तो क्या यह भूमि भारत ही है जहाँ से आर्यों ने ईरानियों को भगा दिया? श्री गंगानाथ झा ने ब्रह्मर्षि देश को आर्यों की जन्मभूमि घोषित किया है। श्री एल० डी० कल्ला ने काश्मीर तथा हिमालय पर्वत को आर्यों का मूल निवास-स्थान बतलाया है। इसी प्रकार डी० एस० त्रिवेदी ने मुल्तान के निकट देविका नद को आर्यों की जन्मभूमि बताया है।

भारत को आर्यों का आदि देश माननेवालों का यह कहना है कि आर्यों का कहीं अन्यत्र निवास-स्थान न होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आर्य परिवार की भाषाओं

मे सस्कृत मे अन्य भाषाओ की अपेक्षा शब्दो की सख्या (मूल शब्द जिन्हें हम विभिन्न भारोपीय भाषाओं मे लगभग समान रूप मे पाते हैं) अधिक हैं। पर योरोपीय भाषाओ मे उन 'मूल' शब्दो की सख्या बिल्कुल कम है। ऐसी अवस्था मे यह कसे स्वीकार किया जा सकता है कि योरप मे आर्यों का आदि देश रहा होगा। चाहिए तो यह कि योरप की भाषाओ मे ये शब्द अधिक होते और भारतीय भाषाओ में (सस्कृत या भारत की प्रान्तीय भाषाओ मे जिनमे वे शब्द अब भी पाये जाते हैं) कम होते। पर यह ठीक इसके विपरीत है। इससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का आदि देश भारत ही रहा होगा और भाषा-सम्बन्धी जो साम्य प्राप्त होना है, वह पारस्परिक सम्पर्क या गमनागमन से सम्भव हो सकता है। लिथुआनिया को आर्यों का आदि निवास-स्थान माननेवालो के इस मत का कि आर्य परिवार की भाषाओ मे लिथुआनियन भाषा प्राचीनतम है, इन विद्वानो ने इस प्रकार खण्डन किया है कि भाषा की प्राचीनता का एक कारण तो यह है कि उसके भाषाभाषी इस क्षेत्र मे उन्नति नही कर पाते, अथवा वे विदेशियो के सम्पर्क मे नही आ पाते या यह भी सभव है कि वे उसके प्राचीनतम रूप को सुरक्षित रखने का मार्ग निकाल लेते हैं। यहाँ इन्ही कारणो मे से प्रथम दो सम्भव जान पडते हैं। ऋग्वेद मे बाघो तथा हाथियो का उल्लेख नही है केवल इसी आधार पर यह कहना कि भारत आर्यों का आदि देश नही, तर्कसगत नही है। ऋग्वेद मे तो चावल तथा नमक का भी उल्लेख नही है तो क्या इसका अर्थ यह है कि वे लोग इनका प्रयोग नही जानते थे? किन्तु भारत को आर्यों का आदि देश न माननेवालों का तर्क भी इससे कम पेचीदा नही। वे सर्वप्रथम तो यही प्रश्न रखते हैं कि यदि भारत आर्यों का आदि देश रहा तो इसके पूर्व कि यहाँ से कुछ आर्य बाहर जायँ, सम्पूर्ण भारत का आर्यकरण हो गया होता। किन्तु, यहाँ तो सम्पूर्ण दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत का कुछ भाग भाषा के विचार से अनार्य सा हैं है। ये विद्वान् इसी प्रकार की कुछ अन्य बाधाएँ भी उपस्थित करते हैं जो अधिक महत्त्वपूर्ण नही हैं। पर उनका एक यह भी प्रश्न है कि जब भारत की प्राचीनतम सभ्यता—सिन्धु सभ्यता—के निर्माता आर्य नही तो फिर भारत को आर्यों का आदि देश कैसे माना जा सकता है?

आर्यों के मूल पर यहाँ जो कुछ प्रकाश डाला गया है, वह इस क्षेत्र मे किये गये कार्यों का सम्भव लघुतम अंश भी नही है। यह विषय नितान्त जटिल है और दिन पर दिन जटिलतर बनता जा रहा है। ऐसी दशा मे किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

भारतीय आर्य तथा ऋग्वैदिककाल | ५

पिछले पृष्ठ मे आर्यों के मूल निवास-स्थान पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि हम किसी निष्कर्ष पर नही पहुँच पाये, तथापि इस मूल भूमि को भारत से कही बाहर मान कर हम इनके भारत मे प्रसार के विषय मे पढ़ेगे। भारतीय आर्यों के प्रसार का कोई सीधा विवरण ऋग्वेद में नही प्राप्त होता है, पर यदि उसके विवरण को ध्यान पूर्वक देखा जाय तो उल्लिखित स्थानो या वस्तुओ के नामो से उनके प्रसार का अनुमान लगाया जाता है। ऋग्वेद ही भारतीय आर्यों की प्राचीनतम पुस्तक है। इस पुस्तक मे भी कुल दस मण्डल है जिनमे से सम्भवत प्रथम नौ मण्डल ही प्राचीनतम है और दसवाँ मडल काफी बाद का है। अत हमे यह जान लेना चाहिये कि आर्यों के प्रसार, उनके काल, उनकी प्रारम्भिक सभ्यता आदि के लिये ऋग्वेद का अवलोकन करने एव उसके कोई प्रमाण प्राप्त करने मे काफी सावधानी से काम लिया जाय और केवल प्रथम नौ मडलो की सामग्रियो का ही प्रयोग किया जाय। ऋग्वेद से ऐसा ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम भारतीय आर्य अफगानिस्तान तथा पजाब में बसे थे। अफगानिस्तान मे बसने का ऋग्वैदिक प्रमाण यह है कि काबुल, स्वात कुर्रम तथा गोमल का उल्लेख ऋग्वेद मे किया गया है। इसी प्रकार पजाब मे इनके प्रारम्भिक निवास का भी प्रमाण ऋग्वैदिक मत्रो से प्राप्त होता है। पजाब की पाँचो नदियो का उल्लेख ऋग्वेद के मत्रो मे बार-बार किया गया है—वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चुनाब), परुष्णी (रावी), विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलज)। सिंध (सिंधु) तथा सरस्वती का भी उल्लेख आया है। पजाब मे इनके निवास करने का एक दूसरा प्रमाण यह है कि यमुना का प्रयोग तीन बार तथा गगा का प्रयोग केवल एक बार किया गया है। इसी प्रकार गगा के पूर्व की नदियों का उल्लेख ऋग्वेद मे नहीं किया गया है। खाद्यान्नो मे चावल का भी उल्लेख नही है क्योकि यह पूर्व मे उत्पन्न होता है। इसी तरह जानवरो में बाघ का सकेत नही है, क्योकि यह भी पूर्व का पशु है। अत ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि आर्य प्रारम्भ मे पजाब मे बसे थे और तब वहाँ से उन्होने भारत के शेष भागो का आर्यकरण किया। इस आर्यकरण मे आर्यों को अनार्यों से घोर सघर्ष करना पडा, इसका वर्णन ऋग्वेद मे स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। अनार्य अपेक्षाकृत कम असभ्य थे यह हमे भली भाँति ज्ञात है। अत इनके रण-सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्र भी दुर्लभ एव अपरिष्कृत थे। इनको रणविद्या एव सैनिक-सगठन का भी बोध नहीं था। सभ्य आर्यों को इन्हे पराजित करने मे कठिनाइयाँ अवश्य पडी, पर धीरे-धीरे वे इन पर विजय पाते गये और इसी गति से अपना प्रसार भी दक्षिण की ओर करते गये। सर्वप्रथम सरस्वती तथा दृशद्वती नदियों के भूभाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करके आर्यों ने इसका नामकरण ब्रह्मावर्त किया। आशा है कि ब्रह्मावर्त मे ही ऋग्वेद के पर्याप्त अश की रचना की गई होगी। ब्रह्मावर्त पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने के पश्चात् उनका रण-प्रयाण आगे को हुआ और उन्होने अनार्यों की भूमि को

छीनकर उसका नाम ब्रह्मर्षि रक्खा। इसके पश्चात, आर्यों ने मध्यदेश की स्थापना की और जब सम्पूर्ण भारत पर इनका अधिकार हो गया तो इसका नामकरण उन्होंने आर्यावत किया। अब हम ब्रह्मावत, ब्रह्मर्षि मध्यदेश की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालेंगे। हमें ज्ञात है कि सरस्वती तथा दृशद्वती नदियो के बीच की भूमि को ही आर्यों ने ब्रह्मावत कहा। पर उत्तरी नदियो के मार्ग परिवतन के कारण अब उस भूभाग की ठीक-ठीक स्थिति का बोध करना असम्भव है। महाभारत से ऐसा ज्ञात होता है कि ब्रह्मवत कुरुक्षेत्र का ही एक अग था। सम्भव है आर्यों ने सवप्रथम कुरुक्षेत्र को ही अनार्यों से छीना था। ब्रह्मर्षि देश मे कुरु मत्स्य, पाचाल तथा सूरसेन राज्य सम्मिलित थे। आधुनिक थानेश्वर, राजपूताना का पूर्वी भाग गगा यमुना का दोआब तथा मथुरा इसके अन्तर्गत आते हैं। हिमालय तथा विन्ध्य पवत की भूमि और पूव मे प्रयाग तक के भूभाग का नामकरण इन्होने मध्यदेश किया था।

ऋग्वेद

ऊपर आर्यों के प्रसार का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। उक्त विवरण से हमारे सम्मुख उनकी भौगोलिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट रूपरेखा उपस्थित हो गई। आर्यों अनार्यों के सघर्ष का विस्तृत विवरण यहा वाञ्छनीय नही। इसके अतिरिक्त आर्यों की आगामी प्रगति के विषय मे कुछ लिखने के पूव हमे आर्यो के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद के विषय मे कुछ जान लेना आवश्यक है क्योकि आर्यों की विभिन्न परिस्थितियो का बोध हमे उनके इसी महान ग्रथ से होता है। उनकी सम्पूर्ण सभ्यता एव सस्कृति पर प्रकाश डालने-वाला केवल यही एक ग्रन्थ ह, कम से कम प्रारम्भिक सभ्यता के ज्ञान का साधन तो केवल ऋग्वेद ही है। तभी तो स्मिथ ने कहा है—

Rigveda points to the settled people, an organized society and full grown civilization'

ऋग्वेद म कुल दस मण्डल है, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है। इन दसो मण्डलो मे कुल १०२८ मत्र हैं। इन मत्रो की रचना विभिन्न ऋषियो द्वारा विभिन्न स्थानो म की गई थी। रचना-समय का ठीक ठीक बोध न होने के कारण मत्रो के क्रम को भी स्थिर करना कठिन है। अब तक केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि प्रथम नौ मडल प्राचीनतम हैं और दसवें मडल के मत्रा की रचना और मन्त्रो के पश्चात हुई थी। सम्भवत दूसरे से सातवें मडल तक की रचना सवप्रथम हुई थी। ये ६ मडल गत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वसिष्ठ ऋषियो के नाम से हैं। तत्पश्चात् उन मत्रा की रचना हुई जिनका क्रम प्रथम मडल मे ५१ से १६१ तक है। तत्पश्चात प्रथम मडल के ५० मत्र तथा आठवें मडल के मत्रा की रचना हुई और उसके बाद सम्भवत सोमदेवता-सम्बन्धी मत्रो को इन आठ मडलो से पृथक करके उनका सग्रह किया गया जो नवें मडल के रूप मे हमारे सम्मुख है।[1]

ऋग्वेद की तिथि—ऋग्वेद के समय के विषय मे भी इतिहासकार एकमत नही हो पाये हैं। यहाँ हम भारतीय तथा विदेशी साक्ष्यो के आधार पर ऋग्वेद की तिथि पर प्रकाश डालेंगे। अभारतीय प्रमाणो म एक महत्वपूर्ण प्रमाण विशेष उल्लेखनीय है। एशिया माइनर के बोगजकोई नामक स्थान पर मितन्नी लेख प्राप्त हुए हैं। ये १४०० ई० पू० के हैं। इस लेख मे जिन देवताओ के नाम दिये गये हैं वे ऋग्वैदिक

१ देखिये आनल्ड, *Vedic Metre*, मैक्समूलर की ऋग्वेदसहिता की भूमिका, मैक्डानेल, *History of Sanskrit Literature*

देवताओ के नामो से साम्य रखते हैं—जैसे मित्र, वरुण, इन्द्र, आदि। इन देवताओ के नाम ईरानियो के धार्मिक ग्रथ अवेस्ता मे भी प्राप्त होते हैं। अत यह ज्ञात होता है कि भारतीय तथा ईरानी शाखाओ म विभक्त होने से पूर्व इन दोनो के ये एक ही देवता थे। किन्तु मेसोपोटैमिया के अभिलेख की लिखावट से यह ज्ञात होता है कि इनका मूल ऋग्वेद मे ही है, अर्थात इन शब्दो की उत्पत्ति ऋग्वेद से होती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारत मे १४०० ई० पू० से भी पहले सभ्यता का विकास (वैदिक सभ्यता का विकास) हो चुका था और यह सभ्यता इतनी पूर्ण थी कि इसने एशिया माइनर को भी प्रभावित किया।

मैक्समूलर महोदय ने वैदिक एव लौकिक सस्कृत की तुलना ग्रीक भाषा के अन्तरो के आधार पर करके यह सिद्ध किया कि ऋग्वेद की रचना १२००–१००० ई० पू० के लगभग हुई थी। किन्तु यह आवश्यक नही कि सभी भाषाओ का अन्तर समान रूप एव समान गति से हो। अत यह तर्क अधिक सगत नही प्रतीत होता। मैकडानेल तथा कीथ महोदय ने मैक्समूलर महोदय के मत का समर्थन किया है किन्तु कुछ विद्वानो ने ऋग्वेद का समय और पीछे माना है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान जैकोबी ने ज्योतिष-शास्त्र के प्रमाण के आधार पर ऋग्वेद का समय लगभग ४००० ई० पू० माना है। इसी प्रकार श्री बाल गगाधर तिलक ने भी ज्योतिष के आधार पर ही यह समय ८००० ई० पू० बतलाया है। पर इनके मतो का भी जोरदार समर्थन नही हुआ है और केवल ज्योतिष् के आधार पर यह अनुमान अधिक तर्कयुक्त नही जँचता क्योकि प्राचीन भारत मे ज्योतिष् के अनेक सिद्धान्त (गणना की अनेक विधियाँ) प्रचलित थी। पता नही कौन-सी विधि ऋग्वेद के समय मे प्रामाणिक थी। विन्टरनित्स के मतानुसार यह तिथि २५०० ई० पू० हो सकती है। इन समस्त प्रमाणो के आधार पर इतना तो निश्चय पूर्वक ही कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की रचना १५००–१२०० ई० पू० के भीतर या सम्भवत इससे भी पहले हुई होगी।

आर्यो का राजनीतिक उत्कर्ष

आर्यो के प्रारम्भिक प्रसार-सम्बन्धी सघर्षो म 'दस राजाओ का युद्ध' अपने ढग का सम्भवत प्रथम है। आर्यो एव अनार्यो म प्रसार के लिये जो सघर्ष हुए, वे तो भयकर थे ही, पर आर्यो के ही विभिन्न कबीलो (जत्थो) मे सम्भवत जो महत्वपूर्ण सघर्ष हुआ, वह यही 'दस राजाओ का युद्ध' ही है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्यो के कई दल थे। इन दलो मे भरत, अनुस, मत्स्य, द्रुह्यु, तुर्वसु यदु, पुरु आदि विशेष प्रसिद्ध थे। ब्रह्मावर्त मे भरत, आधुनिक जयपुर, अलवर भरतपुर राज्य मे मत्स्य, पजाब मे अनुस् तथा द्रुह्यु, दक्षिण-पूर्व म तुर्वसु, पश्चिम म यदु तथा सरस्वती नदी के आसपास की भूमि मे पुरु दल वाले निवास करते थे। इन विभिन्न दलो मे सत्ता महत्ता के लिए सघर्ष अनिवार्य था। 'दस राजाओ का युद्ध' उत्तर-पश्चिम मे पहले के बसे हुए लोगो तथा ब्रह्मावर्त के बाद के बसे हुए लोगो मे हुआ। ऐसी सम्भावना है कि इस युद्ध मे सम्पूर्ण ऋग्वैदिक भारत (अनार्यो समेत) सम्मिलित था। विश्वामित्र की मत्रणा से दस राजाओ का एक सघ बनाया गया ताकि भरतो के राजा सुदास पर आक्रमण किया जाय। सघ का निर्माण तो हो गया पर भरतो के राजा सुदास ने इसे पराजित कर दिया। सुदास पर अकिना, पक्थो, शिवो, भलानसो और विषाणिनो ने भी आक्रमण किया था पर इसमे सुदास को सफलता मिली। पूर्व म भी सुदास को सघर्ष करना पड़ा था। भेद की अध्यक्षता मे अज, शिग्रु तथा यक्षु ने भी सुदास पर आक्रमण किया था किन्तु सुदास

ने इन्हें भी यमुना के निकट पराजित कर दिया। इस प्रकार सुदास ने अपनी विजयों द्वारा अपना प्रभुत्व सम्पूर्ण ऋग्वैदिक भारत पर स्थापित कर दिया। पुरोहित का निर्वाचन ही युद्ध का कारण था।

ऋग्वेद में वर्णित अनार्य—ऋग्वेद में अनार्यों की जो रूपरेखा दी गई है, उस पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में इन अनार्यों की भर्त्सना की गई है। इन्हें दास, दस्यु, या असुर कहा गया है। पिशाच तथा राक्षसों का उल्लेख भी ऋग्वेद में आया है। पहले हम ऋग्वेद में वर्णित अनार्यों पर ध्यान दें। ऋग्वेद के अनुसार वे 'अनास' (चिपटी नाकवाले), 'देवपीयु' (देवताओं के विरोधी), 'अदेवयु' (वैदिक देवताओं के प्रति उदासीन), 'अयज्वन्' (यज्ञ न करनेवाले), 'शिश्न देव्य' (लिंगपूजक) 'अकर्मन्' (क्रिया अनुष्ठानों से रहित), 'अन्यव्रत' (पृथक धर्मवाले), 'मृध्रवाक्' (अस्पष्ट भाषाभाषी), 'अब्राह्मण' आदि थे।

यहाँ इस विवरण के आधार पर आर्यों की जो टीका की गई है वह भी उल्लेखनीय है। ऋग्वेद में अनार्यों के उपर्युक्त विशेषण आर्यों के लिए भी लागू होते हैं। सुदास के शत्रु दस राजा तथा उनके सहयोगियों को 'अयज्वन्' (यज्ञ न करनेवाले), अनिंद्र (इन्द्र की पूजा न करनेवाले) कहा गया है।

अनार्यों को हमें पूर्णतया असभ्य नहीं मान लेना चाहिए। ऋग्वेद पर ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने रहने के लिए मकान बनवाये थे जिसे आर्यों ने जला दिया।[1] दासों और दस्युओं के अपने नगर थे जिनके विनाश की प्रार्थना आर्यों ने बार बार इन्द्र से की है।[2] इसी प्रकार रक्षा तथा युद्ध के लिए वे सेनाएँ भी रखते थे और किलों का निर्माण करके उनमें अपना खजाना रखते थे।[3] अनार्य और कम से कम उनके सरदार तो निश्चय ही धनवान् थे क्योंकि ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे उनको मारकर उनका इकट्ठा धन इन्हें (आर्यों को) दे दें। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनार्यों को भी असभ्य नहीं कहा जा सकता। हो सकता है उनकी सभ्यता आर्यों से कम रही हो—कम से कम सैनिक दृष्टिकोण से तो वे आर्यों से हेय थे ही।

आर्यों-अनार्यों का संघर्ष पर्याप्त समय तक चलता रहा। अन्त में आर्यों ने दस्यु या दास जाति वालों (अनार्यों) को बुरी तरह पराजित कर दिया। युद्ध में काम आने के पश्चात बहुत अधिक संख्या में दस्यु या दास जाति बच गई। इन शेष लोगों को विवश होकर या तो आर्यों से कहीं बहुत दूर जंगल गिरि-कन्दराओं की शरण लेनी पड़ी या तो उन्हीं की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। फलतः इस दस्यु या दास जाति के इतने अधिक लोग गुलाम बनाये गये कि दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया।[4] इनके नेताओं[5] का वध कर दिया गया होगा।

---

१ ऋग० ७।५।६॥

२ ऋग० १।१०।३।३॥१।१७।२१।२।२०।६ ७॥ आदि।

३ ऋग० ७।६।३॥

४ ऋग० ७।८६।७॥८।५३।३॥१०।६३।१० आदि। दास को अंग्रेजी 'slave' है, इस शब्द की व्युत्पत्ति भी रोमनों द्वारा स्लाव जाति को पराजित करके उसे गुलाम बना लेने से हुई थी।

५ ऋग्वेद में इन नेताओं के नाम पिप्रु, धुनि, चुमुरि, सम्बर आदि दिया गया है।

आर्यों की सामाजिक अवस्था

आय-अनार्य संघर्ष, आय-आय-संघर्ष आदि के पश्चात् आर्यों के समाज की जो रूपरेखा तैयार हुई, वास्तव म यही उनकी पूर्णरूपेण विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। इसके पूर्व जो सामाजिक व्यवस्था आर्यों ने निर्मित की थी वह अब तक काफी परिवर्तित हो चुकी थी। प्रारम्भ म केवल आर्यों का ही समाज मे हाथ था पर कालान्तर म अनार्यों को भी इसमें स्थान दिया गया। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दो मे 'आर्य सगठन पर सबसे अधिक प्रभाव तो आर्यो और अनार्यों के सम्पर्क का पड़ा।'

वर्ण वर्ग—यद्यपि ऋग्वैदिक काल मे सम्पूर्ण आय वर्ग एक था, उनम खान पान, रोटी-बेटी का निकटतम सम्बन्ध था उनम उद्यम-व्यवसाय की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, जैसा कि एक ऋषि स्वय कहता है कि 'मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है, मैं कविता करता हूँ।'[1] तथापि सामाजिक विकास के सिद्धान्त में ही कुछ ऐसे मूल तत्व होते हैं जो समाज के वर्गीकरण के कारण बनते हैं। इन वर्गीकरण के प्रमुख कारण आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक हो सकते हैं। भिन्न भिन्न विचारको द्वारा विभिन्न वर्गों की स्थापना भी सम्भव है। विश्व इतिहास के अध्ययन से हमे यह ज्ञात होता है कि जिस देश मे पहले केवल आर्थिक स्थिति के आधार पर समाज का वर्गीकरण हुआ था वही कालान्तर मे दार्शनिको, पण्डितो या ज्योतिषियो के प्रभाव से एक पृथक् दार्शनिक या विद्वद्वर्ग तो बना ही, साथ ही पूर्वप्रचलित सामाजिक वर्गीकरण का आधार भी इससे काफी प्रभावित हुआ। ऋग्वैदिक कालीन समाज मे भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ आईं जिनसे पृथक्-पृथक् वर्गों का जन्म आरम्भ हो गया। यद्यपि ये सारे परिवर्तन और सामाजिक पेचीदगी ऋग्वैदिक काल म स्पष्ट रूप से नही मिलती, पर कालान्तर म वर्गीकरण की जो विभिन्नता तथा जातीय जटिलता देखने को मिलती है उसका मूल अभी से प्रारम्भ हो गया था। विचाराधीन काल में केवल इतना ही हुआ था कि सम्पूर्ण आय जाति कई वर्गों मे विभक्त हो चुकी थी जिनम एक आस्था, एक विश्वास, एक उद्देश्य और कुल मिला-जुलाकर एकात्मकता थी।

विराट पुरुष' द्वारा चार वर्गों की उत्पत्ति का विवरण हमे पुरुषसूक्त (ऋग्वेद के दसवें मडल) से प्राप्त होता है। आर्यों की धार्मिक दशा के सम्बन्ध मे अगले पृष्ठो मे पढने से ज्ञात होगा कि इनके धार्मिक कृत्य इतने जटिल थे कि उनके लिए बहुत अधिक लोगो की आवश्यकता थी। साधारण पूजा-पाठ तो सभी कर सकते थे पर कुछ विशेष धार्मिक कृत्य थे जो बहुधा सामूहिक या सामाजिक स्तर पर होते थे। वयक्तिक रूप मे करने पर भी पर्याप्त समय एव धैर्य चाहिए था। अत ऐसी दशा मे यह अनिवार्य था कि सम्पूर्ण समाज मे से कुछ लोग ऐसे चुन लिये जाय जो अपना पूरा समय या अधिकाश समय पूजा पाठ एव धार्मिक कृत्यो म लगायें। वैदिक मन्त्रों के स्पष्टीकरण के लिए भी कुछ विद्वानो की आवश्यकता थी। ''अकेले सोम यज्ञ के लिए कई पुरोहितो की आवश्यकता थी, उदाहरणार्थ, एक होतृ चाहिये था—जो मन्त्र सुनायें, एक अध्वर्यु चाहिये था जो क्रिया-काण्ड करे और अनिष्ट का निवारण करे, एक उद्गात चाहिये था जो सोम गाये। इनको कई सहायको की आवश्यकता थी। ऋग्वेद से जान पडता है कि ऐसे यज्ञो म बहुधा सात पुरोहित लगते थे। एक ऋचा मे इनकी गिनती इस प्रकार की गई है—होतृ पोतृ, नेष्टृ, अग्नीध, प्रशास्तृ अध्वर्यु और

1 ऋग० ९।११२।३॥

ब्रह्मन । अस्तु एक पुरोहित वग बनने लगा जो ब्राह्मण कहलाया ।''[१] धार्मिक कृत्यो की जटिलता के विषय म ऊपर प्रकाश डाला गया है । अत इतना जटिल काय सीखना केवल उनके लिए ही सभव था जिन्हें तत्सम्बन्धी शिक्षा विषयक प्रत्येक सम्भव साधन उपलब्ध थे । ये साधन ब्राह्मण के पुत्र प्रपौत्रो को ही सम्भव थे । अत धीरे धीरे इन ब्राह्मणो का एक पृथक् वग बनता गया । यद्यपि इन्हें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतत्रता थी किन्तु ये अय वर्गो स कन्यायें लेना बहुधा हेय समझते थे और सवर्गीय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने म इन्हें विशेष सुविधा भी पडती थी । अब ब्राह्मण वग की दशा पर भी थोडा विचार किया जाएगा । ऋग्वेद की कुछ ऋचाओ से यह ज्ञात होता है कि उन्हे समाज मे काफी आदर मिलता था और उनका पद काफी ऊँचा था । पुरोहितो को दान रूप, सिक्के, आभूषण, वस्त्र, रथ, भवन, पशु आदि देने का भी उल्लेख किया गया है ।[२] ब्राह्मणो के पुरोहित रूप के अतिरिक्त उनके वीर रूप का भी हम बोध होता ह । विश्वामित्र तथा वशिष्ठ आदि ऋषियो न अस्त्र शस्त्र ग्रहण किया था ।[३]

अब हम आर्यो के दूसरे महत्त्वपूर्ण वग पर प्रकाश डालेंगे । जिस प्रकार धार्मिक आवश्यकताओ न आर्यों मे ब्राह्मण वग को जन्म दिया उसी प्रकार सनिक आवश्यकताओ ने क्षत्रिय वग का उदय किया । सैनिक आवश्यकता तो आर्यों को भारत म पदापण करने के शीघ्र पश्चात् से ही पड गई तो क्या उसी समय क्षत्रिय वग बन गया था, यह एक प्रश्न उपस्थित होता है । किन्तु हमे ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि उस समय प्रत्येक आय समान रूप से रणक्षेत्र म उतरता था ।[४] उस प्रारम्भिक अवस्था मे युद्ध के लिये किसी वग विशेष की आवश्यकता नही थी । कालान्तर मे कम से कम सब ब्राह्मणो का एक पृथक वग बन गया और वे पठन पाठन पूजा पाठ म व्यस्त रहने लगे तो स्वभावत अब एक ऐसे वग की आवश्यकता पडी जो अस्त्र शस्त्र सभाले—अनार्यों से सैनिक सगठन करते समय प्रारम्भ मे सम्भवत स्वेच्छानुसार ही अपने को इस काय म लगानेवालो को लिया गया होगा । पर सैनिक काय बहुत कठोर होता है और इसकी शिक्षा भी अत्यन्त दुरूह होती है । सैनिक शिक्षा की व्यवस्था भी सुचारु रूप से सैनिक पिता के पुत्र को ही मिल सकती थी । दूसरी बात यह भी है कि अपने पूवज के कम को करने म कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी सहायक होते ह अत धीरे-धीरे क्षत्रियो का भी एक वग बन गया । यह वग भी ब्राह्मणो की भाति कालान्तर म अपना एक ऐसा दायरा बनाता गया जिसमे दूसरो का प्रवेश दुलभ हो गया । वीर पुरुष किसी वीर की पुत्री स ही (जिसके वीरागना होने की अधिक सम्भावना थी) ब्याह करने मे अपना गौरव समझता रहा होगा । अत वैवाहिक सम्बन्ध भी बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वाय ही स्वत अपने वग तक सीमित हो गया । इस वग का उत्तरदायित्व अत्यधिक महत्त्वपूण था । इन्हे अपने काय पर गव भी था । सैनिक काय स्वभावत आत्मसम्मान

१ देखिये डॉ० बेनीप्रसाद की हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ४२-४३

२ ऋग० १।४४।१०।, १२।।३।२।८।।२।२४।६।।१।१।१।।३।३।२।।५।११।२।। ।१७०।४।। आदि

३ ऋग० ३।३३।।७।१८।।

४ ऋग० ८-२४।४।।६।२६।१।। 'रणक्षेत्र मे जनता एकत्रित होती है जनता अपना पौरुष दिखलाती है अथवा ऋग० ७।७६।२।। उषा इस प्रकार आती हैं जसे युद्ध के लिये तैयार जनता ।

से ओतप्रोत होता है। ऋग्वेद मे इस वर्ग की महत्ता का उल्लेख है और साथ ही उन लोगों की निन्दा भी गई है जो व्यर्थ ही क्षत्रिय होने का दावा करते थे।[1] इससे यह भी परिलक्षित होता है कि क्षत्रिय होना इतना महान् समझा जाता था कि कुछ अन्य वर्ग वाले भी क्षत्रिय होने का दावा करते थे।

इन दो प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ग भी थे जिनके विषय मे हमे ऋग्वेद संकेत मात्र करता है। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल (जिनका रचना-काल दसवें मण्डल से पूर्व माना जाता है) हमे अन्य किसी वर्ग का बोध नही कराते। इनसे हमे केवल इतना ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रियो के पश्चात् शेष आर्य जनता को 'विश' कहा जाने लगा। विश का सम्बन्ध प्रारम्भ मे सम्पूर्ण आर्य जनता से होता था। वास्तव मे 'विश' का शाब्दिक अर्थ बैठना है। जब तक आर्य इधर-उधर भटक रहे थे तब तक उनका जीवन भ्रमणशील था पर जब 'धरती पर बैठ गये, अर्थात जमीन पर स्थायी रूप से जम गये' तब से उनकी बस्तियाँ विश कही जाने लगी और फिर इसी से वर्ग विशेष का बोध किया जाने लगा। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग से 'विश' एक अलग वर्ग इस प्रकार प्रमाणित हो जाता है कि ऋग्वेद के एक मन्त्र में क्षत्रियों के लिये बल की प्रार्थना की गई है और फिर 'विश' के लिये भी वही प्रार्थना की गई है।[2] क्षत्रिय और 'विश' दोनों के लिये प्रार्थना करने का अर्थ है कि ये दो वर्ग हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल प्राचीनतम हैं और फिर उनके बाद दसवें मण्डल की रचना हुई। इसी दसवें मण्डल से हमे यह ज्ञात होता है कि विराट पुरुष से चार जातियो का जन्म हुआ। ध्यान रहे कि ये चार जातियाँ वही हैं जो उत्तर वैदिक काल, महाकाव्य काल आदि से लेकर आज तक हिन्दू समाज मे बनी है। इस प्रकार जातियो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रो) की इस वैदिक उत्पत्ति का उल्लेख ऋग्वेद के उस मण्डल (पुरुष सूक्त) से प्राप्त होता है जो अपेक्षाकृत बाद का है। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलो मे कही भी 'वैश्य' शब्द नही आया है। अतः इससे क्या यह सम्भव नही कि या तो विश ही वैश्य थे क्योंकि क्षत्रियो के लिए प्रार्थना करके फिर विश के लिये प्रार्थना की गई और शूद्रो के लिये प्रार्थना करने की आवश्यकता नही क्योकि वे दास या दस्यु थे, या यह भी सम्भव हो सकता है कि दसवे मण्डल के पहले वाले मण्डलो मे वैश्य शब्द का प्रयोग न होना यह प्रमाणित करता है कि यह वर्ग प्रथम दो वर्गों के बनने के पश्चात् बना और यह तर्कसंगत भी जान पड़ता है। किन्तु दसवें मण्डल पुरुष सूक्त मे जो चारो जातियो की साथ उत्पत्ति का विवरण प्राप्त होता है वह इसमें अपवाद है। इसके अनुसार तो उस आदि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जघो से वैश्य तथा चरणो से शूद्रो की उत्पत्ति हुई। ऋग्वैदिक काल में समाज का जो विभाजन हुआ, उसे वर्ग-व्यवस्था कहना ही उचित है क्योंकि यह केवल समाज का वर्गीकरण ही था—(यह भी लगभग समान स्तर पर) वर्ण व्यवस्था तो काफी बाद मे पनपती है, यद्यपि उसका मूल समाज के इसी वर्गीकरण में निहित है।

पारिवारिक जीवन—आर्यों के सामाजिक संगठन की मूलभूत विशेषताओं को और अधिक स्पष्ट रूप से जानने के निमित्त हमे उनके पारिवारिक जीवन पर दृष्टिपात करना होगा। इस सम्बन्ध मे ऋग्वेद हमारी कुछ सहायता करता

१ ऋग० ७।१०४।१३॥
२ ऋग्० ८।३५।१७–१८॥

है। भाय कुटम्ब पितृसत्तात्मक था, पर साथ ही नारी-सम्मानयुक्त था, जैसा कि आगे बतलाया जायगा। पिता या पितामह ही कुटुम्ब का प्रधान होता था जिसे गृहपति कहते थे। गृहपति की प्रधानता घर के अन्य व्यक्ति मानते थे[१]। गृहपति के कर्त्तव्यो पर भी ऋग्वेद म कुछ प्रकाश डाला गया है और उससे यह ज्ञात होता है कि गृहपति से वीरता तथा उदारता की आशा की जाती थी।[२] गृहपति की पत्नी का भी कुटुम्ब के अन्य सदस्यो पर उसी प्रकार अधिकार था। अपनी योग्य एव भद्र सन्तान की गृहपति जहाँ एक ओर पूण रक्षा एव पालन-पोषण करता था वही नालायक एव लम्पट सन्तान को वह कठोर दण्ड भी देता था। गहपति का पद वशानुगत था और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र (सम्भवत ज्येष्ठ पुत्र) गहपति बनता था। वह अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था। कभी-कभी भाइयो मे पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा भी हो जाता था।[३] पिता की सम्पत्ति का उचित उत्तराधिकारी पुत्र ही होता था—पुत्री नहीं। पुत्री को वह सम्पत्ति तब प्राप्त होती थी जब वह अपने पिता की अकेली सन्तान होती थी।[४] गोद लेने की प्रथा भी न्यायोचित थी।[५] गृहपति की देखरेख मे कुटुम्ब के पुरुष सदस्य जीवन यापन के साधन एकत्रित करते थे और नारी घर-गृहस्थी के कार्यों का सम्पादन करती थी। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा होने के नाते प्रत्येक काय सामूहिक उत्तर दायित्व के साथ करना आवश्यक था। एक ही कुटुम्ब मे पिता माता, कई पुत्र, बहुयें, प्रपौत्र आदि रहे होंगे। ऐसी दशा मे घर के कामो मे अधिक परिश्रम करना पडता रहा होगा। पिता की मृत्यु के पश्चात भ्राता का कर्तव्य अपनी बहन के प्रति बढ जाता था। भ्रातृ (भाई) का शाब्दिक अथ ही है भरण करने वाला। अत वह पिता की अनुपस्थिति मे बहन का भरण-पोषण उसके ब्याह के पूव तक करता था। भ्रातृहीन लडकियो की दुर्दशा का सकेत भी हम ऋग्वेद से प्राप्त होता है जिसके एक मत्र म एक धनहीन एव भ्रातृहीन लडकी का उल्लेख है जो दुराचार मे अपना पेट पालती है।[६]

दैनिक जीवन मे कुटुम्ब की समस्याओ को लेकर किसी प्रकार की कटुता आने की बहुत कम आशका रहती थी क्योकि कुटुम्ब के सदस्य पारस्परिक प्रेम मे बँधे थे। सास श्वसुर, ननद, देवर आदि के साथ रहकर भी वह अपना अस्तित्व बनाये रख सकती थी। वह अपने पति के साथ यज्ञादि करती थी, दान देती थी, सोमरस बनाती और पीती थी।[७] पति-पत्नी का साथ धार्मिक काय करने तथा अपनी सन्तान के साथ आनन्द करने का उदाहरण ऋग्वेद मे प्राप्त होता है।[८] पत्नी का आदर घर म कितना होता था, उसके अधिकार और कतव्य क्या थे, इन। सबका साकेतिक विवरण हमे ऋग्वेद से प्राप्त होता है। एक स्थल पर यह बतलाया गया है कि स्त्री घर का प्रबन्ध करती थी तथा अन्य कामो के अतिरिक्त वह ताना बुनने का काय भी करती थी।[९]

१ ऋग० ६।५३।।२।।
२ ऋग० ६।४६।८।।
३ ऋग० १।७०।५।।
४ ऋग० ३।३१।।
५ ऋग० ७।४।७ ८।।
६ ऋग० १।१२४।७।।
७ ऋग० १।१२१।।२।।५।४३।१५।।
८ ऋग० ७ ३१।५ ८।।तथा १-१०५।२।।
९ ऋग० २।३।६।।२।३८।४।।

5

गृहपत्नी की महानता का बोध तो हमे तब होता है जब हम देखते हैं कि कहीं-कहीं अग्निदेवता की उपमा गृहपत्नी से दी गई है जो कुटम्ब के सदस्यों की खबरदारी रखती है।[1] ऋग्वेद मे उषा देवी के विषय मे यह कहना कि वह गृहपत्नी की भाँति सोनेवालो को जगाती हुई आती है[2], यह प्रमाणित करता है कि गृहपत्नी पर घर का पूरा उत्तरदायित्व था और वह कुटुम्ब के सदस्यो को उनके दैनिक कार्यों के लिये प्रात काल जगाया करती थी। पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है, पत्नी आनन्द है आदि का प्रमाण हमे ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो से मिलता है।[3] इतना सब होने पर भी गृहपति पत्नी पर उचित अकुश कौटुम्बिक मामलो मे अवश्य रखता रहा होगा क्योंकि स्त्रियों की बुद्धि-दुर्बलता तथा उनके चित्त के सयत न होने का उल्लेख भी ऋग्वेद मे किया गया है।[4]

ऋग्वैदिक कालीन कुटुम्ब म तत्सम्बन्धी अन्य विशेषताओ के अतिरिक्त एक प्रमुख विशेषता यह देखने को मिलती है कि पुत्र की कामना बहुत अधिक थी। 'हमारे घर सन्तान से भरे-पूरे हो', 'हमे वीर पुत्रो की कमी न हो' आदि के उदाहरण अनेक मन्त्रो मे प्राप्त होते हैं।[5]

आर्यों का सामाजिक सगठन ही कुछ इस प्रकार का था कि जो पितृसत्तात्मक होते हुए भी नारी को ऊँचा स्थान देने के लिये बहुधा बाध्य करता था। नारियो का जसा शारीरिक गठन है, उस आधार पर यह आवश्यक हो जाता था कि वे जब तक कुमारी रहती थी तब तक पिता या भ्राता के सरक्षण मे रहती थी, जब विवाहित हो जाती थी तो पति की देखरेख मे रहती थी और पति के अभाव मे युवक पुत्र या इसी प्रकार के किसी अन्य सरक्षक के निरीक्षण म रहती थी। पर्दा प्रथा का कहीं नाम न था। तत्कालीन शिक्षा पद्धति के अनुसार उन्हे भी शिक्षित किया जाता था। उनके विदुषी होने के उदाहरण ऋग्वेद मे रचित उनकी रचनायें हैं।[6] इसी प्रकार विद्या के क्षेत्र म वे पुरुषो से किसी प्रकार पीछे न थीं। पर रणक्षेत्र मे भी व कम कौशल नही दिखलाती थी। ऋग्वेद मे नारियो का रणक्षेत्र मे जाने का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि विश्पला नामक एक स्त्री रणक्षेत्र मे गई थी और जब युद्ध करते करते वह घायल हो गई तो अश्विनो ने उसका उपचार किया।[7] विदुषी एव वीरागनाओ को हर प्रकार की स्वतन्त्रता होना स्वाभाविक है। उन्ह विवाह आदि मे पूर्ण स्वतन्त्रता थी। तरुण पुरुषो और स्त्रियों को मिलने-जुलने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, अपनी इच्छानुसार प्यार करते थे और अपनी इच्छा के अनुसार ब्याह कर लेते थे।[8] नारी-सौन्दर्य एव सौन्दर्यानुभूति का उदाहरण भी हमे ऋग्वेद से प्राप्त होता है। एक स्थल पर यह बताया गया है कि कुछ नारियाँ तो अपने रूप पर फूली नही समाती थीं और अपने प्रेमियो के चित्त को लुभाने मे बडी दक्ष होती थीं।[9]

---

१ ऋग्० १।६६।३।।
२ ऋग्० १।१२४।४।।
३ ऋग्० ३।५३।४।।३।५३।६।।
४ ऋग्० ८।३३।१७।।
५ ऋग्० ७।१।११-१२।१६।।७।१।२४।।३।१६।५ ६।।
६ ऋग्० १।११७।।१।१७६।।५।२८।।६।१०।२।।८।६१।।
७ ऋग्० १।११२।१०।।१।११६।१५।।१।११७।११।।१।११८।८।।
८ ऋग्० १।११५।२।।६।३२।५।।६।५६।३।।
९ ऋग्० ७।५५।५,६,८।।

इस सम्बन्ध मे हमे वैवाहिक प्रथाओ पर भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योकि नारियो की दशा की उच्चता या हीनता अधिकाशत इसी पर आधारित होती है। आदर्श विवाह केवल एक विवाह करना था। अत हम पहले आदर्श विवाह का वर्णन करेंगे। नारियो एव पुरुषो को हिलने मिलने की जो स्वतन्त्रता दी गई थी, साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने मे कोई वर्गभेद नही रक्खा गया था, उससे लोगो को स्वत वर-वधू चुनने का अवसर प्राप्त हो जाता था। पर माता पिता भी शादी तय कर देते रहे होगे क्योकि प्रत्येक तरुण या तरुणी के जीवन मे स्वय वर वधू निर्वाचन सम्भव नही। इसी या किसी अन्य विधि द्वारा शादी तय हो जाने के पश्चात बडी धूम से वैवाहिक प्रथायें पूरी की जाती थी। वर-पक्ष के लोग सज धज कर वधू के घर जाते थे जहाँ उनका पूर्ण स्वागत होता था। पुरोहित द्वारा बताये गये शुभ समय एव मुहूर्त मे वर वधू का पाणिग्रहण करता था और तत्पश्चात वर वधू अग्नि की परिक्रमा करते थे। पाणिग्रहण के पश्चात बहुत ही विराट उत्सव होता था—जिसमें सभी लोग सुन्दर सुन्दर वस्त्र एव आभूषण पहनकर शामिल होते थे।[१] विवाह सस्कार के समय जो मन्त्रोच्चारण होता था, उनसे हमे यह ज्ञात होता है कि वधुओ का हमारे होने वाले घर मे कितना सम्मान होता रहा होगा, उनसे वर कितनी मगल कामनायें करता था। नीचे एक इसी प्रकार के मत्र का हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है—

"प्राणियो के स्वामी हम सन्तान से कृतार्थ करें, अर्यमान हमे वृद्धावस्था तक परिणय के सूत्र म आबद्ध रक्खे। हे वधू! पति के घर मे तुम्हारा प्रवेश मगलकारी हो। हमारे कुल एव ढगेरा पर क्षेम की वर्षा करो।"

"हे वधू! अपनी सास और श्वसुर को वशीभूत कर लो अपनी ननन्दा तथा देवरो के बीच मे रानी की भाति शोभायमान हो।"[२]

विवाह सस्कार हो जाने के बाद वर वधू को रथ पर बिठाकर अपने घर लाता था।

पर ऋग्वेद म बहुविवाह का भी वर्णन प्राप्त होता है और राजा महाराजा या सम्मानित पुरोहित कभी कभी बहुविवाह कर लेते थे।[३] बहुविवाह का अर्थ है नारियो का पिसना। पर साथ ही अनेक ब्याह करने पर आधुनिक युग म जिस प्रकार कोई व्यक्ति परेशान हो सकता है ठीक उसी प्रकार ऋग्वैदिक काल मे भी बहुविवाह करने वाला कौटुम्बिक कलह से परेशान रहता था।[४] बहुविवाह केवल उच्च वर्ग (राजा-महाराजा या बडे पुरोहितो) मे ही प्रचलित था। अत साधारण नारियाँ इसके कुप्रभावों से मुक्त थी।

नारी-जीवन का दूसरा अभिशाप वैधव्य है। जिस समाज में विधवाओ को ब्याह करने की अनुमति नही दी जाती, उसम न केवल नारियो के साथ अन्याय किया जाता है वरन समाज मे दुराचार का विष बोने का जानबूझ कर प्रयास किया जाता है। ऋग्वैदिक काल हमारे आज के इस सभ्य हिन्दू समाज से इस विषय म कहीं आगे

१ ऋग्० ४।५८।६।।
२ ऋग्० १०।८५।४३ ४६।।
३ ऋग्० १।६१।११।।१।७१।१।।७।१८।२।।७।२६।३।।
४ ऋग्० १।१०५।३।।१।१०५।८।।

बढ़ा था। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों से विधवा-जीवन का कारुणिक दृश्य तथा उनसे सम्बन्धित कृत्यों का बोध होता है। एक मन्त्र में इस प्रकार का वर्णन है—

"उठो स्त्री! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो चुका है। अपने पति से दूर हट कर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे ब्याह करने को तैयार है।'[1] उक्त मन्त्र से यह तो ज्ञात हो जाता है कि विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु पति के शव के पास श्मशान में बैठी हुई नव विधवा से तुरन्त उसी समय कोई वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने और हाथ पकड़ने को तैयार हो जाता है, यह वस्तु कुछ खटकती है—खटकती इसलिये है कि यह कार्य ठीक शव दाह के समय होने जा रहा है। वास्तविकता जो भी हो—चाहे विधवा अपने पति की मृत्यु के शीघ्र पश्चात ब्याह कर लेती हो या कुछ काल पश्चात् करती रही, पर विधवा विवाह की मनाही नहीं थी।

विवाह प्रथा के सम्बन्ध में एक वस्तु और भी महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के एक मन्त्र से ऐसा ज्ञात होता है कि दहेज प्रथा भी प्रचलित थी।[2] पर जहां वैवाहिक सम्बन्ध सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई थी[3], वहां इस प्रकार का पनपना कुछ कठिन-सा होता है।

दैनिक जीवन—दैनिक जीवन के अन्तर्गत हम आर्यों की वेश भूषा, उनके रहन सहन, खान-पान, आमोद प्रमोद आदि का अध्ययन करेंगे।

आर्य तीन प्रकार का वस्त्र धारण करते थे। 'नीवी' (जो नीचे की धोती थी), दूसरा 'वास'[4] और तीसरा 'अधिवास'[5] था। ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग वे भली-भांति जानते थे। धनवान, सोने के काम के रंगीन वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर वे विशेष वस्त्र धारण करते थे। ऐसे अवसरों पर वे 'सुनहरे आभूषण' भी पहनते थे।[6] आभूषणों में कुण्डल, हार, अंगद, वलय, गजरे आदि मुख्य थे।[7] 'प्रेमियों का चित्त प्रसन्न करने में (नारियां) कुशल होती थीं'।[8] इससे यह ध्वनित होता है कि नारियाँ सजावट, शृंगार आदि से पूर्णतया परिचित ही नहीं थीं, वरन् वे उसमें दक्ष भी थीं। वे अपने बालों को कंघी से संवारती थीं और तैल (सम्भवत सुगंधित तैल) से उन्हें बनाती थीं। कुछ पुरुष भी बड़े-बड़े बाल रखते थे और उन्हें संवारते थे।[9] दाढ़ी रखने की भी प्रथा थी।[10] किन्तु कुछ लोग दाढ़ी

१ ऋग्० १०।१८।८॥१०।४०।२॥से भी विधवा विवाह का प्रमाण मिलता है।
२ ऋग्० १।१०६।२॥
३ ऋग्० १०।२७।२२॥
४ ऋग्० १।३४।१॥
५ ऋग्० १।१४०।६॥
६ ऋग्० ७।३१।५—८॥
७ 'कर्णशोभन' (कुण्डल ऋग्० ८।७८।३॥) 'निश्क-ग्रीव (नेकलस ऋग्० २।३३।१०॥), 'मणिग्रीव' हार-सा कोई आभूषण (ऋग्० १।१२२।१४॥)
८ ऋग्० १।१२३।१०॥
९ वशिष्ठ के चूड़ा करने का प्रमाण ऋग्० १।१७३।६॥ तथा ७।३३।१॥ से प्राप्त होता है।
१० ऋग्० २।११।१७॥

बनवाते भी थे।[1] सम्पूर्ण आर्य जाति स्वच्छ जीवन बिताना चाहती थी, अत स्वच्छता का इन्हें सदैव ध्यान बना रहता था। ऋग्वेद में एक स्त्री के चार वेणी (चोटी) करने का उल्लेख आया है।"[2]

आर्यों के भोजन मे दूध का महत्वपूर्ण स्थान था।[3] दही[4] तथा घृत[5] का भी ये भली भाँति उपयोग करते थे। 'क्षीर पकम्-ओदकम्' (दूध मे पका हुआ अन्न) का भी प्रयोग मे किया करते थे और एक प्रकार का पनीर भी पीते थे।[6] ये रोटियाँ और चावल घी के साथ खाते थे।[7] ये मांसाहारी भी थे और सम्भवत बलि में मारे गये पशुओं, भेड़-बकरी का मास खाते थे। गाय को उन्होंने 'अवघ्न्या' (ऋग्वेद ८।१०।१।१५—१६।।) घोषित कर दिया था। अत उसका वध नहीं किया जाता था। ऋग्वेद ८।२। १२ से यह ज्ञात होता है कि 'सुरा पीने से कभी-कभी समाज मे दुराचार हो जाता था। अत इसे वर्जित कर दिया गया।'[8] इनका सबसे मधुर पेय पदार्थ 'सोम' या सोमरस था जिसका गुणगान और उसके प्राप्ति-स्थलों, रासायनिक उत्पादन आदि का विस्तृत वर्णन हमे ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवें मडल म प्राप्त होता है।[9]

आर्यों के आमोद प्रमोद पर भी ऋग्वेद से पर्याप्त प्रकाश पडता है। रथदौड, घुडदौड, नृत्य तथा सगीत उनके आमोद प्रमोद के प्रमुख साधन थे। दौड, उसके क्षेत्र की नाप आदि का पूर्ण विवरण हमे ऋग्वेद ५।३७।७।।८।४१।४।।८।८०।८।। आदि से प्राप्त होता है। ऋग्वेद २।२६।६ से हमे ज्ञात होता है कि जुआरी पुत्र पिता द्वारा दण्डित किया जाता था। अत जुआ खेलने की प्रथा भी प्रचलित थी। पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनो नृत्य करते थे।[10] वाद्य-यन्त्रो का भी सुन्दर प्रयोग ये भली भाँति जानते थे। दुदुभी (ऋग्० १।२८।५।।), कर्करी (ऋग० २।४३।३।।), वण (ऋग्० १।८५।१२। ४।।), नाडी (ऋग्० १०।१३५।७।।) आदि का भी उल्लेख किया गया है।

आर्थिक अवस्था

आर्यों की सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात हम उनकी आर्थिक व्यवस्था पर एक विहगम दृष्टि डालेंगे। जैसा कि अन्य प्रारम्भिक सभ्य देशो मे कृषि, गृह-उद्योग धन्धे तथा छोटे-बडे पैमाने पर व्यवसाय जीवन-यापन का साधन रहा है, उसी प्रकार भारत मे भी मनुष्यो का उद्यम कृषि, पशु-पालन, घरेलू उद्योग धन्धे तथा व्यापार था। सुविधा के लिये इनका पृथक पृथक विवेचन किया जायगा।

पशुपालन—आर्यों की आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार पशुपालन था। साँड तथा बैलो से हल जोतने का काम लिया जाता था। ये अन्नागार तथा खाद्यान्न ढोने

१ ऋग्० ८।४।१६।। मे छुरा' के पत्थर पर तेज करने का उल्लेख है।
२ ऋग० १०।११४।३।।
३ 'क्षीर' ऋग० १।१०६।३।।
४ 'दधि' ऋग्० ८।२।६।।
५ ऋग० १।१३४।६।।
६ ऋग० ६।४८।१८।।
७ ऋग्० १०।४५।६।।
८ ऋग्० ७।८६।६।।
९ ऋग० १।६३।६।।३।५३।४।।६।६५।२५।।१।१०६।३।।६।६६।८।।६।७४।६।। आदि
१० ऋग्० १०।१४६।२।।

तथा अन्य सामान ढोने के लिये गाड़ी खींचने के काम में भी लाये जाते थे। इनके अन्य पालतू पशुओं का उल्लेख हमें ऋग्वेद ५।१५।६॥८।२२।२॥७।५५।३॥ से प्राप्त होता है जिसमें भेड़, बकरा, गदहे तथा कुत्ते प्रमुख हैं। इसी प्रकार चारागाह ('गोष्ठ' ऋग्० १।१६१।४॥), चरवाहा ('गोपाल' ऋग्वेद १०।६०।३॥) का भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। स्वामित्व के चिह्न के लिये पशुओं के कानों पर चिह्न बना दिया जाता था।[1] ऋग्वेद १।६१।२३॥ से यह ज्ञात होता है कि पशु-हरण भी हुआ करता था। गोधन को 'सारे कल्याणों का जोड़' मानते थे। घोड़े का महत्त्व भी उन दिनों काफी था। ये रथ संचालन के काम में लाये जाते थे।

कृषि—पशुपालन के पश्चात् कृषि का ही स्थान आता है। 'कृषि' को ऋग्वेद में काफी महत्त्व प्रदान किया गया है। कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम पेशा था। प्रमाणस्वरूप वे 'कर्षण' शब्द को लेते हैं। कर्षण के लिये भारतीय आर्य, ईरानी आर्य दोनों 'कृषि' धातु का प्रयोग करते थे। अतः इससे यह परिलक्षित होता है कि इन दोनों शाखाओं के पृथक् होने के पूर्व भी कृषि-वृत्ति इनमें प्रचलित हो चुकी थी। बैलों द्वारा हल जोता जाता था। उस समय आजकल की भाँति केवल दो बैलों से हल नहीं जोता जाता था, अपितु ६,८ या ११–१२ बैलों तक को हल खींचने के काम में लाया जाता था।[2] ये 'यव' तथा 'धान्य' की खेती करते थे।[3]

पानी की कमी पड़ने पर सिंचाई भी की जाती थी। पशुओं तथा मनुष्यों के पृथक्-पृथक् कुओं का उल्लेख ऋग्वेद १०।१०१।७॥ में किया गया है। कुएँ से पानी निकाल कर एक बड़े ताल या नहर में सिंचाई के लिये भरा जाता था।[4] 'कुल्या' तथा झीलों से भी सिंचन कार्य के लिये जल प्राप्त किया जाता था।[5]

वे खाद का भी प्रयोग जानते थे, उसको 'करिष' कहते थे। इस प्रकार भली-भाँति जुताई-बुआई करके तथा खाद द्वारा खेतों की उर्वरता बढ़ाकर और सिंचाई के समुचित साधन एकत्रित करके ऋग्वैदिक काल के मनुष्य काफी अच्छी फसल तैयार करते थे। फसल तैयार हो जाने के पश्चात् उसे 'सृनी' या हँसिया से काटते थे और उसका गट्ठर या बोझ बनाते थे।[6] ऋग्वेद १०।४८।७॥ तथा १०।७१।२॥ से यह होता है कि वे अन्न को रौंदकर डंठल से अलग कर लेते थे और फिर उसे ओसाते थे। ओसानेवाले को 'धान्यकृत' कहते थे।[7] कृषि को क्षति पहुँचानेवाले कीड़े-मकोड़ों पक्षियों आदि का भी उल्लेख ऋग्वेद १०।६८।१॥ में किया गया है। कभी-कभी अना-वृष्टि तथा अतिवृष्टि से भी कृषि को क्षति पहुँच जाती थी।

आखेट[8]—कृषि तथा पशुपालन के पश्चात् इनका अन्य उद्यम आखेट भी था। पर ऐसा ज्ञात होता है कि आखेट केवल निम्न वर्ग के लोग करते रहे होंगे। कम

१ ऋग्० ७।२८३॥
२ ऋग्० ८।६।४८॥१०।१४॥
३ ऋग्० १।११७।२१॥६।१३।४॥
४ ऋग्० ८।६९।१२॥
५ ऋग्० ३।४५।३॥१०।९९।४॥
६ ऋग्० ८।७८।१०॥१०।१०१।३॥
७ ऋग्० १०।९४।१३
८ आखेट-सम्बन्धी विवरण के लिये देखिए ऋग्वेद ३।४५।१॥, ६।८३।४॥१०।५१।६॥१०। २८।१०॥ आदि

से कम आहार के लिये या यो कहिये कि जीवन-यापन के लिये तो केवल निम्न वर्ग के लोग ही आखेट करते रहे होंगे। धनुष-बाण, जाल, फंदा आदि इनके आखेट सम्बन्धी हथियार थे। शेर को गड्ढे मे गिरा कर उसे पकड़ते थे।

गृह उद्योग या दस्तकारी—विभिन्न प्रकार की दस्तकारी भी उस समय होती थी। बढ़ई या 'तक्षण' की उन दिनों काफी पूछ थी। यह रथ तथा गाड़ियाँ बनाता था।[1] वह लकड़ी पर सुन्दर नक्काशी भी करता था।[2] इसके बाद 'कमकार' या लुहार को स्थान दिया गया है। कर्मकार के कार्यो एव विधियो का पूर्ण ज्ञान हमे ऋग्वेद १०।७२।७॥५।६।५॥६।११२।२॥५।३०।१५॥६।१।२॥ से होता है। 'हिरण्यकार' या सुनार 'हिरण्य' से आभूषण बनाता था।[3] ऋग्वेद से हमे यह भी ज्ञात होता है कि सिंधु जैसी नदियो से सोना प्राप्त किया जाता था। इन्हे 'स्वर्ण निक्षरणी' कहा गया है।[4] पर कभी-कभी यह धरती से खोद कर भी निकाला जाता था जैसा कि ऋग्वेद १।११७।५॥ से ज्ञात होता है। चमकार भी विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनाता था। उन्हे चमड़ा पकाने की कला का भली प्रकार ज्ञान था। कताई-बुनाई के काम मे भी ये पूर्ण दक्ष थे। बिनाई का काम बहुधा स्त्रियाँ ही करती थीं।[5]

विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धो के करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त थी जैसा कि पिछले पृष्ठ मे हमने उल्लेख किया है, 'मैं कवि हूँ मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पिसनहारिन है।'

व्यापार—उस प्राचीन युग मे भारतीय आर्यों ने इस क्षेत्र मे जो उन्नति की, वह उनके सीमित साधनो को देखते हुए पर्याप्त थी। देशीय तथा अन्तर्देशीय दोनो व्यापारो मे ये लोग लगे हुए थे। पहले हम उनके धन, मूल्य तथा विनिमय के साधनों पर ध्यान देंगे।

आर्यों ने सिक्को का निर्माण नही किया था। कुछ विद्वानो ने 'निष्क' को सिक्का माना है[6], पर यह किसी प्रकार का एक छोटा आभूषण था। विनिमय द्वारा ही इसका व्यापार होता था। ऋग्वेद मे इन्द्र की एक मूर्ति का मूल्य १० गायें लिखा है।[7]

ऋग्वेद में व्यापारी को 'वणिक' कहा गया है।[8] ऋग्वेद मे एक स्थल पर सौदा तय करने के 'आगा पीछा' का वर्णन भी आया है और यह भी उल्लिखित है कि जो सौदा एक बार तय हो गया, उसका निवहण करना आवश्यक था।[9] ऋण का भी विवरण ऋग्वेद मे प्राप्त होता है।[10]

१ ऋग० ६।११२।१॥ तथा ३।३३।६
२ ऋग्० १०।८६।५॥
३ ऋग० १।१२२।२॥
४ ऋग० ६।६१।७॥
५ ऋग० १।६२।३॥
६ ऋग्० १।१२६।२॥ में १०० निष्क' तथा १०० स्तदियां' के दान का उल्लेख आया है।
७ ऋग्० ५।२१।३॥
८ ऋग० १।१२२।११॥
९ ऋग० ५।२४।१०॥
१० ऋग० २।२७।४॥१०।३४।१०॥८।४७।१७॥

ऋग्वेद ७।६५।२।। में 'समुद्र' का प्रयोग किया गया है जिसका ध्वन्यार्थ महासागर से है। इनके सामुद्रिक व्यापार के सम्बन्ध में हम ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों को सम्मुख रख सकते हैं।[1] ऋग्वेद १।११६।३ में भुज्यु की कथा है जो कहीं सुदूर असहाय, परेशान पड़ा है क्योंकि उसका जलयान टूट गया है। यद्यपि कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं क्योंकि आर्यों को ऋग्वैदिक काल में सामुद्रिक यात्रा का ज्ञान प्राप्त हो चुका था, तथापि उपरोक्त साक्ष्य के आधार पर—हमें यह स्वीकार करना कि वे सामुद्रिक यात्रा करते थे, तर्कसंगत जान पड़ता है।

विभिन्न उद्योग धन्धों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री विनिमय द्वारा पुर या गाँव में होती थी। आन्तरिक व्यापार बहुधा गाड़ियों से होता था। चूँकि पशु ही धन थे अतः विनिमय द्वारा प्राप्त पशुओं को लाने में कुछ कठिनाई का बोध करके लोग अड़ोस-पड़ोस से ही व्यापार करते रहे होंगे। ऋग्वेद में तो धन की परिभाषा बड़ी 'विस्तृत' है। उसमें पशु को धन माना गया है।[2] अश्व को धन बताया गया है।[3] इसी प्रकार 'वीर' को भी धन की संज्ञा दी गई है और योग्य पुत्र को भी धन बताया गया है।[4]

उपरोक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वैदिक काल में आर्थिक विषमता न थी और लोग सुखमय जीवन बिताते थे।

धार्मिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल भारतीय आर्यों का वह प्रभात काल है जब उन्होंने आध्यात्मिक जगत में प्रथम पदार्पण किया था। पर इस प्रारम्भिक काल में ही इन्होंने इतनी अधिक उन्नति कर ली थी कि उनकी मान्यताएं, उनकी आस्थायें आज तक अकाट्य हैं। निश्चय ही आध्यात्मिक क्षेत्र की इस महती उन्नति के पीछे शताब्दियों की शिक्षा और योग्यता है जिसके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। शिक्षा के अभाव में किसी भी विकसित धार्मिक आस्था का होना असम्भव है। अतः हम सर्वप्रथम ऋग्वैदिक कालीन शिक्षा पर प्रकाश डाल लेना आवश्यक समझते हैं।

शिक्षा—अपने विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित थाती को सँजोये रखने के लिये शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक समाज को पड़ती है। उस प्राचीन काल में भी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिये शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य था। विभिन्न प्राचीन सभ्य देशों से लगभग भिन्न शिक्षा-पद्धति भारत में प्रचलित थी। यहाँ प्रत्येक ब्राह्मण का घर ही पाठशाला तथा प्रत्येक ब्राह्मण शिक्षक था। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहाँ जान-बूझ कर केवल इसलिये किया गया है कि यह शब्द अध्यापक, गुरु, पण्डित आदि का द्योतक है। अपने घर में अध्यापक विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। ये विद्यार्थी और कोई नहीं स्वयं अध्यापक के पुत्र, प्रपौत्र, भतीजे आदि होते थे। इस प्रकार इसे हम कौटम्बिक शिक्षा पद्धति कह सकते हैं। ऋग्वेद में कहीं भी लिखने का उल्लेख नहीं किया गया है। वेद के मन्त्र रटे जाते थे, विद्यार्थी द्वारा अध्यापक के कथित

१ ऋग्० १।४८।३॥८।६७।४४॥१।४७।६॥ आदि
२ ऋग्० ५।४।११॥
३ ऋग्० ६।४१।५॥
४ ऋग्० २।११।१५॥

शब्दों की पुनरावृत्ति का उल्लेख एक मन्त्र मे प्राप्त होता है।[१] उच्चारण आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता था। पाठ-सम्बन्धी नियम भी कुछ मन्त्रो मे दिये गये है[२] और अन्यत्र यह बताया गया है कि विश्वामित्र का वैदिक पाठ कितना प्रौढ था।[३] पर हम शिक्षा की प्रमुख पद्धति 'तप' को ही मान सकते हैं। तप या तपस्या द्वारा आत्मशिक्षण सम्भव हो सकता था। विद्यार्थी स्वय ज्ञानार्जन के लिये प्रयास करते थे और गुरु की सहायता आंशिक रूप मे आवश्यक थी। विद्यार्थी के आत्म शिक्षण का प्रमाण हमें ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो से प्राप्त होता है।[४] आत्मानुभूति के लिये विद्यार्थी तप करते थे जिससे वे मुनि, विप्र आदि पद को प्राप्त करते थे।[५] ऋग्वेद मे हमे कुछ ऐसा सकेत भी प्राप्त होता है जिससे पाठशाला की-सी कोई सस्था थी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि एक स्थान पर यह बताया गया है कि विद्यार्थी दादुरो की भाँति पढते थे।[६]

उपरोक्त विवरण से हमे यह ज्ञात होता है कि शिक्षा का यह प्रारम्भिक रूप भी अत्यन्त ठोस था। वैदिक मन्त्रो को कठाग्र किये बिना किसी प्रकार काम चल ही नही सकता था अत उनके लिये दूसरी कोई शिक्षा-पद्धति उपयोगी नही सिद्ध होती।

देवता—ऋग्वैदिक काल की धार्मिक अवस्था का अध्ययन उनके देवताओ से आरम्भ करना ही अधिक सुगम होगा। अत हम पहले उन पर प्रकाश डालेंगे।

मनुष्य उस आदि काल मे प्रकृति के कितना निकट था इसका उदाहरण हम प्रागैतिहासिक काल की सभ्यताओ का अध्ययन करते समय प्राप्त हुआ था। आर्यों ने भी इस प्रारम्भिक काल मे सर्वप्रथम प्रकृति की उपासना आरम्भ की थी। प्रकृति ने उन्हें अधिक प्रभावित किया और जिस शक्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया, उसका महत्व अधिक बढ गया। ऋग्वेद मे कुल ३३ देवता माने गये हैं। इनमे सबसे श्रेष्ठ इन्द्र, अग्नि तथा सोम है। इन्द्र के लिये २५०, अग्नि के लिये २०० तथा सोम के लिये १०० से अधिक मन्त्र रचे गये हैं। द्यौ और पृथ्वी[७] को जगत्माता पिता कहा गया है और ६ मन्त्रो मे इनका गुणगान है। इसी प्रकार वर्षा के देवता 'पर्जन्य' तथा परलोक के देवता 'यम' का भी उल्लेख तीन-तीन मन्त्रो मे किया गया है। प्राचीन सभी सभ्य देशों मे सूर्य देवपद पाता रहा। भारत मे भी इसको देवत्व प्राप्त हुआ था और सम्भवत अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा स्थान दिया गया था। सूर्य की पूजा उसके लगभग पाँच अंशो मे की जाती थी (१) सूर्य अपने वास्तविक रूप मे, (२) सवितृ जिसकी प्रार्थना मे सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र है।[८] (३) पूषण जो सूर्य की सवर्धन शक्ति का द्योतक है। (४) इसका एक अंश मित्र भी था। मित्र की आराधना ईरान मे भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी। (५) विष्णु भी सूर्य का ही एक अंश माना जा सकता है क्योंकि उसके सम्बन्ध

१ प्राचीन आर्यों की धार्मिक अवस्था के विशेष अध्ययन के लिये ब्लूमफील्ड महोदय की *Religion of the Rigveda* देखिये।

२ ऋग० ७।१०३।५।।

३ ऋग० ३।५३।१५।।

४ ऋग० १०।१०६।४।१०।१५४।२।।१०।१६०।१।। आदि।

५ ऋग० १०।१३६।२।।१।१२६।२।।५।२६।१।।

६ ऋग० ७।१०३।५।।

७ "स्वग एव धरा" ऋग० १।१४३।२।।

८ ऋग० ३।६२।१०।।

मे यह कहा गया है कि वह 'तीन छलांग भरता है'। इसी द्रुतगति के आधार पर ऐसा अनुमान लगाया गया है कि वह भी सूर्य का एक अंश था। पर कालान्तर मे यह एक स्वतन्त्र देवता हो गया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवता भी अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इनमें द्यौ की पुत्री तथा प्रभात की पुनीत देवी उषा प्रसिद्ध है जिसके लिये अनेक सुन्दर मन्त्रों की रचना हुई थी। कुछ सुन्दर ऋचाएँ नीचे दी जा रही हैं—

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिव ।
सह द्युम्नेन् बृहता विभावरि राया देवि दास्वती। (ऋग्० १।४८।१।।)

अर्थात् "हे देवकन्यके उषा! धनसहित हमारे लिये प्रभात करो। विभावरी उषा काल देवता, प्रभूत अन्न देकर प्रभात करो। देवी! दानशीला होकर पशु-रूप-धन के साथ प्रभात करो।"

अगले छठे मन्त्र (मण्डल वही) मे उषा की शक्ति तथा उसके गुणो का सकेत मिलता है—

वि या सृजति समन व्यर्थिन पद न वेत्योदति
वयो नकिष्टे पप्तिवास आसते व्युष्टौ वाजिनीवति।

अर्थात "सम्यक प्रयत्नशील व्यक्ति को तुम (उषे) काम मे नियुक्त करती हो। भिक्षुओ तक को तुमसे प्रेरणा मिलती है। तुम नीहार वर्षी हो और अधिक क्षण तक नही ठहरती। अन्नयुक्त यशसम्पन्न, उषा तुम्हारा आगमन जानकर उड़नेवाले पक्षी अपने घोंसला मे बैठे नहीं रह सकते।"

उपरोक्त मन्त्र 'ससार मे प्रकृति-काव्य और प्रीति काव्य का पहला नमूना है।'[1]

द्यौ मे दूसरे पुत्र अश्विन हैं। ये सदा तरुण और सुन्दर रहते हैं। रुद्र का नाम भी इन देवताओ मे विशेष उल्लेखनीय हैं। आगे चल कर ये शिव का रूप धारण कर लेते हैं। मरुत रुद्र के पुत्र माने गये जो अत्यन्त भयकर और मतवाले थे। वायु और वात भी रुद्र की भांति जीवन-वर्धक देवता थे।

ऋग्वेद-काल मे महत्त्वपूर्ण देवता इन्द्र पर कुछ अधिक प्रकाश डाल देना विषयेतर न होगा। इन्द्र को शत्रु-हन्ता या शत्रु-विनाशक शक्तियो से युक्त माना जाता रहा होगा तभी तो उनसे बार-बार शत्रुओ का नाश करने की प्रार्थना की गई है। देखिये—

(१) इन्द्र वय महाधन इन्द्रम मे हवामहे। युजवृत्रेषु वज्रिणम। (ऋग्० १।७।५।।) अथवा (२) इन्द्र त्वोतास आ वय वज्र घना ददीमहि। जयेमसयुधि स्पृध (ऋग्० १।८।३।।) अर्थात् (१) "इन्द्र हमारे मित्र और सहायक हैं जो शत्रुओ के लिये वज्र धारण करते हैं। अत हम धन और और प्रभूत धन के लिये इन्द्र का आह्वान करते हैं।"

(२) "हे इन्द्र! तुमसे रक्षित होकर हम कठिन अस्त्र धारणकर द्वेष रखने वाले शत्रु को पराजित करेंगे।"

इसी प्रकार अन्य ऋचाओ से भी इन्द्र की शत्रु हनन शक्ति का बोध होता है।[2]

१ डॉ० बेनीप्रसाद, 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता', पृष्ठ ६३
२ ऋग्० १।८।४।।

वरुण याय के देवता मान गये हैं। इनका निवास स्थान आकाश माना गया है। इनसे न्याय तथा साथ ही दया की प्रार्थना अनेक मन्त्रों में की गई है। कुछ उदाहरण देखिये—

'हे वरुण देव! हमारे पूर्वजों द्वारा किये गये अपराधों को भी क्षमा करो। व्यक्तिगत रूप से किये गये मेरे अपराधों को भी क्षमा करो। हे वरुणराज, वसिष्ठ को तरह अपने खूंट से गाय के बछड़े को मुक्त करो, अपहृत पशु का भोजन करने वाले चोर को जो दण्ड मिलता है उससे मुक्त करो।

"हे वरुण देव! यह सारा अपराध अनजान ही हम से बन पड़ा है। प्रमाद अथवा सुरा, क्रोध अथवा द्यूत या अविवेक के कारण अपराध हुआ है। बड़ा भाई भी कभी कभी छोटे को पथ भ्रष्ट कर देता है। अपराध तो हमसे स्वप्न में भी हो जाया करते हैं।"

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण ऋग्वेद में उपलब्ध हैं जिनमें वरुण देवता का रूप एक न्यायाधीश की भाँति आया है। उनसे अपराधों का क्षमा करने की प्रार्थना की गई है और कभी कभी उनसे अपराध भी पूछा गया है और इस प्रकार उनके अप्रसन्न होने का कारण पूछा गया है।

उपरोक्त विवरण से हम ऋग्वैदिक काल से मनुष्यों की धार्मिक स्थिति का बोध हो जाता है और इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि इनके धर्म में बहुदेववाद और प्रकृति उपासना का समन्वय है। यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह प्रकृति-पूजा अपने स्थूल रूप में न होकर लाक्षणिक थी। प्रकृति (बिजली, महान सागर, भयंकर आँधियाँ अग्नि आदि) की शक्ति का साक्षात्कार मानव को सर्वप्रथम हुआ। अतः इसी शक्ति में उन्होंने देवताओं को आरोपित किया होगा। इस प्रकार, इनका धर्म प्रकृति पूजा पर आधारित बहुदेववाद था।

एकेश्वरवाद

ऋग्वेद काल में या यों कहें कि ऋग्वेद में एकेश्वरवाद की ओर जो स्पष्ट संकेत किया गया है[१], वह भी इनकी आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है। इन सारे देवताओं के परे उन्होंने एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जो सर्वोपरि है और समस्त सृष्टि की जन्मदात्री है। वह सर्वोपरि शक्ति और कुछ नहीं ईश्वर है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से यह स्पष्ट हो जायगा—

"सृष्टिकर्ता वास्तव में महान है, वही सबका सृजन तथा पालन करता है, सबके ऊपर उसी का अनुशासन है। भाग्यशाली लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति उस लोक में पाते हैं जहां पुरुष सप्तर्षियों के परे निवास करता है।'

उपरोक्त मन्त्र में ईश्वर की शक्ति उसके निवास स्थान का जो संकेत प्राप्त होता है वह प्राचीन आर्यों के एकेश्वरवाद का पुष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार दसवें मण्डल में द२वाँ मन्त्र का संकेत भी इसी ओर है।

ऋग्वैदिक आर्य इस प्रकार एकेश्वरवाद में निष्ठा रखते थे। ऋग्वैदिक ऋषि एक स्वर से यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि सत एक ही है"[१], विद्वान उसे अग्नि, यम और मातरिश्वा इत्यादि विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। उनके अनुसार इन

१ ऋग्० १।१६४।४६॥

विभिन्नताओं के मध्य 'सत' का ज्ञान ही आत्मा का विज्ञान है। बाह्य रूप से भिन्न जीवों की आत्मा एक है। इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों ने जहाँ बाह्य रूप से बहुदेववाद का अनुगमन किया वहाँ आभ्यन्तरिक दृष्टि से वे एकेश्वरवाद और एकात्मवाद में भी निष्ठा रखते थे।

स्तुति और यज्ञ—प्रकृति पूजकों की प्रकृति पूजा की धारणा बहुधा प्राकृतिक शक्ति से भयभीत होकर प्राप्त होती है, उस भयानक शक्ति से अपनी रक्षा के निमित्त वे उसे देवता का रूप देते हैं, पर प्रकृति की महान् शक्तियों वरुण, मरुत, सूर्य आदि की पूजा आरम्भ करने में इसी भय का हाथ है ऐसा आर्यों के लिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऋग्वेद में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनसे हमें देवताओं और मनुष्यों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का बोध होता है। उनके देवता उनके मित्र, पिता, रक्षक आदि थे। वे उनके शत्रुओं से उनकी रक्षा करते थे। इस सम्बन्ध की अनेक ऋचाओं का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अग्निदेव को रक्षक घर का मालिक तथा निकट सम्बन्धी तक घोषित किया गया है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर अग्नि को कृपाशाली मित्र, पिता, भ्राता, पुत्र तथा सबका पालक बतलाया गया है।[1] अग्नि को गृहपति भी कहा गया है।[2] इसी प्रकार इन्द्र को भी पिता-सा माना गया है। एक ऋचा में ऋषि कहता है कि हे इन्द्र! पिता की भाँति तुम हमारी बात सुनो।[3] सम्पूर्ण देवताओं में प्रेम भाव विद्यमान था ऐसा हमें ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से ज्ञात होता है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि जो देवताओं से प्रेम करते हैं उनसे देवता भी प्रेम करते हैं।[4] सोम को प्रेमी माना गया है[5] तथा अन्यत्र कोई-कोई ऋषि देवताओं को अपना प्रेमी मानते हैं।[6]

ऐसी ही अनेक ऋचायें हैं जिनके आधार पर कुछ विद्वानों ने भारतीय धर्म साधना की एक प्रमुख पद्धति भक्ति का बीज ऋग्वेद में निहित पाया है।

अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिये प्रार्थनायें करते थे। दूध, घृत, सोम रस तथा अन्य खाद्यान्न चढ़ाते थे। यज्ञों की भी प्रधानता रही जो प्रत्येक घर में होता था। किन्तु यज्ञों में कहीं भी मनुष्य बलि का उल्लेख नहीं है। हाँ, अश्वमेध यज्ञ में अश्व-बलि के उदाहरण अवश्य मिलते हैं।

नैतिक आदर्श—ऋग्वैदिक कालीन आर्यों के नैतिक आदर्शों पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। ऋग्वेद में नैतिक आदर्शों पर काफी जोर दिया गया है। नैतिक आदर्श मानव-मानव के निकटतम सम्बन्धों को सुन्दरतम बनाने में सहायक होते हैं। ऋग्वेद में उल्लेख किया गया है कि देवता मित्रवरुण अनृत को जीत कर ऋत का पालन करते हैं।[7] अन्यत्र इस बात का भी उल्लेख है कि वरुण स्वभावतः अनृत से घृणा करते हैं और ऋत की वृद्धि करते हैं।[8] देवता ऋत में पैदा होते हैं ऋत को

१ ऋग्० १।९४।१४।२।१।९।६।१।५॥
२ ऋग्० ५।१।५॥५।६।८॥८।४६।१९॥
३ ऋग्० १।१०४।९॥
४ ऋग्० ४।२३।५–६॥
५ ऋग्० ८।६८।७॥
६ ऋग्० ६।२५।१॥८।४७।२॥
७ ऋग्० ७।६६।१३॥
८ ऋग्० ७।६६।१०॥

पालते हैं और बढाते है, अनृत से बडी घृणा करते हैं ।[1] ऋत की रक्षा के लिये मनुष्यो पर देवता कितना ध्यान रखते है इसका भी उदाहरण हमें प्राप्त होता है । एक मन्त्र म कहा गया है कि ऋत की वृद्धि के लिये मित्र वरुण मनुष्यो पर वैसी ही दृष्टि रखते हैं जैसे गडेरिया अपने भेडो पर ।[2] चरित्र की शुद्धता पर ऋग्वैदिक काल म काफी जोर दिया गया था । ऋग्वेद (५।४४।३।।८।६३।५।।) आदि मन्त्रो से यह ज्ञात होता है कि मनुष्यो के चरित्र निरीक्षण के लिये देवताओ ने निरीक्षक नियुक्त किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद (१।१४७।५।।१०।६।५।।) आदि से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि झूठ को अत्यधिक घृणित समझा जाता था क्योंकि उक्त मन्त्रो म झूठ की काफी निन्दा की गई है । इसी प्रकार ऋग्वेद म एक स्थल पर उपासक वरुण से यह प्रार्थना करता है कि 'हे देव ! यदि हमने अपने किसी सुहृद के प्रति पाप किया हो, अपने किसी मित्र या सहयोगी का अहित किया हो अथवा अपने साथ रहने वाले किसी पडोसी अथवा अपरिचित को कष्ट पहुँचाया हो तो हम इस पाप से आप मुक्त करें ।' प्राचीन आर्यों मे अतिथि सत्कार का बहुत बडा महत्व था । प्राचीन भारतीय सभ्यता के पोषक भारतीय ग्रामो म आज भी इसका काफी महत्व है । यद्यपि आधुनिक भौतिकवादी युग म यह क्रमश समाप्तप्राय है । ऋग्वेद म अग्निदेव को अतिथि के नाम से सबोधित किया गया है ।[3] इसी प्रकार राजा दिवोदास अतिथियो की इतनी अधिक सेवा करता था कि उसे अतिथिग्व की उपाधि प्रदान की गई थी ।[4] अन्यत्र यह उल्लेख किया गया है कि घर का सर्वोत्तम कमरा अतिथि के लिये दिया जाता था ।[5]

राजनीतिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल की राजनैतिक अवस्था का अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न लिखित भागो म विभक्त कर सकते है —

(१) कुटुम्ब ('गृह' या 'कुल')
(२) ग्राम
(३) विश
(४) जन तथा
(५) राष्ट्र ।

नीचे इन पर पृथक पृथक् प्रकाश डाला जायगा ।

कुटुम्ब—ऋग्वैदिक काल की सामाजिक अवस्था का वर्णन करते समय यह बताया गया है कि उनका कौटुम्बिक जीवन काफी सुसगठित था । यही कुटुम्ब शासन की भी न्यूनतम इकाई था । कुटुम्ब का बडा-बूढा गृहपति होता था । प्रत्येक कौटुम्बिक समस्या का समाधान इसी के हाथ मे रहता था । कुटुम्ब बहुधा बडे-बडे होते थे ।

ग्राम—कई कुटुम्बो का एक जगह बस जाना तथा इस प्रकार उस स्थान की आबादी का बढ जाना राजनीतिक क्षेत्र मे कुछ नई आवश्यकताओ का कारण बन गया । प्रत्येक कुटुम्ब की व्यवस्था के लिये तो कुटुम्ब विशेष का गृहपति पर्याप्त था

---

१ ऋग्० ४।२५।४३।।
२ ऋग्० ७।३।५।।
३ ऋग्० १।५।१६।।१।११३।१४।२।२६।३।। आदि ।
४ ऋग्० १।७३।१।।
५ ऋग्० ५।८५।७।।

किन्तु अनेक कुटुम्बो की सम्मिलित व्यवस्था के निरीक्षण के लिये किसी अन्य पदाधिकारी एवं एक दूसरे संगठन की आवश्यकता थी। अतः कुटुम्बों के इस गिरोह का ग्राम[1] कहा जाने लगा और ग्राम के अधिकारी को 'ग्रामणी'[2] कहते थे। 'ग्रामणी' की निर्वाचन पद्धति क्या थी इस विषय पर कोई प्रकाश ऋग्वेद से नहीं पड़ता है। अतः यह कहना कठिन है कि वह राजा द्वारा निर्वाचित होता था या उसका पद वंशानुगत था। पर इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका पद काफी ऊंचा था और ग्राम शासन व्यवस्था का कर्णधार 'ग्रामणी' ही होता था। ऋग्वेद में कहीं-कहीं 'व्रज पति' आया है, पर यह सम्भवतः 'ग्रामणी' का ही पर्यायवाची शब्द है।

विश—"विश के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि ऋग्वेद का विश कोई स्थानीय तहसील (sub-division) परगना या कोई वर्ग विशेष था।"[3] ऋग्वेद ८।३५।१७।१८ से यह ज्ञात होता है कि 'विश' कोई वर्ग विशेष था।[4] विश का प्रधान 'विशपति' होता था।[5]

जन—कई 'विश' मिलकर 'जन' बनते थे। 'जन' का प्रधान 'गोप' कहलाता था। ऋग्वेद ८।६।४६-४८। में प्रसिद्ध 'पंचजन' का उल्लेख किया गया है। 'पंचजन' रूस, तुवस, यदु, अनुस तथा द्रुह्यु थे। प्रायः राजा ही जन का प्रधान अर्थात् 'गोप' होता था।

राष्ट्र—देश के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] इससे संघात्मक सरकार होने का अनुमान किया जाता है।

कुछ अन्य राजनैतिक संगठन भी रहे होंगे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद १०।१७६।२॥ तथा ५।५३।११॥ में किया है पर इनके सम्बन्ध में कुछ अन्य सामग्रियाँ नहीं प्राप्त होतीं।

राजा—ऋग्वेद-काल के राजनैतिक विभाजन का अध्ययन कर लेने के पश्चात् उसकी शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना सुगम है। राजा जो शासन प्रबन्ध का कर्णधार होता है हमारी विवेचना का प्रमुख विषय होगा।

प्रारम्भ में हम राजा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालेंगे। ऋग्वेद में 'राजा' शब्द का प्रयोग तो बार-बार किया गया है किन्तु इसकी उत्पत्ति के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं है।[7] किन्तु बाद के हिन्दू ग्रन्थों में जिनमें ऐतरेय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रमुख हैं दो कथायें आती हैं जिनसे हम राजा की उत्पत्ति का बोध होता है।

राजा की उत्पत्ति स्वाभाविक गति से हुई और उसका पद स्वभावतः उच्च हो गया। राजा के उच्च स्थान का बोध हमें ऋग्वेद की ऋचाओं से होता है। पुरुषों का राजा त्रसदस्यु कहता है, " देवता मुझे वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते हैं। मैं राजा वरुण हूँ। देवता मुझे वह शक्तियाँ देते हैं जिनसे असुरों का नाश होता है

१ ऋग० १।४४।१०॥
२ देखिये श्री राधाकुमुद मुकर्जी की *Hindu Civilization*, पृ० ७८
३ देखिये पिछले पृष्ठों में आर्यों की सामाजिक अवस्था।
४ ऋग० १।३७।८॥
५ ऋग० ५।४२।१॥
६ ऋग्वेद १०।१२४।८॥ में यह उल्लेख किया गया है कि राजाविहीन जन का रण प्रयाण बड़ा कारुणिक रहा (अर्थात् उन्हें राजा के अभाव में हारना पड़ा)।
७ देखिये ऐतरेय ब्राह्मण १।१४॥ राजानम् करवामहे आदि।

मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ।"[1] इससे एक ओर तो राजा की महानता का बोध होता है, साथ ही दूसरी ओर इससे यह भी ध्वनि आती है कि राजा के दैवी अधिकार में उनका विश्वास रहा होगा। राजा की आज्ञा सब मान्य थी और जो लोग राजा की आज्ञा को नहीं मानते थे उनके साथ बल का प्रयोग किया जाता था।[2] लोगों में राजभक्ति थी, इसका संकेत हम ऋग्वेद ४।४।७।८।। से प्राप्त होता है। राजा से हर प्रकार की सहायता की आशा की जाती थी। राजा न्यायाधीश के पद से न्याय करता था, दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों का फैसला करता था और फौजदारी के मुकदमों में वह एक विस्तृत विधान-संहिता का उपयोग करता था।[3] राजा 'धर्मरक्षक' था और प्रजा को अपराधों पर दण्ड देता था। इस कार्य में वह गुप्तचरों से भी काम लेता था।[4] जहाँ वह अपराधियों को दण्ड देता था वहीं वह दीन-दुखियों की सहायता भी करता था। राजा लोगों को उपहार भी दिया करते थे।[5] एक स्थल पर यह कहा गया है कि जो राजा रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है उसकी रक्षा देवता करते हैं।[6]

राजा तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध (राजा के कर्तव्य तथा अधिकारों) का उल्लेख कर लेने के पश्चात् राजा के रहन-सहन पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। राजा के सुख-वैभव का बोध हमें ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से स्पष्ट हो जाता है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि राजा मित्र और वरुण हजार खम्भोंवाले महल में रहते थे।[7] इतने विशाल भवन की कल्पना यह बताती है कि राजाओं के भवन अत्यन्त भव्य एवं सुन्दर थे। राजाओं की पोशाक का भी बोध हमें ऋग्वेद से होता है जिसमें यह कहा गया है कि राजाओं की ओर देखना बहुत कठिन है क्योंकि वे स्वर्ण से चमकते हैं।[8]

राजा के मन्त्री—शासन-कार्य चाहे जितना भी प्रारंभिक रूप में हो उसमें राजा के अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। ऋग्वैदिक काल में भी राजा को सुन्दर शासन-व्यवस्था के लिये कुछ सहायकों की आवश्यकता थी। पुरोहित इनमें प्रधान था। पुरोहित का प्रभाव राजा पर अधिक रहता था। ऋग्वेद में अग्नि को बड़ा पुरोहित तथा यज्ञ में सहायक कहा गया है।[9] उसका कार्यालय 'पुरोहिती' और 'पुरोध' कहलाता था।[10] पुरोहित राजा का अभिन्न हृदय, मित्र, पथप्रदर्शक, दार्शनिक तथा सहायक होता था। वशिष्ठ विश्वामित्र आदि पुरोहितों का उल्लेख ऋग्वेद किया गया है। पुरोहितों का प्रमुख कार्य राजपरिवार के धार्मिक गुरु के रूप में था पर वे राजा के साथ रण क्षेत्र में भी जाते थे जहाँ वे अपने मन्त्रों द्वारा राजा की शक्ति

१ ऋग० ४।४२।।
२ ऋग० ७।६।५।।६।७।५।।
३ ऋग० १।२५।१३।।४।४।३।।
४ ऋग० ८।४७।११।।
५ ऋग० १।६७।१।।
६ ऋग० ५।५०।८–९।।
७ ऋग० २।४१।।५।।७।८८।५।।
८ ऋग० १।१८५।८।।८।६३८।।
९ ऋग० १।४४।१०।३।२।८।। पुरोहित की महत्ता के लिये ऋग० १।१।१।। देखिये।
१० ऋग० ७।६०।१२।।७।८३।४।।

एवं सुरक्षा की वृद्धि करने की प्रार्थना करते थे।[1] इस प्रकार धार्मिक कृत्यों में सर्वेसर्वा होने के अतिरिक्त वह राजनैतिक कार्यों में भी अपना प्रमुख हाथ रखता था। पुरोहितों के विषय में डॉ० कीथ का निम्नलिखित मत भी विशेष उल्लेखनीय है—

" पुरोहित राजा के साथ रणक्षेत्र में जाता था और अपनी प्रार्थनाओं तथा मंत्रों द्वारा राजा की विजय का प्रयत्न करता था। अपनी इस सेवा के लिये उसे बड़े-बड़े पुरस्कार प्राप्त होते थे। ऐसा जान पड़ता है कि पुरोहित को सबसे बड़े पुरस्कार प्राप्त होते थे। उन दिनों की सामाजिक अवस्था ऐसी थी कि पुरस्कार में वैयक्तिक सम्पत्ति दी जाती थी, भूमि-दान की प्रथा नहीं थी, परन्तु उस काल में भी हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि राजा अपने पुरोहित अथवा भृत्य को राज्य की आय का एक बड़ा भाग पुरस्कार में दे सकता था।'

डॉ० कीथ के उपरोक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि पुरोहितों को काफी सम्मान प्राप्त था और उन्हें आर्थिक प्रभाव भी नहीं था।

पुरोहित के बाद सेनानी का पद आता है। यह भी राज्य का प्रमुख पदाधिकारी था। सेनानी सेनाध्यक्ष होता था।[2] इसकी नियुक्ति सम्भवतः राजा स्वयं करता था।

कुछ अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है जिनमें ग्रामणी का स्थान प्रमुख है। ग्रामणी के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा चुका है। ग्राम शासन का सम्पूर्ण भार इसी पर था।[3] उग्रस्ति तथा इभ्य नामक पदाधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है।[4] कुछ समाचारवाहक दूत तथा स्पश के प्रत्यक्षों का भी वर्णन प्राप्त होता है जो अपने कार्य में काफी कुशल, बुद्धिमान् तथा राजभक्त थे।[5] इस प्रकार विभिन्न राज-पदाधिकारियों से युक्त राजा शासन करता था।

सभा-समिति—राजपदाधिकारियों के पश्चात् हमें उन संस्थाओं पर विचार करना आवश्यक है जो स्वयं राजा तक के निर्वाचन का अधिकार रखती थीं तथा प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थीं। ये संस्थायें सभा या समिति हैं। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर सभा का उल्लेख किया गया है।[6] किन्तु दुःख है कि इन ऋचाओं से सभा के कार्यों का बोध ठीक-ठीक नहीं हो पाता है। सभा में बैठने योग्य व्यक्ति को 'सभ्य' कहा गया है।[7] उच्चकुलीन व्यक्तियों (सुजात) की एक सभा का भी उल्लेख किया गया है।[8] इस ऋचाओं से तो ऐसा आभासित होता है कि ऋग्वैदिक कालीन सभा उच्चकुलीन वयोवृद्ध व्यक्तियों की सभा थी। किन्तु इस सम्बन्ध में बहुत ही मत-वभिन्न्य है जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। यहाँ पहले मत-वभिन्न्य के कारण-स्वरूप उपस्थित होने वाली एक दूसरी संस्था पर कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है। इस संस्था का नाम समिति था। सभा की भाँति समिति का भी ऋग्वेद में यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है किन्तु उसके कार्यों का भी स्पष्टीकरण इन मंत्रों से नहीं होता। समिति में राजा की उपस्थिति का विवरण प्राप्त होता है और यह ज्ञात होता है कि वह समिति के

१ ऋग्० ७।१८।१३।।
२ ऋग्० ७।२०।५।।६।६६।११।।
३ ऋग्० १०।६२।११।।
४ ऋग्० १०।६७।२३।। तथा १।६५।४।। क्रमश
५ ऋग्० ७।६१।३।। १।२५।१३।।६।६७।५।।७।६३।६।। आदि।
६ ऋग्० ६।२८।६।।८।४।६।।६।३४।६।।
७ ऋग्० २।२४।१३।।, १०।७१।१०।। तथा ४।२।५।। भी देखिये।
८ ऋग्० ७।१।४।।

प्रधान का आसन ग्रहण करता था।[1] समिति में राजा के प्रमुत्व का संकेत हम कुछ अन्य मंत्रों से भी प्राप्त होता है।[2]

सभा और समिति एक ही संस्था है या दो अलग अलग संस्थायें हैं, और यदि अलग-अलग हैं तो उनका कर्त्तव्य और अधिकार क्या था इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। लुड्विग के मतानुसार सभा में उच्चकुलीन (मघवन एवं ब्राह्मण) भाग लेते थे और समिति में जनसाधारण भाग लेते थे। सिमर यह तो स्वीकार करते हैं कि समिति में सारी जनता भाग लेती थी किन्तु सभा के विषय में उनका यह विचार है कि यह केवल गाँव के लोगों की थी। कीथ महोदय कहते हैं, "समिति सम्पूर्ण जाति के कार्यों के लिये जनता की बैठक होती थी और सभा समिति के एकत्रित होने का स्थान होता था जहाँ सामाजिक बैठकें हुआ करती थी। इस बात का स्पष्ट रूप से संकेत किया गया है कि समिति में राजा उपस्थित रहता था और इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि महान् अवसरों पर जाति के सभी लोग इन समस्याओं पर विचार करने या कम से कम निर्णय देने के लिये वहाँ एकत्रित होते थे जो उनके सम्मुख जाति के महान व्यक्तियों द्वारा रक्खी जाती थी।[3]

किन्तु सभा और समिति को दो मानने के लिये हमें एक भारतीय साक्ष्य भी बाध्य करता है।[4]

सभा और समिति चाहे दो संस्थायें हों, अथवा एक, पर इनका राजनीति में अधिक महत्व जान पड़ता है। सभा में उच्चकुलीन (सुजात) तथा वयवृद्धों का एकत्रित होना, समिति में स्वयं राजा तक का भाग लेना यह प्रमाणित करता है कि राज्य के गूढ़ मामलों (चाहे वे ग्राम से सम्बन्धित हों या सम्पूर्ण 'राष्ट्र से), समस्याओं आदि पर विचार विमर्श इन्हीं संस्थाओं में होता था। ये निश्चय ही राजा को निरंकुश होने से बचाती रही होंगी।

न्याय-व्यवस्था—ऋग्वेद से इस सम्बन्ध में बहुत कम जाना जा सकता है। अतः जो कुछ साक्ष्य उपलब्ध हैं उन्हीं आधार पर ऋग्वैदिक काल की न्याय-व्यवस्था का अनुमान लगाया गया है। यह प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग है और इसके पूर्व बर्बर या अर्धसभ्य लोगों का बोलबाला था जिनके न्याय का मापदण्ड था 'खून का बदला खून' (यद्यपि अपने विस्तृत अर्थ में तो यह आज भी लागू है पर उस प्रागैतिहासिक युग में इसका प्रयोग सीमित अर्थ में होता था, अर्थात यदि किसी ने किसी व्यक्ति की नाक काट ली तो उसकी भी नाक काट ली जाती थी)। इस मापदण्ड की छाप ऋग्वैदिक काल के आर्यों पर निश्चय ही पड़ी होगी पर उन्होंने अपने बौद्धिक विकास के कारण कुछ सुधार ला दिया। यह सुधार था जीवन का मूल्य निर्धारित करना। मनुष्य को 'शतदाय' कहा गया है।[5] अर्थात, एक मनुष्य का मूल्य १०० गायें हैं। इसी प्रकार 'वैरदेय' शब्द भी आया है।[6] इनसे यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि मनुष्यों के

---

१ ऋग० १०।९७।६॥९।९२।६॥

२ ऋग० १०।१६६।४॥

३ देखिए कीथ, *Combridge History of India*, Part I p 69

४ देखिये अथर्ववेद ७।१२।७॥ जिसमें सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है।

५ ऋग० २।३२।४॥

६ ऋग० ५।६१।८॥

जीवन का मूल्य पहले ही निर्धारित कर दिया गया था और जो व्यक्ति उसे जान से मार डालता था उसको उस मृत मनुष्य के संबंधी या उत्तराधिकारी को निश्चित धन देना पड़ता था। इसी से प्रभावित होकर धर्मसूत्रों में एक कदम और आगे बढ़कर यहाँ तक निश्चित कर दिया गया कि अमुक व्यक्ति की हत्या पर इतनी और अमुक की हत्या पर इतनी गायें देनी होंगी।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य दण्ड भी थे। ऋग्वेद में देवताओं तथा मनुष्यों के बन्दीगृह का उल्लेख किया गया है।[१] सम्भवतः कुछ अपराधों पर जेलखाने की भी सजा थी। दीर्घतमस की कथा के आधार पर कुछ अंशों तक यह अनुमान किया जा सकता है कि अपराध साबित करने के लिये पानी और आग की परीक्षाओं का भी प्रचलन था।[२] 'मध्यमशी' शब्द भी कई स्थलों पर आया है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कुछ झगड़ों का निपटारा पंच बीच में कर दिया करते थे। अपराधों के विषय में हमें ज्ञात होता है कि चोरी (अधिकतर पशुओं की चोरी) हुआ करती थी, पर वे अन्न, वस्त्र, द्रव्य आदि भी चुरा ले जाते थे और पता लग जाने पर उनकी दुर्गति की जाती थी।[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनकी न्याय-व्यवस्था अभी पूर्णतया प्रारंभिक अवस्था में थी। पर हाँ, यह सुधार की ओर निरन्तर बढ़ रही थी और आगे चलकर इसमें अनेक परिवर्तन आ गये।

युद्ध प्रणाली—युद्ध प्रारंभिक आर्यों का विशेष गुण था (यद्यपि इन्हें उनकी सभ्यता के मूलभूत तत्वों के आधार पर सामरिक प्रवृत्ति का कहना उचित नहीं क्योंकि युद्ध-सम्बन्धी उन्नति उन्होंने यहाँ के अनार्यों को पराजित करके अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के हित में किया)। युद्ध के विषय में ऋग्वेद में सामग्रियों का बाहुल्य है। युद्ध बहुधा आत्मरक्षा या विजयों के लिये तथा कभी-कभी लूट के लिये होते थे।[४]

सेना में पैदल तथा रथ का अधिक महत्त्व था। रथों में दो, तीन या चार साहसी घोड़े लगाये जाते थे।[५] ऋग्वेद से वर्णित अस्त्र शस्त्र निम्नलिखित थे—

(१) धनुष (८।७२।४।।), बाण (६।७५।१७।), (२) कवच (१।३१।१५।।, १०।१०१।८।।), (३) 'हस्तघ्न' (बाहुरक्षक—६।७५।१४) तथा (४) अन्य अस्त्र-शस्त्र जैसे 'असि' (तलवार), बर्छा आदि।

रण की भयंकरता का वर्णन हमें 'दस राजाओं' के युद्ध में प्राप्त होता है जिसका वर्णन किया जा चुका है।

ऋग्वैदिक काल की समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी अत्यन्त विशाल एवं सर्वोत्तम सभ्यता के लिये जिन मूलभूत तत्वों की आवश्यकता पड़ती है वे सारे तत्व ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता में विद्यमान हैं, कुछ तो इतनी विकसित अवस्था में हैं कि उनमें कोई भी विकास, परिवर्तन, परिवर्धन हम आज तक नहीं कर सके। इस काल की सभ्यता एवं संस्कृति के इतने विकसित रहने का एकमात्र कारण यह है कि यह शताब्दियों की साधना का फल, युगों की तपस्या का वरदान है।

१ ऋग्० ४।१२।५।।
२ ऋग्० १।१५८।४।।
३ ऋग्० १।१५।१।।१।४२।२३।।८।२९।६।।४।३८।५।।
४ ऋग० १०।१४२।४।।
५ ऋग्० १०।३३।५।। तथा २।१८।१।।

६ उत्तर वैदिक काल

वास्तव मे सभ्यता के काल का विभाजन अत्यन्त कठिन है और साथ ही सभ्यता का काल विशेष म विभाजन करना भी एक समस्या ह । किसी भी सभ्यता के पीछे शताब्दियो की शारीरिक मानसिक क्रियाओ प्रक्रियाओ क. केन्द्रीभूत प्रतिफल रहता ह—उसम प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा पूर्ण विकसित अवस्थाओ का समन्वय रहता ह । इतनी मिश्रित प्रवृत्तियो का परिष्कृत रूप लेकर कोई सभ्यता आगे बढती है । इसी प्रगति मे जो काल विशेष असख्य असाधारण देन दे जाता है उस अवधि तक उस सभ्यता का नामकरण उसी काल विशेष के आधार पर कर दते है । जिस 'ऋग्वैदिक काल' की सभ्यता का उल्लेख पिछले परिच्छेद मे किया गया ह वह आर्यों के भारत-प्रवेश से लकर ऋग्वद की रचना तथा उसके बहुत पश्चात तक की सभ्यता है । पर ऋग्वेद के पश्चात जब कुछ अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थो की रचना हो जाती ह तो इस काल की सभ्यता का ऋग्वैदिक काल की सभ्यता से पृथक करने का प्रश्न स्वयं उठ खडा होता है ? क्या यह सर्वथा मौलिक, नवीन या कोई भिन्न सभ्यता है ? इन सभी प्रश्नो का उत्तर केवल यही है कि सभ्यता भिन्न नही है, सभ्यता के मूलभूत तत्त्व भिन्न नही है । पर हाँ कुछ ऐसे क्रान्तिकारी परिवतन-परिवर्धन अवश्य हो जाते हैं जो एक ही सभ्यताधार को दो धारा म विभक्त-सा कर देत हैं । इस महान् परिवतन को हम किसी प्रकार 'प्रगति' की सज्ञा दे सकते हैं । इसमें कुछ परिष्कार, कुछ सशोधन और साथ ही कुछ अधानुकरण भी हैं । अत इसे हम किसी काल विशेष की सभ्यता न कहकर उत्तर वैदिक काल क ग्रन्थो मे वर्णित सभ्यता कहे तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि वैदिक कालीन सभ्यता के समस्त परिवर्तन का बोध हमे इन्ही ग्रन्थो स होता है ।

साधन

सर्वप्रथम हम उन साधनो के विषय मे जान लेना चाहिए जिनम वाछित सभ्यता पर प्रकाश पडता है ।

ऋग्वेद के पश्चात् आर्यों ने जिस ग्रथ का सृजन किया वह सामवेद है । ऋग्वेद के ही कुछ मत्रो को सगृहीत करके इस दूसरे वद की रचना हुई थी । इसमे कुल ७५ मंत्र मौलिक है । तत्पश्चात यजुर्वेद की रचना हुई । यजुर्वेद के दो संस्करण है—(१) कृष्ण तथा (२) शुक्ल । कृष्ण की चार सहितायें है जिनम तीन (तैत्तिरीय, काठक तथा मैत्रायणी) पूर्ण हैं तथा चौथी कपिष्ठल अधूरी है । यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता को शुक्ल कहते हैं । इसमें ४० अध्याय है । यजुर्वेद को यज्ञों मे अध्वर्यु (प्रमुख पुरोहित) पढते थ । चौथा तथा अन्तिम वेद अथर्ववेद है, जिसकी रचना सम्भवत यजुर्वेद क पश्चात हुई थी कि तु इसके कुछ अश ऋग्वेद क समान ही प्राचीन हैं । अथर्ववेद क २० भाग है जिनमे कुल ७३० मत्र हैं ।

'ऋग्वेद सहिता के बाद शेष तीन संहिताओ का स्वर समान रहा और वैदिक धर्म भावनाओ मे सर्वोच्च एव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड एव ज्ञान

सधान ही रहे । कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय लोक-जीवन के बहुत निकट आने वाली संहिता है अथर्ववेद संहिता जिसमे घरेलू पारिवारिक जीवन तक के अनेकानेक पहलुओ से सम्बन्धित मन्त्र हैं । रोग निवारण, जादू टोने से लेकर प्रेमगीत तक यहाँ उपलब्ध हैं । संहिताओ के बाद ब्राह्मण आते हैं जो भारोपीय गद्य साहित्य के प्राचीनतम ग्रथ हैं । इनमे वेदो के एक विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड को पूर्ण विस्तार दिया गया—इतना अधिक कि उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो का विवेचन किया गया । कथाओ द्वारा इनमे कर्मकाड का महत्व भी समझाया गया और साथ ही कर्मकाण्ड की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया । इन कर्मकाण्डो तथा कथाओ की धरोहर हमे महाकाव्यो से होते हुये पुराणो के माध्यम से मिलती हैं ।

वेदो की रचना समाप्त हो जाने के पश्चात कुछ ऐसे ग्रथो की आवश्यकता पड़ी जो वेदो के वर्ण्य विषय एव प्रतिपादित तथ्यो का स्पष्टीकरण कर सकें । वेद अधिकांशत काव्य या काव्यमयी भाषा मे हैं । अत सर्वसाधारण के लिए गद्यमयी या शुद्ध गद्य मे तथा आचार्य शैली मे ब्राह्मण की रचना हुई । इन विभिन्न ब्राह्मणो का सम्बन्ध पृथक पृथक वेदो से है जैसे ऐतरेय तथा कौषीतकी ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद से, पचविंश तथा छान्दोग्य ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से, शतपथ का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से, तैत्तिरीय ब्राह्मण का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से तथा गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद से है । ऐतरेय ब्राह्मण मे यज्ञ, अग्निहोत्र, राज्याभिषेक एव कुछ प्राचीन अभिषिक्त राजाओ का वर्णन प्राप्त होता है। कौषीतकी ब्राह्मण मे कुल ३० अध्याय हैं और यह प्रतिपाद्य विषय भी ऐतरेय ब्राह्मण के समान है । इन ब्राह्मणो से प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है जिनके पृथक विवरण की आवश्यकता नही, प्रत्युत प्रसग रूप मे इनका उल्लेख आगे किया जायगा ।

ब्राह्मणो के उपसहार रूप मे एक भाग आरण्यक है । इस नामकरण का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि इनके गूढ मत्रो का अध्ययन सम्भवत अरण्य (वन) मे ही सम्भव था । उपलब्ध आरण्यक ऐतरेय, कौषीतकी और तैत्तिरीय नामक ब्राह्मणो के अन्तिम भाग हैं ।

आरण्यक के पश्चात उपनिषदो का स्थान आता है । ये पूर्णतया दर्शन ग्रन्थ हैं । उपनिषदो म छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं । इनमे अधिकाश बहुत बाद के आभासित होते हैं और इनकी परम्परा सम्भवत बुद्ध काल के कुछ पूर्व तक चलती है ।

जिस सभ्यता का अध्ययन हम इस परिच्छेद मे करने जा रहे हैं उसके प्रमुख साधन उपरोक्त ग्रन्थ ही हैं । इनके आधार पर ही हम देखेंगे कि वैदिककालीन आर्यों ने इतने लम्बे अर्से मे (लगभग १००० ई० पू० से ७०० ई० पू० तक) किस क्षेत्र मे क्या प्रगति की या उसमे क्या परिवर्तन लाने का प्रयास किया । किन्तु इसके पूर्व कि हम उनकी विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एव राजनैतिक अवस्थाओ का वर्णन करें, हमे आर्यों के नव प्रसार पर प्रकाश डाल लेना चाहिए क्योंकि इनकी भौगोलिक स्थिति का बोध किये बिना इनके विकास के साधना एव सुविधा-असुविधाओ का ज्ञान नही प्राप्त हो सकेगा जिससे उनकी उन्नति के सही मूल्याकन मे बाधा उपस्थित हो सकती है ।

भौगोलिक सीमा

ऋग्वैदिक काल की सभ्यता केवल पजाब तक सीमित थी किन्तु अब आर्यों की

अधीनता मे भारत के अधिकाश भाग आ गये थे। कुरुक्षेत्र इस युग की सभ्यता का केन्द्र था। 'मध्यदेश' भी इससे सम्बन्धित था। आधुनिक दिल्ली, उत्तर प्रदेश तथा बिहार की गणना मध्यदेश मे होती थी। यहाँ कुरु, पाञ्चाल, वश तथा उशीनर आर्य समूह था। हिमालय तक कुरुओ के निकट उत्तरमद्र थे। उत्तर बिहार मे विदेह तथा पूर्वी बिहार मे अग थे। यमुना के किनारे पारावत निवास करते थे। उनके उत्तर म केकय तथा वाह्लीको का प्रभुत्व था। इन आर्य समूहो के अतिरिक्त कुछ अन्य आर्य समूह भी थे, जिनम शिवि, वैत, मत्स्य, हव्य, विदभ आदि अधिक प्रसिद्ध थे। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत, मध्य भारत (विशेषतया पूर्वी भाग) तथा कुछ दक्षिणी भाग मे आर्य फैल चुके थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे आन्ध्र जाति का उल्लेख आया है।[1] किन्तु ये अनार्य थे। पुण्ड्र, मूतिब, पुलिन्द तथा शबर आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है पर ये भी अनार्य थे।

कुरु-पाञ्चाल—ऊपर अनेक आर्य समूहो का उल्लेख किया गया है। इनमे से प्रमुख समूहो का विस्तृत अध्ययन कर लेना आवश्यक है। समस्त आर्य समूहो मे मध्य देश के कुरु-पाञ्चाल अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी संस्कृति तथा सुन्दर भाषा की प्रशसा शतपथ ब्राह्मण मे की गई है।[2] शतपथ ब्राह्मण मे जो यह कहा गया है कि ये सबसे सुन्दर संस्कृत बोलते थे इसका समर्थन कौषीतकी ब्राह्मण से भी हो जाता है जिसमे यह बतलाया गया है कि लोग शुद्ध भाषण के लिए उत्तर की ओर जाते थे।[3] निश्चय ही उत्तर से अभिप्राय उत्तराखण्ड के आर्यसमूह अर्थात् कुरु-पाञ्चाल से ह, यद्यपि इनके भी उत्तर मे मद्र थे किन्तु इनके पक्ष मे कोई अन्य साक्ष्य उपलब्ध नही हैं।

कुरु, राजा परीक्षित तथा जनमेजय के शासन-काल से कुरु अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर चुका था।

कौशल काशी तथा विदेह—ये तीनो पौर्वात्य राज्य उत्तर वैदिक काल के प्रमुख राज्य थे। इनका पृथक-पृथक् अध्ययन करना कुछ कठिन पडा है क्योकि कुछ ऐसी उलझी हुई सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं जिससे यह कहना कठिन पड जाता है कि तीनो का अलग अलग क्या अस्तित्व था। एक पश्चातकालिक निर्देश मे जल जातुकर्ण्य को विदेहो, काशियो और कौशलो का पुरोहित कहा गया है।' यदि यह सत्य है तो ऐसा अनुमान करना पडता है कि सम्भवत ये तीनो राज्य कभी एक थे। साङ्ख्यायन श्रौत सूत्र मे भी राजा पर कोसल तथा विदेह का शासक कहा गया है।[4]

ऋग्वैदिक काल के आर्यों के पूर्व मे आने का उल्लेख हमे शतपथ ब्राह्मण से प्राप्त होता है। उक्त ग्रथ से विदेह-नरेश माधव के वैदिक सभ्यता के केन्द्र सरस्वती से कोसल की सीमा को पार कर विदेह आने का वर्णन प्राप्त होता है। तत्कालीन प्रसिद्ध राजाओ मे विदेह के जनक तथा काशी के अजातशत्रु का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उपरोक्त पौर्वात्य राज्यो मे से कोसल भी एक था। इक्ष्वाकु कुल वालो का इस पर अधिकार था। यह बहुत दिनो तक वैदिक सभ्यता की पूर्वी सीमा बना रहा। अयोध्या इसकी प्राचीनतम राजधानी थी।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ८।२।।
२ शतपथ ब्राह्मण २।२।३।१५।।
३ कौषीतकी ब्रा० ७।६।।
४ सां० श्रौ० सू० १६।८।११।।

काशी का सर्वश्रेष्ठ शासक, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अजातशत्रु था। अजातशत्रु ब्रह्मदत्त कुल का था। ब्रह्मदत्तों के पूर्व काशी मे जो राजा राज्य कर रहा था वह भरतों के विख्यात पूर्वज पुरुरवा को अपना आदि पुरुष स्वीकार करता था। अजातशत्रु को वैदिक साहित्य में दार्शनिक एवं विद्वान् कहा गया है।

कुरुओं के पश्चात् विदेहो का उदय हुआ। विदेह आधुनिक तिरहुत था। विदेह का सर्वश्रेष्ठ राजा जनक था जो प्रकाण्ड विद्वान् एवं दार्शनिक था। जनक के राज-दरबार में दार्शनिक एवं विद्वानों की भीड़ लगी रहती थी। याज्ञवल्क्य उसके दरबार का प्रसिद्ध दार्शनिक था। इसके अतिरिक्त श्वेतकेतु, उद्दालक आरुणि, सत्यकाम, जाबाल, दृप्त बालाकि आदि अन्य दार्शनिक एवं विद्वान् भी उपस्थित थे।

मगध और अंग तथा अन्य राजनैतिक सङ्गठन—मगध तथा अंग के विषय मे यह कहा जाता है कि यह आर्यों की सत्ता के बाहर था, कम से कम आर्य धर्म के इतर तो यह था ही। अथर्ववेद में इसे अनार्य देश मानकर ही इस प्रान्त की ओर एक ऋषि ज्वरादि व्याधियों को फेंकता है।[1] इसी ग्रंथ में इन्हें 'व्रात्य' कहा गया है।[2]

गोपथ ब्राह्मण मे 'अंग मगध' का उल्लेख है।[3] सम्भवतः मगध तथा अंग अब तक ब्राह्मण धर्म में दीक्षित नहीं हो पाये थे। यह भी संभव है कि ये अनार्य नहीं थे बल्कि आर्य होते हुए भी ये अन्य आर्य वर्ग की सभ्यता एवं संस्कृति के पाश से मुक्त थे।

सामाजिक अवस्था

वर्गीकरण या वर्ण-व्यवस्था

ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों मे आर्यों के समाज का जो वर्गीकरण हो चुका था उसका उल्लेख ऋग्वैदिक काल की सामाजिक अवस्था का वर्णन करते समय किया जा चुका है। यह वर्गीकरण अब धीरे धीरे जटिल होता जा रहा था। किन्तु यह जटिलता ऋग्वैदिक काल की लोच तथा सूत्रों के काल की कठोरता के बीच की स्थिति में थी। धार्मिक कृत्यों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई महत्ता तथा जीवन की बदलती हुई भावनायें ही इस परिवर्तन के मूल मे हैं। ऋग्वैदिक काल मे वैवाहिक नियमों की सरलता मे भी अब काफी जटिलता आ गई जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ये तीनों वर्ग अब पूर्णतया वर्ण बन चुके थे। अर्थात् अब इनमें परम्परा का पुट आता जा रहा था। पुरोहित पिता का पुत्र भी पुरोहित (ब्राह्मण) होता था। इसी प्रकार शासक एवं योद्धाओं (क्षत्रियों) का पुत्र भी क्षत्रिय होता था। किन्तु ऋग्वैदिक काल में ऐसी कोई बात न थी। वैद्य पिता के कवि पुत्र तथा पिसनहारिन माता का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा चुका है। शूद्रों का भी उल्लेख उस काल मे किया गया था। पर इनमें भी अब महान् परिवर्तन आ गया। वास्तव मे परिवर्तन तो वैश्यों से आरम्भ होता है जिन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य आरम्भ कर दिये थे।

जिस प्रकार ऋग्वैदिक काल में अनार्यों (जिन्हें अब शूद्र कहा जाने लगा था) या दस्युओं के धनी होने का प्रमाण मिलता है उसी प्रकार उत्तर वैदिक काल के साहित्य

१ अथर्ववेद ५।२२।७॥ इसमें सुदूर पश्चिम के कुछ सङ्गठनों का संकेत है।
२ ,, १५।२।१–४॥ व्रात्य का अर्थ नीच कुलीन से है।
३ गो० ब्रा० २।९॥

से भी यह ज्ञात होता है कि कुछ शूद्र काफी धनाढ्य थे।[१] जब कुछ शूद्र धनी थे तो अपने धन के कारण उन्हें समाज में कोई न कोई स्थान मिलना स्वाभाविक ही था, भले ही वह स्थान निम्नतम क्यों न हो। ये अब आर्यों के ही एक अंग माने जाने लगे थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण स्वयं ऋग्वेद का पश्चात्कालीन मण्डल (दसवाँ मण्डल) पुरुषसूक्त है[२] जिसमें शूद्रों की उत्पत्ति आदिपुरुष के ही अंग से बताई गई है। इसी आदिपुरुष के अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों की भी उत्पत्ति बताई गई है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता का भी उल्लेख किया जा सकता है जिससे प्रकट होता है कि शूद्रों की गणना भी समाज के अंग के रूप में होती थी।[३] अथर्ववेद में एक प्रार्थना की गई है 'मुझे—ब्राह्मण और क्षत्रिय, आर्य और शूद्र—दोनों का प्रिय बनाओ।'[४] ये सारे प्रमाण आर्यों के पारस्परिक सम्बन्ध की बढ़ती हुई गतिविधियों के द्योतक हैं और यह प्रगति ही जातीय जटिलता के मूल में है क्योंकि आर्यों एवं अनार्यों के इस पारस्परिक सम्बन्ध को निश्चय ही समाज के नेताओं तथा तथाकथित समाज-सुधारकों ने हेय दृष्टि से देखा होगा और उन्होंने इसे अपनी पावन एवं शुद्ध संस्कृति के प्रति आघात समझा होगा। तभी तो उन्होंने इस निकटता में एक दूरी लाने के लिए विवाह सम्बन्धी नियमों में जटिलता ला दी जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। पंचविंश ब्राह्मण में एक स्थल पर वत्स पर यह आरोप लगाया गया है कि वह शूद्र का पुत्र है।[५] अब हम ऋग्वैदिक काल के ब्राह्मण क्षत्रियों तथा उत्तर वैदिक काल के ब्राह्मण क्षत्रियों के अन्तरों को स्पष्ट करने के लिए उन पर पृथक् पृथक् प्रकाश डालेंगे।

ब्राह्मण—वैदिक काल से ही ब्राह्मणों ने पठन-पाठन का कार्य अपनाया था। पठन-पाठन का एकमात्र उद्देश्य था धर्म में पारंगत होना। धर्म की प्रधानता उत्तर वैदिक काल में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। अतः धर्म के एकमात्र अधिष्ठाता ब्राह्मणों की प्रधानता में भी वृद्धि होना स्वाभाविक था। वैसे तो विद्या को प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज में ऊँचा स्थान मिलता रहा है और मिलता रहेगा पर उत्तर वैदिक काल में इसको इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया था कि समाज की सारी मान्यतायें इसमें विलीन होने को तैयार थीं। ऐतरेय ब्राह्मण से यह ज्ञात होता है कि विद्या एक पुण्य है, विद्वान इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख पाता है।[६] विद्या के महत्त्व को स्वीकार करके तथा उसका लोहा मानकर ही तो क्षत्रिय राजाओं जनक (विदेह नरेश) अश्वपति (केकय-नरेश) अजातशत्रु (काशी नरेश) प्रवाहन जयवालि (पंचाल नरेश) आदि की शिष्यता याज्ञवल्क्य श्वेतकेतु आदि ब्राह्मणों ने स्वीकार की थी जिसका प्रमाण हम उपनिषदों से प्राप्त होता है। पर यहाँ एक ऐसा साक्ष्य भी उल्लेखनीय है जिससे एक ओर तो ब्राह्मणों की महानता का कारण उनकी विद्वता ज्ञात होती है और दूसरी ओर जन्मसिद्ध ब्राह्मणत्व पर कुठाराघात भी होता है। मैत्रायणी तैत्तिरीय तथा काठक

१ मैत्रायणी संहिता ४।२।७।१०।। तथा पंचविंश ब्राह्मण ६।७।११।।
२ ऋग० १०।६०।१२।।
३ तैत्तिरीय संहिता ७।४।१९।३,४।। काठक संहिता अश्वमेध, ४।१७।।
४ अथर्ववेद १६।३२।८।। अथर्ववेद १६।६२।१।। भी देखिये।
५ पंचविंश ब्राह्मण १४।६६।। पंचविंश ब्राह्मण २।१६।१।। तथा कौषीतकी ब्राह्मण १२।३।। भी देखिये।
६ ऐतरेय ब्राह्मण ३।२३।।

संहिताओ में यह कहा गया है कि जन्म नही वरन् विद्या ही ऋषि होने की सच्ची कसौटी है।[1] पर यह विद्या व्यावहारिक रूप मे केवल ब्राह्मणो के पास होती भी थी। ब्राह्मण ही अन्य लोगो को शिक्षा देते थे। ब्राह्मण अन्य वर्णवालो की कन्या से ब्याह कर सकते थे। उसका प्रमाण हमे धर्मसूत्रो मे प्राप्त होता है कि ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजा शर्याति की पुत्री से ब्याह किया था। कालान्तर मे ब्राह्मणो की अनेक उपजातियाँ हो गई।

क्षत्रिय—क्षत्रियो की महानता मे भी अब उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। यदि ब्राह्मणो के महत्त्व का प्रमुख कारण धार्मिक था तो क्षत्रियों का राजनैतिक था। अपने राजनैतिक महत्त्व के कारण ही उनकी पद वृद्धि होती गई। राजनैतिक जीवन का महत्त्व क्रमशः बढ़ता जा रहा था यह हम आर्यों के बढ़े हुए राजनैतिक सगठन से ज्ञात हो जाता है। क्षत्रियो को भी अपने से नीच वर्ण वालो की कन्या ब्याह मे लेने का अधिकार था पर वे भी ब्राह्मणो की भाँति अपने वर्ण की उच्चता एव शुद्धता को बनाये रखने के अभिप्राय से बहुधा अपने वर्ण म ही ब्याह करते थे। ब्राह्मणो की भाँति कालान्तर म इनमे भी अनेक शाखाओ का जन्म हो गया।

वैश्य—पिछले परिच्छेद म यह बताया गया है कि पहले वैश्य शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य (ऋग्वेद के प्रथम नौ मडल) म नही किया गया था। 'विश्' शब्द का ही ऋग्वेद में उल्लेख किया गया है। वाजसनेयी संहिता मे 'विश्य' शब्द आया है।[2] इसी प्रकार अथर्ववेद मे भी 'विश्य' शब्द ही आया है।[3] पर आगे चल कर विश्य के स्थान पर वैश्य का प्रयोग मिलता है। वैश्य का प्रयोग सबसे पहले पुरुषसूक्त मे किया गया है।[4] वैश्यो मे असख्य उपजातियाँ शीघ्रातिशीघ्र बन गइ, क्योकि इन्होने असख्य प्रकार के व्यवसायो को अपना लिया था। भौगोलिक स्थिति भी इस कार्य में सहायक हुई थी।

शूद्रो के विषय मे प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है। पर इन चारो वर्णो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग थे जो इस वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे। चाण्डाल, पौल्कस आदि इसी प्रकार के वर्ग थे। दासो के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे इस वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे कि इसके अतर्गत हो थे। पर उनको किसी प्रकार का सामाजिक या राजनैतिक अधिकार नही प्राप्त था। वे अपने मालिक की सम्पत्ति थे और दान रूप मे[5] या अन्य किसी रूप मे भी दिये जा सकते थे।

ऐतरेय ब्राह्मण मे इस वर्ण-व्यवस्था की रूपरेखा इस प्रकार दी गई है कि ब्राह्मण दान लेनेवाले (आदायी), सोम पीनेवाले (आपायी) सदा घूमनेवाले (आवसायी), इच्छा पर, सम्भवतः राजा की इच्छा पर हिलने डुलनेवाले (यथाकामप्रय) हैं। वैश्य दूसरों को कर देनेवाला (अन्यस्य बलिकृत), दूसरो से भोग किया जानेवाला (अन्य स्याद्य), इच्छानुसार रखा जानेवाला (यथाकामज्येय) कहा गया है। इसी प्रकार शूद्रो को दूसरो का नौकर (अन्यस्य प्रेष्य), जब चाहे हटा दिया जानेवाला (कामो-

१ मैत्रायणी संहिता ४।८।१।। तैत्तिरीय संहिता ६।६।१।४।। काठक संहिता ३०।१।।
२ वाजसनेयी संहिता १८।४८।।
३ अथर्ववेद ६।१३।१
४ ऋग० १०।९०
५ ऋग० १०।६२।१०।।

स्याप्य) जब चाहे मार दिया जानेवाला (यथाकामवध्य) कहा गया है।[1] यह सभवत क्षत्रियो की दृष्टि से कहा गया है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि ऋग्वैदिक काल से उत्तर वैदिक काल तक आते-आते आर्यों के वर्गों ने वर्णों का रूप धारण कर लिया और इस वर्णवृक्ष की शाखायें प्रशाखायें भी प्रस्फुटित होने लग गई थी। इस युग की विवाह-पद्धति के प्रकरण के अध्ययन से यह वर्ण-व्यवस्था और अधिक स्पष्ट हो जायगी।

आश्रम व्यवस्था—उत्तर वैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता आश्रम व्यवस्था थी। भारतीय मनीषा ने जीवन को चार भागो मे विभाजित किया था। ये विभाग ही आश्रम के नाम से अभिहित हुए। ये चार आश्रम थे—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ और सन्यास। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य का था। इसमे मनुष्य अपने जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष किसी गुरुकुल मे रह कर ज्ञानार्जन, विद्याध्ययन इत्यादि मे व्यतीत करता था। जीवन का यह प्रथम चरण कठोर अनुशासन और साधना का होता था। दूसरा आश्रम गृहस्थ का था। अपने जीवन प्रथम पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम मे व्यतीत कर व्यक्ति गार्हस्थ्य आश्रम मे प्रवेश करता था। गार्हस्थ्य आश्रम म धर्मानुसार अर्थ का उपार्जन कर व्यक्ति समाज मे अपने सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यो का पालन करता था। इस आश्रम म वह जीवन के दूसरे पच्चीस वर्ष व्यतीत करता था। गृहस्थ आश्रम को बडी ऊची दृष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ-सूत्र मे गार्हस्थ्य आश्रम के विषय मे लिखा है कि जिस प्रकार सब बडी और छोटी नदियां समुद्र मे जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमो के मनुष्य गृहस्थ पर निर्भर रहते हैं। व्यक्ति गार्हस्थ्य आश्रम मे अपने जीवन के दूसरे पच्चीस वर्ष व्यतीत करने के उपरान्त जीवन के तीसरे चरण वानप्रस्थ मे प्रवेश करता था। इसमें मनुष्य अपनी गृहस्थी का भार अपने पुत्रो को सौंप कर सासारिक जीवन से विरक्त हो त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करता था। वानप्रस्थ लोग शहर या ग्राम से बाहर आश्रम बना कर रहते थे और वहां ब्रह्मचारियो को विद्यादान देते थे। जीवन का अतिम चरण परिव्राजक या सन्यास का था। सन्यासी किसी एक स्थान मे स्थिर होकर निवास नही करता था, भ्रमण किया करता था, इसलिए उसे परिव्राजक कहा जाता था। इस आश्रम मे मनुष्य ससार के समस्त बन्धनो का परित्याग कर ब्रह्म चिन्तन मे लीन होकर मुक्ति के लिए प्रयास करता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीयो ने मानव जीवन के चार महान् पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस आश्रम-व्यवस्था को आधार बनाया था।

नारियो की दशा—ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल मे हम नारियो की स्थिति मे परिवर्तन पाते हैं। समाज के पितृमूलक गठन, आर्य परिवारों मे सहपत्नियो के रूप मे अनार्य स्त्रियो के प्रवेश तथा जीवन में तपमूलक प्रवृत्तियो के उदय से नारियो की दशा मे परिवर्तन हो गया था। अब समाज मे नारियों की वह प्रतिष्ठा नही रह गई थी जो कि ऋग्वैदिक युग मे थी। उन्हें उपनयन का अधिकार नही रह गया था। विवाह को छोड कर उनके अन्य सब सस्कार बिना वैदिक मन्त्रो के होते थे। कन्या का जन्म कष्ट का सूचक माना जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र को स्वर्गतुल्य सुख तथा कन्या को कृपणम अर्थात विपत्ति कहा गया है। इसी प्रकार इस युग के साहित्य मे अन्य अनेक स्थल मिलते हैं जिससे इस युग मे नारियो की हेय स्थिति

१ ऐतरेय ब्राह्मण ७।२९॥

का आभास मिलता है। परन्तु इसके साथ ही नारियो की स्थिति का एक दूसरा पक्ष भी था। अनेक स्थलो मे उन्हे अर्धाङ्गिनी कहा गया है। उन्हे नृत्य और संगीत की शिक्षा मिलती थी। वे अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रो को बजाने मे प्रवीण होती थी। कुछ नारियाँ ज्ञान की अन्य शाखाओ मे भी निष्णात थी और विद्वत् मडली मे वे विदुषी के रूप मे समादृत होती थी। गार्गी और मैत्रेयी के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतक ब्राह्मण मे इस युग की विदुषी स्त्रियो के अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण मे गन्धर्व गृहीता का उल्लेख आता है जो परम विदुषी और वक्तृता मे अत्यन्त चतुर थी। वैदेह जनक की राजसभा मे 'ब्रह्मवादिनी' स्त्रियो का एक दल था जिसमे गार्गी का मुख्य स्थान था। वाजपेय और राजसूय जैसे यज्ञो मे भी नारियो द्वारा भाग लेने के उदाहरण मिलते हैं। कुछ स्थलो पर स्त्री शिक्षको का भी उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कुछ वीरांगनाओ के भी उदाहरण प्राप्त होते है जो अपने पतियो के साथ सामरिक कार्यों मे हाथ बटाती थी।

विवाह प्रथा—स्त्रियो की स्थिति का ठीक ठीक बोध विवाह प्रथा से हो सकता है, अत कौटुम्बिक जीवन आदि के पूर्व हमे उक्त पद्धति पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है। वैसे तो विवाह-प्रथा मे अब तक विशेष परिवर्तन नही हो पाया था और दहेज देने की भी प्रथा थी, पर कभी-कभी दामाद भी श्वसुर को द्रव्य देता था। विवाह को अब भी वही आध्यात्मिक महत्त्व प्राप्त था और 'इसमे स्वय देवता आकर भाग लेते थे।'[1] शतपथ ब्राह्मण मे तीसरी या चौथी पीढी मे ब्याह करने की अनुमति दी गई है।[2] सगोत्र ब्याह की मनाही अभी सम्पूर्ण वर्गों मे नही हुई थी।[3]

ऋग्वेद के दसवें मण्डल तथा अथर्ववेद से हमे यह ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुषो को परस्पर मिलने का कुछ अवसर प्राप्त हो जाता था, यद्यपि कुछ ही काल पश्चात् इसमे काफी कडाई आ गई। वे परस्पर प्रेम करते थे। प्रेमी प्रेमिका को एक दूसरे को वश मे कर लेने की कितनी उत्कण्ठा रहती थी इसके उदाहरण ऋग्वेद के दसवें मण्डल तथा अथर्ववेद मे भरे पडे हैं।[4]

बहुविवाह की प्रथा भी उन दिनो काफी प्रचलित थी। मैत्रायणी संहिता मे मनु की दस पत्नियों का उल्लेख है।[5] किन्तु यह निश्चयपूर्वक नही कहा गया है कि एक व्यक्ति कितनी शादियाँ कर सकता था। सौतो के पारस्परिक झगडो के उद्धरणो को देखकर ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि उन दिनों बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे उल्लेख आया है "सौत को उडा दो, मेरे पति को केवल मेरा ही बना दो। मैं उस सौत का नाम भी नही लेती सौत को दूर से दूर भगा दो।'[6] ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे ही अन्यत्र सौत के विनाश का उल्लेख आया है जिसमे एक स्त्री अपनी सौतों से मुक्ति पाने के लिए देवताओ को बलि देती है। इसी प्रकार अथर्ववेद मे आया है, "तेरे कभी सन्तान न हो, तू बाँझ

१ अथर्ववेद १४।१।४८ ५२॥१४।२॥
२ शतपथ ब्राह्मण १।८।३।६॥
३ मैकडानेल और कीथ, *Vedic Index*, I, p 475
४ देखिए ऋग्वेद १०।३०।६॥ अथर्ववेद १।३४।२,४,५२३०१ ५।६॥८॥११६॥ २।६।१०२॥६।१३१।३।६।१३६।३॥६।८२ तथा ६।८६।
५ मैत्रायणी संहिता १।५।८॥
६ ऋग० १०।१४५।१ ६॥ अथर्ववेद ३।१८।१५ भी देखें।

हो जाय।"[१] यह शाप एक स्त्री अपनी सौत को दे रही है। इस प्रकार के विवरण हमे बताते हैं कि उन दिनो बहुविवाह चाहे कम होते रहे हो या अधिक, पर ये पुरुष तथा साथ ही स्त्रियो के वैवाहिक जीवन को दु खमय बना देते थे। इसमें नारियो के पिस जाने की अधिक आशका थी। बहुविवाह की प्रथा का उल्लेख करते समय यह भी बता देना आवश्यक है कि एक पति एकसाथ ही अनेक पत्नियाँ रख सकता था—पर एक पत्नी एकसाथ अनेक पति नही रख सकती थी, इसका स्पष्ट प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण है।[२] पर इससे यह ध्वनित होता है कि एकसाथ भले ही एक स्त्री के कई पति न हो पर भिन्न भिन्न समय मे कई पति हो सकते हैं। यहाँ महाभारत की द्रौपदी का उदाहरण जो महाकाव्यो के युग में मिलता है, नही घसीटना चाहिए, क्योंकि यह इतिहास के कहा तक निकट है, पहले तो यह कहना ही कठिन है, दूसरे सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे अपने प्रकार का यह प्रथम और अन्तिम उदाहरण है।

विधवा विवाह तो ऋग्वैदिक काल मे प्रचलित था ही, उत्तर वैदिक काल मे भी इसका प्रमाण मिलता है। डॉ० बेनी प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' मे अथर्ववेद १८।३।१ २ तथा ऋग्वेद १०।१८।८ के आधार पर लिखा है कि "ऋग्वेद और अथर्ववेद के जिन मन्त्रो मे सती का विधान देखा गया है वह वास्तव में विधवा विवाह का समर्थन करते हैं।" उन्होने आगे बताया है कि 'दिघूषु' शब्द से ज्ञात होता है कि विधवा अपने देवर से ब्याह कर लेती थी।[३] विधवा विवाह का सकेत 'परपूर्वा' शब्द से भी होता है।[४] इन सब साक्ष्यो से यह ज्ञात हो जाता है कि विधवा विवाह की मनाही अभी नही हो पाई थी।

विवाहो मे शर्त की भी प्रथा रही जैसा कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे उर्वशी कथा से ज्ञात होता है। इस कथा से ज्ञात होता है कि उर्वशी ने पुरुरवस से कुछ शर्तों पर ब्याह किया था, पर उन शर्तों के टूट जाने पर उर्वशी ने सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

कौटुम्बिक जीवन—कौटुम्बिक जीवन मे कोई विशेष परिवर्तन नही आ पाया था। अब भी कुटुम्ब मे प्रधान का वही आदर था।[५] विमाता के आदर का भी प्रमाण हमे पुरुषसूक्त मे प्राप्त होता है। किन्तु कौटुम्बिक जीवन मे यदा-कदा कटुता आ जाने का भी उल्लेख किया गया है। इसीलिए अथर्ववेद में कौटुम्बिक शान्ति के लिए प्रार्थनायें की गई हैं।[७] बहुधा बहुओ मे सघर्ष हो जाया करते थे, सम्भवत इसीलिए कुछ स्त्रियाँ ससुराल से मायके भाग जाती थी।[८] इस प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब अब भी चल रहा था और इसमे स्वाभाविक प्रेम या द्वेष विद्यमान थे।

आर्थिक व्यवस्था

कृषि—आर्थिक क्षेत्र मे आशातीत उन्नति होना स्वाभाविक था क्योंकि बढ़ती

१ अथर्ववेद ३।३५।३॥
२ ऐतरेय ब्राह्मण ३ २३॥
३ मैकडानेल और कीथ, *Vedic Index*, I, pp 359 60
४ डॉ० बेनीप्रसाद, हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० १०७
५ ऋग० १०।६५।१-२ १३॥
६ ऋग्० १०।१७६।२॥
७ अथर्ववेद ३ ३०।१,३,५,७॥ ७।३६॥७।३७॥ आदि।
८ अथर्ववेद १०।१।३॥

हुई जनसख्या के लिए कृषि एव व्यवसाय मे प्रगति लाना अनिवार्य हो गया था। अब भी कृषि ही आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार थी। कृषि मे अब काफी उन्नति हो गई थी। काठक संहिता म २४ बैलो वाले हल का उल्लेख किया है।[1] शतपथ ब्राह्मण मे कृषि-कार्यों—जुताई, बुआई, कटाई, ओसाई आदि का उल्लेख आया है।[2] इसमे गोबर (पिरिष) का भी उल्लेख है जिसका प्रयोग खाद के रूप मे होता था।[3] जौ (यव), धान (व्रीहि), गेहूँ (गोधूम), तिल आदि की खेती की जाती थी।[4] तैत्तिरीय संहिता मे यह बताया गया है कि जौ जाडे मे बोया जाता है और गर्मी मे काटा जाता है, धान वर्षा मे बोया जाता है और शरद ऋतु मे काटा जाता है आदि-आदि।[5] इससे ज्ञात होता है कि अब फसलो का समय भी निश्चित हो गया था और इन्हे विधिवत बोया तथा काटा जाता था।

अन्य व्यवसाय—कृषि के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसायो द्वारा भी लोग अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। इनमे से कुछ का उल्लेख वाजसनेयी संहिता म किया गया है, जैसे मछुआ सारथी, व्याध, गडेरिया, धीवर, स्वर्णकार, मणिकार, रस्सी बँटने वाला, टोकरी बुनने वाला, धोबी, लुहार, कुम्भकार, नाई, रंगसाज, जुलाहे, खटिक आदि। पेशावर नट (वशनर्तिन्) तथा बाँसुरी आदि बजानेवालों का उल्लेख भी शतपथ ब्राह्मण मे किया गया है।[6] नाव बनाने वालो की कुशलता का बोध हमे वाजसनेयी संहिता म वर्णित १०० पतवारों की नाव से होता है।[7] यह नाव समुद्र मे चलाई जाती थी। आर्यों की समुद्र-यात्रा का उल्लेख भी हमे इस युग के साहित्य मे मिलता है। अथर्ववेद मे एक राज्य के पतन की उपमा छिद्र द्वारा पानी भरकर डूबते हुए जहाज से दी गई है।[8] जहाज निर्माण तो सामुद्रिक व्यापार की ओर सकेत करता ही है, साथ ही शतपथ ब्राह्मण म एक व्यापारी तथा उसके व्यापार (वाणिज्य) का भी उल्लेख है।[9]

वणिको एव व्यापारियो का कोई सगठन रहा होगा जो सम्भवत 'श्रेष्ठि' की अधीनता में था। 'श्रेष्ठि' शब्द का प्रयोग विभिन्न ग्रन्थो मे किया गया है।[10] वैश्यों ने विभिन्न प्रकार का उद्योग अपना लिया था, अत उनके अपने-अपने सगठन का अनुमान सत्य हो सकता है। व्यावसायिक उन्नति के लिए सगठन भी आवश्यक था।

उधार रुपया भी दिया जाता था जिसे अदा करने मे लोग चूकते न थे। अथर्ववेद म कहा गया है कि ऋण न चुकाना एक पाप है जिसके लिए प्रायश्चित्त करना पडता है।[11]

१ काठक संहिता १५।२॥
२ शतपथ ब्राह्मण १।६।१।३॥
३ शतपथ ब्राह्मण २।१।१।७॥
४ वाजसनेयी संहिता १८।१२।
५ तैत्तिरीय संहिता ७।२।१०।२॥
६ शतपथ ब्राह्मण २।३।३।५॥
७ वाजसनेयी संहिता ३१।७७॥
८ अथर्ववेद ५।१९।८॥
९ शतपथ ब्राह्मण १।६।४।२१॥
१० ऐतरेय ब्राह्मण ३।३०।३॥४।२५।८।६॥ ७।१८।८॥ तथा बृहदारण्यक १।४।१२ आदि।
११ अथर्ववेद ६।११७॥

धातुओं का प्रयोग अब काफी बढ़ता जा रहा था। वाजसनेयी संहिता में सोना (हिरण्य), पीतल (अयस), लोहा (स्याम) ताँबा (लोहा), सीसा आदि का उल्लेख किया गया है।[1] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि मेंद बनाने में ताँबे का प्रयोग किया जाता था।[2] वाजसनेयी संहिता से पता चलता है कि सीसा का प्रयोग धुलाहे बटखरा के रूप में करते थे।[3] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण १२।८।३।११ में रजत अर्थात् चाँदी के आभूषण बनाने का उल्लेख है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।६।७।।३।६।६।५ में इसकी तश्तरियाँ बनाने तथा पंचविंश ब्राह्मण १७।१।१४ में निष्क नामक मुद्रा बनाने का उल्लेख है। सोने का आभूषण आदि में काफी प्रयोग होता था और इससे 'कर्णशोभन' तथा प्याले बनाये जाते थे।[4] अष्टप्रुद, शतमान कृपाल आदि निर्धारित भार के स्वर्ण शकल से मुद्राओं का ही बोध हो सकता है।[5]

पशु धन में भी अभिवृद्धि होती जा रही थी और अब लोग हाथी भी पालन लगे थे।[6] उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में लोगों ने विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में काफी उन्नति कर ली थी।

बौद्धिक एवं धार्मिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल भारतीय आर्यों की सभ्यता का प्रथम सोपान था। यद्यपि इस प्रथम सोपान में भी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने जो उन्नति की वह प्रशंसनीय है और उसका प्रमाण ऋग्वेद है, पर उत्तर वैदिककालीन आर्यों ने अपने पूर्वजों से आगे बढ़ने का प्रयास किया। अब उनमें विद्या के प्रति विशेष अनुराग होता जा रहा था (जैसा कि पीछे बताया जा चुका है), इसी युग में लेखन-कला में भी उन्नति होने लगी। कुछ विद्वानों की राय है कि उत्तर वैदिक काल में ही इस कला का प्रारम्भ हुआ और भारत में लिपि का प्रचलन सर्वप्रथम ८०० ई० पू० के लगभग मेसोपोटमिया के प्रभाव से हुआ। किन्तु अब तक कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है जिस पर पूरा पूरा विश्वास करके इसे स्वीकार किया जाय। प्राचीन भारतीय लिपि में भारतीयता का पुट इतनी अधिक मात्रा में है वह हमें शीघ्र ही यह स्वीकार करने नहीं देता कि भारतीय लिपि का जन्म मेसोपोटमिया के प्रभाव से हुआ।[7]

शिक्षा—ऋग्वैदिक काल में दादुरों से बालकों की उपमा देखकर हमने पाठशालाओं की कल्पना की थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि पाठशालाओं के प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद ११।३ तथा ६।१०८।२।१३३।३ से हमें तत्कालीन शिक्षा पद्धति का कुछ आभास मिलता है। सर्वप्रथम 'उपनयन संस्कार होता है और तभी 'आचार्य विद्यार्थी (?) 'ब्रह्मचारी' को

---

१ वाजसनेयी संहिता १८।१३।।

२ अथर्ववेद ८।१०।२२।।

३ वाजसनेयी संहिता १६।८०।।

४ शतपथ ब्राह्मण ५।१।२।१६।।५।२८।।

५ काठक संहिता ११।१।। शतपथ ब्राह्मण ५।५।५।१६

६ अथर्ववेद ३।२२।१।३।। ३।२२।६।।६।७०।२।।

७ भारतीय लिपि के विकास के लिये देखिये—बूह्लर की *Indica Paleogras* तथा *Phy*, *Origin of the Indian Brahmi Alphabet*, गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'प्राचीन लिपिमाला'।

एक दूसरे जीवन में प्रविष्ट कराता है (द्विज' बनाता है जिसका अर्थ ही दूसरा जन्म होता है)। इस जीवन में प्रवेश करने के पश्चात् विद्यार्थी का जीवन ही पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। उसे नये वस्त्र धारण करने पड़ते हैं। अब वह 'कषणम् वसना', 'मेखला' तथा 'दीर्घश्मश्रु (बड़े बाल धारण करनेवाला हो जाता है)। यज्ञ के लिए वह 'समिध' भी बटोरता था और भिक्षा' भी माँगता था। 'श्रम' और 'तप' करना उसके लिए आवश्यक था। गुरु अपने शिष्य को हर प्रकार से सत्य पथ पर लाने का प्रयास करता था, क्योंकि वह उसके पापों का उत्तरदायी था (शिष्यापापम् गुरोस)। शिष्य भी अपने गुरु को दूसरा भगवान् मानता था और वह उसके मत्ता पर ही चलता था।

शिक्षक और शिक्षार्थी में इतना घनिष्ठ, पवित्र और महान् सम्बन्ध होना तथा शिक्षार्थी द्वारा शिक्षक को इतना ऊँचा पद दिया जाना इस बात का प्रमाण है कि शिक्षा को उत्तर वैदिक काल में काफी महत्व दिया जाता था। शिक्षा को महत्व देने का एकमात्र कारण शिक्षा का व्यापक उद्देश्य ही है। अथर्ववेद में शिक्षा का उद्देश्य 'श्रद्धा', 'मेधा', प्रजा', 'धन', 'आयु' तथा 'अमरत्व' बताया गया है।[1]

छान्दोग्य उपनिषद तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में कुछ ब्राह्मणों का अपने पुत्रों को घर पर पढ़ाने का उल्लेख आया है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शिक्षा की सार्वजनिक व्यवस्था नहीं थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही परिषदों का उल्लेख किया गया है जो वास्तव में विद्यापीठ थे और इनमें काफी विद्यार्थी एकत्र हुआ करते थे।[2] गुरु के पास विद्यार्थी को किस आयु से भेज दिया जाता था इसका कहीं निश्चित रूप से निर्देशन या नियम प्रतिपादन नहीं किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद से यह ज्ञात होता है कि श्वेतकेतु आरुणेय बारह वर्ष की आयु में गुरु के पास भेज दिया गया था और २४ वर्ष की आयु में वेद का पाठ करता है।[3] विद्यार्थियों में पढ़ने की उत्कण्ठा काफी थी और कुछ तो स्वयं गुरु के पास जाते थे।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् तथा तैत्तिरीय उपनिषद् से यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध एवं कुशल आचार्यों के यहाँ दूर दूर से चलकर विद्यार्थी आते थे। शिक्षकों के भ्रमण का वृत्तान्त भी कौषीतकी उपनिषद् ४।१।। में दिया गया है।

शिक्षा के विषयों पर प्रकाश डाल देना भी आवश्यक है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद तथा सनत्कुमार का जो वार्तालाप दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि उन दिनों विभिन्न प्रकार के विषय पढ़ाये जाते थे जिनमें देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, देवजनविद्या कल्प श्राद्ध राशी, तर्कशास्त्र आदि प्रमुख थे।[5] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद २।४।१०।। से भी इतिहास उपनिषद, अनुव्याख्यान, व्याख्यान आदि की शिक्षा का बोध होता है।

---

१ अथर्ववेद १९।६४।। पठन-पाठन की महिमा के लिये अथर्ववेद ६।५।। भी देखिये।

२ बृहदारण्यक उपनिषद् ६।२।।

३ छान्दोग्य उपनिषद ६।१।२।३।।६।७।२।।

४ शतपथ ब्राह्मण ११।४।१।६।। तथा छान्दोग्य उपनिषद ४।४।१।। जिसमें सत्यकाम जाबाल का उल्लेख है।

५ छान्दोग्य उपनिषद ७।१।१।२।।

शिक्षा समाप्त हो जाने के पश्चात् गुरु शिष्य को उपदेश देता था कि सदा सच बोलना, अपने कर्तव्य का पालन करना, वेद पढ़ते रहना गृहस्थ बनना।[1]

उत्तर वैदिककालीन शिक्षा का महत्व—शिक्षा मे उपयोगिता की माँग आधुनिक युग की प्रमुख प्रवृत्ति है। उस प्राचीनकाल मे भी शिक्षा की उपयोगिता पर जोर दिया गया था। विद्यार्थी के शारीरिक एव मानसिक विकासो को साथ-साथ ले चलना ही गुरुओ का प्रमुख कर्तव्य था। इसी अभिप्राय से विद्यार्थी को 'अन्तेवासी'[2] (गुरु-गृह मे निवास करनेवाला) या 'आचार्य कुल-वासी'[3] कहा जाता था ताकि उसके पास रहकर शारीरिक श्रम करके (भिक्षाटन करके, देखिए छान्दोग्य उपनिषद ४।३।५॥, गुरु के घर-द्वार की रक्षा करके—शतपथ ब्राह्मण ६।२।१५॥, उसके पशुओ को चरा कर—छान्दोग्य उपनिषद् ४।४।५॥) व अपने अवयवो को हृष्ट-पुष्ट करते थे और साथ ही भावी गृहस्थ जीवन की पृष्ठभूमि तैयार करते थे। उनके मानसिक विकास के लिए विभिन्न प्रकार के शास्त्रो का अध्ययन कराया जाता था जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। निश्चय ही जो शिक्षा हमारे जीवन को पूर्णाङ्ग बनावे, उसकी बहुमुखी उन्नति मे सहायता दे, वह उच्च कोटि की शिक्षा कही जा सकती है। इतना ही नही, उस आध्यात्मिक वातावरण मे परलोक में सुख देने का भी कोई साधन अवश्य होना चाहिए था। वह साधन भी शिक्षा ही था। शिक्षा द्वारा ही कोई वेदो को पढ सकता था जिससे उसे सुख, स्वाधीनता, धन, बुद्धि यश आदि प्राप्त हो सकता था।[4] धार्मिक प्रश्नों पर वाद विवाद के लिए विद्वन्मण्डली की बैठकें भी होती थीं जिसके उदाहरण बृहदारण्यक उपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण मे मिलते हैं। स्त्रियो और क्षत्रिय राजाओ मे बौद्धिक विकास मे जो योग दिया था वह सराहनीय है।

धर्म—शिक्षा की प्रगति का अध्ययन कर लेन के पश्चात हमे विचाराधीन काल की धार्मिक स्थिति पर विचार करना चाहिए क्योकि इस युग की धार्मिक स्थिति के मूल मे शिक्षा का भी बहुत बडा हाथ रहा और उसके ज्ञान के पश्चात् ही हम उक्त काल की धार्मिकता को भली भाँति समझ सकते हैं।

यज्ञ—प्रारम्भिक उत्तर वैदिक काल मे धार्मिक क्षेत्र मे जो महान् परिवर्तन हुआ, वह ब्राह्मणो तथा यज्ञो के महत्व की वृद्धि है। अब तक केवल सात पुरोहित यज्ञ में भाग लेते थे किन्तु उत्तर वैदिक काल में इनकी सख्या १७ हो गई—होतृ तथा उसके तीन सहायक, उदगातृ तथा उसके तीन सहायक, अध्वर्यु तथा उसके तीन सहायक, ब्राह्मण तथा उसके तीन सहकारी। इन १६ पुरोहितो का प्रधान सत्रहवाँ ऋत्विज सदस्य था। यज्ञो की सख्याओ मे भी वृद्धि हो गई थी। अब बहुत से ऐसे यज्ञ भी थे जो वर्षो चलते रहते थे। यज्ञो की प्रधानता ने जीवन के दृष्टिकोण को अब पूर्णतया परिवर्तित कर दिया था। अब ब्राह्मणो का अधानुकरण करना आवश्यक हो गया था।

तप—तप की महिमा का गुणगान ऋग्वेद के दसवें मडल से ही प्रारभ हो जाता है। इसके पूर्व नौ मडलो मे तप का माहात्म्य नही बताया गया है। ऋत और सत्य

१ तैत्तिरीय उपनिषद ३।१२।१३।१॥
२ बृहदारण्यक उपनिषद ६।३।१२॥
३ छान्दोग्य उपनिषद २।२३।२
४ शतपथ ब्राह्मण ११।५।७।१॥

की उत्पत्ति तप से हुई है,[1] तप ही भावी जीवों का द्रष्टा है,[2] तप से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती है,[3] देवता तप करते हैं,[4] तप और यज्ञ से देवताओं ने स्वर्ग जीता है,[5] प्रजापति ने सृष्टि रचना के लिए तप किया था,[6] तप यज्ञ ऋत तथा ब्रह्म आदि के आधार पर ही विश्व स्थिर है[7] आदि का उल्लेख हम वैदिक साहित्य में बिखरा-सा मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।१३।१ में कहा गया है कि देवताओं ने तप के द्वारा देवत्व प्राप्त किया था। इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण ने अपने पुत्र से कहा है, 'तप से ब्रह्म को जानो क्योंकि तप ही ब्रह्म है।" मैत्रायणी उपनिषद् ने तो यहाँ तक कह दिया है कि तप के बिना तो ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता है। पर इसी काल में कुछ ऐसे भी चिंतक थे जिन्होंने तप के महत्व को नहीं स्वीकार किया है।

दार्शनिकता—इस यज्ञ तथा तप के काल में ही दूसरी ओर दार्शनिकता का जो बीजबाला आरम्भ हुआ यह सम्पूर्ण आर्य जगत् को अपने में समाविष्ट कर लेने को पर्याप्त था। इस दार्शनिकता के मूल में तत्वज्ञान की खोज थी जिसमें ज्ञान पिपासा की शान्ति, लोक-परलोक के वास्तविक मार्ग की माँग थी। यद्यपि यज्ञ तथा तप के समर्थकों ने इन प्रश्नों का उत्तर, केवल एक उत्तर बहुत दृढ़तापूर्वक यह दे दिया कि तप ही ब्रह्म है पर ज्ञान पिपासा तर्क ढूँढ़ती है, विश्वास से उसे पूर्ण सन्तुष्टि नहीं होती। सौभाग्यवश उन दिनों तर्क की पूर्ण स्वतंत्रता थी। इसी स्वतंत्रता ने दार्शनिकों को अपने मतों के प्रतिपादन में सफलता प्रदान की। आत्मा, परमात्मा, इहलोक परलोक, स्वर्ग-पुनर्जन्म नरक मोक्ष आदि की जो स्पष्ट एवं उचित व्याख्या तत्कालीन दार्शनिकों ने की उससे आशा तो यह थी कि तत्कालीन समाज पूर्णतया परिवर्तित हो जाता। दार्शनिकता (तर्क) विश्वासों का इति कर देती पर दुर्भाग्यवश इन दार्शनिकों में मतैक्य न था, कभी कभी तो वे एक दूसरे का जोरदार खण्डन कर देते थे और तब क्या ग्राह्य है क्या नहीं, क्या उचित है क्या अनुचित, यह समस्या लोगों के सम्मुख उपस्थित हो जाती थी जिसका समाधान उनकी इच्छानुसार या आवश्यकतानुसार न होने पर उन्हें पुनः अंधानुकरण ही करना पड़ता था जिसका प्रतिफल था यज्ञों और तपों में जीवन लगा देना।[8]

तत्वज्ञान की प्राप्ति अर्थात् दार्शनिकता की उत्पत्ति का श्रेय उपनिषदों को दिया जाता है। किन्तु उपनिषदों में भी किसी एक मत का प्रतिपादन नहीं किया है।

आत्मा ब्रह्म—उपनिषदों ने आत्मा को ही जीवन का मूलतत्व माना है जो अजर और अमर है। जगत् में जितनी आत्मा हैं वे सब एक ही ब्रह्म के रूपान्तर हैं। ब्रह्म अनादि, अनन्त और अकारण है। ब्रह्म स्वसृजित है। इसे किसी ने निर्मित नहीं किया

---

१ ऋग० १०।१६१।१। अथर्ववेद १७।७।।
२ ,, १०।१५४।२।।
३ अथर्ववेद ७।७४।१।।
४ ,, ११।५।६,१६।।
५ ऐतरेय ब्राह्मण २।१३।।
६ ,, ,, २।३३।।
७ अथर्ववेद १२।१।१।।
८ यद्यपि इस युग के पूर्व भी ऋग्वैदिक काल में यह प्रश्न उठा था कि 'विश्व क्या है? इसका प्राण क्या है? कौन जानता है?' ऋग्वेद १।४।१६४।। देखिये डॉ० बेनीप्रसाद की 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'। किन्तु इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया गया प्रत्युत यह जिज्ञासा का विषय ही बन कर रह गया था।

है। सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में ब्रह्म है। ब्रह्म ही नित्य है और सब अनित्य है। ब्रह्म को जानना ही जीवन का ध्येय है। ब्रह्म को जाननेवाला ससार को तुच्छ समझेगा जैसा कि यह है भी। किन्तु ब्रह्म के जानने का मार्ग भी सरल नहीं है। इसके लिए वेद का पठन पाठन, विद्या या ज्ञान प्राप्ति ही आवश्यक नहीं है, अपितु सदाचार, धर्म का पालन आदि भी अनिवार्य है। आचार की शुद्धता से ही हृदय मे शान्ति आ सकती है और तभी आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु उपनिषदो मे ही अन्यत्र उपरोक्त मत का प्रतिवाद इस प्रकार उपस्थित किया गया है कि केवल सदाचार से ही ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। यज्ञ, दान आदि की आलोचना करते हुए इसमे बताया गया है कि परमेश्वर की भक्ति, परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण आदि से ही ब्रह्म को समझा जा सकता है। अहकार और मद के रहते हुए यह सब असम्भव है। कहीं कहीं उपनिषदो में यह भी कहा गया है कि जीव, ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। योग द्वारा ब्रह्म को समझा जा सकता है।

मोक्ष और पुनर्जन्म—ये दोनो विपरीत स्थितियाँ हैं। उपनिषदो के अनुसार, मोक्ष पाने के पश्चात आत्मा का अन्त नहीं होता। वह उस महान सागर (परमात्मा) मे विलीन हो जाती है। उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके विपरीत यदि मनुष्यो का कर्म (इस जन्म की कर्म) पवित्र नहीं है तो उन्हे पुन अपने कर्मानुसार जन्म लेना पडेगा। "देवता, मनुष्य, जन्तु, वनस्पति सब की आत्मा कर्म के कठोर नियम के अधीन है। प्रत्येक अभिलाषा, आकाक्षा या क्रिया का प्रभाव—अच्छा या बुरा—आत्मा पर पडता है, यह प्रभाव एक जीवन तक परिमित नहीं है, मरने के बाद फिर कर्मानुसार जन्म होता है और कर्म का फल भोगना पडता है, इस दूसरे जीवन के कर्मो का फल तीसरे जीवन मे होता है और इस प्रकार चक्र चलता रहता है।'[1]

देवता—ऋग्वैदिक कालीन देवता अब भी पूज्य थे यद्यपि इनमे कुछ का महत्व घटता जा रहा था और कुछ का बढता जा रहा था। प्रजापति जो प्रारम्भ मे देवलोक मे विशिष्ट स्थान रखता था, अब उसकी महत्ता घट गई और अब रुद्र तथा विष्णु को प्रधानता दी जाती थी। ऋग्वेद म रुद्र को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त था किन्तु उत्तर वैदिक काल म इसकी महत्ता बहुत अधिक बढ गई। इसी प्रकार विष्णु जो सूर्य देव के पाच रूपो म से एक रूप माना जाता था, अब स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण देवता हो गया। रुद्र का विरुद अब शिव हो गया और वह मगलकारी देव माना जाने लगा।

राजनैतिक अवस्था

आर्यों के विभिन्न वर्गों का उल्लेख करते हुए भारत म उनके द्वारा विभिन्न भूभागो पर राजनैतिक सत्ता स्थापित करने का विवरण प्रारम्भ म ही दिया जा चुका है। इस विवरण से हमे ज्ञात हो चुका है कि अब उनका राजनैतिक विकास लगभग पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और इसमे आश्चर्यजनक प्रगति हो चुकी थी। यहा उनके राजनैतिक सगठन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा और तत्कालीन विभिन्न राजनैतिक सस्थाओ के नियमो का उल्लेख किया जायगा। सर्वप्रथम हम सरकारो पर प्रकाश डालेंगे।

सघ शासन—आर्यों ने जब पूर्व तथा दक्षिण की ओर प्रसार किया तो उन्हे काफी विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ पर यातायात की असुविधा तथा प्राकृतिक बाधाओं के कारण उन्ह इसमे कठिनाई पड़ी। अत उन्हे विशाल साम्राज्य

१ डॉ० बेनी प्रसाद, 'हिन्दुस्तान को पुरानी सम्यता, पृ० १२५।

के अधीन छोटे-छोटे राज्यो की स्थापना करनी पड़ी। कुछ ग्रन्थो मे 'अधिराज' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह परिलक्षित होता है कि इस बड़े राजा के अधीन कुछ अन्य राजा भी राज्य करते थे।[१] इसी प्रकार, पचविंश ब्राह्मण मे 'आधिपत्य' शब्द आया है जो इसी मत का समर्थन करता है।[२] साम्राज्यवाद का क्या सिद्धान्त था इसका विवरण तो हमे अधिक स्पष्ट रूप से नही मिलता, किन्तु कही-कही 'साम्राज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।[३] 'राजाधिराज', 'एकराट' आदि शब्दो से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि कुछ बहुत बड़े-बड़े राजा भी थे जिनके अधीन अनेक छोटे छोटे राजा भी थे। उत्तरी भारत मे असख्य छोटे-छोटे राजाओ के होने का प्रमाण मिलता है।[४]

राजा—राजा या सम्राट का पद बहुधा वशगत होता था। पर इसके लिए प्रजा की अनुमति आवश्यक थी। अथर्ववेद मे प्रजा द्वारा राजा के नियमन का उल्लेख विस्तृत रूप मे मिलता है।[५] राजा के नियमन का पूर्ण गायन अथर्ववेद मे एक स्थल पर मिलता है। अथर्ववेद से हमे यह भी ज्ञात होता है कि अपने प्रतिद्वन्दियो के समक्ष विजयी होने के लिए राजा किस प्रकार प्रजा की अनुमति प्रदान करने के लिए उत्सुक रहता था। अन्यत्र किसी निष्कासित राजा को पुन आमन्त्रित करके उसे सम्मानित करने का भी विवरण प्राप्त होता है।[६] राजा के पुनर्निर्वाचन का भी उल्लेख अथर्ववेद ३–८–२ मे मिलता है। कुछ अन्य ग्रन्थो से भी यह ज्ञात होता है कि राजा अपने प्रतिद्वन्दियों द्वारा निष्कासित कर दिया जाता था। तैत्तिरीय सहिता २।३।१ एव शतपथ ब्राह्मण म इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं कि राजा को निष्कासित कर दिया गया है और व अपनी सत्ता की पुनर्स्थापना मे तल्लीन है। इन निष्कासित राजाओ के लिए विशेष प्रकार के यज्ञ (राद यज्ञ) की व्यवस्था की गई थी।[७]

राज्याभिषेक—राजा की महत्ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हम उनके अभिषेक-सबधी उत्सव से प्राप्त हो जाता है। राज्याभिषेक के अवसर पर राजसूय यज्ञ का आयोजन किया जाता था।[८] इस पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना यहाँ वाछनीय नही, केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, वायु, इन्द्र ज्येष्ठ, रुद्र पशुपति, मित्र, सत्य, वरुण धर्मपति आदि की पूजा क्रमश अभिषेक-सम्बन्धी अनुमति, राज्य-प्राधान्य (कुछ आलोचको न गार्हस्थ्य प्राधान्य कहा है), वन तथा कृषि की रक्षा, वाक् शक्ति, शासन-सबधी कुशलता, पशु रक्षा, सत्य, धर्मरक्षण के लिए की जाती थी। राज्यारोहण के पूर्व किसी राजा को ये सारे गुण धारण कर लेना आवश्यक था। इसके बाद अनेक अनुष्ठान होते थे जिन सबका अभिप्राय राजा के भावी आचार-व्यवहार का

१ अथर्ववेद ६।९८।१॥९।१०।२४॥ मैत्रायणी सहिता ४।१२।३॥ तैत्तिरीय सहिता १।१।४।१४।२॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।२।९॥

२ पचविंश ब्राह्मण १५।३।३५॥

३ वाजसनेयी सहिता ५।३२॥ १३।३५॥ २०।५॥

४ अथर्ववेद ५।१८।१०।२।६।४॥ १९।६२।१॥ वाजसनेयी सहिता १८।४८॥२६।२॥ तैत्तिरीय सहिता २।३।१॥ २७।१८॥

५ अथर्ववेद–६।८७।८८॥ तथा ३।४।१ २,७॥ ३।५।६॥ भी देखिये जिसमे प्रजा की स्वीकृति मान्य है।

६ अथर्ववेद ३।३।५॥

७ पचविंश ब्राह्मण १९।७।१ ४॥

८ राज्याभिषेक के समय राजसूय के आयोजन के लिये देखिये शतपथ ब्राह्मण ५।४।३।२०॥ ५।३।४।१४॥

संकेत करना था। अभिषेक के समय राजा शपथ ग्रहण करता था कि यदि वह किसी प्रकार का अत्याचार प्रजा पर करे तो उसका सारा पुण्य, उसका लोक और परलोक तथा उसकी सन्तान आदि नष्ट हो जाय।[1] शतपथ ब्राह्मण ५।३।३।१२।।५।४।२।३ से यह ज्ञात होता है कि अन्त मे ब्राह्मण राज्यारोहण की घोषणा करता था और वह बताता था कि अमुक व्यक्ति अब हम लोगो का (प्रजा का) राजा हुआ। पर यही वह यह भी कह देता था कि ब्राह्मणो के राजा सोम हैं।

उत्तर वैदिक कालीन राजाओ पर कितना अधिक उत्तरदायित्व राज्याभिषेक के समय ही लाद दिया जाता है इसका प्रमाण हमे शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है जिसमे यह कहा गया है, "तुमको (अभिषिक्त किये जाने वाले राजा को) यह राज्य दिया जा रहा है, ताकि तुम कृषि जन मगल तथा उन्नति एव समृद्धि म विकास करो।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग मे (१) राजा का निर्वाचन अधिकाशत प्रजा पर आधारित था, (२) उसके ऊपर अगणित उत्तरदायित्व तभी लाद दिये जाते थे, (३) अपने मंत्रियो पर वह पूरी तरह निर्भर करता था तथा (४) सभा और समितियाँ उसकी निरकुशता पर अंकुश रखती थी।[2] पर इस सारी व्यवस्था के ऊपर ब्राह्मण थे। ब्राह्मणो की महत्ता का प्रमुख कारण यह था कि तत्कालीन राजनीति पूर्णतया धर्माश्रित थी। धर्म ही अनुशासन था। राजा उसका माध्यम मात्र था और ब्राह्मण धर्माधिष्ठाता था। अत वह राज्योपरि रहा।

राज्याधिकारी—राज-कार्य मे राजा के अतिरिक्त अन्य लोगो की भी आवश्यकता पड़ती है। अत अनेक राज्याधिकारी राजा के चारो ओर घिरे रहते थे। इन अधिकारियो को 'रत्निन' कहते थे। ध्यान रहे कि 'रत्निन सभवत उच्च कोटि के ही अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त अन्य साधारण अधिकारी भी रहे होंगे। रत्निन का अर्थ राजा द्वारा 'रत्न पानेवाला' हुआ। रत्न साधारण अधिकारियो को निश्चय ही नही दिया जाता रहा होगा। सभवत राजा के निकट सम्बन्धियो का शासन प्रबन्ध मे विशेष हाथ रहा होगा। 'रत्निन' के अतिरिक्त वीर' भी राज्य के अधिकारी थे। वीर या रत्निन का उल्लेख अथर्ववेद मे किया गया है। पचविंश ब्राह्मण मे आठ वीरो का उल्लेख किया गया है —

(१) राजा का भ्राता (२) राजपुत्र, (३) राज पुरोहित, (४) राज-महिषी, (५) सूत, (६) ग्रामीण (७) क्षत्र (रक्षक) तथा (८) सग्रहीत (कोषाध्यक्ष)।[3] तैत्तिरीय सहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कुछ अन्य वीर भी गिने गये हैं —

(१) राजन्य, (२) सेनानी, (३) भागदुध, (४) अक्षावाप आदि।[4] भागदुध कर अध्यक्ष तथा अक्षावाप जुए का अध्यक्ष होता था। मैत्रायणी सहिता मे कुछ अन्य पदाधिकारियो का भी उल्लेख किया गया है—(१) तक्ष (बढई) (२) रथकार तथा (३) गोविकत (आखेटक)।[5] ये साधारण कोटि के अधिकारी ज्ञात होते हैं।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५।।

२ तृतीय और चतुर्थ विशेषताओ पर आगे प्रकाश डाला जायगा। यहाँ उनका प्रसगत उल्लेख किया गया है।

३ पचविंश ब्राह्मण १९।१।४।।

४ तैत्तिरीय सहिता १।८।९१।। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।३।१।।

५ मैत्रायणी सहिता २।६।५।।४।३।८।। *Hindu Civilization*, p 106

सभा-समिति—राजा की निरकुशता पर रोक लगाने के लिए सभा और समितियाँ थीं। सभा सभवत कुछ चुने हुए भद्रजनों की एक छोटी सी सस्था थी और न्याय सम्बन्धी कार्यों की देखरेख करती थी पर समिति एक बडी और जनसाधारण की संस्था थी।[1] जो हो, इन दोनो का महत्व शासन मे अत्यधिक मान्य था और राजा को इनके आदेशो का बहुत कुछ पालन करना पडता था।

समिति का महत्व हम इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राजा एक स्थल पर प्रार्थना करता है कि प्रजापति की पुत्रियाँ, सभा और समिति मुझ पर कृपा करें।[1] समिति के अनुकूल रहने तथा उस पर राजा के प्रभाव जमाने की अनेक प्रार्थनाओ का उल्लेख तत्कालीन साहित्य म मिलता है।[2] समिति का महत्व इतना अधिक था कि उसे वश मे करने के लिए राजा को जादू-टोना का प्रयोग करना पडता था।[3]

इसी प्रकार सभा भी इतनी अधिक महत्वपूर्ण थी कि प्रजापति (ईश्वर) स्वय इसके बिना काम नही कर सकता था।[4] सभा म वाद विवाद के पश्चात राज्य की समस्याओं को सुलझाया जाता था। 'सभापति', 'सभासद' आदि शब्द क्रमश वाजसनेयी सहिता १६।२४ तथा अथर्ववेद ३।२६।१॥७।१२।२॥१६।५५।६॥ आदि म प्रयुक्त हुए हैं जिनसे यह परिलक्षित होता है कि सभा म सभापति होता था जो सभा की कार्यवाही का सपादन करता था और सभासद से भी सभी उपस्थित सदस्यो का बोध नही करना चाहिए, प्रत्युत वह सभा का कोई विशेष पदाधिकारी था जो सम्भवत न्याय-सम्बन्धी मामलो पर निर्णय देता था।

समिति की महत्ता पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अधिकारी भी काफी थे। यह सम्भवत युद्ध, सधि, आय व्यय आदि विषयक मामलो को देखती थी।[5] बहुमत द्वारा ही सभा और समितियो का काम होता था।

शासन प्रबन्ध—राज्याधिकारियो का उल्लेख करते समय हमने बताया था कि शासन-प्रबन्ध का सुचारु रूप से सचालित करने के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकारी थे। उनका पृथक्-पृथक विभाग भी रहा होगा। सेनानी सेना का प्रबन्ध करता था। अथर्ववेद से यह ज्ञात होता है कि दूत या प्रहित जासूसी करते थे।[6] इसी प्रकार ग्रामिणी भी सैनिक अधिकारी था।

न्याय की देखरेख सभा के अतिरिक्त राजा स्वय करता था।[7] तैत्तिरीय सहिता से 'ग्राम्यवादिन' गाँव का न्यायाधीश जान पडता है।[8]

छान्दोग्य उपनिषद् से ज्ञात होता है कि शास्त्र-तत्र पूर्णतया सुव्यवस्थित हो चुका था जिससे देश मे शान्ति एव सुव्यवस्था स्थापित थी। राज्य की ओर से उचित

१ अथर्ववेद ७।२।१॥
२ „ ६।८॥ तथा ७।१२।२-३॥
३ „ २-२७॥६।६६॥४।३११॥
४ छान्दोग्य उपनिषद् ।१४।१॥
५ अथर्ववेद ८।७५।१०३॥७।५२॥३।२६॥६।१०७॥
६ अथर्ववेद ४।१६।४॥ तैत्तिरीय सहिता ४।७।१॥
७ „ ४।८।२॥
८ मैकडानेल और कीथ, *Vedic Index*, I, p 248

शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था रही होगी तभी उक्त उपनिषद मे केकय-नरेश अश्वपति से कहलाया गया है—

"मेरे राज्य म न कोई चोर है, न कायर है, न कोई अधम है, न कोई अविद्वान् या मूख है और न कोई व्यभिचारी है।"

पचायत द्वारा भी झगडा का अत किया जाता था।[1] अपराधो के विषय मे हमे अधिक कुछ ज्ञात नही पर राजद्रोह निश्चय ही भारी अपराध माना जाता था जिसके लिए ब्राह्मण तक को प्राणदण्ड दिया जा सकता था।[2]

आय के साधनो मे भूमिकर तथा व्यापार कर प्रमुख थे। अमीरो से कर लेने का उल्लेख कई स्थलो पर किया गया है।[3]

प्रश्न

आगरा यूनिवर्सिटी

(१) ऋग्वेद कितना प्राचीन है? आर्यों के प्रारम्भिक निवास स्थान पर क्या यह ग्रथ प्रकाश डालता है? क्या इसमे राजनतिक इतिहास के लिए कोई सामग्री है? (१९५०)

(२) वदिक साहित्य के विभिन्न शाखाओं के विषय एव विशेषताओं का सक्षिप्त वर्णन कीजिये। (१९४५)

(३) ऋग्वैदिक युग के आर्यो के धार्मिक जीवन का वणन कीजिये। (१९४२)

(४) ऋग्वैदिक युग के आर्यों के सामाजिक जीवन का सविस्तार वणन कीजिए। (१९४३, ४६, ४७)

(५) परवर्ती वदिक युग मे भारत की धार्मिक अवस्था का वणन कीजिये। (१९४४)

कानपुर विश्वविद्यालय

(१) ऋग्वेद काल के समाज और धर्म का वत्तान्त सक्षेप मे लिखिये। (१९६९)

(२) भारत की तत्कालीन राजनतिक एव आर्थिक स्थिति पर ऋग्वेद से क्या प्रकाश पडता है? (१९७०)

---

१ देखिये डॉ० बेनी प्रसाद, 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता', पृ० ११८

२ मैकडानेल एण्ड कीथ, *Vedic Index*, II, p 84

३ ऋग० १०।१७३।६।। अथर्ववेद ४।२२।।

उत्तर भारत की राजनैतिक अवस्था

पिछले पृष्ठो मे हमने ऋग्वैदिक और उत्तर वैदिक भारत की राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था से परिचित होने का प्रयास किया। उत्तर वैदिक काल तक आर्यों की राजनैतिक व्यवस्था का आधार जन था। ऋग्वेद के वर्णन से हमें यह पता चलता है कि आर्य अनेक जनो मे विभक्त थे। एक ही जाति पुरुष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बों के समुदाय को जनो कहा जाता था। प्रारम्भ में इन जनों का कोई अपना निश्चित स्थान नहीं था पर कालान्तर में उनके स्थायी राज्य स्थापित हुए। ये स्थायी राज्य ही जनपद कहलाये। ऋग्वेद और वैदिक संहिताओं में 'जन' शब्द का ही उल्लेख मिलता है जनपद का नहीं। 'जनपद' शब्द का पहली बार प्रयोग हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण काल में जनपदों का अस्तित्व था। महात्मा बुद्ध के समय तक ये जनपद पूर्ण विकसित हो गये थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस विषय मे लिखा है कि "लगभग एक सहस्र ईसवी पूर्व से पाँच सौ ईसवी तक के युग को भारतीय इतिहास मे जनपद या महाजनपद युग कहा जाता है। सारे देश में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक जनपदो की एक शृंखला फली हुई थी। एक प्रकार से जनपद राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गए थे।" प्रत्येक जनपद अनेक ग्रामो और नगरो से मिल कर बना था जिसकी अपनी अलग राजनैतिक व्यवस्था थी, अलग शासन था। इस प्रकार कालान्तर मे विकसित जनपद जातीय इकाई की अपेक्षा एक राजनैतिक इकाई के रूप मे विकसित हो गया था। महात्मा बुद्ध के उदय के पूर्व भारतवर्ष में १६ मुख्य जनपद या महाजनपद (षोडस जनपद) थे। इसीलिए अनेक इतिहासकारो ने इस युग को 'महाजनपद युग' कहा है। महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व के इन महाजनपदो का परिचय हमें मुख्यतया पालि भाषा के 'अंगुत्तर निकाय' बौद्ध संस्कृत, संस्कृत ग्रंथ महावस्तु' तथा जैनग्रंथ 'भगवती श्रौत सूत्र' से मिलता है।

नीचे हम उस समय के १६ महाजनपदो का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

महाजनपद

(१) अंग, (२) मगध (३) काशी, (४) कोशल, (५) वज्जि, (६) मल्ल, (७) चेदि, (८) वंश या वत्स, (९) कुरु, (१०) पंचाल, (११) मच्छ या मत्स्य, (१२) सूरसेन, (१३) अस्सक, (१४) अवंति, (१५) गांधार तथा (१६) कम्भोज आदि १६ महाजनपद थे।

विद्वानो ने उपरोक्त जनपदो की स्थिति इस प्रकार बताई है—

(१) अंग—चम्पा इस जनपद की राजधानी थी।[1] यह मगध के अंतर्गत

[1] महावस्तु ३।२०८–२०९॥

आधुनिक भागलपुर के निकट था। प्रारम्भ में इस जनपद के राजाओं ने ब्रह्मदत्त के सहयोग से मगध के कुछ राजाओं को पराजित भी किया था किन्तु कालान्तर में इनकी शक्ति क्षीण हो गई और इन्हें मगध से पराजित होना पड़ा।

(२) मगध—आधुनिक पटना तथा गया जिला इसमें सम्मिलित थे। इसकी राजधानी गिरिव्रज थी। भगवान बुद्ध के पूर्व बृहद्रथ तथा जरासंध यहां के प्रसिद्ध राजा हुये हैं।

(३) काशी—इसकी राजधानी वाराणसी या बनारस थी। पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन किसी समय यहाँ राज्य कर चुके थे।

(४) कोशल—आधुनिक अवध के अनेक भाग इसके अन्तर्गत थे। श्रावस्ती इसकी राजधानी थी। सहेट महेठ (गोंडा) में आज भी इसके भग्नावशेष प्राप्त होते हैं। कंस भी यहाँ का शासक रहा जिसका संघर्ष बराबर काशी से होता रहा और अंत में कंस ने काशी को अपने अधीन कर लिया।[1]

(५) वज्जि—कई जातियों के संगठन स्वरूप वज्जि राज्य की उत्पत्ति हुई थी। वैशाली इसकी राजधानी थी।

(६) मल्ल—मल्लों की दो शाखायें थी। एक की राजधानी कुशीनारा (देवरिया जिले में आधुनिक कसिया) तथा दूसरे की पावा (आधुनिक पडरौना) थी।

(७) चेदि—आधुनिक बुन्देलखण्ड तथा उसके समीपवर्ती भूभाग इसमें सम्मिलित थे। शक्तिमती या सोत्थिवती इसकी राजधानी थी।

(८) वंश या वत्स—अवंति के उत्तर पूर्व में यमुना की तटवर्ती भूमि इसमें सम्मिलित थी। इसकी राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबाद से ३० मील दूर) थी।

(९) कुरु—दिल्ली की समीपवर्ती भूमि तथा मेरठ इस जनपद के अधीन था। इसकी राजधानी सम्भवतः हस्तिनापुर या इन्द्रप्रस्थ थी।

(१०) पंचाल—आधुनिक रुहेलखण्ड इसके अन्तर्गत था। मल्लों की भाँति इसकी भी दो शाखायें थी—पहली शाखा उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र तथा दूसरी शाखा दक्षिण पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी।

(११) मच्छ या मत्स्य—यह जनपद आधुनिक जयपुर रियासत में स्थित था। विराट नगर इसकी राजधानी थी।

(१२) सूरसेन—इसकी राजधानी मथुरा थी।

(१३) अस्सक—यह अवंति का एक समीपवर्ती राज्य था। प्रारम्भ में अस्सक गोदावरी नदी के तट पर बसे हुए थे और पोतलि अथवा पोतन इनकी राजधानी थी।[2]

(१४) अवंति—इसके अन्तर्गत आधुनिक मालवा था। उज्जैन इसकी राजधानी थी। हैहयों ने कभी यहाँ राज्य किया था। माहिस्सती इसकी राजधानी थी।

(१५) गन्धार—आधुनिक काश्मीर तथा तक्षशिला के प्रदेश इसके अन्तर्गत थे। तक्षशिला इसकी राजधानी थी।

---

१ कंस को पालिग्रन्थों में 'बारानसिग्गाहो' कहा गया है।

२ महावस्तु ३।२०८–२०९।। महावस्तु में सात राज्यों तथा उनकी राजधानियों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१६) कम्भोज—ये गधारा के पड़ोसी थे। इनमे कभी निकट सम्बन्ध भी रहा होगा, क्योंकि गंधार-कम्भोज अनेक स्थलो पर साथ-साथ उल्लिखित हैं। राजपुर तथा द्वारका इनके दो प्रमुख नगर थे।

बुद्धकाल मे गणतान्त्रिक जातियाँ

महात्मा बुद्ध का जन्म छठी शताब्दी ई० पू० मे हुआ था। भारतीय इतिहास का यह काल 'बुद्ध-युग' के नाम से विख्यात है। निश्चित रूप से भारतीय इतिहास की यही एक प्रामाणिक घटना है जिसका कालक्रम निश्चित करने मे हम काफी अश तक सफल हो पाये हैं। महात्मा बुद्ध का जन्म सम्भवत ५६७ ई० पू० मे हुआ था और इस महामानव ने अपने प्राण ८० वर्ष की अवस्था मे लगभग ४८३ ई० पू० छोड़े थे। इस युग के उदय से भारतीय राजनैतिक रंगमच पर भी चार महान् राजतन्त्रों का विकास होता हुआ दीख पड़ता है। ये राजतन्त्र हैं—कोशल, वत्स, अवन्ती तथा मगध। इन चार राजतन्त्रो से महात्मा बुद्ध का अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। महात्मा बुद्ध अपने जीवन की जब अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे, तभी कोशल के महत्वाकांक्षी नरेश विड्डभ ने कपिलवस्तु के शाक्यो पर आक्रमण किया और अपना सर्वाङ्गीण प्रभुत्व इस अभागे राज्य पर बलात् थोपा। इसी समय जब आक्रमणो एव प्रत्याक्रमणो की शृ खला अनवरत थी, मगध के अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियो या वज्जियो पर घातक प्रहार किया और इन स्वतन्त्रता प्रिय लोगो की आजादी का हनन कर दिया। यद्यपि पड़ोस के राज्यो ने असहाय एव निबल राज्य की सहायता मे कोई कसर न छोड़ी थी, लेकिन अजातशत्रु की महती शक्ति के सम्मुख यह लोग न ठहर पाये। कोशल एव मगध की व्यवस्था का मूलाधार राजतन्त्रवाद था। लेकिन वज्जिगण, लिच्छवि एव शाक्यो की राजनैतिक पद्धति वशगत नरेशो द्वारा क्रियान्वित नही होती थी। उनकी कार्यपालिका एव उपर्युक्त चार राज्यों की कार्यपालिका म पर्याप्त अन्तर था। बौद्ध एव जैन ग्रन्थो से हम बहुत-सी अराजतान्त्रिक जातियो का बोध होता है जो कि इसी काल मे गगा घाटी मे स्थित थीं। अब हम इन विभिन्न गणतान्त्रिक जातियों के विषय मे कुछ विस्तार से अध्ययन करेंगे। रीज डेविड्स (Rhys Davids) ने अपनी पुस्तक बुद्धिस्ट इण्डिया (Buddhist India) मे निम्नलिखित ११ जातियाँ निर्दिष्ट की हैं —

(१) कपिलवस्तु (कपिलवस्तु) के शाक्य,
(२) अल्लकप्प के बुली,
(३) केसपुत्त के कालाम,
(४) सुसुमारगिरि के भग्ग,
(५) रामगाम के कोलीय,
(६) पावा के मल्ल,
(७) कुशीनारा के मल्ल,
(८) पिप्पलिवन के मोरिय,
(९) मिथिला के विदेह,
(१०) वैशाली के लिच्छवि तथा
(११) वैशाली के नाग।

इन गणराज्यो पर सक्षेप मे नीचे प्रकाश डाला जायगा ।

(१) कपिलवस्तु के शाक्य—महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म इसी कुल मे हुआ था, अत यह स्वाभाविक है कि बौद्ध ग्रन्थो मे इसका विस्तृत, पर अतिरजित वर्णन मिले । शाक्य नेपाल की सीमा पर हिमालय की तराई मे रहते थे । शाक्यो की राजधानी कपिलवस्तु थी । शाक्यो का गणराज्य काफी उन्नत था और उन्होने अनेक विशाल नगरो का निर्माण किया था । रीज डेविड्स के मतानुसार उक्त गणराज्य मे ८०,००० कुटुम्ब (लगभग पाँच लाख मनुष्य) थे ।

शाक्यो का शासन प्रबन्ध अत्यन्त सुन्दर था । इनकी मत्रणा-सभा काफी विपद् थी । इस सभा द्वारा ही न्याय तथा शान्ति की व्यवस्था की जाती थी । इसका प्रधान 'राजा' कहलाता था । महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन भी इसके 'राजा' रह चुके थे । 'सथागार' मे ५०० सदस्यो की सभा होती थी । किसी किसी विषय पर मतैक्य न होने पर 'शलाकाओ' (वोटिंग) द्वारा बहुमत लिया जाता था जो सर्वथा मान्य था ।

आक्रमणकारी विरुढक के लिये राजधानी कपिलवस्तु का द्वार खोला जाय अथवा नही, इस प्रश्न पर सथागार मे बहुत वादविवाद खडा हुआ जिसमे अन्त मे बहुमत के लिए 'वोटिंग' की गई ।

शाक्यो मे विद्या एव कला के प्रति विशेष अनुराग था । कपिलवस्तु उस समय शिक्षा एव सस्कृति का केन्द्र माना जाता था । महात्मा बुद्ध ने यही विभिन्न प्रकार की कलाओ का अध्ययन सफलतापूर्वक किया था, जिसके फलस्वरूप ५०० शाक्यो को प्रतियोगिता मे पराजित करके ही वे यशोधरा को ग्रहण कर पाये थे । शाक्यो को अपनी कला एव सस्कृति पर गर्व था कि उसे स्थायित्व देने तथा उसमे किसी प्रकार का सम्मिश्रण न होने देने के अभिप्राय से ही अपने इतर वर्गवाले क्षत्रियो से वैवाहिक सम्बन्ध नही करना चाहते थे । यही कारण था कि उन्होने कोशल-नरेश प्रसेनजित् को शाक्य-कन्या न देकर एक दासी से ब्याह कर दिया ।

(२) अल्लकप्प के बुली—बुली वेथदीप राजा के निकट ही कही बसे थे । इनकी भूमि आधुनिक शाहाबाद तथा मुजफ्फरपुर के बीच ही कही थी ।

(३) केसपुत्त के कालाम—महात्मा गौतम बुद्ध के गुरु आलार कालाम इसी कुल के थे । इनका सम्बन्ध सम्भवत शतपथ ब्राह्मण मे वर्णित पचाल केशियो से है ।

(४) सुसुमारगिरि के भग्ग—ये ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन वर्ग थे । डॉ० के० पी० जायसवाल के अनुसार इनकी भूमि मे मिर्जापुर तथा उसका समीपवर्ती भूभाग सम्मिलित था ।[1]

(५) रामगाम के कालीय—इनका निवास स्थान प्रसिद्ध शाक्यो के पूर्व मे था । दोनो गणराजाओ के मध्य मे रोहिणी नदी थी । सिंचाई के लिये रोहिणी के जल के प्रश्न पर दोनो गणराज्यो मे सघर्ष हो जाया करते थे । इसी पारस्परिक कलह की शान्ति के लिए ही सम्भवत महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन ने कोलियो की दो कन्याओ से ब्याह किया था । महात्मा बुद्ध को भी इसी प्रकार के एक कलह को शान्त करना पडा था जिसका उल्लेख जातक मे किया गया है ।

(६) पावा के मल्ल—ये वशिष्ठ गोत्र के क्षत्रिय थे । इनकी दो शाखायें थी । पहली शाखा पावा के मल्ल सम्भवत आधुनिक पडरौना मे बसे थे । किन्तु डा०

१ देखिये के० पी० जायसवाल ।

कनिंघम के इस मत के विरुद्ध इतिहासकार पजिलपुर को ही पावा मानते हैं। पावा में ही महात्मा महावीर ने पञ्चत्व प्राप्त किया था।

(७) कुशीनारा के मल्ल—यह मल्लों की दूसरी शाखा थी। आधुनिक कसिया ही कुशीनारा नाम से विख्यात था। यहीं बुद्ध का परिनिब्बान (परिनिर्वाण) हुआ था जिसका प्रमाण कसिया में प्राप्त महात्मा गौतम बुद्ध की परिनिर्वाण मुद्रा में सोई हुई एक विशाल मूर्ति है।

मज्झिम निकाय में मल्लों के राज्यों को 'संघ राज्य' कहा गया है। संथागार में इनकी सभायें हुआ करती थी। महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण की दुखद सूचना आनन्द द्वारा पावा के मल्लों को उस समय दी गई थी जबकि उनकी बैठक चल रही थी।

मल्लों में भी शाक्यों की भाँति शिक्षा एवं कला से विशेष रुचि थी। सुदूर तक्षशिला को मल्लों के एक प्रमुख ने अपने पुत्र बन्धुल को विद्याध्ययन के लिए भेजा था। दर्शन के क्षेत्र में भी ये काफी आगे बढ़े थे और इनका एक नगर उरवेलकप्प तो दार्शनिक वादविवाद के लिये प्रसिद्ध था। धर्म के प्रति भी इनकी विशेष रुचि थी। बौद्ध धर्म के उत्थान में मल्लों की प्रशंसनीय देन है। अनरुद्ध, आनन्द, उपालि आदि के नाम एवं कार्य इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं।

(८) पिप्पलिवन के मोरिय—महावंश टीका से ज्ञात होता है कि मोरिय पहले शाक्य थे, पर कालान्तर में विडूडभ की क्रूरता से ऊबकर व स्थानान्तरण करके हिमालय के पर्वतीय भाग में चले आये जहाँ उन्होंने पिप्पलिवन नगर का निर्माण किया। इन्हें मोरिय की संज्ञा इसलिये दी गई थी कि इनकी नगरी सर्वदा मोरों के शब्दों से गुंजरित रहती थी। मगध-साम्राज्य का निर्माता चन्द्रगुप्त इन्हीं मोरिय (मौर्यों) का वंशज था।

(९) मिथिला के विदेह—मिथिला इसकी राजधानी थी। जातक से ज्ञात होता है कि यह बहुत ही प्रसिद्ध व्यापारिक नगर था और दूर दूर के व्यापारी यहाँ व्यापार करने आते थे।

(१०) वैशाली के लिच्छवि—लिच्छवि क्षत्रिय थे। इनके वैवाहिक सम्बन्धों के आधार पर ही हम इन्हें क्षत्रिय मानते हैं। महावीर के पिता सिद्धार्थ ने इनकी कन्या से ब्याह किया था। क्षत्रिय होने के कारण ही महात्मा बुद्ध के भस्मावशेष के ये अधिकारी हुए।[1] वैशाली इनकी राजधानी थी। महावस्तु, महाभग्ग, महापरिनिब्बान सुत्त, आदि से ज्ञात होता है कि महात्मा गौतम बुद्ध के काल में लिच्छवियों ने आशातीत उन्नति कर ली थी। इनके नगर अत्यधिक सुसज्जित एवं समृद्धिशाली थे। नगर में चारों ओर अनेक चैत्य, विहार तथा राजप्रासाद थे। राजप्रासाद विभिन्न कुलीन सरदारों के थे।

लिच्छवियों का शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित था।[2] गणराज्य में ७,७०७ 'राजा'[3], अनेक 'उपराजा', 'सेनापति' तथा 'भाण्डागारिक' थे। 'चक एवं मानयते महम् राजा अहम् राजेति' से यह परिलक्षित होता है कि लिच्छवियों में 'राजा या

१ महापरिनिब्बान सुत्त।

२ एक पुराण जातक, ला, *Some Kshatriya Tribes of Ancient India*, p 99

३ ललितविस्तर ३ २३॥

अराजा का कोई भेद नही था, प्रत्येक व्यक्ति अपने को 'राजा' मानता था।[1] ऊपर ७ ७०७ 'राजाओ' का जो उल्लेख किया गया है, वे सम्भवत अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी थे और उनका सगठन लिच्छवि गणराज्य था। मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छवि तथा नाथ का ही एक सगठन 'अट्ठकुल' (अष्टकुल) के नाम से विख्यात था। 'विनिस्वय महामात्र', 'व्यावहारिक', 'सूत्रधार' (अट्ठकुल के अधिकारी) अपराधियो का निर्णय करते थे और तत्पश्चात 'सेनापति के पास अपराधी को दण्डाथ भेज दिया जाता था। वहाँ से अपराधी 'उपराजा' तथा 'राजा' के पास भेजा जाता था। स्वय महात्मा गौतम बुद्ध ने लिच्छवियो की सुन्दर शासन-व्यवस्था की प्रशसा मुक्त कण्ठ से की है।

महापरिनिब्बान सुत्त से ज्ञात होता है कि लिच्छवियों का गणराज्य अनेक विशेषताओ से युक्त था। उनमे मतैक्य, सौहार्द्र, आदर, दृढता आदि की भावना बलवती थी। इन गुणो के अतिरिक्त उनमे एक सवश्रेष्ठ गुण राष्ट्रीयता की भी भावना प्रबल थी। महात्मा बुद्ध ने इनकी सहिष्णुता की काफी प्रशसा की है। लिच्छवियो पर बुद्ध तथा जैन के उपदेशो का भी पर्याप्त प्रभाव पडा और अनेक राजकुमारो ने धार्मिक क्षेत्र मे प्रशसनीय काय किये।

(११) **वैशाली के नाग**—अष्टकुल का उल्लेख पीछे किया गया है। इसके अन्तगत आठ गुण थे, जिनमे विदेह ज्ञात्रिक, लिच्छवि तथा वज्जि सम्मिलित थे। उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकु तथा अन्य चार गण थे।[2] ज्ञात्रिक काश्यप गोत्र के क्षत्रिय थे। सूत्र कृताग से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी का जन्म इसी कुल मे हुआ था, क्योकि उक्त ग्रन्थ ने उन्हें 'सर्वोच्च जिन, ज्ञात्रिपुत्र महावीर' कहा है।[3] "ज्ञात्रिको का अपना गणराज्य वैशाली, कुण्डग्राम तथा वनियगाम से युक्त था और इसका केन्द्र कोल्लग नामक स्थान मे था।"

शासन-प्रबन्ध

उपर्युक्त राज्यो के वशगत नरेशो के नामो के अभाव के कारण हम यह अनुमान लगाते हैं कि यह राजतत्रवादी राज्य नही थे। हमारे इस मत की पुष्टि तब होती है जब हम इन राज्यो के लिए 'गण' शब्द का प्रयोग पाते हैं। इन राज्यो की कार्यवाहियाँ सथागार नामक भवनो से सचालित होती थी। इन भवनो मे राज्य के वयोवृद्धो के सम्मेलन होते थे। वे सब मिलकर एव वादविवाद कर अधिनियम पारित करते थे। गणतत्र राज्यो की वास्तविकता का पता हम एक अन्य स्थल से भी ज्ञात होता है। अवदान शतक मे एक गद्याश है। इस गद्याश मे कुछ व्यापारियो का मध्यदेश से दक्षिण की यात्रा करने का उल्लेख है। दक्षिणवासी जब इन व्यापारियो से अपने यहाँ की शासन-व्यवस्था के विषय मे प्रश्न पूछते हैं, तब यह व्यापारी उत्तर देते हैं—"कुछ स्थान तो राजाधीन और कुछ स्थान गणाधीन हैं।

'गण' शब्द राजतत्रवाद का विरोधी भाव प्रकट करता था। समस्त प्राचीन पुस्तको में इस शब्द का सवैधानिक भाव एक ही जैसा है। पाणिनि ने अपनी अष्टा

---

१ महापरिनिब्बान सुत्त—बुद्धघोष की टीका।
२ देखिये राधाकुमुद मुकर्जी, *Hindu Civilization*, p 202
३ सूत्रकृतांग १।१।१।२७॥

ध्यायी मे इसी भाव को प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त निर्दिष्ट गणो मे राजनैतिक रूप से सबसे प्रसिद्ध गण वज्जियो का था। यह वज्जि ८ सम्मिलित कबीलो का एक शक्तिशाली सघ था। यह सघ गणतन्त्र विचारो का मुख्य केन्द्रीय स्थल था। इस जाति को अपनी इस विशिष्ट राजनैतिक व्यवस्था पर नाज था। इस जाति ने अपने को पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न बनाए रखन के लिए भयकर बलिदान अर्पित किए थे। साकिया, भग्गो एव कालमो की पृथक् स्वतन्त्र स्थिति के विषय मे पर्याप्त विवाद है। कुछ विद्वान् तो इन राज्यो को 'गण' ही नही मानते। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार तथा डॉ० बी० सी० सेन के अनुसार शाक्य स्वतन्त्र लोग थे। हेमचन्द्र रायचौधरी ने इन्हे नही माना है। ओल्डेनबर्ग (Oldenberg) तथा यू० एन० घोषाल ने इस जाति को राजतन्त्रीय माना है। लेकिन बौद्ध ग्रन्थो एव ब्राह्मण ग्रन्थो मे कई स्थलो पर आए विवरणो से इनका गणतन्त्री होना निश्चित-सा प्रतीत होता है।

अब हम इन गणो के सविधान एव शासन व्यवस्था के विषय मे कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। यद्यपि हम इस विषय पर अधिक सामग्री उपलब्ध नही होती, लेकिन जो कुछ भी हमे इस बारे मे मिलता है वह निश्चित एव प्रामाणिक प्रकृति का है। राज्य का सर्वोच्च कार्यपालिका का प्रधान 'राजा' होता था। यह 'राजा' एक निर्वाचित व्यक्ति होता था। 'राजा' उपाधि थी, परन्तु कार्यपालिका प्रधान के विषय मे हम और कुछ भी नही पता चलता। न ही हम उसकी नियुक्ति के सही तरीके के विषय मे और न ही उसके कार्यकाल के विषय मे हम कुछ ज्ञात होता है। राज्य के अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियो मे उपराज (उप प्रधान), सेनापति तथा भाण्डागारिक (खजाची) थे। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थो मे कुछ निर्देशो से हमे यह ज्ञात होता है कि लिच्छवियों तथा मल्लो मे एक कार्यकारिणी समिति या मन्त्रिमण्डल की भी व्यवस्था थी। इस मन्त्रिमण्डल मे ९ सदस्य होते थे। इसके अतिरिक्त कोलियो मे पुलिस जैसी एक विशिष्ट सेवा व्यवस्था थी। इन लोगो की समरूप वेषभूषा थी और आधुनिक काल की भाँति ही इनको आदर एव सम्मान की दृष्टि से नही देखा जाता था। मल्लो मे भी ऐसी प्रणाली थी। श्री रीज़ डेविड्स (Rhys Davids) ने अपनी पुस्तक 'बुद्ध युग का भारत' (Buddhist India) में लिखा है—

"The Koliyan central authorities were served by a special body of peons, or police, distinguished, as by kind of uniform, from which they took their name, by a special head dress The particular men had a bad reputation for extraction and violence The Mallas had similar officials and it is not improbable that each of the clans had a somewhat similar set of subordinate servants"

सथागार—लेकिन 'गण' की शक्ति वस्तुत सथागार मे निहित थी। सथागार मुख्य नगरो मे विद्यमान थे। इन भवनो मे केन्द्रीय अधिवेशन होते थे। यह सथागार वस्तुत लोकसभा का ही पूर्व रूप कहा जा सकता है। सथागारो मे पारित अधिनियमो को ही 'राजा' एव मन्त्रिमण्डल क्रियान्वित करता था। सथागार के सदस्यो को भी 'राजा' कहकर सम्बोधित किया जाता था। इस प्रकार इस उपाधि से यही ध्वनित होता है कि इन सदस्यो का भी पर्याप्त सम्मानजनक स्थान था। कार्यपालिका का प्रधान राजा के समान श्रेणी वालो में उच्चतर था। सभी प्रकार के मामले, चाहे उनका सम्बन्ध देश की शान्ति से हो, युद्ध से हो, नागरिकता से हो, आर्थिक समस्या से हो, इस सभा मे

उपस्थित होते थे। प्रस्तावो पर बहस होती थी और बहुमत का निर्णय सबको मान्य होता था। देश की महत्वपूर्ण समस्याओ के भाग्य विधाता होने के कारण उनका उत्तरदायित्व भी अत्यधिक था। वे अपने विशिष्ट पद के प्रति सदैव सजग रहते थे। वे सदैव सोच समझ कर किसी भी वर्ग को आगे बढ़ाते थे। तर्कसगत सम्मतियाँ देना उनका मुख्य कर्त्तव्य था। चूलकलिंग जातक मे यह स्पष्ट निर्दिष्ट है कि लिच्छवि राज्य के समस्त राजा तर्क एव विवाद मे अग्रणी थे। मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'Corporate Life' मे इस भावना का स्वागत करते हुए लिखा है—

"*It seems to prove that the Assembly was not merely a formal part of the constitution, it had active and vigorous life and wielded real authority in the state*"

भद्दसाल जातक मे हमे एक सरोवर का उल्लेख प्राप्त होता है। यह सरोवर वैशाली मे था और पूर्णतया सुरक्षित रखा जाता था। इसमे राजाओ के परिवार के व्यक्ति विशेष उत्सवो मे जल लेकर सिञ्चन करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जब इन राजाओ को पदो पर मनोनीत किया जाता था तो इन व्यक्तियो को एक औपचारिक कार्यवाही से गुजरना पडता था। इस पदाधिकारियो को उपर्युक्त उल्लिखित सरोवर मे स्नान करना पडता था।

समिति—शाक्यो तथा वज्जियो की सभा मे वस्तुत पूरी जाति का सम्मेलन होता था। पूरी जाति समस्याओ पर मत निर्धारण करती थी। वृद्ध एव युवा दोनों इन सभाओ मे सहयोग करते थे। लेकिन यदि हम इस पर विचार करें तो यह कथन युक्तिसगत नही होता, क्योकि यह जातियाँ काफी विस्तृत राज्य पर प्रभुत्व रखती थी। अतएव सब लोगो का भाग लेना कुछ जमता नही। दूसरी बात यह है कि यह कबीले अब कुछ सुसस्कृत एव सुसम्पन्न हो गए थे, अतएव उन्होने क्षेत्रीय राज्य स्थापित कर लिए थे। इनकी सभाओ के अधिवेशन अनुशासनयुक्त एव नियमित रूप से होते थे। आधुनिक काल की ससदीय व्यवस्था की सभी अच्छाइयाँ हमे तत्कालीन बैठको मे परिलक्षित होती हैं। अतएव यह निश्चित ही समझना चाहिए कि इन अधिवेशनो मे मनोनीत सदस्य ही भाग लेते थे। बौद्ध सघो की कार्यवाहिया इसी प्रकार से क्रियान्वित होती थी। काशी प्रसाद जायसवाल का कहना है कि महात्मा बुद्ध ने राजनैतिक सघो के आधार पर ही अपनी सघ व्यवस्था का ताना-बाना बुना था। इन 'गण' सविधान से ही प्रेरित हो इस युग प्रवर्तक ने अपनी धार्मिक प्रणाली की नीव खडी की थी। डॉ० भडारकर ने भी जायसवाल के मत का अनुमोदन किया है। परन्तु श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस मत का खडन करते हुए लिखा है कि बौद्ध सघ वस्तुत एक स्वतन्त्र रूप से विकसित तथ्य है। गणतान्त्रिक सभाओ से इस सघ ने अधिक कुछ ग्रहण नहीं किया है। परन्तु यह बात तो अब एक प्रमाण बन चुकी है कि गणतान्त्रिक सभायें तथा बौद्ध सघ एक ही ढग से कार्य करती थी। इन दोनो सघो की कार्य प्रणालियाँ समरूप थी। दोनो ही सघो मे कई शब्द सामान्य थे। ये शब्द है—ज्ञप्ति प्रतिज्ञा तथा कर्म वाचा। विनय पिटक मे जिन नियमो का विधान किया गया है वे नियम दोनो सघो द्वारा क्रियान्वित किए जाते थे। अब हम कुछ विशिष्ट तथ्यो की ओर आपका ध्यान आकर्षित करेंगे। यह तथ्य इस प्रकार थे—

(क) मत विभाजन की स्थिति मे किसी समस्या का निपटारा गुप्त मतदान या सार्वजनिक मतदान द्वारा किया जाता था। इसी प्रकार प्रस्तावो को उपस्थित करने

के विषय मे भी कई निश्चित नियम थे। मतदान सभी किया जाता था जब सभा मे प्रत्येक सदस्य अपने पृथक् मत का पूर्णतया प्रकाशन कर लेता था। विचारो की स्वतन्त्रता का सम्मान तत्कालीन गण प्रणाली का बहुत बडा वरदान था। यही नहीं प्रत्येक विचारधारा वाले व्यक्ति के विचारो पर कान धरे जाते थे।

(ख) जब सभा अपने निर्णय म असफल रहती तो उन महत्वपूर्ण मामला पर अधिक विचार-विमर्श के लिए वे मामले सभा की एक निर्वाचित समिति को सौंप दिये जाते थे। यह समिति मामल की छानबीन पूरी रूप मे करती थी। इस समिति द्वारा भी अपने लक्ष्य म विफलता हस्तगत करने पर यह मामला पुन सभा के लिए उपस्थित होता था।

(ग) अनुपस्थित सदस्या के मत ग्रहण करने की भी व्यवस्था थी। यह सदस्य अपने मत दूसरो के माध्यम से डलवाते थे। कोरम की भी प्रथा इस युग म भी थी। बिना एक निश्चित सख्या मे सदस्या के उपस्थित हुए सभा की कायवाही प्रारम्भ नही की जा सकती थी। सभा मे व्यक्तिगत आरोपो पर कडा प्रतिबन्ध था। आपत्तिजनक भाषा का भी प्रयोग निषिद्ध था। इस प्रकार आधुनिक ससदीय प्रणाली का कितना परिष्कृत रूप हमे इस प्राचीन काल म भी परिलक्षित होता है।

(घ) आधुनिक काल की भाँति सभा की कायवाही अकित करने के लिए लिपिक भी होते थे। यह लिपिक प्रत्यक सदस्य द्वारा प्रकाशित मत का लेखबद्ध करते थे।

इस प्रकार य सभी विशिष्टताएँ देखकर कौन इतिहासकार यह कहने मे हिचकिचाहट अनुभव करेगा कि भारत गणतन्त्रात्मक व्यवस्था का स्रोत है। भारत म ईसा की छठी शताब्दी मे ही जनतान्त्रिक व्यवस्था अपने आधुनिक रूप म काफी अश म वतमान थी। हमारे उपर्युक्त तथ्य हमारे इस मत की पुष्टि करते है।

आधुनिक काल की दृष्टि से सबस महत्वपूण बात जो हमारे सम्मुख आती है, वह यह है कि सभा के सदस्यगण, राजा एव कार्यकारिणी के विभिन्न पदाधिकारी किसी एक विशेषाधिकारी वग से मनोनीत किए जाते थे या इन पदो के लिए समाज का प्रत्येक वग अपने प्रतिनिधि भेजता था। एक गण जातक की प्रस्तावना म वशाली नगर के विषय मे कहा गया है—

"इस नगर मे राज्य को सचालित करने के लिए ७,७०७ राजा थे।"

इस निर्देश के आधार पर ही विभिन्न इतिहासकारो न विभिन्न मत व्यक्त किए है, इतना तो स्पष्ट है कि यह निर्देश लिच्छवियो की केन्द्रीय सभा की ओर है। सदस्या की अधिक सख्या देखकर यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक ही है कि यह सभा पूरे राष्ट्र के प्रत्यक वग का प्रतिनिधित्व करती थी और हर मान म एक जनतन्त्रात्मक सभा थी।

परन्तु अन्य ग्रथो मे हम ऐसी स्थिति मे साक्षात्कार नही होता है। लिच्छवि एक गणराज्य के सूत्राधार थे। मज्झिम निकाय म गण और सघ की एकात्मता स्थापित की गई है। कात्यायन न सघ की परिभाषा म कहा है कि यह वह राज्य है जिसे एक क्षत्रिय वग सचालित करता है। अतएव उपर्युक्त निर्देशा से तो हमारे पूवमत का आधार ही मिल जाता है और लिच्छवि राज्य एक कुलीनतन्त्र राज्य के रूप मे उभर आता है जिसके कर्ता धर्ता एक विशिष्ट वर्ग के क्षत्रिय हैं। इस प्रकार लिच्छवि राज्य विशेषाधिकारी वग द्वारा शासित राज्य था। इस मत की पुष्टि म हम एक ग्रन्थ कथन का भी स्मरण हो आता है। अल्तेकर महोदय की पुस्तक State and Government in Ancient

India' मे यह उल्लिखित है कि यद्यपि लिच्छवि राज्य मे कई सामाजिक वर्गों के लोग रहते हैं, जैसे ब्राह्मण, गृहपति, व्यापारी, कृषक, कलाकार, दास एव सेवक, लेकिन केन्द्रीय सभा के सदस्य तो लिच्छवि राजा हैं, अर्थात क्षत्रिय। बौद्ध ग्रथो मे जहाँ हमको 'राजाओं' का उल्लेख मिलता है, लिच्छवियों मे वहाँ हम राजकुमारो का भी निर्देश पाते हैं। इस निर्देश से हम वशगत कुलीन तन्त्र का आभास पाते हैं। इस प्रकार प्राचीन गणतन्त्र पूणतया जनतान्त्रिक नही थे लेकिन उनमे ऐसी कई बातें थी जो जनतन्त्र की ओर उन्हें उन्मुख कर रही थी। वैशाली के सविधान के आधार पर विद्वानो ने ऐसा अनुमान लगाया है कि इसी प्रकार की कुलीनतन्त्रात्मक व्यवस्था तत्कालीन गणों में थी।

केन्द्रीय सभाओ के सदस्यो का निर्वाचन किस पद्धति से होता था यह भी एक विवादग्रस्त विषय है। हमे इसके विषय मे अपरोक्ष रूप से कोई सूचना नही। एक जातक के अनुसार वैशाली मे कुलीन लोगो की जनसख्या १६८००० थी। यदि यह सूचना सत्य है तो वैशाली मे कुलीन लोगो की जनसख्या १६८००० थी। सभा से सयुक्त परिवारो के प्रधान सम्मिलित होते थे। प्रत्येक सयुक्त परिवार से २५ व्यक्ति होते थे। इन कुलीन तन्त्रात्मक गणो मे शासन का आधार सम्भवत कुल या परिवार थे। यही सबसे छोटी शासन की इकाई थी। राजाओ के निर्वाचन के विषय मे हमे किसी प्रकार की कोई सूचना या निर्देश नही प्राप्त होने।

कुछ लोगो ने वैशाली की केन्द्रीय सभा मे ७७०७ सदस्या का होना युक्तसगत नही बताया है। उनके अनुसार इस छोटे से राज्य म इतने व्यक्तियो का राजा होना अत्यधिक कठिन प्रतीत होता है। अतएव, इन विद्वानो ने इस सख्या को काल्पनिक तथा पारस्परिक करार दिया है। लेकिन अनन्त स्दाशिवराव अल्तेकर ने इन विद्वानो के इस मत का करारा उत्तर दिया है और उन्होने उचित ही कहा है—

"In contemporary Greece, the Athenian assembly consisted of 42000 citizens each one of whom had a right to attend its meetings In actual practice, however, not all the members cared to attend The normal attendance was 2000 to 3000, i e hardly 790 or 870 of the total membership"

वैशाली की भी यही परिस्थिति थी, यद्यपि सदस्य सख्या ७७०७ थी लेकिन सभा की साधारण बैठक मे १०% से अधिक राजा भाग नहीं लेते थे। इस प्रकार सभा को सुगम रूप से चलाने मे कोई कठिनाई नही प्रतीत होती थी।

न्याय व्यवस्था—कार्यपालिका एव विधान सभा की कार्यप्रणाली के विषय मे हमने कुछ ज्ञान प्राप्त किया। अब हम तत्कालीन गणराज्यो की न्याय-व्यवस्था का अध्ययन करेंगे। इतना तो पूणतया स्पष्ट है कि केन्द्रीय सभा राज्यो मे न्याय का सर्वोच्च उद्‌गम स्थल थी। वे मामले जो जनहित के लिए आवश्यक होते थे इस सभा में सुलझाये जाते थे। बुद्धघोष की टीका से हमे लिच्छवियो तथा वज्जि सघ के अन्य सदस्या की न्याय-व्यवस्था की प्रणाली की काफी जानकारी प्राप्त होती है। बुद्धघोष की टीका म कहा गया है कि वज्जिया म एक अपराधी को तभी दडित किया जाता था जबकि लगातार ८ न्यायाधिकरण उसे अपराधी घोषित करते थे। दण्ड मनमाने रूप से नही थोपा जाता था बल्कि प्राचीन ग्रथो के आदेशानुसार ही उन्हें दडित किया जाता था। ८ न्यायाधिकरणों में प्रत्येक न्यायाधिकरण को यह अधिकार था कि वह दोषी को छोड सके। न्यायालय के अधिकारियो को इन नामो से सबोधित किया जाता था—विनिच्छय

महामात्त, वोहारिक, सूत्रधार, अट्ठकुलक, भाण्डागारिक, सेनापति, उपराजा तथा राजा। विद्वानो ने बुद्धघोष के इस कथन की सत्यता मे संदेह शंका है। उनके अनुसार बुद्धघोष काफी देर का कवि एवं लेखक था। अतएव अपने पहले से लिखे हुए विवरणो को पूर्णतया यथार्थ नही माना जा सकता। वज्जियो की व्यवस्था का वह बडा भारी प्रशंसक था। अतएव वज्जियो को इस सुन्दर न्याय-व्यवस्था से युक्त करना उसका कार्य था। चाहे जो भी हो, चाहे बुद्धघोष का कथन सत्य हो या न हो, इतना तो तर्कसंगत है ही कि वज्जि लोग न्याय-व्यवस्था मे पर्याप्त ज्ञान रखते थे और उनकी न्याय व्यवस्था की कुशलता लोक प्रसिद्ध थी।

इस प्रकार गणतान्त्रिक शासन व्यवस्था द्वारा शासित इन राज्यो का विधान हमने उपर्युक्त पंक्तियो मे उल्लिखित किया। यह राजतन्त्रवाद शून्य राजनैतिक प्रणाली का भारत में ही सर्वप्रथम विकास हुआ था। भारत में ही प्रथम बार 'गणराज्य' शब्द की उत्पत्ति हुई थी। गणराज्य तथा जनतन्त्र मे हमे अन्तर समझने का प्रयास करना चाहिए। आधुनिक काल मे यह दोनो शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची से हो गये हैं। प्राचीन भारत में 'गण' शब्द का प्रयोग उस राजनैतिक प्रणाली के लिए होता था जिसमे प्रभुता कुछ सीमित लोगों तक ही सीमित रहती थी। जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का तात्पर्य था सम्पूर्ण जनता की सर्वप्रभुत्व सम्पन्नता। आशा है कि हमारे पाठकगण 'गणो' के विशिष्ट अर्थ से अब पूर्णतया परिचित हो गये होंगे।

राजतन्त्रीय राज्य

१६ महाजनपदो तथा ११ गणराज्यो के अतिरिक्त चार विशाल राजतन्त्रीय राज्यो का भी बोध हमे बौद्ध ग्रन्थो से होता है। यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इन समस्त राजनैतिक संगठनों का अस्तित्व एक ही समय मे बना रहा या नहीं, पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनमे से अधिकांश समसामयिक हैं। यहाँ हम उन चार प्रमुख राज्यों का वर्णन करेंगे जो उस समय समस्त उत्तरी भारत में प्रसिद्ध थे, जिनकी शक्ति अपरिमित थी और जो साम्राज्यवाद की बलवती भावना से ओत प्रोत थे। ये राज्य (१) वत्स, (२) अवन्ति, (३) मगध और (४) कोशल हैं।

वत्स

वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी जो इलाहाबाद से ३८ मील दूर कोसम गाव की निकटवर्ती भूमि के पास या सम्भवत उसी ग्राम मे थी। किन्तु महात्मा गौतम बुद्ध के काल मे व्यापार मे इसने आशातीत उन्नति कर ली थी। इसका व्यापारिक महत्त्व रखने का प्रमुख कारण यह था कि यह विदिशा होते हुए उज्जैन जाने के व्यापारिक मार्ग मे पडता था। बुद्ध काल मे उदयन यहाँ का शासक था। उदयन के सम्बन्ध मे सामग्रियो का बाहुल्य है पर वे इतिहास के कितने निकट हैं यह नही कहा जा सकता।[1] उदयन के सम्बन्ध मे कथासरितसागर मे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है पर जैसा कि डी० आर० भण्डारकर का मत है, इसका अधिकांश अविश्वसनीय है।[2] उदयन के सम्बन्ध मे

१ इस दिशा मे प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राच्य इतिहास, पुरातत्व और संस्कृति विभाग के अध्यक्ष प्रो० गोवर्धन राय शर्मा के तत्वावधान मे कौशाम्बी मे जो उत्खनन कार्य हुआ है, उससे इस युग के इतिहास को अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश मे आई है।

२ कारमाइकल लेक्चर, पृ० ५८।

पुराण, भास के नाटक स्वप्नवासदत्ता तथा प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, हर्ष के दो नाटक प्रियदर्शिका तथा रत्नावली आदि से कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

पुराणो ने इसे पौरव राजवश का बताया है और उसके पिता का नाम शतानीक बताया है।[१] वासवदत्ता तथा प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण मे भी उसके पिता के नाम का समर्थन हो जाता है। उसके पितामह का नाम सहस्रानीक ज्ञात होता है। भास ने इसे भारत कुल का बताया है। इसकी माता विदेह की राजकुमारी ज्ञात होती है क्योकि उदयन को विदेहपुत्र कहा गया है। उदयन के वैवाहिक सम्बन्धो के विषय के अत्यधिक मतमतान्तर है। भास ने स्वप्नवासवदत्ता मे मगध नरेश दरसक की पुत्री पद्मावती को इसकी रानी बताया है। हर्ष ने अपने नाटक 'प्रियदर्शिका' मे अंग-नरेश दृढवर्मन की पुत्री से इसका ब्याह होना बताया है। अपने दूसरे नाटक रत्नावली मे हर्ष ने उदयन का प्यार सागरिका से बताया है। इस सागरिका को धम्मपाल टीका मे उदयन की एक पत्नी वासवदत्ता की कचुकी बताया गया है। इस प्रकार इस अंतिम ग्रंथ से उदयन की पत्नियो का बोध होता है—(१) वासवदत्ता जो अवन्ति-नरेश (जिसे भास ने प्रद्योत महासेन तथा बौद्धग्रन्थो ने चन्द्रप्रद्योत कहा है) की पुत्री थी। सम्भवत प्रद्योत या प्रज्योत ने उदयन को कभी बन्दी बना लिया था और उसे अपनी पुत्री वासवदत्ता को गज-शिक्षा देने के लिए नियुक्त कर दिया था जहा दोनो का प्यार हो गया और वे चुपके से राजमहल से भागकर कौशाम्बी चले आये। (२) सामवती तथा (३) मागधिया।

उदयन के वैवाहिक सबधो के स्पष्टीकरण के लिए हम उसके पडोसी राज्यो पर ध्यान देना होगा। हम ज्ञात है कि इसके पूर्व मे मगध था, पश्चिम मे अवन्ति का राज्य था। ये दोनो इस पर अपनी कुटिल दृष्टि गडाये रहते थे। ऐसी अवस्था मे उदयन को ये वैवाहिक सम्बन्ध आवश्यक हो गये थे। इसमे उसकी नीति का बोध होता है। डॉ० बी० सी० ला का मत है कि यदि उदयन ने ये सम्बन्ध स्थापित नही किये होते तो मगध एव अवन्ति की बढती हुई ताकत के आगे कौशाम्बी कभी ही ध्वस्त कर दिया गया होता।[२]

उदयन की शक्ति के सबध मे बौद्धग्रथ बहुत उदार वृत्ति रखते हुए बताते हैं कि वह अत्यन्त शक्तिशाली था और उसकी सेना सर्वदा सशस्त्र सीमाओ पर तैयार रहती थी। पर जितनी किवदतिया या कथाये उसके ब्याह सम्बन्धी मिलती हैं, उतनी अन्य विषय पर नही। दृढवर्मन की पुत्री से ब्याह करने का कारण सम्भवत यह था कि दृढवर्मन को किसी राजा ने पराजित करके उसका राज्य छीन लिया था और उदयन ने उसे पुन उसका राज्य दिलवा दिया। कथासरितसागर तथा प्रियदर्शिका से उदयन की दिग्विजयो का बोध होता है। इनके अनुसार उदयन ने कलिंग को हराया था। कोशल से भी उसकी शत्रुता थी।[३] रत्नावली के आधार पर भडारकर महोदय इसका समर्थन करते है।

१ सम्भवत इसके पिता का नाम परतप था। देखिये साम्युत ४।११०।१३।। *Hindu Civilization*, p 148 मे उद्धृत।

२ *Geography of Early Buddhism*, p 23

३ स्वप्नवासवदत्ता के अनुसार उदयन को अपनी राजधानी छोडकर लावानक नामक ग्राम मे भाग जाना पडा था। सम्भवत आरुणि के आक्रमण के कारण ही उसे पलायन करना पडा था। यह सम्भवत गगा के उत्तर के किसी भाग का राजा था। डॉ० आर० भण्डारकर ने ऐसी शका उठाई है कि यह कोशल का राजा तो नहीं था। देखिये 'कारमाइकल लेक्चर, पृ० ६२

पालि साक्ष्यो से ज्ञात होता है कि उदयन पुत्र का नाम बोधी था जो सुसुमारगिरि के भग्ग नगर पर युवराज के रूप मे शासन करता था।[1] पर इसके आगे यह नही ज्ञात होता है कि उदयन के पश्चात् उसके पुत्र ने वत्स पर राज्य किया प्रथवा नही।

उदयन बौद्ध भिक्षु पिण्डोल भारद्वाज द्वारा बौद्ध धम का समथक एव उसका रक्षक बनाया गया था।

प्रवन्ति

अवन्ति राज्य के अतगत आधुनिक मध्य मालवा, निमार, मध्य प्रदेश तथा बरार के पड़ोसी देश सम्मिलित थे। बुद्ध-काल मे यहाँ का शासक प्रज्योत या प्रद्योत था। प्रद्योत को बौद्ध ग्रथा मे अत्यन्त क्रूर, महत्वाकाक्षी एव युद्धप्रिय के रूप में चित्रित किया गया है। उदयन को किसी प्रकार पराजित करके राज्य को आत्मसात् करने की ही कामना निरतर प्रद्योत के हृदय मे जोर मारती रही। प्रद्योत अपनी राजधानी उज्जैन स निरन्तर इस प्रकार का प्रयास करता रहा। इसकी महत्वाकाक्षाम्रो का सबसे बड़ा प्रमाण तो स्वय उसका राजा होना ही है क्योकि पुराणो के अनुसार प्रद्योत ने ही इस राजवश की नीव डाली थी। भास ने इसे महासेन कहा है। वासवदत्ता जिसका हरण उदयन ने कर लिया था, इसकी रानी अगारवती से उत्पन्न हुई थी। धम्मद की अट्टकथा से ज्ञात होता है कि प्रद्योत ने धोखे से उदयन को बन्दी बना लिया था। यह छल उसने गज आखेट मे अपार रुचि रखने वाले उदयन के लिए एक नकली गज बना इसमे कुछ सैनिक रख कर किया था। कथा यहाँ तक सत्य है नही कहा जा सकता, पर उदयन ने भी इस छल का प्रत्युत्तर भलीभाँति दिया और उसकी पुत्री वासवदत्ता को ही राजमहल से चुपके से निकाल ले गया।

प्रद्योत की विजया के सम्ब ध म हमारा ज्ञान स्वल्प है। केवल इतना ज्ञात होता है कि मगध-नरेश अजातशत्रु अपनी राजधानी राजगृह की किलेबन्दी केवल प्रद्योत के आक्रमण के भय से ही करा रहा था।[2] भासकृत प्रतिज्ञा-योगधरायण से यह ज्ञात होता है कि प्रद्योत के दो पुत्र गोपाल तथा पालक थे। कथासरित्सागर के अनुसार गोपाल ने अपने छोटे भाई पालक के लिए गद्दी छोड दी थी। पर गोपाल के पुत्र आधक ने पुन अपने चाचा पालक से गद्दी छीन ली। पुराणो म प्रद्योत के बाद पालक तथा प्राधक का ही नाम आता है, गोपाल का उल्लेख नही मिलता जिसस उपरोक्त विवरण सत्य जान पडता है।

सम्भवत कालान्तर म प्रद्योत महाकाच्यायन के प्रभाव से बौद्धधम का अनुयायी हो गया। थेरगाथा टीका से डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी न प्रद्योत का बौद्ध धम म दीक्षित होने का विवरण इस प्रकार उद्धत किया है जिसमे प्रद्योत के महाकाच्यायन से महात्मा गौतम बुद्ध को बुलाने का आग्रह करने पर महाकाच्यायन बुद्ध भगवान के पास जाकर कहते हैं—

"भगवन्! राजा प्रज्योत (प्रद्योत) आपके चरणा की पूजा करना तथा धम्म श्रवण चाहता है।"

भगवान् बुद्ध ने इस प्राथना को स्वीकार कर लिया और सात भिक्षुओ को

१ जातक ३।१५७ श्री भण्डारकर द्वारा उद्धृत।
२ मज्झिम निकाय ३।७॥

महाकात्यायन के साथ प्रद्योत को बौद्धधर्म की शिक्षा देने को भेजा और प्रद्योत बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया।[1]

तत्पश्चात् अवन्ति बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।

मगध

इन चारों प्राचीन नृपतंत्रों (वत्स, अवंति, मगध तथा कोशल) में मगध ही अत्यधिक शक्तिशाली प्रतीत होता है। मगध के दो प्रसिद्ध राजाओं—बिम्बिसार तथा अजातशत्रु—का इतिहास ही प्राचीन मगध का इतिहास है। अतः हम इन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेंगे। यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मगध के इतिहास के प्रमुख साधन पुराण तथा सिंहली अनुश्रुति महावंश और अन्य राजाओं से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ जो प्रसंगतः इन पर कुछ प्रकाश डालते हैं।[2] इनके आधार पर ही मगध के इतिहास पर प्रकाश डाला जायगा।

बिम्बिसार—पुराण के अनुसार मगध राजवंश का संस्थापक शिशुनाग था। महावंश से भी इसका समर्थन हो जाता है कि बिम्बिसार नागकुल का था। उक्त ग्रंथ ने बिम्बिसार के अंतिम राजकुमार को नागदासक बताया है। पुराणों ने बिम्बिसार के पूर्व भी चार राजाओं द्वारा मगध पर शासन करने का उल्लेख किया है पर इस पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि बिम्बिसार को पालि अनुश्रुतियों में 'सेनिय' कहा गया है। सेनिय का अर्थ सेनापति से है। तब यह कैसे सम्भव है कि बिम्बिसार के पूर्व उसके कुल के चार राजा राज्य कर चुके थे। सम्भवतः जिस प्रकार सेनानी पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य वंश के अंतिम शासक बृहद्रथ का (जिसका वह सेनापति था) वध करके राज्य अपने हाथ में ले लिया, उसी प्रकार सम्भव है बिम्बिसार ने भी अपने सेनापति पद पर रहकर ही राज्य को अपने अधीन किसी प्रकार बना लिया। किन्तु स्वयं महावंश का यह कथन है कि बिम्बिसार १५ वर्ष की आयु में सिंहासनारूढ़ हुआ।[3] यह कथन उपरोक्त अनुमान को मानने में बाधा उपस्थित करता है, क्योंकि इतनी अल्पायु में कोई वंशानुगत राजा ही हो सकता है, नवीन राज्य का संस्थापक नहीं हो सकता।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बिम्बिसार के पूर्व मगध पर किस राजवंश का शासन था। डी० आर० भण्डारकर महोदय का इस सम्बन्ध में सुझाव मान्य-सा लगता है जिसे हम नीचे दे रहे हैं —

इस प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ सुत्त निपात पृष्ठ १८५ ५।३८।। में वैशाली के लिए 'मागधम पुरम' (अर्थात् मगध की राजधानी) का प्रयोग किया गया है। यदि यह सच है कि वैशाली मगध की राजधानी थी तो बहुत सम्भव है कि वज्जि से ही बिम्बिसार को मगध प्राप्त हुआ था। किन्तु पुराणों के अनुसार मगध पर सर्वप्रथम बार्हद्रथ वंश का शासन रहा। तत्पश्चात् वज्जि वंशवालों ने इसे बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया और

---

१ देखिये *Hindu Civilization*, p. 184

२ श्री भण्डारकर ने पुराणों के समक्ष महावंश की सामग्रियों को अधिक प्रामाणिक सिद्ध किया है और इस सम्बन्ध में उन्होंने तिथिपरक राजाओं के नाम तथा उनसे सम्बन्धित अनेक सामग्रियों को अग्राह्य सिद्ध करने का सफल प्रयास 'कारमाइकल लेक्चर', पृष्ठ ६८-७० में किया है।

३. महावंश २।२६ ३०।।

बिम्बिसार ने इन्हे गगा नदी की ओर भगाकर मगध पर अपना अधिकार स्थापित करके राजगृह को अपनी राजधानी बना लिया ।

बिम्बिसार का परिवार—महावग्ग बिम्बिसार की ५०० रानियाँ बताता है जिनमें से एक विदेही कुमारी थी । पर ५०० रानियाँ अत्योक्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण मात्र है । उसकी दूसरी रानी छलना थी । यह वैशाली के लिच्छवि गणराज्य के प्रमुख चेतक की पुत्री थी ।[1] तीसरी पत्नी कोशल देवी थी जो प्रसेनजित के पिता महाकोशल की पुत्री थी । जातक से ज्ञात होता है कि दहेज मे महाकोशल ने बिम्बिसार को काशी का राज्य दे दिया था ।[2] विदेही वासवी के सम्बन्ध मे अमितायुर्ध्यान सूत्र मे यह कहा गया है कि इसने विद्रोही पुत्र अजातशत्रु द्वारा बन्दी किये गये अपने पति की रक्षा की थी । पर छलना के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार की कथा कही गई है जिससे कुछ इतिहासकारो ने छलना और वासवी को एक ही माना है । बिम्बिसार के अनेक पुत्र थे—अजातशत्रु कुणिक, हल्ल तथा वेहल्ल जो छलना से उत्पन्न थे, अभय (जो अम्बपाली से उत्पन्न था), नन्दिसेन, मेघकुमार आदि । अजातशत्रु को चुल्लवग्ग मे 'विदेहियुक्त' कहा गया है जिससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वह विदेही वासवी (जो सम्भवत छलना ही है) का ही पुत्र था । अजातशत्रु की नृशसता के भय से ही सम्भवत उसके अन्य भाइयो ने मगध का त्याग कर दिया और वे भिक्षु हो गये ।

बिम्बिसार का शासन तथा विजयें—बिम्बिसार की राजधानी गिरिव्रज थी पर बाद मे उसने इसे बदल दिया और राजगृह मे नवीन राजधानी की स्थापना की । महाभारत के अनुसार गिरिव्रज जरासन्ध की राजधानी थी । बुद्धघोष ने राजगृह को 'बिम्बिसारपुरी' बताया है ।

बिम्बिसार ने कोशाम्बी का राज्य, स्तानीक द्वारा विजित अग राज्य को अपने अधीन बनाकर अपने राज्य की सीमा काफी विस्तृत कर दी थी । उसने अग को एक पृथक् प्रान्त बनाकर कुणिक को उसका गवर्नर बना दिया । कुणिक चम्पा मे रहकर अग का शासनभार सँभालता था ।[3] अग के अन्तगत अनेक बडे-बडे नगर थे, अत अब वे सभी बिम्बिसार की राज्य-सीमा के अन्तगत हो गये । इसके राज्य में ८० १०० गाँव सम्मिलित थे । इसका क्षेत्रफल लगभग ६०० मील से भी अधिक था और जिसे अजातशत्रु ने अपनी अन्य विजयो द्वारा १५००० मील कर दिया ।[4] बिम्बिसार के राज्य मे कुछ गणराज्य भी थे जिनके शासन 'राजकुमारों' के हाथ मे थे ।

बिम्बिसार का शासन बहुत ही कठोर था । दण्ड विधान मे किसी प्रकार की दया का स्थान न था । 'महामात्र', 'सब्बाकत्थक', 'वोहारिक', 'सेनापति' आदि राज-कर्मचारियो का उल्लेख मिलता है ।

बिम्बिसार का धर्म—बिम्बिसार के धर्म के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत निर्धारित करना कुछ कठिन इसलिए हो जाता है कि ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध तीनो धर्म इसे अपने-अपने मत का बताने का प्रयास करते है । जैन मतावलम्बियो का यह कहना है

---

१ Jacobi, *Jain Sutras*, I, xii-xv, S B E Quoted by Dr Mookerji

२ जातक २–४०३।१५॥

३ भगवती सूत्र ३००—चम्पायां कुणिको राजा बभूव ।

४ विनय १।१७६॥ सुमगल १।१४८॥ डॉ० मुकर्जी द्वारा उद्धृत।

चले अजातशत्रु ने बिम्बिसार को बन्दीगृह मे डालकर राज्य सत्ता अपने हाथ मे ले ली। बन्दीगृह मे छलना अपने पति की देखरेख करती रही। पर सहसा अजातशत्रु की माता ने उससे यह बताया कि उसके पिता उसे कितना प्यार करते थे कि एक बार उसकी पकी उँगली को भी जिससे मवाद निकल रहा था, पुत्र की पीडा हरने के लिये उन्होने चूसा था। इतना सुनना था कि अजातशत्रु शीघ्रता से लोहे का हथौडा लेकर पिता की बेडियाँ तोडने को दौडा। बिम्बिसार ने इसका अर्थ कुछ उलटा समझा और जहर खाकर आत्महत्या कर ली।[1] जैन तथा बौद्ध धर्मों मे जिस प्रकार प्रतिस्पर्धा यत्र-तत्र मिलती है उसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाओ के वर्णन मे भी उनमे कुछ खिचाव-तनाव आभासित होता है। उपरोक्त विवरण उसका एक उदाहरण है। बौद्ध ग्रन्थ ने अजाशत्रु को जब वह धरती पर भी नही गिरा था तभी से पितृहन्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है पर जन ग्रन्थकारो ने इनका खण्डन करने के अभिप्राय से बिम्बिसार से ही आत्महत्या करा दी। वास्तविकता क्या है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

अजातशत्रु की विजय—लगभग ५५१ ई० पू० मे अजातशत्रु सिंहासनारूढ हुआ। उधर पति की अकस्मात् मृत्यु से प्रपीडिता कोशलदेवी भी अधिक दिन तक वैधव्य न स्वीकार कर सकी और उसका देहावसान हो गया। प्रारम्भ मे ही बताया गया था कि प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशला देवी का ब्याह अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार से करने के पश्चात् ही काशी नगरी को दहेज रूप मे दे दिया था। अब जो विकट परिस्थिति अजातशत्रु के सम्मुख उपस्थित होती है उसके मूल मे दहेज मे प्राप्त काशी नगरी है। अजातशत्रु पिता के राज्याधीन अन्य नगरो की भाँति काशी को भी अपने अधीन समझता था और इस प्रकार बहुत दिनो तक (निश्चित तिथि बताने मे अभी कुछ कठिनाई है। सम्भवत भावी अन्वेषणो से इस पर कुछ प्रकाश पड सके) काशी नगरी से कर वसूल करता रहा। पर कोशला देवी की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई प्रसेनजित यह कदापि स्वीकार नही कर सकता था कि पितृहन्ता अजातशत्रु का अधिकार काशी पर अब भी पूर्ववत बना रहे। अत उसने इसका विरोध किया और फलस्वरूप कोशल मगध मे संघर्ष छिड गया। प्रारम्भ मे प्रसेनजित को पराजित होकर श्रावस्ती भाग जाना पडा। पर बाद मे वह अजातशत्रु की सम्पूर्ण सेना को उसके साथ बन्दी बनाने मे सफल हो सका। जातक मे इन दोनो के संघर्षों का बडा रोचक विवरण मिलता है।[2] अजातशत्रु से पराजित होकर निराश प्रसेनजित जब श्रावस्ती लौट गया था तो भगवान बुद्ध अपने कुछ भिक्षुओ के साथ जिनमे से कुछ राज कर्मचारी रह चुके थे वहीं कही निकट ही रुके थे, इनमे से दो भिक्षु एक दिन आपस मे युद्ध-सम्बन्धी वार्त्ता कर रहे थे और एक ने बलपूर्वक घोषणा की कि यदि प्रसेनजित 'सकटव्यूह' की रचना करके युद्ध करे तो वह अजातशत्रु को मछली की भाँति फँसा सकता है। प्रसेनजित के दूत ने उसे इस विलक्षण विधि से अवगत किया और उसी उपाय द्वारा प्रसेनजित ने अजातशत्रु को बन्दी बना लिया। इसमे कितना सत्य है, नही कहा जा सकता।

अन्त मे दोनो मे संधि हो गई और प्रसेनजित ने अजातशत्रु की सेना, उसका

---

१ उक्त विवरण आवश्यक सूत्र के आधार पर डॉ० मुकर्जी द्वारा वर्णित कथानक पर पूर्णतया अवलम्बित है।

२ डॉ० आर० भण्डाकर द्वारा पुनर्कथित कथा के आधार पर हम जातक के तत्सम्बन्धी विवरण का उल्लेख कर रहे हैं।

राज्य आदि लौटा दिया साथ ही अपनी पुत्री वजिरा का ब्याह भी उससे कर दिया।[1]

अजातशत्रु का दूसरा सघर्ष वैशाली के लिच्छवियो से हुआ। हमे ज्ञात है कि अजातशत्रु वैदेही पुत्र था, अर्थात् उसकी माता वैदेही अर्थात् लिच्छवि राजकुमारी थी। अब इन्ही लिच्छवियो (वज्जियो) से अजातशत्रु ने सघर्ष छेड दिया। सुमगलविलासिनी से यह ज्ञात होता है कि गगा के तट पर हीरे की एक खान थी जिसके आधे खनिज पदार्थ पर लिच्छवियो तथा अजातशत्रु का आधा-आधा अधिकार निश्चित हो चुका था। लिच्छवियो ने इस समझौते को तोड दिया जिसके फलस्वरूप अजातशत्रु को आक्रमण करना पडा। जैन साक्ष्यो द्वारा इस सघर्ष का एक दूसरा ही कारण माना जा सकता है। कहा जाता है कि बिम्बिसार ने अपने पुत्र वेहल्ल को कुछ बहुमूल्य वस्तुयें दी थी, जिन्हें लेकर वह अजातशत्रु के भय से चेतक की शरण मे वैशाली चला आया। अजातशत्रु ने चेतक को चेतावनी दी कि वह वेहल्ल को उसके सुपुर्द कर दे पर उसने शरणागत को (जो कि उसका पोता भी था) देना स्वीकार नही किया। इस पर क्रोधित होकर अजातशत्रु ने चेतक से युद्ध छेडने का निश्चय किया। अब उधर ३६ विभिन्न छोटे-छोटे राज्यो के अगुवा लिच्छवि तथा चेतक दोनो उसके शत्रु हो गये थे।

वास्तविकता जो भी हो, अजातशत्रु को इस द्वितीय सग्राम मे बहुत बडी शक्ति का समना करना पडा था जिसमे अनेक सम्मिलित शक्तियाँ थी। केवल लिच्छवि ही काफी शक्तिशाली हो चुके थे। निश्चय ही अजातशत्रु लिच्छवियो को पराजित करने मे काफी परेशान हो जाता और सम्भवत अन्त मे भी उसे विजय न मिलती पर उसे यह मूलतत्र ज्ञात हुआ कि लिच्छवियो के सघ मे फूट उत्पन्न करके उनका नाश किया जा सकता है और अन्त मे उसने किया भी यही।

अजातशत्रु ने अपने एक चतुर या अधिक स्पष्ट शब्दो मे कुटिल मत्री वस्साकार को लिच्छवियो की सगठित शक्ति मे फूट के बीज बोने के लिए वैशाली भेज दिया जिसने निरन्तर तीन वर्षो तक वहाँ निवास करके अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त कर ली और लिच्छवियो मे सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रो मे सर्वत्र मतभेद हो गया। उनकी सचित 'अजेयता' मे दीमक लग गई। इस प्रकार अजातशत्रु छल, बल तथा कौशल तीनो विधियो को अपनाकर लिच्छवियो (वज्जियो) का सामना करने मे समर्थ हो गया और तब उसने घोषणा की, "मैं इन वज्जियो को जड से उखाड फेंकूगा और ध्वसित कर दूगा, भले ही वे शक्तिसम्पन्न एव वीर हो, उनका सर्वनाश कर दूगा।"[2] अजातशत्रु के लिये राजगृह से गगा के उस पार लिच्छवि सघ से युद्ध करना असम्भव था अत उसने अपने राज्य की सीमा पर स्थित पाटलिग्राम (जो आगे चलकर पाटलिपुत्र हुआ) को ही युद्ध केन्द्र बनाने का निश्चय किया और यहाँ पर अत्यन्त सुदृढ दुर्ग का निर्माण तेजी से किया जाने लगा। इस दुर्ग का निर्माण अजातशत्रु के दो योग्य एव कुशल मत्री सुनिध तथा वस्साकार के निरीक्षण मे हुआ। यहाँ उक्त मत्रियो ने गौतम बुद्ध को आमत्रित भी किया और तभी महात्मा बुद्ध ने यह भविष्यवाणी की थी कि पाटलिपुत्र आर्यावर्त

१ जातक २।२३७ तथा ४०३-४॥५।३४३॥ धम्मपद टीका ३।२५६॥

२ महापरिनिब्बान सुत्त।

की एक प्रमुख नगरी होगी। दुर्ग बन जाने के पश्चात् अजातशत्रु ने रणभेरी बजा दी।[1] उसकी कूटनीति वास्तव में पूर्ण रूप से सफल हुई थी और लिच्छवियों में परस्पर वादविवाद होने लगा कि कौन पहले आगे बढ़े। अन्ततोगत्वा अजातशत्रु की विजय हुई, पर उसे इस युद्ध में जैन ग्रन्थों के कथनानुसार १६ वर्ष लगे।[2]

अजातशत्रु की बढ़ती हुई ताकत का प्रतिस्पर्धी अवन्ति का चण्डप्रद्योत था। चण्डप्रद्योत तथा अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार में सुन्दर पारस्परिक व्यवहार था, क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि जिस समय चण्डप्रद्योत पाण्डु रोग से प्रपीड़ित था, उस उस समय उसकी चिकित्सा के लिए बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को भेजा था। किन्तु अजातशत्रु से इसके सम्बन्ध अच्छे नहीं जान पड़ते, क्योंकि प्रद्योत के आक्रमण के भय से ही उसने राजगृह की किलेबन्दी करवाई थी।[3]

अजातशत्रु का धर्म—यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों ने अपने-अपने समर्थक राजाओं के साथ पक्षपात किया है और अपने विरोधी या इतर धर्मवाले राजाओं की भरसक निन्दा की है (जिसका प्रमाण इतिहास में उपलब्ध है) तो अजातशत्रु को प्रारम्भ में जैन मतावलम्बी मान सकते हैं। उसके पितृहन्ता होने या न होने के प्रश्न से सम्बन्धित ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाणों से भी उसे प्रारम्भ में जैन मतावलम्बी सिद्ध किया जा सकता है। इनसे ज्ञात होता है कुणिक (अजातशत्रु) अपनी पत्नी तथा अपने सहचरों के साथ नातपुत्र के पास आया करता था जिसमें वह युवराज के पद पर वैशाली में रहा तथा जब वह वैशाली में था तभी उसने महावीर स्वामी से भेंट की थी। यहाँ उसने जैन भिक्षुओं के प्रति अपने शुभ हार्दिक उद्‌गार प्रकट किये थे।[4] उसने महावीर द्वारा प्रशस्त मार्ग की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की। तत्पश्चात् वह कब बौद्ध हो गया इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ही वह बौद्ध हुआ। हमने पिछले पृष्ठों में देखा था कि महात्मा बुद्ध के प्रतिस्पर्धी देवदत्त का उस पर कितना अधिक प्रभाव था कि उसकी मन्त्रणा से वह अपने पिता की हत्या तक कर सकता था। हमने यह भी देखा था कि महात्मा बुद्ध के समक्ष अजातशत्रु ने अपना यह जघन्य पाप स्वीकार किया था और क्षमा-याचना की थी। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था।[5]

---

१ जैन-ग्रन्थ निरयावलि सूत्र से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने यहाँ से सीधे चेतक पर आक्रमण कर दिया। चेतक ने, जैसा कि पहले ही कहा गया है पूर्ण तैयारी कर ली थी। 'उसकी सहायता के लिये लिच्छवियों के नौ मित्र संघ, मल्लों के नौमित्र संघ आये।' देखिये डॉ० आर० भण्डारकर का कारमाइकल लेक्चर, पृ० ७९।

२ धर्माचार्य गोसाल ने, जिनकी मृत्यु ५६२ ई० पू० में हुई थी, इस युद्ध को देखा और ३६ गणराज्यों का मित्रसंघ, जिनके विरुद्ध युद्ध हो रहा था, ५४६ ई० पू० तक चलता रहा। अतः १६ वर्षों तक युद्ध का जारी रहना सम्भव ज्ञात होता है।

३ मज्झिम निकाय ३७॥

४ औपपातिक सूत्र १२, २७, ३०॥ परिशिष्टपर्वन ४ सर्ग॥ आवश्यक सूत्र ६८४, ६८७ डॉ० मुकर्जी द्वारा उद्धृत।

५ डॉ० मुकर्जी, *Hindu Civilization*, p 194

द्वितीय शताब्दी ई० पू० के भरहुत प्रस्तर लेख म ज्ञात होता है कि अजातशत्रु तथा भगवान् बुद्ध से भेंट हुई थी। 'अजशत्रु भगवतो वन्दते' पदावली जो उक्त प्रस्तर पर उत्कीर्ण है, महापरिनिब्बान सुत्त के 'मागधो अजातशत्रु वैदेहि पुत्रो भगवतो पदे सिरसा वन्दति' का समथन करती है।[1] अजातशत्रु का बौद्ध होने का एक अन्य प्रमाण भी प्राप्त होता है। महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात जब उनका दाह-संस्कार हो गया तो भगवान् के भस्मावशेष के लिए अजातशत्रु ने एक दूत यह कहलाकर भेजा "भगवान् बुद्ध क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ। अत, मैं उनकी भस्मावशेष के अश का अधिकारी हूँ। मैं भगवान् बुद्ध के भस्मावशेष पर एक स्तूप निर्मित कराऊँगा।"[2] अत, अजातशत्रु को भस्मावशेष का एक भाग मिला और उसने राजगृह म एक स्तूप निर्मित किया।[3] तत्पश्चात् राजगृह मे महात्मा बौद्ध के अनुयायियों ने अजातशत्रु से एक ऐसा स्थल माँगा जहाँ व बुद्ध के उपदेशों का सकलन कर सकें। अजातशत्रु ने इन भिक्षुओ की प्राथना स्वीकार कर ली और वैभार की पहाड़ी म स्थित सप्तपर्णी गुहा के भीतर एक सभा भवन बनवा दिया। यही बौद्ध भिक्षुओ की प्रथम सगीति हुई, जिसमे धम्म एव विनय का क्रमश आनन्द तथा उपालि ने सूत्रपाठ किया। ये पाठ त्रिपिटक के प्रथम और द्वितीय प्रामाणिक सग्रह माने गय।[4]

इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि अजातशत्रु अपने जीवन के प्रारम्भिक कालो म तो जैन धम की ओर झुका था, पर महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् (जो सम्भवत उसके राज्यारोहण के आठवें वर्ष म हुआ) वह बौद्ध मतावलम्बी हो गया।

कोशल

कोशल का इतिहास कस से आरम्भ होता है। कस के सम्बन्ध मे केवल इतना ज्ञात है कि इसने ही काशी राज्य को कोशल में मिला लिया था, पर इसका भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नही प्राप्त है। कोशल का सवश्रेष्ठ बुद्धकालीन राजा पसेनदि या प्रसेनजित कस के ही व श का था? वास्तव म प्रसेनजित के शासन-काल में ही कोशल का विकास हो सका।

प्रसेनजित ने तक्षशिला मे शिक्षा प्राप्त की थी। वह अपने दान के लिए विख्यात था और उसने दो ब्राह्मणो को दो नगर दान दिये थे। उसके कुछ मन्त्रियो का नाम बौद्ध ग्रन्थो म इस प्रकार मिलता है—(१) मृगधर (२) सिरिवद्ध (३) दीघचारायण। प्रसेनजित को 'पाच राजाओ के दल का प्रधान' कहा गया है, जिससे यह आभासित होता है कि शाक्यो ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री का ब्याह मगध-नरेश बिम्बिसार से कर दिया था। इस वैवाहिक सम्बन्ध से प्रसेनजित और बिम्बिसार मे पारस्परिक मेल था पर कालान्तर मे बिम्बिसार की मृत्यु के पश्चात यही सम्बन्ध अजातशत्रु तथा प्रसेनजित के सघर्ष का कारण बना जिस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

कोशल के तीन प्रसिद्ध नगर अयोध्या साकेत तथा श्रावस्ती थे। जैसा कि

१ डॉ० मुकर्जी, *Hindu Civilization* p 194।
२ दीघनिकाय २।१६६॥
३ महापरिनिब्बान सुत्त।
४ सुमगल विलासिनी।

प्रारम्भ मे ही बताया गया है, प्रसेनजित अत्यन्त उदार और दानी था। महात्मा बुद्ध और उसके सम्बन्ध का उल्लेख हमें बौद्ध ग्रन्थों मे मिलता है। भरहुत के एक प्रस्तर लेख से भी इनके निकट सम्बन्ध का बोध होता है। मज्झिम निकाय मे प्रसेनजित कहता है—

"भगवापि आसीटिको अहमपि आसीटिको" अर्थात् भगवान बुद्ध ८० वर्ष के हैं और मैं भी ८० वर्ष का हूँ। भगवान् बुद्ध से एक बार उसने आश्चर्यपूर्वक पूछा था कि किस प्रकार भगवान् बुद्ध अपने विशाल संघ मे शान्ति रखते हैं, जबकि वह राजशक्ति रखते हुए भी अपने कुल तथा मन्त्रियो के षड्यन्त्रो से क्षुब्ध रहता है। प्रसेनजित सचमुच अपने मन्त्रियों द्वारा पुत्र के दुष्कर्मों से क्षुब्ध था। इसका प्रमाण यह है कि एक बार जब वह भगवान बुद्ध से मिलने के लिए शाक्य प्रदेश मे गया था तो उसकी अनुपस्थिति मे उसके एक मन्त्री दीघ ने विद्रोह कर दिया और प्रसेनजित के पुत्र विडुडभ को गद्दी पर बैठा दिया। यह समाचार पाते ही प्रसेनजित अजातशत्रु (जो उसका दामाद था) की शरण मे चला, पर राजगृह पहुँचते-पहुँचते सिंहद्वार पर ही उसकी मृत्यु हो गई। धम्मपद मे इसी कथा को विस्तार देकर लिखा गया है जिससे उक्त घटना की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

प्रसेनजित के पश्चात् उसका पुत्र विडुडभ कोशल के सिंहासन पर आरूढ हुआ। यह प्रारम्भ मे कहा गया है कि विडुडभ ने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था। इस विद्रोह के पूर्व भी निश्चय ही वह कई प्रयास कर चुका होगा। पिता द्वारा विडुडभ तथा उसकी माता वासभखत्तिया[1] का अपमानित होना भी इन विद्रोहो के मूल मे हो सकता है। ज्ञात होता है प्रसेनजित ने भगवान् बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धाभाव से प्रेरित होकर उनके ही कुल (शाक्य कुल) से एक शाक्य कुमारी विवाह मे माँगी। शाक्यो ने आत्माभिमान मे चूर होकर शाक्य कुमारी न देकर एक दासी कन्या को भेज दिया।[2] इसी दासी कन्या वासभखत्तिया से विडुडभ उत्पन्न हुआ था और जिस समय प्रसेनजित को इस रहस्य का बोध हुआ तो उसने इन दोनो को राज्यच्युत कर दिया। किन्तु महात्मा बुद्ध के समझाने-बुझाने पर प्रसेनजित ने उन्हे पुन सम्मानित किया। इन सारे कार्यों ने विडुडभ को विद्रोही बनाने मे योग दिया। किन्तु अपने अपमान का प्रतिकार केवल पिता से लेकर ही वह मौन रहनेवाला न था। इस अपमान का मूल कारण शाक्यो को भी वह भलीभाँति ध्वंसित कर देना चाहता था। अत उसने इन पर आक्रमण कर दिया। अचिरवती नदी पर विडुडभ तथा शाक्यो की मुठभेड हुई। कहा जाता है कि उसने शाक्यो को पूर्णतया ध्वंसित कर दिया, पर अचिरवती नदी मे ऐसी बाढ आ गई कि उसमे विडुडभ समस्त सेना सहित बह गया।[3]

अन्त मे कोशल मगध की बढती हुई ताकत मे विलीन होकर उसका एक विजित प्रदेश हो गया।

प्रश्न

Lucknow University

(1) Give a short history of Magadha and Kosala at the time of Buddha (1945)

१ मज्झिम निकाय २।१२४॥

२ जातक ३।४०५॥ से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित की एक पत्नी का नाम मल्लिका भी था। यह किसी श्रेणी के श्रेणी प्रमुख (जो श्रावस्ती था) की पुत्री थी।

३ धम्मपद अट्ठकथा १।३५॥

(2) Give an account of the political condition of Northern India at the time of Buddha (1946)

(3) Give a short history of Magadha under Bimbisara and Ajatsatru What led to the downfall of the Bimbisaran dynasty ? (1947)

(4) Trace the ascendancy of the kingdom of Magadha from the time of Bimbisara to the end of the Nanda rule, and mention the factors which had helped its growth (1949)

(५) गौतम बुद्ध तथा महावीर के समय की उत्तर भारत की राजनैतिक परिस्थिति का वर्णन कीजिए। (१९५०)

(६) बुद्धकालीन भारतीय गणराज्यों की शासन प्रणाली का विवरण लिखिए।(१९५२)

(७) नन्द राजाओं की उत्पत्ति के विषय में आप क्या जानते हैं ? उनकी सत्ता का अंत किन परिस्थितियों के कारण हुआ ? (१९५२)

(८) बिम्बसार तथा अजातशत्रु के राज्य-काल का संक्षिप्त इतिहास लिखिए। बिम्बसार-वंश के पतन के क्या कारण थे ? (१९५३)

(९) बिम्बसार के काल से लेकर नन्द वंश के अंत तक मगध के राजनैतिक उत्कर्ष का संक्षिप्त इतिहास लिखिए। (१९५४)

(10) Describe the political condition of Northern India in the sixth century B C (1955)

(11) Trace briefly the successive stages in the growth of Magadha from Bimbisara to Asoka (1956)

(१२) भगवान बुद्ध के समय उत्तरी भारत की क्या दशा थी ? (१९५७)

Agra University

(1) Describe briefly the political condition of the Gangetic basin at the time of the Buddha and Mahabir (1943)

(4) Discuss the relations of the state of Magadha with its neighbours during the period 500 to 350 B C (1944)

(3) Write a note upon the careers of Bimbisara and Ajatasatru What was their attitude towards Buddhism and Jainism ? (1945)

(4) Describe the political condition of India in the time of Buddha in the 6th C B S (1947)

(5) Write a note on the political condition of India when Buddha preached his religion with particular reference to the kingdoms and republics which were the field of his activities (1952)

Allahabad University

(1) Give an account of the Republican States of Northern India in the sixth century B C (1956) (1969)

(2) Discuss the contribution of Nandas to the growth of Magadhan Empire (1956)

(3) Describe briefly the growth of the power of Magadha under the Naryanka, Saisunaga and Nanda dynasties (1957)

(4) What was the political condition of India in the 6th century B C ? (1957)

(5) Describe the decay of the republican type of Government in ancient India from 600 B C to 300 A D (1957)

(6) Discuss the origins of the Nandas What was their contribution to the growth of the power of Magadha ? (1958)

(7) Trace the rise of Magadha from the time of Bimbisara to the reign of Mahapadma Nanda (1959)

(8) What do you know of the nonmonarchical communities of Northern India at the time of the Buddha (1959)

(९) छठी शताब्दी ई० पू० विशेष रूप से महान धार्मिक उत्थान का युग था। (१९४७, १९४९)

Kanpur University

१ ई० पू० छठी शताब्दी में भारतवर्ष की राजनैतिक दशा क्या थी ? वर्णन कीजिए। (१९६९)

८ | जैन धर्म का अभ्युदय

जैन अनुश्रुतियो के अनुसार जैनधम काफी पुराना है और महावीर के पूव भी २३ तीर्थंकर हो चुके हैं । २४ तीर्थंकरो के नाम इस प्रकार हैं —

(१) ऋषभदेव, (२) अजितनाथ, (३) सभवनाथ (४) अभिनन्दननाथ, (५) सुमतिनाथ, (६) सुपद्मनाथ (७) सुपाश्वनाथ, (८) चन्द्रप्रभु, (९) पुष्पदन्त, (१०) शीतलनाथ, (११) श्रेयासनाथ, (१२) वसुपद्य, (१३) विमलनाथ, (१४) अनन्त-नाथ, (१५) धमनाथ, (१६) सन्तनाथ, (१७) कुभनाथ (१८) अरनाथ, (१९) मल्लिनाथ, (२०) मुनिसव्रत नाथ, (२१) नमिनाथ, (२२) नेमिनाथ, (२३) पार्श्वनाथ तथा (२४) वधमान महावीर ।

प्रथम तीथकर ऋषभदेव के सम्बन्ध मे इनका कहना है कि ये एक राजा थे और अपने पुत्र भारत के लिए सिहासन रिक्त करके य सन्यासी हो गए । तेइसवें तीथ कर ही वास्तव मे ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते है । इनकी तिथि अनुमानत ई० पू० आठवी सदी है ।

पार्श्वनाथ—जैसा कि ऊपर बताया गया है, पाश्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं । कल्पसूत्र के अनुसार ये इक्ष्वाकु वशीय क्षत्रिय राजा अश्वसेन के पुत्र थे । इनकी माता का नाम वामा तथा पत्नी का नाम प्रभावती था । इनके पिता बनारस के राजा थे । पाश्वनाथ ने वही, आश्रमपद नामक उपवन म ३½ दिन तक उपवास करने के पश्चात सन्यास ग्रहण कर लिया । ८३ दिना तक गहन चिन्तन के उपरान्त उन्हे ज्ञान (केवल, कैवल्य) प्राप्त हुआ । पाश्वनाथ के साथ आठ 'गण' तथा आठ 'गणधार' थे । इनके नाम इस प्रकार थे—(१) शुभ, (२) आयघोष, (३) वशिष्ठ, (४) ब्रह्मचारिन, (५) सौम्य, (६) श्रीधर, (७) वीरभद्र तथा (८) यसस ।

इनके साथ अनेक श्रमण तथा सन्यासियो का भी उल्लेख मिलता है । जैन अनुश्रुतियो के अनुसार पाश्वनाथ ने १०० वष की आयु मे सम्मेत पवत पर निर्वाण प्राप्त किया । पाश्वनाथ के प्रमुख चार सिद्धान्त थे —(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय तथा (४) अपरिग्रह ।

पाश्वनाथ के सिद्धान्त तथा उनके परवर्ती तीथकर महावीर के सिद्धान्त मे एक सूत्रता स्थापित करनेवाला भी एक प्रमाण उपलब्ध है । पाश्व के अनुयायी केसि तथा महावीर के शिष्य गौतम का सभाषण ही हमे पाश्व तथा महावीर के विचारो की एक सूत्रता का परिचय देता है ।

महावीर

महावीर का जन्म काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय सिद्धाथ के घर म हुआ था । सिद्धाथ कुण्डग्राम (वैशाली) के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति थे । ये किसी अपने ग्राम के एक छोटे स

कुल के प्रधान थे, जिसका नाम ज्ञात्रिक कुल था। सिद्धार्थ की प्रसिद्धि एवं उनका स्थान अपने समय के कुल प्रधानों में इसलिए ऊँचा हो गया था कि उन्होंने प्रसिद्ध लिच्छवि राजा चेतक की बहन से अपना ब्याह किया था। महावीर के पिता सिद्धार्थ के दो अन्य नाम दिये जाते हैं—(१) श्रेयाम्स, (२) यशाम्स। इसी प्रकार इनकी माता के भी अनेक नाम दिये गये हैं—(१) त्रिशाला, (२) विदेहदत्ता, (३) प्रियकारिणी। माता-पिता की भाँति महावीर के भी अनेक नाम बताये गये हैं—(१) वर्धमान जो घर का नाम था, (२) श्रमण, (३) महावीर।

महावीर की जन्मतिथि पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। डॉ० मुकर्जी ने इनकी तिथि पर प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर इस प्रकार तर्क उपस्थित किया है —

परम्पराओं के अनुसार महावीर का देहावसान विक्रम की मृत्यु के ४७० वर्ष पूर्व हुआ। विक्रम संवत् ५८ ई० पू० में १८ वर्ष पश्चात् आरम्भ हुआ। इस आधार पर महावीर की निधन तिथि (४७०+५८+१८) ५४६ ई० पू० निश्चित होती है। जैन लेखक हेमचन्द्र ने चन्द्रगुप्त का शासन ३१३ ई० पू० में मानकर और इसे महावीर की मृत्यु के १५५ वर्ष बाद मानकर यह तिथि ४६८ ई० पू० निर्धारित की है। बौद्ध ग्रन्थों में महावीर, बुद्ध तथा अजातशत्रु को समसामयिक कहा गया है और बुद्ध की निधन तिथि ५४३ ई० पू० मानी गई है (जिस पर आगे विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा), अतः जैसा कि प्रारम्भ में ही निष्कर्ष निकाला गया है, ५४६ ई० पू० में महावीर का निधन मानना अधिक तर्कसंगत जान पड़ता है।

महावीर का ब्याह यशोदा से हुआ था जिससे अनुज्जा या प्रियदर्शना नामक पुत्री भी उत्पन्न हुई।[1]

तीस वर्ष गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात् माता पिता के स्वर्गवास के उपरान्त अपने बड़े भ्राता नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर वर्धमान ने गृह त्याग दिया। घर छोड़ते समय उनके साथ असंख्य लोग चले जिन्हें वर्धमान ने शान्दवन में आकर लौटा दिया। आचारांग सूत्र से ज्ञात होता है कि वर्धमान ने इस वन से कुम्मार नामक ग्राम में निवास किया जहाँ इन्होंने एक अटल तपस्वी सा ध्यान लगाया। लगभग एक वर्ष तक तो ये वस्त्र धारण किये रहे तत्पश्चात् इन्होंने अपने वस्त्र सुवर्ण बालुका नामक नदी में फेंक दिया। अब उनके पास कोई पात्र नहीं था और वे हाथ में ही भोजन करते थे। बारह वर्षों तक की कठिन तपश्चर्या, शारीरिक यन्त्रणा के पश्चात् उन्हें जृम्भिका ग्राम के निकट रिजुपालिका नामक नदी के तट पर शाल के वृक्ष के नीचे निर्वाण प्राप्त हुआ और वे 'जिन' या 'अरहत' हुए।

महावीर को विभिन्न स्थानों में भ्रमण करना पड़ता था। वे वर्षाऋतु में ही किसी किसी स्थान पर रुकते थे। अस्थिक ग्राम में एक वर्षाऋतु, तीन वर्षाऋतु में चम्पा तथा पृष्ठि चम्पा में, १२ वर्षाऋतुओं में वैशाली तथा शालिग्राम में, १४ वर्षा ऋतुओं में राजगृह तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में, ६ वर्षाऋतुओं में मिथिला में, दो में भद्रिका में, एक में आलमिका में, एक में पनितभूमि में, एक में श्रावस्ती तथा एक और अन्तिम वर्षा ऋतु में उन्होंने पात्रा में विश्राम किया था।[2]

आचारांग सूत्र से ज्ञात होता है कि इस समस्त यात्राओं में महावीर को कितना

---

१ आचारांग सूत्र २।१५।१५॥ डॉ० मुकर्जी द्वारा उद्धृत।

२ उक्त विवरण के लिये देखिये डा० मुकर्जी, *Hindu Civilization*, p 232

शारीरिक कष्ट सहना पड़ा था, कितनी कठोर यातनायें दुष्टों, अपरिचितों आदि से मिली थी। "वे गृहविहीन नग्न होकर भ्रमण करने लगे। लोग उन्हें मारते और चिढ़ाते थे। लाढ़ में वहाँ के निवासियों ने उन पर काफी अत्याचार किया और उन पर कुत्ते छोड़े। उन्हें वे डण्डे से पीटते थे और उन पर लात से प्रहार करते थे। वे लोग फल, मिट्टी के लोंदे और बर्तनों के टुकड़ों से उन्हें मारते थे। नाना प्रकार के अत्याचारों से वे उनकी तपस्या को भंग करना चाहते थे।"[1]

महावीर धर्म प्रचारक के रूप में—महावीर के जीवन की कठिनाइयों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनमें जो कष्ट-सहिष्णुता थी, वह सचमुच अनुपमेय थी। महावीर ने अपने ज्ञान का प्रचार हर प्रकार की यातनायें सहकर भी करने का निश्चय किया। प्रारम्भ में तो वे अकेले ही घूमा करते थे, पर कुछ काल पश्चात् उन्हें घोषाल नाम का एक सहयोगी भी मिल गया। महावीर तथा घोषाल की पहली भेंट नालन्दा में हुई थी। कोल्लाग नामक स्थान पर ये दोनों लगभग ६ वर्षों तक साथ रहे। पर तत्पश्चात् इन दोनों उपदेशकों में कुछ मतान्तर हो गया और वे पृथक् हो गये। घोषाल महावीर की तथा महावीर घोषाल की आलोचना करते थे। घोषाल को ही आजीविक सम्प्रदाय का निर्माता कहते हैं।

महावीर को धर्म प्रचार करने में साधारण कठिनाइयों का ही सामना नहीं करना पड़ा। उस समय भारत में प्राचीन वैदिक धर्म के अनेक सम्प्रदाय तथा कुछ नवीन धार्मिक दल विद्यमान थे। इनमें बुद्ध, बार्हस्पत्य, नास्तिक या चार्वाक, वेदान्तीय सांख्य, अपृष्ठनादीय, आजीविक, त्रैराशिक तथा शैव्य मत प्रधान हैं। महावीर के समय में, जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है, अनेक धर्म प्रचारक और उनके मत प्रचलित थे। पूरानकस्सप, मक्खलि, घोषाल, अजितकेसकम्बलिन, पकुध-कच्चायन आदि के नाम मत-स्थापकों में प्रमुख थे। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद आदि अनेक वादों का प्रचलन काफी जोर पर था। इन समस्त वादों की प्रतिस्पर्धा में महावीर को अपना मत स्थापित करना था। महावीर के कुछ अनुयायियों का बुद्ध से मिल जाने का भी उल्लेख मिलता है।[2]

जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान में योग देने वाला जो सबसे बड़ा कारण है, वह राजाओं का सहयोग है। महावीर को जो राज सहयोग मिला। उनमें उनके वैवाहिक सम्बन्ध का ही विशेष हाथ है। हम जानते हैं कि महावीर की माता लिच्छवि राजा चेतक की बहन थी। चेतक की पाँच पुत्रियाँ थीं जिनका ब्याह समय राजकुलों में हुआ था और जो सम्बन्धी होने के नाते महावीर के प्रति विशेष उदार थे। चेतक की एक पुत्री छलना का ब्याह मगध-नरेश बिम्बिसार से हुआ था। दूसरी पुत्री प्रभावती जो सबसे बड़ी थी सिन्धु-सौवीर के राजा उदयन से ब्याही गई थी। इसकी अन्य पुत्रियाँ पद्मावती, मृगावती तथा शिवा क्रमशः चम्पा नरेश दधिवाहन, कौशाम्बी-नरेश स्तानिक तथा अवन्ति-नरेश चण्डप्रद्योत से ब्याही गई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग, अवन्ति तथा मगध जैसे विशाल राज्यों से महावीर का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन राजाओं के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सभी जीवन पर्यन्त जैन मतावलम्बी तो नहीं रह सके पर इन्होंने जैन धर्म के प्रसार

१ लाढ़ या राढ़ पश्चिमी बंगाल का वह क्षेत्र था जहाँ अनेक बर्बर जातियाँ बसी थीं जो सूती वस्त्रों के स्थान पर घास से अपना तन ढकती थीं।

२ महावग्ग ५।३१।। मज्झिम निकाय ५६।

में पर्याप्त योग दिया। पद्मावती तथा दधिवमन से उत्पन्न चन्दना तो प्रथम जैन भिक्षुणी हुई और चम्पा नगरी जैन धर्म का केन्द्र हो गई। कौशाम्बी के स्तानिक तथा उसकी रानी मृगावती सम्भवत अन्त तक बौद्ध मतावलम्बी रहे। रानी मृगावती भी पति के देहावसान के पश्चात् भिक्षुणी हो गई थी। नृपतन्त्र राज्यो के अतिरिक्त कुछ गणराज्यो ने भी महावीर तथा उनके धर्म के प्रति काफी सहानुभूति दिखलाई। स्वयं महावीर भी गणराज्यो से अधिक स्नेह रखते थे। इसका सबसे बडा प्रमाण तो यह है कि उन्होने अपने भ्रमण काल के १२ वर्ष लिच्छवि गणराज्य वैशाली मे बिताये। वैशाली के लिच्छवियो पर इनका बहुत बडा प्रभाव था। वज्जि तथा ज्ञात्रिक भी इनका काफी आदर करते थे। मल्लो के देश मे ही महावीर ने उनके राजा सस्तिपाल के राजभवन मे पचत्व को प्राप्त किया।

महावीर को धर्म प्रचार मे उनके कुछ प्रमुख शिष्यो ने काफी योग दिया। इनमे (१) आनन्द, (२) कामदेव, (३) चुलानिपिया, (४) सुरदेव, (५) चुल्लसयग, (६) कुण्डकोलिय, (७) सद्दालपुत्त, (८) महासयग, (९) नन्दिनीपिया, (१०) साल्ही-पिया आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने अथक परिश्रम से असख्य अनुयायी बनाकर तथा कुछ ऐसे शिष्य तैयार करके जो जैन धर्म को स्थायी बना सकें, महावीर ने ५४६ ई० पू० मे निर्वाण प्राप्त किया। इस तिथि को उनकी निधन तिथि मानकर तथा ७२ वर्ष उनका जीवन-काल मानकर महावीर की जन्मतिथि ६१८ ई० पू० मानी गई है।

जैन सिद्धान्त[1]

महावीर केवल दार्शनिक न थे। उन्होने दर्शन को जीवन की व्यावहारिकता की कसौटी पर कसकर ही किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके सिद्धान्त अधिकाशत प्रायोगिक हैं। पर कुछ विशुद्ध दार्शनिक हैं जिनकी मौलिकता मे सन्देह होना स्वाभाविक है। परवर्ती भारतीय दर्शन का काफी प्रभाव इन दार्शनिक सिद्धान्तो पर ज्ञात होता है। जैनधर्म के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो पर नीचे प्रकाश डाला जायेगा।

आत्मा—आत्मा के सम्बन्ध मे मत निर्धारण ईश्वर मे विश्वास या अविश्वास पर निर्भर है। जैन सिद्धान्त म सृष्टि का कर्ता धर्ता किसी अलौकिक व्यक्ति की कल्पना नही की गई। ईश्वर मे उनका कोई विश्वास नही है। जब ससार अनादि और अनन्त है तो जीव भी अनादि और अनन्त है। सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र आत्मा या जीव के तीन स्वाभाविक गुण हैं। पर समस्त आत्माओ मे ये तीनो गुण अपने स्वाभाविक रूप म इसलिए नही मिलते हैं कि कर्मों का गहन आवरण उन्हे ढँके रहता है। इस प्रकार जो जीव समस्त स्वाभाविक गुणो से युक्त रहते हैं वे शुद्ध जीव है और उन्हे मोक्ष प्राप्त हो चुका है। जो जीव कुछ शुद्ध हैं और कुछ विकृत हैं, वे मिश्र जीव है। पर, जिनमे स्वाभाविक गुण बिल्कुल ही विकृत हो चुके हैं, वे अशुद्ध जीव है। इससे यह परिलक्षित होता है कि जैन सिद्धान्त आत्मा को विकृत तो मानता है पर विकार दूर भी किया जा सकता है। सम्यक दर्शन से सम्यक ज्ञान और सम्यक ज्ञान से सम्यक चरित्र प्राप्त होना बताया गया है। सम्यक चरित्र ही मोक्ष-द्वार है। अत सम्यक् चरित्र पर जैनियो ने अधिक जोर दिया है।

---

१ मैंने तत्सम्बन्धी सामग्री डॉ० बेनीप्रसाद की 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' से ली है, जिनका मैं आभारी हूँ।

तत्व—जैनिया ने सात प्रकार के तत्व बतलाये हैं —

(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बध, (५) सवर, (६) निजरा तथा (७) मोक्ष।

जीव के सम्बन्ध मे ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है।

अजीव के पांच भेद हैं—(१) पुद्गल, (२) धम, (३) अधम, (४) आकाश तथा (५) काल। स्पश, रस, गध एव वण युक्त द्रव्य पुद्गल कहलाता है। मोटे तौर पर पुद्गल के दो प्रकार हैं—(१) अणु जो अविभाज्य है तथा स्कध जो अणुओ का समूह है। दूसरा द्रव्य धम है। यह अमूर्तीक और सवव्यापी है। यह जीव और पुद्गल की गति में सहायता प्रदान करता है, अर्थात चलने मे योग देता है। अधर्म भी अमूर्तीक और सवव्यापी है और यह पुदगल तथा जीव की स्थिति मे ठहराव लाता है, अर्थात ठहरने मे योग देता है। आकाश जो चौथा द्रव्य है सब पदार्थों को अवकाश देता है। आकाश के दो भेद लोकाकाश तथा अलोकाकाश है। पाचवां द्रव्य काल समस्त द्रव्यो के परिवतन मे योग देता है।

कम के सम्बन्ध मे जैनियो का यह मत है कि राग-द्वेष के कारण शरीर, मन या वचन से जो क्रियाएँ की जाती हैं उनसे कमपरमाणु आत्मा के पास खिच आता है। यही आस्रव कहलाता है। कर्म ही भावी जीवन का निर्धारण करता है। इसमे किसी अलौकिक शक्ति का हाथ नही रहता, अत कम को सुन्दरतम बनाना चाहिए।

राग-द्वेष आदि से प्रभावित कम के आस्रव को अर्थात् क्रिया के अनुसार कमरूपी द्रव्य का आत्मा से सलग्न हो जाने को बन्धत्व कहते हैं।

राग-द्वेष आदि के प्रभाव से कम के आस्रव को रोकने को ही सवर कहते हैं।

जो कम हमारी आत्मा मे बद्ध है उसको तप, योग आदि के दूर करने का निजरा कहते हैं।

अठारह पाप—जैन धम के अनुसार १८ मुख्य पाप हैं। आवश्यक सूत्र के अनुसार वे इस प्रकार हैं (१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) दोषारोपण, (१४) चुगली, (१५) असयम मे रति और सयम मे अरति, (१६) निन्दा, (१२) कपट छल, (१८) मिथ्या-दर्शन।

मोक्ष कम—बन्धन (भले-बुरे हर प्रकार के कम) से मुक्ति पाने को कहते हैं।

ऊपर जैन धर्म के दार्शनिक पहलू पर सक्षेप मे प्रकाश डाला गया था। अब उनके व्यावहारिक नियमो (आचार) पर प्रकाश डाला जायगा। महावीर स्वामी ने अपनी आँखो देखा था कि हिन्दू दर्शन के सिद्धान्त साधारण जनता के लिए उसी प्रकार ग्राह्य नही जिस प्रकार कुछ चुने हुए धर्माधिष्ठाताओ या धमरत व्यक्तियो के हैं। जितने नियम हिन्दू विचारको ने प्रस्तुत किय हैं वे सम्पूर्ण मनुष्यों द्वारा प्रयोग में नहीं लाये जा सकते। सभी तप नहीं कर सकते, सब लोग योग नहीं कर सकते और न सभी यज्ञ कर सकते हैं। अत उन्होने दो प्रकार से धम का उपदेश देना आवश्यक समझा—(१) सन्यासियो के लिए तथा (२) गृहस्थ या श्रावको के लिए। महावीर ने सवसाधारण के लिए निम्नलिखित पाँच (अणुव्रत) नियम बताये —

पच अणुव्रत—(१) हिंसा—छेदना, बाँधना, पीडा पहुँचाना, काफी अधिक बोझा लादना, भोजन-पानी रोकना हिंसा है।

(२) सत्य—झूठ नही बोलना चाहिए। अप्रिय, निन्द्य, कठोर एव पापमयी बात का त्याग करना चाहिए।

(३) अचौय या अस्तेय—चोरी करना, चोरी का माल लेना, माल मे मिलावट करना, कम तोलना, राजा की आज्ञा का उल्लघन चोरी में सम्मिलित हैं और चोरी स्वय एक प्रकार की हिंसा हैं क्योंकि इससे भी किसी के हृदय पर आघात पहुँचता है।

(४) ब्रह्मचय—काम-वासना को मारना ही ब्रह्मचय है।

(५) अपरिग्रह—माया के बन्धन से मुक्ति पाने को अपरिग्रह कहते हैं। धन-सम्पदा से मनुष्य को दूर रहना चाहिए। दूसरो के धन मे तनिक ममता नही रखनी चाहिए। जीवन के लिए आवश्यक धन तक ही मनुष्य को सीमित रहना चाहिए।

गुणव्रत—उपरोक्त पाँच अणुव्रतो के अतिरिक्त तीन गुणव्रत भी बताये गये हैं—

(१) दिग्व्रत—दिशाओ मे भ्रमण की मर्यादा बाँधना, (२) अनर्थदण्डव्रत—प्रयोजनहीन, पाप-उत्पादक वस्तुओ का परित्याग तथा (३) भोगोपभोग-परिमाण—भोग्य पदार्थों का परिमाण निर्धारण।

शिक्षाव्रत—शिक्षाव्रत चार हैं —

(१) देशावकाशि—दिशाओ मे भ्रमण की मर्यादा मे कमी लाना, (२) सामायिक—पापरहित होकर धम चिन्तन करना, (३) प्रोषोधोपासव— विशेष समय पर उपवास करना तथा (४) वैयावृत्य—दान-पजा आदि करना।

धम के लक्षण—जैन सिद्धान्त मे उपरोक्त समस्त तत्वो एव प्रवृत्तियो के आधार पर धम के दस लक्षण बताये गये हैं —

(१) उत्तम क्षमा—क्रोध का पूर्ण हनन, (२) उत्तम मादव—गव का अन्त कर मधुरता लाना, (३) उत्तम आजव—कुटिलता के स्थान पर सरलता ग्रहण करना, (४) उत्तम शौच—माया के अनेक रूपो वाले बन्धन से मुक्त होकर आत्मा का शुद्धीकरण करना, (५) उत्तम सत्य, (६) उत्तम सयम, (७) उत्तम तप, (८) उत्तम आकिंचन्य—आत्मा के तीन स्वाभाविक गुणो मे विश्वास करना और यह समझना कि इसके इतर हमारा कुछ नही और न मैं किसी का हूँ, (९) उत्तम ब्रह्मचर्य तथा (१०) उत्तम त्याग।

अभ्यन्तर तप—महावीर ने तप से ज्ञान प्राप्त किया था और 'जिन' कहलाये। अत जैन धम मे तप पर भी विशेष जोर दिया गया है। स्वाध्याय को तप मे ऊँचा स्थान दिया गया है और इसके पाँच भेद बताये गये हैं—पढना, पूछना, अनुप्रेक्षा (बार-बार अथ का मनन करना), अभ्यास तथा धर्मोपदेश। इसके अतिरिक्त पाच अन्य अभ्यन्तर तप हैं —

(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वयावृत्य, अर्थात ग्लानिरहित होकर दुखियो का उपकार करना, (४) कायोत्सर्ग, अर्थात् माया मोह आदि से रहित होना और समय आने पर भोजन आदि छोडकर शरीर छोड देना तथा (५) ध्यान, जिसके अनेक भेद बताये गये है। ध्यान मे एक प्रकार से समस्त जैन सिद्धान्तो की पुनरावृत्ति कराई गई है।

परिषह—ऊपर जो विधान बताये गये हैं वे साधारण लोगो के लिए हैं पर सन्यासियो के लिए कुछ अधिक कठोर नियम बनाये गये हैं। ये बाईस परिषद् हैं जिन्हे सन्यासियो को जीतना आवश्यक है —

(१) क्षुधा, (२) तृषा (तृष्णा), (३) शीत, (४) उष्ण, (५) नग्न, (६) याचना, (७) अरति, (८) अलाभ (९) दशमशकादि, (१०) आक्रोश, (११) रोग (१२) मल, (१३) तृणस्पर्श, (१४) अज्ञान, (१५) अदर्शन, (१६) प्रज्ञा, (१७) सत्कार-पुरस्कार, (१८) शय्या, (१९) चर्या, (२०) वधबन्धन, (२१) निषिद्या तथा (२२) स्त्री ।

कर्म—कर्म के बन्धन से मुक्ति पाने के ही समस्त प्रयास-स्वरूप उपरोक्त नियमो एव सिद्धान्तो का सृजन हुआ था, अत कर्म के सम्बन्ध मे भी जैनियो की स्पष्ट धारणा है और जिसका विषद विवरण जैन ग्रन्थो मे मिलता है । भेद-उपभेदो मे यह प्रकरण पूर्ण है अत इसकी पूर्ण व्याख्या करना विषय को न केवल दुरूह बनाना है पर कुछ अशो मे विषयेतर होना भी है । अत यहाँ केवल यही जान लेना पर्याप्त है कि जैनियो ने कर्म के आठ भेद बताये हैं —

(१) **ज्ञानवर्णीय कर्म**—जिससे आत्मा पर सूक्ष्म परदा पडा रहता है जिससे तत्वज्ञान नही हो पाता ।

(२) **दर्शनावर्णीय कर्म**—जिसमे यथार्थ तत्वज्ञान नही हो पाता ।

(३) **वेदनीय कर्म**—जिसमे कुछ दिन भले ही सुख का अनुभव हो पर अन्त दु ख से होता है ।

(४) **आयुकर्म**—जिससे आवागमन का कारण जुटता है ।

(५) **नामकर्म**—जिससे आत्मा, देव, मनुष्य आदि की गतिया निर्धारित होती हैं ।

(६) **गोत्रकर्म**—जन्म के गोत्र की उच्चता, लघुता का निश्चय होता है ।

(७) **अन्तराय कर्म**—जिससे सत्कर्म दान लाभ मे बाधा उपस्थित होती है, तथा

(८) **मोहनीय**—जिससे आत्मा मदिरलसित-सी हो जाती है ।

जैन धर्म के अनुसार सासारिक एव आध्यात्मिक जीवन म मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है । इस जगत के समस्त प्राणी अपने सचित कर्मों के अनुसार उसका फल भोगते हैं । कर्म के अनुसार विभिन्न योनियाँ पाते है । मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य को सत्कर्म करना आवश्यक है ।

त्रिरत्न—पूर्व जन्म मे कुकर्मों के फल से मुक्ति पाने और इस जन्म के कुकर्म के फल से बचने के लिए जैन धर्म त्रिरत्नो के पालन की शिक्षा देता है । ये त्रिरत्न हैं (१) सम्यक श्रद्धा, (२) सम्यक् ज्ञान, (३) सम्यक आचरण । सत मे विश्वास सम्यक् श्रद्धा है । सद्रूप का वास्तविक ज्ञान सम्यक ज्ञान है । बाह्य जगत के विषयो के प्रति समदुखभाव से उदासीनता ही सम्यक् आचरण है ।

ज्ञान—ज्ञान का स्थान जैन सिद्धान्त म काफी महत्वपूर्ण है । ज्ञान के पाँच भेद बताये गये हैं—

(१) मति जिसम पाँच इन्द्रियो तथा मन से ज्ञान प्राप्त होता है । इसके भी चार उपभेद हैं—अवग्रह ईहा, अवाय तथा धारणा ।

(२) श्रुतज्ञान—इसका सम्बन्ध मतिज्ञान से सीधा है, क्योकि उसके निमित्त से ही यह होता है । इसके दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुत ।

(३) अवधिज्ञान—जो इन्द्रिय के सहयोग बिना ही आत्मा को हो जाता है।

(४) मन पर्यायज्ञान—यह भी इन्द्रियजन्य नही होता, अपितु आत्मा के स्वाभाविक विकास के होता है।

(५) कैवल्यज्ञान—जब आत्मा का चरमोत्कर्ष हो जाता है तब उसे केवल या कैवल्य ज्ञान प्राप्त होता है। तब उसमे भूत भविष्य जानने की क्षमता तक आ जाती है।

उपरोक्त भेदो के भी अनेक उपभेद हैं, जिनके सम्बन्ध मे यहाँ प्रकाश डालना वांछित नहीं।

प्रमाण—पदार्थ के सर्वदेश ज्ञान प्राप्त करने की विधि को ही प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष तथा (२) परोक्ष। इनके उपभेदो के अन्तर्गत उपरोक्त पाँचो प्रकार की ज्ञानगत स्थितियाँ आ जाती हैं। अत उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं।

नय—प्रमाण द्वारा जिस पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उस पदार्थ के किसी एक धर्म को विशेष रूप से जानना नय कहलाता है। द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायिक नय इसके दो भेद हैं।

स्याद्वाद्—एक ही वस्तु को यदि विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा जाय तो उसका मूल रूप हमारे सम्मुख नये-नये ढग से आयेगा। एक वस्तु के कई गुण या धर्म हो सकते है, अत जैनियो ने इस पर जोर दिया कि किसी भी वस्तु को केवल एक ही दृष्टि से देखकर मत छोडो। हिन्दू आचार्यों ने इसे सशयवाद या अनिश्चयवाद कहकर इसकी कटु आलोचना की पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह बिल्कुल सत्य है।

महावीर की मृत्यु के पश्चात् जैन धर्म की अवस्था

महावीर स्वामी के सहयोगी या शुभचिन्तक राजाओ के विषय मे पिछले पृष्ठो मे प्रकाश डाला गया है और वही यह भी बताया गया है कि गणराज्यो की श्रद्धा इसके प्रति कितनी अधिक थी। यहाँ हम यह विचार करेंगे कि उनकी मृत्यु के पश्चात् जैन धर्म की क्या दशा रही।

महावीर स्वामी के ग्यारह शिष्यो म से उनकी मृत्यु के पश्चात् केवल एक आर्य सुधर्मन बच गया था जो महावीर के पश्चात् जनसघ का आचार्य हुआ। सम्भवत महावीर के जीवन-काल मे उनके जामाता जमालि तथा एक सन्यासी गोसमुत्त ने जैनसघ मे कुछ उपद्रव मचाया था। इसका प्रामाणिक कारण नही ज्ञात होता है। यह सघ मे प्रधानता प्राप्त करने के लिए तो नही रहा ? जैन अनुश्रुतियो से यह ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् भी इनके धर्म को राजकीय सहयोग मिलता रहा। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदयिन को जैन अनुश्रुतियो मे जैनमतावलम्बी माना गया है। इस प्रकार शक्तिशाली मगध राज्य मे प्रारम्भ से ही जैन धर्म की पहुँच होकर उदयिन तक चलती रही और तत्पश्चात जब नन्दो का उदय हुआ तो उन्होंने भी इसे प्रश्रय दिया जैसा कि हाथीगुम्फा के अभिलेख मे इसका सकेत मिलता है। उक्त अभिलेख म "प्रथम जिन की मूर्ति" को 'नन्द राजा" के अधिकार मे होना बताया गया है। मगध में जैन धर्म ने निश्चय ही अपनी जड जमा ली थी (यदि जैन अनुश्रुतिया पर विश्वास किया जाय) और मौर्य साम्राज्य का सस्थापक, रक्तिम विजयो का विजेता चन्द्रगुप्त ने भी अन्त मे जैन धर्म स्वीकार कर लिया जैसा कि आगे बताया जायेगा।

जैनाचार्य सुधर्मन का सम्भवत ५०८ ई० पू० मे देहावसान हो गया और

तत्पश्चात उनके उत्तराधिकारी जम्बू ४६४ ई० पू० मे मरे। इसके बाद हमे जैन सघ का पर्याप्त विवरण प्राप्त करनेवाला ग्रन्थ कल्पसूत्र मिलता है।

जैनधर्म का क्षेत्र—यह बताया जा चुका है कि अपने समय मे महावीर ने अग, अवन्ति, मगध आदि राज्यो पर अपना प्रभाव छोड़ा था, गणराज्यो मे मल्ल, लिच्छवि आदि उनसे बहुत प्रभावित थे। उनकी मृत्यु के पश्चात भी मगध के मौर्य सम्राट् चन्द्र गुप्त के, अन्त म, जैन होने का वोध होता है। पर जैन धम का प्रसार-क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित न था। उज्जैन तथा मथुरा उन दिनो जैन धम का केन्द्र हो गया था। मथुरा मे इतनी अधिक मात्रा मे जैन अभिलेख प्राप्त हुए हैं कि उपरोक्त मत का समथन स्पष्टतया हो जाता है। उज्जैन और जैन सन्त कालकाचाय का सम्बन्ध तो एक बहुत ही रोचक कथा जोडकर जैन अनुश्रुतियो में दर्शाया गया। जैन धम का प्रचार भारत मे काफी हुआ और वास्तव मे यह अपने प्रतिस्पर्धी बौद्ध धम की अपेक्षा भारत में अधिक सफल हो सका। भारत में आज भी इस धर्म के अनुयायी काफी संख्या मे पाये जाते हैं। जैन धम की इस सफलता के मूल मे हिन्दू धम से इसका साम्य ही है। इसमे कठिन तप, ज्ञान, मोक्ष आदि की जो बातें बताई गई हैं वे हिन्दुओं को नवीन या विचित्र नहीं लगीं और वे अपनी रूढिवादिता को न त्यागते हुए भी इस नवीन धम को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो सके। आज इसीलिए भारत के बडे-बडे नगरो मे जैन मन्दिर, धमशालायें, पाठशालायें आदि काफी हैं।

प्रश्न

Allahabad University

१ महावीर के जीवन-चरित्र का निरूपण करके उन उपदेशो की गौतम बुद्ध की शिक्षाओ से तुलना कीजिए। (१९६६)

Kanpur University

२ महावीर के जीवन तथा शिक्षाओं का उल्लेख कीजिए। (१९६९)

बौद्ध धर्म का अभ्युदय

छठी शताब्दी ई० पू० को धार्मिक क्रांति का युग मानने में हमे जो प्रेरणा बौद्ध धर्म के अभ्युदय से होती है उतनी अन्य किसी धर्म से नहीं। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस धर्म ने एक बार विश्व के अधिकांश भागों को प्रभावित किया था और इसके अमर सन्देश से सम्पूर्ण विश्व को शांति-स्थापना की प्रेरणा मिली थी। पहले बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र पर सक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जायगा।

गौतम बुद्ध

गणराज्यो का उल्लेख करते हुए यह बताया गया था कि गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्यो के गणराज्य के 'राजन' थे। इनकी माता का नाम मायादेवी था जो कोलिय गणराज्य की राजकुमारी थी। सुत्त निपात मे गौतम के कुल को 'उच्च एवं अभेद्य' बताया गया है।

गौतम की जन्म तिथि का निश्चय उनकी मृत्यु तिथि के आधार पर इस प्रकार किया गया है —

सिंहली अनुश्रुतियो के अनुसार गौतम की निधन तिथि ५४३ ई० पू० है और वे ८० वर्ष तक जीवित रहे। अत जन्म तिथि ६२३ ई० पू० हुई। पर इस सम्बन्ध मे विद्वानो का मतैक्य नहीं है और कुछ यह तिथि ५६६ ई० पू० बताते हैं। परिनिर्वाण की तिथि ४८३ ई० पू० भी मानी गई है।

मज्झिम निकाय तथा निदान कथा से महात्मा बुद्ध के जन्म की कथा का बोध होता है। जिस समय महामाया अपने मायके देवदह जा रही थी उसी समय रास्ते मे लुम्बिनी मे गौतम का जन्म हुआ। दुर्भाग्यवश जन्म के सात दिन पश्चात ही माता का देहान्त हो गया और बालक का पालन-पोषण उसकी विमाता महाप्रजापति गौतमी द्वारा होने लगा। महात्मा गौतम बुद्ध के जन्म-स्थान का एक प्रमुख साक्ष्य अशोक के 'लुम्मिनी' या लुम्बिनी (रुम्मिनदेयी) अभिलेख (२५० ई० पू०) है। उक्त अभिलेख मे "हिद बुधे जाते शाक्यमुनीती" (अर्थात् शाक्य मुनि बुद्ध यहाँ पैदा हुए थे) उत्कीर्ण है। यह स्थान नेपाल मे बिथी जिले मे स्थित है।

अगुत्तर निकाय १।१४५।। से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध का बाल्य-जीवन विलासिता की गोद मे बीता। हर प्रकार के सुन्दर वस्त्रो का ये उपभोग करते थे और नृत्य सगीत का भी आनन्द लेते थे। इनकी पत्नी के कई नाम बताये गए हैं। बुद्धवश २६।१५ में भद्दकच्छा जातक-टीका २८१, ४८५ तथा महावदान सुत्त मे बिम्बा, ललितविस्तार मे गोपा तथा उत्तरी बौद्धग्रथो मे यशोधरा बताया गया है।[1] मज्झिम निकाय की कथा

---

१ देखिये राधाकुमुद मुकर्जी, *Hindu Civilization*, p 245 जिसके आधार पर उक्त विवरण दिया गया है।

कथायें प्रचलित हैं जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार जरा, रोग तथा मृत्यु आदि के दारुण सत्य का नग्न रूप देखकर गौतम जीवन के प्रति उदासीन हो गये थे।

जिस समय गौतम घर छोड़ने का निश्चय कर चुके थे उसी समय उन्हें पुत्रोत्पत्ति की सूचना मिली और गौतम के मुख से निकला 'राहुल' (बन्धन) जो बालक का नाम पड़ गया। पर ये सारे बन्धन गौतम को न बाँध सके और उन्होंने २९ वर्ष की अवस्था में घर छोड़ दिया।

आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने गौतम के इस प्रकार आकस्मिक गृह त्याग पर आपत्ति व्यक्त की है। उनका कहना है कि आकस्मिक भावावेश में आकर गौतम ने गृह-त्याग नहीं किया। उसके पीछे कतिपय गम्भीर कारण रहे होंगे। पर अधिकांश विद्वानों के अनुसार गौतम के गृह-त्याग का मुख्य कारण उनकी चिन्तनशील प्रवृत्ति और मानव जाति के प्रति उनकी करुणा थी।

ज्ञान की खोज में—ललितविस्तर से ज्ञात होता है कि शाक्य, कोलिय, मल्लों आदि के राज्यों को पार करते हुए वे अनुवैनेय नामक स्थान पर पहुँचे। यहाँ अपना समस्त आभरण उतारकर इन्होंने छन्दक को दे दिया और स्वयं पीत वस्त्र धारण कर लिया।

सर्वप्रथम गौतम आलार कालाम नामक सन्यासी के पास आये। इनके ३०० शिष्य थे। इन्हीं शिष्यों के साथ आलार कालाम से गौतम भी शिक्षा लेने लगे पर जिस प्रकाश की खोज में गौतम निकले थे वह यहाँ नहीं मिला। अतः वे और आगे बढ़े। इन्हें एक दूसरा धर्मशिक्षक मिला। इस धर्माचार्य का नाम उद्रक रामपुत्र था जिसके ७०० शिष्य थे। यहाँ भी गौतम को निराश होना पड़ा। तत्पश्चात् गौतम मगध राज्याधीन उर्वेला नामक स्थान पर आये। यहाँ उन्होंने कठिन तपस्या आरम्भ कर दी। अन्न का बिल्कुल ही त्याग कर दिया और केवल रस से प्राणरक्षा करने लगे। कुछ ही दिनों में उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया। यहाँ इनके साथ इनके पाँच ब्राह्मण साथी भी रहे। पर गौतम ने देखा कि इस कठिन तपस्या से भी कोई लाभ नहीं होने को, अतः उन्होंने तपस्या भंग करके आहार ग्रहण किया जिस पर उनके ब्राह्मण साथियों ने उन्हें पेटू कहकर उनका साथ छोड़ दिया। बुद्ध का ६ वर्ष इसी प्रकार बीत गया। ३५वें वर्ष में एक दिन जब वे एक पीपल के पेड़ के नीचे (जो आगे चलकर बोधिवृक्ष कहलाया) बैठे थे तो उन्हें 'बुद्धत्व' प्राप्त हुआ। गौतम को जिस प्रकाश की खोज थी वह मिल गया। इस ज्ञान प्राप्ति के पूर्व की अनेक कथायें महावस्तु तथा जातक आदि में मिलती हैं।

धर्मप्रचार—संसार के दुःख से क्षुब्ध होकर ही महात्मा बुद्ध ने भोग विलास को ठुकराया था और अब वे उस प्रकाश को जिससे उन्होंने जीवन के सत्य का स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था, संसार के प्राणी प्राणी को बताना चाहते थे जिससे विश्व का कल्याण हो सके। महात्मा गौतम बुद्ध को वे पुराने साथी स्मरण रहे। अतः सर्वप्रथम उन्होंने उनको ही अपने ज्ञान की शिक्षा देने का विचार किया। वे पाँचों ब्राह्मण बनारस के निकट सारनाथ में ऋषिपत्तन मृगदाव में मिले जहाँ बुद्ध भगवान् ने उन्हें अपना प्रथम उपदेश दिया। यह धर्म चक्रप्रवर्तन के नाम से विख्यात है।

तत्पश्चात् महात्मा गौतम बुद्ध के अनेक अनुयायी बनारस में मिले जिनमें यश का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बुद्ध के अनुयायियों की संख्या अब लगभग ६० तक पहुँच गई। इनको प्रथम बौद्धसंघ का भिक्षु कहा जा सकता है। बुद्ध बनारस से पुनः उर्वेला लौटे। मार्ग में इनको ३० अनुयायी मिले जिनमें भद्र प्रधान था। उर्वेला में तो गौतम बुद्ध के पहुँचते ही एक धार्मिक क्रान्ति-सी आ गई और जटिल कस्सप के ५००

शिष्य, नदी के ३०० शिष्य, गया के २०० शिष्य अर्थात् कुल १००० जटिल सम्प्रदाय-वाले अपने गुरुओं के साथ बौद्ध धर्मानुयायी हो गये। इनके साथ गौतम बुद्ध राजगृह को चल पड़े जहाँ उनकी बिम्बिसार से भेंट हुई। यहीं सारिपुत्त तथा मोग्गलायन नामक दो व्यक्ति मिले जिन्होंने महात्मा बुद्ध को धर्म प्रचार में बड़ा योग दिया जिसके फलस्वरूप संजय तथा उनके २०० अनुयायी बौद्ध हो गये। विभिन्न गणराज्यों का भ्रमण करते हुए बुद्ध भगवान् अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु आये। अब तक लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उनका प्रचार हो चुका था। कपिलवस्तु में उन्होंने धर्मोपदेश दिया। इनके उपदेश से इनका सौतेला भाई नन्द तथा पुत्र राहुल भिक्षु हो गये। नन्द उसी माता का पुत्र था जिसने गौतम बुद्ध का पालन-पोषण किया था। जिस समय नन्द भिक्षु हुआ उसी दिन उसका राज्याभिषेक तथा एक अत्यन्त रूपवती लड़की से ब्याह होना निश्चित था। तत्पश्चात् जब भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु से राजगृह लौट रहे थे तो मार्ग में अनुपिय नामक स्थान पर उन्होंने शाक्य 'राजा' भद्रिक को उसके सहचरों *अनरुद्ध, आनन्द, उपालि तथा देवदत्त* के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित किया और ये बौद्ध धर्म के इतिहास में अपना प्रमुख हाथ रखते हैं। धर्म-प्रचार के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना राजगृह में हुई। बुद्ध भगवान् सीतावन (राजगृह) में रुके थे। यहीं उनसे प्रभावित होकर सुदत्त नामक एक व्यापारी ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। हमें सुदत्त के दान की महती कथा का बोध होता है। फिर इससे ज्ञात होता है कि सुदत्त ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए जेत-राजकुमार के उपवन को लेने की इच्छा प्रकट की पर जेत ने उस उपवन का मूल्य बताया—उसको पूर्णतया ढक लेने भर सोना। सुदत्त तैयार हो गया। इस कथा के प्रमाण-स्वरूप भरहुत की प्रस्तरमूर्ति है जिस पर उत्कीर्ण है—

"जेतवन अनथपेडिको देति कोटिसमुथ्यतेन केता' (अनथपेडिक या अनाथपिण्डिक सुदत्त की उपाधि थी।[1]

इसी प्रकार पुरवर्मा से भी गौतम बुद्ध को बहुत बड़ा दान विशाख द्वारा प्राप्त हुआ।

अब राजगृह, कपिलवस्तु तथा श्रावस्ती तीनों स्थानों पर बौद्ध संघ स्थापित हो चुके थे। यह महात्मा गौतम बुद्ध के केवल दो वर्ष के प्रयास का प्रतिफल था।

अब तक भगवान् बुद्ध ने केवल पुरुषों को ही भिक्षु बनने की आज्ञा दी थी। पर धर्मप्रचार के पंचम वर्ष में एक ऐसी घटना घटी जिससे द्रवित होकर महात्मा बुद्ध ने नारियों को भी बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी। पर भिक्षुणी होने की आज्ञा देने में महात्मा बुद्ध को कितनी हिचक थी और इसके लिए आनन्द को कितना परिश्रम करना पड़ा, यह उल्लेखनीय है। वैशाली में 'कूटागारशाला' में भगवान् बुद्ध रुके थे कि उन्हें पिता के देहावसान की सूचना मिली। तभी उन्हें शाक्यों एवं कोलियों में रोहिणी नदी के जल के लिए जो झगड़ा चल रहा था, उसका अन्त करने के लिए घर लौटना पड़ा। यहाँ आने पर विधवा माता महाप्रजापति गौतमी ने बुद्ध से भिक्षुणी होने की प्रार्थना की पर भगवान् बुद्ध ने तीनों बार उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। अन्त में आनन्द के बहुत कहने पर उसे भिक्षुणी होने की आज्ञा मिली। भिक्षुणी होने की आज्ञा मिल जाने पर गौतम की पुत्री नन्दा तथा स्वयं बुद्ध की पत्नी गोपा ने भी बौद्ध संघ में प्रवेश

१ चुल्लवग्ग

किया। थेरीगाथा मे लगभग ७० ७५ भिक्षुणियों का उल्लेख किया गया है। भगवान बुद्ध का भ्रमण चलता रहा और वे उत्तरी भारत के अनेक राज्यो मे अपने उपदेश देते रहे। बौद्ध ग्रन्थो मे इन यात्राओ का बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है।

महापरिनिर्वाण—भगवान तथागत ने अपने जीवन के ४५ महत्त्वपूर्ण वर्ष धर्मोपदेश मे व्यतीत किए थे। इसमे जीवन के अंतिम चरण मे कुछ समय तक स्थायी रूप से श्रावस्ती मे रहे थे। अधिकाश समय भ्रमण मे बीता था। इस परिश्रम और जरा के आगमन से बुद्ध का शरीर शिथिल हो गया था। इस शिथिलता का आभास उन्हे और उनके शिष्यो को स्पष्ट हो गया था, इसका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थो मे मिलता है। अपने आसन्न अवसान के विषय मे एक दिन उन्होने स्वय अपने परमप्रिय शिष्य आनन्द से कहा था—"अस्सी वर्ष की मेरी आयु है आनन्द! जैसे पुरानी गाडी बाँध-बूधकर चलती है, वैसे आनन्द! तथागत का शरीर बाँध बूंध कर चल रहा है। इस-लिए आनन्द! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्म दीप, धर्मशरण, अनन्य शरण ही कर विहरो।" इसके बाद वैशाली मे भिक्षुओ के समक्ष उन्होने भविष्यवाणी की थी कि अब से तीसरे महीने के अन्त मे उनका परिनिर्वाण होगा। वैशाली से महात्मा बुद्ध पावा पहुचे, वहा उन्होने चुन्द कर्मार पुत्र (सोनार) के घर भोजन ग्रहण किया। यह उनका अन्तिम भोजन था। इस भोजन के बाद ही उन्हे भयानक उदर-कष्ट, और पेचिश की पीडा हुई। इस पीडा मे ही वे कुशीनगर पहुचे। वहा भिक्षुओ को बुला कर अन्तिम उपदेश दिया। उन्होने कहा 'आनन्द! सम्भवत तुम सोचते हो कि तुम्हारा आचार्य तुम से जुदा हो रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हे बताए हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वही तुम्हारे आचार्य रहेगे और वे सदा जीवित रहेगे। फिर उन्होने सब भिक्षुओ को सम्बोधित करते हुए कहा—'पुत्रो! सुनो, मैं तुमसे कहता हू, जो आता है, वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किए जाओ'

इस प्रकार ८० वर्ष की अवस्था मे इस महान विभूति का महापरिनिर्वाण हुआ। उनकी मृत्यु के बाद उनके परम पुनीत भस्मावशेष को लेकर विभिन्न स्थानो पर अनेक स्तूप बनवाए गए।

बुद्ध के मूल सिद्धान्त

गौतम बुद्ध के सिद्धान्तो का समझने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि गौतम बुद्ध (१) ईश्वर मे विश्वास नहीं रखते थे (२) आत्मा को नित्य नहीं मानते थे, (३) किसी ग्रन्थ को स्वत प्रमाण नहीं मानते थे तथा (४) जीवन प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित नहीं मानते थे।

चत्वारि आर्य सत्यानि

गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यो का निरूपण इस प्रकार किया—(१) दुख, (२) दुखसमुदय, (३) दुखनिरोध तथा (४) दुखनिरोधगामी मार्ग।

नीचे इन पर पृथक् पृथक प्रकाश डाला जायगा।

(१) दुख—बुद्ध ने कहा—"जन्म भी दुख है बुढापा भी दुख है मरण, शोक रुदन—मन की खिन्नता—हैरानी दुख है। अप्रिय से सयोग, प्रिय से वियोग भी दुख है, इच्छा करके जिसे नहीं पाता वह भी दुख है। सक्षेप मे पाँचो (उपादान स्कन्ध) दुख हैं।[1] पाँच उपादान स्कन्ध, रूप वेदना सज्ञा सस्कार तथा विज्ञान हैं।

१ महासत्तिपट्ठान सुत्त (दीघ निकाय २।९)

(२) दुःखसमुदय—दुःख का कारण तृष्णा है। काम की तृष्णा भव (उत्पन्न होने की तृष्णा), विभव की तृष्णा आदि ही दुःख के कारण हैं। काम की तृष्णा से दुःख किस प्रकार उत्पन्न होता है इसकी व्याख्या भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार की है— 'काम (प्रिय भोग) के लिए ही राजा राजाओं से लड़ते हैं, क्षत्रिय क्षत्रियों से ब्राह्मण ब्राह्मणों से, गृहपति गृहपतियों से, माता पुत्र से, पुत्र माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहिन भाई से, भाई बहिन से, मित्र मित्र से लड़ते हैं। वे परस्पर कलह विग्रह विवाद करते हैं, एक दूसरे पर हाथ से, दण्ड से, शस्त्र से भी आक्रमण करते हैं। वे मर भी जाते हैं और मरण समान दुःख को भी प्राप्त होते हैं।'[१]

(३) दुःख निरोध—दुःख के मूल तृष्णा के अन्त करने को दुःख निरोध कहते हैं। तृष्णा के अन्त हो जाने से उपादान का निरोध होता है। उपादान निरोध से भव (लोक) का निरोध होता है और भव निरोध से जन्म का निरोध हो जाता है। जन्म के निरोध से दुःख के उपकरणों—बुढ़ापा, मरण, शोक आदि का अन्त हो जाता है।

(४) दुःख निरोधगामी मार्ग—दुःख-निरोधगामी मार्ग का प्रथम उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने पाँच साथियों को दिया था जो 'धम्मचक्क पवत्तन' के नाम से विख्यात है। भगवान् बुद्ध ने कहा—

"भिक्खुओ ! इन दो अतियों को नहीं सेवन करना चाहिए। (१) काम-सुख में लीन हो जाना (२) शरीर-यातना में लग जाना। इन दोनों अतियों को त्याग (मैंने) मध्यम मार्ग खोज निकाला है (जो) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला शान्ति देनेवाला है। वह (मध्यम मार्ग) यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है सम्यक् दृष्टि (दर्शन), सम्यक संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक समाधि।"[२]

उपरोक्त आर्य अष्टांगिक मार्ग में प्रथम दो ज्ञान, अन्य तीन शील तथा अन्तिम तीन समाधि में अन्तर्गत आते हैं।

कायिक, वाचिक, मानसिक भले-बुरे कर्मों के ठीक-ठीक ज्ञान को ही सम्यक् दृष्टि कहा गया है। कायिक बुरे कर्मों में हिंसा, चोरी, यौन (व्यभिचार) आदि हैं और इनके विलोम भले कर्म हैं। इसी प्रकार वाचिक बुरे कर्मों में मिथ्या भाषण चुगली, कटु भाषण, बकवास हैं तथा इनके विलोम भले कर्म हैं। मानसिक बुरे कर्मों में लोभ, प्रतिहिंसा तथा झूठी धारणा है और इनके विलोम भले मानसिक कर्म। चत्वारि आर्य-सत्यानि का ठीक ठीक बोध करना ही सम्यक दृष्टि कहलाता है। बुद्ध ने बताया कि सम्यक् संकल्प का अर्थ है राग प्रतिहिंसा रहित संकल्प। ये दोनों ज्ञान के अन्तर्गत हैं।

शील के अन्तर्गत सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म तथा सम्यक जीविका हैं। सम्यक् वचन तथा सम्यक कर्म के अन्तर्गत ऊपर बताये गये कायिक तथा वाचिक कर्म आते हैं। सम्यक जीविका से बुद्ध का अभिप्राय बुरे कर्मों से रहित जीविका से है। प्राणिहिंसा-सम्बन्धी जीविका ही बुरी जीविका है। अंगुत्तर निकाय ६ के अनुसार "हथियार का व्यापार प्राणि का व्यापार, मांस का व्यापार मद्य का व्यापार, विष का व्यापार" आदि ही झूठी जीविका हैं।

सम्यक समाधि के अन्तर्गत सम्यक प्रयत्न, सम्यक् स्मृति तथा समाधि हैं। सम्यक

---

१ मज्झिम निकाय १।२।३॥

२ "धम्मचक्कपवत्तनसुत्त"—संयुत्त निकाय ५५।२।१॥

प्रयत्न का अर्थ है, इन्द्रियो पर सयम करने का प्रयत्न, बुरी भावनाओ के दमन तथा सुन्दर भावनाओ के उत्पादन का प्रयत्न, उत्पादित उत्तम भावनाओ को स्थायित्व देने का प्रयत्न करना। 'काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की ठीक स्थितियो—उनके मलिन, क्षण विध्वसी आदि होने का सदा स्मरण रखना' सम्यक स्मृति है। "चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं।"[1]

अब तक जिन सिद्धान्तो पर कुछ प्रकाश डाला गया है वे महात्मा गौतम बुद्ध के साधारण विचार थे, अब हम उनके दार्शनिक विचारो पर विचार करेंगे।

क्षणिकवाद

अगुत्तर निकाय ३।१।३४ मे "अनित्य, दु ख, अनात्म" बुद्ध भगवान् के सम्पूर्ण दर्शन का प्रतीक है। इसमे ही उनका सारा दर्शन आ जाता है। अनित्य उनके क्षणिकवाद का द्योतक है। भगवान् बुद्ध ने तत्त्वो को निम्नलिखित तीन वर्गों मे विभक्त किया—

(१) स्कन्ध, (२) आयतन तथा (३) धातु।

स्कन्ध के भी पाँच उपविभाग हैं—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान। रूप मे पृथ्वी आदि चारो महाभूत सम्मिलित हैं। सुख दु ख की अनुभूति ही वेदना है। चेतन एव अभिज्ञा को सज्ञा कहते हैं। मन पर पडी छाप या वासना को सस्कार कहते हैं। चेतना एव मन को विज्ञान कहते हैं। बुद्ध ने इन्हे नश्वर बताया है।

आयतन के बारह रूप हैं—६ इन्द्रिया (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन) तथा उनके ६ विषय (रूप, शब्द, गध, रस, स्पष्ट द्रव्य तथा धर्म)।

धातु के भी १८ रूप हैं—उपरोक्त ६ इन्द्रिया उनके ६ विषय तथा उनके पारस्परिक सम्पर्क से जनित ६ विज्ञान। महानिदान सुत्त तथा अगुत्तर निकाय में इन सारे तत्त्वो को अनित्य या क्षणिक कहा गया है।

प्रतीत्य-समुत्पाद—एक वस्तु के विनाश के पश्चात् दूसरे की उत्पत्ति होती है, इसी नियम को भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद कहा है।

अनात्मवाद—गौतम बुद्ध अनात्मवादी थे। शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् आत्मा नाम की किसी स्थायी वस्तु मे उनका विश्वास न था। उपनिषदो मे आत्मवाद की जो वकालत की गई है, भगवान् बुद्ध के मतानुसार वह असत्य है।

अभौतिकवाद—अनात्मवादी होते हुए भी भगवान बुद्ध भौतिकवादी (जडवादी) कदापि न थे। गौतम बुद्ध के विचार मे भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधि का उसी प्रकार विरोधी है, जैसे वह आत्मवाद का विरोधी है। अत, उन्होने कहा—

"वही जीव है, वही शरीर है, (दोनो एक हैं) ऐसा मत होने पर ब्रह्मचर्य-वास नही हो सकता। 'जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है', ऐसा मत (दृष्टि) होने पर भी ब्रह्मचर्य-वास नही हो सकता।"[2]

अनीश्वरवाद—जब जब भी भगवान् बुद्ध से ईश्वर के सम्बन्ध मे पूछा जाता था तो वे या तो बिल्कुल मौन हो जाते थे या कुछ परिहासमय वचनावली मे उसके विद्यमान होने मे सन्देह प्रकट करते थे। उन्होने एक स्थल पर यह बताया है कि आदि मानव को ही परवर्ती मानव ने भ्रमवश ईश्वर मान लिया।

---

१ मज्झिम निकाय १।५।४।।
२ दीघ निकाय १।१२।।

दश अकथनीय (अव्याकृत)—बुद्ध ने निम्नलिखित दस समस्याओ पर मौन रहने की अनुमति दी है —

(अ) लोक
- (१) क्या लोक नित्य है ?
- (२) क्या लोक अनित्य है ?
- (३) क्या लोक अन्तवान है ।
- (४) क्या लोक अनन्त है ?

(ब) जीव-शरीर की एकता
- (५) क्या जीव और शरीर एक हैं ?
- (६) क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ?

(स) निर्वाण के बाद
- (७) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत (मुक्त) होते हैं ?
- (८) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत नहीं होते ?
- (९) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते भी हैं और नही भी होते हैं ?
- (१०) क्या मृत्यु के पश्चात तथागत होते ही हैं, न नही ही होते हैं ?

सर्वज्ञता मे अविश्वास—मज्झिम निकाय से यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञता को गलत मानते थे । एक स्थल मे इस प्रकार लिखा है—

"सुना है भन्ते ! 'श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं'—(क्या ऐसा कहने वाले) यथार्थ कहनेवाले हैं ? भगवान् की असत्य से निन्दा तो नही करते ।"

"वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं वह मेरे विषय मे यथार्थ कहने वाले नही हैं । वह असत्य से मेरी निन्दा करते हैं ।"

मज्झिम निकाय मे ही अन्यत्र कहा है—

"ऐसा श्रमण ब्राह्मण नही है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा) ।"

विचार स्वातन्त्र्य—गौतम बुद्ध ने लोगो को अन्धानुकरण के स्थान पर स्वय उचित-अनुचित पर विचार करने की अनुमति दी । केसपुत्र ग्राम के कालामो ने भगवान बुद्ध से एक बार यह कहा कि विभिन्न श्रमण अपना-अपना मत बताते हैं और दूसर के मत पर असन्तोष प्रकट करते हुए नाराज होते हैं । ऐसी अवस्था मे "हमे सन्देह होता है—कौन सच कहता है, कौन झूठ ।" इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—"कालामो ! तुम्हारा सन्देह ठीक है, सन्देह के स्थान मे ही तुम्हें सन्देह उत्पन्न होता है । जब कालामो ! तुम स्वय ही जानो कि ये धर्म (काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञो से अनिन्दित हैं, यह लेने, ग्रहण करने पर हित, सुख के लिए होते हैं, तो कालामो ! तुम उन्हें स्वीकार करो ।"[1]

निर्वाण—निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है बुझना । गौतम बुद्ध ने उस सम्बन्ध मे कुछ अधिक कहना "अव्याकृत" बताया है । तृष्णा के क्षीण हो जाने की अवस्था को ही बुद्ध ने निर्वाण कहा है । आस्रव के न रहने पर ही निर्वाण होता है ।

बुद्ध के सिद्धान्तों के उपरोक्त विवरण से हमे ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म को पनपने का काफी अवसर था क्योकि हिन्दुओ के लिए बौद्ध सिद्धान्तो मे से अनेक ग्राह्य थे । बौद्धधर्म के प्रचार का विवरण अन्यत्र दिया जायगा । भगवान बुद्ध ने अकेले जो

१ अंगुत्तर निकाय ३।७।५।।

कुछ प्रयास किया उसका उल्लेख किया जा चुका है। बौद्ध सघो की बैठको के लिए पिछले पृष्ठो मे प्रजातंत्र की सभाओं की बैठको का विवरण देखिये। बौद्ध सगीतियो का यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

बौद्ध धर्म की उन्नति के कारण

बौद्ध धम का इस देश मे बहुत शीघ्र काफी अधिक प्रचार हो गया था। यही नही, विश्व का सवप्रमुख धर्म बौद्ध धम माना जा सकता है। मैक्सभूलर महोदय ने कहा है—

"And even at the present day Buddhsim counts in Asia a more numerous array of believers than any other faith not excluding Mohammadanism and Christianity" - *Max Muller*

डा० स्मिथ साहब का कथन है—

"Buddhism although almost extinct in the land of its birth is, at this day, one of the greatest spiritual forces in this world dominating as it does various forms in Ceylon, Burma, Siam, Tibet, Mongolia, China and Japan" —*V Smith*

महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने जीवन काल मे ही अपने धम का लोगो मे प्रचार होते देखा था। बौद्ध धम की सफलता के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे—

(१) बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो की सरलता—बौद्ध धम के सिद्धान्त अत्यन्त सरल और सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य थे। यह बात अवश्य है कि साधारण लोगो का उन सिद्धान्तो मे निश्चयपूर्वक विश्वास नहीं जम सका, जिसके कारणो के विषय मे हम आगे पढ़ेंगे, किन्तु इस बात मे कोई सन्देह नही कि महात्मा बुद्ध ने जीवन की जो व्यवस्था की उसमे किसी प्रकार की दार्शनिक जटिलता अथवा दुर्बोधता का अभाव था। बुद्ध ने सरल और स्पष्ट शब्दो में समझाया कि मानव जीवन दुःखमय है, अतएव बार-बार जन्म ग्रहण करना दुःख का कारण है। मनुष्य की अन्तर्निहित वासनाओं के ही कारण उसे पुन पुन जन्म लेना पड़ता है, अतएव उसका कर्त्तव्य है कि वह उन वासनाओ का समूलोन्मूलन करे। इस कार्य के लिए उसे मध्यम पथ का सेवन करना चाहिये। कर्मवाद के सिद्धान्त का बुद्ध ने प्रतिपादन किया और बड़े सरल शब्दो में समझाया। उन्होंने मनुष्य को स्वावलम्बी होने का उपदेश दिया। उनके इन उपदेशो मे ऐसी कोई बात नही है, जिसको समझने मे कठिनाई का अनुभव करना पड़े। बुद्ध जी स्वय बड़े ही सूक्ष्म विचारक थे और उन्होंने अपने सिद्धान्तो को जिस रूप मे जनता के सम्मुख रक्खा, उससे उनकी प्रतिभा की मौलिकता का परिचय प्राप्त होता है, परन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्तो में आचार और कर्म को अधिक महत्त्व दिया। दार्शनिक सिद्धान्तो की सूक्ष्मता और पेचीदगी में वे तनिक भी नही पड़े। बुद्ध ने आचारवादिता पर इतना अधिक बल प्रदान किया कि कुछ लोगो की सम्मति मे बौद्ध धम एक धम न होकर आचार के कतिपय नियमो का समूह है। इस बौद्ध धर्म के धम होने अथवा न होने के पचड़े मे न पड़ें तो भी इसमे कोई सन्देह नही कि इस धम का आचार पर बहुत अधिक आग्रह है। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि आचार की प्रधानता तो सभी धर्मों मे बतलाई गई है, फिर क्या बात है कि इस कारण से विशेष रूप से बौद्ध धम ने ही उन्नति की। कारण स्पष्ट है। जितनी स्पष्टता और जोर के साथ बौद्ध धम मे आचार के महत्व पर प्रकाश डाला गया है उतना सम्भवत बहुत कम धर्मों मे नही किया गया है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध धम की आचारवादिता का उसके सिद्धान्तो की सरलता के साथ मिश्रण हो गया, जिससे लोग इसकी ओर झुके और इसे स्वीकार करने लगे।

(२) यज्ञो और पुरोहितो का प्रभाव—यह कहना अनुचित नही कि भारत मे बौद्ध धर्म का उदय एक धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ था। यह धार्मिक क्रान्ति वैदिक धर्म के कर्मकाण्डो और पुरोहितो के प्रभाव के विरुद्ध हुई थी। जैसा कि पिछले अध्यायो मे बताया जा चुका है कि ऋग्वेद की प्रकृति-पूजा कालान्तर मे अनेक जटिल धार्मिक क्रियाओ के साथ सयुक्त हो गई। ऋग्वैदिक काल मे भी यज्ञ किये जाते थे परन्तु उनको प्रधानता नही प्राप्त थी और यही कारण था कि समाज मे अभी पुरोहित वर्ग की शक्ति का सगठन भी नही होने पाया था। परन्तु, यह स्थिति अधिक दिनो तक कायम नही रह सकी। उत्तर वैदिक काल मे ही अनेक जटिल और खर्चीले यज्ञो के अनुष्ठान की व्यवस्था कर दी गयी और ब्राह्मणो ने अपनी श्रेष्ठता घोषित करना प्रारम्भ कर दिया। साधारण लोग इन खर्चीले और जटिल यज्ञो को नही कर सकते थे। अतएव जब बुद्ध ने वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को चुनौती देना शुरू किया तो अनेक लोग उनके उपदेशो से प्रभावित हो गये और उनका शिष्य बनना स्वीकार किया। वास्तव मे समाज के अधिकाश लोगों के लिए यज्ञो का भार वहन करना असम्भव था, अतएव जब एक ऐसा उपदेशक उनके सम्मुख उपस्थित हुआ जिसने यह घोषणा की कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए यज्ञो का अनुष्ठान नितान्त व्यर्थ है तो वे उसकी बात मानने को तैयार हो गये। मैक्समूलर ने कहा है कि बुद्ध का धर्म इसीलिए सफल हुआ कि जन-जन के मानस की बात महात्मा बुद्ध ने सोची थी—

"What was felt by Buddha had been felt more or less intensely by thousands and this was the secret of his success" —*Max Muller*

यह सत्य है कि बुद्ध जी ऐसे पहले व्यक्ति नही थे जिन्होने वैदिक कर्मकाण्डो और उनके यज्ञ भाग का निषेध किया क्योंकि उपनिषदो मे कई स्थान पर वैदिक कर्मकाण्डो और यज्ञो की निन्दा की गई है। मुण्डकोपनिषद् मे एक स्थान पर यज्ञ करने वालो को मूर्ख कहा गया है और स्पष्ट बतलाया गया है कि वे बार-बार जन्म मृत्यु को प्राप्त करेंगे। परन्तु उपनिषदो ने ज्ञान को सुबोध शैली और लोक भाषा के माध्यम से जनता के सम्मुख रखने वाले प्रथम व्यक्ति बुद्ध ही थे। उनके यज्ञ भाग-निषेध-सम्बन्धी उपदेशो का जनता के ऊपर काफी अधिक प्रभाव पड़ा और बौद्ध धर्म के प्रचार का मार्ग सुगम तथा प्रशस्त हो गया।

(३) बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व—बौद्ध धर्म के प्रचार मे महात्मा बुद्ध के चुम्बकीय व्यक्तित्व का बहुत बड़ा योग था। बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व बौद्ध धर्म के प्रचार का कारण बना था। तभी तो विलियम्स महोदय ने कहा है—

"The influence of personal character combined with the extraordinary persuasiveness of his teaching was irresistible Very soon the Buddhistic doctrine leavened the religions of the whole Indian peninsula from Afghanistan to Ceylon They found way in every home They became domesticated in the cottage of peasants and palaces of kings" —*Monier Williams*

भारतीय जनता सदैव से ही त्याग का आदर करती रही है और सबसे अधिक सम्मान उसने त्यागी व्यक्ति को ही दिया है। बुद्ध स्वय एक राजकुमार थे किन्तु उन्होंने राजसुखों को तिलाञ्जलि देकर लोक-कल्याण के लिए सन्यास व्रत ग्रहण कर लिया था। इस कारण से सभी लोग बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाते थे। उनके समकालीन शासक उनके सम्मुख आसन त्यागकर खड़े हो जाते थे और हर प्रकार से उनका सम्मान करते थे। इसके अतिरिक्त बुद्ध मे मानवीय गुणो की प्रचुरता थी। वे कभी क्रुद्ध नही

होते थे। गालियाँ सुनने पर भी अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखते थे। अपनी प्रशंसा सुनकर कभी प्रसन्न नहीं होते थे, उल्टे कुछ रुष्ट हो जाते थे। उनका हृदय दया, स्नेह और करुणा का अक्षय स्रोत था जिसमें घृणा और द्वेष आदि आसुरी प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं था। पापियों के प्रति भी उनके हृदय में अक्षय क्षमाशीलता थी। आम्रपाली नामक गणिका के भोजनामन्त्रण को उन्होंने बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया था। उनकी दृष्टि में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं था। इन सब गुणों के कारण बुद्ध के व्यक्तित्व में चुम्बकीय आकर्षण का समावेश हो गया था। "बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व से कोई भी जो उनके सम्पर्क में आया, प्रभावित हुए बिना न रहा। जिस सर्वग्राह्य तर्क के साथ ब्राह्मण पंडितों के विवादों का मुंहतोड़ उत्तर दिया करते एवं करुणा, मैत्री, दया आदि जिन मानव भावनाओं से उनके उपदेश सप्राण हो जाते, उनके कारण क्या पुरोहित, क्या राजा और क्या प्रजा सभी सन्तुष्ट होते थे।"[१]

(४) जाति प्रथा का विरोध और समानता की भावना—बुद्ध ने जाति प्रथा का विरोध किया और बतलाया कि जाति भेद अनावश्यक ही नहीं वरन् अस्वाभाविक है। उत्तर वैदिक कालीन सामाजिक रचना में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को निश्चय ही वैश्यों और शूद्रों की अपेक्षा ऊँचा स्थान प्राप्त था। उधर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में भी सामाजिक श्रेष्ठता के प्रश्न पर काफी वादविवाद हुआ करता था। ब्राह्मण धर्म अथवा वैदिक धर्म जाति प्रथा के औचित्य का पोषण करते हुए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वीकार करता था। ऐसा होने पर यह स्वाभाविक ही था कि अन्य जातियों का सामाजिक स्तर निम्न अथवा हीन प्रतीत हो। फल यह हुआ कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी जातिवालों के लिए बौद्ध धर्म अधिक हितकर मालूम पड़ा क्योंकि यह धर्म मानव-मानव की समानता के सिद्धान्तों का पोषक था। उधर पढ़े लिखे चिन्तनशील ब्राह्मणों का भी बौद्ध धर्म की ओर आकर्षण बढ़ा क्योंकि वे वेदों के कर्मकाण्ड को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझते थे। इस प्रकार से मनुष्य-मनुष्य के भेद को सुदृढ़ करने वाली जाति-व्यवस्था का विरोध करके महात्मा बुद्ध ने आर्यावर्त के लक्षावधि लोगों की श्रद्धा और भक्ति अर्जित की जो आगे चलकर उनके प्रति सक्रिय आज्ञाकारिता में परिवर्तित हो गई और लोगों ने उनके द्वारा चलाये हुए धर्म को स्वीकार कर लिया।

(५) लोकभाषा का प्रयोग—सर जार्ज ग्रियर्सन ने महात्मा तुलसीदास के विषय में लिखते हुए कहा है कि वे महात्मा बुद्ध के बाद उत्तरी भारत के सबसे बड़े लोकनायक थे। ग्रियर्सन महोदय का 'लोकनायक' शब्द का बुद्ध के लिए प्रयोग सर्वथा उचित है ठीक उसी प्रकार जैसे कि गोस्वामी तुलसीदास के लिए। यदि हम ललितविस्तार के साक्ष्य को मानें तो हमें विदित होता है कि महात्मा बुद्ध ने कई भाषाओं पर अधिकार किया था और वे महान विद्वान् थे। किन्तु, उन्होंने विद्वानों और पण्डितों की भाषा में अपने उपदेश न देकर लोकभाषा में अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। यदि गोस्वामी जी ने अपने अमर महाकाव्य की रचना संस्कृत में की होती तो सर्वसाधारण में उसका इतना अधिक प्रचार नहीं हो सकता था जितना कि आज है। इसी प्रकार यदि बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं का प्रचार लोकभाषा में न किया होता तो उन्हें इतनी शीघ्र सफलता न प्राप्त हुई होती जैसी कि उन्हें अपने जीवन-काल में मिली थी। किसी बौद्ध ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख मिलता है कि एक बार बुद्ध के किसी ब्राह्मण शिष्य ने उनसे प्रश्न किया कि आप संस्कृत में अपने उपदेश क्यों नहीं देते। इस पर तथागत ने उत्तर दिया,

---

१ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।

"मैं गरीबों की भाषा द्वारा गरीबों तक पहुँचना चाहता हूँ।" बुद्ध भलीभाँति जानते थे कि संस्कृत का प्रयोग केवल सुशिक्षितों में ही प्रचलित है। अतएव, संस्कृत में उपदेश देने से उनकी शिक्षाओं का प्रचार केवल थोड़े से पढ़े लिखे व्यक्तियों के बीच हो सकेगा, अतएव अपने हृदय की सच्ची लोकानुरागिता का परिचय देते हुए बुद्ध ने जनभाषा में ही उपदेश दिये जिससे उनकी शिक्षायें जनसाधारण तक पहुँच सकें। बौद्ध धर्म की शीघ्र ही बहुत अधिक उन्नति होने का यह एक प्रधान कारण था।

(६) प्रचार-शैली की रोचकता—लोकभाषा के साथ ही साथ बुद्ध ने जिस प्रचार-शैली को अपनाया वह नितान्त सरल, सुबोध और लोकरुचि के अनुकूल थी। उन्होंने लोककथाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों का अपनी शिक्षाओं में प्रचुरता में प्रयोग किया। अपने सिद्धान्तों को समझाने के लिये वे जिन उदाहरणों और उपमाओं का प्रयोग करते थे, उनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से होता था। वे अपने उपदेशों में हास्य और व्यंग्य का भी उचित मात्रा में पुट दिया करते थे जिससे उनमें रोचकता आ जाती थी। बुद्ध संसार के उन थोड़े से व्यक्तियों में से थे जो गूढ़ तत्वज्ञानी होने के साथ व्यावहारिक जीवन में भी निपुण थे। उनके द्वारा दिये दृष्टान्त उनकी व्यावहारिक निपुणता का परिचय देते हैं। उनके जीवन से एक उदाहरण दे देना अनुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि इसके द्वारा उनके व्यक्तित्व पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। एक बार, एक ब्राह्मण ने क्रोध में आकर बुद्ध भगवान को सैकड़ों गालियाँ सुनाईं। बुद्ध चुपचाप गालियाँ सुनते रहे। ब्राह्मण अन्त में निराश होकर चुप हो गया। जब उसका क्रोध शान्त हो गया तो बुद्ध ने उसे अपने निकट बुलाया और कहा, "ब्राह्मण, तुम्हारे घर कभी कोई अतिथि आया होगा।" ब्राह्मण ने सकारात्मक उत्तर दिया। फिर बुद्ध ने पूछा कि तुमने उसका सत्कार भी किया होगा? इसका उत्तर हाँ में ही था। अब की बुद्ध भगवान ने पूछा कि यदि तुमने अतिथि के स्वागतार्थ जो भोजन बनाये, उनको वह ग्रहण न करे तो भोजन किसका समझा जाता। ब्राह्मण ने उत्तर दिया, वह भोजन मेरा समझा जायगा और उसे मैं ग्रहण करूँगा। बुद्ध ने कहा कि "मैंने तुम्हारे द्वारा दी हुई गालियाँ अस्वीकार की, अब इन्हें तुम अपने साथ वापस ले जाओ।" इस पर वह ब्राह्मण बड़ा लज्जित हुआ और उसने तथागत से क्षमा माँगी। इस उदाहरण से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि बुद्ध में जहाँ अपने विरोधियों को शांत कर देने की कला विद्यमान थी वहीं उनके अन्दर यह भी गुण था कि लोक-चित्त के ऊपर वे अपना प्रभाव जमा लेते थे। पाली-ग्रन्थों में बुद्ध द्वारा प्रयुक्त ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जो यह स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि बुद्ध मानव-मनोविज्ञान के भी प्रगाढ़ पण्डित थे और संन्यासी होने पर भी उनको जीवन का निकटतम अनुभव था। लोकभाषा के प्रयोग तथा प्रचार-शैली की सरलता से बुद्ध को अपनी शिक्षाओं का प्रचार करने में बहुत बड़ी सहायता मिली। उन्होंने अपने शिष्यों को भी इसी नीति का अनुसरण करने की शिक्षा दी जिससे बौद्ध धर्म का प्रचार-कार्य सरल हो गया।

(७) मठों की स्थापना—महात्मा बुद्ध केवल एक महान् दार्शनिक और धर्म-प्रचारक ही न थे वरन् उनमें संगठन की भी अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने यह भली भाँति समझ लिया कि सुव्यवस्थित संगठन के अभाव में कोई भी धर्म अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियों को एक सुदृढ़ संगठन में बँध जाने की सलाह दी। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए संघ-पद्धति की व्यवस्था की। संघ-पद्धति उन्होंने अपने समकालीन गणतन्त्रों से ली थी जिनके विषय में उनको काफी ज्ञान था। बौद्ध संघ के भिक्षुओं के आवास के लिए बुद्ध भगवान् ने मठों का निर्माण कराया। इस कार्य में उनके धनिक गृहस्थ अनुयायियों ने उनकी सेवा की। बौद्ध मठों में रहकर भिक्षु

सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे और सदैव साथ रहने के कारण वे भ्रातृत्व की सामान्य चेतना से अनुप्राणित हो जाते थे। इसमे कदाचित् कोई अत्युक्ति नही कि बौद्ध धर्म के प्रचार का सबसे प्रमुख कारण इसकी अनुपम सगठन शक्ति थी। देखिए तभी तो स्मिथ ने कहा है—

"The well organised body of monks and nuns were the most effective instrument in the hands of this religion" *V Smith*

(८) राज प्रश्रय—यह पहले ही कहा जा चुका है कि बुद्ध का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था और उनका प्रभाव सभी वर्ग के लोगो पर था। उनके समकालीन नरेश उनको बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि मे देखते थे। बिम्बिसार (मगध का राजा) तथा प्रसेनजित बुद्ध के अनुयायी थे। कुछ दिनो बाद उदयन भी बौद्ध की शिक्षाओं से कुछ प्रभावित हो गया था। इसके अतिरिक्त वैशाली, शाक्य, मोरिय तथा बुद्ध के समय के गणतन्त्रो के शासको पर भी उनका काफी प्रभाव था। यह सत्य है कि राज प्रश्रय से कोई धर्म लोकप्रिय नही हो सकता किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि राजकीय सहायता से धर्म प्रचार के काय को बल प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म में अन्य गुण तो थे ही, जब इसे राजाओं और श्रीमानो की सहायता प्राप्त होने लगी तो इसके प्रचार का काय सुगम हो गया। अशोक-महान् के प्रयत्नो ने गगा की घाटी के एक सम्प्रदाय को विश्वव्यापी धर्म मे परिणत कर दिया। कनिष्क और हर्ष जैसे राजाओं का भी इस धर्म को प्रश्रय प्राप्त था। समाज के धनी-मानी लोग भी बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके दान से मठों का खर्च चलता था जिनमे रहने वाले भिक्षु उत्साह से अपने धर्म का प्रचार करते थे। राज प्रश्रय से बौद्ध धर्म के प्रचार मे बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई और इसका अभाव हो जाने पर इसके प्रचार की गति अवरुद्ध हो गई।

(९) प्रचारको का उत्साह—महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियो मे अक्षय उत्साह का सचार किया था। स्वय उन्ही के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व से शिक्षा लेकर उनके अनुयायी भी धर्म के प्रचारार्थ सवसुखो का परित्याग करने को तत्पर हो जाते थे। सब प्रकार की कठिनाइयों की अवहेलना करते हुए वे अपने गुरु और उपदेशक के दिव्योपदेशो का प्रचार करने के लिए सुदूर प्रान्तो की यात्रा करते थे और देश के बाहर भी जाते थे। बौद्ध भिक्षुओ के अदम्य उत्साह के फलस्वरूप ही इसका प्रचार न केवल देश के प्रत्येक भू-भाग मे ही अपितु ससार के अन्य कई देशो मे भी हो गया।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि भारतवर्ष का वातावरण धार्मिक सहिष्णुता के भावो से इतना परिपूर्ण था कि यहाँ किसी भी धर्म के प्रचार में कभी कोई बाधा नही उपस्थित की गई। इन सब कारणो और परिस्थितियो से बौद्ध धर्म काफी समय तक देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फलता फूलता रहा।

बौद्ध धर्म की देन

बौद्ध धर्म का उदय हमारी सस्कृति के लिए कई विषयो मे बडा ही हितकर प्रमाणित हुआ। भारतीय सस्कृति की श्रीसम्पन्नता मे इस धर्म के कारण काफी अभिवृद्धि हुई और इस देश के लोगो को जीवन के प्रति अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास करने मे काफी सहायता प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म की देनो का विवेचन हम अध्ययन की सुविधा के लिए कतिपय शीर्षको के अन्तर्गत करेंगे।

(१) कला की उन्नति—बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख देन कला के क्षेत्र मे है यद्यपि भारतीय कला की परम्परा काफी प्राचीन है तथापि हमे सिंधु घाटी की कला का

छोड़कर भारत मे कला के जो नमूने प्राप्त होते है उनमे से अधिकाश बौद्ध कला के ही नमूने है। मूर्ति कला और शिल्प कलाओ का तो उद्भव ही सम्भवत बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। एक बात यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बौद्ध कलाकारो ने जिन कलाकृतियो का निर्माण किया, उनका सौन्दर्य और सौष्ठव साधारण नही है। प्रोफेसर कोहन का कथन है कि 'यह स्पष्ट है कि बौद्ध कला का अनुभव हम सबो के लिए एक गम्भीर अनुभव होना चाहिए। सभी क्षेत्रो मे—चित्र-कला म, स्थापत्य मे, वास्तुकला मे और कारीगरी मे—बौद्ध धर्म ने ऐसी कलाकृतियाँ उत्पन्न की है जो पाश्चात्य कला की उत्तम कृतियो के समक्ष रक्खी जा सकती हैं।'"[1] बौद्धकला के कुछ गुणो को पश्चिम की श्रेष्ठतम कला भी नही पा सकती। इसकी गति तथा लयपूर्णता और सवेदनशीलता का पाश्चात्य कला मे अभाव है। इसी प्रकार चित्त मे भाव और रस उत्पन्न करने की शक्ति भी भारतीय कला मे अधिक है। मिस्टर क्रिस्टमस हम्फी का कथन है कि "ईसा की छठी शताब्दी तक भारत की सबसे उत्तम कला बौद्ध कला है और जब म चीन तथा जापान मे बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तब से लेकर इस देश के किसी भी युग की सवश्रेष्ठ कला बौद्ध है, और लका, बर्मा तथा स्याम की समस्त महती कला बौद्ध है, बोरबोदूर का स्तूप भी बौद्ध है और तिब्बत तथा नेपाल की धार्मिक कला भी उसी प्रकार बौद्ध कला है।"[2] यद्यपि हम हम्फी साहब के इस उत्साहमय कथन को पूरी तरह से नही मान सकते तथापि इसमे कोई सन्देह नही कि बौद्धो ने भारत को कला की एक बडी ही दिव्य परम्परा प्रदान की और भारतीय कला की मान्यताओ पर बौद्धो का काफी प्रभाव है।

(२) साहित्य-सृजन मे बौद्ध धर्म की देन—केवल कला ही नही वरन् साहित्य सृजन के क्षेत्र भी बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण देन है। बौद्ध भिक्षुओ ने साहित्य ग्रन्थो के प्रणयन पर भी ध्यान दिया। 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य तथा 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक नाटक बौद्धो की ही देन हैं। सस्कृत के 'मजुश्री मूलकल्प' तथा 'दिव्यावदान' नामक ग्रन्थ जिनसे भारत के प्राचीन इतिहास के विषय म काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है, बौद्ध ग्रन्थ है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि बौद्ध साहित्यकारो ने सस्कृत भाषा मे भी ग्रन्थो का प्रणयन किया यद्यपि उनके आदि ग्रन्थ पाली म ही हैं। पाली के विस्तृत धार्मिक साहित्य का सक्षिप्त विवेचन यहाँ पर सम्भव नही, लेकिन इतना कहने म कोई हिचक नहीं कि बौद्धो के धार्मिक ग्रन्थो की उपयोगिता केवल इसीलिए नही है कि उनके द्वारा हमे इस धर्म के सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त होता है वरन उन्होने प्राचीन भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण जैसे दुरूह कार्य मे विद्वानो को काफी सहायता की है। जातक-कथाओ का महत्त्व इस दृष्टि से काफी है। इन कथाओ का प्रभाव विद्वानों ने 'अरेबियन

१ "It is clear that the experience of Buddhist art must have a profound experience for us In all fields—in painting sculpture architecture and handicraft—Buddhism has produced works of art that can be placed by the side of the highest creations of western art"

Quoted by Christams Humphrey in *Buddhism*, p 2105

२ "The finest indian art up to the sixth century A D and the finest of Chinese and Japanese art at any period since the intro duction of Buddhism, is Buddhist art, that all great in Ceylon Burma and Siam is Buddhismt art, that the stupa of Borbodur s Buddhist art and that the religious art of Tibet and Nepal is equally Buddhist"

सामूहिक जीवन व्यतीत
चेतना से अनुप्राणित हो जाते थे। इसमे कदाचित् कोई अत्युक्ति नही
प्रचार का सबसे प्रमुख कारण इसकी अनुपम सगठन शक्ति थी। देखिए
ने कहा है—

"The well organised body of monks and nuns
effective instrument in the hands of this religion"

(८) राज प्रश्रय—यह पहले ही कहा जा चुका है कि
प्रभावशाली था और उनका प्रभाव सभी वर्ग के लोगो पर था।
उनको बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।
प्रसेनजित बुद्ध के अनुयायी थे। कुछ दिनो बाद उदयन भी
प्रभावित हो गया था। इसके अतिरिक्त वैशाली, शाक्य,
गणतन्त्रों के शासकों पर भी उनका काफी प्रभाव था।
कोई धर्म लोकप्रिय नही हो सकता किन्तु इसमे कोई
से धर्म प्रचार के कार्य को बल प्राप्त होता
इसे राजाओं और श्रीमानो की सहायता प्राप्त होने
हो गया। अशोक के प्रयत्नो ने इसी
धर्म मे परिणत कर दिया। कनिष्क और हर्ष जैसे
प्राप्त था। समाज के धनी-मानी लोग भी
दान से मठों का खर्च चलता था जिनमे
करते थे। राज-प्रश्रय से बौद्ध धर्म के
और इसका प्रभाव हो जाने पर इसके प्रचार

(९) प्रचारकों का
का संचार किया था। स्वयं
भी धर्म के प्रचारार्थ का
कठिनाइयों की अवहेलना करते हुए
प्रचार करने के लिए सुदूर प्रान्तों की
बौद्ध भिक्षुओं के अदम्य उत्साह के
भू भाग मे ही अपितु संसार के अन्य

उपर्युक्त कारणों के
वातावरण धार्मिक के
प्रचार में कभी कोई बाधा
से धर्म काफी समय
फूलता रहा।

बौद्ध धर्म की देन

बौद्ध धर्म का उदय
प्रमाणित हुआ। भारतीय
वृद्धि हुई और इस देश के
विकास करने में
की सुविधा के लिए

(१) कला को
भारतीय कला की

बौद्ध धर्म के पूर्व भी ब्राह्मण संन्यासी लोक-कल्याण का जीवन बिताते थे, समाज को उनसे बहुत से लाभ होते थे। वे समाज की नैतिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं के नियामक तथा आवश्यकता उपस्थित होने पर उनके व्याख्याता भी होते थे, तथापि उनकी साधना बहुत कुछ करके एकाकी ही होती थी, बुद्ध ने अपने भिक्षु संन्यासियों को सामूहिक जीवन बिताने की शिक्षा दी और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने धार्मिक संघों को जन्म दिया। बुद्ध के पूर्व भारत में गणतन्त्र थे परन्तु धार्मिक संघ नहीं थे। धार्मिक संघ बौद्धों की अपनी विशिष्ट देन थी।

बौद्ध और जैन मतों की तुलना

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ही उस सामान्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रतिफल थे जिसका उद्भव भारत में सातवीं अथवा छठी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग हुआ था। अतएव इनमें कुछ पारस्परिक समानताओं का होना स्वाभाविक है। दोनों धर्मों ने समान रूप से वैदिक कर्मकाण्ड, जातिभेद तथा ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया। वेदों को अपौरुषेय न तो जैनियों ने ही माना और न बौद्धों ने ही। अहिंसा पर दोनों ही धर्मों ने जोर दिया। ईश्वर के प्रति दोनों ही उदासीन रहे। संन्यास धर्म की प्रधानता दोनों सम्प्रदायों में बतलाई गई है। दोनों कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष (कैवल्य तथा निर्वाण) आदि विचारधारा को स्वीकार करते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह विचारधारा समस्त भारतीय धर्मों की सामान्य सम्पत्ति है तो कोई त्रुटि नहीं। संस्कृत भाषा के प्रयोग का दोनों ही सम्प्रदायों ने प्रारम्भ में बहिष्कार किया। बौद्धों ने अपने ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे और जैनियों ने प्राकृत में। परन्तु कालान्तर में दोनों ने ही संस्कृत भाषा को अपना लिया। बौद्ध और जैन धर्मों में से किसी ने भी हिन्दू देवी-देवताओं का विरोध नहीं किया। ब्राह्मणों की भाँति जैनियों और बौद्धों ने भी पौराणिक कथाओं की सृष्टि की। जैनियों और बौद्धों की पौराणिक कथाओं में कुछ सामान्य तत्त्व थे। यद्यपि संन्यास जीवन की दोनों ने ही सम्प्रदायों में प्रधानता बतलाई गई है तथापि गृहस्थ धर्म की आवश्यकता को दोनों ने ही स्वीकार किया है। गृहस्थों तथा संन्यासियों के लिए कतिपय विभिन्न आचार नियमों का विधान दोनों ने ही किया है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि जैन और बौद्ध धर्मों पर अनार्य विचारधारा का प्रभाव है। डॉ० आर० सी० मजूमदार का विचार है कि प्रतिमाओं का महत्त्व वैदिक आर्यों के धर्म नहीं था, यह अनार्यों की हिन्दू धर्म की देन है। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में मूर्ति के प्रभाव को स्वीकार कर लेना इसी तथ्य का द्योतन करता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अनार्य विचारधारा से प्रभावित थे। यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों की आशावादिता का दोनों ही सम्प्रदायों में अभाव है और दोनों ही जीवन को आवश्यक रूप से दुःखपूर्ण समझते हैं।

इन उपर्युक्त समताओं के साथ ही साथ बौद्ध और जैन धर्मों में परस्पर विषमतायें भी हैं। यद्यपि दोनों ही जीवन को दुःखपूर्ण मानते हैं और इससे मुक्ति पाने का एक-मात्र साधन कैवल्य या निर्वाण ही समझते हैं तथापि लक्ष्य प्राप्ति के माध्यम या साधन के विषय में दोनों धर्मों की विचारधारा में महान् अन्तर है। हम देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म निर्वाण प्राप्ति के लिए 'मज्झिमा पटिपदा' अथवा मध्यम पथ को आवश्यक बतलाता है किन्तु जैन धर्म में उपवास, उग्र तपस्या तथा प्राण-त्याग आदि कठिन कर्मों को कैवल्य प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। बौद्धों की निर्वाण-सम्बन्धी धारणा जैनों की कैवल्य सम्बन्धी धारणा से काफी भिन्न है। बौद्धों के निर्वाण से अभिप्राय उस स्थिति से है जब मनुष्य के हृदय में कोई वासना नहीं रह जाती और वह अपने व्यक्तित्व को पूर्ण

नाइट्स' की कथाओं पर खोजा है। 'थेरागाथा' और 'थेरीगाथा' के गीत बड़े मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं। 'ललितविस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे संस्कृत ग्रन्थ विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं यद्यपि मूलत उनकी रचना धार्मिक उद्देश्यों की प्रतिपूर्ति के लिए की गई थी। 'मिलिन्द पन्हो' तथा 'महावस्तु' नामक ग्रन्थों से भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। बौद्धो के सम्पूर्ण साहित्य को देखकर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि यह प्रचुर और विशाल है।

(३) दर्शन की उन्नति—बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप भारत मे एक नवीन दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का भारत के ही नही, निखिल विश्व के दार्शनिकों मे गौरवपूर्ण स्थान है। बौद्धो का दार्शनिक साहित्य केवल प्रचुर और समृद्ध ही नही अपितु विचारोत्तेजक भी था। स्वयं बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। प्रतीत्य-समुत्पाद, शून्यवाद, योगाचार, सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और अनित्यवाद आदि कितनी ही दार्शनिक विचारधाराओ का प्रादुर्भाव हो गया। असग, वसुमित्र, दिङ्नाग, और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिको की कृतियों का अध्ययन बिना किये हुए कोई भी व्यक्ति भारतीय दर्शन का आचार्य नही कहा जा सकता। बौद्धो के दार्शनिक विचारो का खण्डन करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए जिनमें भगवान शंकराचार्य का नाम अग्रगण्य है। यदि हम भारत के परवर्ती दार्शनिक साहित्य की विवेचना करें तो यह सिद्ध हो जाता है कि उसके सृजन मे बौद्ध दर्शन का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष योगदान रहा है।

(४) भारतीय संस्कृति का विदेशों मे प्रचार—बौद्धो की भारतीय संस्कृति को यह एक बहुत बडी देन है कि उन्होंने भारतीय सीमाओ के बाहर सुदूर देशो में इसको प्रसारित किया। सम्राट् अशोक के समय मे बौद्ध भिक्षुओं के जत्थे पडोस के देशो मे तथागत की शिक्षाओं का प्रचार करने गये थे। फिर उसके बाद कनिष्क के समय मे महायान बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिणी पूर्वी एशिया तथा सुदूर एशिया में हुआ। इन देशों मे बौद्ध धर्म ने अपनी जडे बहुत गहरी जमा ली। यहाँ के निवासियों के लिए भारत एक पवित्र देश हो गया। उन्होंने तथागत की शिक्षाओ के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक तत्त्वो को भी ग्रहण किया। भारत का सुदूर पूर्वी एशिया के साथ घनिष्ठता का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ उसका श्रेय बौद्धधर्म और उसके उत्साह-सम्पन्न प्रचारकों को ही दिया जा सकता है।

(५) ब्राह्मण धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—यह कहा जा चुका है कि बौद्धधर्म का उदय उस धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ था जो वैदिक धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड प्रधान पक्ष के विरुद्ध की गई थी। जब ब्राह्मणो ने अपने धर्म का प्रचार कम होते और बौद्धधर्म का प्रचलन होते हुए देखा तो उन्होंने अपने धर्म मे सुधार करने की ओर ध्यान दिया। ब्राह्मण धर्म मे अहिंसा का महत्त्व बहुत अधिक समझा जाने लगा। यह ठीक है कि अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है तथापि उनका व्यापक प्रचार बौद्धधर्म के द्वारा ही हुआ। ब्राह्मणो ने बौद्धधर्म की बहुत-सी श्रेष्ठ बातो को ग्रहण कर लिया और अपने धर्म का परिष्कार किया।

(६) बौद्ध संघों की स्थापना—इसमे कोई संदेह नहीं कि बौद्ध संघो की स्थापना भगवान बुद्ध के मस्तिष्क की मौलिक उपज थी और बौद्ध धर्म की यह एक प्रमुख देन थी। सन्यास का आदर्श बुद्ध ने उस समय की प्रचलित ब्राह्मण विचार धारा से ग्रहण किया था परन्तु उन्होंने इसके स्वरूप मे कुछ परिवर्तन किया। यह बात ठीक है कि

बौद्ध धर्म के पूर्व भी ब्राह्मण संन्यासी लोक-कल्याण का जीवन बिताते थे, समाज को उनसे बहुत से लाभ होते थे। वे समाज का नैतिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं के नियामक तथा आवश्यकता उपस्थित होने पर उनके व्याख्याता भी होते थे, तथापि उनकी साधना बहुत कुछ करके एकाकी ही होती थी, बुद्ध ने अपने भिक्षु संन्यासियों को सामूहिक जीवन बिताने की शिक्षा दी और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने धार्मिक संघों को जन्म दिया। बुद्ध के पूर्व भारत में गणतन्त्र थे परन्तु धार्मिक संघ नहीं थे। धार्मिक संघ बौद्धों की अपनी विशिष्ट देन थी।

बौद्ध और जैन मतों की तुलना

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ही उस सामान्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रतिफल थे जिसका उद्भव भारत में सातवीं अथवा छठी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग हुआ था। अतएव इनमें कुछ पारस्परिक समानताओं का होना स्वाभाविक है। दोनों धर्मों ने समान रूप से वैदिक कर्मकाण्ड, जातिभेद तथा ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया। वेदों को अपौरुषेय न तो जैनियों ने ही माना और न बौद्धों ने ही। अहिंसा पर दोनों ही धर्मों ने जोर दिया। ईश्वर के प्रति दोनों ही उदासीन रहे। संन्यास धर्म की प्रधानता दोनों सम्प्रदायों में बतलाई गई है। दोनों कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष (कैवल्य तथा निर्वाण) आदि विचारधारा को स्वीकार करते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह विचारधारा समस्त भारतीय धर्मों की सामान्य सम्पत्ति है तो कोई त्रुटि नहीं। संस्कृत भाषा के प्रयोग का दोनों ही सम्प्रदायों ने प्रारम्भ में बहिष्कार किया। बौद्धों ने अपने ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे और जैनियों ने प्राकृत में। परन्तु कालान्तर में दोनों ने ही संस्कृत भाषा को अपना लिया। बौद्ध और जैन धर्मों में से किसी ने भी हिन्दू देवी-देवताओं का विरोध नहीं किया। ब्राह्मणों की भाँति जैनियों और बौद्धों ने भी पौराणिक कथाओं की सृष्टि की। जैनियों और बौद्धों की पौराणिक कथाओं में कुछ सामान्य तत्त्व थे। यद्यपि संन्यास जीवन की दोनों ने ही सम्प्रदायों में प्रधानता बतलाई गई है तथापि गृहस्थ धर्म की आवश्यकता को दोनों ने ही स्वीकार किया है। गृहस्थों तथा संन्यासियों के लिए कतिपय विभिन्न आचार नियमों का विधान दोनों ने ही किया है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि जैन और बौद्ध धर्मों पर अनार्य विचारधारा का प्रभाव है। डॉ० आर० सी० मजूमदार का विचार है कि प्रतिमाओं का महत्व वैदिक आर्यों के धर्म नहीं था, यह अनार्यों की हिन्दू धर्म को देन है। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में मूर्ति के प्रभाव को स्वीकार कर लेना इसी तथ्य का द्योतन करता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अनार्य विचारधारा से प्रभावित थे। यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों की आशावादिता का दोनों ही सम्प्रदायों में अभाव है और दोनों ही जीवन को आवश्यक रूप से दुःखपूर्ण समझते हैं।

इन उपर्युक्त समताओं के साथ ही साथ बौद्ध और जैन धर्मों में परस्पर विषमतायें भी हैं। यद्यपि दोनों ही जीवन को दुःखपूर्ण मानते हैं और इससे मुक्ति पाने का एकमात्र साधन कैवल्य या निर्वाण ही समझते हैं तथापि लक्ष्य प्राप्ति के माध्यम या साधन के विषय में दोनों धर्मों की विचारधारा में महान् अन्तर है। हम देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म निर्वाण प्राप्ति के लिए 'मज्झिमा पटिपदा' अथवा मध्यम पथ को आवश्यक बतलाता है किन्तु जैन धर्म में उपवास, उग्र तपस्या तथा प्राण-त्याग आदि कठिन कर्मों को कैवल्य-प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। बौद्धों की निर्वाण-सम्बन्धी धारणा जैनों की कैवल्य सम्बन्धी धारणा से काफी भिन्न है। बौद्धों के निर्वाण से अभिप्राय उस स्थिति से है जब मनुष्य के हृदय में कोई वासना नहीं रह जाती और वह अपने व्यक्तित्व को पूर्ण

रूप से समाप्त कर देता है। बौद्ध लोग यह विश्वास करते हैं कि निर्वाण के लिए मृत्यु आवश्यक नही है। इस जीवन में भी इसकी प्राप्ति सम्भव है। जैन विचाधारा के अनुसार दुखों से मुक्त हो जानेवाली स्थिति का नाम मोक्ष अथवा कैवल्य है जिसकी प्राप्ति मृत्यु के बिना सम्भव नही है। यद्यपि दोनो सम्प्रदायों में अहिंसा पर बड़ा जोर दिया गया है तथापि बौद्ध धर्म में अहिंसा का महत्त्व उतना अधिक नहीं है जितना कि जैन धर्म मे। जैनियो के लिए हत्या आदि का विचार करना भी पातक है परन्तु भारत के बाहर बौद्ध लोग सदा से मांसाहार करते आये हैं। जैनियो की अहिंसावादिता पराकाष्ठा तक पहुँचा दी गई है और कुछ लोगो की दृष्टि मे तो यह उपहासास्पद प्रतीत होती है। बौद्ध लोग अनात्मवादी हैं, किन्तु जैन विचारधारा के अनुसार प्रत्येक जीव मे आत्मा का निवास है। डॉ० स्मिथ का कथन है कि बौद्ध धर्म मे भिक्षुओ को जितनी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उतना उपासकों (गृहस्थो) को नहीं। किन्तु, इसके विपरीत जैन धर्म में संन्यासियों की अपेक्षा गृहस्थों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। जैनधर्म ने हिन्दू धर्म से कभी भी पृथकता का सम्बन्ध नही स्थापित किया, जब कि बौद्धधर्म ने पृथकता की नीति का ही अवलम्बन किया। बात यह थी कि बौद्धो का दृष्टिकोण आरम्भ से ही क्रान्तिकारी था जिससे वे प्रचलित धार्मिक विश्वासो के साथ सामञ्जस्य स्थापित नही कर सके। परन्तु जैन धर्म का दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण था। यद्यपि जैनमत की शिक्षाओ में भी जाति भेद का विरोध किया गया, यह विरोध बौद्ध के विरोध की तुलना से कहीं अधिक नम्र और हल्का है। स्वयं भगवान बुद्ध ने कई स्थानों पर जाति-भेद की तीव्र शब्दो मे निन्दा की और यज्ञयागादि का खण्डन भी किया। परन्तु जैनियो ने तत्कालीन जीवन की प्रचलित व्यवस्थाओ का खण्डन भी किया। परन्तु जैनियो ने तत्कालीन जीवन की प्रचलित व्यवस्थाओ पर कोई प्रबल कुठाराघात नही किया। कालान्तर में जैनियो और वैष्णवो में आचरण की इतनी अधिक समानता हो गई कि उनमे भेद करना कठिन हो गया। आज भी जैनियों और वैष्णवों का आचरण बिल्कुल एक सा है। सम्प्रदायो मे 'त्रिरत्नों' का विधान है, किन्तु इनके 'त्रिरत्न' विभिन्न है। जैनियों के त्रिरत्न में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण हैं और बौद्धो के त्रिरत्न हैं बुद्ध, धर्म तथा संघ।

बौद्ध कालीन संस्कृति

पिछले परिच्छेद मे हमने बुद्धकालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन किया था, यहाँ तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का विवेचन करेंगे। पहले सामाजिक अवस्था पर ही विचार किया जायगा।

सामाजिक अवस्था

सामाजिक वर्गीकरण—रूढ़िवादी जाति-व्यवस्था के समर्थक एवं निर्माता ब्राह्मणों को चुनौती देते हुए महात्मा गौतम बुद्ध ने जाति भेद एवं वर्ग भेद का समूल विनाश करने के लिए सतत प्रयास किया था जिसके प्रमाण मे उनके अमर उपदेश आज भी विद्यमान हैं। मानव की समानता का सन्देश महात्मा बुद्ध ने वर्ग भेद की जंजीरो मे जकड़े हुए असहाय हिन्दू समाज को सुनाया और मुक्ति-द्वार सबके लिए खोल दिया। किन्तु जड़ता के आगे चेतनता की यह चिनगारी उतना प्रकाशयुक्त एवं प्रभावोत्पादक नही सिद्ध हो सकी जितनी जीवन के अन्य क्षेत्रो मे इसने अपना जादू दिखलाया। समाज मे अस्पृश्यता का रोग पूर्ववत बना रहा जिसका उदाहरण श्वेतकेतु जातक (तृतीय २३६) में प्राप्त होता है। उक्त ग्रन्थ में यह दिखलाया गया है कि एक ब्राह्मण किसी चाण्डाल के स्पर्श भय से अभिभूत होकर भाग रहा है। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण

मातग जातक (चतुर्थ ३८८) मे प्राप्त होता है जिसमे यह दिखाया गया है कि किसी चाण्डाल का घर नदी के बहाव की ओर (नीचे की ओर) केवल इसलिए करा दिया गया कि उसकी दातून स्नान करते समय किसी ब्राह्मण की शिखा मे उलझ गई थी। एक अन्य उदाहरण चित्तसम्भूत जातक (चतुर्थ ३९१-९२) का देखिये—एक क्रोधित भीड़ दो चाण्डाल भाइयो को ताडना दे रही है क्योंकि वे दो सम्भ्रान्त महिलाओ के सम्मुख आ गये थे जिनके फलस्वरूप महिलाओ को मन्दिर गमन स्थगित करना पडा था और इससे भीड़ प्रत्याशित भोजन और पान के वितरण से वंचित रह गई। जिस समाज मे स्पृश्यास्पृश्य की सीमा इतना आगे बढ गई थी कि उसे मानवता का अतिक्रमण करना ही कहा जा सकता है और उस समाज म चाण्डाल की दशा कैसी रही होगी, इसकी कल्पना हम सहज मे ही कर सकते हैं। जातको मे और बहुत ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनसे स्पृश्यास्पृश्य की भावना का बोध होता है।

जातको मे जहा चाण्डालो के स्पर्श के अगणित उदाहरण दिये गये वहीं यह शिक्षा भी दी जाती है कि जन्म और जाति से अभिमान उत्पन्न होता है, "देवो के लोक मे तो सभी—खत्तिय, ब्राह्मण, वेस्स, सुद्द, चण्डाल और पक्कस—समान माने जायँगे, यदि वे इस लोक मे सदाचार का पालन कर चुके हैं।" ब्राह्मणो के जातीय मान मर्दन का भी प्रयास जातको मे किया गया है और "उनके स्थान मे यदि जन्म पर ही विचार किया जाय तो सामाजिक विधान मे क्षत्रियो को विशेष स्थान देना उचित समझा गया है।" इसके प्रमाण हमे अनेक बौद्ध ग्रन्थो से प्राप्त होते हैं।[1]

किन्तु हमे यह नही भूल जाना चाहिये कि स्वय बौद्ध भिक्षुओ के समाज मे भी जातिपाँति की विशुद्धता का बडा ध्यान रक्खा जाता था। वे भी रक्त को प्रधानता प्रदान करते थे। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि शाक्यो ने कोशल-नरेश प्रसनजित को शाक्यपुत्री न देकर दासीपुत्री दे दी।

ब्राह्मणो द्वारा स्थापित जाति व्यवस्था मे लोच निश्चय ही आ गया था जैसा कि जातको से ज्ञात होता है, पर उसका मूल रूप अपरिवर्तित ही रहा। जातको तथा कुछ जैन ग्रन्थो के आधार पर हम तत्कालीन समाज को निम्नलिखित वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं —

(१) ब्रह्मण (ब्राह्मण), (२) खत्तिय (क्षत्रिय), (३) वेस्स (वैश्य), (४) सुद्द (शूद्र) तथा (५) हीन-जातियु तथा हीन सिप्पनि। हीन-जातियु वर्ग के अन्तर्गत वेहे लिया तथा रथकार आदि सम्मिलित थे तथा हीन सिप्पनि मे नाई, कुम्भकार बुनकर, चर्मकार आदि सम्मिलित थे।

उपरोक्त जातियाँ अपने पेशे को बदल सकती थी। जातक म इस प्रकार का उदाहरण मिलता है कि एक 'सेट्ठि' दर्जी तथा कुम्भकार का काम करता है, फिर भी उसके उच्च कुल मे जन्म पाने का सम्मान पूर्ववत बना रहता है।

उपरोक्त स्वतन्त्र वर्गों के अतिरिक्त समाज म दास वर्ग भी था। इनके विषय मे रीज डेविड्स महोदय ने 'बुद्धिस्ट इण्डिया' (*Buddhist India*) मे लिखा है।

डेविड्स महोदय न यह भी बताया है कि जातियो मे कडाई बिल्कुल नही थी। बौद्ध ग्रन्थो मे इस प्रकार के उदाहरण भरे पडे हैं। उन्होने विभिन्न उद्धरण प्रस्तुत किये है जिससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार कोई क्षत्रिय किसी कुम्भकार, बावर्ची या अन्य हीन वर्ग की कन्या से प्रेम करता है और उसकी भर्त्सना नही की जाती है अथवा

१ अम्बट्ठ सुत्त अस्सलायन सुत्त, सम्भव जातक (पचम, २७) आदि।

ब्राह्मण वैश्य-वृत्ति ग्रहण कर लता है। जाति-सम्बन्धी इस प्रकार के लचीलेपन के उदाहरण हमे बुद्ध के पूर्व काल मे भी देखने को मिले थे, अत यह सर्वथा नवीन वस्तु न थी।

स्पृश्यास्पृश्य के सम्बन्ध म ऊपर प्रकाश डालते समय तत्सम्बन्धी कठोरता का उल्लेख किया गया था। खान-पान के सम्बन्ध मे भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। जातक मे एक स्थल पर बताया गया है कि एक ब्राह्मण एक क्षत्रिय के साथ भोजन कर रहा है। दूसरे स्थल पर एक ब्राह्मण चाण्डाल का भोजन पान करते हुए बताया गया जो इसके लिए प्रायश्चित करता है। किन्तु ये उदाहरण स्वय परस्पर विरोधी हैं। कही तो काफी लचीलापन दिखाई पडता है और कही काफी कठोरता का आभास मिलता है। ब्राह्मण क्षत्रिय के साथ भोजन करते हुए दिखाया गया है पर साथ ही यह उदाहरण भी हमारे सम्मुख है कि शाक्य दासी पुत्री को ग्रहण करना हेय समझा गया। इन उदाहरणो से हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ-जहा ब्राह्मणो का प्रभुत्व पूर्ववत् बना था वहा तो वर्ग भेद कुछ कठोर था, पर जो क्षेत्र इनके प्रभाव से जिस मात्रा मे मुक्त था उसी अनुपात से वहाँ लचीलापन अधिक था। रक्त की शुद्धता पर बौद्ध-भिक्षु भी जोर देते थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योकि इसके लिए जो प्रसेनजित का उदाहरण दिया जाता है, राजनीति का विषय है और दासी पुत्री प्रदान करने मे अपमान करने की भावना का अश अधिक ज्ञात होता है। वास्तविकता जो भी हो समाज की प्रारम्भिक बुराइयो मे जो कुछ सुधार इस काल मे हुआ, वह बहुत सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता।

नारी का स्थान—स्त्रियो की दशा के सम्बन्ध मे हमे बौद्ध ग्रन्थो मे साकेतिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रारम्भ मे महात्मा बुद्ध भी इनकी ओर से उदासीन से जान पडते हैं। जिस समय इनकी विमाता तथा इनको पालनेवाली महाप्रजापति देवी ने कपिलवस्तु मे आकर एक भिक्षुणी के रूप मे सघ प्रवेश करने का आदेश बुद्ध भगवान से माँगा था तो उन्होंने उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी थी। भगवान् स्त्रियो को सघ प्रवेश की अनुमति देने के पक्ष मे नही दिखलाई पडते हैं।[1] किन्तु कालान्तर मे उन्हे अपने इस नियम मे परिवर्तन करना पडा, क्योकि जिस समय वे वैशाली में रुके थे तो महाप्रजापति ने पुरुष-वेश धारण करके अपने साथ अनेक शाक्य स्त्रियो को लेकर रोती हुई भगवान से सघ प्रवेश की प्रार्थना की और बुद्ध भगवान के प्रिय शिष्य आनन्द ने काफी सिफारिश की थी। फलत उन्होंने स्त्रियों को सघ प्रवेश की अनुमति प्रदान कर दी, पर साथ ही आठ ऐसे कठोर प्रतिबन्ध भी लगा दिये जिससे उनका सघ जीवन बहुत कष्टदायक हो गया और साथ ही इससे उनका स्थान भी निम्नतम हो गया। इन आठ कठोर नियमो मे से एक यह भी था कि 'सौ वर्ष की भिक्षुणी' को भी पहले भिक्षु की अभ्यर्थना करनी पडती थी, उसके सम्मुख आसन रिक्त करके खडा हो जाना पडता था और करबद्ध प्रार्थना करनी पडती थी, चाहे भिक्षु केवल एक दिन का ही क्यो न दीक्षित हुआ हो।[2] भिक्षुणियाँ भिक्षुओ के पास स्वेच्छा से जाकर वार्तालाप नहीं कर सकती थीं पर भिक्षुओं के लिए यह स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि वे भिक्षुणियो के पास जाकर बात-चीत करें।[3] इन नियमो से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि समाज मे नारियो का स्थान निम्न था तथा 'उस दिन से (सघ मे प्रवेश करते ही) भिक्षुणियों का भिक्षुओ से

१ विनय का प्रथम नियम (विनयपिटक, चुल्लवग्ग १०।१।।)
२ विनय का आठवाँ, नियम वही।
३ विनयपिटक (चुल्लवग्ग १०।१।।

साथ सहालाप करना निषिद्ध कर दिया जाता था ।" इससे यह भी प्रतिध्वनित होता है कि इनको संयमहीन तथा असुसंगठित चरित्र भी माना जाता था । ओल्डेनबर्ग महोदय तो भिक्षुणियों द्वारा भिक्षुओं की वन्दना कराने वाले नियम की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि भिक्षुणियों को यह अधिकार नहीं प्राप्त था कि वे किसी भिक्षु पर दोषारोपण करें, किन्तु भिक्षुओं को यह अधिकार प्राप्त था ।

भगवान बुद्ध ने संघ में स्त्रियों को प्रवेश लेने की अनुमति तो दे दी पर उनके आगे के प्रवचन से ऐसा परिलक्षित होता है कि वे इस कार्य से प्रसन्न न थे । उन्होंने आनन्द से ये वाक्य कहे—"पर अब जब स्त्रियों का प्रवेश हो गया है, आनन्द ! धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा जिस प्रकार ऐसे घरों में जिनमें अधिक स्त्रियाँ और कम पुरुष होते हैं, चोरी विशेष रूप से होती है कुछ इसी प्रकार की अवस्था उस सूत्र और विनय की समझनी चाहिये जिसमें स्त्रियाँ घर का परित्याग करके गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती हैं । धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा जिस प्रकार धान के खेत पर पाला पड़ जाय तो वह अधिक नहीं टिक सकता अथवा जिस प्रकार गन्ने की खेती लाल बीमारी से, जिसमें पौधों में कीड़े लग जाते हैं, मारी जाती है, उसी प्रकार आनन्द ! उस सूत्र और विनय की दशा होती जिसमें स्त्रियों को घर छोड़कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाय । वह धर्म चिरस्थायी नहीं हो सकता । फिर भी आनन्द ! मनुष्य जैसे भविष्य को सोचकर जलाशय के लिए बाँध बनवा देता है जिससे जल बाहर न बहने लग जाय, उसी प्रकार आनन्द भावी के लिए मैंने ये आठ कठोर नियम बना दिये हैं जिनका पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य है, जब तक धर्म है उन नियमों के पालन में प्रमाद न होना चाहिये ।"[1]

संघ प्रवेश के पश्चात् लगभग सौ भिक्षुणियों ने मिलकर 'थेरीगाथा' नामक बौद्ध गीतसंग्रह की रचना की थी जिससे संघ प्रवेश के पश्चात उनके बौद्धिक विकास का परिचय मिलता है ।

नारियों को साधारणतया घर की चहारदीवारी में रहना पड़ता था । गृह-चातुर्य तथा संगीत उनके मुख्य गुण माने जाते थे । लड़कियों का विवाह बहुधा माता-पिता या अभिभावक ही निश्चित करते थे किन्तु किसी विशेष अवस्था में उन्हें अपना वर स्वयं चुनने का अधिकार था ।

ग्राम तथा नगर संगठन एवं आर्थिक व्यवस्था

बौद्धग्रन्थों में नगर तथा ग्राम-संगठन पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है जिसका अध्ययन डेविड्स महोदय ने वैज्ञानिक एवं विस्तृत रूप से किया है । उनके आधार पर ही हम यहाँ ग्रामों तथा नगरों के संगठन पर प्रकाश डालेंगे ।

ग्राम-संगठन—ग्रामों पर ही सामाजिक संगठन आधारित था किन्तु इनके संगठन के सम्बन्ध में हम पूर्ण विवरणों से अज्ञात हैं । यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विभिन्न जिलों के भिन्न भिन्न ग्रामों में रीति रिवाज, भूमि-स्वत्व तथा ग्रामीणों के सामाजिक अधिकार भिन्न भिन्न थे । इन विभिन्नताओं के मूल में प्राकृतिक तथा राजनीतिक विभिन्नता ही रही । किन्तु इस विभिन्नता में भी एक साम्य था जो पारस्परिक मिलन की देन थी । लोग झुण्ड बनाकर अर्थात् संगठित होकर ग्रामों में रहते थे । किसी अकिंचन घर का उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलता है । ग्रामीण घरों के बीच में पतली-पतली गलियाँ थीं । घरों के क्षेत्र के चारों ओर बहुधा धान के खेत प्रसरित थे । ग्रामों में चरागाहों

१ विनयपिटक (चुल्लवग्ग, १।१।।)

की भी व्यवस्था थी जिनमे सामूहिक रूप से ग्रामीणों के पशु चरा करते थे। कुछ जगल भी छोड़ दिये जाते थे जिन पर समस्त ग्रामीण जनता का समानाधिकार था। ग्रामीण जनता सामूहिक रूप से चरवाहे (गो-पालक) नियुक्त करते थे जो खेत कट जाने के पश्चात् उन क्षेत्रो मे पशुओ को चराया करते थे।

खेत की बुआई साथ होती थी और सिंचन-कार्य के लिए सामूहिक नालियाँ बनी थी जिससे जल प्राप्त करने के लिए नियम बने हुए थे। ग्राम प्रमुख इसका निरीक्षण करता था।

ग्रामीण अर्थनीति भूमि के स्वतत्र स्वत्व पर आधारित थी। यद्यपि कृषक अपनी भूमि का स्वामी था तथापि वह ग्राम-पचायत अथवा परिषद् की अनुमति बिना अपना खेत बेच या रेहन नही रख सकता था। किसान या तो अपने खेत को स्वय जोतता था अथवा कृषि-श्रमिको या दासो द्वारा जुतवाता था। पर इससे उसका भूमि स्वत्व नही छीना जा सकता था। कुछ ग्रन्थो से भूमि विक्रय के तीन उदाहरण प्राप्त होते हैं। इनमे से एक वन-भूमि थी। एक ब्राह्मण ग्रन्थ मे बलि शुल्क के रूप में भूमि देने का उल्लेख किया गया है। किन्तु इसके ठीक बाद के लेख से ज्ञात होता है कि भूमि का हस्तान्तरण उचित नही था।

किसी भी व्यक्ति को, भले ही वह अपने परिवार मे से अपना उचित भूभाग निकालकर देना चाहे, किसी को वसीयतनामा लिखने का अधिकार न था। वस्त्राभूषण नारियों की वैयक्तिक सम्पत्ति थी जिस पर पुत्रियो का अधिकार था। भूमि पर उनका कोई अलग अधिकार नही होता था, क्योकि अपने पति या भ्राता के हिस्से मे पड़नेवाले उत्पादन के उपभोग का अधिकार उन्हें दिया जा चुका था।

जब वैयक्तिक भूमि का विक्रय कठिन था तो भला सामूहिक भूमि चरागाह आदि के विक्रय का तो कोई प्रश्न ही नही था। कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार श्रम या उत्तराधिकार द्वारा इस पर स्वत्व नही प्राप्त कर सकता था। राज्य का भूमि पर केवल इतना अधिकार था कि वह कृषको से कृषि-कर प्राप्त करे। यह कृषि कर कृषि उपज का $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{12}$ वाँ भाग तक हुआ करता था। कृषि-कर वसूल करने के लिए राज्य की ओर से 'ग्रामभोजक' नामक पदाधिकारी नियुक्त था। 'ग्रामभोजक' का पद कभी तो पैतृक होता था और कभी ग्राम-सभा राज्य के लिए इसका निर्वाचन करती थी। इन पदाधिकारियो का कर्तव्य था कि वे सडको का निर्माण करें और किसी राजकुलीन व्यक्ति या उच्च अधिकारियो के आगमन पर उनके भोजन की व्यवस्था करें। ग्राम भोजक कृषकों पर किसी प्रकार का अनुचित दबाव नही डाल सकते थे क्योकि कृषको को यह स्वतत्रता प्राप्त थी कि वे उच्च अधिकारियो के सम्मुख अपनी कठिनाइयो को रख सकें। सम्भवत इसीलिए उनसे बेगार भी नही ली जाती थी। कभी-कभी ग्रामीण जनता सहकारिता के आधार पर सम्मिलित श्रमदान द्वारा अपने ग्रामो मे सड़कों की मरम्मत करती थी बागीचे लगाती थी तथा इसी प्रकार के अन्य सामूहिक स्थानों, विश्रामगृह आदि का निर्माण करती थी। सार्वजनिक कार्य मे भाग लेने मे स्त्रियाँ अपना गर्व समझती थी।[1]

ग्रामो की आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे डेविड्स महोदय ने लिखा है—

"इन ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था सरल थी। कोई भी घर आधुनिक शब्दो मे धनी नहीं बन सकता था पर साथ ही यहाँ साधारण आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन

१ जातक १।१९९।

थे, सुरक्षा और स्वतंत्रता थी। न तो वहाँ जमींदार थे और न भिखारी।"

ग्रामों में अपराध बहुत कम होते थे। बहुधा सरकार इन पर पूर्ण नियन्त्रण रखती थी। डकैती जैसे बड़े-बड़े अपराधों को रोकने के लिए सरकार सदैव तत्पर रहती थी जिससे ग्रामीणों का जीवन शान्तिमय था।[1]

ग्रामीण जनता को कभी यदि संकटापन्न स्थिति का सामना करना पड़ता था तो वह दुर्भिक्ष द्वारा ही। डेविड्स महोदय ने यह बताया है कि यद्यपि मेगस्थनीज ने यह लिखा है कि सिंचाई की समुचित व्यवस्था के कारण अकाल नहीं पड़ते थे, पर हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि देश में दुर्भिक्ष के कारण ग्रामीण तथा अन्य जनता प्रपीड़ित थी। स्वयं पटना के निकटवर्ती जिला में ही जहाँ यात्री रुका था ऐसे दुर्भिक्ष पड़े थे। यात्री के भ्रमण-काल और विचाराधीन काल में कुछ अन्तर भी था, अतः यात्री के विवरण पर अक्षरशः विश्वास करना यहाँ उचित नहीं।

नगर—बौद्ध ग्रन्थों में बहुत कम नगरों (नियमों) का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित कुछ प्रमुख नगर ये हैं—

मगध की राजधानी राजगह (राजगृह), वत्स की कौशाम्बी, कोशल की सावत्थी (श्रावस्ती), वज्जियों की वसाली (वैशाली), अंग की चम्पा, शाक्यों की कपिलवस्तु, अवन्ती की उज्जेनी (उज्जयिनी), वाराणसी, अओज्झा (अयोध्या), मथुरा, पोतन, तक्षशिला आदि।[2] मगध की दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र अभी केवल एक ग्राम पाटलिग्राम के नाम से विख्यात था। उपरोक्त नगर भारी भारी नदियों के तटों पर ही बसे थे, अतः ये अन्तर्देशीय व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। दीघनिकाय के अनुसार उस काल के छः प्रमुख नगर ये थे—

(१) चम्पा, (२) राजगृह, (३) सावत्थी, (४) साकेत, (५) कौशाम्बी तथा (६) वाराणसी।[3]

नगरों की संख्या तो हमें अधिक नहीं ज्ञात होती है और न बहुत नव निर्मित नगरों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। हाँ, केवल उस परम्परा का पालन अवश्य दिखाई पड़ता है कि समस्त सुप्रसिद्ध नगर नदियों के तट पर ही स्थित हैं। प्राचीन काल की सभ्यताओं की यह विशेषता हमें बौद्धकालीन भारत में देखने को मिलती है। सरयू के तट पर अयोध्या, राप्ती के तट पर श्रावस्ती गंगा के तट पर वाराणसी (काशी) यमुना के किनारे मथुरा एवं कौशाम्बी तथा गोदावरी के तट पर पोतन (अस्सक प्रदेश की राजधानी) नगर बसा था।

इन नगरों के अतिरिक्त जातकों में कुछ अन्य नगरों का भी उल्लेख किया गया है जिनमें तक्षशिला प्रमुख है। तक्षशिला प्राचीन भारत का सर्वोन्नत नगर था। इसका महत्व शिक्षा की दृष्टि से ही बहुत बड़ा था। तक्षशिला विश्वविद्यालय से ही पाणिनि जीवन, कौटिल्य जैसे विद्वान स्नातक निकले थे जिन्होंने भारतीय दर्शन एवं साहित्य की अभिवृद्धि में अद्वितीय योग दिया।

नगर साधारणतया दुर्गाकार एक दीवार (प्राकार) से घिरे हुए होते थे। रक्षा के लिए खाइयाँ थीं, पर इस प्रकार के नगरों का उदाहरण अब उपलब्ध नहीं है। नगरों में धनाढ्य और निर्धन दोनों प्रकार के लोग निवास करते थे, अतः यहाँ भिन्न-

१ विनय ३।२२०॥ जातक २।१४६, ३६७॥ ५।१६३॥ ६।४८७॥
२ सुत्त निपात, श्लोक ६७७।
३ महापरिनिब्बान सुत्तन्त (दीघनिकाय)

भिन ऊँचाई और बनावट के प्रकार थे। श्रीमानो की उच्च अट्टालिकायें ईंटो की बनी होती थी और उनमे चित्रकारी तथा रँगाई की हुई रहती थी। भवन निर्माण मे पत्थर का प्रयोग नाम-मात्र का होता था, बहुधा मकान लकडी तथा ईंट के होते थे। भवन में प्रकाश एव वायु का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। उनमे सडक की ओर खुलनेवाली खिडकियाँ भी थी। भवनों के सम्बन्ध मे बौद्ध ग्रन्थो मे पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है जिससे हमें भवनो मे प्रयुक्त सामग्रियो तथा उनकी बनावट के सम्बन्ध मे विस्तृत रू से ज्ञात होता है।[1] उच्चकुलीन व्यक्तियो के निवास स्थान के सम्बन्ध मे बताते हु विनय पिटक मे भवन की पूण बनावट पर प्रकाश पडता है।[2]

यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि जिन रैलिंग और खम्भो का उल्लेख ग्रन्थो मे किया गया है वे लकडी के निर्मित थे अथवा पत्थर के। छठी शताब्दी ई० पू से पहले भी हमे भवन निर्माण मे पत्थर के प्रयोग का उल्लेख मिलता है— गिरिव्रज एक गढ़ी (दुर्ग) की पत्थर की दीवारो से घेरा गया था। किन्तु बुद्धकालीन भारत पत्थरो का प्रयोग निश्चय ही स्वल्प हो गया था और केवल स्तूप या जीने मे ही इसक प्रयोग होता था। पत्थर की इमारत का उल्लेख केवल एक बार किया गया है, वह भी परियो की दुनिया मे बताया गया है।[3] इन समस्त प्रमाणो के आधार पर ही अपने पूव-निश्चित मत, अर्थात् भवनो मे ईंट तथा लकडी के प्रयोग को ही मान्य समझन होगा। धनाढ्यो के भवनो के चित्रित होने का उल्लेख हमने पिछले पृष्ठ में किया था, इस सम्बन्ध मे भी बौद्ध ग्रन्थो मे विस्तारपूवक लिखा गया है। चित्रकारी के नमूने, लेप बनाने की विधि (plaster), जिन पर ये चित्र बनाये जाते हैं, आदि का विस्तृत विवरण विनय पिटक मे दिया गया है। चित्रकारी के चार प्रमुख नमूनो के भी वृत्तान्त सुरक्षित हैं। वे इस प्रकार हैं —

(क) मालाकार (Wreath work),
(ख) लताकार (Creeper work),
(ग) पचसूत्राकार (Five ribbon work) तथा
(घ) नाग-दन्ताकार (Dragon's Tooth work)।

चित्रकला के उक्त आदर्शों को जान कर हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि अभी दीवारों पर चित्र बनान की कला उतनी उन्नति न कर सकी थी जितनी अजन्ता की कला मे पाई जाती है, तथापि यह तो मानना ही पडेगा कि अब इसमें कलात्मकता का पुट अधिक दिया जाने लगा था और यह उन्नति के पथ पर अग्रसर थी।

विशाल भवनो का प्रवेश-द्वारा भी विशाल था जिसके दायें-बायें खजाना था, अन्न-भण्डार थे। प्रवेश द्वार मे जाने के बाद भी भीतरी बरामदे थे जिनके ऊपर चौडी छत (उपरिपसदतल) थी जिस पर मकान का स्वामी बैठता था। यह कक्ष भोजन-गृह, कार्यालय तथा शृगार-कक्ष का भी काम देता था।

राजाओं के महलो मे सम्पूर्ण राजकाज के लिए स्थान था।

"हमे सामूहिक द्यूत गृहो का भी विवरण कुछ ग्रन्थो से प्राप्त होता है।" इन द्यूत-गृहा का सम्बन्ध राजमहल से था और ये राजमहल के सामान्य भाग थे। आप

१ विशेष विवरण के लिए देखिये रीज डेविड्स, *Buddhist India*, pp 47 51
२ विनयपिटक ३।१६६।। १०४–११५, १६०–१८०।।
३ जातक २। २६६।।

(जातक २।२४)। यह उल्लेख आया है कि ऐसे सार्वजनिक द्यूत-गृहों का [illegible] राजा की ओर से होता था तथा यहाँ जुआरियों का [illegible] की होती। राजा को भी कुछ भाग मिलता था और यह धन राजकोष में सम्मिलित होता था। इन नगरों में द्यूत-निवास को विशेष संरक्षण प्राप्त होता।

स्नान-भवन का भी नगर में एक प्रमुख स्थान था। ये अधिकतर [illegible] होते थे। इनमें नहाने, मालिश तथा बैठने के लिए स्थान था। (विनय ३।१०५–११० २६७)। में इसका पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। आधुनिक [illegible] स्नान उस [illegible] होता था यह कुछ अनुमान का विषय है। स्नानागार दो प्रकार के थे—एक उष्ण-वायु-स्नान भवन (Hot air baths) तथा दूसरा सामान्य स्नानागार जो [illegible] होता था। इन स्नानागारों का [illegible] होता रहा होगा और उपवन-वाटिकाओं में इनका साधारणतया प्रयोग किया जाता रहा होगा।

डेविड्स महोदय ने [illegible] की आर्थिक दशा का [illegible] चित्रण किया है। [illegible] धनाढ्यों के भवनों की संख्या कम थी। निर्धन [illegible] मजदूर [illegible] नगर की [illegible] गलियों में घर बनाते थे। रिज डेविड्स महोदय के शब्दों में:—

' There was probably a tangle of narrow and evil smelling streets of one storied wattle and daub huts with thatched roofs the meagre dwelling places of the poor

नगरों में बाजारों की गलियाँ थीं जहाँ दुकानें साधारण रूप में सजी रहती थीं। बाजारों का पूर्ण [illegible] रहा होगा यह भी सम्भव है।

नगरों के [illegible] निकालने के लिए छोटी [illegible] बनी थीं और बड़े-बड़े कुओं में भी [illegible] पानी बाहर जाता था। नगर में सफाई [illegible] के लिए साधारण व्यवस्था थी।

श्मशान तथा [illegible] के बाद [illegible] श्मशान पर स्तूप [illegible] बनाया जाता था। [illegible] स्तूपों की [illegible] विशेष [illegible] है।

शिल्प कला—भवन निर्माण के सम्बन्ध में विचार करते समय [illegible] का निर्देश किया था। यहाँ [illegible] पर विचार किया जायगा। [illegible] वास्तु [illegible]। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक [illegible] उद्योग-धन्धों में किया जायगा।

आर्थिक व्यवस्था

बुद्धकालीन अर्थ व्यवस्था का मूलतम पर मुख्य आधार कृषि के सम्बन्ध में हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा था। यहाँ कृषि सम्बन्धी उद्योग धन्धों, सामान्य उद्योग तथा कुछ प्रमुख उद्योग धन्धों एवं व्यापारों पर विचार किया जायगा।

कृषि सम्बन्धी उद्योग धन्धे तथा अन्य सहायक उद्योग धन्धे—बुद्धकालीन जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में बसता था जिनका प्रमुख पेशा कृषि था। किन्तु कृषि के अति- [illegible]

जातक मे कुल १८ प्रकार के उद्योग धधो का उल्लेख किया गया है पर दुर्भाग्य से उनकी सूची प्राप्त नही है। केवल चार प्रकार के उद्योगो का ही नामाकन किया गया है—जैसे बढठकी, लोहकार, चमकार तथा चित्रकार। डविड्स महोदय ने इन अट्ठारह प्रकार के उद्योग धधो की सूची (अनुमान से) इस प्रकार दी है—

(१) बढई, (२) लुहार, (३) प्रस्तरकार, (४) बुनर, (५) चमकार, (६) कुम्भकार, (७) हाथीदांत के कारीगर, (८) रंगरेज, (९) जौहरी, (१०) मछुये, (११) कसाई, (१२) बहेलिया, (१३) बावर्ची, (१४) नाई, (१५) माली, (१६) माविक, (१७) टोकरी बनानेवाले (आधुनिक 'घरिकार जो ग्रामीण क्षेत्रो मे आज भी टोकरी बनाने का काम करते हैं) तथा (१८) चित्रकार।

उपरोक्त शिल्पियो मे से कुछ न अपनी श्रेणियाँ स्थापित कर ली थी और कुछ असगठित रूप से कार्य करते थे। इनमे अधिकाश ग्रामीण क्षेत्रो मे निवास करते थे और कृषक ही उनकी आय के प्रमुख साधन थे। उच्च कोटि के कलाकार नगरो मे रहते थे।

नीचे इन शिल्पियो पर पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

(१) बढई—बढई केवल लकडी के सामान्य काम ही नही करते थे, प्रत्युत वे गाडियाँ, जलयान, भवन आदि भी बनाते थे। इनका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत था, अत आर्थिक व्यवस्था मे इनका महत्वपूर्ण हाथ रहा होगा।

(२) लुहार—ये आधुनिक लुहारो के लगभग समस्त काम करते थे। कृषि औजारो को बनाना सम्भवत इनका मुख्य काय रहा होगा। ये हथियार भी बनाते थे। अच्छी अच्छी सुइया भी ये सुदर ढग से बना लेते थे।

(३) प्रस्तरकार—भवनो मे प्रयुक्त पत्थरो को ये सुन्दर और सुडौल बनाते थे। सीढिया, छज्जे आदि बनाने मे ये काफी निपुण थे। प्रस्तर-खम्भ भी ये सुदर बना लेते थे। इनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ बिल्लौर की प्यालिया (Crystal bowls) तथा तिजोरिया थी जिनके उदाहरण प्राप्त हुए हैं।

(४) बुनक—इस काल के बुनक अपनी कला मे काफी दक्ष थे। वे न केवल साधारण कपडा बुन लेते थे, वरन् सुदर-सुन्दर सिल्क के वस्त्र भी तैयार करते थे। वे बहुमूल्य कम्बल तथा कालीन आदि भी बनाते थे।

(५) चमकार—ये जूता बनाने के अतिरिक्त चमडे की मूल्यवान् वस्तुयें भी बनाते थे।

(६) कुम्भकार—दैनिक प्रयोग के मिट्टी के बरतन ये बडी कुशलता से बनाते थे।

(७) हाथीदांत के कारीगर—हाथीदात का काम भारत मे पहले से ही काफी उन्नत अवस्था मे था। इस काल के कारीगरो ने इस काल मे अभिवृद्धि की और वे हाथीदांत की साधारण वस्तुओ से लेकर कीमती वस्तुए तक भी बनाते थे। इनके बनाये हुए आभूषण सुदरता मे अद्वितीय थे।

(८) रँगरेज—ये कपड की रँगाई करते थे।

(९) जौहरी—इनकी कृतिया आज भी उपलब्ध हैं जिन्हें देखकर हम उनकी कला की प्रौढ़ता का अनुमान लगा सकते हैं तथा उनकी शैली का भी बोध कर सकते हैं।

(१०) मछुए—रीज डेविडस महोदय का यह विचार है कि ये केवल नदियो में ही शिकार किया करते थे। समुद्री मछलों का शिकार ये नहीं करते थे।

(११) कसाई—इनकी दूकानों तथा कसाईखाने का उल्लेख ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्राप्त होता है।

(१२) बहेलिया—इनके सम्बन्ध में भी पुस्तकों में विवरण प्राप्त होता है। ये वन उपजों तथा पशुओं को शहरों में गाड़ियों पर लादकर बिक्री के लिए लाते थे। वन-उपजों के अतिरिक्त पशुओं की खालों की भी काफ़ी माँग थी, अतः इनके व्यवसाय को काफ़ी प्रोत्साहन दिया जाता रहा होगा। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी कोई श्रेणी बनी थी अथवा नहीं।

(१३) बावर्ची तथा हलवाई—इनके कार्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्वल्प है। सम्भवतः इन्होंने अपनी श्रेणी बना ली थी।

(१४) नाई—नाइयों ने भी अपना सगठन बना लिया था।

(१५) माली—मालियों का काम फूल बेचना था। ये सम्भवतः साधारण फल के बगीचे भी लगाते रहे होंगे।

(१६) नाविक—प्रमुख नगर बड़ी बड़ी नदियों के तट पर ही बसे थे। अतः अन्तर्देशीय व्यापार तथा गमनागमन में इनका महत्त्वपूर्ण हाथ था। ये सामुद्रिक यात्रा भी करते थे। जातकों में सामुद्रिक यात्रा का यत्र-तत्र किया गया है।

(१७) टोकरा बनाने वाले—इनके सम्बन्ध में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं।

(१८) चित्रकार—भवन निर्माण के सम्बन्ध में लिखते समय इनकी कला का निर्देशन किया गया है। बहुधा चित्रकार भित्ति चित्रों में ही अधिक रुचि लेते थे।

निगम या श्रेणी—शिल्पियों के सगठन का निर्देशन ऊपर किया गया है। इन सगठनों को निगम अथवा श्रेणी कहा जाता था। लगभग सभी प्रमुख उद्योगों के कारीगरों ने अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं। इन श्रेणियों में प्रशिक्षण प्राप्त करने वालों को 'अन्तेवासिक' कहते थे। अन्तेवासिक का शाब्दिक अर्थ 'वहाँ के रहने वाले' है। निगम का प्रधान 'जेट्ठक' (ज्येष्ठक) कहलाता था। जातक-ग्रन्थ (१।३०८।।, ३।४०५।।, ४।१३७।।) में मालियों, नाविकों, काफिले वाले व्यापारियों, रक्षकों तथा डाकुओं के जेटठकों का उल्लेख किया गया है।

सेट्ठि—कुछ ग्रन्थों में 'सेट्ठि' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो सम्भवतः प्रमुख अथवा प्रधान व्यापारी थे। श्रेष्ठ के अर्थ में ही सेट्ठि का प्रयोग होता रहा होगा। जातकों में 'महासेट्ठि' तथा 'अनुसेट्ठि' शब्द आये हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि सेट्ठियों में भी उनकी स्थिति के अनुसार छोटे-बड़े पद थे।

वाणिज्य और व्यापार—अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनों व्यापार उन्नत अवस्था में थे। रेशम, मलमल, मूल्यवान् वस्तु, अस्त्र शस्त्र, पिन, जरी के काम या नक्काशी, कालीन, ओषधि, हाथीदाँत की वस्तुयें, आभूषण आदि निर्यात की प्रमुख वस्तुयें थीं। व्यापार के सम्बन्ध में डेविड्स महोदय ने विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है जिससे ज्ञात होता है कि काफिला बनाकर अथवा नाव द्वारा व्यापारी दूर-दूर तक यात्रा करते थे और हर दूसरे देश में प्रवेश करते समय उन्हें चुंगी देनी पड़ती थी।

'सख जातक' में एक ब्राह्मण व्यापारी का उल्लेख मिलता है जिसने एक नौका को "सुवर्णभूमि" की यात्रा को विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं से भरा।[१]

१ जातक ४।२१ में इसका उल्लेख है। "सुवर्णभूमि" का सकेत बर्मा तथा श्याम से है—देखिये Dr Mabel Bodem the *Sasana Vamsa*, p 12 Quoted by Mr Rhys Davids

इन विवरणो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि अन्तर्देशीय व्यापार के लिए यातायात की पूर्ण सुविधा न थी, काफिलो द्वारा होने वाले व्यापार को डाकुओ से क्षति पहुँचने की आशका बनी रहती थी तथापि ये दोनो व्यापार हुआ करते थे। माँग की प्रबल शक्ति का ही इसमे प्रमुख हाथ रहा होगा।

व्यापार-मार्ग—पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रथो मे व्यापार-मार्गों के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही मिलता है किन्तु उसके बाद के ग्रथो मे इनका निर्देशन किया गया है। ये मार्ग दोनो प्रकार के अर्थात् जलीय और स्थलीय थे। डेविटस महोदय ने इन व्यापार मार्गों की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है—

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम का मार्ग—सावत्थी से पतिट्ठान (पैठान) तक जिसमे पडने वाले प्रमुख स्थान महिस्सति, उज्जैनी, गोनध, विदिशा, कौशाम्बी तथा साकेत थे।

(२) उत्तर से दक्षिण-पूर्व का मार्ग—सावत्थी से राजगह (राजगृह) तक जिसमे सेतव्य, कपिलवस्तु, कुसीनारा, पावा, हत्थिगाम, भाडगाम, वैशाली पाटलिपुत्र तथा नालन्दा प्रमुख स्थान पडते थे जहाँ व्यापारी रुकते थे। यह मार्ग सीधे न जाकर काफी घूमकर जाता था।

(३) पूर्व से पश्चिम का मार्ग—यह प्रधानत जलमार्ग था और बडी-बडी नदियो द्वारा यातायात होता था। गगा मे धुर पश्चिम सहजाति तक तथा यमुना मे उसी दिशा की ओर कौशाम्बी तक नावें जाती थी। आगे चलकर नावें गगा के मुहाने तक जाने लगी और वहाँ से सामुद्रिक मार्ग पकडकर बर्मा चली जाती थी।

जातक तथा अन्य ग्रथो मे इन मार्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यापार मार्गों का भी उल्लेख किया गया है। इनमे निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) विदेह से गान्धार तक
(२) मगध से सोवीर तक,
(३) भरुकच्छ से बर्मा तक
(४) बनारस से बर्मा तक (गगा के मुहाने से होते हुए) तथा
(५) चम्पा से बर्मा तक।

जातक ४।१३७।। मे हमे भरुकच्छ (सम्भवत भडौच) बन्दरगाह का उल्लेख मिलता है। दीपवश महावश तथा धम्मपद-टीका मे सुप्पारक (डॉ० बी० सी० ला के मतानुसार सुपारा) नामक दूसरे बन्दरगाह का उल्लेख किया गया है।

बाजार विनिमय का माध्यम तथा साझेदारी—उद्योग धन्धो तथा कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओ की बिक्री के लिए स्थान स्थान पर बाजार थे। वस्तु विनिमय (Barter) प्रथा का पूर्ण लोप हो चुका था। अब काहापण (कार्षापण)[१] नामक एक

१ कार्षापण का प्रयोग पाणिनी ने भी प्राचीन काल की प्रचलित मुद्राओ के रूप मे किया है। श्री दुर्गाप्रसाद ने अपने निबध मे (जे० आर० ए० एस० बी० न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेण्ट, सतालिसवा भाग पष्ठ ७७) मौर्यपूर्व मुद्राओ पर विचार करते हुए बताया है कि मुद्राओं के ऊपरी चिह्न विभिन्न प्रकार के मिश्रित चिह्न होते हैं जसे सूर्य तीर की नोक बल के प्रतीक मोर कुत्तों वक्ष अथवा पहाडो हाथी बारहसिंगा मेढक, आदि मुद्राओं के दूसरी ओर वाले चिह्न मुद्रा की जाँच करने वाले शर्राफों तथा पच करने वालों के हैं।

प्रकार के सिक्के का व्यवहार क्रय विक्रय में होता था। 'काहापण' ताँबे का बनता था जिसकी तौल १४६ ग्रेन थी और जिस पर विविध चिन्ह अंकित होते थे। चाँदी के सिक्कों का प्रयोग नहीं होता था। सम्भवतः आधा तथा चौथाई 'काहापण' ही प्रयोग में लाये जाते थे, अन्य किसी प्रकार के 'काहापण' का प्रयोग नहीं किया जाता था। स्वर्ण मुद्रायें भी प्रचलित नहीं हुई थीं। अब तक राज्य द्वारा वस्तुओं का मूल्य निर्धारण नहीं हुआ था, आगे चलकर मनुस्मृति में हमें इस प्रकार की व्यवस्था का बोध होता है। छठी शताब्दी ई० पू० में मूल्य निर्धारक का उल्लेख मिलता है जिसका कार्य बाजार में वस्तुओं का मूल्य निर्धारण नहीं था, बल्कि वह राजप्रासाद के लिए क्रय की जानेवाली वस्तुओं का मूल्य तय करता था। व्यापार में उधार चलता था। ब्याज पर रुपया भी दिया जाता रहा होगा, क्योंकि ब्याज का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में किया गया है, यद्यपि ब्याज की दर का निर्देशन नहीं है।

व्यापार में साझेदारी भी होती थी जिसका उल्लेख 'कूट वाणिज्य जातक' में किया गया है। साझा में ईमानदारी न बरतने का भी विवरण प्राप्त होता है और बेईमानी करने वाले को असफल होकर अन्त में बराबर-बराबर अंश देना पड़ता है।

भाषा और साहित्य

बुद्धकालीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाओं पर विचार कर लेने के पश्चात् हम तत्कालीन भाषा और साहित्य की गतिविधियों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

लेखन-कला का उदय और विकास—पिछले परिच्छेदों में हमने ब्राह्मण ग्रंथों के सम्बन्ध में पढ़ा था, ये सारे ग्रंथ अपनी विशालता तथा साहित्यिकता के लिए आज भी विख्यात हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि भारतीयों ने अब तक लिखना पढ़ना नहीं सीखा था। ये सारे ग्रंथ बिना लिखे पढ़े ही रचे गये थे। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य प्रारम्भ में लेखनी से अछूते रहे और वे केवल ब्राह्मणों के मस्तिष्क पर उनकी जिह्वा के बार-बार पिष्टपेषण से लिखे गये थे। अनुमानतः सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० पू० से पहले भारत में लेखन-कला का विकास नहीं हो सका था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उस समय की हस्तलिपियों, पुस्तकों आदि का कोई निर्देशन किसी ग्रंथ में नहीं मिलता जब कि तत्कालीन अथवा कुछ पश्चात के ग्रंथ व्यक्ति या समुदाय की वैयक्तिक या सामुदायिक वस्तुओं को गिनाते समय उनकी छोटी से छोटी वस्तुओं से लेकर भारी से भारी वस्तुयें तक गिनाई जाती हैं। हस्तलिपियों अथवा पुस्तकों की भी गणना उक्त सूची में की गई होती, किन्तु इनकी अनुपस्थिति में इसका कोई प्रश्न नहीं उठता था।

विनय पिटक तृतीय ७६, चतुर्थ ३०५, पञ्चम ७ आदि से ही सर्वप्रथम 'लेख' (लिखन) का उल्लेख मिलता है।

उक्त ग्रंथों के उदाहरणों के आधार पर डेविड्स महोदय ने इस सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

राज्य ही मुद्राओं का निर्माता या संचालक न था, अतः उनके अधिकारी अथवा बड़े बड़े वणिक 'जेटठक' आदि भी अपना अपना प्रतीक इन पर अंकित करते जाते थे। इस प्रकार जिस मुद्रा पर जितने ही अधिक चिह्न होंगे उन्हें, उतनी ही पुरानी समझनी चाहिये।—श्री एन० एन० घोष द्वारा उद्धृत।

" इन (विनय आदि) ग्रथो की रचना के समय लिखने का प्रचार था, इसका प्रयोग राज्यादेशो के प्रकाशन तथा व्यक्तियो के निजी पत्र व्यवहार मे होता था। लेखन कला जानना जीविका का सम्भव तथा सम्मानित साधन था, लेखन कला सीखना किसी वर्ग-विशेष की बपौती न थी, बल्कि सवसाधारण तथा स्त्रियाँ भी सीखती थी।"

किन्तु डेविडस महोदय ने आगे यह भी बताया है कि अब तक जिस स्तर पर लेखन-कला पहुँच सकी थी वह पुस्तक-रचना के लिए पर्याप्त न थी और अभी इसमे काफी समय लगने को था जब वह स्तर पर पहुँच सकती कि बड़े-बड़े ग्रथो को कठस्थ करने के स्थान पर लिखा जाता। लिखित पुस्तको के उल्लेख का अभाव तो इसका सबसे बडा प्रमाण है ही, जैसा कि पिछले पृष्ठो मे बताया गया है, साथ ही कुछ ऐसे भी उदाहरण प्राप्य हैं, जिनके आधार पर यह निश्चयपूवक कहा जा सकता है कि तब तक पुस्तको को लिखित रूप नही प्राप्त हो सका था। अगुत्तर निकाय ३।१०७॥५। १३६॥, विनय पिटक १।२६७॥ आदि के उद्धरणो से डेविडस महोदय ने सफलतापूवक यह सिद्ध कर दिया है कि उस समय तक समस्त धार्मिक नियम तथा अन्य विषय कठाग्र किये जाते थे और इनकी सुरक्षा का अर्थात् इनको स्मृति मदैव बनाये रखने का सतत प्रयास किया जाता था, अत यह निश्चयात्मक ढग से कहा जा सकता है कि अब तक के समस्त ग्रथ विद्वानो के मस्तिष्क म थे, किसी प्रकार के कागज पर उन्हे चित्रित नही किया गया था।

हमे अब प्रारम्भिक भारतीय वर्णमाला पर विचार करना होगा। जिस समय सवप्रथम लेखन-कला का उदय हुआ, भारतीयो ने उत्तरी सेमाइट अथवा दक्षिणी सेमाइट की वर्णमाला का अनुकरण किया।[१] इस सम्बन्ध में तक वितक के पश्चात डेविडस महोदय ने अपना विचार प्रकट किया है जो उपरोक्त मत का खण्डन करता है और वे भारतीय लिपि-वर्णमाला का प्रेरणा-स्रोत पूव सेमिटिक लेखनशैली के मूल स्रोत को बतलाते हैं जिसका प्रयोग दजला नदी की घाटी मे होता था।[२]

सातवी शताब्दी ई० पू० अथवा आठवी शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण म ही सम्भवत बेबीलोनिया से व्यापार करने वाले भारतीय व्यापारियो द्वारा सेमेटिक लिपि भारत में लाई गई होगी। इस लिपि मे कालान्तर मे स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार काफी परिवतन-परिवर्धन हुआ और इसी लिपि को लगभग १ हजार वर्ष बाद ब्राह्मी लिपि कहा जाने लगा किन्तु इस बीच मे इसका क्या नाम था, यह ज्ञात नही है। वणमाला के आविष्कार के पश्चात लेखन-सम्बन्धी सामग्रियो का भी क्रमश आविष्कार हुआ। डेविडस महोदय ने निश्चयात्मक ढग से यह कहा है कि—

"हमे इस पर आश्चय नही करना चाहिए कि छाल या पत्रादि पर लिखी हुई प्राचीनतम भारतीय हस्तलिपि बौद्ध ग्रथ की है, पत्थर अथवा लौह पत्रो पर उत्कीर्ण

१ the conclusion hitherto drawn has been either with Weber and Buhler, that the Indian Alphabet is derived from the Northern Semites or with Dr Deecke Isaac Taylor, and others that it is derived from that of the Southern Semites in South Arabia —*Buddhist India* p 71

२ Indian letters were derived, neither from the alphabet of Northern, nor from that of the Southern Semites, but from that source, from which these in turn, had been derived from the pre Semitic form of writing used in the Eupharates Valley —देखिये वही।

प्राचीनतम लेख भी बौद्धो के है, बौद्ध मतावलम्बियो ने ही सर्वप्रथम अपने पौराणिक ग्रथो की रचना में लिखने का प्रयोग किया ।"[1]

भाषा—भाषा के सम्बन्ध मे बहुत तर्क वितर्क प्रस्तुत किया जाता है । कुछ विद्वानो ने संस्कृत की प्रधानता स्थापित करने का भी प्रयास किया है किन्तु यह तर्क सगत नही है । संस्कृत भाषा सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा नही हो सकती थी, ब्राह्मण इसके लिए जोर भी नही दे सकते थे । संस्कृत भाषा के नाटको के अध्ययन से हम इस सम्बन्ध मे यह अनुमान लगा सकते हैं कि संस्कृत तो किसी प्रकार भी जनभाषा नही थी । संस्कृत नाटको के उच्चकुलीन पात्र तो शुद्ध संस्कृत मे सभाषण करते हैं किन्तु साधारण पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि प्राकृत ही जनसाधारण की भाषा थी । वास्तव मे साहित्यकारो की 'जन-भाषा' मे भी बनावट, कलात्मकता और साहित्यिकता का पुट होता है । वे शुद्ध ग्रामीण या जनसाधारण की बोली को भी साहित्यिक रूप प्रदान करके उसका प्रयोग करते हैं। अत यह निष्कर्ष निकलता है कि न तो संस्कृत ही जनभाषा थी और न प्राकृत ही ।

अब हमे तत्कालीन भाषा के लिए एक-दूसरे पहलू पर विचार करना होगा जिससे वस्तुस्थिति काफी स्पष्ट हो जायगी ।

छठी शताब्दी ई० पू० मे अनेक धार्मिक सम्प्रदायो का उदय हो चुका था । इनमे परिव्राजको का स्थान प्रमुख था । ये गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में घूमते थे और अपनी शिक्षाओ का प्रचार जनता मे करते थे । ये अन्य शिक्षको को भी वादविवाद के लिए आमन्त्रित करते थे । ऐसी अवस्था मे उनकी भाषा क्या थी यह सोचा जा सकता है । निश्चय ही उनकी भाषा लोक-भाषा या इससे काफी मिलती-जुलती भाषा रही होगी । साथ ही इन परिव्राजको की भाषा का प्रचार एव विकास भी काफी सम्भव था, क्योकि ये देश के बहुत बडे भाग मे निरन्तर भ्रमण किया करते थे ।

साहित्य—पालिग्रन्थ—विचाराधीन काल मे हिन्दू, जैन तथा बौद्ध सिद्धान्तो को लिपिबद्ध करने का प्रयास सम्बन्धित धर्मावलम्बियो ने किया होगा, क्योकि अब तक लिपि का पर्याप्त विकास हो चुका था । हिन्दू ग्रन्थो के सम्बन्ध मे पहले ही विचार किया जा चुका है, जैन ग्रन्थो की रचना सम्भवत इस काल मे नही हो सकी थी, यद्यपि जैनी अपने धार्मिक ग्रथो की प्राचीनता घोषित करते हैं । प्राचीन बौद्ध ग्रथ पालि में हैं और इनकी रचना तिथि के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है । अनुमानत इनकी रचना पाचवी शताब्दी ई० पू० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण के बीच में हुई । कुछ पुरातात्विक प्रमाणो (भरहुत सांची आदि के अभिलेख) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मौर्य तथा शुगवश के उत्थान के पूर्व धर्म और विनय की रचना हो रही थी । साहित्यिक साक्ष्य मिलिन्दपन्हो से भी यह ज्ञात होता है कि तीनो पिटक तथा पाँचो निकाय उसके पूर्व विद्यमान थे । महावग्ग तथा चुल्लवग्ग की रचना अशोक के पूर्व हो चुकी होगी, क्योकि तृतीय बौद्ध सगीति के सम्बन्ध मे ये मौन हैं । चुल्लवग्ग मे सुत्तविभग तथा पाँचो निकाय का उल्लेख किया गया है । अत ये ग्रथ और भी प्राचीन सिद्ध होते हैं । त्रिपिटक मे से अन्तिम अभिधम्मपिटक का उल्लेख उक्त ग्रथ मे नही है । अत छठी शताब्दी ई० पू० के शीघ्र पश्चात् से लेकर ३५० ई० पू० के बीच मे विनयपिटक के पर्याप्त भाग तथा सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायो की रचना हो चुकी थी ।

---

१ देखिये *Buddhist India*, pp 74-75

डाक्टर ला ने धार्मिक पाली ग्रंथो की अनुक्रमणिका का गहन अध्ययन करने के पश्चात् इनको इनकी प्राचीनता के आधार पर इस प्रकार रक्खा है—

(१) बौद्ध सिद्धान्तो का सरल विवरण जिनकी पुनरावृत्ति अब सभी पुस्तको के पदो या अनुच्छेदो में उन्हीं शब्दो मे पाई जाती है।

(२) उपाख्यान जो अब भी दो या अधिक उपलब्ध पुस्तको मे समान शब्दो में मिलते हैं।

(३) सील, भूमिका छोडकर १६ कविताओ का सग्रह, पारायण, चार या सोलह कविताओ का सग्रह, अट्ठक, सिक्खपाद।

(४) दीघ प्रथम भाग, मज्झिम, सयुत्त, अगुत्तर तथा १५२ नियमो से युक्त प्रारम्भिक पातिमोक्ख।

(५) दीघ भाग द्वितीय तथा तृतीय, थेरा थेरी गाथा ५०० जातक, सुत्तविभग पतिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञति तथा विभग

(६) महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख(२२७ नियम), विमानवत्यु, पेतवत्यु, धम्मपद कथावत्यु।

(७) चुल्ल तथा महानिद्देस, उदान इतिवत्तक, सुत्त निपात, धातुकथा, यमक पट्ठान।

(८) बुद्धवस, चर्यापिटक, अपदान।

(९) परिवार पाठ।

(१०) खुद्दक पाठ

धार्मिक साहित्य के इतर अन्य पाली साहित्य की रचना भी हुई किन्तु वह काफी बाद की रचना है। प्रारम्भ मे लोगो की प्रवृत्ति धार्मिक ग्रथो की ओर ही रही है।

छठी शताब्दी ई० पू० के कुछ प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय

पिछले पृष्ठो मे हमने महावीर तथा गौतम बुद्ध के विषय में प्रकाश डाला है, वास्तव मे बौद्धिक क्रान्ति का इतिहास न तो उक्त दो धार्मिक नेताओ तक ही सीमित है और न इससे ही इसकी इतिश्री होती है। महावीर तथा गौतम के पूर्व तथा उनके समय मे भी भारत मे अनेक विचारको के सम्प्रदाय विद्यमान थे। इन सम्प्रदायो की सख्या अतिरजित रूप मे बताई जाती है। पाली ग्रथ 'ब्रह्मजाल' मे बताया गया है कि जिस समय भगवान बुद्ध ने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया उस समय देश मे ६२ विभिन्न सम्प्रदाय थे। जैन ग्रथ सूत्रकृताग मे तो यह सख्या ३६३ बताई गई है। किन्तु ये दोनो सख्यायें अतिरजित लगती हैं। जान पडता है कि जैन तथा बौद्ध ग्रथकारो ने सम्प्रदायो की वास्तविक सख्या मे असख्य भावी सम्प्रदायो की सख्या भी जोड दी है जिससे उन सम्प्रदायो की भी कटु आलोचना हो जाय और भविष्य मे भी कोई व्यक्ति इन धर्मों (जैन-बौद्ध) के इतर किसी धर्म को स्वीकार न करे। वास्तविकता जो भी हो इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उक्त दोनो धर्मों के उदय होने के पूर्व भी देश मे कुछ अन्य धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान थे और 'अगुत्तर निकाय की तालिका जिसमे दस सम्प्रदायो का उल्लेख किया गया है, काफी प्रामाणिक है। तालिक इस प्रकार है—

(१) आजीविक,
(२) निगण्ठ (निर्ग्रन्थ),
(३) मुण्डसावक,
(४) जटिलक,
(५) परिव्राजक,
(६) मागन्धिक,
(७) तेदान्दिक,
(८) अविरुद्धक,
(९) गोतमक तथा
(१०) देवधम्मिक ।

नीचे इनकी विशेषतायें सक्षेप मे बताई जायेंगी—

(१) आजीविक—इस सम्प्रदाय के अनुयायी नग्न रहा करते थे और जीविकोपार्जन के सम्बन्ध मे विशेष जटिल नियमो एव विधियो का अनुसरण करते थ ।

(२) निगण्ठ (निग्रन्थ)—जैन मतावलम्बियो को निग्रन्थ कहा गया है ।

(३) मुण्डसावक—बुद्धघोष ने निग्रन्थ तथा मुण्डसावक सम्प्रदाय को एक ही सम्प्रदाय स्वीकार किया है ।

(४) जटिलक—ये ब्राह्मण थे और अपनी जटा बढ़ाये रहते निकट उरुवेला मे इनका प्रमुख केन्द्र था ।

(५) परिव्राजक—ये भी ब्राह्मण-समाज के अन्तगत ही थे और सन्यास ग्रहण करके इधर उधर घूमा करते थे ।

(६) मागन्धिक—बौद्ध ग्रथो मे इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है ।

(७) तेदण्डिक—सिर के बाल मुडाये तथा हाथ में दण्ड लिये चलने वाले ब्राह्मण भिक्षुओं को यह नाम दिया गया था ।

(८) अविरुद्धक—इनके सम्बन्ध मे केवल इतना ज्ञात है कि ये स्वय को सबका मित्र घोषित करते थे और किसी का विरोध नही करते थे ।

(९) गोतमक—ये 'गौतम के अनुयायी' थे, किन्तु इस गौतम से गौतम बुद्ध का अर्थ नही लेना चाहिए । ये महात्मा बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त के अनुयायी थे । देवदत्त तथा गौतम बुद्ध के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनकी सत्यता मे निश्चय ही सन्देह है पर इतना तो विश्वास किया ही जा सकता है कि देवदत्त ने गौतम बुद्ध के विरुद्ध एक पृथक् सम्प्रदाय खड़ा किया था ।

(१०) देवधम्मिक—जो देवताओ के धम को मानते थे, उन्हें देवधम्मिक कहते थे किन्तु इसका अभिप्राय किस सम्प्रदाय से है यह अब तक स्पष्ट नही हो सका है ।

आत्मा के अस्तित्व (मृत्यु के उपरान्त), उसके चेतन-अचेतन होने, ससार के चिरन्तन होने अथवा न होने इसके असीम अथवा निस्सीम होने, वस्तुओ की उत्पत्ति के कारण अकारण आदि समस्याओ पर विभिन्न दार्शनिक चिन्तन और वाद-विवाद किया करते थे । 'ब्रह्मजालसूत्र' मे उन समस्याओ की एक सूची दी गई है जिन पर श्रमण, ब्राह्मण, परिव्राजक आदि चिन्तन किया करते थे । समस्याओ के सम्बन्ध मे गहन चिन्तन के पश्चात जो सिद्धान्त निश्चित किये जाते थे उन्हें 'वाद' की सज्ञा दी जाती थी और उनके अनुयायियो को 'वादिन्' कहा जाता था । मगध ही इस दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र था । हमे कुछ 'वादो के सम्बन्ध मे कुछ सामग्रियाँ प्राप्त हैं, जिनका सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है ।

कालवाद जिसके अनुसार काल या समय ही सृष्टि का मूल है और यही इसका नियामक है ।

स्वभाववाद जिसके अनुसार बिना किसी कारण के ही वस्तुओं की उत्पत्ति स्वभावत होती है।

नियतिवाद जो ससार की समस्त घटनाओ को नियति का प्रतिफल मानता है—एक सुनिश्चित व्यवस्था का परिणाम स्वीकार करता है।

यदृच्छावाद जिसके अनुसार सयोग (chance) ही प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के मूल मे है, कारण का इसमे कोई हाथ नही है।

बौद्ध ग्रथो मे अबौद्ध सम्प्रदाय के छ प्रसिद्ध नेताओ के नाम दिये गये हैं और वे 'तित्थकर' (सम्प्रदायो के जन्मदाता) कहे गये हैं। बौद्ध ग्रथो मे इन धार्मिक नेताओ का विवरण प्रभावोत्पादक रूप मे दिया गया है।[1]

ये नेता भगवान बुद्ध से पहले के थे, क्योकि स्वय बौद्ध ग्रथो ने यह स्वीकार किया है कि उनकी तुलना मे बुद्ध कम आयु के थे और धार्मिक जीवन मे अभी बिल्कुल नये थे। नीचे इन धार्मिक नेताओ पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जायगा —

(१) पुराण-कस्सप—इन्होने अकार्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसके अनुसार न तो भले एव शुभ कार्य करने मे कोई पुण्य और न किसी की हत्या करने से कोई अशुभ काय होता है। पुराण कस्सप किसी प्रकार के शुभ-अशुभ काय की आवश्यकता मे विश्वास नही करते थे, अत काय की नैतिकता अथवा अनैतिकता उनके लिए कोई महत्त्व नही रखती थी। ये ब्राह्मण थ और कहा जाता है कि अपने ज्ञान की पूणता के कारण ही इनका 'पुराण' नाम पड़ा था। इनके ८० हजार अनुयायी थे।

(२) मक्खलि गोसाल—इन्होंने कम और उसके प्रभाव दोनो का खण्डन किया है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य के चरित्र मे दोष और दूषण आ सकते हैं किन्तु पुनर्जन्म ही उनके दूर करने का प्रमुख साधन है। मक्खलि गोसाल न मनुष्य के भी जीवन तथा चरित्र पर उसके शुभाशुभ कर्मों का प्रभाव स्वीकार नहीं किया है। उनके मतानुसार चौरासी लाख योनियो मे निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्र मे पड़े रहने से मूख तथा विद्वान् सभी अपने दुख से छुटकारा पा लेंगे। मक्खलि गोसाल के अनुयायी 'आजीविक' कहलाते थे। अशोक के समय मे भी इनका अस्तित्व महत्त्वपूण था तथा तरह्वी शताब्दी के अभिलेखो तक मे इनका उल्लेख किया गया है। इस सम्प्रदाय के सत्यापक वृत्त प्राप्त होते हैं किन्तु यह आजीविका द्वारा लिखे हुए न होकर मक्खलि गोसाल के आलोचकों द्वारा लिखे गये हैं।

(३) अजित केसकम्बलिन—इनका मत था कि मृत्यु के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है और कम द्वारा किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है। "शरीर के विनष्ट हो जाने पर मूख तथा विद्वान् सभी समान रूप से विनष्ट हो जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् वे नही रह जाते।" अजित केसकम्बलिन् का सिद्धान्त 'उच्छेदवाद' कहलाता है।

(४) पकुधच्च कच्चायन—इनका सिद्धान्त था 'सतोनिच्च विनासी असतोनत्थि सम्भवो' अर्थात् जो कुछ है उसका विनाश नहीं किया जा सकता और जो नहीं है उसकी

१ 'समन ब्राह्मण सघिनोगणिनोगणाचार्य ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधु-सम्मता बहुजनाय, अर्थात् 'श्रमण तथा ब्राह्मण धार्मिक नेता सम्प्रदायाध्यक्ष सम्प्रदायाचार्य तथा सम्प्रदायों के जन्मदाता के रूप मे विख्यात तथा बहुत से लोगों द्वारा सम्मानित' इस प्रकार उनका प्रभावपूर्ण विवरण बौद्ध ग्रन्थों में दिया है जिससे उनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति का बोध होता है।

दायित्व का खण्डन करते हुए
(होने की) सम्भावना नहीं। इन्होंने व्यक्तिगत उत्त। (१) भूमि (२) जल, (३)
सात स्थायी पदार्थों के अस्तित्व की कल्पना की है गया है।
अग्नि, (४) वायु, (५) सुख, (६) वेदना तथा (७) आत्मा के कारण ही इन्हें निगन्थ

(५) निगन्थनातपुत्त—समस्त बन्धनों से मुक्त हो
(निर्ग्रन्थ) कहा जाता था। ये जैन धर्म के संस्थापक थे प्रश्नों का विचित्र उत्तर ढूंढ

(६) संजय बेलट्ठपुत्त—इन्होंने अनेक जटिल और चिन्तन का विषय बने हुए
निकाला जो मगध के प्राचीन निवासियों के लिए तर्क अ रिणाम होता है' इसके उत्तर
थे। उदाहरणार्थ 'क्या अच्छे और बुरे कर्मों का कोई प
में इन्होंने कहा— । है, (३) परिणाम होता भी

(१) परिणाम होता है, (२) परिणाम नहीं होताऔर न यही है कि परिणाम न
है और नहीं भी होता है, (४) न तो परिणाम होता है ओ सम्भावना है, यह स्पष्ट ही
हो। संजय के उक्त प्रकार के उत्तरों में बचाव की वितन चाहते थे।
है। सम्भवत वे कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहनानात्मक दृष्टि डालने से यह

उपरोक्त धार्मिक नेताओं के सिद्धान्तों पर आलोक्त साम्य है। ये भाग्यवादी,
ज्ञात होता है कि प्रथम चार नेताओं के विचारों में पर्याप्त सब ने मनुष्य के व्यक्तिगत
भौतिकवादी या अपने शब्दों में ही अक्रियावादी थे। इन पूर्ण खण्डन किया है, किन्तु
उत्तरदायित्व तथा उसके शुभाशुभ कर्मों के गुणावगुणों का थे। वे पुनर्जन्म का कारण
वे पुनर्जन्म में विश्वास करते थे और तपस्या भी करते
प्राकृतिक नियम को ही मानते हैं न कि कर्मों को। छ अन्य धार्मिक नेताओं के

बौद्ध पाली ग्रंथों में इन छः नेताओं के अतिरिक्त कु लिए काफी विख्यात थे।
नाम भी प्राप्त होते हैं जो अपनी साधुता और शुद्धता केलता है जिनके सोलह शिष्य
गोदावरी-तट पर एक बावारि नामक ब्राह्मण का उल्लेख मि तथा संस्कृत के केन्द्रों का
थे और इनके भी बहुत से अनुयायी थे। ये सदैव विद्य
भ्रमण किया करते थे।

भागवत सम्प्रदाय

मसामयिक ब्राह्मण ग्रंथों से
बुद्धकालीन ब्राह्मण धर्म की स्थिति का बोध हमें स कि ब्राह्मण धर्म में जिस
होता है। संहिताओं तथा परवर्ती उपनिषदों से ज्ञात होता है चरम विकास प्राप्त इसी
भागवत सम्प्रदाय का उदय उपनिषदों के युग में हुआ था उसदाय चलता है। वासुदेव
युग में होता है। इस समय पाचरात्रिक नाम से यह सम्प्रहत्त्व मिलना आरम्भ हो
इस सम्प्रदाय के आराध्य देव थे।' भगवान कृष्ण को भी विशेषता रही। उस समय
जाता है। भक्ति तत्त्व की प्रधानता ही इस ब्राह्मण धर्म की
निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति प्रचलित थी। मम्बन्ध में भी कुछ महत्त्व-

ऊपर आजीविकों का जो उल्लेख किया गया है उनके सूत्र' (४०० ई० पूर्व)
पूर्ण तथ्यों का विवेचन यहीं कर लेना आवश्यक है। 'भगवत वरण मिलता है, उसमें
में महावीर तथा आजीविक मक्खलि गोसाल की यात्रा का जो तथा गोसाल की चार
अनेक स्थानों पर वासुदेव व बलदेव के मन्दिरों का उल्लेख है ने आजीविकों का जो
घटनायें वैष्णव मन्दिरों में ही घटित बताई गई हैं। वराहमिहि यह व्याख्या की है—
उल्लेख किया है और उसके टीकाकार उत्पल ने उसकी जा कन महोदय ने आजी-
'अश्ववृद्धसावक ग्रहणम माहेश्वर आश्रितानाम', इसके आधार प ययन किया था। किन्तु
विकों को कट्टर वैष्णव कहा था और बूह्लर ने इस मत का स

डॉ० डी० आर० भण्डारकर ने इस मत का ओरदार खण्डन किया है और डॉ० बरुआ ने तदय उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है। डॉ० भण्डारकर ने उत्पल भाष्य की उस व्याख्या की भयकर भूल के सुधार द्वारा बहुत बड़ी सेवा की है, जिसने प्रो० कन तथा बुह्लर और उद्भट सस्कृत पडितो को यह सोचने की प्रेरणा दी थी कि आजीविक नारायण के उपासक अर्थात् भागवत थे।

बौद्ध धर्म का इतिहास एक आलोचनात्मक अध्ययन

महात्मा बुद्ध को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ। एक नूतन प्रतिभा मस्तिक को हस्तगत हुई। ससार के प्रति अब उनकी एक अभिनव दृष्टि उपस्थित हुई। वस्तुत यह एक क्रान्ति थी। महात्मा बुद्ध के जीवन मे पूर्णतया परिवर्तन था। तथागत आनन्द-विभोर हो उठे। उन्होंने एक विचित्र विजय प्राप्त की थी। सर एडविन एरनोल्ड (Sir Edwin Arnold) ने महात्मा बुद्ध के मुखारविन्दु मे इस अपूर्व अवसर पर निम्नाकित शब्द कहलाए हैं—

Many a house of life
Hath held me seeking ever him who wrought
These prisons of the senses, sorrow fraught,
Sore was my ceaseless strife!
But now,
Thou builder of this Tabernacle—Thou!
I know Thee! Never shalt thou build again
These walls of pain,
Nor raise the roof tree of deceits, nor lay
Fresh rafters on the clay,
Broken Thy house is, and the ridge pole split!
Defusion fashioned it!
Safe pass I thence deliverance to obtain

इस अप्रतिम ज्ञान चक्षु से सयुक्त हो महात्मा बुद्ध ने विश्व के कल्याण के लिए अपना अमूल्य ज्ञान वितरित करने का निश्चय किया। धम्म के ही प्रचार के लिए इस मानवताप्रेमी ऋषि ने देश के कोने कोने मे पदयात्राएँ की। इस महर्षि ने यह घोषणा करवा दी—

"विश्व के अन्धकार मे, मैं अमरत्व की ढोल पीटूगा।" सबसे प्रथम प्रवचन के पात्र थे वे पाच उनके सहयोगी जिन्होंने कि तथागत का साथ कुछ मास पूर्व छोड दिया था। वाराणसी की ओर प्रयाण कर सारनाथ नामक स्थान पर जुलाई की पूर्णमासी को उन्होंने 'धर्मचक्र-प्रवर्तनसूत्र' किया। इस प्रवचन मे तथागत ने तप तथा योग के दो अतिमार्गों की ओर, मध्यम मार्ग की ओर, जो मधुर मध्यम पथ इन दो अतियो के मध्य स्थित है, इन शिष्यो की दृष्टि आकर्षित की। उसने चार सत्यो की शिक्षा दी। दुख एव दुख का कारण, दुख का निरोध तथा दुख के निरोध के लिए अष्टागिक मार्ग का उल्लेख किया। कोण्डञ महात्मा बुद्ध का प्रथम शिष्य बना। महात्मा बुद्ध का यह धर्म "प्रारम्भ मे गौरवशाली, मध्य मे गौरवशाली, अन्त में गौरवशाली था।

धीरे धीरे तथागत के अनुयायियो की सख्या मे वृद्धि हुई। इस महान् धर्म प्रचारक के शिष्य अपने गुरु के विचारो से पूर्ण प्रभावित हो अपना सर्वस्व ही बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लगाने के लिए तत्पर हो उठे। इन शिष्यो ने जिस कर्मठशीलता, त्याग,

साहस एव लगन का परिचय दिया है, वह इतिहास मे बेजोड है। बौद्ध धम के विस्तृत प्रचार का यही रहस्य है। महात्मा तथागत ने अपने शिष्यो को धम प्रचार के लिए आह्वान करते हुए कहा था।

"हे भिक्षुओ, विश्व के प्रति करुणा से युक्त बहुतो के कल्याण के लिए, बहुतो के लाभ के लिए, मानवता तथा देवताओ की भलाई, लाभ एव कल्याण के लिए, अपनी यात्रा पर प्रयास करो।"

महात्मा बुद्ध के अनुयायियो ने जहाँ इस स्थानीय धम को विश्वव्यापी धम बना दिया। इसे चीन, जापान, कोरिया, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, बर्मा, लका तथा वियत नाम में फैला दिया, वहाँ तथागत ने भी अपने जीवन पयन्त अपने धम के प्रचार के लिए विभिन्न स्थलो मे पदयात्राए की। उनके इस अध्यवसायी जीवन से ही उनके शिष्यो को प्रेरणा मिली थी। देवदत्त नामक एक शिष्य ने तथागत के जीवन मे ही सघ मे फूट डालने का प्रयास किया था। मोग्गल्लान तथा सारिपुत्त नामक बुद्ध के शिष्यो ने इस दरार डालने वाले को अपने तर्कों से प्रभावित कर उसे पुन बौद्ध सघ मे आने के लिए उत्साहित किया। देवदत्त अत मे सघ का सदस्य बन गया और अपनी मृत्युपयन्त बौद्ध धम का प्रचार करता रहा। इस प्रकार बौद्ध धम मे फूट का आविर्भाव न हो सका। ४५ वर्षों तक महात्मा बुद्ध ने इस धर्म का प्रचार किया और अत मे पावा नामक स्थान पर वह निर्वाण को प्राप्त हुए। तथागत के अन्तिम शब्द थे—

"Decay is inherent in all component things ! Work out your own salvation with diligence"

ससार की नश्वरता का ढिंढोरा पीटते हुए महात्मा बुद्ध भी काल के ग्रास बन गए। अस्थिरता की वायु द्वारा बुद्ध के प्रकाश को शान्त कर दिए जाने पर पुन ससार अधकार के वातावरण मे खो गया। मत भेदो एव व्यक्तिगत व्याख्याओ ने इस धम्म मे एक लहर सी मचा दी। धर्म प्रवतक की मृत्यु के उपरान्त धर्मानुयायियो में विभिन्न विषयो पर मतमतान्तर प्रारम्भ हो गए। तथागत के जीवन मे ही देवदत्त ने अपनी विशिष्ट परम्परा अपना कर इस क्षेत्र मे—इन विघटनकारी प्रवृत्तियों मे—एक जीवन-सा फूक दिया था। यद्यपि तथागत के जीते जी यह फूट क्रियान्वित नही हो सकी थी। लेकिन आन्तरिक मतभेदों को तब स्वण अवसर प्राप्त हुआ जब कि गौतम बुद्ध का प्रभावशाली हाथ उन पर से सदैव के लिए उठ गया।

सघ का एक अधिवेशन आमन्त्रित किया गया जिससे कि पिटको के मूल रूप निर्धारित किये जायें। यह अधिवेशन राजगह (राजगृह) मे हुआ था। कस्सप ने इस सम्मेलन का सभापतित्व किया। उपालि ने विनयपिटक का सशोधन किया। उपालि सबसे वयोवृद्ध शिष्य था। उसे सघ के अनुशासन के नियमो का पूर्ण परिचय था। आनन्द ने सुत्त पिटक का सकलन किया। यह पिटक प्रवचनों का सार है। कस्सप ने अभिधम्म पिटक का सम्पादन किया। यह पिटक बौद्ध धर्म के आधिभौतिक मनोविज्ञान एव दर्शन का सग्रह है।

परन्तु सगीतियो की शृखला का यह प्रारम्भ था। १०० वष वशाली मे बौद्ध धम की दूसरी सगीति का सम्मेलन हुआ। सघ के एक सम्प्रदाय न अब बौद्ध धर्म के कठोर नियमों मे कुछ शिथिलता किए जाने की माँग की। यह दल युग की माँग के अनुसार धम्म मे भी कुछ सशोधन का अभिलाषी था। यह प्रगतिवादी-दल महासघिक नाम से विख्यात है। अन्त मे अपने ध्येय मे असफल हो जाने पर इन्होंने बौद्ध धर्म से

अपने को अलग कर लिया । स्थविरो का इस प्रकार से बौद्ध धर्म के दृ
प्रभुत्व स्थापित रहा । यही स्थविर आधुनिक काल मे थेरवादिन के नाम से

लेकिन बौद्ध सघ मे इस भीषण दरार का कारण था दोनो दलो में
पूर्ण सैद्धान्तिक मतभेद । स्थविरो एव महासघियो मे बुद्धत्व प्राप्त करने
विभिन्न मत थे । स्थविरो का मत था कि बुद्धत्व तभी प्राप्त हो सकता है
का कठोरता से पालन किया जाय । महात्मा बुद्ध के द्वारा निर्देशित मार्ग
पूर्वक अनुगमन किया जाय । लेकिन महासघिको के अनुसार बुद्धत्व पूर्व
मे विद्यमान है । उसका केवल विकास ही होना चाहिये । महासघिको ने
अपने को पृथक् कर अपने अनुयायियो का एक सम्मेलन आमत्रित किया
महात्मा बुद्ध के मरने के १०० वर्ष पश्चात ही उनका धर्म दो स
विभाजित हो गया ।

इस सगीति के पश्चात बौद्ध धर्म का इतिहास लगभग १०० वर्षो
एव अनिश्चय के वातावरण मे पनपा । हमको इस शताब्दी के बौद्ध धर्म
कुछ भी प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध नही है । इस अधकारपूर्ण आवरण को
था सम्राट अशोक । २७० ई० पू० मे यह महान् नरेश भारत का शासक
कलिंग के सग्राम के पश्चात् यह विजेता धम्म का उपासक बन गया ।
अपने धर्मानुराग के कारण इस स्थानीय धर्म का विश्वव्यापी धर्म बना
धम्म था दया एव सहानुभूति का, समस्त जीवो के लिए बन्धुत्व स्न
एव सत्य का एव श्रेष्ठ जीवन के लिए अथक प्रयास का । उसने अपनी
अपने जीवन निर्वाह द्वारा एक आदर्श भी उपस्थित किया । उसने उनके
खुलवाये । कूप एव सरोवर खुदवाये । प्रत्येक स्थल पर गौरवशाली स्तूप
की । इन मानवताप्रिय कार्यों से अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति मानवमात्र
बढाया । शीघ्र ही यह धर्म भारत का प्रमुख धर्म बन गया

अशोक ने केवल धर्म प्रचार का ही कार्य नही किया, बल्कि उस
पडते हुए विभाजनो को भी दूर करने की जीतोड कोशिश की । पाट
बौद्ध विद्वानों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया । यह सम्मेलन बौद्ध
सगीति के नाम से विख्यात है । तिस्स इस सगीति का सभापति था ।
का पुत्र था । ब्राह्मण धर्म के अनुयायी बौद्ध धर्म मे नाना प्रकार के आ
प्रयत्नशील थे । इन कर्मकाण्डी प्रवृत्तियो से सघ को सुरक्षित रखने के लि
ने एक बार फिर से पिटको का सशोधन एव पुष्ट करने की अनिवा
किया था । यही सब कारण थे जिनसे विवश हो महान सम्राट ने अपने
यह सम्मेलन आमन्त्रित किया था । कुछ विद्वानो ने इस सगीति की प्राम
सन्देह उपस्थित किया है । इन विद्वानो के मत का आधार है उत्तरी मिद
मे इस सगीति का न उल्लिखित होना । ऐसा प्रतीत होता है कि यह अ
थेरवादिनो के ही द्वारा सचालित हुआ था । इस प्रकार बौद्ध धर्म मे
प्रतीति एक सार्वजनिक तथ्य बन गया था ।

इस परिस्थिति से लाभ उठा ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियावादी श
में प्रवेश पाने को आतुर हो रही थीं । अशोक की मृत्यु ने इन शक्तियो
फूक दिया । वे सिद्धान्त, जिनके लिए बौद्ध धर्म का अपना विशिष्ट स्थान
महत्त्व खोने लगे । इनके स्थान पर ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तो ने जिनसे
को अत्यधिक चिढ थी, बौद्ध धर्म में अपना घर करना आरम्भ कर,

न पर पूर्ण
प्रसिद्ध हैं ।
कुछ महत्त्व
साधना मे
जब नियमो
का दृढता
से ही आत्मा
स्थविरो से
। इस प्रकार
ष्ट गुटो मे
तब अस्पष्ट
के विषय मे
र करने वाला
घोषित हुआ ।
तत्पश्चात् इसने
किया । उसका
है का, न्याय
जनता के लिए
चिकित्सालय
ो की रचना
का आकर्षण
ने धम्म' मे
लिपुत्र मे उसने
म की तृतीय
तिस्स मोग्गलि
डम्बर लाने मे
लए ही अशोक
रता का अनुभव
त्त्वावधान मे
णिकता मे भी
त के ग्रन्था
धवेशन केवल
भारी दरार की
तथ्यों बौद्ध धर्म
एक जीवन
था, अब अपना
महात्मा बुद्ध
दिया । ब्राह्मण

धर्म की अपनी इस सफलता के लिये बौद्ध धर्म की सहिष्णुता ही उत्तरदायी कही जा सकती है। उदार सत के उदार धर्म ने अपने मे प्रवेश पाती हुई कुरीतियों को नहीं रोका। इसी का परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही तथागत के धम्म में कई सम्प्रदाय हो गए। महायान के उदय मे इस तथ्य को आँखो से ओझल नहीं किया जा सकता। यद्यपि महायान के उदय के कारण और भी बहुत से हैं, लेकिन सर्वप्रमुख कारण तो हमने प्रस्तुत कर ही दिया है। अन्य कारणो को भी हम तर्कों सहित उपस्थित करने का प्रयास करेंगे। महायान तथा हीनयान शब्दो के मूल तथा अर्थ के विषय मे सदिग्धता है। 'यान' शब्द का साहित्यिक अर्थ होता है मार्ग, आवागमन का साधन या गाड़ी। 'महा' का अर्थ है 'बड़ा' तथा 'हीन' का अर्थ है 'छोटा'। इन शब्दों का आविष्कार महायानियो ने किया था, क्योकि उनके सिद्धान्तानुसार मानव मात्र को मोक्ष का अधिकार प्राप्त है। हीनयानियो ने अपने को थेरावदिन या स्थविरो के सिद्धान्त का अनुयायी कहा है। इनका दावा है कि वे महात्मा बुद्ध के द्वारा बताए गए मार्ग का ही प्रचार करते हैं और उनके निर्देशानुसार ही बोधत्व प्राप्त करते हैं।

महायान की उत्पत्ति—महायान की उत्पत्ति के विषय मे दो अतिमार्गी मत हैं। एक मत है कि यह महात्मा बुद्ध का व्यक्तिगत सिद्धान्त था जो उसने अपने अनुयायियो को दिया था। दूसरी ओर यह बौद्ध धर्म विरोधी निन्दनीय विचारो का सग्रह माना जाता है। इसी सग्रह ने महात्मा बुद्ध के शुद्ध सिद्धान्त को कलकित किया। दोनो अतिमार्गी मतो मे सत्यता का पर्याप्त अश है। महायान मत में किसी भी अन्य धर्म की तुलना मे अधिक मात्रा मे व्यक्तिगत प्रतिभा का सकलन है। इस मत ने 'नेत्र' के मुकाबले 'हृदय' को प्रमुख स्थान दिया है। इस प्रकार यह महात्मा बुद्ध के सदेश का मूल रूप है न कि उसका सशोधन या परिवर्द्धन। दूसरी ओर आधुनिक काल के महायान मे कई ऐसे सिद्धान्तो ने अपना स्थान कर लिया है जो कि महात्मा बुद्ध द्वारा बताए गए पथ से बिल्कुल विपरीत हैं। इस प्रकार हमने दोनो अतिमार्गियो मे सत्यता का अश पाया।

महायान की उत्पत्ति के लिए दूसरा ढग मनोवैज्ञानिक है। कई विद्वानो ने यह बात बड़े प्रभावशाली रूप से कही है कि महायान का उदय वस्तुत थेरवाद से एक विद्रोह था और यह विद्रोह अनिवार्य था। भारतीय जनजीवन हीनयान के नीरस एव नैतिक सिद्धातो से पूर्णतया असतुष्ट हो चुका था। वह इन कठोर प्रतिबन्धो से कुछ राहत चाहता था। दूसरी बात यह थी कि भारतीय मस्तिष्क ने रहस्यवादी तर्कों की श्रेष्ठतम प्राप्तियो को धरोहर के रूप मे प्राप्त किया था, अतएव उनका इस ओर उन्मुख होना स्वाभाविक था। हीनयान वस्तुत आत्म-सयम का, काव्य से शून्य रस का, आत्मिक उत्साह से एव हास्य के भाव से रहित जीवन का प्रेरक था। सामान्य जनता के लिए इन सिद्धातो मे कोई आकर्षण नहीं था। राधाकृष्णन (Radhakrishnan) ने भारतीय दर्शन (Indian Philosophy) मे हीनयान की वस्तुस्थिति इस प्रकार प्रकट की है—

'Such a cold, passionless metaphysics devoid of religious teaching could not long inspire enthusiasm and joy The Hinayana ignored the grouping of the spirit of man after something higher and wronged the spiritual side of man

इस प्रकार हीनयान का नकारात्मक दर्शन लोकप्रिय धर्म बनने मे समर्थ न हो सका। जनता जनार्दन कभी भी ऐसे धर्म का अनुगमन नहीं कर पाती जिसमें उसके दिन प्रतिदिन के जीवन म व्यर्थ के प्रतिबन्ध आरोपित किये जाते हैं। जनता की शक्ति एव सामर्थ्य के अन्तर्गत आए हुए धर्म ही जनता में प्रचलित होते हैं। अब जनता मे

अपने को अलग कर लिया। स्थविरो का इस प्रकार से बौद्ध धम के
प्रमुत्व स्थापित रहा। यही स्थविर आधुनिक काल मे थेरवादिन के ना

लेकिन बौद्ध सघ मे इस भीषण दरार का कारण था दोनो द
पूर्ण सैद्धान्तिक मतभेद। स्थविरो एव महासघियो के बुद्धत्व प्राप्त व
विभिन्न मत थे। स्थविरो का मत था कि बुद्धत्व तभी प्राप्त हो सक
का कठोरता से पालन किया जाय। महात्मा बुद्ध के द्वारा निर्देशित
पूर्वक अनुगमन किया जाय। लेकिन महासघिको के अनुसार बुद्ध
मे विद्यमान है। उसका केवल विकास ही होना चाहिये। महासघि
अपने को पृथक् कर अपने अनुयायियो का एक सम्मेलन आमन्त्रि
महात्मा बुद्ध के मरने के १०० वष पश्चात ही उनका धम
विभाजित हो गया।

इस सगीति के पश्चात् बौद्ध धम का इतिहास लगभग १
एव अनिश्चय के वातावरण मे पनपा। हमको इस शताब्दी के
कुछ भी प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध नही है। इस अधकारपूर्ण था
था सम्राट अशोक। २७० ई० पू० मे यह महान नरेश भारत
कलिंग के सग्राम के पश्चात् यह विजेता धम्म का उपासक ह
अपने विशेषानुराग के कारण इस स्थानीय धम को विश्वव्या
धम्म था दया एव सहानुभूति का, समस्त जीवो के लिए
एव सत्य का एव श्रेष्ठ जीवन के लिए अथक प्रयास का।
अपने जीवन निर्वाह द्वारा एक आदश भी उपस्थित किया
खुलवाये। कूप एव सरोवर खुदवाये। प्रत्येक स्थल पर र
की। इन मानवताप्रिय कार्यों से अशोक ने बौद्ध धम के
बढाया। शीघ्र ही यह धर्म भारत का प्रमुख धम बन ग

अशोक ने केवल धम प्रचार का ही काय नही
पडते हुए विभाजनो को भी दूर करने की जीतोड
बौद्ध विद्वानो का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया। यह
सगीति के नाम से विख्यात है। तिस्स इस सगीति
का पुत्र था। ब्राह्मण धम के अनुयायी बौद्ध धर्म म
प्रयत्नशील थे। इन कमकाण्डी प्रवत्तियो से सघ को
ने एक बार फिर से पिटको का सशोधन एव स
किया था। यही सब कारण थे जिनसे विवश हो र
यह सम्मेलन आमन्त्रित किया था। कुछ विद्वानो
सन्देह उपस्थित किया है। इन विद्वानों के मत म
मे इस सगीति का न उल्लिखित होना। ऐसा प्र
थेरवादिनो के ही द्वारा सचालित हुआ था।
प्रतीति एक सावजनिक तथ्य बन गया था।

इस परिस्थिति से लाभ उठा ब्राह्मण ध
मे प्रवेश पाने को आतुर हो रही थी। अशोक
फूक दिया। वे सिद्धान्त, जिनके लिए बौद्ध धर्म
महत्त्व खोने लगे। इनके स्थान पर ब्राह्मण धम
को अत्यधिक चिढ थी, बौद्ध धम में अप

"The Mahayana refused to be inhibited, the Hinayana was bound by the Canon The former was speculative, metaphysical, the latter rational and authoritarian The Mahayana was fearless in its logic and its mystical flights, the Theravada was content to be the guardia of Dhamman as handed down The closed circle of intense self-development became a religion for all, and a formula of salvation branched out into a heterogeneous mixture of apparently opposed and incompatible teaching"

चतुर्थ संगीति—अशोक की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध धर्म का इतिहास पुन अंधकार युग मे प्रवेश करता है। नागसेन तथा मिलिन्द के 'वार्त्तालापो' म जाकर यह अंधकार नष्ट हो जाता है। मिलिन्द ग्रीक-बक्ट्रियन नरेश मिनेण्डर (Menander) था। यह नरेश ईसा पूर्व प्रथम या दूसरी शताब्दी मे भारत आया था। "मिलिन्द प्रश्न" मे नागसेन ने स्थविरो के अनुसार बौद्धधर्म की व्याख्या की है। लेकिन इस पुस्तक मे हमे महायान के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धांत भी प्राप्त होते हैं। एक तो है विश्वास के आधार पर निर्वाण तथा दूसरा बोधिसत्व सिद्धांत। मिलिन्द के शासन के शीघ्र पश्चात भारत मे कुषाणो का प्रभुत्व स्थापित हुआ। कनिष्क इस वश का सबसे महान् सम्राट था। इसका शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी माना जाता है। इसने बौद्धधर्म के प्रचार मे अशोक-जैसी लगन प्रदर्शित की और उसी नरेश के पदचिह्नो का अनुगमन करते हुए एक संगीति का आयोजन भी किया। यह संगीति चतुर्थ संगीति के नाम से विख्यात है। महायान सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व अशोक द्वारा बुलाई गई सभा में नहीं था, अतएव उन्होंने उस सभा का अपनी पुस्तको मे उल्लेख ही नही किया है, लेकिन इस सम्मेलन में महायान सम्प्रदाय की पूरी छाप थी। केवल थेरवादियो के एक छोटे से सम्प्रदाय ने, जिसे सारवस्तिवादिन कहा जाता है, इस सम्मेलन मे सहयोग दिया था। इस अधिवेशन द्वारा कनिष्क महायान एव हीनयान की बढ़ती हुई खाई को पाटने का प्रयास करना चाहता था लेकिन सम्राट् अपने उद्देश्य मे आंशिक रूप मे ही सफल हुआ। ललित विस्तर नामक ग्रंथ ने कनिष्क की इस भावना को काफी ठेस पहुँचाई थी।

भारत मे बौद्ध धर्म का ह्रास

ईसा की सातवी शताब्दी के आते-आते बौद्ध धर्म का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। भारत के जनमानस मे बौद्ध धर्म अपना स्थायी घर न बना सका। हिन्दू धर्म ने अपनी पतनोन्मुख अवस्था से ऊपर उठकर पुन राष्ट्रीय धर्म का एक रूप ग्रहण किया। यद्यपि हर्ष ने बौद्ध धर्म के जीर्ण भवन का पुनरोद्धार कराने का प्रयास किया था लेकिन हिन्दू धर्म के उदित होते हुए उत्साह के सम्मुख इस नरेश के ये प्रयास असफल ही रहे। हूणो ने बौद्धधर्म की शोचनीय अवस्था को और भी गम्भीर रूप प्रदान किया। उन्होंने मठो स्तूपो को लूटा-खसोटा और उन्हें अग्नि देवता की भेंट चढा दी। ह्वेनसांग जो भारत मे सातवी शती मे आया था, इस चिंताजनक स्थिति से हम अवगत कराता है। इत्सिंग (सातवी शताब्दी के अंत में) बौद्धधर्म की मृत्यु पर आँसू गिराता हुआ खेद व्यक्त करता है। पाल वंश के अंतर्गत बौद्धधर्म की झलक फिर से एक बार हमारे सम्मुख उपस्थित हुई। लेकिन १००० ईसवी के आते मुसलमानो को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए बौद्धधर्म के कम ही स्मारक प्राप्त हुए थे। इसका कारण था भारत से बौद्धधर्म का द्रुतगति से पलायन। यद्यपि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि मे सातवी शताब्दी मे पतनोन्मुख हो गया था, लेकिन देश के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो मे यह अब भी फलफूल रहा था और चीन, जापान, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, बर्मा एव लंका मे १४वी शताब्दी तक प्रमुख धर्म रहा और अब भी यह कई देशो का राष्ट्रीय धर्म है।

कोई कठोर नियमो वाला धर्म लोकप्रिय हो जाये तो अनिवार्य रूप से जनपुञ्ज उन नियमो में शिथिलता ला देता है। जब बौद्ध धम विश्वव्यापी धर्म बन गया और उसकी आत्मा का क्षेत्र सकुचित नही रह गया तो जन अभिलाषाओ के अनुसार उसका ढाला जाना अनिवार्य बन गया। हीनयान की कठोरता विध्वस कर दी गई। अब एक उदार तथा आत्म-सयमी जीवन के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण वाले धर्म की उत्पत्ति आवश्यक हो गई। यही रूप महायान मे निखर आया।

सम्राट् अशोक की मृत्यु के १०० वष मे ही बौद्ध धर्म म क्रातिकारी परिवर्तन हो गये। अब उन सिद्धातो ने भी इस धम मे प्रवेश पा लिया जिसके लिए इस धर्म के प्रवर्त्तक ने आजीवन सग्राम किया था। महात्मा बुद्ध को मनुष्यत्व पद से उठाकर उनमें देवत्व की स्थापना कर दी गई। अब बौद्ध धम मे विभिन्न देवी-देवताओ ने अपना प्रवेश पा लिया। हिन्दू धर्म ने इस नए परिवतन मे अपना प्रभावकारी हाथ दिखाया था। अर्हत सिद्धात ने, जिसमे एक मनुष्य दुगम प्रयत्नो से से बुद्धत्व को प्राप्त है, अब बोधिसत्व का रूप लिया। यह बोधिसत्व मानवमात्र के कल्याण के लिए है। अब प्रज्ञा के स्थान पर करुणा का स्थान सर्वोपरि हो गया। अब मोक्ष प्राप्ति के लिए विश्वास का सहारा लिया गया। अन्यो के कल्याण के लिए अपने पुण्यो के स्थानान्तरण का विधान किया गया। भक्ति-योग को व्यावहारिक रूप दिया गया। अब थेरवाद के नकारात्मक दशन के स्थान पर अमर सिद्धातो का सकारात्मक रूप उपस्थित किया गया।

इतने क्रान्तिकारी परिवतनो के होते हुए भी कभी भी महायान ने यह मत प्रचारित नही किया कि उसे थेरवाद या उसके किसी अश पर आपत्ति है। उसने हीनयान का कभी भी तिरस्कार नही किया। चीन एव जापान मे अब भी कितने सम्प्रदाय हैं जो पाली ग्रथो का स्वाध्याय करते हैं। मैकगवन (McGovern)ने 'महायान बौद्धधम की भूमिका' (Introduction to Mahayan Buddhism) मे लिखा है—

"While Hinayana regards Mahayana as a *corruption* of the original Buddhism, or at the best a false and decadent branch, Mahayana regards Hinayana not as false or contrary to true Buddhism but simply as incomplete or the superficial doctrine which Sakyamuni taught to those who were incapable of comprehending the more profound truths of Mahayana"

यही नही, महायानियो ने कभी भी अपने को एक पृथक धम की सज्ञा नहीं दी है। उन्होंने अपने धर्म को हीनयान का विस्तार ही कहा है। श्री जान ब्लोफेल्ड (John Blofeld) ने अपनी पुस्तक 'The Huang Po Doctrine of Universal *Mind*' की भूमिका मे लिखा है—

"The Hinayana view is that Mahayana is a later development which constitutes a great departure from the real teaching of the Buddha The Mahayana view is that the Buddha taught various aspects of truth at different stages in his life specially adapted to the capabilities of people whose powers of understanding were at different levels"

दोनों सम्प्रदायो मे एक विशिष्ट पृथकता का अस्तित्व अनिवार्य रूप से उभर आया। इन सम्प्रदायो में चाहे कितनी भी समता क्यो न हो लेकिन आज यह दो पूर्ण पृथक् मत हैं। दोनो के सिद्धांत हैं, अपने नियम हैं और अपने विचार हैं। क्राइस्टमस हम्फरीज (*Christmas Humphreys*) ने लिखा है—

"The Mahayana refused to be inhibited, the Hinayana was bound by the Canon The former was speculative, metaphysical, the latter rational and authoritarian The Mahayana was fearless in its logic and its mystical flights, the Theravada was content to be the guardia of Dhamman as handed down The closed circle of intense self development became a religion for all, and a formula of salvation branched out into a heterogeneous mixture of apparently opposed and incompatible teaching"

चतुर्थ संगीति—अशोक की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध धर्म का इतिहास पुन अंधकार युग में प्रवेश करता है। नागसेन तथा मिलिन्द के 'वार्तालापो' मे जाकर यह अंधकार नष्ट हो जाता है। मिलिन्द ग्रीक-बैक्ट्रियन नरेश मिनण्डर (Menander) था। यह नरेश ईसा पूर्व प्रथम या दूसरी शताब्दी मे भारत आया था। "मिलिन्द प्रश्न" मे नागसेन ने स्थविरो के अनुसार बौद्धधर्म की व्याख्या की है। लेकिन इस पुस्तक मे हमे महायान के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धांत भी प्राप्त होते हैं। एक तो है विश्वास के आधार पर निर्वाण तथा दूसरा बोधिसत्व सिद्धांत। मिलिन्द के शासन के शीघ्र पश्चात भारत में कुषाणो का प्रभुत्व स्थापित हुआ। कनिष्क इस वंश का सबसे महान् सम्राट् था। इसका शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी माना जाता है। इसने बौद्धधर्म के प्रचार मे अशोक-जैसी लगन प्रदर्शित की और उसी नरेश के पदचिह्नो का अनुगमन करते हुए एक संगीति का आयोजन भी किया। यह संगीति चतुर्थ संगीति के नाम से विख्यात है। महायान सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व अशोक द्वारा बुलाई गई सभा में नहीं था, अतएव उन्होंने उस सभा का अपनी पुस्तको मे उल्लेख ही नहीं किया है, लेकिन इस सम्मेलन में महायान सम्प्रदाय की पूरी छाप थी। केवल थेरवादियों के एक छोटे से सम्प्रदाय ने, जिसे सारवस्तिवादिन कहा जाता है, इस सम्मेलन मे सहयोग दिया था। इस अधिवेशन द्वारा कनिष्क महायान एवं हीनयान की बढ़ती हुई खाई को पाटने का प्रयास करना चाहता था लेकिन सम्राट् अपने उद्देश्य मे आंशिक रूप से ही सफल हुआ। ललित विस्तर नामक ग्रन्थ ने कनिष्क की इस भावना को काफी ठेस पहुँचाई थी।

भारत मे बौद्ध धर्म का ह्रास

ईसा की सातवीं शताब्दी के आते आते बौद्ध धर्म का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। भारत के जनमानस मे बौद्ध धर्म अपना स्थायी घर न बना सका। हिन्दू धर्म ने अपनी पतनोन्मुख अवस्था से ऊपर उठकर पुन राष्ट्रीय धर्म का एक रूप ग्रहण किया। यद्यपि हर्ष ने बौद्ध धर्म के जीर्ण भवन का पुनरोद्धार कराने का प्रयास किया था लेकिन हिन्दू धर्म के उदित होते हुए उत्साह के सम्मुख इस नरेश के ये प्रयास असफल ही रहे। हूणो ने बौद्धधर्म की शोचनीय अवस्था को और भी गम्भीर रूप प्रदान किया। उन्होंने मठो स्तूपो को लूटा-खसोटा और उन्हें अग्नि देवता की भेंट चढ़ा दी। ह्वेनसांग जो भारत मे सातवीं शती मे आया था, इस चिन्ताजनक स्थिति से हमे अवगत कराता है। इत्सिंग (सातवीं शताब्दी के अंत मे) बौद्धधर्म की मृत्यु पर आँसू गिराता हुआ खेद व्यक्त करता है। पाल वंश के अंतर्गत बौद्धधर्म की झलक फिर से एक बार हमारे सम्मुख उपस्थित हुई। लेकिन १००० ईसवी के आते मुसलमानो को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए बौद्धधर्म के कम ही स्मारक प्राप्त हुए थे। इसका कारण था भारत से बौद्धधर्म का द्रुतगति से पलायन। यद्यपि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि मे सातवीं शताब्दी मे पतनोन्मुख हो गया था, लेकिन देश के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो मे यह अब भी फलफूल रहा था और चीन, जापान, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, बर्मा एवं लंका में १४वीं शताब्दी तक प्रमुख धर्म रहा और अब भी यह कई देशो का राष्ट्रीय धर्म है।

प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय

(१) बुद्ध के जीवन चरित्र तथा धर्म प्रचार-सम्बन्धी कार्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए (१६४२, १६४८)

(२) गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र पर टिप्पणी लिखिए। उनकी शिक्षाओं की मुख्य बातें क्या हैं ? (१६४६)

(३) बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख स्थान कौन से हैं ? आप हीनयान और महायान से क्या समझते हैं ? (१६५०)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

(१) गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र पर एक टिप्पणी लिखिए। उनकी शिक्षाओं की मुख्य बातें क्या हैं ? (१६५५)

(२) बुद्ध एवं महावीर की शिक्षाओं में क्या अंतर है ? (१६५५)

(३) बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए उसके पतन के कारण लिखिए। (१६४६,१६५१)

(४) भारत में बौद्ध धर्म की अवनति के कारणों का उल्लेख कीजिए। (१६६६)

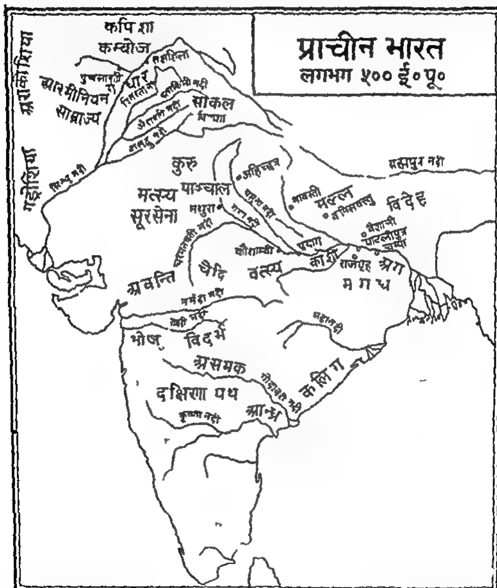
(५) महात्मा बुद्ध के जीवन चरित्र और उपदेशों का वर्णन कीजिए। (१६६७)

कानपुर विश्वविद्यालय

(१) भारत में बौद्ध धर्म के पतन और लोप होने के कारणों का स्पष्ट उल्लेख कीजिए। (१६७०)

मगध साम्राज्य का उदय | १०

पिछले अध्याय मे हमने छठी शताब्दी ई० पू० की राजनैतिक अवस्था का वर्णन करते हुए मगध पर कुछ प्रकाश डाला था। चौथी शताब्दी ई० पू० तक मगध एक साधारण राज्य के रूप मे रहता है। बिम्बिसार तथा उसके पुत्र अजातशत्रु के समय म



मगध के उत्थान का विवरण दिया जा चुका है। यहाँ अजातशत्रु के उत्तराधिकारियो पर प्रकाश डाला जायगा।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी

अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विभिन्न अनुश्रुतियों या ग्रंथों में प्रतिवाद है। इनमें सिंहली अनुश्रुतियाँ, अशोकावदान, परिशिष्टपर्वन, पुराण आदि सम्मिलित हैं। इन समस्त साक्ष्यों में बौद्ध साक्ष्य अधिक प्रामाणिक हैं, जिनके आधार पर अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

उदयभद्र या उदायन—जैसा कि ऊपर कहा गया है, अजातशत्रु के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में साक्ष्यों का मतैक्य नहीं। पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र दर्शक सिंहासनारूढ़ हुआ। इसी आधार पर महाकवि भास ने अपने नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता' में दर्शक का उल्लेख किया है और बताया है कि दर्शक की बहन का ब्याह कौशाम्बी के राजा उदयन के साथ हुआ था। पर इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं है। पुराणों ने दर्शक का राज्य २५ वर्ष तक बताया है।

महावंश के आधार पर अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयभद्र था। बौद्ध ग्रंथों ने इसे अजातशत्रु का पुत्र स्वीकार किया है। जैन ग्रंथों से यह पता चलता है कि उदयभद्र कुणिक का पुत्र था। बौद्ध अनुश्रुतियाँ उदयभद्र को भी अजातशत्रु की भाँति पितृहन्ता बताती हैं, किन्तु जिस प्रकार अजातशत्रु के सम्बन्ध में इन दोनों (जैन तथा बौद्ध) ग्रंथों का मतवैभिन्य है उसी प्रकार उदयभद्र के सम्बन्ध में भी है और जैन अनुश्रुतियाँ उदयभद्र को पितृहन्ता नहीं स्वीकार करतीं। उनके अनुसार अपने पिता की मृत्यु पर उदयभद्र शोकातुर होकर मूर्छित हो गया था।[1] उस समय वह चम्पा का वाइसराय था। सम्भवतः पिता की मृत्यु के पश्चात् वह चम्पा से पाटलिपुत्र आया। वायु पुराण के अनुसार उदायी (उदयभद्र) ने कुसुमपुर (नवीन पाटलिपुत्र) की स्थापना की। आवश्यक सूत्र से ज्ञात होता है कि उदयभद्र जैनमतावलम्बी था और उसने नगर के मध्य में एक चैत्यगृह का निर्माण करवाया था। अवंतिराज को सम्भवतः उदयभद्र ने पराजित किया था। अवन्ति तथा मगध की परम्परागत शत्रुता का यहीं से अन्त होता है और अब उत्तर में मगध राज्य के समान दूसरा कोई राज्य न था। कथासरित्सागर के अनुसार अवन्ति के राजा का नाम पालक था। वह उदयभद्र के पिता के शत्रु प्रद्योत का पुत्र था। एक अनुश्रुति के अनुसार उदयभद्र एक षड्यन्त्र द्वारा मार डाला गया था। इस षड्यन्त्र का कारण यह बताया जाता है कि उदयभद्र ने किसी राजा को युद्ध में पराजित करके मार डाला था और अवन्ति-नरेश पालक ने उस राजा के पुत्र का पक्ष लेकर यह षड्यन्त्र किया था। महावंश इसका राज्य-काल ५०३ ई० पू० तक बताता है।

उदयभद्र के उत्तराधिकारी—उदयभद्र के पश्चात् अनुरुद्ध और मुण्ड का नाम आता है। इन्होंने ८ वर्ष तक राज्य किया था, अर्थात ४९५ ई० पू० तक राज्य किया। अंगुत्तर निकाय में इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात वह शव को नहीं छोड़ना चाहता था।[2]

बौद्ध ग्रंथों के अनुसार मुण्ड के पश्चात नागदासक राजा हुआ। इसने २४ वर्षों तक (४७१ ई० पू० तक) राज्य किया।

---

१ परिशिष्टपर्वन, आवश्यक सूत्र आदि।

२ अंगुत्तर निकाय ३।५७—६३।। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा उद्धृत। इसमें यह भी बताया गया है कि मुण्ड पाटलिपुत्र में निवास करता था। एक थेर द्वारा इसे आश्वासित किये जाने का वृत्तान्त सम्भवतः धार्मिक प्रचार से सम्बन्धित है।

पुराणो मे उदयिन के उत्तराधिकारी नन्दिवधन तथा महानन्दिन थे। जैन शास्त्रो के अनुसार उसका कोई उत्तराधिकारी हो नही था।[1]

उदयभद्र, अनुरुद्ध, मुण्ड नागदाशक आदि का उल्लेख पुराण कही नही करते हैं। पुराणो का दशक ही सम्भवत नागदशक है। नागदशक के पश्चात् शशुनाग सिंहासनारूढ हुआ। उसने १८ वर्षों तक ४५३ ई० पू० तक राज्य किया। शैशुनाग के सम्बन्ध में बताते हुए कि वह एक मत्री था और तब प्रजा द्वारा राजा बनाया गया। सिंहली अनुश्रुतियाँ यह भी सूचित करती हैं कि अजातशत्रु से लेकर नागदाशक तक सभी राजे पितृहन्ता थे और इसीलिए जनता ने विद्रोह करके मत्री शैशुनाग को राजा बनाया। पुराणों मे शिशुनाग राजा का उल्लेख है, जिसने अवन्ति राज्य के प्रद्योत को पराजित करके मगध मे मिला लिया। इसने अब राजधानी पाटलिपुत्र से हटाकर पुन गृहव्रज मे कर ली और अपने पुत्र को बनारस का प्रान्तीय शासक बना दिया। किन्तु कुछ इतिहासकारो ने इसकी ऐतिहासिकता मे (विशेषकर इसे बिम्बिसार और अजातशत्रु का उत्तराधिकारी मानने म) अविश्वास किया है।[2]

शैशुनाग के पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक सिंहासनारूढ हुआ। कालाशोक का दूसरा नाम काकवर्ण (पुराण) तथा काक्वणिन (अशोकावदान) भी मिलता है। इसने सम्भवत २८ वर्षों तक (४२५ ई० पू०) तक राज्य किया।

कालाशोक के पश्चात् उसके दस पुत्रो ने २२ वर्षों तक (४०३ ई० पू० तक) सम्मिलित राज्य किया।

नन्द वश का उदय

नन्द वश के अभ्युदय के सम्बन्ध म हमे देशीय तथा विदेशीय दोना सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। देशीय सामग्री बाण का हर्षचरित है। उक्त ग्रथ से यह ज्ञात होता है कि काकवर्णी शशुनाग को छूरा भोककर मार डाला गया था। बाण की इस घटना का लक्ष्य सम्भवत कर्टियस की निम्न घटना से है —

कर्टियस ने लिखा है कि 'अग्रमीज' का पिता नाई था जिसने किसी प्रकार रानी का प्यार पा लिया और अन्त मे उसने राजा का वध कर दिया। राजा कालाशोक के वध के पश्चात वह उसके १० पुत्रो का अभिभावक बना और अन्त मे 'उनका भी वध करके राजा बन बैठा। किन्तु 'अग्रमीज का पिता' से कर्टियस का क्या अभिप्राय है? महाबोधि वश में नन्द वश के सस्थापक का नाम उग्रसेन बताया गया है। उग्रसेन का पुत्र 'औग्रसैन्य' सम्भवत यूनानी भाषा का 'अग्रमीज' है। यूनानी लेखक नन्द वश के सस्थापक को नाई बताते हैं। भारतीय साक्ष्य इसका समर्थन करते हैं। जैन ग्रथ परिशिष्टपर्वन् ने नन्द को नाई का पुत्र कहा है। पुराणो ने भी इसे शूद्रजन्य कहा है।

कालाशोक के १० पुत्रो मे से एक का नाम नन्दिवधन भी था जिसे पुराणो ने नन्दो का पूवज माना है पर इसका खण्डन उपरोक्त घटना कर देती है।

महाबोधि वश मे कालाशोक के १० पुत्रो के नाम इस प्रकार दिये गये हैं —

भद्रसेन, कोरण्डवण, मगुर, सरवजह जालिक, उम्भक, सजय, कोरव्य, नन्दिवधन तथा पचमक।[3]

---

१ परिशिष्टपर्वन ६।२३६॥

२ देखिये राधाकुमुद मुकर्जी, *Hindu Civilization*, p 273

३ *Political History of Ancient India, fifth edition*, p 222

किन्तु इन नामो मे से केवल नन्दिवर्धन का उल्लेख ही पुराणो मे किया गया है। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे इस राजा का नाम उत्कीर्ण है।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने महाबोधि वंश द्वारा प्रस्तुत ६ नन्द शासको के नाम इस प्रकार गिनाये हैं —

(१) उग्रसेन, (२) पण्डुक, (३) पण्डुगति, (४) भूतपाल, (५) राष्ट्रपाल, (६) गोविशांक, (७) दाससिद्धक, (८) कैवर्त तथा (९) धन।[1]

कर्टियस द्वारा दिये गये मत पर प्रकाश डाला जा चुका है, जिससे यह ज्ञात होता है कि नन्द वंश का संस्थापक हीन कुल का व्यक्ति था। परिशिष्टपर्वन् भी इसे नाई-पुत्र बताता है। आवश्यक सूत्र ने इसे 'नापितदास' (नाई-दास) घोषित किया है।

पुराणों के अनुसार प्रथम नन्द-शासक का नाम महापद्म या महापद्मपति तथा महाबोधिवंश के अनुसार उग्रसेन था। पुराण इसे 'शूद्रगर्भोद्भव' बताते हैं।

महावंश की टीका मे प्रथम नन्द शासक को एक योद्धा बताया गया है जो चोर डाकुओं का शक्तिशाली नायक-सा लगता था। यह भी उसके हीन कुलीन होने का संकेत है। ये सारे साक्ष्य नन्द-वंश के संस्थापक को शूद्र घोषित करते हैं। कर्टियस ने जो यह लिखा है कि (अग्रमीज) का पिता वास्तव मे नाई था और उसने रानी का प्यार पाकर उसके राजा को मारकर पुत्रो का अभिभावक बन गया तथा अन्त मे पुत्रो की भी हत्या करके राज्याधिकारी बन गया, यह कुछ दूसरी ओर को भी संकेत करता है। राजा की हत्या से अभिप्राय कालाशोक काकवर्ण की हत्या से हो सकता है जिसकी निर्मम हत्या के सम्बन्ध मे हर्ष हर्षचरित बताता है। जिन पुत्रो के सम्बन्ध मे कर्टियस महोदय लिखते हैं वे इसी कालाशोक-काकवर्ण के हो सकते हैं। सिंहली अनुश्रुतियो द्वारा प्रस्तुत शैशुनाग वंश के पतन एवं नन्दो के उदय तथा यूनानियों द्वारा वर्णित अग्रमीज वंश की उदय की घटनायें परस्पर काफी साम्य रखती हैं, किन्तु यूनानियो का विवरण पुराणो से मेल नही खाता जो अन्तिम शैशुनाग को शूद्रा नारी से उत्पन्न पुत्र को ही प्रथम नन्द शासक बताता है और पुत्रो का कोई उल्लेख नही करता। किन्तु जैसा कि पहले ही बताया गया है अग्रमीज संस्कृत का औग्रसैन्य अर्थात् उग्रसेन का पुत्र हो सकता है।

महापद्म—पुराणो ने नन्दवंश के संस्थापक महापद्म को 'सर्वक्षत्रान्तक' (समस्त क्षत्रियों का विनाशक) कहा है। उसे 'एकराट्' की भी उपाधि प्रदान की है। इससे यह परिलक्षित होता है कि उसने शैशुनाग राजाओ के संकटकालीन इक्ष्वाकु, पाचाल, काशी, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मैथिल, सूरसेन, वीतिहोत्र आदि राजाओ को पराजित कर दिया था। जैनग्रंथ से भी नन्दो के विशाल साम्राज्य का बोध होता है।[2] कथासरित्सागर तथा हाथिगुम्फा अभिलेख से नन्दो द्वारा कलिंग विजय का दर्शन होता है। "नवनन्द देहरा" नामक नगर (गोदावरी-तट पर नान्दर) से यह बोध होता है कि दक्षिण मे नन्दो की सत्ता स्थापित थी। मैसूर के कुछ प्राचीन अभिलेखो से कुन्तल (बम्बई का दक्षिणी भाग तथा मैसूर का उत्तर पश्चिमी भाग) पर नन्दो का आधिपत्य ज्ञात

---

१ *Age of Imperial Unity* p 31

'नव नन्दों से नवीन नन्दों का अर्थ भी लिया गया है। इस प्रकार पुराणो के शैशुनाग वंश के अन्तिम दो शासकों नन्दिवर्धन तथा महानन्दिन को पूर्वन व माना गया है जिनके बाद 'नव' नन्दों का अधिकार स्थापित हुआ।

२ समुद्रवसने तेभ्य असमुद्रमपि श्रिय ।
(उपाय हस्तराकृष्य तद सो कृत नन्दसात । परिशिष्टपर्वन् ७।८१॥)

होता है। इनमे से अधिकांश साक्ष्य पौराणिक साक्ष्य का समर्थन करते हैं। कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि नन्दो ने एक बहुत बडे भूभाग पर अपना सुदृढ साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

महापद्म नन्द को ही हम भारत का प्रथम महान् ऐतिहासिक सम्राट् मान सकते हैं। और यदि यह शूद्र था (जैसा कि वह था) तो यह भारतीय इतिहास की एक विशिष्ट घटना होती है कि सवप्रथम क्षत्रियो की राजनीतिक सत्ता को तिरस्कृत, करके, धम मे ब्राह्मणो की अवहेलना करके, शूद्रो ने राज्य स्थापित किया। इस सम्बन्ध मे डॉ० मुकर्जी ने अपने उद्गार बडे ही प्रभावोत्पादक शब्दो मे प्रकट किये हैं जिनमें उन्होंने क्षत्रिय सरदार, गौतम बुद्ध तथा महावीर को, ब्राह्मणो को धम मे पीछे ढकेलते हुए तथा शूद्रो को राजनीति से पृथक करते हुए दिखलाया है।[१]

मत्स्य पुराण प्रथम नन्द शासक का शासन काल ८८ वष (अष्टाशीति) बताता है पर यह २८ वर्ष (अष्टाविंशति) की जगह पर भूल से उल्लिखित है, क्योकि वायु पुराण मे इसका शासन-काल २८ वष ही बताया गया है। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने नन्द का शासन २९ वर्ष बताया है। सिंहली विवरणो के अनुसार नन्दो ने २२ वष तक राज्य किया।

महापद्म उग्रसेन के पश्चात् उसके आठ पुत्रो ने बारह वष तक (पुराणो के अनुसार) राज्य किया। महाबोधिवश द्वारा दी गई ९ नन्दो की तालिका पिछले पृष्ठ में प्रस्तुत की गई है। इसमे अन्तिम धन ही सम्भवत यूनानियो का अग्रमीज है।

कर्टियस के अनुसार प्रथम नन्द शासक ने अपने उत्तराधिकारियो को न केवल एक विस्तृत साम्राज्य छोडा, वरन् उसने एक सुसगठित विशाल सेना भी दी जिसमे २०,००० अश्वारोही, २०,००० पैदल, २,००० रथ तथा ३ ००० हाथी थे। डियो-डोरस (Diodorus) तथा प्लूटार्क भी इसका समथन करते हैं। वे हाथियो की सख्या क्रमश ४,००० तथा ६,००० बताते हैं। मिलिन्दपन्हो मे सेनापति भद्दसाल का नाम आया है।

नन्दों की अतुल धनराशि का विवरण हमें अनेक देशीय तथा विदेशीय साक्ष्यो से प्राप्त होता है। धननन्द नाम ही सम्भवत लक्ष्मीपति होने के कारण पडा था। कथा-सरित्सागर के अनुसार इसके पास ९९० करोड स्वर्ण मुद्रायें थी।[२] महावश मे इस प्रकार का उल्लेख है—

"सबसे छोटे भ्राता को उस धन लिप्सा के कारण धननन्द कहा जाता था उसने ८० कोटि धन नदी (गगा) की तलहटी की खड्ड म सगृहीत किया था। काफी गहरी खुदाई करके उसने वहाँ धन गाडा था चमडा, गोंद, पत्थर आदि पर तथा अन्य वस्तुओं पर भी कर लगाकर ही उसने उसी प्रकार दूसरा कोष भी गाडकर रक्खा।"

चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भी इसकी अतुल धनराशि का उल्लेख किया है। उसने पाटलिपुत्र के पाँच स्तूपो को 'सम्राट् नन्द के सात प्रकार के अमूल्य रत्नो के पाँच धन कोषो का प्रतीक बताया है।

१ "In any case sixth and fifth centuries B C hold out strange phenomena before us - Kshatriya chiefs founding popular religious sects which menaced the Vedic religion, and Sudra leaders estab lishing a big empire in Arya vart on the ruins of Kshatriya king doms"

२ टानी कृत अग्रेजी अनुवाद १।२१॥

११ | विदेशी आक्रमण

पारसीक अभियान

पिछले परिच्छेद मे हमने भारत की राजनीतिक एकता के निर्माण का शैशव काल देखा था। मगध साम्राज्य मे देश के आन्तरिक भाग के अनेक राज्य सम्मिलित हो चुके थे, किन्तु देश द्वार उत्तरी पश्चिमी भारत के राज्य छोटे छोटे टुकड़ो मे विभक्त होते जा रहे थे। छठी शताब्दी ई० पू० के द्वितीय चरण मे उत्तरापथ मध्यदेश तक विभिन्न राज्यो मे विभक्त हो चुका था जिनमे कम्बोज, गान्धार तथा मद्र प्रमुख थे। पूर्व मे तो उसी समय से मगध राज्य उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर था और अन्त मे उग्रसेन महापद्म ने समस्त पूर्वी राज्यो को एक सूत्र मे बाँध दिया, किन्तु उत्तर या उत्तर पश्चिम भारत मे इस प्रकार का कोई पराक्रमी सम्राट नही हुआ जो दुर्बलता का मूल इस राजनीतिक अनेकता को विच्छिन्न करके देश के महत्त्वपूर्ण भाग को, विशेषतया सामरिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग को, राजनीतिक एकता स्थापित करके सशक्त बनाता। उनको इस दुर्बलता का परिणाम भी उन्हें शीघ्र भुगतना पड़ा और फारस साम्राज्यवादी अखामनी (Achamenian) सम्राटो की लोलुप वक्र दृष्टि इन पर पड़ी।

कभी ये ईरानी मित्र के रूप मे भारतीयो से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे कभी वे परस्पर एक स्थान पर निवास भी कर चुके थे और सम्भवत उसी समय का द्वेष (देवासुर संग्राम मे पराजित हो जाने का द्वेष) बना रहा जिससे हजारों वर्ष पश्चात ये पुन भारत पर आक्रमणकारी हुए।[1]

---

१ प्राचीन बेबीलोनिया में उत्तम वस्त्रो के लिए 'सिन्धु' शब्द के प्रयोग का पता लगना तथा भारतीय काष्ठ का उस देश के भग्नावशेषो मे मिलना हमें यह संकेत करता है कि प्रागैतिहासिक काल मे भी भारत तथा पाश्चात्य देशों का सामुद्रिक व्यापार होता था। फूनिशियन, अरब तथा भारतीय पर्सियन गल्फ, अदन तथा पूर्वी अफ्रीका के बन्दरगाहों पर मिलते थे और अपने देश की वस्तुओं (बहुमूल्य पत्थर तथा मोती, वस्त्र और अन्य आवश्यकता की वस्तुओं) का विनिमय करते थे। बावेरु जातक से भी हमारे विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध का बोध होता है। उक्त ग्रन्थ मे बेबिलोन से भारतीय व्यापारी द्वारा मोर पहुँचाने का उल्लेख किया गया है। यह घटना जातकों के संग्रह के पूर्व की होगी। बुद्धकालीन भारत की कला एवं साहित्य पर प्रकाश डालते समय हमने बताया था कि विदेशियों के सम्पर्क के फलस्वरूप ही यहाँ लेखन-कला का भी जन्म हुआ और इसका श्रेय भारतीय व्यापारियों को है जिन्होंने आठवीं सातवीं शताब्दी ई० पू० मे विदेशी यात्रा करके इस कला से भारतीयों को परिचित कराया। अभी हाल में ही (१६०७ ई० मे) बोगजकोई (पश्चिमी एशिया) में कुछ भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं जिनमे मित्तानि जाति के राजाओं तथा हत्ती राजाओं का एक सन्धिपत्र प्राप्त हुआ है। उक्त सन्धिपत्र पर ह्यूगो विंक्लर महोदय ने इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं के नाम पढ़े हैं जिन्हें सम्भवत सन्धिपत्र मे साक्षी बनाया गया है। ईरानी धार्मिक

साइरस—अखामनी साम्राज्य के निर्माता साइरस ने ५५० से ५२६ ई० पू० अपने राज्य के बीच जिडोसिया होकर कभी भारत पर आक्रमण किया था, किन्तु इतिहासकार स्ट्रैबो के कथनानुसार उसे किसी प्रकार केवल सात आदमियों के साथ आत्मरक्षा करके वापस लौट आना पड़ा।[1] किन्तु साइरस को काबुल की उपत्यका में अधिक सफलता मिली। हेरोडोटस, टीसियस एक्सनाफन तथा स्ट्रैबो एवं एरियन के विवरणों से हमें इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त होती है।

प्राय सभी यूनानी लेखक, जो सिकन्दर के समकालीन थे, भारत पर फारस के सफल आक्रमण को अस्वीकार करते हैं।

इस प्रकार नियरकस तथा मैगस्थनीज दोनों ही का मत है कि भारत पर साइरस ने कभी भी आक्रमण नहीं किया। किन्तु यूनानी लेखक सिन्धु को भारत की पश्चिमी सीमा मानते हैं और यहाँ यह सम्भव है कि साइरस सिन्धुपूर्व भारतीय सीमा पर आक्रमणकारी हुआ हो। प्लीनी का मत भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। उसके अनुसार घोरबन्द घाटी में कपिशा पर साइरस ने विजय प्राप्त की थी। इसके समर्थन में एरियन का कथन भी महत्त्वपूर्ण है कि सिन्धु तथा काबुल (कोफेन) नदियों के बीच में रहने वाले भारतीय "प्राचीन काल में असीरियन, मिडी तथा अन्त में साइरस के समय में पारसियों के अधीन रहकर साइरस द्वारा लगाया कर उसे देते थे।" एड० मेयर (Ed Mayer) ने इस सारे साक्ष्यों का सुन्दरतम निष्कर्ष इस प्रकार निकाला है, "लगता है साइरस ने परोपेनिसस (हिन्दूकुश) तथा काबुल की घाटी की भारतीय जातियों को अपनी प्रजा बनाया—विशेषतया गन्धारवालों को, डेरियस स्वयं सिन्धु तक आगे बढ़ आया।"[2]

साइरस की मृत्यु (५३० ई० पू०) के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी केम्बिसस ने आठ वर्षों तक शासन किया किन्तु आन्तरिक विद्रोहों में बुरी तरह फँसा रहने के कारण उसे भारत की ओर ध्यान देने का बिल्कुल ही अवसर नहीं मिला।

डेरियस—डेरियस (द्वारा या दारायवुश) अखामनी राजवंश का तृतीय सम्राट था। इसने ५२२ से ४८६ ई० पू० तक शासन किया। इसके भारतीय आक्रमण या अनाक्रमण के सम्बन्ध में स्वयं उसके अभिलेख बताते हैं। ये अभिलेख निम्नलिखित हैं—

(१) बेहिस्तून-अभिलेख ५२० से ५१८ ई० पू०।
(२) पर्सिपोलिस-अभिलेख, ५१८ से ५१५ ई० पू०।
(३) नक्शेरुस्तम-अभिलेख, ५१५ ई० पू० तथा
(४) हमदन-अभिलेख।

हेरोडोटस के विवरण से भी उक्त अभिलेखों की पुष्टि हो जाती है। उक्त इतिहासकार का कथन है कि भारत डेरियस का बीसवाँ 'राज विषय (Satrapy) था जो उसके साम्राज्य के कुल राज-कर का तृतीय भाग देता था।

ग्रन्थ अवेस्ता तथा वेद में जिस भीषण संग्राम (जिसे हम देवासुर-संग्राम कहते हैं) का उल्लेख समान रूप से प्राप्त होता है, उस आधार पर भी हमें दोनों के कभी एक साथ रहने का संकेत मिलता है। इस युद्ध में ईरानी नेताओं को पराजित होकर भागना पड़ा था।

१ देखिये *Political History*, रायचौधरी, V Edition, page 240

२ Geschichte des Alterturms, III, 97, Quoted by Dr R K Mukherji in *The Age of Imperial Unity*, p 40

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने अखामनी अभिलेखो के आधार पर भारतीय सीमा पर पारसी साम्राज्य का निर्धारण इस प्रकार किया है[1]—

(१) यवुन=यवन=आयनिया
(२) पार्थव=पार्थिया,
(३) जरंक=ज्रक=ड्रैंगियना,
(४) हरैवा=(सरायू)=एरिया=हेरात,
(५) वख्तृश=बैक्ट्रिया=बल्ख,
(६) सुगुद=सोगडियाना,
(७) सक=सकस्थान=सीस्तान,
(८) फतगुश=सतगू=सत्तागिडिया,
(९) हरोवतिश=सरस्वती=अराकोशिया कन्धार तथा
(१०) मक=मकरान ।

उपरोक्त स्थान अब अफगानिस्तान के भाग तथा सिन्धु सीमा से सलग्न भूभाग हैं।

भारत मे पारसीक साम्राज्य की सीमा का निर्धारण किसी और साधन से करना अत्यन्त कठिन है।

जरक्सीज (क्षयार्ष)—डेरियस की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र जरक्सीज (Xerxes-४६८–४६५ ई० पू०) सिंहासनारूढ हुआ। उत्तराधिकार मे प्राप्त भारतीय राज्य को इसने अपने अधीन बनाये रक्खा, इसका विश्वसनीय प्रमाण यह है कि यूनान के नगर राज्यो पर आक्रमण करने के लिए जरक्सीज ने भारत से सेना प्राप्त की थी जिसका विवरण हेरोडोटस देता है।

जिन भारतीयो को जरक्सीज ने सेना मे भरती किया था उनके दो नाम दिये गये हैं—(१) भारतीय तथा (२) गान्धार। पैदल सेना के अतिरिक्त भारत ने जरक्सी को अश्वारोही, रथ सवारी के घोडे तथा रथ खीचने के लिए घोड तथा जगली गध भी असख्य कुत्तो के साथ दिये।[2]

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने इस भारतीय सैनिको की वीरता का जो विवर प्रस्तुत किया है वह उनके शब्दो मे ही इस प्रकार है —

"It may be noted that these Indian troops who fought for th first time in Europe had to experience a terrible ordeal in stormin the bloody defiles of Thermypolae The heroism they displayed o this occasion created a further demand for their services The resul was that after the retreat af Xerxes from Europe, Indian soldier took part in the Boeotian campaign under the Persian commande Mardonius "[3]

अखामनी शासको का ३३० ई० पू० तक भारत पर अधिकार स्थापित करने का प्रमाण इस प्रकार प्राप्त होता है कि इस वश के अन्तिम शासक डेरियस-तृतीय ने सिकन्दर के अभियान को रोकने के लिए भारतीयो से सैनिक टुकडी की माँग की थी। एरियन के कथनानुसार भारतीय सेना का एक दल बैक्ट्रिया के क्षत्रप की अध्यक्षता मे

१ देखिये *The Age of Imperial Unity*, p 42 जरक्सीज
२ देखिये *The Age of Imperial Unity*, p 42
३ देखिये वही, पृष्ठ ४२–४३ ।

बैक्ट्रियन (बाख्त्री) तथा सोगडियन (Sogdians) के साथ गामगेला मे लड़ा तथा दूसरे दल, "भारतीय अश्वारोही" (Indian Mountaineers) अराकोसिया के क्षत्रप की अध्यक्षता मे युद्ध किया।" डॉ राधाकुमुद मुकर्जी ने इस आधार पर कि भारतीय सेना अपने प्रान्त के क्षत्रपो की अध्यक्षता मे युद्ध न करके दूसरे प्रान्तो के क्षत्रपो द्वारा संचालित की गई, यह अनुमान किया कि सम्भवत इस समय तक भारत का कोई पारसीक क्षत्रप नही रह गया था और अब भारत पर इनका अधिकार शिथिल पड़ता जा रहा था।

पारसीक भारतीय सम्पर्क का प्रतिफल—इन दोनो जातियो का सम्पर्क बहुत पहले से चला आ रहा था। कुछ विद्वानो ने तो इन दोनो जातियो को एक ही माना है और वे पारसीक ग्रन्थ अवेस्ता तथा हिन्दू ग्रन्थ वेद दोनो धर्मों के दो मूल स्तम्भो को ही इसके प्रमाण मे प्रस्तुत करते हैं।

यह तो प्रागैतिहासिक काल की बात रही। ऐतिहासिक काल मे भी इनके पारस्परिक सम्पर्क का प्रमाण प्राप्त होता है जिसके विषय मे परिच्छेद के प्रारम्भ मे भी बताया जा चुका है। यह भी बताया गया था कि व्यापारियो ने फारस से लेखन-कला की थाती लाकर भारतीयो को सौपी, किन्तु केवल व्यापारियो द्वारा ही लेखन-कला का प्रचार होना कुछ कठिन-सा लगता है। निश्चय ही इसमे पारसी लेखको का हाथ होगा जिन्हें भारत मे अखामनी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप इन दोनो देशो में प्रतिष्ठापित राजनीतिक व्यापारिक एव सास्कृतिक सम्बन्ध के पश्चात् यहाँ आने का अवसर प्राप्त हुआ होगा। इन्ही पारसी लेखको ने भारत मे 'अरेमिक' (Aramic) ढग की लेखन-प्रणाली का प्रचलन किया जिसका विकास अशोक-काल तथा उसके पश्चात 'खरोष्ठी' लिपि के नाम से हुआ। यह अरबी लिपि की भाँति दाहिने से बाईं ओर को लिखी जाती थी। भवन निर्माण-कला के क्षेत्र मे भी कुछ विद्वान् पारसीक प्रभाव का अनुमान करते हैं और उनका ऐसा विचार है कि अशोक का पाटलिपुत्र का स्तम्भोवाला विशाल भवन, उसके स्तम्भो एव शिलाओ पर उत्कीर्ण अभिलेख तथा स्तम्भो का घण्टाशीर्ष आदि ये सारी शैलियाँ पारसीक देन हैं। इस मत मे काफी सत्यता भी प्रकट होती है। अशोककालीन तक्षण-कला का नमूना इसके पूर्व भारत में नही प्राप्त होता है और सम्भवत अशोक के पूर्व तो स्तम्भ खड़ा करने की परिपाटी ही न थी।[१]

कुछ विद्वान् भारतीय राजाओ के दरबारी जीवन पर भी इस सम्बन्ध का प्रभाव दिखाते हैं और उनका अनुमान है कि चन्द्रगुप्त का राज दरबार मे केश सिंचन पारस के सम्राटो की इसी प्रथा के आधार पर प्रचलित हुआ था। पारसीक आक्रमण और पारसीक सम्पर्क की स्मृति लगभग आगामी दो-तीन शताब्दियो तक बनी रही इसका मान्य प्रमाण स्वय अशोक-अभिलेख हैं जिसमे राजा पारसीक सम्राटो की ओर सकेत करता है—

"देवाना पियो पियदसि राजा एव आह-धातिय दारयवोष् क्षयाथिय ।"

उपर्युक्त साक्ष्यो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पारसीक

---

१ "To the Persians is also attributed the introduction of the *Kharosthi* alphabet, the "Persepolitan capital" and words like "dipi" (rescript) and "*nipishta*" ("written") occurring in the inscriptions of Asoka Persian influence has also been traced in the preamble of Asokan edicts"—रायचौधरी, *Political History* p 243

आक्रमण का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा। यह प्रभाव अपना तात्कालिक परिणाम भी दिखा सका। और, यदि हम यह निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, जैसा कि अधिकांश विद्वानो ने स्वीकार किया है कि अभिलेख उत्कीर्ण कराना पारसीक देन है, तो हमे अपने को पारसीक प्रभाव का वास्तव मे ऋणी समझना चाहिए, क्योकि अभिलेखों के प्रभाव मे हमारे इतिहास के अनेक क्षेत्र तिमिराच्छादित ही रह गये होते और कुछ इतिहासकारो को इतिहास लिखने के स्थान पर 'इतिहास गढ़ना' पड़ता।

उत्तर-पश्चिम भारत

पारसीक आक्रमण के समय उत्तर-पश्चिम भारत के राज्यो का उल्लेख पिछले पृष्ठो में किया गया था। अन्यत्र यह भी सकेत किया था कि अन्त में डेरियस-तृतीय के शासन-काल मे साइरस द्वारा स्थापित भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशो का पारसीक राज्य अब शिथिल होता जा रहा था। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक तो ये समाप्त हो चुके थे और अब अनेक छोटे छोटे राज्यो या राजनीतिक विभागो मे सम्पूर्ण भाग विभक्त हो गया था। सीमान्त प्रदेश के इन विभिन्न राज्यों मे से कुछ प्रमुख राज्यो का उल्लेख कर देना आवश्यक है। यहाँ यह भी सूचित कर देना आवश्यक है कि इनमे कुछ तो राजतन्त्रात्मक थे और कुछ गणतन्त्रात्मक।

(१) अस्पेसियन (Aspasian)—यह काबुल की सहायक अलिसग कुनार बजौर की घाटियो मे था। यहाँ के निवासियो का नाम ईरानियो के "अस्प" से लिया गया है जो सस्कृत "अश्व" अथवा अश्वक है। इस आधार पर अस्पेसियन को अश्वक की पश्चिमी शाखा का माना जा सकता है।

(२) गुरेइन या गौर (Guraeans)—यह अस्पेसियन तथा अस्केनियन के मध्य मे पजकौर नदी की घाटी मे था।

(३) अस्सकेनस या अश्वक (Assakenos)—यह पूर्व मे सिन्धु नदी तक प्रसारित था। इसकी राजधानी मस्सग थी जो मालकन्द दर्रे के निकट स्थित थी। इसका नाम कभी सुवास्तु या उद्यान भी था। इनकी सेना मे २० हजार अश्वारोही, ३० हजार से अधिक पैदल तथा ३० हाथी थे।

(४) नीसा (Nysa)—यह काबुल तथा सिन्धु के मध्य एक पर्वतीय राज्य था जिसका शासन गणतन्त्रात्मक था। एरियन के कथनानुसार नीसा के निवासी भारतीय न होकर डायोनिसस के साथ आये हुए लोगों के वशज थे। "यौन कम्बोज का एक साथ उल्लेख मज्झिम निकाय मे किया गया है। गौतम बुद्ध तथा आस्सलायन के समय मे यवन राज्य का उल्लेख विशिष्ट है। होल्डिक के मतानुसार आधुनिक स्वात नगर मे कोहेनूर की घाटी मे ही कभी नीसा नगर स्थापित था।[1]

(५) प्यूकेलाटिस (Peukelaotis)—एरियन के मतानुसार यह काबुल व सिन्धु के मार्ग में पड़ता था। यह सस्कृत का पुष्करावती है, जिससे प्राचीन पश्चिमी गान्धार का बोध होता है। इसकी राजधानी पुष्करावती पेशावर के उत्तर-पूर्व १७ मील पर आधुनिक मीरजियारत तथा चारसड्डा थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय वहाँ का शासक अस्तस (Astes), हस्ति अथवा अष्टक था।

(६) तक्षशिला (Taxila)—सिन्धु तथा झेलम के बीच मे यह नगर स्थित था।

१ स्मिथ, E H I IV Edition, p 57 *Camb Hist*, I, p 353 Quoted by Raychaudhuri

स्ट्रैबो ने लिखा है—"सिन्धु तथा हैडस्पीज (Hydaspes, झेलम) के मध्य सुन्दर नियमो द्वारा अनुशासित एक विशाल नगर तक्षशिला था।" इसकी राजधानी गान्धार की प्राचीन राजधानी के पूर्वी भाग मे थी।

(७) अरसक या उरशा (Arsakes)—यह आधुनिक हजारी जिला तथा कम्बोज का एक भाग था।

(८) अभिसार (Abhisar)—इसमें काश्मीर का पश्चिमोत्तर भाग सम्मिलित था। उरशा की भाँति यह भी प्राचीन कम्बोज का ही एक भाग था जिसमे उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के हजारा जिले का एक भाग भी सम्मिलित था।

(९) पौरव राज्य (Elder Poros)—यह झेलम तथा चेनाब के बीच आधुनिक गुजरात तथा शाहपुर का भाग था। स्ट्रैबो[1] के कथनानुसार यह एक उर्वर एव विशाल जिला था जिसमे ३०० नगर थे। डायोडोरस[2] के अनुसार पोरस की सेना मे ५० हजार पैदल, ३ हजार अश्वारोही, एक हजार से अधिक रथ १३० हाथी थे।

(१०) ग्लागनिकाई (Glauganikai)—इनका राज्य चेनाब के पश्चिम मे था। इनमे अनेक समृद्धिशाली नगर थे जिनमे ५ हजार से कम जनसख्या न थी और कुछ नगरो मे तो यह सख्या १० हजार तक थी।

(११) गान्दरिज (Gandaris)—यह राज्य साधारण कोटि का था और चेनाब तथा रावी नदियो के बीच की भूमि मे स्थित था।

(१२) अद्रैस्ताई (Adraistai)—ये सम्भवत महाभारत के आद्रिज हैं। ये रावी के पूर्वी तट पर बसे थे। पिम्प्रम इनका प्रमुख नगर था।

(१३) कठ (Kathaioi)—झेलम तथा चेनाब के मध्य मे कठ जाति का गणतन्त्र था। कुछ इतिहासकार इसे रावी तथा चेनाब के मध्य मे बताते हैं। युद्ध-कला में ये अद्वितीय थे। ये सुन्दरता के भी उपासक थे और सुन्दरतम पुरुष इनका राजा चुना जाता था।[3]

(१४) सौभूति राज्य (Kingdom of Sophytes)—यह सम्भवत झेलम के तट पर स्थित था। स्मिथ महोदय के विचार मे सौभूति राज्य की स्थिति स्ट्रैबो के विवरण के आधार पर झेलम से सिन्धु तक की मध्यस्थ भूमि में निर्धारित की जा सकती है जिसमे नमक की बहुत बडी चट्टान थी। किन्तु यह अधिक तर्कसगत इसलिए नही जान पडता कि प्राचीन लेखको ने इसे झेलम के पूर्व मे बताया है। कर्टियस इनके विषय मे लिखता है कि असभ्यो की दृष्टि मे ये बहुत सुन्दर और नियमित जीवन बिता रहे थे। इनका अनुशासन बहुत सुन्दर था। माता पिता एव अभिभावक की इच्छा पर बच्चे का पालन-पोषण नहीं होता था, प्रत्युत यह कार्य चिकित्साधिकारियो पर निर्भर था क्योंकि यदि इनकी राय मे बच्चे के अवयव मे किसी प्रकार का दोष रहता था तो वे उसकी हत्या की आज्ञा दे देते थे। वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते समय उच्च कुल का ध्यान नही रखा जाता था वरन् सुन्दरता का, जिससे सुन्दर सन्तान उत्पन्न हो सकें।

१ H and F Str, III, p 91

२ *Invasion of Alexander*, p 274

३ मैक्रिन्डल, *Ancient India as described in Classical Literature*, p 38

(१५) फेगस (Phegelas)—यह सम्भवत संस्कृत का भगल है जो क्षत्रियो का ही एक गोत्र है। इनका गणतत्र रावी तथा व्यास नदी के बीच मे था।

(१६) सिबोई (Siboi)—संस्कृत ग्रन्थ तथा जातक म इसका उल्लेख विभिन्न रूप मे किया गया है। ऋग्वेद मे शिव लोगो का उल्लेख किया गया है। वेसन्तर जातक शिवि नगर का उल्लेख करता है और इसके अन्तगत अरिष्पपुर तथा जेतुत्तर नगरो का निर्देश करता है।[1] बहुत कुछ सम्भावना है कि शिव, शिवि, शिवि तथा सिबोई समान हैं। शारकोट अभिलेख म उल्लिखित सिविपुरा से इसकी समता की जा सकती है और यह तर्कसगत भी है। इन समस्त साक्ष्यो के आधार पर शिवि या सिबोई राज्य को झेलम तथा चेनाब के सगम के नीचे झग जिले मे माना जा सकता है।[2]

महाभारत मे भी सिवि राष्ट्र का उल्लेख किया गया है जिसके शासक का नाम उसिनर दिया गया है और उक्त राष्ट्र को यमुना से दूर नही बताया गया है।[3]

(१७) अगलेसाई (Agalassoi)—ये सिबोई या शिवि राज्य के निकट थे और इनके पास ४० हजार पैदल तथा ३ हजार अश्वारोही थे।

(१८) क्षुद्रक (Oxydrakai)—कर्टियस तथा डायोडोरस के कथनानुसार हम उन्हें उपरोक्त दो जातियो के पास ही मान सकते हैं। झेलम तथा चेनाब के सगम के नीचे की भूमि पर इनका अधिकार था। यूनानियो के 'आक्सड्रकाई' (Oxydrakai) के लिए, महाभारत मे 'क्षुद्रक' शब्द आया है।[4] ये पजाब की प्रसिद्ध लडाकू जातियो मे से थे।

(१६) मालव (Malloi)—इनका राज्य सम्भवत रावी के निचले भाग की ओर दाहिने तट पर था। उनके राज्य मे ही चेनाब का सिन्धु से मिलने का उल्लेख मिलता है।[5] 'मल्लोइ' का अर्थ संस्कृत के मालव मे है। कात्यायन ने क्षुद्रक मालव का साथ साथ उल्लेख किया है। कर्टियस के अनुसार क्षुद्रक और मालवो के पास ६० हजार पदल, १० हजार अश्वारोही तथा ६०० रथ थे। श्री भण्डारकर महोदय ने पाणिनि के आधार पर मालवो को शस्त्रोपजीवी बताया है।

(२०) अम्बष्ठ (Abastanoi)—विभिन्न विद्वानो ने इनके भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। चेनाब के नीचे की ओर मालव के निकट (चेनाब सिन्धु-सगम के ऊपर) कहीं इनका राज्य था। संस्कृत तथा पालि ग्रन्थो मे अम्बष्ठ का उल्लेख किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण मे अम्बष्ठ राजा का उल्लेख है जिसका पुरोहित नारद था। महाभारत भी अन्य उत्तर पश्चिमी जातियो सिवि-क्षुद्रक, मालव आदि के साथ इनका उल्लेख

---

१ वेसन्तर जातक ५४७।

२ *Invasion in india by Alexander*, p 232

३ Cf Siba Cunn, *A G I* revised edition, pp 160-161 Quoted by Ray Chaudhuri

४ महाभारत ११ ५२ १५, ७।६८ ६

५ *Magasthenes and Arrian* 2nd edition 1961 रायचौधरी महोदय ने इसे उद्धृत करते हुए इस सम्बन्ध मे अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

"The accuracy of this statement may be doubted The Malli territory seems to have included part of the Jhang district besides a portion of South Lyallpur West Montgomery, and perhaps North Multan"

करता है। विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में इनके व्यवसाय के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। सिकन्दर के आक्रमण के समय अम्बष्ठ एक शक्तिशाली जाति थी जिसका शासन गणतन्त्रात्मक था और जिसके पास ६० हजार पैदल, ६ हजार अश्वारोही तथा ५०० रथ थे।

(२१-२२) क्षत्रि तथा वसाति (Xathroi and Ossadioi)—मैक्रिन्डल के अनुसार 'अक्षथोई' (Xathroi) संस्कृत का क्षत्रि है जिनको मनु ने वर्णसंकर बताया है। इसी प्रकार यूनानी 'ओस्सादिओई' (Ossadioi) महाभारत का वसाति है। ये चेनाब के निचले भाग में चेनाब रावी तथा चेनाब सिन्धु के संगम के मध्य में बसे थे।

(२३-२४) शूद्र तथा मस्सनोई (Sodrai and Massanoi)—पंजाब की नदियों के संगम-स्थल के नीचे पंजाब (मिठान-कोट क्षेत्र) तथा बहावलपुर रियासतों के निकटवर्ती भूभाग पर उत्तरी सिन्ध पर इनका अधिकार था। 'सिन्ध नदी के प्रतिकूल तटों पर इन दोनों जातियों का संघ था'।

(२५) मूषिक (Mouskanos)—मूषिक राज्य में आधुनिक सिन्ध का अधिकांश भाग सम्मिलित था। सक्खर जिले के अलोर में इसकी राजधानी थी। एरियन के वचनानुसार यहाँ ब्राह्मणों का काफी प्रभुत्व था।

"ये सार्वजनिक रूप से खुले में भोजन करते थे। इनका आहार आखेट का होता था, यद्यपि इनके पास सोने चाँदी की खानें थीं किन्तु ये इन धातुओं का उपयोग नहीं करते थे। दासों के स्थान पर वे अपने तरुणों से काम लेते थे। चिकित्सा विज्ञान को वे सर्वोपरि विज्ञान मानते थे और उसका विशेष अध्ययन करते थे उनके कानून में वध एवं व्यभिचार के अतिरिक्त और किसी अपराध का विधान नहीं, क्योंकि उनका कहना था कि यदि राजीनामे तोड़े जाते हैं तो प्रतिपक्ष को अपने अनुचित विश्वास का दण्ड मिलना ही चाहिए।"[१]

(२६) प्रोस्थ (Oxykanos)—कनिंघम के अनुसार लरखान के पास सिन्धु के पश्चिम में ये बसे हुए थे।

(२७) सम्बस या शाम्ब (Sambos)—मूषिक के निकट सम्बस किसी पर्वतीय प्रदेश का शासक था। इसकी राजधानी सिन्धु के तट पर सिन्दिमान (=सेहवान) थी।

(२८) पटल (Patalene)—यह सिन्ध प्रान्त के दक्षिणी भाग में सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित था और इसकी राजधानी पटल आधुनिक बहामनाबाद में थी।

डायोडोरस ने इसके विषय में लिखा है—

"(यह) विशाल नगर था और इसका शासन विधान स्पार्टा की भाँति था। दो विभिन्न कुलों के दो वंशागत राजाओं में युद्ध का नेतृत्व निहित था और सम्पूर्ण राज्य की शासन-व्यवस्था वृद्धों की एक सभा करती थी।"

पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्ध—पिछले पृष्ठों में सिकन्दर कालीन उत्तर पश्चिमी भारत के कुछ प्रमुख राजनीतिक सत्तायुक्त जातियों एवं राजनीतिक संगठनों का उल्लेख किया गया है। यहाँ उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है जिससे उनकी वास्तविक शक्ति का बोध हो सके।

उपरोक्त राज्यों की यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि वे परस्पर मैत्री स्थापित करके राजनीतिक एकता को प्रश्रय देना नहीं चाहते थे। कर्टियस के अनुसार तक्षशिला-नरेश

१ स्ट्रैबो, *Ancient India*, पृ० ४१

आम्भी तथा अभिसार और पोरस मे युद्ध होता रहा। इसी प्रकार एरियन के कथनानुसार पोरस तथा अभिसार केवल तक्षशिला के ही शत्रु न थे, वरन् स्वायत्त शासनवाले पडोसियो पर भी इनकी वक्रदृष्टि गडी हुई थी और वे उनके भी शत्रु थे। क्षुद्रक तथा मालव के विरुद्ध भी इन दोनो ने रणयात्रा की थी। एरियन ने यह भी बताया है कि पोरस तथा उसके भतीजे मे भी शत्रुता थी। शाम्ब तथा मुषिक मे भी शत्रुता का सम्बन्ध ज्ञात होता है।

यूनानी आक्रमण सिकन्दर का अभियान

पारसी आक्रमण के सम्बन्ध मे हम पिछले परिच्छेद मे पढ चुके हैं। यहाँ भारत पर उस तूफानी आक्रमण का वर्णन किया जायगा जिसने एक बार न केवल उत्तर-पश्चिम भारत वरन् विश्व के अधिकाश भागो को दहला दिया और अपनी भयकरता एव भीषणता का स्मारक बहुत दिनो के लिए स्थायी बना दिया। यूनानियो को भारतवर्ष के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी पारसियो से प्राप्त हो चुकी थी।

३३१ ई० पू० सिकन्दर ने गौगमेला (Gaugamela) अथवा अरबेला (Arbela) के युद्ध मे अखामनी साम्राज्य की नीव कमजोर कर और ३३० ई० पू० मे पर्सिपोलस (Persepolis) नामक उनकी राजधानी को भस्मसात् कर अखामनी साम्राज्य के शासक डेरियस-तृतीय को युद्ध मे पूर्णतया पराजित कर दिया। तत्पश्चात् उसने भारत-विजय के स्वप्नो को सत्य बनाने के लिए सशक्त कदम बढाये। सर्वप्रथम उसने सीस्तान पर अधिकार स्थापित कर लिया। तत्पश्चात् उसका आक्रमण अफगानिस्तान पर हुआ और वहाँ मार्गों की सन्धि पर उसने 'अराकोसियो का सिकन्दरिया' (Alexandria among the Arachosions), 'काकेसिया का सिकन्दरिया' (Alexandria under Caucasus)' नामक नगर बसाये। प्रथम नगर आधुनिक कन्धार है तथा द्वितीय हिन्दुकुश पर्वत के निकटस्थ आधुनिक चारिकार कटना (बेग्राम) के स्थान पर निर्मित किया गया था। बैक्ट्रिया पर अपना अधिकार स्थापित करना सिकन्दर ने सामरिक दृष्टिकोण से आवश्यक समझा था। इसीलिए उसने बैक्ट्रिया तथा उसके समीपवर्ती भूभाग पर आक्रमण कर दिया और वहा अपना पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया। बक्ट्रिया से सिकन्दर काबुल की ओर मुडा और अब यहाँ से भारत विजय की तैयारियाँ करने लगा। सेना के बडे भाग को उसने खैबर के दर्रे से प्रस्थान करने का आदेश दिया। इस प्रकार ३२७ ई० पू० तक सिकन्दर ने बक्ट्रिया तथा आधुनिक बोखारा पर सरदरिया तक छापा मारकर पूर्वी ईरान पर हिन्दूकुश तक विजय प्राप्त कर ली थी। मई ३२७ ई० पू० मे वह भारत की ओर मुडा।

सीमान्त जातियाँ—उत्तर-पश्चिमी भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि सम्पूर्ण भाग छोटे-छोटे राज्यो एव गणतन्त्रो मे विभक्त था। इन राज्यो की पारस्परिक फूट का दिग्दर्शन हमने पहले किया था। इन राज्यो को अपनी वृद्धि का उतना ध्यान न था जितना पडोसी के पतन की चिन्ता थी। अत इन राज्यो ने ही स्वय अपने हाथो देश के विनाश के लिए आक्रमणकारी को द्वार खोल दिए। कहा जाता है कि जब सिकन्दर बोखारा मे था तभी तक्षशिला के शासक आम्भीक ने सिकन्दर के पास भारत-आक्रमण का निमन्त्रण भेजा था और उससे अपने राज्य को आक्रमण मुक्त करने की प्रार्थना की थी। कर्टियस के कथनानुसार उसने सिकन्दर के पास लाभदायक उपहार भी भेजे थे जिनमे ६५ हाथी, विशिष्ट आकार प्रकार की अनेक भेडें तथा उत्तम नस्ल के तीन हजार बैल थे। आम्भी ने अत्यन्त स्वार्थयुक्त क्षुद्र भावो से प्रेरित होकर ऐसा किया था। उसने अपने पडोसी सशक्त

पोरस (पौरव) को जो झेलम तथा रावी नदियों के मध्यस्थ भूमि का शासक था, विनष्ट करने के अभिप्राय से ही ऐसा किया था। पोरस अपने समीपवर्ती भूभागों पर तीव्रता से अधिकार जमाता जा रहा था और उसने रावी तक अपना अधिकार स्थापित करके तक्षशिला के सीमान्त को पश्चिम में दहला दिया था। उसकी बढ़ती हुई ताकत को रोकने के लिए ही आम्भी ने सिकन्दर को आमंत्रित किया था। यदि पंजाब के ये दो शक्तिशाली नरेश आपस में मिलकर आक्रमणकारी का सामना किये होते तो सम्भवतः प्रारम्भ में ही सिकन्दर को भारत प्रवेश की कल्पना छोड़ देनी पड़ी होती और इस प्रकार भीषण नरसंहार एवं रक्तपात से देश बच गया होता। किन्तु इसके प्रतिकूल आक्रमणकारी को निमंत्रण मिला और वह निर्भीक होकर भारत की सीमा पर पहुँचकर आक्रमण की तैयारियाँ ज़ोर शोर से करने लगा।

अस्पसी मस्सग मौसा—काबुल नदी के उत्तरवर्ती मार्ग से अभियान करते हुए कुनार एवं स्वात घाटियों के पर्वतीय प्रदेश में सिकन्दर को सर्वप्रथम अश्वक नामक वीर भारतीय जाति का सामना करना पड़ा। बड़ी वीरता से अश्वकों ने आक्रमणकारी का सामना किया। एरियन महोदय ने भी इनके भयंकर युद्ध का उल्लेख किया है। इनकी वीरता का समर्थन अन्य इतिहासकारों ने भी किया है।[1] रक्त-प्लावित युद्ध के पश्चात् सिकन्दर की विजय हुई और उसने यहाँ से ४० हजार मर्दों तथा २ लाख ३० हजार बैलों को पकड़ा। उत्तम नस्ल वाले बैलों को तो उसने कृषि-कार्य के लिए मकदूनिया भेज दिया तथा अन्य को अपने साथ सेना के प्रयोग के लिए रक्खा।

अश्वकों की अनेक युद्धों में पराजय अवश्य हुई किन्तु उन्हें एक शरणस्थल प्राप्त हो गया। यह था उनका सुदृढ़ दुर्ग मस्सग। यहाँ सम्भवतः 'अस्पसियों' (Aspasian) के अश्वक की पूर्वी शाखा निवास करती थी। इनके पास २० हजार अश्वारोही, ३० हजार पैदल तथा ३० हाथी थे। इनकी राजधानी मस्सग की प्राकृतिक बनावट पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यह स्वयं एक रक्षा भित्ति थी। मस्सग के पूर्व में एक शीघ्रगामिनी पर्वतीय नदी थी जिसका तट बिल्कुल सीधा खड़ा था। पश्चिम एवं दक्षिण में "प्रकृति ने विशाल चट्टानों एवं गहरी घाटियों से किलाबन्दी की थी।"[2] इन प्राकृतिक रक्षकों के अतिरिक्त ऊँची-चौड़ी प्राचीरें तथा एक गहरी खाई भी इसकी रक्षा के लिए निर्मित थी। सिकन्दर की सारी युद्ध-कला यहाँ शिथिल पड़ गई और विजय-श्री असम्भव-सी लगने लगी। दुर्भाग्यवश अश्वका के नेता अश्वकर्ण को एक तीर लग गया और वह धराशायी हो गया।[3] नेता के धराशायी हो जाने के पश्चात् भारतीय युद्ध-प्रणाली में शेष सेना का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता था, अश्वकों की भी यही दशा हुई और सिकन्दर ने उन्हें आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया। सम्भवतः अश्वकण की पत्नी को सिकन्दर ने बलपूर्वक छीन लिया जिससे जस्टिन महोदय के कथनानुसार एक पुत्र उत्पन्न हुआ।[4]

भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर उन दिनों ऐसी वीर जातियाँ थीं जिनकी जीविका ही किसी के ओर से युद्ध करना था। मस्सग के युद्ध में भी अश्वकों की ओर से ७ हजार ऐसे आयुधजीवियों ने भीषण संग्राम किया था। युद्ध के पश्चात् सिकन्दर तथा अश्वकों में जो संधि हुई, उसके अनुसार इन आयुधजीवियों को शान्तिपूर्वक लौट

१ मैक्रिण्डल, *Ancient India*, p 65
२ कर्टियस ८।१०।। मैक्रिण्डल, पृ० १९५
३ एरियन ४।२७।। मैक्रिण्डल, पृ० ६८
४ १२।७।। मैक्रिण्डल, पृ० ३२२

जाने देने की भी शर्त थी जिसे सिकन्दर ने स्वीकार किया था, किन्तु इनके भीषण प्रहारो को आक्रमणकारी न भूल सका और उसने अपनी प्रतिज्ञा की अवहेलना करते हुए आयुधजीवियो पर दुर्ग से बाहर निकल जाने तथा अरक्षित स्थान मे पहुँच जाने के पश्चात् पीछे से आक्रमण कर दिया और अधिकाश सैनिको का वध कर दिया। उन्होने उसके इस व्यवहार का बलपूर्वक प्रतिवाद किया और कहा कि सिकन्दर ने शपथपूर्वक की हुई सन्धि की शर्त को तोडा है और इस प्रकार उसने उन देवताओ को भी अपवित्र कर दिया है जिन्हें साक्षी बनाकर सन्धि की गई थी।[1] किन्तु सिकन्दर ने छलपूर्ण उत्तर दिया कि उसने उन्हें दुर्ग से बाहर निकल जाने देने के लिए शपथ ली थी न कि उनमे मैत्री स्थापित रखने की। अन्त मे आयुधजीवियो ने भी शस्त्र उठा लिये और तब सिकन्दर को जिस भीषणता का सामना करना पडा, जिस प्रकार उसे उन पर विजय प्राप्त करनी पडी, वह बडी महँगी पडी। सिकन्दर के सम्मुख, और सम्भवत विश्व के सम्मुख यह पहला उदाहरण रहा कि जिस समय पुरुष धराशायी होने लगे, स्त्रियो ने उनका कार्यभार सँभाला और युद्ध को जारी रक्खा। किन्तु कहा उतनी विशाल यूनानी सेना और कहाँ कुछ हजार आयुधजीवी। अन्त मे सिकन्दर ने भीषण रक्तपात का दिग्दर्शन कराया और "आयुधजीवियो की मृत्यु गौरव सिद्ध हुई, जिसके बदले परतन्त्र जीवन स्वीकार करना उन्होने अत्यन्त घृणित समझा।"[2] सिकन्दर जैसे सैनिक का यह कार्य सदैव घृणित है। एक सैनिक के लिए सन्धि के नियम इस प्रकार तोड देना उसके चरित्र पर धब्बा लगना है। सिकन्दर के पराक्रमी सैनिक जीवन पर भी यह एक काला धब्बा है जिसे इतिहास भुला नही सकता। स्वय यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क ने उसके इस कार्य की निन्दा करते हुए लिखा है— यह आचरण उसके सामरिक यश पर एक काला धब्बा है।"

अश्वको के कुछ पश्चिम तथा कोहेमूर की निचली शृखला मे नीसियो का गणतन्त्र था जो अपने को यूनानी देवता डायानिसस का वशज मानते थे। सिकन्दर का सगोत्र सिद्ध कर देने के पश्चात नीसा ने उसे अपना हितैषी बना लिया। आक्रमणकारी भी विश्रामस्थल चाहते थे, और इससे सुन्दर स्थान कहीं और नही मिल सकता था। निदान सेना को कुछ दिनो तक यही विश्राम करने का आदेश मिला। यूनानी सुरा सुन्दरी मे तल्लीन हो गये।

नीसियन का अपने को यूनानी जाति मे सम्बन्धित बताना छल या वास्तविकता थी, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। अधिक सम्भावना छल की है, क्योकि आक्रमणकारी की भयकरता एव प्रचण्डता से उनका भयभीत हो जाना स्वाभाविक था।

अष्टक[3]—नीसा मे विश्राम करती हुई यूनानी सेना को अपने दूसरे दल के आगमन की सूचना मिली। यह दल खैबर के दर्रे को पार करके पेशावर मे उतर रहा था। पेशावर का भूभाग, जैसा कि पिछले परिच्छेद मे बताया गया है, अष्टको के अधीन था। अष्टको के राजा ने आत्मसमर्पण नही किया और दल-बल के साथ अपनी राजधानी पुष्कलावती के दुर्ग मे चला गया। किन्तु आक्रमणकारियो के सम्मुख उसे झुकना पडा। अन्त मे सिकन्दर ने निकटवर्ती उत्तरी पर्वतीय जातियो का विनाश कर पुष्कलावती को भी अपने अधीन कर वहा फिलिप नामक व्यक्ति की अध्यक्षता मे

---

१ डियोडोरस १७।८४।। मैक्रिण्डल, पृ० २६९

२ वही।

३ सिकन्दर ने काबुल में ही अपनी सेना को दो भागों मे विभक्त कर दिया था जिसमें से बडा भाग खबर के दर्रे से चला था।

एक यूनानी स्कन्धावार की स्थापना की। भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर अपना स्कन्धावार स्थापित करना सिकन्दर ने आवश्यक समझा था। सिन्धु नदी के पश्चिमी इलाकों को भी उसने निकानर की अधीनता में कर दिया था। इस प्रकार यहाँ दो स्कन्धावार स्थापित कर दिये गये। आक्रमणकारी ने अपनी सेना के एक भाग को नौका द्वारा सिन्धु नदी पार करने का आदेश दिया और स्वयं ओहिन्द नामक स्थान में अटक से १६ मील ऊपर की ओर अपनी प्रमुख सेना से जा मिला जहाँ पर सिन्धु पार करने की व्यवस्था नौका-सेतु का निर्माण करके उसके सेनापतियों ने पहले से ही कर दी थी। सिन्धु तट पर भी सिकन्दर को उसी प्रकार लोहे के चने चबाने पड़ते, जैसा कि झेलम-तट पर पड़ा, किन्तु हमें ज्ञात है कि सिन्धु के ठीक पूर्व में तक्षशिला का राज्य था जिसके शासक आम्भीक ने अपने हाथों भारत का द्वार विदेशी के लिए खोल दिया था। सिकन्दर की सेना बिना किसी दुर्घटना का सामना किये हुए नदी पार कर गई। सिकन्दर ने आम्भीक को उसके देशद्रोही होने का पुरस्कार दिया और उसे अपना सामन्त बनाकर तक्षशिला में ही अधिष्ठित कर दिया।

पुरु—तक्षशिला के आत्मसमर्पण के पश्चात् अन्य निकटवर्ती राज्यों ने भी भयभीत होकर आत्मसमर्पण कर दिया। तक्षशिला से ५ हजार योद्धा तथा पर्याप्त रसद लेकर सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़ा और वह झेलम के तट तक चढ आया। तक्षशिला से ही सिकन्दर ने पुरु (पोरस) को आत्मसमर्पण कर देने के लिए निमन्त्रण भेजा था जिसके उत्तर में उसने दूत से यह कहला दिया कि वह सिकन्दर से रणक्षेत्र में ही मिलेगा। झेलम तट पर पहुँचकर सिकन्दर ने उसे उस पार सेना लिए खड़ा पाया। पुरु ने अभिसार के राजा से सहायता माँगी थी किन्तु उसने ठीक अवसर पर सहायता देना अस्वीकार कर दिया था।

सिकन्दर ने राह चुराई—झेलम के इस पार यूनानी सेना तथा उस पार भारतीय सेना खड़ी थी। सिकन्दर को बढ़ी हुई झेलम को पार करना वैसे ही कठिन था, दूसरे भारतीय सेना को देखकर साहस दबता जा रहा था। अन्त में उसने 'चोरी से पार करना'[1] निश्चित किया। सिकन्दर के उस वाक्य की स्मृति यहाँ सहसा आ जाती है 'सिकन्दर विजय चुरायेगा नहीं'। ईरान जीतने के पहले जब ग्रीक सेना रात्रि में दारायबहु की विस्तृत सेना के सम्मुख खड़ी थी, कुछ यूनानी सेनापतियों ने इस भय से कि कहीं दिन के प्रकाश में असंख्य ईरानी सेना को देख यूनानी सेना डर न जाय, सिकन्दर को सलाह दी थी कि रात्रि के अन्धकार में ही ईरानियों पर आक्रमण कर दिया जाय। इस पर उन्हें धिक्कारते हुए सिकन्दर ने कहा था कि 'सिकन्दर विजय चुरायेगा नहीं', पर आज वह 'राह चुराने' के लिए भी प्रस्तुत है। सिकन्दर ने अपने स्कन्धावारों में नाचरंग, खेल-तमाशों की व्यवस्था कर दी, जिससे शत्रु को यह विश्वास हो जाय कि इस समय यूनानी आक्रमण नहीं होगा। किन्तु झेलम के बहाव के ऊपर १६ मील की दूरी पर उस स्थल से जहाँ नदी के बीच में एक द्वीप बन गया था, सिकन्दर ने अपनी सेना की ११ हजार की एक चुनी हुई टुकड़ी पार उतार दी।[2] स्कन्धावारों की सुरक्षा के लिए उसने क्रतिरस को एक प्रबल सेना देकर नियुक्त कर दिया तथा स्कन्धावारों एवं पार उतरने के स्थान के मध्य में मिलिगर को रख दिया। तीव्र वर्षा एवं बिजलियों की

---

१ देखिये एरियन का लेख।

२ कुछ विद्वानों ने यह शंका प्रकट की है कि यूनानी वृत्तान्तों से यह निश्चय करना कठिन है कि सिकन्दर ने १६ मील ऊपरी अथवा निचले भाग की ओर जाकर नदी पार की थी।

जाने देने की भी शर्त थी
प्रहारा को आक्रमणकारी
हुए आयुधजीवियो पर दुग
पश्चात् पीछे से आक्रमण क
उसके इस व्यवहार का बच
की हुई संधि की शर्त को
कर दिया है जिन्हें साक्षी
उत्तर दिया कि उसने उन्हे
उनमे मैत्री स्थापित रखने
सिकन्दर को जिस भीषण
प्राप्त करनी पड़ी, वह बर
सम्मुख यह पहला उदाहर
उनका कार्यभार सँभाला
सेना और कहा युद्ध हुआ
दिग्दर्शन कराया और '
जीवन स्वीकार करना उ
कार्य सदैव घृणित है ।
चरित्र पर धब्बा लगना
धब्बा है जिसे इतिहास
इस कार्य की निन्दा कर
काला धब्बा है।"

अश्वका के कुछ
तन्त्र था जो अपने को
सगोत्र सिद्ध कर देने के
भी विश्रामस्थल चाहते
निदान सेना को कुछ दि
सुन्दरी मे तल्लीन हो ग

नीसिया का ब
थी, यह निश्चयपूर्वक
आक्रमणकारी की भयं

प्रष्टक[3]—नी
आगमन की सूचना मि
या । पेशावर का भूभा
अधीन था । अष्टका के
अपनी राजधानी पुष्कला
उसे झुकना पड़ा । अन्त
कर पुष्कलावती को भी

1 डियोडोरस ...
2 वही ।
3 सिकन्दर ने
जिसमें से बड़ा भाग

ग्लाउसाई अथवा ग्लाउगनिकाई एवं कनिष्ठ पोरस की पराजय—पुरु विजय के पश्चात् यूनानियो ने देवताओ की पूजा एवं नाच रग मे कुछ दिन बिताये। तत्पश्चात सिकन्दर ने ग्लाउसाई के ३७ नगरो को छीन लिया। तभी सिकन्दर को अपने विरुद्ध विद्रोह की सूचना प्राप्त हुई। सिंधु के पश्चिमी प्रदेश का यूनानी क्षत्रप निकानर था। विद्रोहियो ने उसकी हत्या कर दी। सिकन्दर के मित्र शशिगुप्त ने जो सिकन्दर की ओर स ओरनस के दुर्ग का रक्षक था, यह सूचना उसके पास भेजी। सिंधु की इन पार्श्ववर्ती जातियो को सिकन्दर बहुत पदाक्रान्त कर चुका था, किन्तु इनका विद्रोह यह सिद्ध करता है कि सिकन्दर से पराजित होने वाली इन वीर जातियो को अपनी स्वतत्रता अब भी प्यारी थी और वे उसके लिए भारी से भारी खतरा उठाने को तैयार थी। सिकन्दर को जब यह सूचना प्राप्त हुई तो उसे कुछ विशेष चिन्ता हुई। पर पडोसी क्षत्रप तिरियास्स तथा तक्षशिला के रेजिडेंट फिलिप ने विद्रोह का दमन कर दिया। तभी थ्रेस से नवीन सेना आ जाने एव अप्रत्यक्ष रूप से विद्रोह मे सम्मिलित होने वाले अभिसार के राजा के पुन आत्मसमर्पण के पश्चात् सिकन्दर आगे बढा और उसने चेनाब पार करके राजा पुरु के भतीजे कनिष्ठ पोरस को पराजित कर उसके राज्य को पुरु के राज्य मे सम्मिलित कर दिया। ग्लाउसाई का राज्य भी पुरु को ही दे दिया गया।[1]

पिप्रमा पर अधिकार—तदनन्तर सिकन्दर ने ३२६ ई० पू० की वर्षा के अन्त म रावी को पार करके अद्रस्तई (आद्रिज) के प्रमुख दुर्ग पिप्रमा पर अधिकार स्थापित कर लिया।

कठ या कथेयाय—'साहस एव रणकौशल मे कठो की अद्वितीय प्रसिद्धि थी।'[2] कठो ने बडी वीरता से सिकन्दर का सामना किया और युद्ध की भयकरता के कारण सिकन्दर को सहायतार्थ अपने मित्र पुरु को बुलाना पडा। पुरु ५ हजार सैनिको के साथ पहुँच आया।[3] यह बहुत सम्भव था कि पुरु की इस सहायता के अभाव मे सिकन्दर को विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता। एरियन ने भी इसका समर्थन किया है और लिखा है कि जब सिकन्दर ने कठो के सगल नामक दुर्ग को घेरा तब उन्होने यूनानी सेना के छक्के छुडा दिये।[4] कठो के १७ हजार सैनिक काम आये तथा ६० हजार बन्दी हुए जिनमे ५०० अश्वारोही तथा ३०० गाडियाँ भी रही।[5] इन ६० हजार बन्दीजनो मे निश्चय ही सामान्य नागरिक भी रहे होगे। कठो के भयकर युद्ध से क्रोधित होकर सिकन्दर ने दुर्ग का पूर्ण विध्वस कर दिया। विद्रोहो के भय से पृष्ठ भाग की रक्षा के निमित्त ग्रीक सेना नियुक्त कर सिकन्दर आगे व्यास की ओर बढा। सौभूति तथा केगल ने पहले ही आत्मसमर्पण कर दिया था।

ग्रीक सेना का विद्रोह—व्यास के तट पर पहुँच जाने के पश्चात यूनानी सेना ने सहसा आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। महान् सगठनकर्त्ता, कुशल सेनानायक एव वीर सिकन्दर की सुव्यवस्थित सेना का यह विद्रोह आश्चर्यजनक ही रहा। सिकन्दर के जोशीले भाषणो के सम्मुख भी सेना केवल आँसू बहाकर रह गई।[6] सेना ने आगे बढ़ने से क्यो इन्कार कर दिया, इस सम्बन्ध मे इतिहासकारो ने दो प्रकार के कारण बताये

---

१ स्ट्रैबो, मैक्रिण्डल, पृ० ३७
२ एरियन, ५।२२। *Invasion by Alexander*, पृ० ११५
३ वही ४।२४ वही पृ० ११६
४ वही ४।२४।। मैक्रिण्डल, पृ० ११६
५ वही।
६ प्लूटार्क, ६२, *Invasion by Alexander*, पृ० ३१०, एरियन ५।२२।

क्रोध मे सिकन्दर ने राह चुरा ली और जब पुरु को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने पुत्र पौरव को २ हजार योद्धा तथा १२० रथ देकर आक्रमणकारियों का सामना करने को भेजा किन्तु कहाँ सिकन्दर जैसे वीर सेनानायक की अध्यक्षता मे युद्ध करने वाली इतनी बडी सेना और कहाँ दो हजार की एक छोटी सी टुकडी, जिसका सचालक बीस वर्षीय राजकुमार ! पौरव की सेना का ध्वस यूनानियो ने सरलतापूर्वक कर दिया और तब स्वय पुरु रणक्षेत्र मे उतर पडा। यूनानी लेखको के कथनानुसार पुरु की सेना मे ५० हजार पदल, ३ हजार अश्वारोही, १,३०० रथ तथा १३० हाथी थे।[1] पुरु की व्यूह रचना भी अपने ढग की अनोखी थी। उसने सामने तो हाथियो को खडा कर दिया और इनके अगल-बगल तथा पीछे पदाति सेना थी। दोनों पार्श्वों में अश्वारोही तथा उनके सामने रथ खडे किये गये। पुरु की सेना इस प्रतीक्षा मे थी कि यूनानी आक्रमण करें। इस प्रकार तैयार होकर दोनो सेनायें करीं के रणक्षेत्र मे आमने-सामने खडी थीं। शत्रु की सेना देखकर सिकन्दर का भी साहस छूटने लगा।[2] सिकन्दर ने कहा—"आज का खतरा मेरे साहस का अतिक्रमण कर रहा है, आज का युद्ध बनैले जन्तुओ एव असा धारण वीरो से है।" तभी यूनानी अश्वारोहियो ने भारतीय सेना की बाईं टुकडी पर तीरो की वर्षा प्रारम्भ कर दी। इधर भारतीय अश्वारोही कुछ शिथिल पडे। भारतीय सैनिको को सबसे बडी असुविधा यह पडी कि वे अपने लम्बे धनुष की वर्षा-जल से भीगी गीली भूमि पर स्थिर नही कर पाते थे। रथो को भी इस जलवृष्टि ने अनुपयोगी सिद्ध किया। प्लूटार्क के कथनानुसार '(पिछली रात की) वर्षा के कारण बने हुए दलदल तथा कीचड मे वे बराबर फँस जाया करते थे तथा किसी प्रकार भी आगे नही बढ पाते थे।'[3] तत्पश्चात् स्वय सिकन्दर सम्मुख आया। फिर भी भारतीय सेना वीरता से लडती रही और प्लूटार्क के कथनानुसार 'दिन की आठवीं घडी' तक युद्धभूमि मे उन्होंने अपनी प्रधानता दिखलाई।' किन्तु दलदली भूमि मे पुरु का जिन पर अधिक भरोसा था, वे धनुर्धर तथा रथ बिल्कुल असमर्थ हो गये। इधर हाथियो की भी दशा बडी शोचनीय थी। चतुर यूनानी सैनिको ने भारतीय सेना के बिल्कुल पास आकर और जान हथेली पर रखकर कुल्हाडियो से इनके पैर काटने आरम्भ कर दिये, तीरन्दाजो ने उनकी आखो को अपना निशाना बनाया, जिससे ये हाथी पागल हो गये और भागते समय इन्होने अपनी सेना को ही काफी क्षति पहुँचाई। सेना मे भगदड मच चुकी थी पर वीर पुरु अपने हाथी पर बैठा बार पर बार करता रहा और यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक उनकी नसो मे रक्त-सचार जारी था। अन्त मे वह मूर्छित होकर धरती पर गिर पडा और मूर्छितावस्था मे ही बन्दी बनाया गया। युद्धो के पुतले सिकन्दर ने भी अपने जीवन मे ऐसा वीर नही देखा था। पुरु की वीरता से प्रभावित तथा राजनीतिक चालो से प्रेरित सिकन्दर ने यहाँ दयालु होने का सुन्दरतम अभिनय किया और उसने पुरु को न केवल उसका राज्य लौटा दिया प्रत्युत पूर्व के अविकृत प्रदेशो को भी उसमे सम्मिलित करके उसे अपना सहायक मित्र बना लिया।

सिकन्दर के लिए यह महान विजय थी, अत उसने इसकी स्मृति मे दो नगरो की स्थापना की—(१) निकाइया तथा (२) अपने मृत अश्व 'बुकेफेला' के नाम पर बुकेफेला नगर।

---

१ प्लूटार्क ने यह सख्या इस प्रकार बताई है—२० हजार पैदल तथा २ हजार अश्वारोही—मैक्रिण्डल, पृ० ३१०

२ कर्टियस, १४। मैक्रिण्डल, पृ० २७९

३ कर्टियस अष्टम, पृ० २०८

ग्लाउसाई अथवा ग्लाउगनिकाई एवं कनिष्ठ पोरस की पराजय—पुरु विजय के पश्चात यूनानियो ने देवताओ की पूजा एव नाच-रग मे कुछ दिन बिताये। तत्पश्चात् सिकन्दर ने ग्लाउसाई के ३७ नगरो को छीन लिया। तभी सिकन्दर को अपने विरुद्ध विद्रोह की सूचना प्राप्त हुई। सिंधु के पश्चिमी प्रदेश का यूनानी क्षत्रप निकानर था। विद्रोहियो ने उसकी हत्या कर दी। सिकन्दर के मित्र शशिगुप्त ने जो सिकन्दर की ओर से ओरनस के दुर्ग का रक्षक था, यह सूचना उसके पास भेजी। सिंधु की इन पार्श्ववर्ती जातियो को सिकन्दर बहुत पदाक्रान्त कर चुका था, किन्तु इनका विद्रोह यह सिद्ध करता है कि सिकन्दर से पराजित होने वाली इन वीर जातियो को अपनी स्वतन्त्रता अब भी प्यारी थी और व उसके लिए भारी से भारी खतरा उठाने को तैयार थी। सिकन्दर को जब यह सूचना प्राप्त हुई तो उसे कुछ विशेष चिन्ता हुई। पर पडोसी क्षत्रप तिरियास्स तथा तक्षशिला के रेजिडेन्ट फिलिप ने विद्रोह का दमन कर दिया। तभी थ्रेस से नवीन सेना आ जाने एव अप्रत्यक्ष रूप से विद्रोह मे सम्मिलित होने वाले अभिसार के राजा के पुन आत्मसमर्पण के पश्चात् सिकन्दर आगे बढा और उसने चेनाब पार करके राजा पुरु के भतीजे कनिष्ठ पोरस को पराजित कर उसके राज्य को पुरु के राज्य मे सम्मिलित कर दिया। ग्लाउसाई का राज्य भी पुरु को ही दे दिया गया।[1]

पिप्रमा पर अधिकार—तदनन्तर सिकन्दर ने ३२६ ई० पू० की वर्षा के अन्त मे रावी को पार करके अप्रस्तई (आद्रिज) के प्रमुख दुर्ग पिप्रमा पर अधिकार स्थापित कर लिया।

कठ या कथेयांय—'साहस एव रणकौशल मे कठो की अद्वितीय प्रसिद्धि थी।'[2] कठो ने बडी वीरता से सिकन्दर का सामना किया और युद्ध की भयकरता के कारण सिकन्दर की सहायतार्थ अपने मित्र पुरु को बुलाना पडा। पुरु ५ हजार सैनिको के साथ पहुँच आया।[3] यह बहुत सम्भव था कि पुरु की इस सहायता के अभाव मे सिकन्दर को विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता। एरियन ने भी इसका समर्थन किया है और लिखा है कि जब सिकन्दर ने कठो के सगल नामक दुर्ग को घेरा तब उन्होंने यूनानी सेना के छक्के छुडा दिये।[4] कठो के १७ हजार सैनिक काम आये तथा ६० हजार बन्दी हुए जिनमे ५०० अश्वारोही तथा ३०० गाडियाँ भी रही।[5] इन ६० हजार बन्दीजनो मे निश्चय ही सामान्य नागरिक भी रहे होंगे। कठो के भयकर युद्ध से क्रोधित होकर सिकन्दर ने दुर्ग का पूर्ण विध्वस कर दिया। विद्रोहो के भय से पृष्ठ भाग की रक्षा के निमित्त ग्रीक सेना नियुक्त कर सिकन्दर आगे व्यास की ओर बढा। सौभूति तथा फेगल ने पहले ही आत्मसमर्पण कर दिया था।

ग्रीक सेना का विद्रोह—व्यास के तट पर पहुँच जाने के पश्चात यूनानी सेना ने सहसा आगे बढने से इन्कार कर दिया। महान् सगठनकर्त्ता, कुशल सेनानायक एव वीर सिकन्दर की सुव्यवस्थित सेना का यह विद्रोह आश्चर्यजनक ही रहा। सिकन्दर के जोशीले भाषणो के सम्मुख भी सेना केवल आँसू बहाकर रह गई।[6] सेना ने आगे बढने से क्यो इन्कार कर दिया, इस सम्बन्ध मे इतिहासकारो ने दो प्रकार के कारण बताये

१ स्ट्रैबो, मैक्रिण्डल, पृ० ३७
२ एरियन, ५।२२। *Invasion by Alexander*, पृ० ११५
३ वही ४।२४ वही पृ० ११६
४ वही ४।२४।। मैक्रिण्डल, पृ० ११६
५ वही।
६ प्लूटार्क, ६२, *Invasion by Alexander*, पृ० ३१०, एरियन ५।२२।

हैं—पहला आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य। आन्तरिक कारणों में सैनिकों की शिथिलता, व्याधिग्रस्तता, वस्त्राभाव तथा उनका गृहोन्मुख होना सम्मिलित है तथा बाह्य कारणों में भारत के सैनिकों की रण-कुशलता एवं भावी खतरे की आशंका है।

किन्तु आन्तरिक कारण-सम्बन्धी कठिनाइयाँ तो सभी लम्बे अभियान में पड़ सकती हैं जिसके लिए सैनिक तैयार रहते हैं और केवल इन्हीं कठिनाइयों से पराजित होकर रणभेरी बन्द कर दी गई हो, यह तर्कसंगत नहीं ज्ञात होता। निश्चय ही बाह्य कारणों का इसमें अधिक हाथ है। प्लूटार्क के विवरण से भी हमें इसका बोध होता है। वह लिखता है कि "पोरस के मोर्चे ने मकदूनिया वालों के दिल बैठा दिये और भारत में और आगे बढ़ने की उनकी कामना सर्वथा नष्ट हो गई। वे जानते थे कि केवल २० हजार पैदल तथा दो हजार अश्वारोहियों की सेनावाले उस पोरस को जीतने में उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था और इसीलिए जब उसने गंगा पार करने की जिद्द की तब उन्होंने उसका आदेश स्पष्ट रूप से अस्वीकृत कर दिया।"[1] भारतीय सेना की वीरता की प्रशंसा करते हुए एरियन ने भी यह लिखा है कि "एशिया में उस समय जितनी जातियाँ बसती थीं उनमें भारतीय युद्ध-कला में सबसे अग्रगण्य थे।"[2] सिकन्दर अपनी सेना को आगे बढ़ने के लिए जितना ही ललकारता था, सैनिकों का विद्रोह उतना ही भयंकर रूप धारण करता जा रहा था। उन्होंने सुन रक्खा था कि आगे भयानक नदियाँ, कष्टकर मरुभूमि तथा विशाल सेनायुक्त लड़ाकू जातियाँ हैं। कर्टियस ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है, "गंगा के उस पार गंगरिडाई तथा प्रेसिआई दो जातियाँ निवास करती हैं, जिनका राजा अग्रमिस अपने देश की रक्षा के लिए सीमा पर २० हजार अश्वारोही, दो लाख पदाति, चार घोड़ोंवाले २ हजार रथ तथा इन सबसे भयानक ३ हजार गज सेना तैयार रखता है।"[3] प्लूटार्क से भी इस कथन का समर्थन हो जाता है जिसने लिखा है कि 'गंगरिडाई तथा प्रेसियाई उनका (यूनानियों का) सामना करने के लिए २० हजार अश्वारोही, २ लाख पदाति, २ हजार रथ तथा ६ हजार गज-सेना लिये प्रतीक्षा कर रहे थे। इसमें निश्चय ही कोई अत्युक्ति न थी क्योंकि इसके शीघ्र बाद ही एन्ड्रोकोट्स ने, जो तब तक गद्दी पर बैठ चुका था, सिल्यूकस को ५०० हाथी दिये और स्वयं ६ लाख सेना से सम्पूर्ण भारत को रौंद डाला।"[4] निश्चय ही यूनानी सेना ने भारत की भयंकर लड़ाकू जातियों के भय से आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया और जैसा कि एरियन ने लिखा है, "जब उन्होंने अपने सम्राट को खतरे पर खतरे मोल लेने और प्रयास पर प्रयास करने पर कमर कसते देखा तब उनके दिल बैठ गये।"

ग्रीक सेना ने अपनी अलग सभाओं का भी आयोजन किया। सभा के आयोजन का अर्थ है संगठित विद्रोह। सेना की सभाओं के सम्बन्ध में लिखते हुए एरियन ने लिखा है "जिनमें (सभाओं में) अपेक्षाकृत शान्त लोगों ने अपनी दशा पर विलाप किया और तीव्रतर सैनिकों ने स्पष्ट कह दिया कि सिकन्दर चाहे स्वयं ही उनका नेतृत्व क्यों न करे, वे कदापि आगे नहीं बढ़ेंगे।"[5]

---

१ प्लूटार्क, ६२। Invasion by ... ० ... सेना ... को चाहिये कि प्लूटार्क ने व्यास को गंगा बना ... संख्या कम बताई है।

२ एरियन, ५, ४।

३ कर्टियस ९ ... vasion by A

४ प्लूटार्क ... २१०

५ एरियन ... on by

कर्टियस के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि सिकन्दर ने सेना मे अपील की—"सैनिको ! मुझे ज्ञात है कि इस देश के निवासियो ने पिछले दिनो मे अनेक प्रकार की किवदन्तियाँ प्रचारित कर रक्खी हैं जिनका अभिप्राय तुम्हारे अन्दर केवल भय का सचार करना है। किन्तु तुम्हारे अनुभव मे इस प्रकार के मिथ्या सवाद नये नही है।[1] सेना पर इसका कोई प्रभाव नही पडा और कोइनस ने कहा, "यद्यपि यह सत्य है कि बर्बरो की सख्या-सम्बन्धी अफवाहो मे सचेत अत्युक्ति है तथापि उन मिथ्या अफवाहो से भी हम यह अनुमान लगा सकते है कि भारतीयो की सख्या काफी अधिक होगी।"[2] "डाल दो मुझे गरजती नदियो के खतरे मे, छोड दो मुझे क्रुद्ध गजो की दया पर, और इन क्रूरकर्मा जातियो के प्रतिहिसक औदाय पर जिनके नाम तुम्हें आतक से भर रहे हैं, मैं ढूढ लूँगा ऐसे वीरो को जो मेरा अनुसरण करेंगे।"[3] पर सिकन्दर के इन वाक्यो का उत्तर गोल-गोल आँसू की बूँदें मिली, और तब उसने निराश होकर कहा, "निस्सन्देह बहरे कानो से मेरे शब्द टकराते रहे हैं, मैं ऐसे कायरो को उत्साहित करता रहा हूँ जिनके हृदय त्रास से भर गये हैं।"[4] अन्त मे सिकन्दर को स्वदेश की ओर सेना का मुह मोड देना पडा।

पूर्वाभिमुख विजय-सीमा के निर्धारण के निमित्त सिकन्दर ने यूनानी देवताओ के नाम पर १२ वेदिका-स्तम्भो का निर्माण सम्भवत व्यास के दक्षिणी तट पर किये और तब स्वदेश-यात्रा की तैयारी की।

सिकन्दर की वापसी—स्वदेश लौटने के पूर्व सिकन्दर ने विजित प्रदेशो के शासन की व्यवस्था कर देना आवश्यक समझा, अत उसने अपने मित्र पोरस को व्यास और झेलम नदियो की सम्पूर्ण मध्यवर्ती भूमि तथा ५ हजार नगरो से युक्त १५ गणतन्त्रो का शासक बनाया। उसने आम्भी को झेलम की पश्चिमवर्ती भूमि का तथा अभिसार के राजा को काश्मीर एव उर्षा का शासक बना दिया। इन भारतीय राजाओ के भावी विद्रोहो के दमनार्थ सिकन्दर ने भारत मे निर्मित यूनानी नगरो मे पर्याप्त यूनानी सैनिक रख दिये।

सौभूति ने सिकन्दर को आत्मसमर्पण कर दिया तब जलयात्रा की तैयारियाँ होने लगी, क्योकि झेलम मे उतर जाने के बाद सिकन्दर किसी प्रकार के खतरे को ध्वसित किये बिना अपने को सुरक्षित नही समझ सकता था। अक्तूबर के अन्त में सिकन्दर की नावें नदी मे उतर गईं। इन नावो की रक्षा के लिए दोनों तटो पर हफिस्तियन तथा क्रतिरस की अध्यक्षता मे कुशल सैनिक दल चले। इसी प्रकार सिकन्दर रावी एव चेनाब के सगम पर पहुँच गया।

सिकन्दर के मार्ग अवरोधक

सिकन्दर की सेना चिन्ताविहीन हो विजय के गौरव मे फूलकर स्वदेश लौट रही थी। सेना को अपने विद्रोह की सफलता पर भी कुछ प्रसन्नता रही होगी, पर वे क्या जानते थे कि अभी उन्होने जितने भयकर सग्रामो का सामना किया है उससे अधिक भयावह युद्धो का सामना करना बाकी था। सिकन्दर का मार्ग रोकने वाली उन भारतीय जातियो का नाम इतिहास मे अमर है।

---

१ कर्टियस ९, २, *Invasion by Alexander*, पृ० २२३
२ वही ९, ३, वही, पृ० २२९
३ वही, पृ० २२६।
४ वही।

हैं—पहला आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य। आन्तरिक कारणो मे सैनिको की शिथिलता व्याधिग्रस्तता, वस्त्राभाव तथा उनका गृहोन्मुख होना सम्मिलित है तथा बाह्य कारणो मे भारत के सैनिको की रण-कुशलता एव भावी खतरे की आशका है।

किन्तु आन्तरिक कारण-सम्बन्धी कठिनाइया तो सभी लम्बे अभियान म पड सकती हैं जिसके लिए सैनिक तैयार रहते हैं और केवल इन्ही कठिनाइयो से पराजित होकर रणभेरी बन्द कर दी गई हो, यह तर्कसगत नही ज्ञात होता। निश्चय ही बाह्य कारणो का इसमे अधिक हाथ है। प्लूटाक के विवरण से भी हमे इसका बोध होता है। वह लिखता है कि "पोरस के मोर्चे ने मक्दूनिया वालो के दिल बैठा दिये और भारत मे और आगे बढने की उनकी कामना सर्वथा नष्ट हो गई। वे जानते थे कि केवल २० हजार पैदल तथा दो हजार अश्वारोहियो की सेनावाले उस पोरस को जीतने मे उन्हे बडी कठिनाई का सामना करना पडा था और इसीलिए जब उसने गगा पार करने की जिद की तब उन्होंने उसका आदेश स्पष्ट रूप से अस्वीकृत कर दिया।"[१] भारतीय सेना की वीरता की प्रशसा करते हुए एरियन ने भी यह लिखा है कि "एशिया में उस समय जितनी जातियाँ बसती थी उनमे भारतीय युद्ध-कला मे सबसे अग्रगण्य थे।"[२] सिकन्दर अपनी सेना को आगे बढने के लिए जितना ही ललकारता था, सैनिको का विद्रोह उतना ही भयकर रूप धारण करता जा रहा था। उन्होंने सुन रक्खा था कि आगे भयानक नदियाँ, कष्टकर मरुभूमि तथा विशाल सेनायुक्त लडाकू जातियाँ हैं। कर्टियस ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है, 'गगा के उस पार गगरिदाई तथा प्रेसिआई दो जातियाँ निवास करती हैं, जिनका राजा अग्रमिस अपने देश की रक्षा के लिए सीमा पर २० हजार अश्वारोही, दो लाख पदाति, चार घोडोवाले २ हजार रथ तथा इन सबसे भयानक ३ हजार गज सेना तैयार रखता है।"[३] प्लूटाक से भी इस कथन का समर्थन हो जाता है जिसने लिखा है कि "गगरिदाई तथा प्रसियाई उनका (यूनानियो का) सामना करने के लिए २० हजार अश्वारोही, २ लाख पदाति, २ हजार रथ तथा ६ हजार गज-सेना लिये प्रतीक्षा कर रहे थे। इसमे निश्चय ही कोई अत्युक्ति न थी क्योकि इसके शीघ्र बाद ही ऐन्ड्रोकसस ने, जो तब तक गद्दी पर बैठ चुका था, सिल्यूकस को ५०० हाथी दिये और स्वय ६ लाख सेना से सम्पूर्ण भारत को रौंद डाला।'[४] निश्चय ही यूनानी सेना ने भारत की भयकर लडाकू जातियो के भय से आगे बढने से इन्कार कर दिया और जैसा कि एरियन ने लिखा है, "जब उन्होंने अपने सम्राट को खतरे पर खतरे मोल लेने और प्रयास पर प्रयास करने पर कमर कसते देखा तब उनके दिल बैठ गये।"

ग्रीक सेना ने अपनी अलग सभाओ का भी आयोजन किया। सभा के आयोजन का अर्थ है सगठित विद्रोह। सेना की सभाओ के सम्बन्ध मे लिखते हुए एरियन ने लिखा है "जिनमे (सभाओ मे) अपेक्षाकृत शान्त लोगो ने अपनी दशा पर विलाप किया और तीव्रतर सैनिको ने स्पष्ट कह दिया कि सिकन्दर चाहे स्वय ही उनका नेतृत्व क्यो न करे, वे कदापि आगे नही बढेंगे।"[५]

१ प्लूटाक, ६२। *Invasion by Alexander* ३१०। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि प्लूटाक ने व्यास को गगा बना दिया है और पोरस की सेना ने सैनिक की सख्या कम बताई है।

२ एरियन, ५, ४।

३ कर्टियस ६, २, *Invasion by Alexander*, पृ० २२१–२२

४ प्लूटाक ६२, वही पृ० ३१०

५ एरियन ५, २५, *Invasion by Alexander*, पृ० १२१

जाति भी ६० हजार पदाति, ६ हजार अश्वारोही तथा ५०० रथो के साथ तैयार थी पर इनका सामना करने के लिए पर्डिक्स पहले ही भेज दिया गया था और सिकन्दर चेनाब तथा सिन्धु के सगम पर पर्डिक्स की प्रतीक्षा मे तब तक रुका रहा जब तक वह अम्बष्टो को विजित कर नहीं लौट आया। अम्बष्टो ने स्वतत्रता की रक्षा के लिए काफी प्रयत्न किया, पर वे असफल रहे।

सिन्धु घाटी के निचले भूभाग की विजय—सिन्धु नदी के मुहाने तक पहुँचने मे निम्नलिखित जातियों ने आत्मसमर्पण किये—क्षत्रि, वसाति, शूद्र तथा अवस्तनोई। इनके सम्बन्ध मे कुछ अधिक ज्ञात नही। वही सिकन्दर ने मुषिक, प्रास्थ तथा शाम्ब को पराजित किया।

ब्राह्मण विरोध—उस समय इन प्रदेशो मे ब्राह्मणों का राजनीति मे बहुत बडा प्रभाव था। विदेशी के सम्मुख इस प्रकार झुक जाना उन्हें सह्य न था। अत उन्होंने मुषिक एव प्रोस्थ को विद्रोह के लिए ललकारा। फलत इनके साथ ब्राह्मणो का भी वध कर दिया गया। एरियन ने ब्राह्मणो को 'वीर नेता' की उपाधि दी है।[1] शास्त्र-क्षेत्र के सैनिको ने शस्त्र क्षेत्र म पदार्पण किया, यह कोई आश्चर्य की बात न थी क्योंकि प्राचीन भारत मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब ब्राह्मणो ने क्षात्रधर्म स्वीकार कर लिया।

पटल—यह सिकन्दर द्वारा अधिकृत अन्तिम नगर था। सिकन्दर ने इसे सरलतापूर्वक जीत लिया था।

अन्तिम विदा—३२५ ई० पू० के सितम्बर के आरम्भ मे ही भारत छोडने के लिए पटल में ही सिकन्दर ने अपनी सेना के कई भाग कर दिये, जिनमे से एक दल नियार्कस (Nearchus) के सरक्षण मे जलमार्ग से चल पडा तथा दूसरा क्रेटेरस (Creterus) की अधीनता मे बोलन के दर्रे से चला। स्वय सिकन्दर एक तीसरे दल के साथ अत्यन्त कष्टमय मरुभूमि से होकर चला। अनेक बाधायें झेलता हुआ वह अपने साथियो से ईरान के मरुस्थल मे मिला।[2]

आक्रमण का प्रभाव

यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि आखिर इस तूफानी आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पडा। सिकन्दर के आक्रमण का बहुत कम प्रत्यक्ष प्रभाव पडा, हाँ अप्रत्यक्ष प्रभावो की सख्या भी कम नहीं है। सिकन्दर के आक्रमण के क्षेत्र बहुत सीमित थे और साथ ही देश के सीमान्त भाग पर। भला ऐसी अवस्था में वह देश पर कोई स्थायी प्रभाव कैसे छोड सकता था। भारतीय साहित्य मे इस आक्रमण का कहीं भी उल्लेख न होना इसका सबसे बडा प्रमाण है। फिर भी कुछ सीमा तक तो इस आक्रमण ने भारत को प्रभावित किया ही। डॉ० स्मिथ ने लिखा है—

"भारतवर्ष अपरिवर्तित रहा। युद्ध का घाव शीघ्र ही भर गया। जैसे सन्तोषी बैलो तथा उनसे अक्षुण्ण सन्तोषी किसानो ने अपने-अपने अवरुद्ध कार्यों को प्रारम्भ किया वैसे ही विनष्ट क्षेत्र पुन लहलहा उठे और वह स्थान जहाँ असख्य नर-हत्यायें हुई थी, पुन असख्य प्राणियो से परिपूर्ण हो गये। । भारत पर यूनानियो का प्रभाव नही पडा। भारत अपना भव्य एकाकी जीवन बिताता रहा और शीघ्र ही यूनानी

---

१ एरियन ६, ७, *Invasion by Alexander*, पृ० १४८

२ अत्यन्त कष्टप्रद मार्ग चुनने में सिकन्दर का क्या अभिप्राय था, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। क्या वह कष्ट-यातना द्वारा अपनी खिन्नता को मिटाना चाहता था ?

शिवि या सिबोई और अग्लसाई—रावी और चेनाब के सगम की समीपवर्ती भूमि पर शिवि तथा अग्लसाई दो जातियाँ थी। वे क्रमश ४०–४० हजार पदाति एव ३ हजार अश्वारोही लेकर सिकन्दर की प्रतीक्षा कर रही थी। शिवि का दमन तो सिकन्दर ने सफलतापूर्वक कर दिया, किन्तु अग्लसाई जाति (अग्रश्रेणी) आक्रमणकारी का सामना करती रही और उन्होंने उसकी सेना को कुछ क्षति भी पहुँचाई। पर सिकन्दर की असख्य सेना ने उन्हें हतप्रभ कर दिया। कर्टियस ने लिखा है कि जब इस वीर जाति ने यह देखा कि अब पराजय अनिवाय है तो वे "अपने घरो मे आग लगा कर स्त्रियो एव बच्चो सहित आग की धधकती लपटो मे जल मरे।"[१] यह सम्भवत भारतीय इतिहास मे जौहर व्रत का प्रथम उदाहरण है।

मालव और क्षुद्रक—ये दो परस्पर-विरोधी जातियाँ विदेशी आक्रमणकारी का सामना करने के लिए मिल गइ और इन्होंने सयुक्त शक्ति से युद्ध की तैयारियाँ की। ६० हजार पदाति, १० हजार अश्वारोही तथा ६०० रथो की एक विशाल सेना लेकर इन वीर जातियो ने यूनानियो पर आक्रमण कर दिया। जिस समय सिकन्दर मालवो के दुर्ग पर आक्रमण कर रहा था, उस समय उसे एक बहुत घातक चोट लगी। अत्यधिक नर-सहार एव रक्त-प्लावन के पश्चात् बडी कठिनता से वह दुग को विजित कर सका। यह युद्ध इतना भयावह रहा कि सिकन्दर के सैनिक झल्लाकर "फिर विद्रोह के शब्दो मे अपने राजा को बुरा भला कहने लगे।"[२] वे सन्देह करने लगे कि सिकन्दर ने युद्ध नही बन्द किया है वरन् युद्धस्थल बदल दिया है। 'मुझे भारत से गौरवमय लौट जाने दो, भगोडे की भाँति भागने को बाध्य न करो।"[३] ये करुण वाक्य आक्रमणकारी के मुह से निकले जिसका अनुकूल प्रभाव सैनिको पर पडा। फिर क्या था खेतो मे काय करने वाले निहत्थे मालवो पर यूनानी सेना टिड्डी दल-सी टूट पडी।[४] यह आकस्मिक आक्रमण भला कौन रोक सकता था। मालवो की लाशो से खेत पट गये। अन्त मे कुछ ने समीप के नगर मे शरण ली तथा कुछ ब्राह्मणो के एक नगर मे शरणाथ चले गये। किन्तु "चूँकि मालव वीर थे, उनमे केवल कुछ ही बन्दी किये जा सके और शेष मृत्यु के शिकार हुए।"[५] एरियन के अनुसार सिकन्दर ने तत्पश्चात आधुनिक झग एव माट गुमरी जिलो की सीमा पर स्थित मालवो के दुग पर आक्रमण कर दिया जहाँ उसे भीषण युद्ध का सामना करना पडा और जैसा कि ऊपर बताया गया है स्वय सिकन्दर को इस युद्ध मे घायल हो जाना पडा। सिकन्दर को घायल होते देख यूनानी सेना मालवो पर भूखे सिह-सी टूट पडी और फिर तो जिस क्रूरता स मालव मर्दों स्त्रियो बच्चो की निर्मम हत्या की गई वह यूनानियो की युद्ध-नीति पर एक दूसरा काला धब्बा है। यहाँ सिकन्दर ने यह चालाकी की थी कि मालवो और क्षुद्रको की शक्ति के सगठित एव सयुक्त होने के पूव ही उसने मालवों पर आक्रमण कर दिया था। क्षुद्रको के पास शक्ति न थी कि वे सिकन्दर का अकेले सामना करते, अत उन्होंने सधि कर ली। सिकन्दर ने इन दोनो गणराज्यो को भी फिलिप की अध्यक्षता मे कर दिया जिससे यूनानी सत्ता स्थायी हो सके।

अवस्तनोई—सिकन्दर का माग रोकने के लिए अवस्तनोई अथवा अम्बष्ट नामक

---

१ कर्टियस ६, ४।
२ वही, *Invasion by Alexander*, पृ० २३४
३ वही पृष्ठ २३५।
४ एरियन ६, ६, *Invasion by Alexander*, पृ० १४०
५ एरियन ६, ७, वही, पृ० १४४

पुन यूनानी सत्ता स्थापित की। इन शासको ने भारतीय मुद्रा का परिष्कार किया। तक्षशिला मे इण्डोग्रीक शासको की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। वे सुन्दरता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इन मुद्राओ की सुन्दरता से ही प्रभावित होकर सम्भवत आगे चलकर भारतीयो ने भी इनका अनुकरण किया और प्राचीन मुद्रा-निर्माण शैली को त्याग दिया। भारत में यूनानी उल्लू शैली तथा चाँदी के द्रम्म (ड्राम) सिक्कों का प्रचलन विशेष उल्लेखनीय है। यही बैक्ट्रिया प्रदेश कनिष्क के शासन-काल मे भारतीय शासन के अन्तर्गत था और इसके फलस्वरूप किस प्रकार भारत मे 'गान्धार शैली' का उदय हुआ, इसके सम्बन्ध मे हम आगे पढेंगे। इसके सम्बन्ध मे मैक्रिन्डल ने लिखा है—

"Not a few of Alexander's officers and companions were men of high attainments in literature and science, and some of their number composed memoirs of his wars, in the course of which they recorded the impressions of India and the races by which they found it inhabited"

किन्तु ये सारे प्रभाव गिनने भर को ही हैं। इनमे किसी मे उतनी गम्भीरता नही है। वास्तव मे कुछ काल तक हिंसक, नृशस, आक्रमणकारी के रूप मे रहनेवाली जाति किसी जाति पर, जिस पर यह आक्रमण कर रही है और जो उसे इस आक्रमण के कारण घृणित दृष्टि से देखती है, क्या प्रभाव डाल सकती है, वह भी उस दशा मे जब प्रभावित की जाने वाली जाति उससे सभ्यता एव सस्कृति के क्षेत्र मे किसी प्रकार पिछडी न हो।

प्रश्न

Lucknow University

1 Give a short account of the political condition of the Punjab and Sind at the time of Alexander's invasion

Agra University

1 Show how far the Indian rulers were responsible for the success of Alexander the Great in his Indian Campaign (1942)

2 Give a short history of Alexander's campaign in the Punjab, with special reference to the battle of Hydaspes (1943)

3 Discuss the main incidents in the retreat of Alexander the Great Why did he not advance beyona the Bias? (1944)

4 Discuss the part played by (a) the king and (b) the re publics of the Punjab and Sind in resisting Alexander's invasion of India (1952)

5 "From the Indian standpoint its importance lies chiefly in the fact that it opened up a free intercourse between India and the west For the rest, there is nothing to distinguish this raid in Indian history' Do you agree with the above remark of Dr R C Majumdar about the invasion of Alexander?

Allahabad University

१ सिकन्दर के भारतीय आक्रमण का सक्षिप्त विवरण देकर भारतीय इतिहास पर उसके प्रभाव का मूल्याकन कीजिए। (१९६५, १९६७)

२ वितस्ता (झेलम) के युद्ध का वृत्तान्त लिखिए तथा पोरस की पराजय के कारणो का विवेचन कीजिए। (१९६८)

तूफान को भूल गया। हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन किसी भी भारतीय लेखक ने सिकन्दर या उसके कार्यों का नाममात्र का भी संकेत नही किया है।"

इनके समर्थक अनेक इतिहासकार हैं। राधाकुमुद मुकर्जी ने भी जोरदार शब्दों मे यह घोषणा की है कि सिकन्दर के आक्रमण का कोई स्थायी प्रभाव नही पडा। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि यूनानी और भारतीयो की सच्ची लडाई तो हो ही नही पाई, केवल एक पर्वतीय या सीमान्त जातियो को पराजित कर देने से ही यह कार्य सम्पन्न नही हो गया। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई प्रभाव न पडा हो। जसा कि प्रख्यात इतिहासाकर नीलकान्त शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'Age of Nandas and Mauryas' मे लिखा है—

"But the invasion itself, though it lasted less than two years, was too great an occurrence to leave things just as they were"

राजनीतिक प्रभाव—सीमान्त प्रदेशो की छोटी छोटी जातियो को पराजित करके सिकन्दर ने एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर दी जिससे चन्द्रगुप्त को भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित करने का अवसर मिला।[1] पश्चिमोत्तर प्रदेश मे स्थापित उसकी क्षत्रपीय व्यवस्था यद्यपि उसकी मृत्यु के पश्चात ही समाप्त हो गई, तथापि उससे भारतीय राजनीतिज्ञो को प्रेरणा मिली।[2] जैसा कि शास्त्री महोदय ने लिखा है—

"It left the warrior tribes of the Indus river system weakened and broken, and thus paved the way for the easy extension of Maurya rule —*Nilkant Sastri*

इसके साथ ही इस घटना ने भारतीय इतिहास-लेखन की सामग्री मे भी सहायता दी। भारतीय इतिहास के कुछ पृष्ठो को सिकन्दर के लेखक साथियो ने प्रकाशित करने मे भी योग दिया।

यातायात एव वाणिज्य पर प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप स्थल एव जल के चार स्पष्ट मार्गों की खोज हुई जिससे भारत तथा पाश्चात्य देशो में व्यापारिक एव सास्कृतिक सम्बन्ध मे जो पहले से ही स्थापित था, घनिष्ठतर हो गया। इन दोनो व्यापारिक सम्बन्धो की घनिष्ठता का परिचय बैबीलोनिया की ढली प्रचुर मुद्रायें हैं जो उत्तर पश्चिम भारत मे काफी मात्रा मे मिली हैं। यह व्यापारिक सम्पर्क पहले से *स्थापित था किन्तु वाणिज्य मार्गों की खोज के पश्चात ही* इसमे अभिवृद्धि हुई। भारत मे स्थापित यूनानी नगरो की माँग ने भी यूनान तथा भारत के व्यापार को बढाया होगा।

सांस्कृतिक प्रभाव—राजनीतिक एव आर्थिक प्रभावो के अतिरिक्त इस आक्रमण का सास्कृतिक प्रभाव भी पडा। यूनानी नागरिको के सम्पर्क मे आकर भारतीय नागरिको ने उनसे कुछ सीखा और इस प्रकार सस्कृति का आदान प्रदान हुआ। एशिया मे सिकन्दर ने अनेक *उपनिवेशो की स्थापना की थी जिनमे एक बैक्ट्रिया मे भी था।* बैक्ट्रिया के यूनानी शासको ने अशोक के दुर्बल उत्तराधिकारियो के शासन-काल मे भारत पर आक्रमण किया और पजाब तथा भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर उन्होंने

१ रायचौधरी महोदय ने ठीक ही लिखा है कि उग्रसेन महापदम (महापदमनन्द) चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्वी साम्राज्य का पिछला शासक था तो उस साम्राज्य की नींव उत्तर-पश्चिम सीमा प्रात मे दृढ़ करने वाला सिकन्दर था। *Political History,* V Edition पृ० २६३

२ देखिये कैं० हिन्दू भाग १, पृ० ४३३ ३४

श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है कि विष्णुपुराण का "टीकाकार व्याकरण के नियमों का पालन करने की अपेक्षा चन्द्रगुप्त को एक माँ ढूँढ़ देने के लिए अधिक इच्छुक है।" मुकर्जी ने यह भी बतलाया है कि टीकाकार ने मुरा को शूद्र भी नहीं लिखा है। बृहत्कथा में भी चन्द्रगुप्त को तुच्छ कुल का बतलाया गया है। विशाखदत्त द्वारा रचित मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'वृषल' शब्द से सम्बोधित किया गया है। कहीं-कहीं इसे 'कुलहीन' भी कहा गया है। कुछ विद्वान् इन शब्दों का अर्थ शूद्र अथवा निम्न जाति से लेते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों का यह मत है कि 'कुलहीन' का अर्थ जाति बहिष्कृत न होकर छोटे परिवार से है। इसी प्रकार 'वृषल' का अर्थ भी वृष अथवा 'राजाओं का प्रधान' से लिया जाता है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मुद्राराक्षस की रचना बृहत्कथा के आधार पर हुई है। अतः इस विषय में इसकी कोई मौलिकता नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जस्टिन साहब, विष्णुपुराण की टीकायें, बृहत्कथा तथा मुद्राराक्षस चन्द्रगुप्त मौर्य को तुच्छ कुल का बतलाते हैं। इनके अतिरिक्त, अन्य कोई साधन नहीं उपलब्ध है जो चन्द्रगुप्त को शूद्र घोषित करता है।

अब हम उन साधनों पर प्रकाश डालेंगे जो चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों का इस क्षेत्र में विशेष स्थान है। दिव्यावदान चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार को मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय मानता है।[1] इस ग्रन्थ में अशोक अपनी पत्नी तिष्यरक्षिता से कहता है "देवि अहं क्षत्रिय कथं पलाण्डु परिभक्षयामि" अर्थात् देवि! मैं क्षत्रिय हूँ, प्याज कैसे खा सकता हूँ? स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त भी क्षत्रिय ही रहा होगा तभी उसका वंशज अशोक स्वयं को क्षत्रिय घोषित करता है। इसी प्रकार एक अन्य बौद्ध ग्रंथ महावंश चन्द्रगुप्त को मोरिय क्षत्रिय कुल का मानता है।[2] मोरिय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण हमें एक अन्य प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथ महापरिनिब्बान सुत्त[3] से प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में मोरियों को पिप्पलिवन का शासक बतलाया गया है। इस ग्रंथ में यह लिखा हुआ है कि पिप्पलिवन के मोरियों ने मल्लों के पास महात्मा गौतम बुद्ध के पावनावशेष का कुछ अंश माँगने के लिए एक दूत यह कहला कर भेजा कि 'महात्मा गौतम बुद्ध क्षत्रिय वंश के थे और हम लोग भी क्षत्रिय हैं।' इस विवरण से मोरिय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण प्राप्त हो जाता है और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य निश्चय ही इन्हीं मोरियों से सम्बन्धित क्षत्रिय कुल का रहा होगा। दिव्यावदान का क्षत्रिय होना प्रमाणित होना है। इनके अतिरिक्त जैन ग्रंथों से भी चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय होना सिद्ध हो जाता है। इन जैन ग्रंथों में परिशिष्टपर्वन् तथा कल्पसुत्त विशेष उल्लेखनीय हैं।

एलियन, सर जान मार्शल तथा डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी भी चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय स्वीकार करते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति पर प्रकाश डाल लेने के पश्चात् इसके तिमिराच्छादित प्रारंभिक जीवन प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा। इस विषय में हमें बौद्ध अनुश्रुतियों का ही सहारा लेना पड़ता है। इनके अनुसार चन्द्रगुप्त मोरियों के प्रधान

---

१ कॉवेल तथा नील का संस्करण, पृ० ३७०। इसी ग्रन्थ में अशोक अपने को क्षत्रिय कहता है।

२ मोरियानाम खत्तियानाम वंशे जातं।

३ SBE, *Sacred Books of the East*, XI, pp 134-135

१२ | मौर्य-काल

चन्द्रगुप्त मौर्य

यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर जिस समय भारतवर्ष के सीमान्त प्रदेशो पर अपना तूफानी आक्रमण कर रहा था और दुबल एव वैमनस्य रखनेवाले भारतीय राजाओं की शक्ति का अपहरण करन मे लगा था, उसी समय के मगध विशाल साम्राज्य मे एक भारतीय नवयुवक अपनी राजनीतिक शक्ति का सचय कर रहा था। वह युग राजनीतिक अनेकता का युग था। सम्पूर्ण भारतवय मे (कम से कम उत्तरी भारत) मगध ही एक शक्तिशाली एव सुसगठित राज्य था। सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख करते हुए पिछले परिच्छेद मे हमने यह बताया था कि विश्व विजेता सिकन्दर की अजेय सेना ने किस प्रकार नन्द सेना की विशालता की कल्पना मात्र से ही भयातुर होकर आगे बढने म असमयता प्रकट की थी। दूसरी ओर एक अकेला व्यक्ति इस विशाल साम्राज्य को परा जित करने की सोच रहा था। उसकी महत्वाकाक्षायें कविकृत कल्पना मात्र न थी वरन उसन नन्दों को समूल नष्ट करके सचमुच भारतीय इतिहास मे एक नये युग का निर्मा किया। इस उत्साही वीर पुरुष का नाम चन्द्रगुप्त मौय तथा उसके साम्राज्य का ना मौय साम्राज्य है।

मौय साम्राज्य के सस्थापक चन्द्रगुप्त मौय के प्रारम्भिक जीवन पर प्रका डाल देना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त का प्रारम्भिक जीवन—अज्ञात पिता के विख्यात पुत्र चन्द्रगुप्त क जन्म लगभग ३४५ ई० पूव मे हुआ था। कुछ इतिहासकारो का मत है कि मगध साम्राज्य के उत्कष के समय मौर्यों की महत्ता का अन्त हो चुका था। इन्ही मौर्यों के प्रधान का पुत्र चन्द्रगुप्त अपनी विधवा माता द्वारा किसी प्रकार पाला जा रहा था। इसके शेष प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालने के पूव इसकी जाति की जटिल समस्या को सुलझाने का प्रयास किया जाएगा। भारतीय इतिहास मे किसी भी सम्राट की जाति के सम्बन्ध म इतने मत नही प्रचलित हैं जितने कि चन्द्रगुप्त मौय की जाति के सम्बन्ध मे प्राप्य हैं। इतिहासकारो तथा अनुश्रुतिया एव लोककथाओ म चन्द्रगुप्त की जाति पर मतभेद है। कुछ इसे क्षत्रिय मानते हैं तथा कुछ शूद्र घोषित करते हैं। यूनानी लेखक जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का जन्म निम्न कुल मे हुआ था। जैन अनुश्रुति के अनु सार भी यह किसी वहुत ऊँचे कुल का नही था, अपितु इसका जन्म एक ऐसे गाव के प्रधान के घर मे हुआ था जिसमें 'मयूर पोषक' (मोर पालनेवाले) रहा करते थे। 'मयूर पोषक' कुल मे उत्पन्न होने के नाते चन्द्रगुप्त को मौय की उपाधि प्राप्त हुई। चन्द्रगुप्त मौय को निम्न कुल का बतानेवाला दूसरा साधन विष्णु पुराण है। मौय शब्द के आधार पर ही विष्णुपुराण मे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्द्रगुप्त का जन्म नन्द राजा की मुरा नामक स्त्री से हुआ था। किन्तु सस्कृत-व्याकरण के अनुसार मुरा से 'मौरेय' शब्द बनेगा न कि 'मौय'। टीकाकार वास्तव मे चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध राज पूत से जोडना चाहता है, किन्तु लोककथाओ एव अनुश्रुतियो की छाप उसके मस्तिष्क पर रही जिसके फलस्वरूप उसने चन्द्रगुप्त की माता का नाम शूद्रा स्त्री-सा रख दिया।

तर्कसंगत प्रमाण नहीं मिलता कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने नन्द राजा का पतन करने के लिए आमंत्रित किया था। सम्भवत चन्द्रगुप्त ने यह सोचा हो कि यूनानी आक्रमणकारी अपनी सशक्त सेना द्वारा नद सेना का विध्वंस करके वापस लौट जायेगा और तब राजनीतिक अव्यवस्था द्वारा प्रस्तुत दुर्बलता से लाभ उठाकर मगध राज्य पर आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर कुछ इतिहासकार चन्द्रगुप्त द्वारा सिकन्दर को मगध आक्रमण के लिये आमंत्रित करने की बातें करते हैं। भारतीय यूनानी राज्यों की राजनीतिक दुर्बलता पर ध्यान देते हुए यूनानी अधिकार के पश्चात् मगध राज्य का दुर्बल हो जाना भी तर्कसंगत जान पड़ता है जो दूरदर्शी चाणक्य की कल्पना के अन्दर आ सकता था। चाणक्य सीमा प्रान्त का मूल निवासी था। नन्द राज्य मे भी उसने काफी समय व्यतीत किया था, अत उसे दोनों स्थानों की राजनीतिक परिस्थितियों का विशेष ज्ञान रहा होगा। किन्तु, यहाँ भी यही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य की भेंट इस घटना के पूर्व होती है अथवा पश्चात्। अत जब तक कोई विशेष तर्कसंगत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता, सिकन्दर द्वारा मगध राज्य का विनाश कराने की बात सदिग्ध ही रहेगी। चन्द्रगुप्त और चाणक्य को किसी प्रकार भी नन्द वंश का अन्त करके शासन-सत्ता को अपने हाथ मे लेना था और इसके लिए वे दोनों प्रयत्नशील थे।

अब हम विदेशियों से देश को मुक्त कराने की समस्या पर प्रकाश डालेंगे। इसके लिए तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सीमा प्रान्त की जनता यूनानी शासन से असंतुष्ट थी। उसने अपने यूनानी क्षत्रप फिलिप की हत्या कर दी थी। चन्द्रगुप्त ने इस अशान्ति से पूरा लाभ उठाया। उसने विद्रोही जनता को प्रोत्साहित करने म अपनी सारी शक्ति लगा दी। विद्रोह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सिकन्दर को जब यह सूचना मिली तब वह पूर्ण तया विवश था। उसकी सेना किसी प्रकार भी विद्रोह दबाने को लौट नहीं सकती थी। अत उसे अपने भारतीय मित्र राजाओ पुरु तथा आम्भी पर भरोसा करना पड़ा। उनसे सीमा प्रान्त के यूनानी शासक यूदेमो की अध्यक्षता मे इस विद्रोह का दमन करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु न कर सके। ३२३ ई० पूर्व के जून मे जब सिकन्दर की अकाल मृत्यु हो गई तो चन्द्रगुप्त तथा विद्रोहियों के लिए परिस्थिति और भी अनुकूल हो गई। चन्द्रगुप्त को अस्कानी, मालव तथा क्षुद्रक जातियों की राष्ट्रीयता एव स्वतन्त्रप्रियता का प्रमाण मिल चुका था। वह इस वीर जाति से काफी प्रभावित था। महावंश टीका के अनुसार चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त ने सीमाप्रान्त की विभिन्न जातियों से सेना के लिये रंगरूटो की भर्ती की थी। चन्द्रगुप्त की सेना का उल्लेख जस्टिन साहब ने भी किया है और उन्होंने चन्द्रगुप्त के सैनिकों को पजाब के गणतत्र का निवासी बतलाया है। हिमालीय राजा पर्वतक से भी चन्द्रगुप्त ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मित्रता स्थापित कर ली थी जिसका उल्लेख मुद्राराक्षस तथा परिशिष्टपर्वम् (जैन ग्रथ) मे किया गया है। पर्वतक द्वारा चन्द्रगुप्त को सैनिक सहायता प्राप्त हुई थी, जिसका प्रमाण मुद्राराक्षस है। चन्द्रगुप्त ने भारत के यूनानी शासक फिलिप तथा उसके स्वामी की मृत्यु के बीच दो वर्षों (३२५–३२३ ई०) मे सेना तयार कर ली थी। जस्टिन महोदय के विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रगुप्त न सैनिक सगठन कर लेने के पश्चात् स्वय को राजा घोषित कर दिया और तदुपरान्त उसने सिकन्दर के प्रतिनिधियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जिसमें उसको सफलता प्राप्त हुई। यूनानी लेखकों के विवरणो के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने ३२१ अथवा ३२३ ई० पूर्व मे

का पुत्र था। पति की मृत्यु के पश्चात पत्नी पुष्पपुर (कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र) में रहने लगी थी जहाँ उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। बालक विभिन्न कठिनाइयों का सामना करता हुआ महाकूटनीतिज्ञ चाणक्य की दृष्टि में पड़ा जिसने उसकी अद्वितीय प्रतिभा को देखकर उसे अपने साथ तक्षशिला लाने का निश्चय किया। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की भेंट-सम्बन्धी कथाओं की संख्या अगणित है। इस विषय में प्रामाणिक रूप में कुछ कहना कठिन है, कहा जाता है कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को विभिन्न प्रकार की कलाओं एवं विज्ञानों की शिक्षा दी। कुछ दन्तकथाओं तथा अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त और चाणक्य की भेंट उस समय होती है जब एक ओर नन्द राजा का सेनापति चन्द्रगुप्त अपने स्वामी से किसी कारणवश असंतुष्ट होकर प्रतिकार की भावना से राज्य छोड़ रहा था तथा दूसरी ओर अपनी कुरूपता के कारण नन्द राजा द्वारा अपमानित चाणक्य नन्दवंश का समूल नाश करने का प्रण करके प्रयत्नशील होने जा रहा था। चन्द्रगुप्त तथा अन्तिम नन्द राजा के संघर्ष की कथा मिलिन्दपञ्हो, पुराण, मुद्राराक्षस नाटक, महावंश टीका तथा परिशिष्टपर्वन में मिलती है। वास्तविकता जो भी हो, इतना सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य दोनों ही नन्द राजा से असन्तुष्ट थे। साथ ही नन्द राजाओं की क्रूरता एवं नृशंसता से प्रपीड़ित जनता भी मुक्ति की प्रतीक्षा कर रही थी। इतना ही नहीं, भारतवर्ष पर सिकन्दर द्वारा स्थापित विदेशी शासन भी भारतीय जनता को प्रिय न था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि देशवासियों को इस विदेशी शासन से कितनी अधिक व्यथा थी। चाणक्य ने अपने ग्रंथ में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि विदेशी विजेता किस प्रकार देश का आर्थिक शोषण करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त के सम्मुख दो भारी समस्यायें उपस्थित थीं (१) नन्द-वंश का अन्त करके देशवासियों को नृशंसता एवं निर्दयता से मुक्त कराना तथा (२) विदेशी शासन का अन्त करके देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करना।

कुछ इतिहासकारों का कथन है कि अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए चन्द्रगुप्त पंजाब में सिकन्दर से मिला और उसने विदेशी आक्रमणकारी को मगध पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया। उस समय तक सिकन्दर की सेना विद्रोही हो चुकी थी। अतः वह कुछ न कर सका। यूनानी इतिहासकार जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त अत्यन्त दृप्त युवक था। उसके अहंकार ने यूनानी विजेता को इतना अप्रसन्न कर दिया कि चन्द्रगुप्त को विवश होकर यूनानी कैम्प छोड़ना पड़ा।[१] इतिहासकार प्लूटार्क भी चन्द्रगुप्त का सिकन्दर के पास जाना स्वीकार करते हैं।[२] किन्तु इस बात का कोई

१ "This man Chandragupta was of humble origin, but was stimulated to aspire to regal power by supernatural encouragement, for, having offended Alexander by his boldness of speech and orders being given to kill him, he saved himself, by swiftness of foot'"

२ 'Androkottus (Chandragupta) himself, who was then a lad, saw Alexander himself and afterwards used to declare that Alexander might easily have conquered that whole country as then the king was hated by his subjects on account of his mean and wicked disposition"—*Life of Alexander*, XII

तर्कसंगत प्रमाण नहीं मिलता कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करके नन्द राजा का पतन करने के लिए आमन्त्रित किया था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त ने यह सोचा हो कि यूनानी आक्रमणकारी अपनी सशक्त सेना द्वारा नद सेना का विध्वंश करके वापस लौट जायेगा और तब राजनीतिक अव्यवस्था द्वारा प्रस्तुत दुर्बलता से लाभ उठाकर मगध राज्य पर आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर कुछ इतिहासकार चन्द्रगुप्त द्वारा सिकन्दर को मगध आक्रमण के लिये आमन्त्रित करने की बातें करते हैं। भारतीय यूनानी राज्यों की राजनीतिक दुर्बलता पर ध्यान देते हुए यूनानी अधिकार के पश्चात् मगध राज्य का दुर्बल हो जाना भी तर्कसंगत जान पड़ता है जो दूरदर्शी चाणक्य की कल्पना के अन्दर आ सकता था। चाणक्य सीमा प्रान्त का मूल निवासी था। नन्द राज्य में भी उसने काफी समय व्यतीत किया था, अतः उसे दोनों स्थानों की राजनीतिक परिस्थितियों का विशेष ज्ञान रहा होगा। किन्तु, यहाँ भी वही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य की भेंट इस घटना के पूर्व होती है अथवा पश्चात्। अतः जब तक कोई विशेष तर्कसंगत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता, सिकन्दर द्वारा मगध राज्य का विनाश कराने की बात संदिग्ध ही रहेगी। चन्द्रगुप्त और चाणक्य को किसी प्रकार भी नन्द वंश का अन्त करके शासन-सत्ता को अपने हाथ में लेना था और इसके लिए वे दोनों प्रयत्नशील थे।

अब हम विदेशियों से देश को मुक्त कराने की समस्या पर प्रकाश डालेंगे। इसके लिए तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सीमा प्रान्त की जनता यूनानी शासन से असंतुष्ट थी। उसने अपने यूनानी क्षत्रप फिलिप की हत्या कर दी थी। चन्द्रगुप्त ने इस अशान्ति से पूरा लाभ उठाया। उसने विद्रोही जनता को प्रोत्साहित करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। विद्रोह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सिकन्दर को जब यह सूचना मिली तब वह पूर्णतया विवश था। उसकी सेना किसी प्रकार भी विद्रोह दबाने को लौट नहीं सकती थी। अतः उसे अपने भारतीय मित्र राजाओं पुरु तथा आम्भी पर भरोसा करना पड़ा। उनसे सीमा प्रान्त के यूनानी शासक यूदेमो की अध्यक्षता में इस विद्रोह का दमन करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु न कर सके। ३२३ ई० पूर्व के जून में जब सिकन्दर की अकाल मृत्यु हो गई तो चन्द्रगुप्त तथा विद्रोहियों के लिए परिस्थिति और भी अनुकूल हो गई। चन्द्रगुप्त को अस्कानी, मालव तथा क्षुद्रक जातियों की राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रप्रियता का प्रमाण मिल चुका था। वह इस वीर जाति से काफी प्रभावित था। महावंश टीका के अनुसार चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त ने सीमाप्रान्त की विभिन्न जातियों से सेना के लिये रंगरूटों की भर्ती की थी। चन्द्रगुप्त की सेना का उल्लेख जस्टिन साहब ने भी किया है और उन्होंने चन्द्रगुप्त के सैनिकों को पंजाब के गणतन्त्र का निवासी बतलाया है। हिमालीय राजा पर्वतक से भी चन्द्रगुप्त ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मित्रता स्थापित कर ली थी जिसका उल्लेख मुद्राराक्षस तथा परिशिष्टपर्वन् (जैन ग्रंथ) में किया गया है। पर्वतक द्वारा चन्द्रगुप्त को सैनिक सहायता प्राप्त हुई थी, जिसका प्रमाण मुद्राराक्षस है। चन्द्रगुप्त ने भारत के यूनानी शासक फिलिप तथा उसके स्वामी की मृत्यु के बीच दो वर्षों (३२५-३२३ ई०) में सेना तैयार कर ली थी। जस्टिन महोदय के विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने सैनिक संगठन कर लेने के पश्चात् स्वयं को राजा घोषित कर दिया और तदुपरान्त उसने सिकन्दर के प्रतिनिधियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जिसमें उसको सफलता प्राप्त हुई। यूनानी लेखकों के विवरणों के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने ३२१ अथवा ३२३ ई० पूर्व में

पहले ही सिंधु घाटी के निचले भाठे में स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ किया था और उसे ३१७ ई० पूर्व में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी, क्योंकि उसी समय यूनानी क्षत्रप युदेमो ने भारत को हमेशा के लिए छोड़ दिया था। इस प्रकार ३१७ ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त पंजाब तथा सिन्ध का शासक बन गया।

राज्यारोहण—अब चन्द्रगुप्त अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति की ओर झुका क्योंकि यह केवल सिंध या पंजाब का शासक नहीं होना चाहता था, वरन् उसे तो नन्दों का विशाल साम्राज्य चाहिए था।

चन्द्रगुप्त द्वारा मगध राज्य अधिकृत किये जाने के प्रामाणिक विवरण का अभाव है। महावंश टीका मे एक कहानी आती है जिसमें चन्द्रगुप्त के प्रथम प्रयास की भूल का बोध होता है। एक माता अपने बच्चे की उपमा, जो चपाती को बीच से खाता है और ऊपरी छिलके को फेंक दे रहा है, चन्द्रगुप्त से देती है जो मगध राज्य पर आक्रमण करने में पहली बार विफल हो चुका था। एक जैन अनुश्रुति भी इसी प्रकार चन्द्रगुप्त के मगध आक्रमण की तुलना उस बच्चे से करता है जो जलती हुई रोटी को किनारे के ठंडे भाग से न तोड़कर बीच से तोड़ता है। इन विवरणों से ऐसा परिलक्षित होता है कि चन्द्रगुप्त ने मगध राज्य पर पहले भी आक्रमण था, जिसमे वह असफल रहा। बौद्ध अनुश्रुति चन्द्रगुप्त की दूसरी सैनिक भूल का उल्लेख करती है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त ने इस बार सीमा प्रान्त से सैनिक प्रयाण किया और उसने अनेक 'राष्ट्र' तथा 'जनपदों' को, जो मार्ग में पड़े, पराजित किया और भारी भूल यह की कि अपनी विजयों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सैनिक दल की नियुक्ति विजित प्रदेशों में नहीं की थी। चन्द्रगुप्त अपनी भूलों का सुधार करके ३१४ ई० पूर्व मे मगध राज्य पर आक्रमणकारी हुआ। किस प्रकार चन्द्रगुप्त ने नन्द सेना का विध्वंस करके मगध राज्य पर अपना आधिपत्य किया, इसका विस्तृत किन्तु अत्युक्तिपूर्ण विवरण मिलिन्दपन्हव, पुराण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा मुद्राराक्षस नाटक से प्राप्त होता है। मिलिन्दपन्हव मे मगध सेना के विनाश का विस्तृत वर्णन किया गया है। ब्राह्मण ग्रंथ नन्दों के विनाश का श्रेय कौटिल्य अर्थात् चाणक्य को देते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी नन्दों के विनाश तथा चन्द्रगुप्त को राज्य दिलाने का श्रेय चाणक्य को दिया जाना ही परिलक्षित होता है। मुद्रा राक्षस नाटक मे चाणक्य द्वारा यह कहलाया गया है कि उसने नन्दो का स्वयं नाश किया। इन कथाओं मे ऐतिहासिक तथ्य कहाँ तक निहित है, यह नहीं कहा जा सकता और इसीलिए यह निश्चय करना कठिन है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य मे नन्द वंश का विनाश करने का श्रेय किसको दिया जाय। वास्तविकता जो भी हो, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पंजाब तथा सीमा प्रान्त से एक बड़ी सेना तैयार करके चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया और धनानन्द को मार डाला। विष्णु पुराण मे यह उल्लेख प्राप्त होता है—"ततश्च नवचैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मण समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्या पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्येऽभिषेक्ष्यति।" चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि के विषय मे कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है। नन्द वंश का अन्त सम्भवतः सिकन्दर के लौटने के शीघ्र पश्चात् हुआ। इससे चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि लगभग ३२१ ई० पूर्व मानी जा सकती है। एक अन्य प्रमाण द्वारा भी स्थिति का समर्थन हो जाता है। सिंहली प्रमाण के अनुसार शिशुनाग वंश का अन्त ३४३ ई० पूर्व मे हुआ तथा नन्द राजाओं ने केवल २२ वर्षों तक राज्य किया। इस साक्ष्य के आधार पर गणना करने से

नन्दों का अन्त तथा चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण (३४३–२२) ३२१ ई० पूर्व में माना जा सकता है।[1]

चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजय— कुछ वर्ष पूर्व का एक साधारण युवक मगध के सुविख्यात राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, निश्चय ही यह एक बहुत बड़ी बात थी। अब तक के भारतीय इतिहास का सम्भवतः यह पहला उदाहरण था कि अपने बल-बूते एवं पौरुष पर साधारण स्थिति का व्यक्ति सम्राट् बना। चन्द्रगुप्त के लिए संतोष का अधिक अवसर था, किन्तु महत्वाकांक्षी चन्द्रगुप्त के हृदय में एक अत्यन्त विस्तृत एवं सुसंगठित साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा थी। वह किसी प्रकार भी इस सीमित मगध राज्य से संतुष्ट नहीं हो सकता था। सौभाग्यवश संसार का सम्भवतः पहला साम्राज्यवादी नीतिज्ञ चाणक्य उसका मंत्री तथा आचार्य था। अतः साम्राज्यवादियों की संयुक्त इच्छा ने साम्राज्य विस्तार के लिए सैनिक प्रयाण को आरम्भ किया। यहाँ चन्द्रगुप्त की केवल महत्वाकांक्षाओं को ही इस दिग्विजय का कारण नहीं कहा जा सकता, अपितु स्वदेश में राजनीतिक एकता स्थापित करके विदेशियों से इसकी रक्षा करने की भावना भी इस सैनिक प्रयाण के मूल में है। दिग्विजय का एक तीसरा महत्वपूर्ण कारण यह था कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर कालीन भारत की राजनैतिक अवस्था का भलीभाँति अध्ययन किया था। उसने यह देखा था कि देश का छोटे छोटे विभिन्न राज्यों में विभक्त रहना कितना हानिप्रद होता है और इससे बाह्य आक्रमणकारी की सफलता तथा देशी राज्यों की असफलता को कितना प्रोत्साहन मिलता है। चन्द्रगुप्त ने जिस परिश्रम द्वारा मगध का राज्य प्राप्त किया था, उसे स्थायित्व तथा दृढ़ता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी साम्राज्य सीमा का विस्तार करे जिससे विशाल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् सैनिक तथा आर्थिक स्थिति काफी अच्छी हो सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्यवाद, स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण से चन्द्रगुप्त को दिग्विजय के लिए रणघोष करना आवश्यक था। एक चतुर्थ किन्तु गौण कारण इस रणघोष का यह भी था कि सिंहासनारोहण के पश्चात् भी नन्द कुल से सम्बन्धित अथवा उनके हितैषी राजे चन्द्रगुप्त से द्वेष एवं ईर्ष्या रखते थे। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के अनेक वैरियों का उल्लेख किया गया है। नन्द राजा का मंत्री राक्षस चन्द्रगुप्त के विरुद्ध अनेक प्रकार का षड्यन्त्र करता हुआ उक्त नाटक में दिखलाया गया है। मंत्री राक्षस भले ही ऐतिहासिक व्यक्ति न हो और वह विशाखदत्त का कल्पनाजनित व्यक्ति हो, पर इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि राज्यारोहण के पश्चात् भी चन्द्रगुप्त को अपने शत्रुओं से भय था। वे शत्रु निश्चय ही राजकुल के रहे होंगे और उनके दमन के लिए विस्तृत एवं सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना तथा सैनिक शक्ति की वृद्धि आवश्यक थी। चन्द्रगुप्त के शत्रुओं की उपस्थिति का प्रमाण हमें मेगस्थनीज के विवरण से भी प्राप्त हो जाता है। उसने लिखा है कि चन्द्रगुप्त का जीवन सदैव संकटमय था। फलस्वरूप उसे रात्रि में कमरा बदल-बदल कर सोना पड़ता था।

सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त ने पंजाब पर आक्रमण किया और वहाँ से यूनानी विजय के अवशेष चिह्नों का सर्वदा के लिए अन्त कर दिया। अब भारतवर्ष में यूनानी राज्य का नाम तक अवशेष नहीं रह गया था। देश को विदेशियों के हाथ से मुक्त कराने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने भारत में अन्य प्रान्तों को जीतने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त की इन विजयों का विस्तारपूर्वक वर्णन हमें प्राप्य नहीं है, पर कुछ विदेशी लेखों से हमें इन

१ चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक की तिथि विषयक अन्य जानकारी के लिये देखिए श्री जे० एस० नेगी-कृत *Groundwork of Ancient History*

विजयो का सकेत प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार का वणन करते समय उसकी विजयो का उल्लेख किया जायेगा। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि चन्द्रगुप्त ने सम्पूण उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के अधिकाश भूभाग के बीच के राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। चन्द्रगुप्त की सैनिक शक्ति का सवश्रेष्ठ उदाहरण हमे जिस घटना से मिलता है, वह सिल्यूकस की पराजय है।

सिल्यूकस की पराजय—जिस समय चन्द्रगुप्त मौय साम्राज्य के विस्तार मे तल्लीन था, उसी समय भारत पर एक नई आँधी आई जिससे पूव की भाँति पुन देश को राजनीतिक तथा आर्थिक क्षति होने की आशका थी, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चन्द्रगुप्त ने राज्यारोहण के पश्चात् ही अपनी सैनिक शक्ति इतनी प्रबल कर ली थी कि वह बडी से बडी आफत झेलने तथा भयकरतम आक्रमण को रोकने मे समथ था। यह आँधी थी यूनानी सेनापति सिल्यूकस का आक्रमण।

यूनानी विजेता सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो चुका था। सेनापतियो मे महत्त्व के लिये स्पर्द्धा स्वाभाविक थी। उन्ही प्रतिस्पर्द्धी सेनापतियो मे सिल्यूकस नामक सेनापति अत्यधिक शक्तिशाली तथा महत्त्वाकाक्षी था। वह सिकन्दर के साम्राज्य के पूर्वी भाग का अधिकारी था। यूनानी सिकन्दर द्वारा विजित स्थानो पर अपना उत्तराधिकार समझते थे। सिल्यूकस ने भी भारत का वह भाग जिस पर सिकन्दर ने विजय प्राप्त की थी, अपने अधीन करने का निश्चय किया। ३०५ ई० पूव तक उसने सम्पूण पश्चिमी एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। तदुपरान्त उसने भारत की ओर अपनी विशाल सेना का मुँह मोड दिया। किन्तु दुर्भाग्यवश वह भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से पूर्णतया अनभिज्ञ था। उसे ३२४–२३ ई० पूव के भारत तथा ३०५ ई० पूर्व के भारत की राजनीतिक परिस्थितियो का अन्तर नहीं ज्ञात था। सिकन्दर-कालीन भारत तथा चन्द्रगुप्त कालीन भारत मे महान् अन्तर था। सिकन्दर को छोटे-छोटे दुबल भारतीय राजाओ का सामना करना पडा था, उसका सघष उन राज्यो से हुआ था जिनमे न केवल सैनिक दुबलता थी, प्रत्युत उनमे पारस्परिक द्वेष एव ईर्ष्या भी कूट-कूट कर भरी हुई थी। इसके प्रतिकूल सिल्यूकस एक ऐसी शक्ति का सामना करने जा रहा था जो अपने राजनीतिक एव सैनिक सगठन में अब तक के भारतीय इतिहास मे अद्वितीय है।

३०५ ई० पूव मे सिल्यूकस सिंध पहुँचा। निश्चय ही यूनानी रण प्रणाली विश्व विख्यात थी और इस प्रणाली से अपरिचित किसी भी शक्ति के लिए यूनानी सेना का दमन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। किन्तु वीर चन्द्रगुप्त ने यूनानी शिविर मे इस रण प्रणाली की शिक्षा प्राप्त की थी। अत वह इसके सिद्धान्तो, नियमो एव चालो से पूर्णतया परिचित था। सिल्यूकस तथा चन्द्रगुप्त मौय के सघर्षों के विस्तृत वर्णन का अभाव है और यूनानी लेखक युद्ध का परिणाम मात्र बतलाकर चुप हो जाते हैं।[1] किन्तु

---

१ "It will be seen that the classical writers do not give us any detailed record of the actual conflict between Seleukos and Chandragupta They merely speak of the results There can be no doubt that the invader could not make much headway, and concluded an alliance which was cemented by a marriage contract"—
डॉ० रायचौधरी, *Political History*

यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दो शक्तियों में कुछ समय तक अवश्य ही संघर्ष हुआ होगा। अन्त मे सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त के सामने घुटन टेक देने पड़े। ठीक इसी समय सिल्यूकस को अपने एक अन्य शत्रु अन्तीकोनस से युद्ध करने के लिए पश्चिम लौट जाना था। चन्द्रगुप्त की अद्वितीय शक्ति तथा अपनी सदिग्ध परिस्थिति का ध्यान रखते हुए सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त द्वारा प्रस्तुत सधि की सभी शर्तों को स्वीकार करना पड़ा। इस सधि के अनुसार सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को निम्नलिखित चार प्रान्त दिये—ऐरिया (हेरात), एराकोसिया (कन्धार), परोपनिसीद (परोपनिषद—काबुल की घाटी) और गेद्रोसिया (बलूचिस्तान)। बदले मे चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस को ५०० सैन्य गज भेंट-रूप मे दिये। सिल्यूकस ने इन लड़ाकू हाथियो का प्रयोग अपने शत्रु अन्तीकोनस के विरुद्ध ३०१ ई० पूर्व मे इप्सस के रणक्षेत्र मे युद्ध करते समय किया। ऐसा प्रसिद्ध है कि सन्धि की पुष्टि वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा हुई।[1] इसके अनुसार सिल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया। यह बात इतिहास के कितना निकट है, नहीं कहा जा सकता।[2] कुछ इतिहासकार, जिस लड़की से चन्द्रगुप्त का ब्याह हुआ था, उसे सिल्यूकस की पुत्री न बतलाकर कोई अन्य यूनानी राजकुमारी बतलाते हैं।[3] कोई भी तर्कसगत ऐतिहासिक प्रमाण इस सम्बन्ध मे नही प्राप्त होता है। अत इसके सत्यासत्य का निर्णय करना प्रामाणिक ऐतिहासिक साक्ष्यो के अभाव मे कठिन है, पर चन्द्रगुप्त तथा सिल्यूकस की पारस्परिक मित्रता को बनाये रखनेवाला एक अन्य साधन का ऐतिहासिक प्रमाण हमे प्राप्त है। सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार मे मेगस्थनीज नामक राजदूत को भेजा जिसने पाटलिपुत्र मे बहुत दिनो तक निवास कर के भारत की विभिन्न परिस्थितियो का ज्ञान प्राप्त किया। मेगस्थनीज ने भारतवर्ष पर एक पुस्तक लिखी जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह पुस्तक अपने मूल रूप मे

---

१ इस सम्बन्ध मे मत-वैभिन्य होते हुए भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि युद्ध का अन्त सन्धि द्वारा हुआ और सन्धि में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। डॉ० रायचौधरी ने इस सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डाला है—

"Appian informs us that the fight went on until they (i e the Syrian and Indian kings) came to an understanding with each other and contracted a marriage relationship (kedos)" *Age of the Nandas and Mauryas*, p 151, Edited by K A Nilkant Sastri

२ चौधरी महोदय ने वैवाहिक सम्बन्ध की पुष्टि के लिए आगे स्ट्रैबो का उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिसमे स्ट्रैबो पश्चिमी एशिया में स्थित स्थानों का नामाकन करते हुये बतलाते हैं कि इन स्थानों पर सिकन्दर का आधिपत्य था, पर कालान्तर मे सेल्यूकस ने इन देशो को दहेज-रूप मे भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त को दिया—

" Seleukos Nicator gave them to Sandrocottus (Chandra gupta), upon terms of intermarriage (Epigamia) and of receiving in exchange five hundred elephants

३ डॉ० स्मिथ ने लिखा है कि हमें इसका ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि सेल्यूकस ने अपनी ही पुत्री का ब्याह चन्द्रगुप्त के साथ किया था, ये प्रमाण केवल 'वैवाहिक सम्बन्ध' का समर्थन करते हैं। देखिये डॉ० स्मिथ का 'अशोक', तृतीय संस्करण, पृष्ठ १५—डॉ० चौधरी द्वारा उद्धृत।

नही प्राप्य है तथापि अन्य लेखको द्वारा उद्धृत उद्धरणो से हमे तत्कालीन भारत के इतिहास का कुछ बोध हो जाता है।

अन्तिम दिन——इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त के शेष जीवन का इतिहास नही मिलता है। उसके साम्राज्य-विस्तार को देखते हुये ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त का शेष जीवन भी साम्राज्य विस्तार के लिए युद्धो मे व्यतीत हुआ होगा। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन मतावलम्बी होकर अपने शासन-काल के अन्तिम दिनो मे, मगध मे भयकर अकाल पड़ने के कारण राज्य का परित्याग करके जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण में मैसूर की ओर चला गया था। मैसूर मे (जो स्रवण बेलगोला के नाम से प्रसिद्ध है) अब भी कुछ अभिलेख भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त का जैन साधुओं की भाँति निवास करने का सकेत करते हैं। वहाँ जिस पहाडी पर भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त निवास करता था, वह आज भी चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित चन्द्रगुप्त बस्ती नामक मन्दिर भी पाया जाता है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त एक सच्चे जैन भिक्षु की भाँति उपवास करके अपना प्राणान्त कर दिया।[1] इसकी मृत्यु तिथि २९८ अथवा ३०० ई० पूर्व बतलाई जाती है। यूनानी लेखको के विवरण से उक्त जैन अनुश्रुति का खडन हो जाता है। इन लेखको के मतानुसार चन्द्रगुप्त ने हिंसा को कभी नही छोडा था। ऐसी दशा में चन्द्रगुप्त का जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर जाना तथा वहाँ अनशन करके प्राण त्यागना सम्भव नही है। किन्तु जब तक कोई तर्कसगत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता तब तक इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

साम्राज्य विस्तार

बहुधा चन्द्रगुप्त के साम्राज्य-विस्तार के सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है। हमारे पास इस प्रश्न को सुलझाने के लिए कुछ ऐतिहासिक सामग्रियाँ हैं जिनके आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य के विस्तृत साम्राज्य की सीमाओ का निर्धारण किया जा सकता है। यूनानी लेखक प्लूटार्क तथा जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का अधिकार सम्पूर्ण भारतवर्ष पर था। प्लूटार्क महोदय ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि चन्द्रगुप्त ने ६ लाख सैनिकों की विशाल सेना लेकर सम्पूर्ण भारत को रौंद दिया था।[2] इस सत्य का समर्थन कुछ अन्य प्राप्त साक्ष्यों द्वारा हो जाता है। हमें ज्ञात है कि अशोक ने अपने जीवन-काल में केवल एक बार कलिंग राज्य से युद्ध किया। उसके पिता बिन्दुसार ने साम्राज्य विस्तार के लिए कोई प्रयास नही किया था। अशोक के अभिलेखो के प्राप्ति-स्थानों पर विचार करने से हम चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह अभिलेख दक्षिण मे मैसूर तथा भारत के प्राकृतिक सीमा से प्रसार के सरहद पर उत्तर

1 ' Jain tradition avers that towards the end of his life he became a convert to the religion of the Tirthankaras after the rival teachers had been *discomfited in a synod* It *is also* affirmed that when Magadha was confronted with a famine of twelve years Chandragupta abdicated in favour of a son named Simhasena and retired to Sarvana Belgola in Mysore with the Saint (Sruta Kevalin) Bhadravahu There he starved himself to death in the Jain fashion "—*Age of the Nandas and Mauryas*, p 165

2 "With an army of six hundred thousand men (Chandragupta) overran and subdued all India"—Quoted by Dr H C Roychaudhuri

पश्चिम मे पाये जाते हैं। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस साम्राज्य पर अशोक ने राज्य किया उसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही किया था।

एक दूसरे प्रमाण से भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा का निर्धारण किया जा सकता है। वह है जूनागढ का शक राजा रुद्रमन का अभिलेख। इस अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र मौर्य-साम्राज्य का एक प्रान्त था। यहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा निर्वाचित प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त वैश्य शासन करता था। सपारा (आधुनिक थाना जिले) मे प्राप्त अशोक के अभिलेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सपारा भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का एक अग था।

तमिल ग्रन्थो से भी चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-सीमा पर कुछ प्रकाश पडता है। यहाँ के दो लेखक ममुलनार तथा परणार के लेखो से यह ज्ञात होता है कि मौर्यों ने सुदूर दक्षिण मे त्रिचनापल्ली जिले की पोदियिल पहाडी तक आक्रमण किया था। निश्चय ही यह आक्रमण चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में ही हुआ होगा। अस्टिन साहब भी दक्षिण भारत पर चन्द्रगुप्त का अधिकार करते हैं।[1] बौद्ध ग्रन्थ महावश भी सम्पूर्ण जम्बू द्वीप पर चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार करता है। डॉ० राधाकुमुद का भी यह मत है कि चन्द्रगुप्त ही पहला सम्राट था जिसने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत को एक शासन-सूत्र में बाँधकर राजनीतिक एकता स्थापित की थी। किन्तु अर्थशास्त्र मे वर्णित चक्रवर्ती क्षेत्र केवल उत्तरी भारत से सम्बन्ध रखता है। डॉ० एन० पी० चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त का दक्षिण भारत पर अधिकार होना स्वीकार नही करते। उनका यह मत है कि चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार ने दक्षिण विजय की थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार का प्रश्न काफी जटिल है। अधिकाश विद्वान् उसका राज्य बगाल से हिन्दूकुश तक मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र तथा दक्षिण भारत के कुछ भूभागों पर मानते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन-प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध के अध्ययन के पूर्व तत्कालीन असुविधाओ का निर्देश कर देना आवश्यक होगा। चौथी शताब्दी ई० पू० मे यातायात तथा सदेश-वाहन के साधनो की हीनावस्था की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है। तब तक कोई भी विशाल साम्राज्य नहीं स्थापित हो सका था और इसके अभाव मे लम्बी-लम्बी सडकों, सरायों आदि का होना असम्भव था। चन्द्रगुप्त मौर्य के सामने सबसे बडी असुविधा शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में यातायात तथा सदेश-वाहनो तथा साम्राज्य विशालता की थी। प्रसा से लेकर दक्षिण भारत तक विस्तृत इस साम्राज्य का समुचित शासन-प्रबन्ध करना निश्चय ही एक कठिन कार्य था। मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से साम्राज्य के कोने-कोने में शक्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखना कठिन ही नही, अपितु असम्भव था। किन्तु चन्द्रगुप्त स्वय एक कुशल शासक तो था ही, सौभाग्यवश उसे चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ का सहयोग प्राप्त था। चन्द्रगुप्त ने अपने विस्तृत साम्राज्य

---

१ डॉ० चौधरी ने भी विन्ध्येतर भारत पर चन्द्रगुप्त का अधिकार बताते हुए लिखा है—

"When the statements of Plutarch, Justin, Mamulahar and the Mysore inscriptions referred to by Rice are read together, they seem to suggest that the first Maurya did conquer a considerable portion of trans-Vindhyan India'—*Political History of Ancient India*, Sixth edition, p 270

का शासन केन्द्रीयकरण की पद्धति पर न करके प्रान्तीय शासन-व्यवस्था की नींव डालकर किया, जिसके विभिन्न रूपो पर आगे प्रकाश डाला जायेगा ।

चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का ज्ञान हमें मेगस्थनीज की 'इंडिका' तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त होता है । जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, मेगस्थनीज की यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है, पर रोमीय तथा यूनानी लेखको द्वारा उद्धृत अंशो से हमें चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का विवरण प्राप्त होता है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो चन्द्रगुप्त के शासन की मूलभूत प्रवृत्तियो का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है । कुछ विद्वान् अर्थशास्त्र के रचयिता को तथा इस ग्रन्थ को चन्द्रगुप्त-कालीन नहीं स्वीकार करते हैं । किन्तु उनका यह संदेह अधिक मान्य नहीं है और अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त-कालीन अथवा उसके काफी निकट का मानना ही युक्तिसंगत है ।[1]

साम्राज्य शासन—चन्द्रगुप्त स्वयं शक्तिशाली था । वह शासन-सत्ता पूर्णतया अपने हाथ में रखना चाहता था । अतः इस शासन में साम्राज्य का केन्द्र और प्रधान राजा होता था जिसके हाथ में सेना, न्याय-व्यवहार आदि सम्बन्धी कार्य थे । मेगस्थनीज के

१ अर्थशास्त्र की तिथि के सम्बन्ध में डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने लिखा है—"निश्चय ही बाण (सातवीं शताब्दी ई०) तथा जैनियो के नन्दिसूत्र (जो पाँचवीं शताब्दी ई० के बाद का नहीं है) के पूर्व अर्थशास्त्र विद्यमान था । किन्तु यह सन्देहास्पद है कि अपने वर्तमान रूप में यह प्रथम मौर्य सम्राट के काल-सा प्राचीन है ।"

इस सम्बन्ध में डॉ० चौधरी ने जो तर्क उपस्थित किया है, उसका कुछ अंश मूल रूप में उद्धृत किया जा रहा है—

"The work was known not only to Bana, the author of the Kadambari who flourished in the seventh century A D but to the Nandisutra and Painnas of the Jainas which may have existed in the early centuries A D and probably also to the Nyaya Bhashya of Vatsyayana, which is criticised by Dignag and perhaps by Vasubandhu too According to some scholars the Arthasastra literature as later than the Dharmasastras, and dates only from about the third century A D

"Johnston (J R A S, 1929, January, p 77, ff) points out that the Kautiliya Arthasastra is not separated by a great interval from Asvaghosha, and is distinctly earlier than the Jatakmala of Aryasura (who flourished before 434 A. D. Winternitz Ind Lit Vol II 76) An early date is also suggested by the absence of any reference to the Denarius in B K II Chs 12 and 19 But the mention of Chinabhumi and Chinapatta in B K II Ch II precludes the possibility of a date earlier than the middle of the third century B C A post Chandraguptan date for the Arthasastra is also suggested by (a) the reference to parapets of brick instead of wooden ramparts (II 3) In connection with the royal seat and (b) the use of Sanskrit at the Secretariat (II 10) "—*Political History of Ancient India*, 6th edition, p 10

कथनानुसार राजा शासन मे बहुत बडा हाथ बटाता था। उसके वर्णन से यह ज्ञात होता है कि राजा दिन-रात राज्य के कार्यों में लगा रहता था और अपनी प्रजा की प्रार्थना सुनने के लिए यह हर समय तैयार रहता था। युद्ध-काल मे राजा को सेना का नेतृत्व करना पडता था और युद्ध-सम्बन्धी नीतियो पर वह सेनापति से विचार विमर्श भी करता था। मेगस्थनीज के इस कथन की पुष्टि, कि राजा दरबार मे आबनूसी बेलनो से अपने शरीर की मालिश कराते समय भी प्रजा का सुख-दुख सुनने के लिए मिल सकता था, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी हो जाती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे यह बतलाया है कि राजा को राजद्वार पर न्याय की प्रतीक्षा म वादी प्रतिवादियो को खडा रखना उचित नहीं है। उसे चाहिए कि वह बिना विलम्ब ही उनका आवेदन सुने और उस पर अपना निर्णय दे। राजा का दूसरा महत्त्वपूर्ण काम यह था कि वह साम्राज्य के उच्च पदाधिकारियो की नियुक्ति स्वय करता था। आय-व्यय का निरीक्षण भी राजा के हाथ में था। परराष्ट्र-नीति शासन का महत्त्वपूण अग है, अत राजा इस विषय पर राजदूतों से स्वय परामश करता था। गुप्तचरो से देश की आन्तरिक अवस्था तथा भेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना भी राजा का कर्तव्य था। कौटिल्य के अथशास्त्र के अनुसार राजा को यह अधिकार था कि वह नये कानून का निर्माण कर सके। वह प्रजा के लिए 'शासन' की घोषणा भी करता था। उपयु क्त विवरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौय शासन प्रणाली के अन्तगत राजा या सम्राट् का महत्त्वपूण हाथ था। उसे हर प्रकार के विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, पर साथ ही उसके कतव्य भी असीमित थे। सम्पूर्ण साम्राज्य मे शान्ति एव सुव्यवस्था स्थापित रखने के लिए उस राजनीतिक उथल पुथल के युग में राजा को शक्तिशाली बनाना आवश्यक था।

श्री के० ए० नीलकान्त शास्त्री ने भारतीय राजत्व सिद्धान्तो की ओर दृष्टि डालते हुए कहा है कि प्राचीन काल मे 'राजा विधानो का सरक्षक मात्र था', 'निर्माता नही।' विधानों की अनुमति धम एव सामाजिक परम्पराओ के समन्वय द्वारा होती थी और शासक को भी इन दोनो वैधानिक अधिकारो के साधनो का पालन करना पडता था। श्री शास्त्री ने इस सम्बन्ध मे कात्यायन का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया है—

न्यायशास्त्राविरोधेन देशदृष्टेस्तथैव च।
यत् धमम् स्थापयेदराजा न्यायाम तद राजस् शासनम।

शास्त्री महोदय ने बताया है कि कौटिल्य ने आदिकाल से प्रचलित इस राजत्व-सिद्धान्त के विरुद्ध अपना नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार राजा के प्रभुत्व का अपना पृथक अस्तित्व और मान्यता थी और यह प्रभुत्व धम, वैयक्तिक

1 "According to the general theory of Hindu Polity, the King was only the guardian of law, not its maker; laws depended for its validity on their intrinsic conformity to the standard of equity (Dharma) and on the sanction of social usage, and every decree of the king and to conform to both these souces of legal right With Kautilya, on the other hand, the royal decree has an independent validity of its own, moreover, its validity is of so over riding a character that it must be taken to prevail against equity, private treaty or contract, and social usage Kautilya also exalts reason (Nyaya) the prescription of texts (Sastras) in cases of conflict between the two, and boldly justifies the course on the plea that texts become corrupt with lapse of time"—*Age of the Nandas and Mauryas*, p 174

संधि या समझौते तथा सामाजिक परम्पराओं में विरुद्ध भी स्थापित हो सकता था। कौटिल्य ने न्याय को शास्त्र से भी बड़ा माना है और पहले प्रधानता प्रदान की है (ऐसे अवसर पर जब दोनों में किसी प्रकार का मतभेद उपस्थित हो जाय)। उसने अपने तर्क की पुष्टि इस प्रकार की है कि समय की लम्बी मंजिल तय करने के साथ साथ शास्त्र दोषयुक्त हो जाता है।

मन्त्रि-परिषद्—राजकाय को सुचारु रूप में सचालित करने के लिए एक 'मन्त्रि परिषद्' भी थी। राजा योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन इस 'परिषद्' में करता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें १८ पदाधिकारियों का बोध होता है। ये पदाधिकारी अपने-अपने विभाग के अध्यक्ष होते थे। ये निम्नलिखित थे—

(१) मन्त्री	(१०) प्रदेष्टा 'कमिश्नर'
(२) पुरोहित	(११) नायक 'नगर-रक्षक'
(३) सेनापति	(१२) पौर 'कोतवाल'
(४) युवराज	(१३) व्यावहारिक 'प्रधान न्यायाधीश'
(५) दौवारिक 'द्वारा का रक्षक'	(१४) कर्मान्तिक 'आकर तथा कारखानों का अध्यक्ष'
(६) अन्तर्वेशिक 'अन्त पुर का अध्यक्ष'	(१५) मन्त्रि-परिषदाध्यक्ष
(७) प्रशास्त्रीय 'कारागाराध्यक्ष'	(१६) दंडपाल 'पुलिस का प्रधान'
(८) समाहर्ता 'आय-संग्रहकर्ता'	(१७) दुर्गपाल
(९) सन्निधाता 'कोषाध्यक्ष'	(१८) अन्तपाल 'सीमाओं का रक्षक'

अधिकारियों की उपयुक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तत्कालीन राज्य के लिए जिन आवश्यक विभागों का होना आवश्यक समझा, उनकी स्थापना करके उन विभागों की देखरेख के लिए योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। उपयुक्त पदाधिकारी अपने विभाग के उपप्रधान थे। इनके अतिरिक्त कुछ विभागों के स्वामी भी थे जिन्हें 'अध्यक्ष' कहा जाता था। इन अध्यक्षों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है—

(१) कोषाध्यक्ष, (२) आकाराध्यक्ष, (३) लौहाध्यक्ष, (४) लक्षणाध्यक्ष 'टकसाल का स्वामी', (५) लवणाध्यक्ष, (६) सुवर्णाध्यक्ष, (७) कुप्याध्यक्ष 'वन-सम्बन्धी आय का प्रबन्धकर्ता', (८) प्रडयाध्यक्ष 'सरकारी व्यवसायों का अध्यक्ष', (९) आयुधाध्यक्ष 'अस्त्र शस्त्र का रक्षक' (१०) पौतवाध्यक्ष 'बटखरे आदि का निरीक्षक', (११) मानाध्यक्ष 'समय तथा स्थान का निर्णायक', (१२) सीताध्यक्ष सरकारी खेती का प्रबन्धकर्ता, (१३) शुल्काध्यक्ष, (१४) सूत्राध्यक्ष 'कताई-बुनाई विभाग का अध्यक्ष', (१५) सुराध्यक्ष, (१६) सूनाध्यक्ष 'कसाईखाने का अध्यक्ष', (१७) मुद्राध्यक्ष 'पासपोर्ट का अध्यक्ष', (१८) द्यूताध्यक्ष, (१९) विविताध्यक्ष 'चरागाह का अध्यक्ष', (२०) बन्धनागाराध्यक्ष, (२१) नवाध्यक्ष 'पशुनिरीक्षक अध्यक्ष', (२२) नौकाध्यक्ष, (२३) पत्तनाध्यक्ष 'बन्दरगाहों का अध्यक्ष' (२४) गणिकाध्यक्ष 'सेना के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष', (२५) सस्याध्यक्ष, (२६) देवताध्यक्ष।

उपयुक्त अध्यक्षों की अधीनता में अन्य छोटे-छोटे पदाधिकारी भी थे।

प्रान्तीय शासन—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था। प्रान्तीय शासन भी अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। राजधानी के निकटवर्ती प्रान्तों का शासन तो स्वयं

सम्राट् की देखरेख मे होता था किन्तु दूरस्थ प्रान्तों का शासन 'राजकुमार अथवा राजकुलीन व्यक्तियों द्वारा होता था।

चन्द्रगुप्त के समय मे प्रान्तो की सख्या का स्पष्ट ज्ञान नही प्राप्त है, किन्तु उसके प्रपौत्र के शासन-काल में सम्पूर्ण साम्राज्य निम्नलिखित पाँच प्रान्तों मे विभक्त था[1]—

१ उत्तरापथ	राजधानी	तक्षशिला
२ अवन्तिरथ्य	,,	उज्जयिनी
३ दक्षिणापथ	,,	सुवर्णगिरि
४ प्राच्य	,,	पाटलिपुत्र
५ कलिंग	,,	तोषलि

प्रान्तीय शासको की वार्षिक आय १२००० पण थी।

पूर्वी तथा मध्य देशो के प्रान्तो का शासन महामात्रो की सहायता से सम्राट स्वय करता था। चन्द्रगुप्त का मत्री चाणक्य कूटनीति के लिए इतिहास मे प्रसिद्ध है। अत इसकी मत्रणा से चन्द्रगुप्त ने गुप्तचर विभाग की ओर विशेष ध्यान दिया था। प्रान्तीय शासको तथा नौकरशाही के अधिकरणो की गतिविधियो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के अभिप्राय से चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण साम्राज्य मे गुप्तचरो का जाल-सा बिछा दिया था। ये गुप्तचर प्रान्तीय शासको के कार्यों की सूचना सम्राट् को बराबर दिया करते थे। इन गुप्तचरो का राजनीति मे इसलिए विशेष महत्व था कि वे प्रान्तीय शासको तथा अन्य अधिकारियो की मनमानी से प्रजा की रक्षा कर सकते थे। निश्चय ही इनके अभाव मे प्रान्तीय शासक प्रजा पर अनाचार कर सकते थे और इस प्रकार प्रजा से धन-सम्पत्ति ग्रहण करके वे अपनी आर्थिक स्थिति को भी अच्छी बना सकते थे। यद्यपि यह प्रान्तीय शासक राजकुमार अथवा राजकुलीन व्यक्ति ही थे, तथापि चन्द्रगुप्त यह कदापि नही चाहता रहा होगा कि वे इतने सबल हो जायें कि मलयकेतु आदि की भाँति विद्रोह या षड्यन्त्र कर सकें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे इस विभाग का विशद वर्णन किया गया है।

नगर शासन—यो तो चन्द्रगुप्त का केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनो शासन उच्च कोटि का था, किन्तु इसका नगर-शासन अपनी मौलिकता तथा विशेषता के लिए भारतीय इतिहास मे अपना ऊँचा स्थान रखता है। नगर शासन (म्युनिस्पल शासन) का पूर्ण विवरण हमे मेगस्थनीज के विवरण से प्राप्त होता है। ध्यान रहे कि राजदूत मेगस्थनीज ने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र मे ही निवास किया था, अत उसका विवरण पाटलिपुत्र की नगरपालिका का ही वर्णन समझना चाहिए। सम्भव है पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अन्य नगरो मे भी नगर शासन रहा हो, पर उनका शासन इससे कुछ भिन्न अवश्य रहा होगा। पाटलिपुत्र बहुत बडा नगर था, अत इसके लिए विशेष प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता थी। इस बडे नगर मे ही शिल्पी, कलाकारो, विदेशियो, व्यापारियो आदि की भीड लगी रहती होगी। इसी बडे नगर मे उद्योग धधे भी थे जहाँ अधिक मात्रा मे उत्पादन भी होता था। यहाँ की जनसख्या भी अन्य नगरो की अपेक्षा अधिक थी। उपर्युक्त दशाओ मे यह आवश्यक था कि नगर मे एक सुसगठित एव सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था की जाय।

---

१ डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने उपरोक्त पाँच प्रान्तों मे से उत्तरापथ, अवन्तिरथ्य तथा प्राच्य को चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याधीन बताया है, किन्तु उन्होंने आगे यह भी लिखा है, "यह बिल्कुल ही असम्भव सा नहीं है कि दक्षिणापथ भी चन्द्रगुप्त के प्रान्तों मे से एक था" —*Political History of Ancient India*, 6th edition, p 288

नीचे मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर नगर शासन का वर्णन कि रहा है।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि नगर के प्रबन्ध के लिए पाँच-पाँच सदस्यों की समितियाँ होती थी। इन समितियों के अधिकार तथा कार्य निम्नलिखित थे—

(१) **शिल्पकला समिति**—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, पाटलिपुत्र कलाकारों की भीड़ थी। औद्योगिक कला तो काफी उन्नति कर चुकी थी। अतः औद्योगिक कलाओं के निरीक्षण के लिए शिल्पकला समिति का निर्माण किया गया था। समिति कलाकारों, मिस्त्रियों और अन्य श्रमिकों का पारिश्रमिक भी निर्धारित करती थी। औद्योगिक कलाकारों की सुरक्षा के लिए भी यह समिति उत्तरदायित्व लिये थी पर साथ ही साथ वह उनके उत्पादन की शुद्धता पर भी कठोर दृष्टि रखती थी।

(२) **वैदेशिक समिति**—*यह समिति राज्य में निवास करने वाले विदेशियों की* देखरेख के लिए बनी थी। उसका कर्तव्य यह था कि विदेशियों के आवागमन, उनके निवास-स्थान, आवश्यकता पड़ने पर ओषधि आदि का प्रबन्ध करे, साथ ही इस समिति के ऊपर उनकी सुरक्षा का भी भार था। विदेशियों की मृत्यु के पश्चात् उनकी अन्तिम क्रिया भी यही समिति करती थी तथा उनके धन-सम्पत्ति को उचित उत्तराधिकारियों को दे देती थी।

(३) **जनसंख्या समिति**—यह समिति जन्म मरण का लेखा-जोखा रखती थी। इसका अभिप्राय केवल जनसंख्या की गणना करना ही न था, या इसके आधार पर केवल *राज-कर ही नहीं लगाना था, अपितु जन्म मरण की रजिस्ट्री के आधार पर सरकार* को नागरिकों के जन्म-मृत्यु, चाहे वह उच्च कुल की हो अथवा निम्न कुल की, का पूरा ज्ञान कराना भी था। जनसंख्या की वृद्धि अथवा कमी का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य स्पष्ट है और इसका केवल राजकीय कर से सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही इस जनगणना की रजिस्ट्री का राजनीतिक महत्व की अपेक्षा आर्थिक महत्त्व अधिक रहा होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। मौर्य कालीन औद्योगिक विकास का ध्यान रखते हुए यदि हम इस विषय को समझने का प्रयास करें तो हमें जनगणना का महत्त्व स्पष्ट हो जायगा।

(४) **वाणिज्य व्यवसाय समिति**—इस चौथी समिति का महत्व विशेष उल्लेखनीय है। यह समिति व्यापारियों एवं वणिकों के कार्यों की देखरेख के लिए निर्मित की गई थी। एक ओर तो यह उनकी वस्तुओं को जनता की सूचना द्वारा उचित समय पर बिकवा देने *का प्रबन्ध करती थी तथा* दूसरी ओर *जनता के हित के लिये* इस बात का ध्यान रखती थी कि व्यापारियों तथा बनियों के झूठे तौल या माप से जनता ठगी न जाय। कोई भी व्यक्ति बिना आज्ञा के एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय नहीं कर सकता था और जो *व्यक्ति एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय करता था,* उसे अनुपात से अधिक कर भी देना पड़ता था।

(५) **वस्तु निरीक्षक समिति**—पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य के औद्योगिक स्थानों में से प्रमुख था। अतः वस्तुओं के उत्पादन की देखरेख के लिये एक पृथक समिति की आवश्यकता थी। इसी अभिप्राय से उद्योगपतियों के उत्पादन पर निरीक्षण करना इस पाँचवी समिति का मुख्य कर्त्तव्य निश्चित किया गया था। यह समिति इस बात की देखरेख करती थी कि औद्योगिक उत्पादन में किसी प्रकार की मिलावट करके उद्योगपति अनुचित लाभ न उठायें। नई तथा पुरानी वस्तुयें किसी प्रकार भी नहीं मिलाई

जा सकती थी और उक्त समिति इस बात का ध्यान रखती थी कि ये पृथक्-पृथक् बेची जायें। नियम भंग करने वाले व्यवसायियों को जुर्माना देना पड़ता था।

(६) कर समिति—यह समिति बिक्री की वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। यह भी काफी महत्त्वपूर्ण समिति थी। जो व्यापारी कर से बचने का प्रयत्न करता था उसे प्राण-दण्ड दिया जाता था।

ऊपर नगर शासन का जो विवरण दिया गया है वह यूनानी राजदूत के वर्णन पर आधारित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर शासन अथवा उसके इस प्रकार विवरण का उल्लेख नहीं मिलता है। किसी-किसी स्थल पर इसका निर्देशन मात्र है। इस विषय में अर्थशास्त्र का मौन रहना यात्रों के विवरण अर्थात् ६ समितियों तथा उनके कर्त्तव्यों, अधिकारों के विवरण की सत्यता में किसी प्रकार भी सन्देह नहीं उत्पन्न कर सकता। अर्थशास्त्र भी सर्वथा मौन नहीं है उसमें 'नागरक' अथवा 'नगराध्यक्ष' को नगर का शासक बतलाया गया है और उसके अधीन 'स्थानिक' तथा 'गोप' नामक पदाधिकारियों का उल्लेख किया गया है।

मेगस्थनीज ने नगर शासन का विवरण समाप्त करते हुए यह लिखा है कि वैसे तो अपने-अपने पृथक् विभाग का निरीक्षण ये समितियाँ करती ही थीं, पर साथ ही सामूहिक रूप से नगर के सामान्य हित-सम्बन्धी विषयों से भी उनका सम्बन्ध था। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक इमारतों की सुरक्षा तथा उनकी मरम्मत कराना, मूल्य-सम्बन्धी नियमों पर ध्यान देना, बाजार-नियन्त्रण, बन्दरगाहों तथा मन्दिरों की देखरेख करना सामूहिक उत्तरदायित्व का विषय था।

जिला-शासन—नगर शासन के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के जिला शासन पर भी प्रकाश डाला है। वह जिला शासन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनके ऊपर नदियों की देखरेख, भूमि की पैदाइश तथा सिंचाई की नहरों की शाखा-प्रशाखाओं के निरीक्षण का भार था। इन भूमि तथा सिंचाई के अधिकारियों के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने कृषि, जंगल, सड़क, खान आदि के अधिकारियों का भी उल्लेख किया है।

जनपद या देहात शासन—'ग्राम' शासन की निम्नतम इकाई था। इसका शासक 'ग्रामिक' कहलाता था। पाँच या दस ग्रामों का शासक 'गोप' कहा जाता था। गोप के ऊपर 'स्थानिक' नामक अधिकारी होता था। यह जनपद के चतुर्थ भाग पर शासन करता था। पूर्वलिखित पदाधिकारी 'प्रदेष्टा' और 'समाहर्ता' की देखरेख में काम करते थे।

सैन्य-सङ्गठन

नन्द वंश का अन्त कर देने के पश्चात् चन्द्रगुप्त को मगध की एक विशाल सेना प्राप्त हुई थी। इस सेना की विशालता के सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ सुनकर ही यूनानी विजेता सिकन्दर की अजेय सेना का साहस छूट गया था और उसने आगे बढ़ने से साफ इंकार कर दिया था। मगध की इस पुरानी सेना के अतिरिक्त साम्राज्य-वृद्धि एवं देश की रक्षा के लिये चन्द्रगुप्त ने काफी संख्या में नये सैनिकों की भर्ती भी की थी।

राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के सैन्य-सगठन का भी पूर्ण विवरण देता है। उसके कथनानुसार इस सेना में ६०,००० लाख से भी अधिक पैदल सिपाही थे। मौर्य सेना के अन्य आँकड़े इस प्रकार हैं —

३०,००० अश्व, ९००० गज तथा ८००० रथ।

इतनी विशाल सेना के प्रबन्ध एव देखरेख के लिये एक अलग सैनिक विभाग की आवश्यकता थी जिसकी स्थापना चन्द्रगुप्त ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक की थी। इस सैनिक विभाग का सगठन ६ समितियो द्वारा हुआ था। प्रत्येक समिति मे ५-५ सदस्य होते थे। इनका पूर्ण विवरण इस प्रकार है—

समिति	स०	(१)	नौ सेना
,,	स०	(२)	पदाति-सेना
,,	स०	(३)	अश्व-सेना
,,	स०	(४)	रथसेना
,,	स०	(५)	गजसेना
,,	स०	(६)	सेना-यातायात तथा युद्ध सामग्री वाहिनी

मेगस्थनीज ने छठी समिति का कार्य बतलाते हुए लिखा है कि यह समिति सेना-सम्बन्धी सामग्रियो को ढोने वाली बैलगाडियो के अधिकारियो को सहयोग देता थी।

मेगस्थनीज के कथनानुसार समाज मे किसानो के पश्चात सैनिको की ही सख्या अधिक थी। इनके वेतन के विषय मे मेगस्थनीज ने यह लिखा है कि उन्हे नियमित रूप से वेतन मिलता था। राज्य द्वारा उन्हें अस्त्र शस्त्र भी मिलता था। मेगस्थनीज ने सैनिको की राज्य द्वारा प्राप्त सुविधाओ पर प्रकाश डालते हुये लिखा है कि उनका वेतन इतना था कि वे इससे सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे। मौर्य सैनिक स्वतन्त्रता का भोग पूर्णरूपेण करते थे। युद्ध-काल मे ही उन्हे कठिन परिश्रम करना पडता था, पर अवकाश के समय वे इच्छानुसार मनोरजन करने के लिए स्वतन्त्र थे। युद्ध-काल मे भी जब वे शिविरो मे रहते थे तो उन्हे नौकर मिलते थे जो उनके अस्त्र शस्त्र को साफ करते थे, घोडो की देखरेख करते थे तथा उनके रथो का सचालन करते थे।

न्याय-विधान

मौर्यकालीन न्याय प्राचीन भारतीय इतिहास मे उच्चकोटि का है। राजा सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश होता था। मौर्यकालीन दड की कठोरता का उल्लेख मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ने किया है। जुर्माना से लेकर अग भग तथा प्राणदड तक का विवरण प्राप्त होता है। प्राणदड बहुधा कलाकार का पगु कर देने अथवा बिक्री की वस्तुओ पर कर न देने के अभियोग मे दिया जाता था। व्यभिचारियो तथा चोरो को अग भग का दड दिया जाता था। राजकर्मचारियो की चोरी के छोटे अपराधो पर भी प्राणदड दिया जाता था। अपराधी से अपराध स्वीकार कराने के लिए अनेक प्रकार के कष्टदायक साधनो का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त का दड विधान आवश्यकता से अधिक कठोर था जिसे यदि अमानुषिक कहा जाय तो अनुचित न होगा। किन्तु हमे ऐसा निर्णय देने के पूर्व तत्कालीन राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थितियो पर भी एक विहगम दृष्टि डालनी होगी। चन्द्रगुप्त मौर्य के विरोधी तथा नन्दराजा के शुभेच्छु नन्दो के अन्त के पश्चात् भी जीवित थे। मुद्राराक्षस मे यह बतलाया गया है कि मौर्य राजा (चन्द्रगुप्त) अपने विरोधियो को बहुत कठोर दड देता है जो प्राणदड होता है। राक्षस मन्त्री के मित्र एव सहायक एक महाजन को धमकी देते हुए उक्त नाटक में चाणक्य से ऐसा कहलाया गया है। इस विवरण से चन्द्रगुप्त

से केवल दंड-विधान की कठोरता का आभास नहीं होता, अपितु इससे यह भी परिलक्षित होता है कि नन्द राजा के हितैषी बहुत दिनों तक बद रहे। उनके षड्यन्त्रो के दमनार्थ तथा उस राजनीतिक उथल-पुथल के युग मे व्याप्त अव्यवस्था को समाप्त करके जन-जीवन को सुखी एव शान्तिमय बनाने के लिए दंड विधान की कठोरता आवश्यक थी।

अर्थशास्त्र के अनुसार दो प्रकार के न्यायालय विद्यमान थे—

(१) धर्मस्थीय (दिवानी) तथा (२) कटकशोधन (फौजदारी)। इन दो न्यायालयो के अतिरिक्त ग्राम-पंचायतें भी अपने प्रारम्भिक रूप मे चल रही थीं जो छोटे-मोटे झगडो का अन्त बहुधा समझौता द्वारा करा दिया करती थीं।

आय-व्यय के साधन

भूमि-कर ही आय का मुख्य साधन था। बहुधा उपज का ⅙ भाग कर रूप मे लिया जाता था, किन्तु देश काल के अनुसार यह कम-बेसी भी हुआ करता था। भूमि-कर के अतिरिक्त वन-सीमाओ पर लगने वाले बिक्री-कर, घाटो पर लगने वाले कर, जुर्माना, आकर (खानें) भी आय के साधन थे।

व्यय के साधन भी बहुत थे। सेना, नौकरशाही, प्रजाहितकारी आदि कार्यों में काफी आय खर्च हो जाती थी। राजा तथा राज-दरबार के ऊपर भी आय का काफी भाग खर्च हो जाया करता था।

सम्राट् का नगर, राजमहल तथा व्यक्तिगत जीवन

पहले हम चन्द्रगुप्त के नगर पाटलिपुत्र का वर्णन करेंगे।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र गगा तथा सोन नदियों के सगम पर स्थित है। यह भारत का सबसे बडा नगर है। यात्री ने नगर की लम्बाई ८० स्तदिया (९½ मील) तथा चौडाई १५ स्तदिया (१ मील १२७० गज) बतलाई है। नगर की सुरक्षा के लिए ६० फीट गहरी तथा २०० गज चौडी खाई नगर के चारो ओर बनी हुई थी जो सदा सोन के पानी से भरी रहती थी। खाई के अतिरिक्त लकडी की एक दीवार भी बनी हुई थी। इस प्रकार नगर की सुरक्षा के लिए हर प्रकार के प्रयत्न किए गए थे। नगर की चहारदीवारी में ६४ फाटक तथा ५७० मीनारें थीं।[1]

अब हम चन्द्रगुप्त के वयक्तिक जीवन तथा उसके राजमहल पर प्रकाश डालेंगे। पहले हम उसके राजमहल को ही लेंगे। यह विवरण भी हमें यूनानी लेखको द्वारा प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करना पसन्द करता था। अत अपने निवास के लिए उसने एक बहुत विशाल एव सुन्दर महल का निर्माण कराया था। राज

1 "The largest city in India named Palimbothra, is in the land of the Prasians, where in the confluence of the river Erannobaos and the Ganges which is the greatest of rivers Magasthenes says that on the side where it is longest, this city extends 80 *stades* (91 miles) in length, and that its breadth is fifteen (13 miles) that the city has been surrounded with a ditch in breadth 6 *plethra* (606 feet), and in depth 30 cubits, and that its wall has 570 towers and 64 gates"—*Arrian's India*, Chapter X Quoted by Dr H C Raychaudhuri in his *Political History of Ancient India*, 6th edition, p 274

महल के चारो ओर सुन्दर उद्यान बना हुआ था। 'उसके स्तम्भ सुनहले थे तथा कृत्रिम मत्स्य ह्रद तथा निभृत कुज थे। तत्कालीन भवन निर्माण कला की प्रणालियो तथा कुछ मौलिक शैलियो के सम्मिश्रण से बना हुआ यह राजमहल काष्ठ का था। फलस्वरूप वह काल के कराल गाल म विलीन हो गया और आज स्मृति चिह्न भी अवशेष नही। तथापि यूनानी लेखकों के प्रामाणिक विवरणो पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन भारतीय भवनो में इस का स्थान बहुत ऊँचा था। इस राजमहल के सौन्दर्य के समक्ष शूसा तथा के ईरानी राज प्रासादो की सुन्दरता भी फीकी पड जाती है।'[1] जैसा कि जा चुका है काष्ठ निर्मित होने के कारण राजप्रासाद के तो अर्शों का अवशेष रूप से नही पाया जाता, किन्तु आधुनिक पटना के समीप कुम्रहार गाँव में इस के आधार के अवशेष अब भी पाये जाते हैं।

चन्द्रगुप्त के चारों ओर शरीर रक्षिकाओ की भीड लगी रहती थी। स्ट्रैबो के कथनानुसार ये नारियाँ एक प्रकार की गुलाम होती थीं जिन्हे उसके मे खरीद लिया जाता था। अर्थशास्त्र के अध्ययन और चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक के सम्मिलित अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि अन्य कार्यों की भाँति के दैनिक कार्य तथा उसका व्यक्तिगत जीवन भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के द्वारा शासित था। चन्द्रगुप्त जब मृगया के लिए जाता था तब भी वह नारियो द्वारा रहता था। मृगया के समय भी उसके पास दो या तीन शस्त्रयुक्त नारियाँ रहती कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र मे यह लिखा है कि प्रात काल शय्या से उठते समय राजा का स्वागत धनुर्धारिणी नारियो द्वारा होना चाहिए। राजा की रक्षा के यवनियों की नियुक्ति की प्रथा भारत मे मौर्यकाल के बहुत बाद तक चलती र इसका प्रमाण हमे कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल तथा विक्रमोर्वशीय नामक से प्राप्त होता है जिनमे नाटककार रगमच पर 'शाग हस्ता यवनी' का प्रवेश है। सम्राट् को अपन चारो ओर षड्यन्त्रो का कितना अधिक भय बना रहता था उल्लेख हम मुद्राराक्षस नाटक के आधार पर पिछले पृष्ठो मे कर चुके हैं। गुप्त शत्रुओ से सुरक्षा के लिए धनुर्धारिणी नारियो अथवा नारी शरीर-रक्षको अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकती थी। इतना ही नही सम्राट् की सुरक्षा के लिए उपाय भी किए गए थे। जिस समय सम्राट मृगया के लिए राज प्रासाद से बाहर लता था उस समय उसका मार्ग रस्सियो से घिरा रहता था। जो व्यक्ति इन रस्सियों लाघने का प्रयास करता था उसे प्राणदड दिया जाता था। राजा केवल चार पर राज प्रसाद से बाहर निकलता था—(१) युद्ध, (२) यज्ञानुष्ठान, (३) न्याय विधान तथा (४) आखेट। इस राजसी ठाट-बाट का वर्णन भी यूनानी लेखको से होता है। धार्मिक या अन्य सार्वजनिक उत्सव के अवसरो पर सम्राट् सुनहली पर निकलता था। धार्मिक उत्सव के अवसरो पर शाही जलूस की चमक-दमक होती थी। अनेक सोने चादी से सुसज्जित हाथी रथ, चोबदार, वनपशु तथा सिंहो एव पक्षियो से यह जलूस भरा रहता था। चन्द्रगुप्त का अधिक समय मे ही व्यतीत होता था, पर उसे खेलकूद आदि से काफी शौक था। भेडो, साडो, हाथि

१ चौधरी महोदय ने इस सम्बन्ध मे एलियन का जो उद्धरण प्रस्तुत किया है वह विशेष महत्त्वपूर्ण है।

गैंडो आदि की लड़ाई देखने में उसे विशेष आनन्द आता था। रणदौड तथा घुड़दौड भी इसके मनोरंजन के साधन थे।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि सम्राट जहाँ एक ओर कुशल शासक, कठोर सैनिक तथा योग्य दर्बारी का जीवन व्यतीत करता था, वहीं दूसरी ओर विलासमय जीवन भी व्यतीत करता था।

चन्द्रगुप्त का भारतीय इतिहास में स्थान—ऐतिहासिक काल के सूत्रपात के साथ जिस सम्राट् का आविर्भाव भारतवर्ष में हुआ वह केवल इसीलिए विशेष महत्वपूर्ण नहीं है कि वह इस काल का प्रथम सम्राट् था अपितु उसका चरित्र कुछ ऐसे अनोखे ढंग का था जो उसे भारतीय इतिहास तो क्या विश्व इतिहास के श्रेष्ठ सम्राटों की श्रेणी में रखता है। चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि जिस निम्न स्थिति में उसका जन्म हुआ था उस स्थिति में जन्मा कोई बिरला ही इतने ऊँचे पद पर पहुँच सका है। ऐसी आश्चर्यजनक प्रगति का उदाहरण नैपोलियन जैसे दो-एक व्यक्ति ही मिल सकते हैं। बाल्य-काल में विधवा माता द्वारा पोषित यह लगभग अनाथ बालक भारत के सबसे बड़े साम्राज्य का सम्राट् बनता है। यह और कुछ नहीं, व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसके विकास का एक आश्चर्य है। बाल्य-काल के संघर्षों पर ध्यान देने पर तथा प्रारम्भिक जीवन के अगणित कठिनाइयों पर विचार करने पर हमें चन्द्रगुप्त का चरित्र और निखरा हुआ जान पड़ता है। भारत के साम्राज्य संस्थापन का इतिहास देखने पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त, हूण, खिलजी या मुगल साम्राज्य जैसे सुप्रसिद्ध एवं सुविस्तृत साम्राज्य संस्थापकों में से किसी सम्राट में वह तत्व नहीं जो चन्द्रगुप्त मौर्य में था। चौथी शताब्दी ई० पूर्व के पश्चात् सोलहवीं शताब्दी ई० पूर्व में मुगल साम्राज्य का संस्थापक केवल बाबर ही एक ऐसा साम्राज्य-संस्थापक मिलता है जिसने अपने बाहुबल द्वारा भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की। किन्तु बाबर के पास छोटी ही सही पैतृक सम्पत्ति के रूप में एक रियासत थी, अपनी एक सेना थी, अतः साम्राज्य संस्थापक के रूप में चन्द्रगुप्त अद्वितीय कहा जा सकता है।

चन्द्रगुप्त प्रारंभ से ही विद्रोही प्रकृति का था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार नन्द राजा का दर्बार इसे केवल इसलिए छोड़ना पड़ा कि अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए यह भारी से भारी वस्तु से टकरा सकता था। सिकन्दर के शिविर को भी इसे इसी लिए छोड़ना पड़ा कि वह किसी के सम्मुख झुकना नहीं चाहता था। चन्द्रगुप्त[2] के

---

१ डॉ० चौधरी ने चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक जीवन की जो झाँकी प्रस्तुत की है, वह विशेष उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—

"वह (चन्द्रगुप्त) कभी-कभी मदिरापान भी करने से नहीं झिझकता था, पर सम्भवतः केवल भोज के समय, किन्तु कभी भी इतना अधिक नहीं पीता था कि महत्वाकांक्षी नारियों के अनुचित षड्यन्त्रों का निशाना बने। वह दिन में नहीं सोता था और रात्रि भी यदा-कदा षड्यन्त्रों से आत्मरक्षा के ध्यान से उसे बिस्तर बदलना पड़ता था"

—*Age of the Nandas and Mauryas*, p. 160

२ यहाँ हमें जस्टिन के उन वाक्यों पर ध्यान देना अनिवार्य है जिसमें यह बताता है कि सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त मौर्य की निर्भीक वाक्पटुता देखकर उसकी हत्या का आदेश दिया था—

" having offended Alexander by his boldness of speech and orders being given to kill him "

चरित्र का यह वास्तविक रूप था किन्तु कुछ साहित्यिक साक्ष्यों ने इसका चरित्र कुछ और ही चित्रित किया है। मुद्राराक्षस का नाम इसमें विशेष उल्लेखनीय है। नाटककार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य के हाथ का खिलौना प्रदर्शित किया है। तब से चन्द्रगुप्त को चाणक्य का कणक दुक मानने की एक परम्परा निकल पड़ी। परन्तु यह किसी भी दशा में सत्य नहीं। चन्द्रगुप्त स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति था और अपने कार्यों मे किसी का अनुचित हस्तक्षेप उसे सह्य न था।[1]

एक दिग्विजयी के रूप मे भी चन्द्रगुप्त श्रेष्ठ सम्राट् समझा जा सकता है। उत्तर पश्चिम के भूभाग पर अत्यधिक सफलतापूर्वक शासन कर लेना चन्द्रगुप्त के वश की ही बात थी। यह प्रदेश भारत के सभी कालो मे सभी सम्राटो से अछूता रह गया है। महान् विजेता तो भारत के अन्य सम्राट् भी हुए जिनमे प्राचीन भारत मे ही समुद्रगुप्त का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है, किन्तु अन्य साम्राज्य-सस्थापको ने राष्ट्र निर्माण के ध्यान से दिग्विजय नहीं की। चन्द्रगुप्त के सम्मुख जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, दो प्रमुख समस्याएं थीं—(१) विदेशियो को देश से बाहर निकालना तथा (२) मगध राज्य का उन्मूलन, अर्थात् भारत को एक राजनीतिक सूत्र मे बांधना तथा राष्ट्र का निर्माण करना। साम्राज्य-निर्माण के साथ साथ राष्ट्र निर्माण का ध्यान रखना चन्द्रगुप्त की एक बहुत बडी विशेषता है। उत्तर-पश्चिम के अतिरिक्त दक्षिण मे भी चन्द्रगुप्त ने अपनी विजय-पताका फहराई। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्य निर्माता तथा राष्ट्र निर्माता के रूप मे चन्द्रगुप्त काफी ऊँचा स्थान रखता है।

विजेता बाबर ने भी मुगल-साम्राज्य की स्थापना की थी, किन्तु शासन प्रबन्ध के विषय मे उसने कुछ नही किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक महान् विजेता की भांति केवल विस्तृत साम्राज्य की स्थापना ही न की थी वरन् उसने अपने विशाल साम्राज्य मे शान्ति एव सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए सुसगठित शासन प्रबन्ध की भी व्यवस्था की थी। उसने भारतीय सम्राटो को इस क्षेत्र में प्रेरणा दी। बिन्दुसार के नगण्य शासन तथा अशोक के धार्मिक राज्य के समय में मौर्य साम्राज्य जितनी शीघ्रता से बना था उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो गया होता, पर यह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध की ही विशेषता थी कि वह इतने दिनो तक चल सका। जिस सेना का सगठन चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया था वह अशोक के धर्मपरायण युग में अस्त्र शस्त्र से विदा लेने के पश्चात् भी इतनी सशक्त एव भयकर थी कि किसी भी आतरिक या बाह्य प्रसाधनो द्वारा साम्राज्य की शान्ति भग न हो सकी। चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध के अन्तर्गत दण्ड विधान में कठोरता का समावेश प्राप्त होता है और इसी आधार पर जस्टिन महोदय ने उसे निर्दयी एव क्रूर कहा है। किन्तु मुद्राराक्षस मे चन्द्रगुप्त को अवतरित देवता घोषित किया गया है जो सुख तथा समृद्धि प्रदान करने के लिए स्वर्ग से उतरा है। मेगस्थनीज ने

---

१. जो व्यक्ति सिकन्दर जैसे विजेता के सम्मुख नहीं झुक सका और निर्भीक होकर बोलता रहा, भला वह चाणक्य के हाथों की कठपुतली कैसे हो सकता है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। उपरोक्त साक्ष्य हमें यह बताता है कि चन्द्रगुप्त में वाक् निर्भीकता (boldness of speech) थी और यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसमे यह गुण होगा, वह व्यक्ति किसी के हाथ का खिलौना बनने की अपेक्षा मर जाना सुन्दर समझता है। अतः हमारे विचार से मुद्राराक्षस के चाणक्य की वह चारित्रिक दुर्बलता स्वयं विशाखदत्त की कल्पना की देन है।

भी चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध की भूरि भूरि प्रशसा की है। दण्ड विधान की कठोरता तत्कालीन परिस्थितियो की माँग थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन की उत्कृष्टता का परिचय इस तथ्य से भी मिल जाता है कि उसके सुव्यवस्थित शासन के अनेक पक्ष, यथा राजस्व व्यवस्था, पुलिस तथा कर्मचारीतन्त्र का अनुकरण परवर्ती शासको ने किया। उसकी समग्र शासन व्यवस्था जो किसी न किसी रूप मे मुसलमानो के शासन-काल तक चली आ रही थी, मुस्लिम शासको के शासन का आधार बनी जिसे बाद मे ब्रिटिश शासको ने अपनाया।

सौभाग्यवश चन्द्रगुप्त को तत्कालीन भारत के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ चाणक्य का सहवास प्राप्त हो गया था जिससे वह कूटनीति मे भी पूर्णरूपेण दक्ष हो गया।

चन्द्रगुप्त की कलाप्रियता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उसका राजमहल है। जिस राजसी ठाट-बाट से चन्द्रगुप्त अपना जीवन व्यतीत करता था, वह आदर्श विलासिता कही जा सकती है। आदर्श विलासिता से हमारा अभिप्राय नैतिकता की रक्षा करते हुए विलासी जीवन से है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य साम्राज्य निर्माता, राष्ट्र निर्माता, शासक तथा मनुष्य, प्रत्येक रूप म पूर्ण था।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार मौर्य साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ हुआ। इतिहासकार स्ट्रैबो के कथनानुसार सनड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) का पुत्र तथा उत्तराधिकारी का नाम एलिट्रोकेट्स था। कुछ अन्य इतिहासकार बिन्दुसार को अनेक नामो से पुकारते हैं। वे सभी नाम सस्कृत के 'अमित्रघात' (रिपुघातक) के रूपान्तर प्रतीत होते हैं।[1] जैन ग्रथ राजबलि कथा में बिन्दुसार को सिंहसेन कहा गया है। इन सभी विदेशी लेखको तथा भारतीय ग्रथो ने चन्द्रगुप्त मौय का जो नामकरण किया है उनमे पुराणों द्वारा दिया गया नाम ही ग्रहण किया गया है और उसके आधार पर ही हम उसे बिन्दुसार कहते हैं। बिन्दुसार के शासन का पूर्ण विवरण नही प्राप्त होता। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल के पश्चात् रचित ग्रथो मे थोडी-बहुत सामग्री बिन्दुसार के विषय मे मिल जाती है।[2] पर वह भी बिल्कुल अपर्याप्त है। यदि आयमजुश्री मूलकल्प के लेखक तथा तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ का विश्वास किया जाय तो चाणक्य ने कुछ समय तक बिन्दुसार का भी मन्त्रित्व किया था। तदुपरान्त 'दिव्यावदान' मे वर्णित खल्लाटक बिन्दुसार का प्रधान सचिव निर्वाचित हुआ था और उसके बाद राधगुप्त मत्री हुआ।

विद्रोह—चन्द्रगुप्त मौय के शासन-काल का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि मौय-साम्राज्य मे अभी विद्रोहियो की सख्या काफी थी। गुप्त रूप से षडयन्त्र रचनेवालो की सख्या तो और भी अधिक थी। दिव्यावदान के कथनानुसार हमे बिन्दुसार के शासनकाल मे होने वाले उपद्रवो का ज्ञान प्राप्त होता है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त की अदम्य शक्ति के सम्मुख इन विद्रोहियो को झुक जाना पडा था और इन्होंने कभी सर उठाने का

---

१ 'अमित्रघात' शब्द का प्रयोग पतजलि के महाभाष्य ३।२।२। में मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा महाभारत में क्रमश 'अमित्राणां हन्ता' तथा 'अमित्रघातिन' उपाधियों का प्रयोग योद्धा राजकुमारों के लिए किया गया है।

२ दिव्यावदान, पृ० २७२।

साहस नही किया, किन्तु नये राजा को दुर्बल समझकर विद्रोहियो ने विद्रोह कर दिया। परन्तु हम इस धारणा को अक्षरश सत्य नही मान सकते, क्योंकि दिव्यावदान तक्षशिला मे होनेवाले जिस विद्रोह का वर्णन करता है उसके दमनार्थ जिस समय बिन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को भेजा तो वह तक्षशिला पहुचकर मार्ग मे ही जनता से मिला, जिसने निम्नलिखित बयान दिया—"न तो हम लोग राजकुमार के विरुद्ध हैं और न सम्राट के अपितु उन निर्दयी मन्त्रियो के विरोधी हैं जो हमारा अपमान करते हैं।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिन्दुसार के समय मे प्रातीय शासकों की नृशसता काफी अधिक बढ चुकी थी। इससे बिन्दुसार के प्रातीय शासन की ढिलाई का बोध होता है।

बाह्य नीति—बिन्दुसार का पालन-पोषण उस राजप्रासाद मे हुआ था जिसमे न केवल एक यूनानी रानी थी अपितु यूनानी युवतियो की एक बहुत बडी सख्या थी। सम्भवत उन विदेशियो के प्रति बिन्दुसार का कुछ आकर्षण रहा होगा। उसने अपने पिता चन्द्रगुप्त तथा यूनानियो के सबध को भी देखा था। बिन्दुसार ने यह भी देखा था कि विदेशियो की देखरेख के लिए चन्द्रगुप्त ने एक पृथक् विभाग का निर्माण किया था। यह थी उसकी बाह्य नीति को प्रभावित करने वाली पृष्ठभूमि। दुर्भाग्यवश हम बिन्दुसार के विभिन्न वैदेशिक सबधो का विवरण न प्राप्त होकर केवल यूनानियो से उसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। यूनानी इतिहासकारो ने अन्तिओक प्रथम सोतर तथा बिन्दुसार के पत्र व्यवहार का एक नमूना सुरक्षित रखा है। उससे ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट बिन्दुसार ने सीरिया के सम्राट् अन्तिओक से 'मधुर मदिरा, अजीर और एक दार्शनिक' की माँग की थी। उसके यूनानी मित्र ने बिन्दुसार की प्रथम दो माँगो की पूर्ति करते हुए जो उत्तर दिया है वह इस प्रकार है—

'मुझे इन्हे भेजने से तो बडी प्रसन्नता होती है, परन्तु अभाग्यवश आपकी तीसरी इच्छा पूरी न कर सकूगा क्योकि देश का कानून दार्शनिक भेजने के विरुद्ध है।"

मेगस्थनीज के पश्चात् डेमाकस नामक एक दूसरा राजदूत सीरिया सम्राट द्वारा बिन्दुसार के दर्बार में भेजा गया था।[1] प्लिनी के कथनानुसार इजिप्ट के राजा तोलेमी द्वितीय फिलडिल्फस (२८५–२४७ ई० पूर्व) ने भी डायोनीसस नाम का राजदूत भारतीय राजदर्बार मे भेजा था, पर यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि डायोनीसस बिन्दुसार अथवा अशोक मे से किसके राज-दर्बार मे आया था।

दक्षिण विजय—मौर्य साम्राज्य के सस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य विस्तार का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि दक्षिण के अधिकाश भूभाग पर चन्द्रगुप्त ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अगले परिच्छेद मे हम यह भी देखेंगे कि अशोक के साम्राज्य मे दक्षिणापथ का विस्तृत देश सम्मिलित था। यहाँ यह विचारणीय है कि दक्षिण का विस्तृत देश किस प्रकार अशोक की अधीनता मे आया। अशोक ने तो अपने प्रथम तथा अन्तिम युद्ध कलिंग-युद्ध के रक्तपात से ही क्षुब्ध होकर सदव के लिए अस्त्र शस्त्रों को सूर्य की किरणो से दूर कर दिया। अत यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि दक्षिण विजय अशोक ने नहीं की। दक्षिण विजय का श्रेय या तो हम चन्द्रगुप्त को दे सकते हैं या बिन्दुसार को। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के कथनानुसार बिन्दुसार ने 'पूर्वी एव पश्चिमी समुद्रो की सारी भूमि को अपने को स्वामी बना लिया।' तारानाथ के इस विवरण के आधार पर तो दक्षिण विजय का श्रेय बिन्दुसार को ही

१ ह्यूबो २।१।१६।। मेगस्थनीज तथा एरियन, पृ० १२,१६

दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अमित्रघातक (अमित्रघात) इस विचार को और भी प्रौढ़ता प्रदान करता है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तारानाथ के इस विवरण का संबंध किसी विद्रोह से है। दक्षिणापथ को जीतना सरल कार्य न था और इतनी बड़ी सैनिक सफलता करने वाले व्यक्ति के इतिहास के विषय में पर्याप्त सामग्री का अभाव हो, यह कुछ तर्कसंगत नहीं जँचता। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार भी चन्द्रगुप्त द्वारा दक्षिणापथ की विजय को स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत है, क्योंकि वे चन्द्रगुप्त का सम्पर्क मैसूर से जोड़ते हैं।

बिन्दुसार का परिवार—केवल अशोक ही बिन्दुसार का अकेला पुत्र न था, क्योंकि अशोक ने पाँचवें शिलालेख में यह बतलाया है कि उसके कई भाई और बहनें थीं। दिव्यावदान में अशोक के दो भाइयों का नाम सुसीम तथा विगताशोक बतलाया गया है। सिंहली अनुश्रुतियाँ इन्हें क्रमशः सुमन तथा तिष्य कहती हैं।

बिन्दुसार की तिथि—अब हम बिन्दुसार की तिथि पर विचार करेंगे। पुराणों के अनुसार चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार ने क्रमशः २४ तथा २५ वर्ष तक राज्य किया। बौद्ध अनुश्रुतियों के आधार पर बिन्दुसार का शासन-काल २७ या २८ वर्ष माना जा सकता है। अतः यदि हम यह स्वीकार कर लें कि ३२४ ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ़ होकर ३०० ई० पूर्व तक राज्य करता है तो हम बिन्दुसार का शासन-काल लगभग ३०० ई० पूर्व से २७३ ई० पूर्व तक मान सकते हैं।[1]

सम्राट् अशोक

बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र के सिंहासन पर उस महान् सम्राट का पदार्पण होता है जो भारत तो क्या विश्व इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह सम्राट् केवल अपने साम्राज्य की विशालता के लिए ही विख्यात नहीं है, वरन् वैयक्तिक चरित्र तथा अपने उद्देश्य एवं आदर्श के लिए भी यह विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इस महान् सम्राट् को इतिहास में अशोक महान् कहा जाता है। अशोक ने जिस साम्राज्य पर शासन किया, वह भारत का सबसे बड़ा साम्राज्य था। विश्व में विशालता के दृष्टिकोण से अनेक साम्राज्य तथा उनके शासक प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु विस्तृत साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् होने के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ मानव होना कठिन ही नहीं असम्भव है। श्रेष्ठ सम्राट्, कुशल शासक तथा आदर्श मानव एक साथ एक व्यक्ति ही हो यह और कुछ नहीं प्रकृति का आश्चर्य है। इस परिच्छेद में हम उसी महान विभूति अशोक के विषय में पढ़ेंगे।

अशोक का राज्याभिषेक—चन्द्रगुप्त ३२४ ई० पूर्व में गद्दी पर बैठा और ३०० ई०

---

१ बिन्दुसार की तिथि के संबंध में डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने लिखा है—"जैसा कि प्लूटार्क तथा जस्टिन के प्रमाणों से परिलक्षित होता है, चन्द्रगुप्त ३२६-२५ ई० पू० तक सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ था, और पुराणों के अनुसार उसने २४ वर्षों तक राज्य-किया, (अतः) उसका उत्तराधिकारी ३०१ ई० पू० के पहले राजसिंहासन किसी प्रकार नहीं प्राप्त कर सका होगा, निश्चय ही इस नये सम्राट ने २७०-६९ ई० पू० से राज्य करना प्रारंभ किया होगा ... बिन्दुसार के शासन-काल-संबंधी साक्ष्यों में मतैक्य नहीं है। पुराण इसे २५ वर्ष बताते हैं। बर्मी तथा सिंहली अनुश्रुतियाँ क्रमशः २७ तथा २८ वर्ष घोषित करती हैं।"—*Age of Nandas and Mauryas*, p 166

पूर्व मे उसकी मृत्यु हो गई। तदुपरान्त बिन्दुसार सिंहासनारूढ होता है जिसने पुराणो के अनुसार २५ वर्ष तक राज्य किया। इस साधन से तो बिन्दुसार की निधन तिथि २७' ई० पूर्व मानी जा सकती है। ये सारे विवरण पुराणो के आधार पर दिये गये हैं जिनके अनुसार अशोक के राज्याभिषेक की तिथि २७५ ई० पूर्व होनी चाहिए किन्तु बौद्ध अनुश्रुतियो के अनुसार बिन्दुसार ने २७–२८ वर्ष तक राज्य किया। यदि हम इस साक्ष्य को सत्य मानें तो बिन्दुसार की निधन तिथि २७२–७३ ई० पूर्व सिद्ध होती है। सिंहली अनुश्रुतियो के अनुसार अशोक का राज्याभिषेक बिन्दुसार की मृत्यु के चार वर्ष पश्चात् अर्थात् २६८–६९ ई० पूर्व मे हुआ।

राज्याभिषेक का यह चार वर्ष का अन्तर (यदि वास्तव मे कोई अन्तर रहा भी हो) इतिहासकारो के समक्ष एक बहुत बडा प्रश्न उपस्थित कर देता है जो सीधे अशोक के चरित्र से सम्बन्धित है। इस चार वर्ष के अंतर का कारण भी सिंहली अनुश्रुतियो से आभासित हो जाता है। सिंहली अनुश्रुतियो के अनुसार अशोक अत्यन्त निर्दयी तथा रक्तपिपासु था जिसने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् ९९ भाइयो की हत्या करके गद्दी प्राप्त की थी।[1] डा० स्मिथ इतना तो स्वीकार करते हैं कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पडा था और इसीलिए राज्याभिषेक मे देर हुई, किन्तु ये ९९ भाइयो की हत्या करना स्वीकार नही करते। केवल सौतेले बडे भाई सुसीम से संघर्ष होना स्वीकार करते हैं।[2] डॉ० भंडारकर भी सिंहली अनुश्रुतियो का खंडन

१ श्री नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है कि जिस समय बिन्दुसार मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ था, उसी समय अशोक उज्जैनी छोडकर पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) चला आया और उसने साम्राज्य के शासन-भार को ग्रहण किया। नीलकान्त महोदय ने यह बताया है कि अनुश्रुतियों के कथनानुसार अशोक ने बिन्दुसार की इच्छा के विरुद्ध शासन-सत्ता पर अपना अधिकार जमाया।

सिंहली अनुश्रुतियाँ दो भिन्न विवरण प्रस्तुत करती हैं—एक यह कि अशोक ने अपने ९९ भाइयों की हत्या करके साम्राज्य प्राप्त किया, जैसा कि ऊपर बताया गया है (महावंश ५।२०। दीपवंश ६।२१-२१), दूसरा कथन है कि पाटलिपुत्र का सिंहासन प्राप्त करने के पूर्व उसने अपने ज्येष्ठ भ्राता की हत्या करवा दी (महावंश ५।४०)

दिव्यावदान से यह ज्ञात होता है कि जिस समय मृत्यु शय्या पर पड़े हुए बिन्दुसार ने अपने पुत्र सुसीम को राजतिलक देने का निश्चय किया तो उसके मन्त्रियों ने सुसीम के स्थान पर अशोक को राज्याधिकारी निर्वाचित कर दिया और जब बिन्दुसार को इस छल का पता चला तो वह बहुत क्रोधित हुआ। उस समय अशोक ने दैवी शक्तियो, देवी-देवताओं का आवाहन करके राज्य पर अपना अधिकार प्रमाणित किया। किन्तु इसी ग्रन्थ मे अशोक अपने शत्रुओ को मारकर राज्य-सत्ता प्राप्त करने की बातें करता है।

2 "The fact that his formal consecration or coronation (abhisheka) was delayed for some four years until 269 B C, confirms the tradition that his succession was contested, and it may be true that his rival was an elder brother named Susima"—*The Oxford History of India*, p 99

डॉ० स्मिथ ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'अशोक' मे, जो कुछ महीनों बाद ही प्रकाशित किया गया था, लिखा है—"यह सम्भव है कि यह देरी झगडे में पड़े हुए उत्तराधिकार के कारण ही हुई जिसमें अधिक रक्त प्लावन हुआ, किन्तु ऐसे किसी संघर्ष का स्वतन्त्र प्रमाण नहीं प्राप्त होता है।" देखिये *Political History of Ancient India*, p 302

करते हुए स्मिथ महोदय का समर्थन करते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों से यह भी ज्ञात होता है कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पड़ा था और उसने राधगुप्त की सहायता से अपने सौतेले भाई सुसीम के समक्ष विजय पाई थी। राज्याभिषेक मे चार वर्ष देरी होने का एक दूसरा कारण डॉ० जायसवाल ने यह बतलाया है कि राज्याभिषेक के समय अशोक की आयु २५ वर्ष से कम थी और उन दिनो २५ वर्ष से कम वाले राजकुमार का राज्याभिषेक नही होता था। इसीलिए राज्यारोहण मे तीन चार वर्ष की देरी हुई।[1] किन्तु रायचौधरी ने इसका खण्डन किया है और अपने मत के समर्थन में यह लिखा है कि पुराणो मे विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक उसके बाल्यकाल मे होना कहा गया है।[2] दीपवंश मे ९९ भाइयों की हत्या का जो वर्णन किया गया है वह भी तर्कसंगत नही। अब हम उपर्युक्त मतो की वास्तविकता पर थोड़ा विचार करेंगे, अर्थात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करेंगे कि अशोक को सिंहासन के लिए ९९ भाइयों की हत्या करनी पड़ी, अथवा केवल सुसीम के साथ संघर्ष या उसका वध करना पड़ा, अथवा बिना संघर्ष के ही उसका राज्याभिषेक हो गया। अशोक स्वयं अपने अभिलेख मे इस बात का निर्देश करके कि उसका राज्याभिषेक गद्दी प्राप्त होने के चार वर्ष पश्चात् हुआ, हमे यह स्वीकार करने को प्रेरित करता है कि बिना किसी कारण के राज्याभिषेक में चार वर्ष बीत जाना सम्भव नही। हम यह भी जानते हैं कि जिस समय अशोक अपने पिता बिन्दुसार के शासन-काल मे उज्जयिनी का शासक था, उसी समय तक्षशिला का शासक अशोक का अग्रज सुसीम अथवा सुमन था। जिस समय तक्षशिला की जनता ने विद्रोह किया, उस समय सुसीम की अयोग्यता का परिचय सम्राट् को प्राप्त हुआ। सुसीम किसी प्रकार भी विद्रोह का दमन न कर सका, पर अशोक का तक्षशिला पहुँचना था कि जनता उससे मिल गई और विद्रोह शान्त हो गया। निश्चय ही यह सुसीम के लिए बहुत अपमानजनक घटना हुई। बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक का अग्रज सुसीम गद्दी पर बैठना चाहता था, पर ऐसा नही हुआ। अपने अधिकार के लिए सुसीम को अशोक के साथ संघर्ष करना अनिवार्य था। मौर्य साम्राज्य पर अशोक का शासन स्थापित होता है तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सुसीम तथा अशोक मे जो संघर्ष हुआ, उसमे या तो सुसीम का वध कर दिया गया या उसने सर्वदा के लिए अशोक की अधीनता स्वीकार कर ली, पर अधिक सम्भावना उसके वध की ही की जा सकती है।

जहाँ तक ९९ भाइयों के वध करने का प्रश्न है यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसमें कोई सार नही। इन ९९ भाइयो, अशोक तथा सुसीम को लेकर बिन्दुसार को १०१ लड़के हुए ? यह पूर्णतया कपोल-कल्पित एवं हास्यास्पद बात है। जब ९९ भाइयो का होना ही असम्भव है तो उनके वध का कोई प्रश्न नही।

उपर्युक्त तर्क से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अशोक को सिंहासन के लिए केवल अपने अग्रज सुसीम से संघर्ष करना पड़ा था। स्वयं अशोक ने अपने शिलालेख, चतुर्थ तथा पंचम में सम्बन्धियो के साथ अनुचित व्यवहार करने की अवहेलना की है

---

१ JBORS, 1917, p 438 Quoted in the above book

२ विचित्रवीर्यश्च तथा
बाल अप्राप्तयौवनम्
कुरुराज्ये महाबाहुर
अभ्यषिञ्चन् च तदनन्तरम्। महाभारत १।१०१।१२

और उसने अपने भाई, बहनो तथा सम्बन्धियो के साथ सुन्दर व्यवहार का वर्णन किया है। अत अशोक के ये अभिलेख सिद्ध कर देते हैं कि अशोक किसी प्रकार भी अपने भाइयो की हत्या नही कर सकता था। पर यहाँ सन्देह यह है कि तब के अशोक और अभिलेख के अशोक भिन्न हैं। बौद्ध ग्रथो मे अशोक को प्रारम्भ मे क्रूर बताये जाने के आधार पर भी उसको भाइयो का बध करने वाला मानना तर्कसगत नही, क्योकि इसे 'कालाशोक' घोषित करने मे बौद्ध ग्रथो का अपना निजी स्वार्थ निहित है। वे बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पूर्व अशोक को क्रूर बताकर बौद्ध धर्म की शक्ति मे चमत्कार कराना चाहते हैं।

सम्राट अशोक की कलिंग विजय—सिंहासन पर बैठने के पूर्व अशोक उज्जैन का शासक रह चुका था। सम्राट् होने के पश्चात् चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र अशोक को भी साम्राज्य विस्तार की महत्वाकाक्षा रही होगी। बौद्ध ग्रथ दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने 'स्वस' नगर को पराजित किया था, किन्तु अशोक के अभिलेखो मे हमे इस प्रकार की केवल एक ही घटना का विवरण प्राप्त होता है और वह है कलिंग विजय।

महानदी तथा गोदावरी के बीच स्थित कलिंग राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजयी सेना से अछूता रह गया था और इस प्रकार वह अब भी स्वतन्त्र था। कुछ इतिहासकारो का यह मत है कि नन्दराजा महापद्म ने ई० पूर्व चौथी शताब्दी मे कलिंग को पराजित कर दिया था और वहा से विजय स्मारिका के रूप मे एक जैन तीर्थंकर-मूर्ति पाटलिपुत्र उठा लाई गई थी। बिन्दुसार के राज्य-काल मे जब विद्रोहो का प्रारम्भ हुआ तो सम्भवत कलिंग राज्य पुन स्वतन्त्र हो गया। वास्तविकता जो भी हो, अशोक के समय मे कलिंग स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य था। अशोक के १३वें शिलालेख से हमे कलिंग विजय का विवरण प्राप्त होता है। किन्तु कल्हण की राजतरंगिणी से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने सर्वप्रथम काश्मीर पर विजय प्राप्त की थी। काश्मीर के इतिहास के अध्ययन से भी यह प्रतीत होता है कि अशोक ने काश्मीर पर विजय प्राप्त की थी, क्योकि इस इतिहास मे अशोक को मौर्य वश का प्रथम सम्राट् घोषित किया गया है। कल्हण लिखता है, "विश्वसनीय अशोक ने धरती पर राज्य किया। इस राजा ने जिसने पापो से मुक्ति पा ली है और जैन मत स्वीकार कर लिया है सुष्कलेत्र तथा वितस्तात्र को स्तूपो से ढँक दिया है। वितस्तात्र नगर मे, धर्मारण्य विहार की सीमा में उसका बनवाया हुआ एक चैत्य है जिसकी ऊँचाई तक दृष्टि का पहुचना कठिन है। इस सुप्रसिद्ध सम्राट् ने श्रीनगरी की स्थापना की। इस पापहीन राजा ने विजयेश्वर के प्राचीन घर (enclosure) को हटाकर उसके स्थान पर पत्थर का एक नवीन घेरा बनवा दिया। उसने विजयश के घेरे के भीतर तथा उसके निकट दो मन्दिरो का निर्माण करवाया जिन्हें अशोकेश्वर कहा जाता था।"

इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि काश्मीर चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार की शासन-सत्ता से मुक्त था और अशोक ने सर्वप्रथम उस पर अधिकार स्थापित किया। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अशोक ने केवल एक ही बार रण प्रयाण किया और उसका फल था कलिंग विजय। कल्हण के राज-तरंगिणी या काश्मीरी इतिहास की बात एक दूसरे रूप मे सत्य भी हो सकती है। सम्भव है काश्मीर ने सर्वप्रथम अशोक की अधीनता स्वीकार की हो और इसके पूर्व वहाँ स्वायत्त शासन रहा, क्योकि चन्द्रगुप्त के शासन काल मे भी कुछ स्वायत्त शासनवाले छोटे मोटे राज्यो का पता चलता है। बिन्दुसार ने काश्मीर पर आक्रमण किया हो इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। अत अशोक का काश्मीर पर आक्रमण करना तथा उस पर विजय प्राप्त करना

कुछ अंश तक सत्य हो सकता है। राज्याभिषेक के नवें वर्ष अशोक ने कलिंग राज्य पर आक्रमण कर दिया। मेगस्थनीज ने कलिंग राज्य की सेना का वर्णन करते हुए लिखा है कि "उसकी सेना में ६०००० पैदल, १००० अश्वारोही तथा ७०० हाथी थे। अशोक के १३वें शिलालेख से युद्ध की भयकरता तथा रक्तपात का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। इस अभिलेख के अनुसार डेढ़ लाख बन्दी बना लिए गए, एक लाख व्यक्ति मारे गए, और उनसे कई गुना (उन रोगो और सामरिक परिस्थितियो से) मृत्यु के शिकार हुए" (जो सामान्यतः युद्ध के पश्चात उपस्थित होती है)। युद्ध की भयकरता तथा मृत्यु की सख्या से कलिंग राज्य के सैनिको तथा वहाँ की जनता के त्याग एव बलिदान का निर्देशन होता है, किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा सुसगठित सेना के सम्मुख कलिंग राज्य के सैनिको को झुक जाना पड़ा और अशोक की विजय हुई। पर इस रक्तरजित विजय ने अशोक के जीवन में एक ऐसा परिवतन ला दिया उससे सम्राट अशोक 'सत अशोक' हो गया। डॉ० रायचौधरी ने इस विजय के महत्त्व के विषय मे लिखा है, "मगध के इतिहास में कलिंग विजय वास्तव मे एक महान् घटना है। इसके साथ ही प्रादेशिक विजय और बलपूर्वक राज्य विस्तार का युग जो बिम्बिसार द्वारा अग पर अधिकार करने के साथ आरम्भ हुआ था, समाप्त हो जाता है। उसके स्थान मे एक ऐसे नये युग का पदार्पण होता है जिसमे शान्ति, सामाजिक उन्नति, धर्म प्रचार का व्यापक रूप से प्रसार होता है, किन्तु उसके साथ ही राजनीतिक अचेतनता और शायद सैनिक दुर्बलता भी आ जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि मगध साम्राज्य की सैनिक वृत्ति प्रयोग के अभाव मे धीरे धीरे नष्टप्राय हो जाती है। इस प्रकार सैनिक विजय अथवा दिग्विजय का युग समाप्त होता है और हम आध्यात्मिक विजय या 'धर्म-विजय' के युग में प्रवेश करते हैं।'

धर्मपरायण अशोक—कलिंग युद्ध के नर-सहार के दानवी दृश्य ने अशोक के हृदय पर जो कुठाराघात किया, उससे उसकी पैतृक सामरिक प्रवृत्ति का अत हो गया और उसके स्थान पर मानवोचित धर्म एव नैतिकता का सहसा प्रस्फुटन हुआ। फलस्वरूप अशोक की नीति मे पूर्णरूपेण परिवर्तन हो गया। अशोक ने यह घोषणा कर दी कि अब वह रणघोष के स्थान पर धर्मघोष करेगा। उसका यह निश्चय उसके तेरहवें शिलालेख से ज्ञात होता है।

अशोक का यह निश्चय किसी विशेष परिस्थिति के भावावेश में नहीं किया गया था और न यह मस्तिष्क का प्रमाद और न हृदय का उन्माद था। वास्तविकता यह है कि यह घटना अपने प्रकार की प्रथम और अन्तिम घटना थी और थी हिंसाजन्य प्रभाव की प्रतिक्रिया। कलिंग-युद्ध के पश्चात अशोक ने जीवन मे कभी भी शस्त्र नहीं उठाया और न अपने सैनिकों को ही इसके लिए कभी आज्ञा दी।

अशोक का धर्म (धम्म)

अशोक के धर्म के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व तत्कालीन प्रचलित सम्प्रदायो पर एक विहगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। छठी शताब्दी ई० पू० की धार्मिक अवस्था पर विचार करते समय हमने श्रमण, ब्राह्मण, पारिव्राजक आदि सम्प्रदायो तथा अहेतु वुच्चेकत, खत्तविज्जा आदि वादो का उल्लेख किया था। ये सारे सम्प्रदाय अब भी किसी न किसी रूप मे चले आ रहे थे। धार्मिक आदोलन के फलस्वरूप जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायो का बोलबाला बढ़ता जा रहा था। इन समस्त सम्प्रदायों मे निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

१ रूढ़िवादी देवोपासक—पतंजलि ने मौर्यकालीन देवताओं में शिव, स्कन्द तथा विशाख का महत्वपूर्ण स्थान बताया है।

२ मक्खलिगोशाल के अनुयायी आजीविक

३ निग्रंथ अथवा जैन मतावलम्बी

४ बौद्ध मतावलम्बी

५ अन्य सम्प्रदाय, जिनका उल्लेख अशोक के सातवें स्तम्भ लेख में किया गया है।

उपरोक्त सम्प्रदाय अशोक के शासन-काल में विद्यमान थे, बहुधा यह प्रश्न उठता है कि अशोक किसको मानने वाला था। कुछ इतिहासकार इसे बौद्ध मतावलम्बी स्वीकार करते हैं, किन्तु कुछ इसका बौद्ध धर्म स्वीकार करना प्रामाणिक नहीं मानते। सेनाट महोदय ने लिखा है, (अशोक) के धर्म में कोई ऐसी बात नहीं है जिसे हम केवल बौद्ध कह सकते हैं। इसी प्रकार कर्न महोदय ने भी लिखा है कि अशोक के कुछ शिलालेखों के अतिरिक्त उनमें कोई ऐसी बात नहीं मिलती है जो विशेषतया बौद्धों की हो। फ्लीट महोदय ने भी अशोक का बौद्ध मतावलम्बी स्वीकार करने के प्रमुख साक्ष्य उसके शिलालेखों के उद्देश्य की समालोचना करते हुये यह बतलाया है कि ये शिलालेख बौद्ध धर्म या किसी अन्य धर्म के प्रचारार्थ नहीं निर्मित किये गये। ये एक पवित्र सम्राट् के कर्त्तव्यों के अनुसार तथा सभी धर्मावलम्बियों के हितों का ध्यान रखते हुये निर्मित किये गये हैं। फ्लीट महोदय का यह मत कि अशोक बौद्ध नहीं था, यह हम भले न स्वीकार करें, पर यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अशोक के शिलालेखों में संकुचित धार्मिकता के स्थान पर सार्वभौमिक नैतिकता की ही ध्वनि गुंजित होती है। मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय मानकर हम उसे ब्राह्मण धर्मावलम्बी मानते हैं। अशोक का पिता बिन्दुसार भी ब्राह्मण धर्मावलम्बी था। अशोक ने भी क्षत्रिय कर्म स्वीकार किया, इसका प्रमाण कलिंग विजय है। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक प्रारम्भ में अत्यन्त क्रूर था। अशोकावदान में भी इसके प्रारम्भिक काल की क्रूरता का प्रमाण मिलता है। इतना ही नहीं, उक्त ग्रंथ में इस बात का उल्लेख किया गया है कि अशोक अपने अधिकारियों तथा उनकी पत्नियों की हत्या करा देता था और भोली जनता पर अत्याचार ढाया करता था। (यह अशोक के बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पूर्व जीवन की रूपरेखा बतलाई है)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिंग विजय के पूर्व अशोक ब्राह्मण धर्मावलम्बी था और इस युद्ध के पश्चात् उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अशोक का तेरहवाँ शिलालेख है जिसमें उसने यह घोषणा की कि "कलिंग विजय के शीघ्र पश्चात् देवानांपिय धम्म के अनुकरण, धम्म के प्रेम और धम्म के उपदेश के प्रति उत्साहित हो उठा।'

अब हम उन साधनों पर प्रकाश डालेंगे जिनके अनुसार हम अशोक को बौद्ध मतावलम्बी स्वीकार करते हैं। सर्वप्रथम हम अशोक के शिलालेखों को ही लेंगे।

(१) सारनाथ के लघु स्तम्भ लेख से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने अपने को बौद्ध धर्म के संरक्षक के स्थान में रखते हुए संघभेद के विरुद्ध कुछ दृढ़ विधान घोषित किये हैं।

(२) भाब्रू शिलालेख मे अशोक ने बौद्ध 'त्रिरत्नो' (बुद्ध, सघ तथा धम्म) के प्रति श्रद्धा का उल्लेख किया है।[1]

(३) उसके आठवें शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने बोध गया की यात्रा की। लघु-स्तम्भ-लेख से यह पता चलता है कि उसने लुम्बिनीवन की यात्रा की थी। यह तीर्थयात्रा पूर्णतया धार्मिक दृष्टि से रही, ऐसा इतिहासकारो ने अनुमान लगाया है।

(४) कुछ इतिहासकार शिलालेखो का मुख्य उद्देश्य बौद्ध धम का प्रचार बतलाते हैं। वे अपनी पुष्टि में चार लघु-स्तम्भ-लेख, दो तराई स्तम्भ-लेख, बराबर दरी गृह के तीन अभिलेख, चौदहवाँ शिलालेख तथा विशेषकर भाब्रू शिलालेख का उल्लेख करते हैं।

(५) ह्वेनसांग के कथनानुकूल अशोक ने एक विशाल सेना के साथ बोध गया, लुम्बिनी वन, कपिलवस्तु ऋषिपत्तन (सारनाथ), श्रावस्ती तथा कुशीनगर आदि के तीर्थ स्थानो की यात्रा की, पर अशोक के अभिलेखो मे 'सारनाथ' जहाँ बुद्ध ने पहली बार धमचक्र-प्रवर्तन किया था और कुशीनगर जहाँ परिनिब्बान हुआ था, के नाम तीर्थ यात्राओ के सम्बन्ध मे कही भी उल्लिखित नही हैं। ऐसा आभासित होता है कि ह्वेनसाग ने अशोक के आठवें शिलालेख तथा लघु स्तम्भ लेख मे क्रमश बौध गया तथा लुम्बिनी वन की यात्रा से यह अनुमान लगा लिया कि अशोक ने शेष बौद्ध तीर्थ स्थानो की भी यात्रा की होगी।

(६) अशोक ने अपने प्रथम लघु शिलालेख में 'सघउपयीते' लिखा है। इस शब्द को लेकर विभिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न मतो का प्रतिपादन किया है। पाठो की भिन्नता यहाँ समस्या को अधिक जटिल बना देती है। अशोक का सघउपयीते से क्या अर्थ था, यह कहना बडा कठिन-सा लगता है। क्या उसने बौद्ध सघ को अपना निवास-स्थान बना लिया अथवा सघ का सहायक बन गया—अथवा उसने बौद्ध सघ का दौरा किया? इससे अशोक का बौद्ध भिक्षु होना भी प्रमाणित होता है और दूसरी ओर यह भी परि-लक्षित होता है कि एक धार्मिक सम्राट् के नाते अशोक ने बौध मठों का दौरा किया।

(७) अशोक, सघउपीयते के आधार पर बौद्ध भिक्षु हो गया था, इसका समर्थन इत्सिग के इस विवरण से हो जाता है कि उसने भिक्षु के वेष मे अशोक की एक मूर्ति देखी थी।

किन्तु इत्सिग के कथन पर हम अपना मन्तव्य पूरी तरह निर्भर नही कर सकते। इसका मुख्य कारण यह है इत्सिग बहुत बाद का (सातवी शताब्दी) का है।

(८) इन पुरातात्विक साक्ष्यो के अतिरिक्त अनेक साहित्यिक साक्ष्य भी अशोक के बौद्ध मतावलम्बी होने का समथन करते हैं। उदाहरण के लिए दीपवश, महावश समन्तपासादिका, दिव्यावदान, सुमगलपकासिनी आदि सभी बौद्ध ग्रथ अशोक के बौद्ध मतावलम्बी होने का समर्थन करते हैं। बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त कतिपय अन्य साहित्यिक साक्ष्य भी इस विचार का समर्थन करते हैं। गार्गी सहिता मे अशोक के एक उत्तराधिकारी की धम्म विजय का उल्लेख किया गया है। धम्म विजय की स्थापना

---

१ इस अभिलेख का एक अश इस प्रकार है "मगध के प्रियदर्शी राजा सघ का अभिवादन करके यह कामना करते हैं कि वे स्वस्थ और निरापद रहें। हे भदन्तगण, आप जानते हैं कि बुद्ध, धम्म और सघ मे हमारी कितनी श्रद्धा और सहृदयता है। हे भदन्तगण, जो कुछ भगवान् ने कहा है वह अच्छा कहा है। "

करने के कारण उसे मोहात्मा कहा गया है। कल्हण ने राजतरंगिणी मे जिन शासन (बुद्ध शासन) स्वीकार करने की बात कही है।

(९) अशोक ने लगभग ८० हजार स्तूपो का निर्माण कराया जिनका स्पष्ट है।

(१०) अशोक के बौद्ध होने का एक बहुत बडा प्रमाण यह है कि उसने मोग्गलि पुत्त तिष्य के सभापतित्व मे तृतीय बौद्ध सगीति का आयोजन किया जिसका उद्देश्य महात्मा बुद्ध के उपदेशो के पाठ आदि को शुद्ध कराना था।

(११) सम्राट अशोक ने अपने साम्राज्य मे पशुबलि निषेध की आज्ञा थी। उसके अभिलेखो से यह भी ज्ञात होता है कि उसने स्वय मास भक्षण तथा का त्याग कर दिया था। उसने ब्राह्मण यज्ञो तथा अनुष्ठानो का भी निषेध कर था। यह खुल्लम-खुल्ला ब्राह्मण धम का विरोध था।

(१२) बौद्ध अनुश्रुतिया हमे यह भी बतलाती हैं कि अपने मे अशोक ने आठ स्तूपो मे सुरक्षित महात्मा गौतम बुद्ध के भस्मावशेष को वितरित करके रखवाया था।

(१३) बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अशोक ने बौद्ध भिक्षु एव भिक्षुणियो को देश विदेश मे भेजा था।

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने अशोक का बौद्ध होना स्वीकार किया है और इस विषय मे उन्होंने लिखा है, "इसमे सन्देह के लिए स्थान नही है कि अशोक गया था। भाब्रू शिलालेख में उसने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि बौद्ध तथा सघ मे उसका विश्वास था। उसने बुद्ध जी के जन्म-स्थल तथा स्थान की तीर्थयात्रा की थी और जन्म स्थान पर उसने पूजा भी की थी। उसने बात की घोषणा कर दी थी कि जो कुछ बुद्ध जी ने कहा था वह ठीक ही कहा था। उसने बौद्ध सिद्धान्तो की व्याख्या करवाने मे बडी दिलचस्पी ली थी जिससे वह अधिक दिनो तक टिक सके। अपने धम परिवतन के एक-आध वष बाद वह सघ मे सम्मिलित हो गया था तब से उसने अपने को सदैव सघ के सम्पक मे रखा। उसने भिक्षुओं से कहा कि सच्चे सिद्धान्तो की व्याख्या की आवश्यकता है और उसने सघ के कार्यों को देखने के लिए कुछ विशेष कर्मचारियो की नियुक्ति की। उसने सघ मे एकता स्थापित रखने और मतभेद को रोकने के लिये भी प्रयत्न किया।'

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक अपने समय के प्रचलित चार सम्प्रदायो (१) देवोपासक (२) आजीवक, (३) निग्रन्थ तथा (४) बौद्ध मे से अन्तिम बौद्ध सम्प्रदाय का था। बौद्ध धम के प्रचाराथ अशोक ने जो कुछ प्रयास किया, उसका वर्णन हम अगले पृष्ठो मे करेंगे। यहाँ अशोक के व्यक्तिगत धर्म पर कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

विद्वानो ने धम के चार विभाग बतलाए हैं—(१) दशन, (२) नैतिक आचरण (३) कमकाण्ड तथा (४) कला या साहित्य। धम के चारो विभाग किसी-न किसी रूप में विश्व के सभी धर्मों मे पाये जाते हैं, पर नैतिक आदश धम का सार होता है। यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि ससार के सभी धर्मों के नैतिक आदश प्राय समान होते हैं। आचरण एव व्यवहार-सम्बन्धी नियमों का प्रत्येक धम मे समान होना स्वाभाविक है। अशोक भी इसी मत का कट्टर समथक था। उसका आदश नैतिक आदर्श था और उसका धम नैतिक धम था, चाहे यह नैतिकता बौद्ध धम की कोर

पले अथवा हिंदू, मुसलमान या ईसाई धर्म की छाया मे पल्लवित हो। अत अशोक सम्पूर्ण मानव जाति के मानव धर्म का अनुयायी था, जिस धर्म का दर्शन कर्मकाण्ड तथा कला नैतिक आदर्शों पर न्योछावर की जा सकती थी। यह था अशोक का धार्मिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत विश्व के सभी धर्मों का समावेश हो जाता है।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने अशोक के धर्म के मूलभूत तत्वो पर जो प्रकाश डाला है वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अशोक के अभिलेखो के आधार पर ही अपने मत का निर्धारण किया है। अपनी प्रजा तथा सम्पूर्ण मानव जाति के लिए अशोक ने जो शिक्षायें दी हैं तथा उसके व्यक्तिगत जीवन का जो विवरण हमे प्राप्त होता है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अशोक के धर्म का मूल तत्व परिवार के सुन्दर पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित था और इसी सुन्दर पारिवारिक सम्बन्ध मे व्यक्ति तथा समुदाय, व्यक्ति तथा समाज और व्यक्ति तथा विश्व के पारस्परिक सुन्दर व्यवहारो का मूल निहित है। अशोक का यह दृढ विश्वास था कि धर्म का प्रारम्भ घर की चहारदीवारी से होता है और यही विस्तृत होकर सम्पूर्ण विश्व को एकता के सूत्र मे बाँध लेता है। सामाजिक जीवन मे व्यक्ति को जिन विभिन्न लोगो एव सम्प्रदायो के सम्पर्क मे आना पडता है उनके साथ सुन्दरतम व्यवहार करना ही धर्म के प्रधान उद्देश्य की पूर्ति है। चरित्र, आचरण तथा व्यवहार धार्मिक कर्मकाण्डो से बहुत ऊँचे हैं। साम्प्रदायिकता को प्रश्रय देना धर्म की अवहेलना है। साम्प्रदायिकता का अन्त करने के अभिप्राय से ही अशोक ने, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, विश्व के समस्त धर्मों के समान तत्त्वो को ग्रहण करके उन्हें प्रधानता देने का प्रयास किया। इस क्षेत्र मे उसने दूसरा प्रयास यह किया कि किसी भी धर्म की कटु आलोचना करना अनुचित ठहराया। इसके अतिरिक्त, उसने धार्मिक सभाओ मे विभिन्न धर्मावलम्बियो को सम्मिलित होने का प्रोत्साहन दिया। चौथा उपाय उसने यह किया कि लोगो को बहुश्रुत होने की प्रेरणा दी जिससे वे अन्य धर्मवालो के दर्शन, नैतिक आदर्श तथा कर्मकाण्ड आदि से परिचित हो सकें और इस प्रकार सकीर्ण दृष्टिकोण छोड कर धर्म-सहिष्णु बन सकें।

अशोक के धार्मिक उपदेशो को स्पष्ट रूप से समझ लेने पर हम उसके धर्म को भलीभाँति जान सकते हैं। अशोक के धार्मिक उपदेश निम्नलिखित थे—

(१) अपचित, (२) सम्प्रतिपत्ति, (३) सचेय (४) सोचये (५) दधभक्तिता, (६) मर्दो। अशोक के इन सिद्धान्तो को पृथक-पृथक स्पष्ट किया जायेगा।

(१) **अपचिति**—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है अशोक धर्म का श्रीगणेश घर से करना चाहता था, अत उसने माता पिता, गुरुजनो तथा बडे बूढों की सेवा पर जोर दिया।

(२) **सम्प्रतिपत्ति**—समन्वयवादी अशोक ने विभिन्न सम्प्रदाय या अन्य लोगो मे सुन्दर सपर्क स्थापित करने के लिये ही ब्राह्मणो, श्रमणो, सम्बन्धियों, मित्र-बन्धुओं आदि के प्रति दान एव उचित व्यवहार की प्रशसा की है।

(३) **सचेय**—दान, दया तथा सत्य।
(४) **सोचये**—चित्त शुद्धि।
(५) **दधभक्तिता**—साधुता, सयम कृतज्ञता, दृढभक्तिता।
(६) **मर्दो**—माधुर्य।

अन्तिम तीन सिद्धान्त अशोक द्वारा धर्म के गुण बतलाये गये हैं (द्वितीय स्तम्भ-लेख, सप्तम शिलालेख)।

तृतीय स्तम्भ-लेख में अशोक ने यह बतलाया है कि क्रोध, निष्ठुरता, अभिमान, ईर्ष्या आदि से उत्पन्न पापों से मुक्ति पाना ही धर्म है। अशोक ने भावनाओं की शुद्धि, धार्मिकता के विकास एवं आचरण के उत्थान के लिए मनुष्यों को आत्म-निरीक्षण (पटिवेखा) करने को कहा।

इन सिद्धान्तों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए अशोक ने निम्नलिखित आचरण के अनुसरण का सन्देश दिया (१) पशुवध का त्याग, (२) अहिंसा, (३) माता पिता की सेवा, (४) बड़े और वृद्धों की शुश्रूषा, (५) गुरुओं के प्रति आदर, (६) मित्र, परिचित, स्वजाति—ब्राह्मणों और श्रमणों के साथ उचित व्यवहार, (७) सेवकों और मजदूरों के साथ अच्छा बर्त्ताव और (८) थोड़ा व्यय।

अशोक के उपर्युक्त धार्मिक सिद्धान्त, जिसमें सम्पूर्ण मानव के हित की व्यवस्था की गई है, विश्व के किसी भी धर्म में पाये जा सकते हैं।

अशोक के धर्म की विशेषताएँ

अशोक के धार्मिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए यह बतलाया है कि अशोक का धर्म सभी धर्मों का सार है, अर्थात् इसके सिद्धान्त अन्य धर्मों के सिद्धान्तों के समान ही हैं। फिर भी, इस धर्म की कुछ अपनी मौलिकता एवं विशेषता है। इन विशेषताओं को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

सार्वभौमिकता—अशोक के धर्म में कहीं भी साम्प्रदायिकता नहीं मिलती। साम्प्रदायिकता से रहित इस धर्म में विश्व के सभी धर्मों के मूलभूत तत्त्व निहित हैं। यह सार्वभौमिकता साधारण बात नहीं है।

अहिंसा—प्रथम शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि अशोक अहिंसा का कितना बड़ा पुजारी था। उसने उन यज्ञों को पूर्णतया बन्द करा दिया जिनमें पशुबलि दी जाती थी। ब्राह्मणों को पशुबलि निषेध की आज्ञा खटकी, किन्तु अहिंसा का पुजारी अशोक इस विषय पर कोई समझौता करने को तैयार न था।

धार्मिक सहिष्णुता—साम्प्रदायिकता से रहित होने के कारण अशोक के धर्म किसी भी धर्म से ईर्ष्या एवं द्वेष करने की आज्ञा नहीं थी। प्रत्येक धर्मावलम्बी आदर करना और उसके धर्म को अपने धर्म-सा ही समझना अशोक के धर्म की बड़ी विशेषता है।

नैतिक आदर्शों का प्राधान्य—धर्म के चार अंगों—दर्शन, नैतिक आदर्श, तथा कला में से अशोक ने नैतिक आदर्शों पर ही विशेष जोर दिया। अपने धर्म को सार्वभौमिकता, सहिष्णुता तथा इसी प्रकार की अन्य विशेषताओं से युक्त करने के नैतिक आदर्शों पर जोर देना अशोक के लिए अत्यन्त आवश्यक था।

प्रायोगिकता—धर्म में दर्शन केवल विद्वानों एवं आचार्यों की वस्तु होती है। का उद्देश्य अपने अनुयायियों के दार्शनिक ज्ञान का विकास करना ही नहीं है, उन्हें सत्य-मार्ग पर चलाना ही उसकी उद्देश्य-पूर्ति है। पर धर्म की प्रायोगिकता बहुत बड़ा महत्व होता है। दर्शन को महत्व न दे कर व्यावहारिक कर्तव्यों को प्रधानता देने का एक बहुत बड़ा फल यह हुआ कि अशोक ने विडम्बनाओं से लोगों रक्षा की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक हमारे जिस धर्म का आदश प्रस्तुत करता है वह अहिंसा और नैतिक आदर्शों पर आधारित एक ऐसा धर्म है जो केवल मनुष्य के लिए ही नही, प्रत्युत समस्त प्राणियो के लिए है। उसके धम का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त था 'अनालम्भो प्राणिना अविहिंसा भूवाना (सब प्राणियो के लिए अहिंसा)'। उसके ये आदश अशोक शासको की परम्परा मे एक विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं।

बौद्ध धर्म प्रचारक अशोक

अब तक हमने अशोक के व्यक्तिगत धम का अध्ययन किया है। अब हम यह देखेंगे कि उस धम-परायण सम्राट ने बौद्ध धम के प्रचार मे क्या उद्योग किया।

कलिंग-युद्ध के पश्चात अशोक ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह रणघोष के स्थान पर धमघोष करेगा। अपने सप्तम स्तम्भ लेख मे भी उसने कहा—"मैं धम की घोषणा करूँगा। धार्मिक शिक्षाओ का प्रचार करूगा। जो लोग उसे सुनेंगे, उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित्त होगे, उनका आध्यात्मिक विकास होगा और धर्म की वद्धि के साथ उनकी अभिवृद्धि होगी।" यह लेख हमे अशोक के धम-प्रचार के उद्देश्य का बोध कराता है। इसी उद्देश्य को लेकर अशोक ने धम प्रचार के लिए निम्नलिखित साधना को अपनाया—

अहिंसा का उपासक बनना—अशोक ने बौद्ध धम के प्रचार के लिए यह आवश्यक समझा कि वह पहले इस धम के प्रधान सिद्धान्त अहिंसा पर जोर दे, स्वय इस सिद्धात का आदश अनुयायी बन कर जनता को अहिंसा का पुजारी बनाये। बौद्ध धम का सबसे बड़ा विरोधी ब्राह्मण धम था जो अपने कमकाण्डो मे पशुबलि तथा अ य कार्यों मे हिंसा को प्रोत्साहित करता था। अत असख्य जनता को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए यह आवश्यक था कि उसमे अहिंसा भाव का सचार किया जाय। अत अशोक ने अपने भोजनालय के लिए, समाजो के लिए अथवा राजकीय भोजो के लिए होने वाले जीवबध को एक राजाज्ञा दकर (प्रथम शिलालेख) बन्द करवा दिया। पचम स्तम्भ लेख द्वारा अशोक ने उस पशुबध को भी बहुत कुछ कम कर दिया जो प्रजा द्वारा किया जाता था।

बौद्ध धम को राजधम घोषित करना—अशोक ने बौद्ध धर्म को राजधम घोषित कर दिया। इसका फल यह हुआ कि अशोक की प्रजा भी बौद्ध धम स्वीकार करने को प्रेरित हुई। अशोक के उत्तराधिकारियो ने भी इसे अपना पैतृक धम समझकर स्वीकार किया, जिससे यह धम बहुत दिनो तक राजधर्म बना रहा। यहाँ यह यह देना विषयेतर न होगा कि अशोक ने इसे राजधर्म स्वीकार करके भी अय-धर्मावलम्बियो को बौद्ध धम स्वीकार करने के लिए कदापि बाध्य नहीं किया। इतिहास मे धम प्रधान सम्राट द्वारा जनता से अपना धम (राजधर्म) बलपूर्वक स्वीकार कराने के उदाहरण का अभाव नहीं।

दान—अशोक ने दीन हीन निरीह तथा साधु-सतो को सहायता देकर बौद्ध धम के प्रचार मे जो योग दिया वह विशेष प्रशसनीय है। वह स्वय तो दान देता ही था, साथ ही अपने भाई-बन्धुओं, परिवार के अन्य सदस्या तथा सम्बन्धियो से भी दान दिलवाता था। सप्तम स्तम्भ लेख से यह ज्ञात होता है कि उसने दान विभाग की देखरेख के निमित्त कर्मचारियो की नियुक्ति की थी जो उसके तथा उसकी रानिया एव राजकुमारो के दान का पूरा विवरण रखते थे। इस प्रमाण मे हम इलाहाबाद स्तम्भ पर उत्कीर्ण रानी के अभिलेख को रख सकते हैं जिसमे 'आम्र' वाटिकाओं, प्रमोदोद्यान, दानगृह

तथा अन्य वस्तुओ के दान का उल्लेख है। सप्तम लेख से हमे अशोक के दान का उद्देश्य स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है। इस स्तम्भ-लेख मे यह निर्देश है "मैंने यह इस उद्देश्य से किया है कि लोग धम्म का यथानुसार सभी पालन करें।"

धर्म विभाग की स्थापना—अशोक के पचम शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष उसने धर्म महामात्रो की नियुक्ति की है। स्मिथ महोदय ने इन धर्म महामात्रो को 'विनय के निरीक्षक' की सज्ञा दी है, किन्तु यह उपयुक्त नहीं है। स्मिथ महोदय के विचार में धर्म महामात्रो का कार्य गुप्त रूप से नैतिक अथवा धार्मिक नियमो का पालन न करनेवालो का पता लगाना तथा उनकी सूची तैयार करना था। वास्तविकता यह है कि यह धर्म महामात्र प्रजा मे धार्मिक भावो का सचार करके तथा उनको नैतिकता का पाठ पढा कर अशोक द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर ले जाना चाहते थे, जिससे वह सुखी जीवन विता सकें। धर्म महामात्र धर्म विभाग का प्रधान होता था। इसकी सहायता के लिए अन्य छोटे-छोटे पदाधिकारी भी थे। निश्चय ही इस विभाग ने बौद्ध धर्म के प्रचार में काफी योग दिया है।

धर्म-यात्रा—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ रण-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा की व्यवस्था की। वह स्वय धर्म-यात्रायें किया करता था तथा अपने अधिकारियो को भी धार्मिक स्थानो की यात्रा करने को भेजता था।

धार्मिक प्रदर्शन—धर्म विभाग की देखरेख में अशोक धार्मिक दृश्यो के प्रदर्शन की भी व्यवस्था करता था। बहुधा स्वर्ग लोक के दृश्य दिखलाये जाते थे, जिससे जनता को प्रेरणा मिलती थी कि वह धार्मिक कार्यों मे दत्तचित्त रह कर स्वर्गिक सुख का आनन्द प्राप्त कर सके।

मठों का निर्माण—अशोक ने अपने राज्य के विभिन्न भागो मे मठो का निर्माण कराया तथा पुराने मठो की आर्थिक सहायता की। इन मठो मे बहुत अधिक भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ रहा करते थे।

धर्म श्रवण—अशोक ने धार्मिक विषयो पर वाद विवाद तथा भाषण की व्यवस्था की थी। यह आयोजन धार्मिक विषयो से रुचि रखने वाले एव सर्वसाधारण के हित के लिए किया जाता था। राजुक, युक्त, प्रादेशिक, युक्त आदि पदाधिकारी इस आयोजन को सफल बनाने के उत्तरदायी थे।

धर्मलिपि—धर्म प्रचार मे, विशेषतया उसको स्थायित्व देने मे, अशोक ने जो प्रयास किया उसमे धर्मलिपि की व्यवस्था का प्रमुख स्थान है। पर्वत की शिलाओं, पाषाण के खम्भो तथा गुफाओ पर धार्मिक सिद्धान्तो एव उपदेशो को लिखा कर अशोक ने सर्वसाधारण को इनसे परिचित कराया। धर्मलिपि की व्यवस्था के मुख्य दो उद्देश्य थे—

१ पाषाण-स्तम्भो या शिलाओ पर उत्कीर्ण होने के कारण धर्मलेख स्थायी रहगे।

२ इससे भविष्य मे भी जनता को लाभ होगा और वह अशोक द्वारा बतलाये गये मार्ग का अनुसरण करेगी।

धर्म मगल की व्यवस्था—अशोक ने धार्मिक तथा सामाजिक आडम्बरो को समाप्त करके धर्म के वास्तविक रूप को जनता के सम्मुख रखने का प्रयास किया। इसके लिए उसने जन्म-मृत्यु शादी ब्याह तथा अन्य अवसरो पर होने वाले निरर्थक अनुष्ठानों को

बन्द कराने का आदेश दे दिया। इसी प्रकार बलि प्रेरक यज्ञों को भी बन्द करा दिया गया। इन सब का प्रभाव बौद्ध धर्म के प्रचार के पक्ष में पड़ा।

लोकहित-कार्य—अशोक ने सम्पूर्ण जीवधारियों के सुखपूर्वक जीवन बिताने के प्रसाधनों को एकत्रित करने का सफल प्रयास किया था। पशुओं की चिकित्सा के लिए उसने औषधालय का निर्माण कराया था। इसी प्रकार मनुष्यों की चिकित्सा के लिए भी औषधालय खोले गये थे जहाँ उन्हें निःशुल्क दवा तथा भोजन दिया जाता था। राजपथों का निर्माण, बड़ी बड़ी सड़कों, विश्राम गृहों की स्थापना, कुओं का निर्माण आदि ऐसे कार्य थे जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध धर्म के प्रचार में योग दिया।

पाली भाषा में बौद्ध ग्रन्थों के लिखने की व्यवस्था—जनभाषा पाली में बौद्ध ग्रंथों को लिखवाकर अशोक ने धर्म प्रचार में काफी योग दिया।

पशु-वध निषेध—बौद्ध धर्म के मूल मन्त्र अहिंसा पर अधिक से अधिक जोर देकर अशोक ने बौद्ध प्रचार को प्रोत्साहन दिया। उसने पशु-वध की मनाही कर दी। राजकीय बावर्चीखाने में भी अब पशु वध नहीं होता था। यज्ञ में पशु-वध करने की अनुमति न देकर अशोक ने ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को रुष्ट अवश्य कर दिया, पर उससे धर्म-प्रचार में कोई बाधा नहीं पड़ी।

बौद्ध संगीति का आह्वान—सिंहली अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने बौद्ध आचार्य मुग्गली पुत्त तिस्स के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में अपने राज्याभिषेक के अठारहवें वर्ष तथा महात्मा गौतम बुद्ध के परिनिर्माण के २३६ वर्ष पश्चात् एक बौद्ध संगीति का आयोजन किया था। कुछ विद्वानों ने संगीति की ऐतिहासिकता पर संदेह किया है, किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण अशोक का भाब्रू अभिलेख है। इस अभिलेख में हम अशोक को स्वयं भिक्षुओं के सम्मुख मगध नरेश के नाम से अभिहित करते हुए पाते हैं। डा० भण्डारकर का उपर्युक्त मत सर्वथा तर्कसंगत है, क्योंकि जो भिक्षु संगीति में एकत्रित हुए थे उनमें कुछ मगध साम्राज्य से बाहर के भी थे। इसीलिए अशोक ने मगध के सम्राट् के रूप में अपना परिचय देना अवश्य समझा। उक्त अभिलेख में सम्राट् अशोक ने कहा है, "मगध के प्रियदर्शी सम्राट् संघ को अभिवादन कर संघवासियों के स्वास्थ्य तथा निष्कंटक रूप से विचरण करने की कामना करते हैं।" अशोक ने संघ के आचार्यों का स्वागत करते हुए उक्त वाक्य कहा है। इसी अभिलेख में आगे इस प्रकार आता है, "पूज्य भंते, यह तो आपको विदित ही है कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी महती श्रद्धा है। जो कुछ भगवान बुद्ध ने उपदेश दिये हैं, हे भंते वे कितने अच्छे ढंग से व्यक्त किये गये हैं, परन्तु, हे भंते, यदि हम इस मंगलमय धर्म की दीर्घकालीन स्थिति के निमित्त कुछ निर्देश करें तो यह व्यक्त करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। भन्त, ये धम्म विषयक ग्रन्थ हैं।' 'धर्म विषयक ग्रंथ' का नाम सम्राट आगे गिनाता है जो सुत्त पिटक तथा विनय पिटक आदि हैं। तत्पश्चात अशोक बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करने की इच्छा प्रकट करता है—"जितने भी भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ हैं, उनमें से अधिक-से-अधिक संख्या में इन सभी ग्रंथों का पाठ सुनते रहें। सुनने के पश्चात उन पर मनन किया करें।"[1]

1 अशोक ने उक्त शिलालेख में संघ के भिक्षु एवं भिक्षुणियों को जिन पाठों का अध्ययन स्वीकृत किया है, वे निम्नलिखित हैं :—

(१) विनय-सकुमस्त सुत्त (२) अलिय वस, (३) अनागत भय, (४) मुनिगाथा, (५) मोनेय सुत्त, (६) उपतिस्सपसिना एवं (७) राहुलोवाद। उपर्युक्त पाठों में प्रथम एवं षष्टम को छोड़ कर शेष पाठ त्रिपिटक के माने गये हैं।

अभिलेख मे बौद्ध भिक्षुओ के पाठो के श्रवण की जो बात कही गई है उससे ऐसा परिलक्षित होता है कि तत्कालीन बौद्ध सघ मे कुछ मतभेद आते जा रहे थे जिनके निवारणार्थ ही अशोक ने उन्हे धम के मूल तत्वो को ग्रहण करने के लिए कहा। इस प्रकार इस सगीति द्वारा अशोक ने बौद्ध धम मे आई हुई बुराइयो एव शिथिलताओं को समाप्त कर के उसे नवजीवन प्रदान किया। इतना ही नही, इस सगीति द्वारा अशोक ने सगीति परम्परा को आगे बढाने मे योग दिया और सम्भवत कनिष्क द्वारा बौद्ध सगीति की व्यवस्था के मूल मे अशोक की तृतीय बौद्ध सगीति ही है।

सभवत तृतीय बौद्ध सगीति के पश्चात् ही अशोक ने सारनाथ, कौशाम्बी तथा साची के लघु स्तम्भ-लेखो मे बौद्ध सघ मे उत्पन्न सघभेदो के दमनार्थ अनुशासन दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध सगीति तथा उसके पश्चात् के अभिलेखों द्वारा अशोक ने बौद्ध धम का काफी प्रचार किया।

विदेशों मे बौद्ध धम के प्रचारको को भेजना—सिहली अनुश्रुतियो से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने विदेशो मे बौद्ध धम के प्रचाराथ प्रचार मडलियाँ भेजी थी। सिंहल जाने वाले इस मडली का नेतृत्व अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा उसकी पुत्री सघमित्रा ने किया था। जब यह प्रचार-मडली सिंहल द्वीप पहुँची तो वहाँ के राजा तिरस ने उनका स्वागत किया। इसी प्रकार अशोक ने दक्षिण की विभिन्न तमिल रियासतों, बर्मा, सीरिया, मिस्र, सायेरिन, मकदूनियाँ, चीन तथा जापान आदि देशो मे बौद्ध धम के प्रचाराथ बौद्ध भिक्षु एव भिक्षुणियो को भेजा था। अपनी इस धम विजय के विषय मे सम्राट् अशोक स्वय कहता है, "देवनाम् प्रिय धम के द्वारा इस विजय को मुख्य विजय समझता है। यहाँ पडोसी देशो, यहाँ तक कि ६०० योजन दूर के देशों मे भी यह विजय देवानाम् प्रिय को मिली है।"

अशोक के समय मे एशिया के दक्षिणी तथा पश्चिमी भागो मे हीनयान बौद्ध धम का काफी प्रचार हुआ था।

अशोक की धार्मिक नीति

अशोक के धम तथा उसके धर्म प्रचार के विषय मे आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् हमे उसकी धार्मिक नीति पर भी विचार करना होगा। सम्पूण साम्राज्य मे जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण मतावलम्बी आदि अनेक सम्प्रदाय के लोग निवास कर रहे थे। इनके साथ एक सम्राट के रूप मे अशोक कसा व्यवहार करे, यह एक कठिन समस्या थी। अशोक ने बौद्ध धम ग्रहण कर लिया था, यह हमे स्पष्ट रूप से ज्ञात है। साथ ही, हम यह भी देख चुके हैं कि सावभौमिक सिद्धान्त पर आधारित उसके कुछ व्यक्तिगत धार्मिक सिद्धान्त भी थे। जहाँ तक कि सिद्धान्तो के अनुयायी होने का प्रश्न है, जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी भी धम से उसका सिद्धान्त मेल खा सकता था, किन्तु बौद्ध अशोक प्रत्येक सम्प्रदाय वालो को प्रसन्न रख सके यह कुछ कठिन काय था। ब्राह्मण धम बौद्ध धम के मूल सिद्धान्त अनीश्वरवाद के कारण उसका विरोधी था। अहिंसा के प्रश्न पर भी तत्कालीन ब्राह्मण धम तथा बौद्ध धम मे काफी मतभेद था। जन धम बौद्ध धम का प्रतिद्वन्द्वी था और अशोक के साम्राज्य मे य सारे मतावलम्बी विद्यमान थे। किन्तु बौद्ध अशोक ने इन विषम परिस्थितियो को बडे सुन्दर ढग से काबू मे किया। सबसे पहले तो उसने धार्मिक सहिष्णुता से काम लिया जिससे प्रत्येक सम्प्रदाय वाले समान समझे जाने लगे। सबको समान रूप से राजनीतिक अधिकार दिये गये। उनके सामाजिक अधिकार भी समान थे। कुछ इतिहासकारो ने अशोक की धार्मिक सहिष्णुता

र यह आक्षेप लगाया है कि अशोक ने बलपूर्वक यज्ञो की मनाही करके ब्राह्मण मतावलम्बियो की धार्मिकता को ठेस पहुचाया है, किन्तु यह तर्कसंगत नहीं, कोई भी सरकार अपने राज्य मे नरबलि स्वीकार नही कर सकती। अशोक के लिए क्या पशु, क्या नर, सब समान थे। वह प्रत्येक मे समान आत्मा समझता था और प्रत्येक हत्या को समान हत्या समझता था। ऐसी दशा मे वह पशुबलि के प्रश्न पर ब्राह्मणो से किसी प्रकार का समझौता नही कर सकता था। उसने पशुबलि निषेध बौद्ध धर्म के सिद्धान्त के अनुसार ही नही किया, अपितु इस नियम के पीछे उसका व्यक्तिगत चरित्र है। अशोक के कारुणिक हृदय से हम उसी समय से परिचित हैं जब वह कलिंग के रणक्षेत्र मे एक सेनापति होते हुए भी रक्तपात एव मुण्डमाला को देखकर कांप उठा था। उसी समय साम्राज्यवादी चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र तथा मगध का सम्राट होते हुए भी उसने अपने हितो का तनिक ध्यान न रखते हुए रणघोष के स्थान पर धर्मघोष की प्रतिज्ञा की। ऐसे सम्राट से पशुबलि निषेध के अतिरिक्त अन्य किस वस्तु की आशा की जा सकती है ? अत अशोक ने पशुबलि निषेध की जो आज्ञा दी, वह सर्वदा उचित थी। अशोक की धार्मिक नीति की एक दूसरी विशेषता यह थी कि उसने प्रत्येक धर्मावलम्बी को बहुश्रुत होने की प्रेरणा दी। वह यह चाहता था कि साम्प्रदायिकता का अन्त हो जाय और सम्पूर्ण विश्व मे बन्धुत्व की भावना का प्रसार हो। इसीलिए उसने अपनी प्रजा को प्रत्येक धर्म के विषय मे जानकारी रखने की अनुमति दी।

विदेशियों से मैत्री भाव स्थापित करने मे उसकी धार्मिक नीति ने बहुत कुछ योग दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण, श्रमण, आजीविक आदि को प्रसन्न रखते हुए अशोक ने सफलतापूर्वक अपने धर्म का प्रचार किया। उसकी धार्मिक नीति की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण तो बौद्ध धर्म का प्रचार तथा ब्राह्मणो आदि का कोई विद्रोह न करना ही है। अशोक, जैसा कि हम जानते हैं, पशुवध निषेध करके ब्राह्मण धर्मो की अवहेलना कर चुका था। ऐसी दशा मे ब्राह्मणो का विद्रोह करना कोई कठिन काम न था, किन्तु अशोक ने अपनी प्रजाप्रियता तथा अन्य चारित्रिक गुणो द्वारा अपनी धार्मिक नीति को सफल बनाया।

अशोक के साम्राज्य का विस्तार

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि अशोक ने अपने शासन-काल मे केवल एक बार रणयात्रा की थी जिसके फलस्वरूप उसे कलिंग राज्य प्राप्त हुआ। इसके बाद अशोक ने अन्य कोई विजय नही की, अत अशोक के साम्राज्य विस्तार के अध्ययन का अर्थ है अशोक के पूर्वजो द्वारा उन विजित राज्यो का अध्ययन करना जिन पर अशोक का अधिकार बना रहा। अशोक के साम्राज्य विस्तार का बोध हमे उसके अभिलेखो द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाता है, अत हम अशोक के साम्राज्य विस्तार को उसके अभिलेखो के आधार पर निर्धारित करेंगे। पहले हम यह देखेंगे कि दक्षिण पश्चिम मे उसका राज्य विस्तार कहाँ तक था, क्योकि दक्षिण-पश्चिम सीमा ही सैनिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण थी। अशोक के चतुर्दश शिलालेख की एक प्रति कर्नोल जिला मे इरागुडी नामक स्थान पर प्राप्त हुई थी। धौली (पुरी), जौगढ (गजाम) नामक स्थानो मे चतुर्दश शिलालेख की दो प्रतियाँ मिली हैं। इसी प्रकार चित्तलदुर्ग (मैसूर राज्य) से भी लघु शिलालेखो की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई थी जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तर मैसूर अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के भीतर था।

कालसी (देहरादून), रुम्मिनदेई, निग्लीव (नैपाल की तराई) में अशोक के जो

1) चतुर्दश शिलालेख, (1) शाहबाज—
(256 – 258 ई पू – शासन
(3) कालसी (देहरादून) (7) गिरनार (4) लघु स्तंभ लेख (1)
गंजाम) (6) येरागुडी (कर्नूल — (बनारस
2) (1) पहला लघु शिलालेख (5) गुफालेख – (1)
(3) बैराट (जयपुर) (4) मास्की — उत्तर
(6) जतिंग (तोनो चीतल दुर्ग — दीवारों
(2)(6) द्वितीय शिलालेख
(2) कलिंग के 2 पृथक अभिलेख
(258-256 ई पू – कलिंग
3) सप्त स्तम्भ लेख – (1) टोपरा
(2) कौशाम्बी (इलाहाबाद) (3
(4) लौरिया (नन्दगढ़) (26

य पहाड तक
वाल, पजाब
त किया जा
ी जाता है।
शिलालेख की
सौराष्ट्र तथा
न जूनागढ
का प्रान्तीय
ान्त कल्हण
इसी प्रकार
ी घाटी पर
था, इसका
द्वितीय एव
पुत्र उसकी
गो म उसके

अभिलेख भी हैं। अभिलेखो के विषय अशोक की महानता का निर्देशन मात्र ही नही करते, अपितु ये मौर्य-कालीन भारतीय इतिहास पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हैं। अत अशोक का अध्ययन करते समय हमे उसके अभिलेखो का अध्ययन करना आवश्यक है।

अभिलेखो का महत्व—नीचे हम अशोक के अभिलेखो के महत्व पर प्रकाश डालेंगे। निम्नलिखित दृष्टिकोणो से अशोक के अभिलेखो का काफी महत्व है—

(1) साम्राज्य-सीमा का निर्धारण—अशोक के साम्राज्य विस्तार का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि इस विषय मे हमे पूर्णतया उसके अभिलेखो पर ही आश्रित रहना पडता है। अभिलेखो के प्राप्ति-स्थान के आधार पर ही हमने यह निष्कर्ष निकाला था कि सुदूर दक्षिण के पाड्य, चोल, सत्यपुत्र, केरलपुत्र आदि को छोडकर सम्पूर्ण भारत अशोक के अधीन था।

(2) अशोक के धर्म का निर्धारण—यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अशोक बौद्ध मतावलम्बी था, इस मत के समर्थक इन्ही अभिलेखो का सहारा लेते हैं। अशोक के व्यक्तिगत धर्म का बोध भी हमें इन्ही अभिलेखो से होता है।

(3) अशोक के चरित्र का निरूपण—इन अभिलेखो मे अशोक का हृदय प्रतिबिम्बित होता है। दान, दया सेवा आदि नैतिक आदर्शों के पोषक के रूप मे अशोक हमारे सम्मुख इन्ही अभिलेखो के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। कलिंग विजय के पश्चात् अशोक ने अपने अभिलेखो में उस हृदयद्रावक घटना तथा युद्ध न करने के निश्चय का प्रकाशन किया जिससे उसके दृढ निश्चय तथा कोमल हृदय का बोध होता है। अभिलेखो से ही हमें उसके महादानी होने का ज्ञान प्राप्त होता है।

(4) अशोक का वैदेशिक सम्बन्ध—अशोक के अभिलेख हमे इस बात का ज्ञान कराते हैं कि अशोक ने सीरिया, एपीरस, मिस्र, सेरीन आदि देशो मे अपने राजदूत भेज

र इन राज्यों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। इन अभिलेखों से हम अशोक की विदेशी नीति का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

(5) अशोक कालीन शासन व्यवस्था का अनुशीलन—यद्यपि अशोक के अभिलेखों का उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक (नैतिक) था, तथापि उनमें तत्कालीन शासन-सम्बन्धी राज्याज्ञाओं का बोध होता है जिन्हें अशोक ने समय समय पर प्रकाशित किया था। अशोक ने प्रजा के हित के लिए जो कुछ किया, उसका भी बोध हमें अभिलेखों से होता है।

अब हम अशोक के अभिलेखों पर पृथक् पृथक् प्रकाश डालेंगे। मोटे तौर पर अशोक के अभिलेखों को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(अ) शिलालेख, (ब) स्तम्भ-लेख तथा (स) गुहालेख।

(अ) शिलालेख

(1) चतुर्दश शिलालेख—इनकी सख्या १४ है। अत इन्हें चतुर्दश शिलालेख की सज्ञा दी गई है, ये १४ शिलालेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुए हैं—

(१) शहबाजगढ़ी (पेशावर जिला) (२) मनसेहरा (हजारा जिला)
(३) कालसी (देहरादून जिला) (४) गिर्नार (जूनागढ़ के निकट)
(५) धौली (पुरी जिला) (६) जौगढ (गंजाम जिला)
(७) इर्रागुडी (कर्नूल जिला) (८) सोपारा (थाना जिला)

(3) कलिंग के लेख—एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश शिलालेखों के बजाय लिखे हुए धौली और जौगढ के दो पृथक कलिंग अभिलेख हैं।

(2) दो लघु शिलालेख—इनमें से प्रथम लघु शिलालेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुआ है—

(१) रूपनाथ (जबलपुर जिला), (२) सहसराम (आरा जिला), (३) बराट (जयपुर के निकट), (४) मसकी (रायचूर जिला), (५) सिद्धपुर, (६) ब्रह्मगिरि (७) जतिंग। ये तीनों स्थान मसूर राज्य के चीतल द्रुग जिले में हैं।

द्वितीय लघु शिलालेख (१) सिद्धपुर, (२) जतिंग तथा (३) ब्रह्मगिरी में पाया गया है।

(ब) स्तम्भ लेख

स्तम्भ-लेख के अन्तर्गत सप्त स्तम्भ-लेख तथा लघु स्तम्भ लेख सम्मिलित किये जाते हैं।

सप्त स्तम्भ लेख—ये निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुए हैं —

(१) टोपरा—दिल्ली (२) मेरठ—दिल्ली
(३) कौशाम्बी—इलाहाबाद (४) रामपुरवा
(५) लौरिया—नन्दगढ (६) लौरिया—अरराज।

लघु स्तम्भ-लेख—ये लघु स्तम्भ लेख सांची, कौशाम्बी (इलाहाबाद), सारनाथ (बनारस) रुम्मिनदेई तथा निगलिव आदि स्थानों से प्राप्त हुये हैं।

(स) गुहालेख

गुहालेख में 'बराबर' दरीगृह के तीन अभिलेख सम्मिलित हैं। गया से लगभग १६ मील उत्तर की ओर बराबर नामक पहाडी स्थित है। इसी पहाडी की चार गुहाओं की तीन दीवारों पर यह अभिलेख अंकित हैं।

अभिलेखों की भाषा एवं लिपि—मानसेहरा तथा शाहबाजगढ़ी के लेखों के अतिरिक्त शेष सभी अभिलेखों की भाषा प्राकृत तथा लिपि ब्राह्मी है। ब्राह्मी लिपि को वर्तमान नागरी लिपि का मूल कहा जाता है जो बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाती है। मानसेहरा तथा शहबाजगढ़ी के अभिलेखों की लिपि खरोष्ठी है। यह उर्दू की भाँति दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है।

यहाँ उपर्युक्त अभिलेखों से जिन ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन प्राप्त होता है, उनका संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

चतुर्दश शिलालेख का निर्माण-काल २५७ तथा २५६ ई० पूर्व माना गया है। इन अभिलेखों से हमें अशोक के शासन तथा उसके नैतिक सिद्धान्तों का बोध होता है। कलिंग अभिलेखों से नवविजित कलिंग राज्य तथा पड़ोसी जङ्गली जातियों पर की जाने वाली शासन-विधि का बोध होता है।

दो लघु शिलालेख २५८-२५७ ई० पूर्व के हैं, जिनमे प्रथम लघु शिलालेख अशोक के वैयक्तिक जीवन पर प्रकाश डालता है तथा द्वितीय अशोक की भक्ति एवं उसकी धर्मनिष्ठा का बोध कराता है। सप्तम स्तम्भ लेख २४३, २४२ ई० पूर्व के हैं। उनसे अशोक की नीति का बोध होता है।

लघु स्तम्भ-लेख धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय मे लिखे गये हैं। इनकी तिथि २४२ और २३२ ई० पूर्व है। भाब्रू शिलालेख बौद्ध धर्म के इतिहास में अधिक महत्त्व रखता है। तराई स्तम्भ-लेख द्वारा अशोक की तीर्थयात्रा का विवरण प्राप्त होता है। बराबर दरीगृह के गुहालेख अशोक की धार्मिक सहिष्णुता का बोध कराते हैं। इनकी रचना तिथि २६४ ई० पूर्व है।

अशोक का शासन-प्रबन्ध

अशोक को उत्तराधिकार के रूप मे केवल एक विस्तृत साम्राज्य ही नहीं प्राप्त हुआ था, अपितु सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था भी, जो कुशल शासक चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा प्रतिपादित की गई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था मे थोड़ा-बहुत परिवर्तन एवं परिवर्धन करके ही अशोक ने शासन प्रबन्ध किया। अशोक के शासन-प्रबंध का आधार चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-व्यवस्था है। अशोक को अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबंध मे जो कुछ भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन परिवर्धन करना पड़ा, उसका मूल कारण उसकी नैतिकता एवं धार्मिकता है। अशोक के शासन प्रबंध का अध्ययन करने के पूर्व हमें उसके राजत्व सिद्धांत पर विचार कर लेना आवश्यक है।

अशोक का राजत्व सिद्धान्त—अशोक एक आदर्श मानव था। उसकी नैतिकता उसके जीवन की अनुशासिका थी। कलिंग विजय के पूर्व का अशोक साम्राज्यवादी था, किन्तु इस रक्त-प्लावित घटना के पश्चात् वह अशोक पहले मानव और तब सम्राट था—सम्राट भी इस अर्थ मे कि वह कम से कम अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण प्रजा को अपना पुत्र समझ सके, उसका रक्षक बन सके। मानव होने के नाते तो वह सम्पूर्ण धरती के विभिन्न जीवधारियों का शुभचिन्तक था। कलिंग शिलालेख अशोक तथा धरती के सम्पूर्ण मनुष्यों के निकटतम संबंध का निर्देश इस प्रकार करता है—"सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ, उसी प्रकार मैं प्रजा के लौकिक एवं पारलौकिक हित की कामना करता हूँ।" अशोक अपने अभि

लेखो मे यह अंकित करते हुए नहीं अघाता है कि "सर्व-लोकहित से बढ़कर दूसरा कोई कर्तव्य नही है । प्रजा के लिए मैं उत्थान (परिश्रम) तथा अर्थ-कर्म (राज-काज) करने से अघाता नहीं ।"



अशोक अपने चौथे स्तंभ-लेख मे प्रजा के प्रति गदगद् हो फूट पडने वाले अपने हार्दिक उदगारो को इस प्रकार प्रकट करता है—"जिस प्रकार मनुष्य अपनी संतान को निपुण धाय को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि वह धाय मेरे बालक को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी, उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के अभिप्राय से रज्जुक (राजुक) नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं ।' इससे अधिक स्पष्ट और कोई प्रमाण अशोक की प्रजाप्रियता का नहीं हो सकता । प्रजा की सेवा में वह कितना दत्तचित्त, जागरूक तथा संलग्न था, उसकी सुख-समृद्धि के लिए वह कितना सचेत था तथा प्रजाहित-कार्य मे निरंतर प्रयत्नशील रहने की वह कितनी आकांक्षायें रखता था, इसका साक्षात प्रमाण उसका चतुर्थ स्तंभ-लेख ही है—"मैंने

यह प्रबध किया है कि सब समय मे—चाहे मैं भोजन करता होऊँ, चाहे अत पुर मे रहूँ, चाहे शयनागार मे, चाहे उद्यान मे—सर्वत्र मेरे प्रतिवेदक प्रजा के कामो की मुझे सूचना दें। मैं प्रजा के कार्य सर्वत्र करूँगा। यदि मैं स्वय आज्ञा दूँ कि अमुक काम किया जाय और यदि महामात्रो मे उस विषय मे कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि परिषद् उसे अस्वीकार करे तो हर घडी और हर समय मुझे इस बात की सूचना दी जाय, क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम क्यो न करूँ, कितना ही राज्य-कार्य क्यों न करूँ, मुझे पूर्ण सतोष नही होता।' प्रजाहित कार्य करने के उद्देश्य एव उत्तरदायित्व को बतलाते हुये अशोक अपने उक्त अभिलेख मे आगे इस प्रकार कहता है—"मैं जो कुछ पराक्रम (श्रम) करता हूँ वह केवल इसलिए कि प्राणियो के प्रति जो मेरा ऋण है मैं उससे उऋण हो जाऊँ और इस लोक मे लोगो को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ।" अशोक प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए, उसके लौकिक एव पारलौकिक जीवन को सुन्दर बनाने के लिये कितना चिंतित रहता था, यह हमें उसके निम्नलिखित कथन से भी स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है—

"यह धर्मलेख चिरस्थायी हो और मेरा पत्नी, पुत्र, तथा प्रपौत्र लोकहित के लिए प्रयत्न (पराक्रम) करें। अत्यधिक प्रयत्न के बिना यह कार्य बहुत कठिन है।'

अशोक ने अपनी प्रजा को बहुश्रुत होने की अनुमति दी थी और जैसा कि उसका नियम था, प्रजा को किसी काय के लिये प्रेरित करने के पूर्व वह स्वय उस काय को करता था। अत अशोक स्वय बहुश्रुत था। विभिन्न राजत्व सिद्धातो का उसे पूर्ण ज्ञान था। राजनीति के आदर्श सिद्धातो का वह पडित था। उसकी राजनीति मे चाणक्य की कूटनीति का समावेश न था या यदि था भी तो अपने धर्म-परिवर्तन के साथ-साथ उसने इसे पूर्णतया भुला दिया था। पवित्रता, आदर्शवादिता, प्रजाप्रियता, नैतिकता तथा मौलिकता इसके राजत्व सिद्धात की प्रमुख विशेषतायें हैं, मौलिकता इसलिए कि अशोक के पूर्व या पश्चात भी भारतीय इतिहास मे इस प्रकार का कोई सम्राट नही हुआ जो प्रजा के लिए जीने मरने को तैयार हो।

इस पृष्ठभूमि मे हम अशोक के शासन प्रबधं को भलीभाँति समझ सकते हैं।

स्वायत्त शासन—अशोक के तेरहवें शिलालेख के आधार पर कुछ इतिहासकारो ने ऐसा अनुमान लगाया है कि अशोक के अधीन कुछ ऐसे प्रदेश भी थे जो अप्रत्यक्ष रूप मे तो अशोक की अधीनता स्वीकार करते थे किंतु उन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त था, जैसे यवन, कम्बोज, नाभक, नाभपंक्ति, आन्ध्र, भोज तथा पारिंद आदि। विद्वानो ने उक्त प्रदेशो मे से कुछ की स्थिति का अनुमान इस प्रकार लगाया है—यवन तथा कम्बोज राज्य सभवत उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे, भोज पश्चिमी समुद्र तट अथवा बरार मे और आंध्र सम्भवत कृष्णा तथा गोदावरी नदियो के तटीय प्रदेश मे।

मन्त्रि परिषद—चन्द्रगुप्त के शासन प्रबध के विषय मे लिखते हुये यह कहा गया था कि उसके शासन प्रबध मे भी मन्त्रि-परिषद् का बहुत बडा महत्त्व था। अशोक ने भी मन्त्रि परिषद् को स्थापित रखा। वह भी राज-काज मे मन्त्रियो की राय को मान्यता प्रदान करता था। उसके छठें शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि मन्त्रि-परिषद को इस बात की काफी स्वतन्त्रता थी कि सम्राट से किसी गूढ विषय पर वाद विवाद कर सके तथा अपना मत सम्राट् को उसकी (महामात्रो के) कोई दान सबधी अथवा मेरे द्वारा की गई किसी मौखिक घोषणा के सम्बन्ध मे अथवा महामात्रो के सुपुर्द कर दिये

गये किसी आवश्यक कार्य के विषय मे विवाद या सुधार का प्रस्ताव उपस्थित किया जाय तो उसकी सूचना मुझे उसी क्षण मिलनी चाहिए। मैं कहीं भी रहूँ और कोई भी समय हो।"

अशोक अपने मन्त्रियो को नतिक एव धार्मिक शिक्षाओ मे दक्ष होना आवश्यक समझता था, अत उसके मन्त्री सवदा उसी की भाँति सोचते थे।

प्रान्तीय शासन—शासन के दृष्टिकोण से, जैसा कि अभिलेखो से ज्ञात होता है सपूर्ण साम्राज्य चार केन्द्रो मे विभाजित था। ये निम्नलिखित थे —

(१) तक्षशिला, (२) उज्जैनी, (३) तोसली तथा (४) सुवर्णगिरि।

राजा का सहायक 'उपराज' होता था। यह राजकुलीन व्यक्ति होता था। अशोक का भाई तिष्य उसका उपराज था। 'युवराज' भी राजकाज मे सम्राट की सहायता करता था। इसी प्रकार 'अग्रामात्य' भी राजा का प्रमुख सहायक था। अशोक के समय मे राधगुप्त अग्रामात्य थे। राजकुमारो (कुमार अथवा आयपुत्र) से भी सम्राट् शासन प्रबध में सहायता लेता था। इनकी नियुक्ति सुदूरस्थ प्रांतो मे की जाती थी क्योंकि उनसे राजभक्ति की पूर्ण आशा थी और सुदूरस्थ प्राता मे इसी कोटि के शासक की आवश्यकता थी।

ऊपर जिन चार प्रमुख केन्द्रो का वर्णन किया गया है उनका शासन भी राजकुलीन व्यक्तियो द्वारा होता था। दिव्यावदान के अनुसार अशोक का पुत्र कुणाल तक्षशिला का वायसराय था। फाहियान इसे धम-अभिवधन कहता है, उसे गान्धार प्रान्त का वायसराय बताता है।

अशोक के पदाधिकारी—अशोक के अभिलेखो से हमे विभिन्न प्रकार के पदाधिकारियो का बोध होता है, उनमें से अधिकाश अर्थशास्त्र मे उल्लिखित पदाधिकारियो से मिलते जुलते हैं। केवल धम सबधी पदाधिकारी नवीन हैं। डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने निम्नलिखित बारह प्रकार के पदाधिकारियो का उल्लेख किया है —

(१) महामात्र, (२) राजुक, (३) रथिक (४) प्रादेशिक, (५) युत अथवा युक्त, (६) पुलिश, (७) पतिवेदक, (८) व्रचभूमिक, (९) लिपिकार, (१०) दूत, (११) आयुक्त तथा (१२) कारणक।

नीचे इन पदाधिकारियो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जायेगा।

धम महामात्र—चन्द्रगुप्त के शासन काल मे धम महामात्र नामक पदाधिकारी नही था। अशोक ने इनकी नियुक्ति सवप्रथम की थी। स्मिथ महोदय ने धम महामात्रो को 'निरीक्षण' (Censor) कहा है। पर स्मिथ महोदय ने उनके कत्तव्यो को समझने मे कुछ भूल की है। वास्तव मे धम महामात्रो का काय केवल 'निरीक्षण' ही न था, वरन् उनके ऊपर कुछ और भी धार्मिकता एव नैतिकता सबधी उत्तरदायित्व थे। अशोक का पचम शिलालेख स्वय ही धम महामात्रो के मतव्यो का स्पष्टीकरण कर देता है—

"आज के पूर्व निकट अतीत मे कभी धम महामात्र नही रहे। अपने राज्याभिषेक के तेरह वष के पश्चात मैंने ही उनकी नियुक्ति की। वे सभी सम्प्रदायो के बीच नियुक्त किये गय हैं और उनका काय धर्म की स्थापना करना, धम की घोषणा करना तथा धर्मानुरागियों की सतत् सुरक्षा एव आनद के लिये प्रयत्न करना है।" सभी वर्ग के लोगों के बीच उपस्थित रह कर, क्या ब्राह्मण क्या गृहपति, क्या अनाथ और क्या वृद्ध

अथवा बहु-सतान के भार से दबे हुए अथवा शोषित जन अथवा धम टेक ग्रहण कर मधुकरी या भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले सभी व्यक्तिया को उनकी नुसार उचित सहायता देना इन्ही धममहामात्रो का कर्तव्य था।

महामात्र—साम्राज्य के जिले तथा नगरो मे महामात्र स्वतन्त्रतापूवक विचरण किया करते थे। अशोक के शिलालेखो से हमे यह भी ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तोसली, स्वर्णगिरि, समापा तथा इसिला मे महामात्रो की नियुक्ति की गई थी। विभिन्न प्रकार के महामात्रो का उल्लेख अशोक के शिलालेखो मे किया गया है, उदाहरणाथ, कलिंग शिलालेख मे 'नगलक' तथा 'नगल वियोहलक' महामात्रा का उल्लेख किया गया है। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी के मतानुसार ये क्रमश अथशास्त्र के 'नागरक' तथा 'पौर व्यावहारिक' हैं। प्रथम स्तम्भ लेख मे भी अन्तमहामात्र का उल्लेख मिलता है। यह सम्भवत अथशास्त्र का अन्तपाल है। इसी प्रकार बारहवें शिलालेख मे 'इथिधक' महामात्र का उल्लेख किया गया है। यह सम्भवत 'स्त्री अध्यक्ष' है।

उपयुक्त विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि विभिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के महामात्रा की नियुक्ति की गई थी। ये महामात्र अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष थे तथा उस विभाग का पूर्ण उत्तरदायित्व इनके ऊपर था।

राजुक—डॉ० स्मिथ के कथनानुसार राजुक भी गवनर होता था, किन्तु उसका पद कुमार से नीचा था। ये भूमि तथा न्याय के अधिकारी थे। इनके अधिकार विस्तृत थे। अशोक के चतुर्थ स्तम्भ-लेख का उल्लेख प्रारंभ मे ही किया गया है जिसमे अशोक 'रज्जुक' (राजुक) की नियुक्ति की घोषणा करता है। इस अभिलेख से राजुको के महत्त्व का बोध होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वह कई लाख मनुष्यों पर शासन करता था। जनपदो की देखभाल करना इसका प्रमुख काय था। किसी को सम्मानित एव दडित करने का भी इन्हे पूर्ण अधिकार था। रथिक तथा युक्त राजुकों की सहायता करते थे।

प्रादेशिक—प्रादेशिक का स्थान भी काफी महत्त्वपूर्ण था। अशोक के शिलालेखो के यह ज्ञात होता है कि ये प्रान्तीय शासन के प्रधान थे तथा वाइसराय के नीचे थे। रुद्रदामन के जूनागढ अभिलेख से मौर्य-कालीन दो प्रांतीय गवनरो के नाम प्राप्त होते हैं (१) पुष्यगुप्त जो चन्द्रगुप्त के समय मे सौराष्ट्र का गवनर था तथा (२) तुषास्प जो अशोक के समय मे सौराष्ट्र का गवनर था। तुषास्प पारसीक नाम है, अत इससे ज्ञात होता है कि राजकमचारी की नियुक्ति मे सम्राट अशोक किसी प्रकार जातीय या देशी विदेशी भेद नही रखता था। यह उसके धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचायक है।

युत अथवा युक्त—प्रादेशिक के बाद युत अथवा अथशास्त्र के युक्त का उल्लेख अभिलेखो मे किया गया है। ये अपने सहायक उपयुक्त की सहायता से जिला-कोष की देखरेख, राजकीय सम्पत्ति का निरीक्षण, मालगुजारी वसूलना तथा खर्च करना, लेखा-जोखा करना आदि काम करते थे। मनु ने भी अपनी स्मृति मे इस पदाधिकारी का उल्लेख किया है और उसका कतव्य खोई हुई वस्तुओ को पुनर्प्राप्ति के पश्चात् रक्षा करना बतलाया है। कौटिल्य ने भी अपने अथशास्त्र में 'युक्त' का उल्लेख करते हुये उसे राज-सम्पत्ति का प्रबन्धक बतलाया है।

अशोक के अधिकारी सर्वदा इस बात का ध्यान रखते थे कि कोई भी ऐसा काय

न करें जिससे अशोक की धार्मिकता को ठेस पहुँचे। प्रतिवेदको को उसने यह आज्ञा दे रखी थी कि वे महामात्रो या मन्त्रि-परिषदो के कार्यों की सूचना उसे बराबर देते रहें। इसी प्रकार पूर्वलिखित पदाधिकारियो को भी उसने सदैव प्रजाहित-कार्य मे सचेष्ट रहने की आज्ञा दी थी।

अशोक का शासन-सुधार

अशोक के राजत्व सिद्धान्त के विषय मे लिखते हुए यह बतलाया गया है कि वह राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की सेवा करना समझता था। अत प्राचीन शासन-प्रणाली म कुछ सुधार करना अत्यन्त आवश्यक था। सर्वप्रथम उसने धम्ममहामात्रो की नियुक्ति की जोप्रजा के भौतिक एव आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न करते थे। धम्ममहामात्र प्रजा को सुखी बनाने के लिए उनमे दान वितरण भी करते थे। अशोक के पचम शिलालेख से यह भी विदित होता है कि वे धम्ममहामात्र वृद्ध अथवा अधिक सतानवाले बन्दी की मुक्ति अथवा कारागार की अवधि कम करने की भी सिफारिश करते थे। दूसरा नवीन सुधार जो अशोक ने किया, वह यह था कि राज्य के प्रधान कर्मचारी राजुक, प्रादेशिक, युक्त आदि पचवर्षीय अथवा त्रिवर्षीय अनुसधान (दौरा) किया करते थे जिससे वे ग्रामीण जनता के निकट सपर्क मे आकर उनकी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओ का अध्ययन कर सकें और उनके कष्ट को दूर करें। अशोक का तृतीय शिलालेख तथा प्रथम कलिंग शिलालेख से हमे उपयुक्त बात ज्ञात होती है। अब तक गुप्तचर विभाग केवल राजनीतिक विषयो की सूचना सम्राट को देते रहे, किन्तु अशोक ने प्रतिवेदक नामक अधिकारी को केवल इसलिए नियुक्त किया था कि वे सपूर्ण महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक विषयो से हर समय उसे सूचित किया करें (छठा शिलालेख)। अशोक ने मौर्य शासन प्रबन्ध मे एक महत्वपूर्ण सुधार यह किया कि वह अपने राज्याभिषेक की वर्षतिथि के दिन बन्दियो को मुक्त कर देता था और प्राणदण्ड पाये हुये अपराधियो की जीवन अवधि तीन दिन और बढ़ा देता था (पाँचवाँ तथा चौथा शिलालेख)। तत्कालीन भारतीय राजनैतिक सिद्धान्त के अनुसार दो पड़ोसी राज्य बैरी समझे जाते थे और शक्तिशाली राजा अपने पड़ोसी राज्य को हर प्रकार से शक्तिहीन बनाने का प्रयास किया करता था, किन्तु अशोक ने अपने पड़ोसी जातियो के अभयदान की घोषणा इस प्रकार की—"सीमान्त जातियाँ मुझसे भय न खाएँ, वे मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख प्राप्त करें। वे कभी दुख न पावें और इस बात का सदैव विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा करना सम्भव है, राजा उनके साथ करेगा।'

सम्राट् अशोक ने शासन प्रबन्ध मे सबसे बडा सुधार यह किया कि उसने सामाजिक जीवन मे परिवर्तन लाकर जीवन-स्तर ऊँचा करने का प्रयास किया। इसके लिए उसने कुछ हिंसात्मक समाजो एव उत्सवो को बन्द करा दिया। मदिरा, मास, नृत्य आदि मे समय अथवा धन का अपव्यय होता था, उसे रोकने का भी अशोक ने पूर्ण प्रयास किया।

पशुबध निषेध भी इस क्षेत्र मे नवीन एव महत्त्वपूर्ण सुधार था। भारतीय इतिहास तो क्या विश्व इतिहास में कोई ऐसा सम्राट् नहीं मिलता जिसने पशुबध निषेध की चेष्टा की हो और वह इस कार्य मे इतना अधिक सफल हुआ हो।

प्रजा के हित के लिए प्राचीन भारत के अधिकाश सम्राटो ने अनेक कार्य किये, किन्तु अशोक के सम्मुख उनके प्रजा हितकारी कार्य फीके पड जाते हैं। यद्यपि इसे सुधारो की कोटि में नहीं रखा जा सकता, पर अशोक ने इसे अपना प्रमुख कर्त्तव्य बना

अथवा बहु-संतान के भार से दबे हुए अथवा शोषित जन अथवा धर्म टेक मधुकरी या भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले सभी व्यक्तियों को ... नुसार उचित सहायता देना इन्ही धर्ममहामात्रो का कर्तव्य था।

महामात्र—साम्राज्य के जिले तथा नगरो मे महामात्र स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया करते थे। अशोक के शिलालेखो से हमे यह भी ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तोसली, स्वर्णगिरि, समापा तथा इसिला मे महामात्रो की नियुक्ति की गई थी। विभिन्न प्रकार के महामात्रो का उल्लेख अशोक के शिलालेखो मे किया गया है, उदाहरणार्थ, कलिंग शिलालेख मे 'नगलक' तथा 'नगल वियोहलक' महामात्रों का उल्लेख किया गया है। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी के मतानुसार ये क्रमश अर्थशास्त्र के 'नागरक' तथा 'पौर व्यावहारिक' हैं। प्रथम स्तम्भ लेख मे भी अन्तमहामात्र का उल्लेख मिलता है। यह सम्भवत अर्थशास्त्र का अन्तपाल है। इसी प्रकार बारहवें शिलालेख मे 'इथिझख' महामात्र का उल्लेख किया गया है। यह सम्भवत 'स्त्री अध्यक्ष' है।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि विभिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के महामात्रो की नियुक्ति की गई थी। ये महामात्र अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष थे तथा उस विभाग का पूर्ण उत्तरदायित्व इनके ऊपर था।

राजुक—डॉ० स्मिथ के कथनानुसार राजुक भी गवर्नर होता था, किन्तु उसका पद कुमार से नीचा था। ये भूमि तथा न्याय के अधिकारी थे। इनके अधिकार विस्तृत थे। अशोक के चतुर्थ स्तम्भ-लेख का उल्लेख प्रारंभ में ही किया गया है जिसमे अशोक 'रज्जुक' (राजुक) की नियुक्ति की घोषणा करता है। इस अभिलेख से राजुकों के महत्त्व का बोध होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वह कई लाख मनुष्यों पर शासन करता था। जनपदो की देखभाल करना इसका प्रमुख कार्य था। किसी को सम्मानित एव दंडित करने का भी इन्हे पूर्ण अधिकार था। रथिक तथा युक्त राजुकों की सहायता करते थे।

प्रादेशिक—प्रादेशिक का स्थान भी काफी महत्त्वपूर्ण था। अशोक के शिलालेखो से यह ज्ञात होता है कि ये प्रान्तीय शासन के प्रधान थे तथा वाइसराय के नीचे थे। रुद्रदामन के जूनागढ अभिलेख से मौर्य-कालीन दो प्रांतीय गवर्नरो के नाम प्राप्त होते हैं (१) पुष्यगुप्त जो चन्द्रगुप्त के समय मे सौराष्ट्र का गवर्नर था तथा (२) तुषास्प जो अशोक के समय मे सौराष्ट्र का गवर्नर था। तुषास्प पारसीक नाम है, अत इससे ज्ञात होता है कि राजकर्मचारी की नियुक्ति मे सम्राट अशोक किसी प्रकार जातीय या देशी विदेशी भेद नही रखता था। यह उसके धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचायक है।

युत अथवा युक्त—प्रादेशिक के बाद युत अथवा अर्थशास्त्र के युक्त का उल्लेख अभिलेखो मे किया गया है। ये अपने सहायक उपयुक्त की सहायता से जिला-कोष की देखरेख, राजकीय सम्पत्ति का निरीक्षण, मालगुजारी वसूलना तथा खर्च करना, लेखा-जोखा करना आदि काम करते थे। मनु ने भी अपनी स्मृति मे इस पदाधिकारी का उल्लेख किया है और उसका कर्तव्य खोई हुई वस्तुओ की पुनर्प्राप्ति के पश्चात् रक्षा करना बतलाया है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र मे 'युक्त' का उल्लेख करते हुये उसे राज-सम्पत्ति का प्रबन्धक बतलाया है।

अशोक के अधिकारी सर्वदा इस बात का ध्यान रखते थे कि कोई भी ऐसा कार्य

था। चुनार की पहाड़ियों को काटकर बनाये हुये स्तंभ पाँच या छः सौ मील दूर मेरठ जैसे स्थान पर ले जाकर निर्मित किये जायें और वह भी उस युग में जब यातायात के साधन बहुत सीमित थे एक आश्चर्य ही था। स्मिथ महोदय ने तारीख-ए-फिरोजशाही के आधार पर स्तंभों के स्थानांतरण की कठिनाई का उदाहरण प्रस्तुत किया है। वर्णन इस प्रकार है कि फिरोजशाह तुगलक अम्बाला के निकट टोपरा नामक स्थान से एक स्तंभ जिसे अब टोपरा दिल्ली स्तंभ कहते हैं, केवल बारह मील दूर दिल्ली लाना चाहता था। उसे ४२ पहियों वाली गाड़ियों में ८४ हजार आदमियों के लगाने की जरूरत पड़ी थी। सिरात-ए-फिरोजशाही के अनुसार सर्वप्रथम हाथियों का प्रयोग किया गया था और तब २० हजार मनुष्यों का। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन स्तंभों को अशोक मध्यभारत के वनप्रदेश की ऊँची-नीची पहाड़ियों तथा तीव्रगति वाली गहरी नदियों को पार कर आठ नौ सौ मील दूर चुनार से हैदराबाद राज्य में २५१ ई० पूर्व के लगभग ले गया था, उन्हीं स्तंभों में से एक को केवल १२ मील दूर ले जाने में १३५१ ई० में फिरोज तुगलक को नाकों चने चबाने पड़े।

अशोक का इतिहास में स्थान

अशोक के कल्याणकारी कार्यों के विषय में उसके श्रेष्ठ शासन प्रबन्ध के विषय में एवं कुशल आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों से हम लोग पूर्णतया परिचित हैं। सम्राट अशोक जैसा नरेश भारतीय इतिहास में ही नहीं विश्व के इतिहास में भी प्राप्त होना कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने उसकी तुलना विभिन्न प्रसिद्ध सम्राटों से की है। कुछ लोगों ने उसे रोमन सम्राट कान्स्टैंटाइन महान की कोटि में रखा है। जैसे कान्स्टैंटाइन को ईसाई धर्म का पतन की स्थिति पर पहुँचाने का उत्तरदायित्व दिया जाता है, वैसे ही अशोक का बुद्ध धर्म स्वीकार करना और उसका संघ में प्रवेश करना बौद्ध धर्म की अवनति का कारण बना। डॉ० रीज डेविड्स (Dr Rhys Davids) ने लिखा है—

"Asoka's conversion to Buddhism, and his munificent endowments to the Samgha were the first step on the downward path of Buddhism, the first step to its expulsion from India" —(*Buddhism*)

परन्तु सम्राट् अशोक की कान्स्टैंटाइन से तुलना करके उसे बौद्ध धर्म के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। दक्षिण एक विद्वान् के शब्दों में—

"Constantine espoused a winning cause, where Asoka put himself at the head of a religion which had made little headway Constantine was calculating, shrewd, superstitious, often cruel, cynical whose one great instance of consummate foresight entitles him to be called "Great"

परन्तु भण्डारकर के अनुसार अशोक ने बौद्ध धर्म को एक स्थानीय धर्म से उसे विश्वव्यापी धर्म बनाया था। उन्हीं के शब्दों में—

"Asoka, on the other hand was possessed of lofty ideals, and employed his shrewdness and calculating powers to raise

लिया था, अपने शासन प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य घोषित कर चुका था। अत यह एक प्रकार का सुधार कार्य कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के शासन प्रबन्ध तथा तत्सबंधी सुधारो पर उनकी नैतिकता प्रधान धार्मिकता की पूर्ण छाप थी। जिन नए पदाधिकारियो की नियुक्ति अशोक द्वारा की गई, वे राजनीतिक क्षेत्र मे भले ही महत्त्वपूर्ण कार्य न कर सके हो, पर सामाजिक धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे उन्होंने प्रशसनीय कार्य किया। तब तक के सास्कृतिक इतिहास मे जिन नवीन पृष्ठो को जोड कर जिसने आदर्श भारतीय सस्कृति का उदाहरण अशोक ने प्रस्तुत किया, वह चिरस्मरणीय है। अशोक के शासन प्रबन्ध मे उसके शिथिल सैनिक सगठन के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना उस अद्वितीय शासन प्रबंध की मौलिकता एव महत्ता को घटाना है। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा सगठित सेना अशोक के शासन-काल मे अस्त्र शस्त्रो के स्थान पर नैतिक आदर्शो की पूजा कर रही थी। अशोक की सैनिक दुर्बलता के सबध मे अगले पृष्ठो मे लिखा जायगा।

अशोक के निर्माण कार्य

अशोक केवल इसलिए नही प्रसिद्ध है कि उसने धार्मिक क्षेत्र मे अद्वितीय प्रगति कर ली थी, अपितु वास्तु-कला के क्षेत्र मे भी उसने आश्चर्यजनक प्रगति ला दी थी। इस क्षेत्र मे अशोक ने सबसे महान् कार्य यह किया कि उसने लकडियो तथा इटो के स्थान पर पत्थरो का प्रयोग कराया। उसे नगरो का निर्माण तथा उन्हें सुसज्जित कराने का काफी शौक था। अनुश्रुतियो के अनुसार अशोक ने काश्मीर मे श्रीनगर तथा नैपाल मे ललिता पाटन नामक नगरो का निर्माण कराया था। अनुश्रुतियाँ अशोक को महान निर्माता के रूप मे उपस्थित करते हुए बतलाती हैं कि उसने नगरो की सजधज का काफी प्रयास किया। महावश के अनुसार अशोक ने अपने उपराजाओ द्वारा सपूर्ण भारत मे चौरासी हजार स्तूपो का निर्माण कराया था। ह्वेनसाग ने भी अनुश्रुतियो का समर्थन करते हुये लिखा है कि अशोक ने महात्मा गौतम बुद्ध के आठ स्तूपों मे सुरक्षित अस्थि अवशेषो को चौरासी हजार स्वनिर्मित स्तूपो मे रखवाया।

फाह्यान ने पाटलिपुत्र मे अशोक का राजभवन देखकर चकित होते हुये कहा था कि "इसे कोई भी मानव हाथ इस ससार मे नही बना सकता।"

बराबर नामक जिन गुफाओ का निर्माण गया जिले मे आजीवको के निवासार्थ करवाया गया था उनकी छतें तथा दीवारें वज्रलेप के कारण शीशे-सी चमकती हैं। अशोक के भवन निर्माण-कार्यो म स्तम्भ निर्माण सवश्रेष्ठ है। ये स्तम्भ चुनार के पत्थरों से बने हैं जो नीचे काफी मोटे और ऊपर पतले हैं। इनकी ऊँचाई ४० ५० फुट तथा वजन लगभग ५० टन है। शिखर पट्टिका पर ये घटाकार हो गये हैं और बिल्कुल ऊपर सिंह, बैल, गज अथवा अश्व की आकृतियां बनी हैं। पशु आकृतियाँ अत्यत सजीव हैं। इनकी पालिश तथा सजीवता को देख कर ही पाश्चात्य कला विशारदो ने इन्हें विदेशी ग्रीक अथवा पारसी शैली मे प्रभावित बतलाया है। इनकी पालिश तो निश्चय ही आश्चयजनक है और अनेक विद्वानो ने प्रारम्भ मे इन्हे पाषाण निर्मित न जानकर धातु निर्मित समझने की भूल की थी। स्मिथ महोदय ने इन स्तभो की प्रशसा म लिखा है कि इनका "निर्माण स्थानान्तर तथा स्थापन मौर्य कालीन शिल्पाचार्यों एव शिला तक्षको की बुद्धि और कुशलता का अद्भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं। स्तभों की सुन्दरता से भी अधिक विलक्षण वस्तु उनका एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना

"Akbar was before all things a politician and a man of the world, and was in no mood to endanger his sovereignty for the cause of religious truth"

यही नही, 'दीन इलाही' के प्रचार के लिए उसमे उत्कट लगन एव अध्यवसाय की कमी थी और यद्यपि वह एक शक्तिशाली सम्राट् था, लेकिन तब भी 'दीन इलाही' सम्प्रदाय अपनी सीमाओ से परे नही व्याप्त हो सका और सस्थापक की मृत्यु के साथ इस नवोदित सम्प्रदाय की भी अंतिम सस्कार क्रिया कर दी गई।

विश्व के महान् इतिहासकार विश्व के महानतम सम्राटो म अलैक्जैण्डर महान्, सीजर एव नैपोलियन को रखते हैं। व वस्तुत अशोक से बढ़चढ़ कर के भी महान् योद्धा एव महान् शासक थे। परन्तु किसी का योद्धा एव शासक मे महान् होना उसे महान् सम्राट् की उपाधि से विभूषित नहीं कराता। एच जी० वेल्स (H G Wells) पूछता है—

"What were their permanent contribution to humanity—these three who have appropriated to themselves so many of the pages of our history ?"

इन तीन व्यक्तियो ने अपने राष्ट्र के लिए यद्यपि बहुत कुछ किया था, परन्तु मानवता के कल्याण के लिए इन तीनो ने कुछ विशेष कार्य नही किया। परन्तु अशोक का दृष्टिकोण उपर्युक्त तथाकथित महान् सम्राटो से भिन्न था। उसने जनता जनादन के कल्याण के लिए भगीरथ प्रयास किया था। अतएव उसे हम प्रत्येक अश मे 'महान सम्राट्' की कोटि मे रख सकते हैं। तभी तो एच० जी० वेल्स ने लिखा है—

"Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowd the columns of history, their majesties and graciousnesses and serenities and royal highness and the like, the name of Asok's shines and shines almost like a star From the Volga to Japan his name is still honoured in China, Tibet and even India though it has left his doctrine, preserves the traditions of his greatness More living men cheish his memory today than have even heard the names of Constantine or Charlemagne"

डॉ० कोप्लेस्टन (Dr Copleston) ने अशोक को एकदम तीन व्यक्तियो के तुल्य बताया है। देखिए—

"He was not merely the Constantine of Buddhism, he was Alexander with Buddhism for Hellas, an unselfish Napoleon, with 'mettam" in the place of glories"

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने अशोक के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"Asoka is one of the most interesting personalities in the history of India He had the energy of a Chandragupta, versatility of a Samudragupta and the catholicity of an Akbar He was tireless in his exertion and unflagging in his zeal—all directed to

Buddhism from a narrow provincial sect that it was to the tion of a worldwide religion "

कान्स्टेंटाइन राजनैतिक कारणों के कारण ही सहिष्णु बना था। परन्तु की सहिष्णुता, सहृदयता एवं शुद्ध सच्चाई का प्रत्यक्षीकरण थी। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कान्स्टेंटाइन के धर्म के प्रति विचार परिवर्तित हो गए थे। भण्डारकर महोदय के शब्दों में दोनों सम्राटों के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर—

"Constantine displayed a reaction towards paganism and at its best his religion was a strange jumble Asoka never such moral degeneration and from beginning to end he held fast to the same Dhamma "

मैक्फेल (Macphail) ने अपनी पुस्तक में अशोक की तुलना मार्कस और लियस एन्टोनियस (Marcus Aurelius-Antonius) से की है जिसने कि १६१ ई० से १८० ई० तक रोम पर शासन किया था। यद्यपि वह व्यक्तिगत सदाचार के लिए अशोक की कोटि में रखा जाता है, परन्तु आदर्श की श्रेष्ठता तथा उत्साह एवं लगन की उत्कटता के प्रदर्शन में भारतीय सम्राट औरलियस को मात कर देता है। और लियस के विषय में कहा जाता है—

"He was 'Roman in civil nobility and pride' Roman in tenacity of imperial aim and that 'the profession of Christianity remained under the imperial ban, and the Christians as such were judiciably liable to death' just because 'the prevalence of Christianity was incompatible with his ideal of Roman prosperity "

परन्तु सम्राट अशोक इस प्रकार की सकीर्ण मनोवृत्तियों से संचालित एवं नहीं था। उसने सम्पूर्ण मानव समाज की उन्नति एवं प्रगति के लिए अथक किया था। अतएव औरलियस से भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती है। अशोक विश्व का अद्वितीय एवं अपूर्व सम्राट रहा एवं रहेगा।

मैक्फेल ने इस सम्राट की तुलना में कुछ अन्य नरेशों के नाम उल्लिखित किये हैं जैसे अल्फ्रेड, शालमेन, उमर खलीफा प्रथम आदि। यद्यपि विश्व में बहुत से कुशल शासक एवं निपुण योद्धा नरेश हुए हैं, परन्तु सम्राट अशोक की जैसी विजय शायद ही किसी ने प्राप्त की हो। सम्राट की विजय जनता जनार्दन के हृदय एवं दिल पर विजय है। उसकी विजय स्थायी एवं अमर विजय है।

केवल जिस सम्राट से उसकी तुलना वस्तुतः सार्थक एवं तत्वयुक्त है, वह सम्राट भारत की ही एक विभूति है और जिसने मध्यकालीन युग में देश में राष्ट्रीयता की लहर से सबको आप्लावित किया था। अकबर महान् ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिए एवं अपनी जनता की सुख सुविधा के लिए कठोर अध्यवसाय किया था। परन्तु जिस क्षेत्र में उसकी तुलना सम्राट् अशोक से की जाती है वह है उसकी धार्मिक सहिष्णुता। उसने 'दीन इलाही' नामक एक एकेश्वरवाद धर्म की स्थापना भी की थी। परन्तु अन्ततः अकबर की यह सब नीतियाँ राजनैतिक स्वार्थ से प्रेरित होती थीं। तभी तो एक विद्वान् ने कहा है—

"Akbar was before all things a politician and a man of the world, and was in no mood to endanger his sovereignty for the cause of religious truth"

यही नहीं, 'दीन इलाही' के प्रचार के लिए उसमें उत्कट लगन एवं अध्यवसाय की कमी थी और यद्यपि वह एक शक्तिशाली सम्राट् था, लेकिन तब भी 'दीन इलाही' सम्प्रदाय अपनी सीमाओं से परे नहीं व्याप्त हो सका और संस्थापक की मृत्यु के साथ इस नवोदित सम्प्रदाय की भी अंतिम संस्कार क्रिया कर दी गई।

विश्व के महान् इतिहासकार विश्व के महानतम सम्राटों में अलैक्जण्डर महान्, सीजर एवं नैपोलियन को रखते हैं। वे वस्तुतः अशोक से बढ़चढ़ कर के भी महान् योद्धा एवं महान् शासक थे। परन्तु किसी का योद्धा एवं शासक में महान् होना उसे महान् सम्राट् की उपाधि से विभूषित नहीं कराता। एच जी० वेल्स (H G Wells) पूछता है—

"What were their permanent contribution to humanity—these three who have appropriated to themselves so many of the pages of our history?"

इन तीन व्यक्तियों ने अपने राष्ट्र के लिए यद्यपि बहुत कुछ किया था, परन्तु मानवता के कल्याण के लिए इन तीनों ने कुछ विशेष कार्य नहीं किया। परन्तु अशोक का दृष्टिकोण उपर्युक्त तथाकथित महान् सम्राटों से भिन्न था। उसने जनता जनार्दन के कल्याण के लिए भगीरथ प्रयास किया था। अतएव उसे हम प्रत्येक अंश में 'महान सम्राट' की कोटि में रख सकते हैं। तभी तो एच० जी० वेल्स ने लिखा है—

"Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowd the columns of history, their majesties and graciousnesses and serenities and royal highness and the like, the name of Asok's shines and shines almost like a star From the Volga to Japan his name is still honoured in China, Tibet and even India though it has left his doctrine, preserves the traditions of his greatness More living men cherish his memory today than have even heard the names of Constantine or Charlemagne"

डा० कोप्लेस्टन (Dr Copleston) ने अशोक को एकदम तीन व्यक्तियों के तुल्य बताया है। देखिए—

"He was not merely the Constantine of Buddhism, he was Alexander with Buddhism for Hellas, an unselfish Napoleon, with 'mettam'' in the place of glories"

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने अशोक के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

'Asoka is one of the most interesting personalities in the history of India He had the energy of a Chandragupta, versatility of a Samudragupta and the catholicity of an Akbar He was tireless in his exertion and unflagging in his zeal—all directed to

the promotion of the spiritual and material welfare of his whom he looked upon as his children '

अशोक के उत्तराधिकारी

अशोक की मृत्यु के उपरान्त मौर्य-साम्राज्य का इतिहास अत्यन्त तिमिराच्छन्न हो जाता है। उसके उत्तराधिकारियों का जो विवरण बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है, वह इतना अस्पष्ट और परस्पर-विरोधी है कि उसके आधार पर साम्राज्य के परवर्ती इतिहास का निर्माण करना अतीव दुष्कर कार्य प्रतीत होता है। इतना निश्चित है कि अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति दिनोदिन क्षीण होती गई। ऐसा एक भी प्रतापी और पराक्रमी नरेश नहीं हुआ जो पतन की इस प्रक्रिया को रोककर अपने वंश के गौरव को प्रतिष्ठित करता। परिणाम यह हुआ कि पराक्रमी चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित साम्राज्य शीघ्र ही ध्वस्त हो गया।

अशोक के पांच पुत्रों का उल्लेख विभिन्न स्रोतों में किया गया है। ... हैं—कुणाल, तीवर, महेन्द्र, कुस्तन और जालौक। इनमें से अशोक के उपरान्त सिंहासनारूढ़ कौन हुआ, इस बात पर बौद्ध, जैन और ब्राह्मण अनुश्रुतियों में अन्तर है। दिव्यावदान के अनुसार अशोक के बाद कुणाल का पुत्र सम्पदी या ... राजा हुआ। वायु पुराण का साक्ष्य है कि अशोक के राजसिंहासन का अधिकारी उसका पुत्र कुणाल हुआ जिसने आठ वर्षों तक शासन किया। किन्तु एक अनुश्रुति उसे अन्धा बतलाती है। कहा जाता है कि उसके नेत्रों की सुन्दरता के कारण उसका नाम कुणाल पड़ा था और अपनी विमाता तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या के कारण उसे अपने नेत्रों से हाथ धोना पड़ा था। यदि वह अन्धा था तो "सम्भवतः उसकी स्थिति महाभारत के धृतराष्ट्र की सी थी और यद्यपि वह सम्राट समझा जाता था तो भी उसकी शक्ति नाम मात्र की ही थी। शारीरिक दृष्टि से अयोग्य होने के कारण राज्य भार उसके प्रिय पुत्र सम्प्रति को दे दिया गया जिसको बौद्ध और जैन लेखकों ने अशोक का उत्तराधिकारी बतलाया है।"[1]

कुणाल के उत्तराधिकारियों के विषय में भी अनुश्रुतियाँ परस्पर विरोधी बातें कहती हैं। वायु पुराण के अनुसार अशोक का पुत्र बन्धुपालित था। दिव्यावदान तथा जिनप्रभसूरि के पाटलिपुत्र कल्प के अनुसार वह सम्पदी या सम्प्रदी या सम्प्रति था और तारानाथ के अनुसार विगतशोक-महान् सम्राट अशोक का पुत्र था। या तो ये राजकुमार एक ही व्यक्ति थे अथवा ये भाई थे। यदि भाई होनेवाला सिद्धान्त ठीक हो तो बन्धुपालित का समीकरण दशरथ के साथ किया जा सकता है। दशरथ की ऐतिहासिकता के प्रमाण उपलब्ध हैं। दशरथ की प्रवृत्ति धर्म की ओर अधिक थी। उसने नागार्जुनी की पहाड़ियों में आजीविकों के लिए कन्दरा-गृहों का निर्माण कराया था। इससे मालूम पड़ता है कि इस समय भी आजीविकों का सम्प्रदाय विद्यमान था। दशरथ के समय में मगध साम्राज्य से कलिंग का प्रान्त पृथक् हो गया था। अभि-लेखों में अशोक की भाँति दशरथ के लिए भी 'देवानांपिय' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। दशरथ सम्भवतः पुत्रहीन था, अतएव उसका भाई सम्प्रति उसका उत्तराधिकारी हुआ। सम्प्रति का नाम अधिकांश पौराणिक वंशावलियों में आता है। इसके अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध लेखकों ने भी उसका उल्लेख किया है। अतएव

१ *Political History of Ancient India* p. 351

को भी ऐतिहासिक मगध का शासक मानना समीचीन जान पड़ता है। अशोक के बाद मौर्य वंश में जितने भी शासक हुए, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण सम्प्रति ही था। उसने मगध के सभी भागों पर अपना अधिकार बनाये रखा। डॉ० स्मिथ का कथन है कि दशरथ और सम्प्रति एक ही समय में पश्चिमी पूर्वी भारत में शासन कर रहे थे। स्मिथ साहब के कथनानुसार अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था। परन्तु अनेक विद्वानों को स्मिथ की यह धारणा मान्य नहीं है। सम्भवतः सम्प्रति ने दो राजधानियों का प्रयोग किया था। उसकी एक राजधानी पाटलिपुत्र और दूसरी अवन्ति में थी। जैन ग्रन्थों में सम्प्रति को सम्पूर्ण भारत का राजा कहा गया है। बौद्ध अनुश्रुति में जो स्थान अशोक का है वही जैन अनुश्रुति में सम्प्रति का है। सम्प्रति ने जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान किया था और जिनप्रभसूरि के अनुसार वह एक महान् अर्हत् था जिसने अनार्य देशों में भी श्रमणों के लिए विहार बनवाये थे।

सम्प्रति के बाद मौर्य वंश का इतिहास और भी अधिक अन्धकारमय है। किन्तु सम्भवतः यह बात ठीक जान पड़ती है कि बृहद्रथ मौर्य वंश का अन्तिम सम्राट था। यह विलासी और अकर्मण्य था और सेना के सम्पर्क से सर्वथा विलग रहता था। फलतः उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सेना के सामने ही उसका वध कर दिया और मौर्य-साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण

मौर्य साम्राज्य का पतन अपेक्षाकृत शीघ्र ही हुआ। जिस राज्य की नींव चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे महान् सम्राट् ने डाली थी और जिसे कौटिल्य जैसे बुद्धिमान, दूरदर्शी तथा कूटनीतिज्ञ अमात्य की सुविकसित तथा सुदृढ़ शासन-व्यवस्था ने परिपुष्ट किया था और जिसके गौरव की अभिवृद्धि अशोक महान् ने की थी, उसका इतना शीघ्र धराशायी हो जाना कुछ विस्मय अवश्य उत्पन्न करता है। सबसे पहले मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों पर महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने विचार किया। विद्वान् पण्डित अनेक तर्क-वितर्क के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अशोक की ब्राह्मण विरोधिनी नीति ने मौर्य साम्राज्य की नींव को खोखली कर दिया और अन्त में एक ब्राह्मण सेनानायक ने ही इसका अन्त भी किया। किन्तु डॉ० रायचौधरी ने प्रत्ययोत्पादक तर्कों द्वारा महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री के प्रत्येक तर्क का खण्डन कर दिया है।[1] इसके अतिरिक्त रायचौधरी महोदय ने उन कारणों का उल्लेख भी किया है जिन्होंने मौर्य साम्राज्य के पतन को एक शीघ्रगामी प्रक्रिया और कालान्तर में एक अवश्यम्भावी तथ्य बना दिया। हम उन्हीं कारणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

मौर्य साम्राज्य के पतन का सबसे प्रबल और महत्त्वपूर्ण कारण था इसकी विघटनात्मक प्रवृत्ति। अशोक के समय तक तो इस विशाल साम्राज्य के ऊपर एक सुदृढ़ शासन-सत्ता का प्रभाव जमा रहा, किन्तु बाद में ज्योंही उसकी मृत्यु हुई साम्राज्य के विभिन्न भाग इससे पृथक होने का विचार करने लगे। अवसर प्राप्त होने पर विभिन्न प्रान्तों के शासकों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार अशोक का दूसरा पुत्र काश्मीर में स्वतन्त्र शासक बन बैठा। उसने कन्नौज तक के देश को विजित भी किया। उसके लिए यह भी कहा है कि उसने "म्लेच्छों के आक्रमणकारी दल का दमन किया।" इस दमन से तात्पर्य

---

१ इस विषय के पूर्ण विवरण के लिए देखिए *Political History of Ancient India*, pp 354-361

सम्भवत डैमिट्रियन यूनानियो के आक्रमण के दमन से है। एक प्रान्तीय इतना अधिक शक्तिशाली हो जाना इस बात को सिद्ध करता है कि इस समय की केन्द्रीय शक्ति का सवेग ह्रास हो रहा था। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ अनुसार अशोक के एक वीरसेन नामक उत्तराधिकारी ने गान्धार मे अपना राज्य स्थापित कर लिया। कदाचित् वीरसेन मौर्य-साम्राज्य का एक प्रान्तीय था, किन्तु जब उसने साम्राज्य की शक्ति को क्षीण होते देखा तो तुरन्त अपनी की घोषणा कर दी। महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्रम् से चलता है कि विदर्भ भी साम्राज्य से पृथक् हो गया था। यूनानी लेखक ने उत्तरी-पश्चिमी सीमा के एक स्वतन्त्र भारतीय शासक का उल्लेख किया है। नाम सोफेगेसीनस (Sophagasenus) (सुभगसेन) बतलाया है। सुभगसेन वीरसेन का ही एक उत्तराधिकारी था। पोलीबियस के कथन से यह स्पष्ट हो है कि सुभगसेन एक स्वतन्त्र नृपति था, छोटा-मोटा सरदार या प्रान्तीय शासक नहीं। इसी प्रकार अशोक की मृत्यु के बाद किसी समय कलिंग का राज्य भी मौर्यों के से निकल गया। इस तरह हम देखते हैं कि अशोक के मरने के बाद मौर्य मे विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति इतनी बलवती हो गई कि उसको बाद मे रोका न सका। इसको रोकने के लिए किसी शक्तिशाली नरेश की आवश्यकता थी, अशोक के उत्तराधिकारियो मे से कोई भी प्रभावशाली न निकला। अतएव मौर्य साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि प्रातीय शासको का प्रजाजनो के साथ अच्छा व्यवहार नही था। वे उनको उत्पीडित करते थे। दिव्यावदान नामक ग्रथ द्वारा इस विषय पर काफी प्रकाश पडता है। बिन्दुसार के समय में तक्षशिला के लोगों ने मन्त्रियो के प्रजापीडक शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। दिव्यावदान का कथन है "अथराज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगर विरुद्धम्। तत्र राजा बिन्दुसारेण अशोको विसर्जित यावत कुमारस्चतुरंगेण बलाकयेन तक्षशिला गत, श्रुत्वा तक्षशिला निवासिन पौरा प्रत्युद्गम्य च कथयन्ति, 'न वय कुमारस्य विरुद्ध नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य अपितु दुष्टामात्या अस्माक परिभव कुर्वन्ति।" अर्थात "तक्षशिला का नगर राजा बिन्दुसार के विरुद्ध हो गया। वहाँ पर राजा बिन्दुसार के द्वारा अशोक भेजा गया। जब तक कि कुमार चतुरंगिणी सेना लेकर पहुँचते हैं, उसके आगमन का समाचार सुनकर तक्षशिला नगर के निवासी नागरिक पहुँचकर कहते हैं, "हम कुमार के विरुद्ध नही हैं और न राजा बिन्दुसार के ही। किन्तु दुष्ट मन्त्रिगण हमारा अपमान करते हैं।' अशोक के समय मे एक बार फिर तक्षशिला के नागरिको ने विद्रोह कर दिया और इस बार भी विद्रोह का कारण मन्त्रियो का प्रजापीडन ही था। इस बार अशोक ने विद्रोह का दमन करने के लिए अपने पुत्र कुणाल को भेजा। कुणाल को भी नगरनिवासियो द्वारा वही उत्तर प्राप्त हुआ जो कुछ समय पूर्व अशोक को मिला था। दिव्यावदान के माध्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य-साम्राज्य के प्रान्तीय अधिकारी प्रजावत्सल नही थे। अशोक के एक अभिलेख से भी दिव्यावदान के कथन की पुष्टि होती है। इस अभिलेख से पता चलता है कि राजकीय पदाधिकारियों का कुशासन केवल गान्धार के दूरवर्ती प्रान्त तक ही सीमित नही था, वरन् उज्जैन आदि प्रान्तो की स्थिति गान्धार की स्थिति से कुछ विशेष अच्छी न थी। इस प्रकार जब जनता का विश्वास मौर्यों की शासन-सत्ता के प्रति न रह गया तो उसके पतन की प्रक्रिया और अधिक तीव्र हो गई।

मौर्य-साम्राज्य के पतन मे अशोक कहाँ तक उत्तरदायी था, इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ विद्वानो का कथन है कि अशोक की अहिंसावादी नीति ने साम्राज्य की सैनिक शक्ति और सामरिक प्रवृत्ति को शिथिल कर दिया। परन्तु अन्य विद्वान् यह कहते हैं कि यद्यपि अशोक ने भेरीघोष के स्थान पर धम्मघोष सुनने का प्रण कर लिया था तथापि इस बात का कोई प्रमाण नही है कि उसने अपनी सैन्य शक्ति कम कर दी थी। लेकिन हमारा विश्वास है कि अशोक की अहिंसात्मक नीति साम्राज्य के विकास अथवा उसको चिरस्थायी करने की दृष्टि से अनुकूल नही थी। उसने रण-नीति का त्याग करके अपने साम्राज्य मे धर्म और अध्यात्मवाद के जिस वायुमण्डल का निर्माण किया, उसके लिए कोई भी इतिहासकार उसकी प्रशसा किये बिना नही रह सकता, परन्तु उसकी इस नीति ने सैनिको की रण-कुशलता और सामरिक प्रवृत्ति को निस्सन्देह दबा दिया। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि धर्म और आध्यात्मिकता के उस वातावरण में, जहाँ से सभी प्रकार की हिंसा का निर्वासन कर दिया गया हो, सैनिकों की रण-कुशलता को कोई प्रोत्साहन प्राप्त नही हो सकता। अशोक के शान्तिमय शासन-काल ने एक ऐसे "युग को जन्म दिया जिसमे शान्ति सामाजिक उन्नति, धर्म प्रचार का व्यापक रूप से प्रसार होता है, किन्तु उसके साथ ही राजनीतिक अचेतनता और कदाचित् सैनिक दुर्बलता भी छा जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि मगध साम्राज्य की सैनिक वृत्ति धीरे धीरे नष्टप्राय हो जाती है।' कदाचित् साम्राज्य की सैनिक शक्ति के ह्रास के कारण ही प्रान्तीय शासको को स्वाधीनता की घोषणा करने की प्रेरणा प्राप्त हुई हो, क्योकि उन्होंने भलीभांति सोच लिया कि उनके विद्रोह को कुचलने के लिए मौर्य-सम्राटो के निकट समुचित साधन नही हैं। इसी प्रकार पड़ोस के यूनानी राज्यो ने अशोक की धर्मानुरागिता की नीति को उसके जीवन-काल तक तो स्वीकार किया, किन्तु उसके मरते ही उनका दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया और उन्होंने भारतीय सीमा पर अपनी गृद्ध दृष्टि जमायी। परन्तु हमे यह कभी न भूलना चाहिए कि अशोक की शान्ति और अहिंसा-नीति मौर्य-साम्राज्य के पतन के अनेक कारणो में से केवल एक कारण के ही रूप मे थी इसका मूलभूत कारण बताना ऐतिहासिक साक्ष्यो की अवहेलना करना है।

दिव्यावदान से एक अन्य बात का भी सकेत प्राप्त होता है जिससे मौर्य-साम्राज्य के पतन को बड़ा बल मिला। दिव्यावदान की एक कथा से मालूम होता है कि अशोक बौद्ध सघों को इतना प्रभूत दान देता गया कि उसका राजकोष काफी खाली होने लगा। एक बार उसने फिर एक बौद्ध सघ को काफी दान देने का विचार किया, किन्तु उसके अमात्यो ने उसका विरोध किया और इस बात का निर्देश किया कि राजकोष खाली होता जा रहा है। एक अनुश्रुति का तो यहाँ तक कहना है कि अशोक को राज्य छोड देना पडा और उसके बाद राजसिंहासन उसके पौत्र सम्प्रति को प्राप्त हुआ। यद्यपि हम इस अनुश्रुति को अक्षरश सत्य नही मान सकते, तथापि इस बात की सम्भावना काफी प्रबल प्रतीत होती है कि अशोक की दाननीति साम्राज्य की आर्थिक स्थिति को उसी प्रकार खोखला कर रही थी जिस प्रकार धर्मनीति सैनिक शक्ति का ह्रास कर रही थी। इसमे कोई सन्देह नहीं कि अशोक की दानवीरता उसके व्यक्तित्व का एक उज्ज्वल पक्ष हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से उसका यह उज्ज्वल पक्ष दूरदर्शितापूर्ण नही कहा जा सकता।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे कारणो से भी मौर्य-साम्राज्य का पतन हुआ। मौर्य साम्राज्य की सीमायें इतनी दूर तक फैली थीं कि एक ही केन्द्रीय

व्यवस्था द्वारा सम्पूर्ण साम्राज्य के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करना असम्भव तो नहीं, किन्तु कष्टसाध्य अवश्य था। उन दिनों, जबकि यातायात और गमनागमन ... सित साधनों का अभाव था, मौर्य साम्राज्य का एक शताब्दी तक सुव्यवस्थित के अधीन शान्तिपूर्ण अवस्था में रहना सचमुच विस्मय उत्पन्न करता है। परन्तु शासकों के अभाव में इतने विशाल भूभाग का एक ही शासन-सत्ता के ... असम्भव था। अतएव अशोक के बाद जब उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के शासन-सूत्र गया तब साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े होने लगे। इसी प्रकार अन्तःपुर राजदरबारियों के षड्यन्त्रों से भी साम्राज्य की शक्ति को एक प्रबल आघात पहुंचा होगा। मालविकाग्निमित्रम् से पता चलता है कि बृहद्रथ के समय में मौर्य-सम्राट की राजसभा में दो परस्पर विरोधी दलों का निर्माण हो गया था। एक दल सेनापति का था और दूसरा प्रधान सचिव का। इन दोनों दलों में सदैव पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता बनी रहती थी जिसमें सहयोगपूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं होने पाती थी। फल यह हुआ कि सम्राट तथा साम्राज्य की शक्ति का दिनोदिन ह्रास होता गया। अन्त में बृहद्रथ के समय में पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य-सम्राट का वध करके राजसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया।

प्रश्न

Lucknow University

1 Describe after Megasthenes the municipal administration of Chandragupta Maurya (1945)

2 Write a critical note on Chandragupta Maurya under the following heads (1945)

(a) his ancestry
(b) date of accession
(c) his conquests (1946)

3 Give an account of the ancestry and early life of Chandragupta Maurya (1946)

४ मेगस्थनीज (Megasthenes) ने चन्द्रगुप्त मौर्य के सैन्य विभाग के संगठन (Military Organization) के विषय में क्या लिखा है, विस्तारपूर्वक लिखिए। (१९५०)

५ चन्द्रगुप्त मौर्य कौन था? उसके प्रारम्भिक जीवन और राज्य विस्तार के विषय में आप क्या जानते हैं? (१९५१)

६ मेगस्थनीज के वृत्तान्त के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पाटलिपुत्र नगर की शासन व्यवस्था का उल्लेख कीजिए। (१९५३)

7 *What do you know about the Maurya administration?* Describe it in detail (1955)

८ चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन प्रणाली तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालिए। (१९५७)

9 What do you understand by the Dhamma of Asoka? State the doctrines and practices, making up the Dhamma which the empire presents in his edicts (1945)

10 State the innovations introduced by Asoka in the Mauryan system of administration (1946)

11 Classify the inscriptions of Asoka What light do their find spots throw on the question of the extent of his empire? What are the other sources to be taken into consideration for the purpose (1947)

12 State the evidence bearing on Asoka's personal religion (1948)

13 What are the main principles of Asoka's Dhamma? Specify the measures adopted by him for the propagation both within and outside his empire (1949)

१४ अशोक ने भारत तथा विदेशों मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए क्या किया?

१५ अशोक के लेख किन स्थानो पर प्राप्त हुए हैं? उनके आधार पर उसके राज्य का विस्तार निर्धारित कीजिए। (१९५२)

१६ अशोक के 'धम्म' की विवेचना कीजिए। भारत मे तथा विदेशों मे उसके प्रसार के लिए उसने कौन-कौन से साधनों का उपयोग किया? (१९५३)

१७ मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों की समीक्षात्मक विवेचना कीजिए। (१९५४)

१८ अशोक ने अपने 'धम्म' प्रचार के लिए किन किन साधनों का प्रयोग किया। (१९५५)

१९ मौर्य वंश के पतन के कारणों का विश्लेषण कीजिए। (१९५६)

२० 'अशोक को जातीय सम्राट कहा जा सकता है।' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

Agra University

1 Indicate the plan on which was modelled the Mauryan Municipal administration with its various departments and specify their respective functions (1943)

2 Describe the successive stages of the growth of Mauryan empire Draw also a map of India showing those provinces in the empire of Asoka, over which Kumar Gupta I held no political sway in C 450 A D (1945)

3 Describe the career and achievements of Chandragupta Maurya Compare the extent of his empire with that of Chandragupta II of the Gupta dynasty (1946)

4 What light does Megasthenes and *Arthasastra* throw on the civic administration and economic condition in the empire of Chandragupta Maurya (1947)

5 Describe the successive stages of the growth of the Mauryan empire under Chandragupta and Bindusara (1952)

6 Classify the inscriptions of Asoka, and indicate their find spots (1942)

7 What are the special features of the Dhamma of Asoka? What are the measures adopted by that emperor to popularize his religion both within and outside his empire? (1943)

8 What were the ideals of kingship that were followed by Asoka? What was his contribution towards the unification and security of India? (1944)

9 "Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowded the columns of history the name of Asoka shines and shines almost alone as a star" (H G Wells)

Comment upon the above remark

10 Write a short note on the Inscriptions of Asoka and assess the value of these *inscriptions for an estimate of the great empire*? (1947)

11 State the innovation which Asoka introduced in the Mauryan system of administration (1948)

12 State the religious policy of Asoka (1948)

13 (a) What are the evidences that Asoka was a Buddhist? (b) *State his religious policy* (1951)

14 Discuss the causes of the downfall of the Mauryan empire (1951)

15 'Asoka was a great builder' How far does the testimony of his monuments bear the truth of this remark? (1962)

Allahabad University

1 Describe the administrative system under Chandragupta Maurya on the basis of Indian and Greek sources (1955)

2 Discuss fully the nature and importance of the various sources of Mauryan history (1957)

3 Form an estimate of the achievements of Chandragupta Maurya (1958)

4 What do you know of the origin and early life of Chandragupta Maurya? (1959)

5 Comment on the religious policy of Asoka and how far it was responsible for the downfall of India (1955)

6 What do you understand by Asoka's Dhamma Describe the methods adopted by him for its propagation (1956)

7 Describe the Dhamma of Asoka and his missionary activities (1957, 1967)

8 Give a critical estimate of Asoka's administration (1957, 1963)

9 Analyze critically the causes of the downfall of Mauryan Empire (1957)

10 *How did the Kalinga war make a new era in the history of India* (1958)

11 Form an estimate of Asoka as a ruler (1959)

12 Analyze the causes of the downfall of the Mauryas (1959)

१३ मौर्य-साम्राज्य के विस्तार का वर्णन कीजिए। (१९६६)

१४ मौर्यों के केन्द्रीय शासन का वर्णन कीजिए। (१९६६)

१५ शासक के रूप मे अशोक का मूल्यांकन कीजिए। (१९६६)

१६ मौर्य युग के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का विवरण दीजिए। (१९६६)

१७ मौर्य शासन पद्धति की विशेषताओं का निरूपण कीजिए। (१९६७)

१३ | मौर्यकालीन सभ्यता, संस्कृति और समाज

मौर्य-युग का भारतीय इतिहास मे विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांस्कृतिक उपलब्धियाँ और सामाजिक संगठन के क्षेत्र मे इसकी गौरवशालिनी सफलतायें आज भी इतिहास के विद्यार्थी को विस्मय मे डाल देती हैं। सुदूरव्यापिनी साम्राज्य-सीमायें और सुसंगठित शासन-व्यवस्था ने, जो राजनीतिक क्षेत्र में मौर्य काल की दो महत्त्वपूर्ण सफलतायें कही जा सकती हैं, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का जो सिलसिला जारी किया उसके द्वारा हमारी सामाजिक रचना और संस्कृति को पुष्टता प्राप्त हुई। अन्य देशो के इतिहास मे भी प्राय यह देखा गया है कि राजनीतिक गौरव के साथ ही साथ सांस्कृतिक अभ्युत्थान का अध्ययन भी प्रारम्भ होता है। पेरीक्लीज के समय का एथेन्स, आगस्टस के समय का साम्राज्यवादी रोम और सम्राज्ञी एलिजाबेथ के काल का इंग्लैंड इसी प्रकार की विचारधारा को पुष्ट करते हैं। यदि हम भारतीय इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण चाहते हो, तो हमारी दृष्टि मे सबसे प्रथम स्थान मौर्य-युग को ही प्राप्त होता है। आगे चलकर गुप्तो के शासन-काल और मुगल सम्राट अकबर के समय मे भी हम यही बात दिखलाई पडती है।

सामान्य विशिष्टताएँ

मौर्यकालीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न स्वरूपो पर हम कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे, किन्तु पहले उसकी कतिपय सामान्य विशिष्टताओ पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन प्रतीत होता है। मौर्य-काल प्रधान रूप मे विचारो की स्वतन्त्रता का युग था। विचारो की स्वतन्त्रता (freedom of thought) को आजकल पाश्चात्य संस्कृति का एक विशिष्ट गुण समझा जाता है, किन्तु भारतीय संस्कृति मे इस शब्द ही एक सम्मानित स्थान प्राप्त रहा है। भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद मे ही हम विचार स्वातन्त्र्य के दर्शन होते हैं जहाँ पर ऋषि नासदीय सूक्त मे सृष्टि की रचना पर विचार करता है। उपनिषदो की रचना केवल ऐसे ही वातावरण मे सम्भव हो सकती थी जहाँ पर पूर्ण रूप से विचार-स्वातन्त्र्य विद्यमान रहा हो। मौर्य-काल में इस विचार स्वातन्त्र्य के कारण अनेक बौद्धिक क्रियाओ का एक प्रबल उद्रेक हुआ, जिसकी तुलना हमे अन्य देशो के इतिहास मे ढूंढने से ही मिल सकती है। जैन और बौद्धधर्म, भागवत धर्म, विचारधारा तथा दर्शन के षट्सम्प्रदाय मौर्य-युग के विचार जगत मे प्रमुख उपलब्धियाँ थे, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि न तो इनका उद्भव इस युग मे हुआ और न इनके विकास की परम्परा ही इस युग तक अवरुद्ध रही। किन्तु इनके वास्तविक स्वरूप का निर्माण मौर्य-युग मे ही हुआ। मानव संस्कृति के विकास को जानने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी के लिए इन सांस्कृतिक देनो का महत्त्व मौर्य-साम्राज्य और उसकी सुविकसित शासन-व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक है।

भाषा, साहित्य और कला के क्षेत्र में जो प्रगति हुई उसके लिए मौर्य-कालीन संस्कृति का महत्त्व विशेष है। वैदिक संस्कृत के स्थान पर पाणिनीय व्याकरण के नियमों द्वारा परिचालित साहित्यिक संस्कृत का विकास प्रमुखतया इसी युग में हुआ। प्राकृत के विभिन्न रूपों का जन्म भी मौर्य-काल में ही समझना चाहिए। लेखन-कला का विकास मौर्य-काल की एक अत्यन्त प्रमुख देन है। राजनीति विज्ञान और आयुर्वेद आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में काव्य और नाटक का जन्म इसी युग की विशेषतायें हैं।

भारतीय कला का इतिहास वास्तविक रूप में इसी युग से प्रारम्भ होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्ववर्ती युगों में कला थी अवश्य, क्योंकि साहित्यिक कृतियों में कला की विभिन्न शाखाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, किन्तु केवल सिन्धु घाटी की कलाकृतियों को छोड़कर हमें किसी प्राक्-मौर्य-कालीन भारतीय कला के नमूने नहीं प्राप्त होते। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य-काल के पहले कलाकृतियों के निर्माण में ईंट और काठ का प्रयोग किया जाता था। इस समय से ईंट और काठ के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग किया जाने लगा। पत्थर की बनी हुई विशाल इमारतों और मूर्तियों का निर्माण मौर्य काल से बनना प्रारम्भ हुआ और कला की एक स्वदेशी परम्परा निश्चित हो गई। यह एक अचरज का विषय है कि मौर्यकाल की कुछ कला कृतियाँ, जिन्हें भारतीय कला के प्रथम नमूने कहा जा सकता है, निर्माण कौशल एवं सौष्ठव की दृष्टि से आज भी अनुपमेय हैं। उनकी तुलना में कोई अन्य वस्तु उपस्थित करना सरल नहीं। अशोक के स्तम्भ मौर्य कला-नैपुण्य की एक पराकाष्ठा का निदर्शन करते हैं। किन्तु मौर्य-काल की कलात्मक उपलब्धियों को सर्वथा ध्यान में रखते हुये भी हम फरग्यूसन महोदय का यह कथन नहीं स्वीकार करते कि भारतीय कला का इतिहास उसके क्रमिक पतन को सूचित करता है (The History of Indian Art is written in decay)। आगे चलकर कला के क्षेत्र में भारतवासियों ने और अधिक उन्नति की और उनकी कला का स्तर कभी भी अत्यधिक निम्न नहीं होने पाया।

मौर्यकालीन संस्कृति का गौरव एक विशेष कारण से इसलिए भी है कि इस युग में भारतवासियों का विदेशियों के साथ अधिक निकटता का सम्पर्क स्थापित हुआ। विदेशी जातियों के सम्पर्क से उन्होंने कुछ नवीन बातें सीखीं और उनको अपनी जातीय विशेषताओं के अनुकूल अपनी राष्ट्रीय संस्कृति में मिश्रित कर लिया। मौर्य-युग की संस्कृति उदारता और दृष्टिकोण की विशालता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। इस समय लोगों का जीवन परम्पराओं के बोझ से मुक्त था। उनकी विचारधारा में गतानुगामिता का समावेश नहीं था। समुद्र पार कर अन्य देशों की यात्रा करने और वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार करने में उन्होंने किसी प्रकार की धार्मिक अथवा नैतिक बाधा का अनुभव नहीं होने दिया। यह सत्य है कि भारतवासी विदेशियों के सम्पर्क में काफी पहले ही आ चुके थे किन्तु इस काल में वह सम्पर्क काफी पुष्ट हुआ और सांस्कृतिक आदान प्रदान का कार्य इसी समय से प्रारम्भ हुआ। अशोक के धर्म महामात्रों ने महात्मा बुद्ध के दिव्य उपदेशों और भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों का प्रचार विदेशों में किया। कुछ ही समय में भारतीय जन न केवल मध्य एशिया, सीरिया और चीन में बस गये, अपितु अफ्रीका और यूरोप महाद्वीपों के कुछ भागों में भी उन्होंने अपनी संस्कृति का प्रसार किया। अनेक देशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का कार्य भी प्रारम्भ हुआ और वृहत्तर भारत की नींव डालने का गौरव इस कारण से, मौर्य काल को ही दिया जा सकता है।

मौर्यकालीन संस्कृति की एक अन्य विशेषता यह थी कि इसमे इहलोकपरक तत्वो का उचित मात्रा मे समावेश था। इस समय के भारतवासी अपने इहलौकिक जीवन के प्रति उदासीन नही थे, यद्यपि उनका ध्यान मनुष्य के पारलौकिक जीवन की ओर भी जाता था। इस काल के भौतिक जीवन का ज्ञान हमें इसके पूर्ववर्ती किसी भी युग के भारतीयों की अपेक्षा अधिक है। लोगो का जीवन साधारणत सरल और सादा होते हुए भी ऐश्वर्यमय था। विशेष अवसरों पर वे भाँति भाँति के सुन्दर आभूषण और भड़कील वस्त्र धारण करते थे। "लोगों को आभूषण इत्यादि से काफी अनुराग था। उनकी पोशाक पर जरी का काम किया होता था और उसमे रत्न जड़े होते थे। इसके अलावा वे बारीक मलमल के जालीदार कपड़े पहनने के भी शौकीन थे।" उनकी रुचि कलात्मक थी। देश मे धन-धान्य की प्रचुरता थी।

सामाजिक अवस्था

समाज की रचना

मौर्यकालीन समाज की रचना का ज्ञान हमे अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज के विवरण द्वारा होता है किन्तु इन दोनो साक्ष्यो से जो सूचना प्राप्त होती है वह परस्पर कुछ विभिन्न प्रतीत होती है। अर्थशास्त्र मे चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके कर्तव्यो और साधारण जीवन के वर्णन मे अर्थशास्त्र अन्य धर्मशास्त्रो से पर्याप्त समानता रखता है। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह इन चारो वर्णों और उनके आश्रम धर्म की रक्षा करे। मेगस्थनीज ने जाति व्यवस्था का वर्णन कुछ विचित्र प्रकार से किया है। उसने सात जातियो का उल्लेख किया है और लिखा है कि सम्पूर्ण जनता इन्ही जातियो में विभक्त है। ये जातियाँ निम्नलिखित थी—(१) दार्शनिक, (२) कृषक, (३) गोपालक, (४) कारीगर, (५) सैनिक वर्ग (६) गुप्तचर या निरीक्षक और (७) अमात्य या राज्य के उच्च पदाधिकारी। मेगस्थनीज ने इन जातियो का वर्णन कर चुकने के बाद लिखा है कि किसी को भी अपनी जाति के बाहर विवाह करने का अधिकार नही है और न कोई व्यक्ति अपनी जाति तथा व्यवसाय परिवर्तित ही कर सकता है। जातिगत नियमो की यह कठोरता निस्सन्देह ब्राह्मण-ग्रन्थो का अनुसरण करती है, परन्तु इस विषय मे सन्देह किया जा सकता है कि मेगस्थनीज का यह कथन उस युग की वास्तविक स्थिति को सूचित करता है। अन्तर्जातीय विवाह मौर्य-युग मे प्रचलित थे और लोगो के व्यवसाय-परिवर्तन के उदाहरण भी मिल जाते हैं। अन्तर्जातीय विवाह की पुष्टि कौटिल्य ने भी की है। मेगस्थनीज के इस जाति-वर्णन के विषय मे यह जान लेना आवश्यक है कि इससे यह प्रतीत होता है कि उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक अवस्था को समझने में त्रुटि की। उसने भ्रमवश लोगो के व्यवसायों और उद्यमो को उनकी जातियाँ समझ लिया। मालूम होता है कि जातियो की अपेक्षा वह लोगों के व्यवसायों से ही अधिक परिचित था। मेगस्थनीज ने अपने विवरणो मे कहीं भी चतुर्वर्ण का उल्लेख नही किया है। इससे कदाचित यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौर्य-युग में समाज का विभाजन अधिकाश रूप से जातियो और व्यवसायो के सम्मिश्रण पर ही आधारित था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में नियमो की जिस कठोरता का उल्लेख किया गया है, वह समाज मे प्राय अज्ञात थी।

मेगस्थनीज के विवरणों की जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में हम चाहे जैसा समझें, परन्तु इस विषय मे सन्देह नहीं कि उसके लेखो से मौर्य-काल की सामाजिक अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। दार्शनिको के विषय में उसने जो कुछ भी लिखा है, वास्त

महत्त्वपूर्ण और मनोरञ्जक है। उसने दार्शनिक-वर्ग को दो भागों में विभाजित किया है—(१) ब्राह्मण और (२) श्रमण। ब्राह्मण दार्शनिकों से अभिप्राय सामान्यतः ब्राह्मणों से है और श्रमण वर्ग के अन्तर्गत बौद्ध संन्यासी आते हैं जो किसी भी जाति के हो सकते थे। अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित संन्यासी भी श्रमण कहे जाते थे।

मेगस्थनीज के लेखों के अनुसार ब्राह्मणों का जीवन दो अवस्थाओं में विभाजित था। प्रथम अवस्था वह थी जब ब्राह्मण सरल जीवन व्यतीत करता था। वह नगर के सम्मुख किसी कुञ्ज में निवास करता था और मद्य मांसादि वस्तुओं एवं समस्त इन्द्रिय-सुखों के उपभोग से विरक्त रहता था। उसका सम्पूर्ण समय ज्ञानोपदेशों के श्रवण अथवा लोगों को विद्यादान करने में व्यतीत होता था। जीवन के सैंतीस वर्षों तक इन नियमों का पालन करने के बाद वह सुख-सुविधामय जीवन में प्रवेश करता था। इस समय वह अपनी इच्छानुसार कई स्त्रियों से विवाह करता था और भड़कीले वस्त्रों तथा मांस इत्यादि का प्रयोग उसके लिए वर्जित नहीं था। मेगस्थनीज का यह वर्णन ब्राह्मणों के आश्रमों—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—के उस वर्णन से काफी मिलता-जुलता है जो हमें स्मृतियों में अथवा धर्मशास्त्रों में मिलता है।

दार्शनिकों का दूसरा वर्ग अर्थात् श्रमण दो वर्गों में विभक्त था। श्रमणों में जो लोग काफी विख्यात थे, वे वनों में तपस्या और साधना का जीवन बिताते थे। वे वृक्षों की पत्तियों और फलों पर जीवन निर्वाह करते थे और वृक्षों की छाल के ही वस्त्र पहनते थे। श्रमणों के अन्य वर्ग में वे लोग आते थे जो चिकित्सक होते थे। ये लोगों की निःशुल्क चिकित्सा करते थे और इसके बदले में समाज उनके भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी होता था।

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के अनुसार ये चिकित्सक लोगों की चिकित्सा करने में अधिकतर उन्हें भोजन में नियन्त्रण रखने पर जोर देते थे औषधियों के सेवन पर अपेक्षाकृत कम। सर्पदंश की चिकित्सा में भारतीय चिकित्सक बड़े निपुण होते थे जबकि यूनानियों को इसका ज्ञान बिल्कुल नहीं था।

समाज में ब्राह्मणों और श्रमणों का बड़ा सम्मान होता था। अन्य वर्गों की अपेक्षा ये संख्या में अवश्य कम थे, किन्तु सम्मान की दृष्टि से उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट था। राजाओं और अनेक प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न व्यक्तियों की, वे उनके धार्मिक कर्तव्यों के सम्पादन में सहायता करते थे। कुछ ब्राह्मण तथा श्रमण लोगों के साधारण स्वास्थ्य एवं ऋतु इत्यादि के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ करते थे जिनसे जनता को काफी लाभ पहुँचता था। मेगस्थनीज के इस कथन की पुष्टि, कि दार्शनिकों का समाज में अत्यन्त आदरणीय स्थान था, अन्य परवर्ती यूनानी लेखकों ने भी की है।

अशोक के अभिलेखों द्वारा भी मौर्य-काल के सामाजिक संगठन पर प्रकाश पड़ता है। परिव्राजकों और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। परिव्राजक और भिक्षु अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य का प्रचार करते थे। ये उपदेश और कथोपकथन द्वारा ज्ञान का प्रसार करते थे। अभिलेखों में चारों वर्णों का भी उल्लेख हुआ है। ये वर्ण हैं—ब्राह्मण-सैनिक और उनके सामन्त (भटमाय) जो क्षत्रिय थे, इभ्य अथवा वैश्य और दास तथा सेवक (दासभटक) अर्थात् शूद्र। अशोक के अभिलेखों और कतिपय बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट सूचित होता है कि वर्णों के नियमों में इस समय पर्याप्त विनमनशीलता थी। लोग अपना व्यवसाय बदल सकते थे। अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे।

विवाह प्रथा

पारिवारिक जीवन की आधार शिला उन दिनों भी, आज की भाँति विवाह संस्था ही थी। अर्थशास्त्र में विवाह की निम्नलिखित आठ विधियाँ बतलाई गई हैं—

(१) **ब्राह्मण विवाह**—इस विवाह-पद्धति में कन्या का पिता वर को अपने घर पर बुलाकर, अपनी पुत्री को वस्त्राभूषणों से सजाकर, उसे सौंप देता था। इस विवाह में संस्कारों की प्रधानता थी। वर के चुनाव में उसके कुल, शील, सनाथता, आयु विद्या, वित्त और वपु (शरीर) पर ध्यान दिया जाता था।

(२) **दैव विवाह**—इस विवाह-पद्धति के द्वारा कन्या का पिता किसी ऐसे ऋत्विज को अपनी पुत्री सौंप देता था जो योग्य और सुशील होता था एवं अपने धार्मिक कर्तव्यों के सम्पादन में जिससे वह (पिता) सहायता प्राप्त करता था।

(३) **आर्ष विवाह**—इस विवाह में कन्या का पिता वर पक्ष की ओर से गौओं का जोड़ा प्राप्त करता था। बाद में वह विवाह हो जाने पर पुनः इसे वर को दान में दे देता था।

(४) **प्राजापत्य विवाह**—इस विवाह का प्रधान लक्ष्य सन्तान की अभिप्राप्ति था। इस विवाह-पद्धति में धर्म, अर्थ और काम में कन्या और वर का अधिकार समान होता था। इसमें कन्या का पिता वर-वधू को यह आशीर्वाद देता था कि "तुम दोनों साथ मिलकर धर्म का आचरण करो।" यह आशीर्वाद दे देने के उपरान्त वह कन्या को वर के हाथ सौंप देता था।

(५) **आसुर विवाह**—जिस विवाह-पद्धति में कन्या के सम्बन्धी वर पक्ष की ओर से अपनी पुत्री ब्याहने के लिए स्वेच्छानुसार धन प्राप्त करते थे, उसे आसुर विवाह कहा जाता था। स्पष्ट है कि इस विवाह में कन्या का विक्रय किया जाता था।

(६) **गान्धर्व विवाह**—इस विवाह में वर और कन्या बिना अपने अपने माता पिता की आज्ञा के एक-दूसरे में संयुक्त हो जाते थे। इस पद्धति में पारस्परिक आकर्षण की प्रधानता प्राप्त थी।

(७) **राक्षस विवाह**—किसी कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर लेने और उसके साथ विवाह कर लेने को 'राक्षस विवाह' की संज्ञा दी गई थी।

(८) **पैशाच विवाह**—इस विवाह पद्धति में किसी सोई हुई, मादक वस्तु का सेवन करा देने से उन्मत्त हुई अथवा मूर्च्छित कन्या के साथ छल या बल द्वारा विवाह कर लिया जाता था।

इन आठ विवाह पद्धतियों में से सामान्यतः प्रथम चार को स्वीकृत किया गया है और शेष चार को घृणित बतलाया गया है। लेकिन इन समस्त विवाह पद्धतियों की धर्मानुकूलता के विषय में सभी शास्त्रकार एकमत नहीं हैं। जबकि प्रथम चार पद्धतियों को प्रायः सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है, अन्य पद्धतियों में से कुछ ने आसुर और गान्धर्व को भी शास्त्रानुमोदित ठहराया है। 'राक्षस विवाह' को केवल क्षत्रियों के लिए ही उचित बतलाया गया है अन्य जातियों के लिए इसे विगर्हित ही कहा गया है। पैशाच विवाह की सभी ने एक स्वर से निन्दा की है। इन आठ पद्धतियों की तुलनात्मक शास्त्र-सम्मतता के विषय में शास्त्रकारों में मत-वभिन्न्य भले ही हो, इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि ये सभी पद्धतियाँ प्रचलित अवश्य थीं। मेगस्थनीज का विवाह-पद्धति के सम्बन्ध में एक कथन बड़ा महत्वपूर्ण है। वह कहता है कि भारतीयों की विवाह-पद्धति में 'बैलों के एक जोड़े' के उपहार को प्रधानता प्राप्त

है। इस वचन से ऐसा मालूम पड़ता है कि मौर्य-काल में आर्ष-पद्धति सबसे अधिक लोकप्रिय थी।

सामान्य रूप में अपनी ही जाति के अन्दर विवाह करना उचित समझा जाता था। समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे और उस समय का कानून उनको स्वीकार भी करता था। अपनी ही जाति के अन्दर विवाह सम्बन्ध करने पर भी कतिपय नियन्त्रणों को स्वीकार करना पड़ता था। अपने ही गोत्र अथवा प्रवर की कन्या के साथ विवाह निषिद्ध समझा जाता था। इसी प्रकार सपिण्ड विवाह भी अनुचित ठहराया गया था, किन्तु कुछ जातियों, जैसे शाक्य और मौर्य में सगोत्र विवाह का भी प्रचलन था। दक्षिण में मातुल-कन्या से विवाह कर लेने की प्रथा थी, किन्तु उत्तर में ऐसा नहीं था। मनु तथा अन्य शास्त्रकारों ने इस प्रथा को स्वीकार नहीं किया है। अर्थशास्त्र में विवाह-योग्य अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। बारह वर्ष की अवस्था में कन्यायें यौवन को प्राप्त होती थीं और सोलह वर्ष के हो जाने पर बालक युवा हो जाते थे। कौटिल्य ने इन्हीं अवस्थाओं को विवाह-योग्य बतलाया है। विवाह में दहेज भी मान्य था।

उस समय की विवाह-पद्धति से यह स्पष्ट है कि समाज में पुरुष को नारी की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त थे। यद्यपि नारी को भी पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त था तथापि यह अधिकार पुरुषों के अधिकार की तुलना में काफी कम था। पुरुष अपनी इच्छानुसार अपनी एक परिणीता पत्नी के जीवित रहने पर भी कई अन्य स्त्रियों से विवाह कर सकता था। अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज, दोनों स्रोतों से पुरुषों के बहु-पत्नीत्व पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य ने यह स्पष्ट लिखा है कि एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है क्योंकि स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने के लिए हैं। मेगस्थ-नीज भी कहता है कि कुछ स्त्रियों को लोग सन्तान के लिए अपनी पत्नी बनाते थे और कुछ को केवल शारीरिक सुख के लिए। स्त्रियों को भी फिर से विवाह करने का अधिकार था किन्तु इसके लिए उनके सामने कुछ शर्तें थीं जिनका उन्हें पालन करना पड़ता था। ये शर्तें थीं—यदि पति बहुत दिनों से विदेश से न आया हो और स्त्री की व्यवस्था न कर गया हो, अथवा पति में कोई शारीरिक मानसिक विकार हो, इत्यादि। तलाक के विषय में कौटिल्य ने स्त्री और पुरुष को सामान्य रूप में समान अधिकार दिये हैं और इस सम्बन्ध में वे मनु की अपेक्षा काफी उदार प्रतीत होते हैं। यदि स्त्री के दुराचारिणी होने का कोई प्रमाण मिल जाता था तो पुरुष को इस बात का पूरा अधिकार था कि वह उसका परित्याग कर दे। इसी प्रकार यदि किसी स्त्री के बहुत दिनों तक पुरुष-सन्तान उत्पन्न न होती थी तो उसका पति उसे त्याग सकता था। किन्तु ऐसी अवस्था में स्त्री के पति को उसके भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। कौटिल्य का यह विधान मनु के विधान की तुलना में कहीं अधिक उदार है क्योंकि मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि स्त्री के कटुभाषिणी होने या अधिक बोलने पर उसका परित्याग किया जा सकता है।

कौटुम्बिक जीवन और नारी का स्थान—मौर्य-काल में संयुक्त परिवार की प्रथा विद्यमान थी, यद्यपि कभी-कभी संयुक्त परिवार का विच्छेद भी हो जाता था। वैसे साधारण तौर पर पति-पत्नी का सम्बन्ध पारस्परिक स्नेह और सच्चाई पर आधारित था, किन्तु दाम्पत्य-जीवन में कुछ कमियाँ भी आ गई थीं। बहुपत्नीत्व की प्रथा इन कमियों के लिए उत्तरदायिनी थी। बहुपत्नीत्व की प्रथा ने न केवल पारि-वारिक जीवन का रूप विकृत कर दिया, अपितु इससे परिवार के जीवन में पत्नी का स्थान काफी निम्न हो गया।

पारिवारिक जीवन में पत्नी का स्थान अपेक्षाकृत निम्नतर हो जाने पर भी मौर्य-काल में स्त्रियों की स्थिति कुछ विषयों में सन्तोषजनक कही जा सकती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि विच्छेद (तलाक) के सम्बन्ध में कौटिल्य ने स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार प्रदान किये हैं। विधवा विवाह की भी इस समय व्यवस्था थी। पति के दुर्व्यवहार करने पर स्त्री न्यायालय से न्यायोचित व्यवहार की माँग कर सकती थी। उसे परिवार की सम्पत्ति में दाय का अधिकार प्राप्त था। उसे विवाह के अवसर पर दहेज अथवा उपहार आदि के रूप में जो सम्पत्ति प्राप्त होती थी, उस पर उसका पूरा अधिकार होता था और वह अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग कर सकती थी। "स्त्रियों के प्रति किसी भी प्रकार का अनौचित्य कठोर से कठोर दण्ड का विषय था। इस सम्बन्ध में कारखानों और बन्दीगृह के कर्मचारियों के कृत्यों पर भी नियन्त्रण था। स्त्री-हत्या का अपराध उतना ही गुरुतर समझा जाता था जितना कि ब्रह्म हत्या का (अर्थशास्त्र, पृ० १४६)।" इस समय नियोग की भी प्रथा का प्रचलन था, जिसका विस्तृत उल्लेख हमें महाभारत में मिलता है।

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र पुरुषों के कार्यक्षेत्र से भिन्न था। स्त्रियाँ प्रायः घर में ही रहा करती थीं और कुलवधुओं के लिए सार्वजनिक कार्यों में स्वतन्त्रता से भाग लेने की कोई व्यवस्था नहीं थी। शिक्षा से वंचित होने पर साधारण रूप में स्त्रियों का मानसिक क्षितिज संकुचित होता था। वे नाना प्रकार के विधि विधानों में विश्वास करती थीं। अशोक के एक शिलालेख से इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्रायः स्त्रियाँ अपनी मंगलेच्छाओं की प्रतिपूर्ति के लिए विविध प्रकार के अन्धविश्वासों को अपनाती थीं।

समाज में कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जो बौद्धिक जीवन व्यतीत करती थीं और उच्च दार्शनिक चिन्तन एवं मनन में अपने समय का सदुपयोग करती थीं। दो प्रकार की शिक्षिता नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है ब्रह्मवादिनी, जो धार्मिक ग्रन्थों का आजन्म अध्ययन करती थीं और सद्योवाहा, जो अपना अध्ययन क्रम केवल विवाह-पर्यन्त ही जारी रखती थीं। कात्यायन ने अपनी वार्तिक में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख किया है जो अध्यापन कार्य करती थीं। इन्हें उपाध्याया अथवा उपाध्यायी कहते थे और अध्यापकों की पत्नियों, उपाध्यायानियों से भिन्न होती थीं। कात्यायन की वार्तिक से ऐसा प्रतीत होता है कि महिला शिक्षिकाओं की संख्या समाज में अधिक थी। बौद्ध और जैन धर्मों ने नारियों के निमित्त उच्च चिन्तन और अध्ययन की पर्याप्त सुविधायें प्रस्तुत की थीं। बौद्ध और जैन धर्म ग्रन्थों में बार बार ऐसी महिलाओं का उल्लेख मिलता है जो अपना अध्ययन निरन्तर जारी रखने के लिए अविवाहित जीवन बिताती थीं। बौद्ध परिव्राजिकाओं के अनेक गीतों का संकलन थेरीगाथा में किया गया है। ये परिव्राजिकायें कुलीन एवं सुशिक्षिता होती थीं और अपने आध्यात्मिक विकास के लिए संसार का त्याग कर देती थीं।

नारियों को कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने की भी सुविधायें उपलब्ध थीं। कुछ स्त्रियाँ संगीत, नृत्य तथा चित्रलेखन आदि ललित कलाओं में निपुणता प्राप्त करती थीं। इतना ही नहीं, सैनिक व्यवसाय अपनाने का मार्ग भी स्त्रियों के लिए सर्वथा अवरुद्ध नहीं था। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की महिला-अंगरक्षिकाओं का उल्लेख किया है। वह कहता है कि 'कुछ स्त्रियाँ रथों पर, कुछ अश्वों पर एवं कुछ हाथियों पर आरूढ़ होती हैं और वे प्रत्येक प्रकार के शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रहती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे किसी आक्रमण के लिए जा रही हों।' परन्तु सैन्य व्यवसाय ग्रहण

करने वाली स्त्रियो मे अधिकाशत विदेशी जातियो की होती थी। महिला अग रक्षिकाओ का उल्लेख अर्थशास्त्र मे भी हुआ है।

समाज मे वेश्यावृत्ति प्रचलित थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा इस व्यवस्था पर काफी प्रकाश पडता है। समाज मे वीरागनाओ का अपना एक पृथक स्थान होता था और उन्हें उपेक्षा या घृणा की दृष्टि से नही देखा जाता था। वे समाज मे ललित कलाओ का प्रचार किया करती थी और इस कार्य के लिए उन्हें समाज की ओर से सम्मान प्राप्त होता था। यह एक स्मरणीय तथ्य है कि भारत मे मौर्य-काल के पूर्व भी गणिकाओं का सामाजिक स्तर निम्न अथवा हेय नही था। महात्मा बुद्ध के समय ने वैशाली गणतन्त्र की सुविख्यात नगरशोभिनी आम्रपाली को तत्कालीन समाज मे काफी आदर का स्थान प्राप्त था। वैशाली मे आम्रपाली को तत्कालीन भारत मे सबसे प्रसिद्ध महात्मा, गौतम बुद्ध को भोजन के लिए आमन्त्रित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बुद्ध जी ने उसके निमन्त्रण को स्वीकार कर अपने महान् व्यक्तित्व की उदारता एव भारत की सुदृढ नैतिक मान्यता का परिचय दिया। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने वेश्यावृत्ति को राज्य के लिए प्रचुर आय का साधन बताया है और साथ ही साथ व्यवसाय के नियन्त्रण का भी आदेश दिया है। राजभवन मे सेवार्थ भी उनकी नियुक्ति कर दी जाती थी। कुछ वेश्यायें दूसरे का विचार जानने की कला भी सीखती थी और सुगन्धित द्रव्य तथा विभिन्न प्रकार के हार बनाने मे निपुणता प्राप्त करती थी

आमोद-प्रमोद

मौर्यकाल के लोगो का जीवन अत्यन्त सुखी और आमोद प्रमोदमय था। उनके मनोरञ्जन के साधनो की प्रचुरता एव विविधता से लौकिक जीवन की समृद्धि का स्पष्टतया निदर्शन होता था। जीवन मे इनके महत्त्व और इनकी आवश्यकता का अनुभव अच्छी तरह से किया जा चुका था। समाज मे लोग मनोरञ्जन को इतना अधिक समझते थे कि अनेक व्यक्तियो ने ऐसे व्यवसाय ग्रहण किये थे जिनके द्वारा वे समाज के लिए मनोरञ्जन के साधन प्रस्तुत करते थे। "आमोद प्रमोद द्वारा सत्कार करना स्वय एक ऐसा उद्यम बन गया था। जिसके द्वारा अनेक प्रकार के नतको और नतकियो, गायको और गायिकाओ तथा कुशीलवो (अभिनेता और अभिनेत्रियो) का जीवन-यापन होता था (हॉपकिन्स, ज० अ० ओ० सी०, त्रयोदश, पृ० ७९ ८०, ८२–८३)।" अर्थशास्त्रकार ने भी मनोरञ्जन की आवश्यकता समझकर, इसके लिए विविध साधनो की व्यवस्था की थी। उन्होंने यह विधान बना दिया था कि जो व्यक्ति जनता के आनन्दोत्सवो के सगठन मे सहायता न दें, वे अर्थदण्ड के भागी बनाये जायें। गावो मे सार्वजनिक शालायें हुआ करती थी जहाँ सामूहिक रूप से उत्सवो इत्यादि का आयोजन होता था। अशोक के शिलालेखों मे उत्सवो तथा समाजो का उल्लेख मिलता है। इन उल्लास-अवसरो पर लोग मस्त होकर गाते-बजाते थे। विभिन्न प्रकार के वाद्य-यन्त्रो का वादन ऐसे अवसरो पर एक प्रमुख कृत्य समझा जाता था। समाजो और उत्सवो के सगठनकर्ताओ को इस कार्य के लिए राज्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। समाजो और उत्सवो का सगठन सरस्वती शिव, ब्रह्मा आदि देवताओ के आदर मे किया जाता था। ऐसे अवसरों पर मल्लयुद्ध हुआ करते थे जिनमे भाग लेने के लिए दूर-दूर से पहलवान आया करते थे। एलियन (Aelian) नामक यूनानी लेखक ने इन मल्लयुद्धो के विषय मे लिखा है। उसने मनुष्यो और हाथियो तथा अन्य पशुओ के द्वन्द्वो का उल्लेख किया है। उसने रथो की दौड के विषय मे कहा है कि पाटलिपुत्र मे यह रथदौड अधिकता से हुआ करती थी जिनमे अच्छे-अच्छे बैल और

घोड़े जुते रहते थे। मनुष्यों और पशुओं के मल्लयुद्धों में प्रायः भीषण रक्तपात हो जाया करता था, इसलिए अशोक ने ऐसे समाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। परन्तु इस प्रकार के आमोद प्रमोदों की आवश्यकता को उसने भी समझा था। उसने मनोरञ्जन के साधनों को एक उच्चतर उद्देश्य—जनसाधारण के नैतिक उत्थान—की प्रतिपूर्ति का साधन बनाया। अपने एक अभिलेख में अशोक कहता है कि उसने "मनुष्यों और पशुओं की मुठभेड़ बन्द करा दी और उसके स्थान पर उसने आकाश में भाँति भाँति के दृश्यों के चित्रण की व्यवस्था की जिनसे लोगों का मनोरञ्जन तो हो ही, साथ ही उससे उन्हें यथेष्ट नैतिक शिक्षा भी मिले।" ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में नाटकों द्वारा भी लोगों का मनोरञ्जन होता था।

भोजन-पान

मौर्य-कालीन भारत की आर्थिक समृद्धि का परिचय हमें उस समय के लोगों के भोजन-पान के द्वारा भी प्राप्त होता है। लोगों का भोजन सुरुचिपूर्ण और पौष्टिक होता था। सामान्य रूप से वे परिमित और स्वच्छ भोजन ही ग्रहण करते थे। भोजन में विविध प्रकार के अन्न, दूध और मांस का समावेश होता था। यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मों की अहिंसावादिता में मांस भक्षण को कोई स्थान नहीं प्राप्त था तथापि अधिकांश लोग मांस खाते थे। नगरों में, आजकल की भाँति, अनेक दुकानें होती थीं जहाँ पर भोज्य-सामग्रियाँ हर समय तैयार मिलती थीं। इन दुकानों पर पक्वान्न, मांस, रोटी, चावल आदि वस्तुओं का विक्रय होता था। कौटिल्य के कथनानुसार राज्य की ओर से पशु-पक्षियों की प्राप्ति के लिए वनों की व्यवस्था होती थी और पशुओं के वधार्थ बलिदान गृह बनाये जाते थे। दूध भारतीयों का प्रमुख पेय पदार्थ था किन्तु अन्य पेय सामग्रियों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें अंगूर का रस, मधु, शरबत (ये आम जम्बू तथा अन्य विविध प्रकार के फलों से तैयार किये जाते थे) और फलों के रस सम्मिलित थे। फलों और बूटियों से भी पेय पदार्थों का निर्माण किया जाता था। सुरा का प्रयोग प्रचलित था, किन्तु इसके क्रय विक्रय पर राज्य का नियन्त्रण होता था। कौटिल्य ने विविध प्रकार की मदिरा का उल्लेख किया है और उनकी निर्माण विधि भी बतलाई है। उन्होंने इस बात का भी स्पष्ट निर्देश किया है कि सुरा केवल कुछ थोड़े से शांत कुलशील व्यक्तियों को ही दी जानी चाहिए और वह भी परिमित परिमाण में। मेगस्थनीज ने लिखा है कि विशेष अवसरों को छोड़कर साधारणतया भारतीय मद्य से दूर रहते हैं। परन्तु मेगस्थनीज का कथन केवल ब्राह्मणों के लिये ही मान्य हो सकता है, अन्य जातियों में सुरा-सेवन का प्रचलन था। अर्थशास्त्र का साक्ष्य इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट है कि क्षत्रियों में मद्यपान की रीति काफी प्रचलित थी। बौद्ध और जैन धर्मों ने इसके प्रचार को कम करने का प्रयास अवश्य ही किया होगा, किन्तु जन-साधारण में इसका प्रयोग कभी भी पूरी तरह वर्जित नहीं समझा जा सका। मेगस्थनीज ने भारतीयों के भोजन करने के ढंग पर लिखा है, "जब भारतीय भोजन करने बैठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख तिपाई के आकार की मेज रख दी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है जिसमें सबसे पहले चावल डाले जाते हैं। वे ऐसे उबले होते हैं जैसे उबले जौ। इसके बाद दूसरे बहुत से पक्वान्न रक्खे जाते हैं जो भारतीय विधि से तैयार होते हैं।" वह आगे यह भी लिखता है कि भारतीय जन अकेले ही भोजन करते हैं और सामूहिक भोजन के लिए उनके यहाँ कोई समय निश्चित नहीं होता। जब जिसकी इच्छा होती है, भोजन करता है।

दास-प्रथा

दास प्रथा अति प्राचीन काल से ही भारतीय सामाजिक जीवन की एक मान्य व्यवस्था रही है। मौर्य-काल मे भी यह प्रचलित थी, यद्यपि यूनानी लेखकों के प्रमाण इसके विरुद्ध हैं। एरियन लिखता है कि सभी भारतीय स्वतन्त्र हैं और उनमे से एक भी दास नही है। मेगस्थनीज ने भी इसी प्रकार की बात कही है और स्ट्रैबो ने उसके मत को उद्धत करते हुए लिखा है कि कोई भी भारतीय दास नही रखता। परन्तु, अन्य साक्ष्यो से दास प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण इतनी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं कि यूनानी लेखकों का कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र तथा स्मृतियो मे दास-प्रथा का उल्लेख किया गया है। अशोक ने अपने अभिलेखो मे दासो तथा भाई के मजदूरो म विभेद किया है और सब के साथ दया का व्यवहार करने का आदेश दिया है। यह सम्भव है कि मेगस्थनीज को भारत के किसी विशेष भूभाग मे दास प्रथा बिल्कुल न दिखाई पडी हो जिससे उसने समझ लिया कि भारतवर्ष मे दास प्रथा है ही नहीं। इसके अतिरिक्त मेगस्थनीज के यह लिखने का कि भारत मे दास प्रथा है ही नही, एक महत्वपूर्ण कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ पर यूनान के ठीक विपरीत, दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। प्रसिद्ध विद्वान् रीज डेविड्स ने लिखा है कि "भारत मे दास अधिकाश रूप में घरेलू नौकर होते थे एव उनके साथ बुरा व्यवहार नही किया जाता था और उनकी संख्या भी महत्वशून्य होती थी।"

आर्थिक जीवन

मौर्य-काल मे भारतवासियो का आर्थिक जीवन काफी विकसित और सुव्यवस्थित हो गया। आर्थिक जीवन का सर्वांगीण विकास होने से कृषि, उद्योग धन्धो और व्यापार की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस युग के पहले भी आर्थिक जीवन काफी विकसित था। बौद्ध ग्रन्थो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध के समय मे भी विभिन्न उद्योग धन्धे और आन्तरिक एव बाह्य व्यापार काफी उन्नतिशील अवस्था मे थे। परन्तु मौर्य-युग म आर्थिक जीवन का इतना चतुर्दिक विकास हुआ कि यदि हम उस पर विचार करते है तो हमे आश्चर्य होता है। इस आर्थिक विकास के पीछे मौर्य सम्राटो की सुदूरव्यापिनी साम्राज्य सीमायें तो थी ही, राजकीय प्रयत्नो और नियन्त्रणो ने इसे और अधिक पुष्ट किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था में ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान थे जिनका उद्देश्य समाज के आर्थिक ढाँचे का सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाना था। मौर्य शासन मे ऐसे विभाग थे जिनके अन्तर्गत वे कार्य आते थे जिनसे लोक-कल्याण भी होता था और आर्थिक उन्नति भी। "चन्द्रगुप्त के राज्य का सार्वजनिक रचना विभाग अत्यन्त सुव्यवस्थित था और उसके क्षेत्र तथा कार्य भली प्रकार निर्दिष्ट थे। इस विभाग को सौंपे हुए कार्यों का क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उसमे अन्य कार्यों के अलावा खानो का सचालन, सिंचाई का प्रबन्ध, कल-कारखानो की स्थापना, शिकार के लिए वन, तालाब तथा पशुओं के लिए चरागाह और इसी प्रकार सडक तथा व्यापार-यातायात के जल और स्थल-सम्बन्धी मार्गों की सुविधाओं की देखरेख, सेतुबन्ध और नालियो की रचना, फल फूल के वृक्ष, औषधि तथा जडी-बूटियो का आरोपण, लँगडे, लूले तथा अपाहिज, अनाथो और छोटे-छोटे जानवरो की रक्षा का भार आदि सम्मिलित था। इस प्रकार मौर्य शासन मे वे सभी सुविधायें प्राप्त थी जिनके लिए एक आधुनिक समाजवादी तन्त्र को स्पृहा होगी।" मेगस्थनीज और कौटिल्य दोनो के साक्ष्यो से इस बात का प्रमाण मिलता है कि देश की आर्थिक उन्नति के लिए राज्य-सत्ता काफी सतुष्ट थी। अशोक की सरकार ने भी उन

स्थाओ मे कोई मूलभूत परिवर्तन नही किया जिनका उद्देश्य लोकानुरञ्जन के साथ देश की आर्थिक रचना को मजबूत बनाना था।

कृषि—सदा की भाँति मौर्य-युग का आर्थिक जीवन भी कृषि पर ही अवलम्बित था। कृषि गाँवो मे होती थी और उस समय के ग्राम सुखमय जीवन तथा समृद्धि के केन्द्र थे।

कौटिल्य ने उस समय के ग्रामो का बड़ा यथार्थवादी चित्र खीचा है। ग्राम की भूमि का निर्माण इन भागो द्वारा होता था—(१) कृष्ट (जुती हुई भूमि), (२) अकृष्ट (बगैर जुती हुई भूमि), (३) स्थल (ऊँची और सूखी जमीन), (४) केदार—फसलो से बोये हुए खेत, (५) आराम-कुञ्ज, (६) षण्ड—केले इत्यादि फल-वृक्षो के आरोपण, (७) मूलवाप—वे खेत जिनमे विभिन्न जड़ें या गाठें, जैसे अदरख, हल्दी, सलजम, मूली इत्यादि उगाई जाती थी, (८) वाट—गन्ने के आरोपण-स्थान, (९) वन जहाँ से ईंधन की सामग्री तथा आवश्यक वस्तुए प्राप्त होती थी, (१०) विवीत—ग्राम-पशुओ के लिए चरागाह, और (११) पथ—राजमार्गों की भूमि।[१] उपर्युक्त भागो के अतिरिक्त उस समय के ग्रामो मे निम्नलिखित वस्तुओ का होना भी आवश्यक था—(१) वास्तु—यह क्षेत्र जिसमे घर बने होते थे। यह बस्ती का भाग होता था। (२) चैत्य—पवित्र वृक्ष, (३) देवगृह—मन्दिर, (४) सेतुबन्ध (बाँध इत्यादि), (५) स्मशान, (६) सत्त—दानगृह, (७) प्रपा—पीने योग्य जल के एकत्र करने का स्थान, (८) पुण्य स्थान, और (९) प्रेक्षागृह—जहाँ पर जनसाधारण के लिए सार्वजनिक आमोद-प्रमोद की व्यवस्था थी।

कृषि की उन्नति के लिए राज्य की ओर से हितकर कानूनो का निर्माण किया गया था। किसानो की सुविधाओ का ध्यान रक्खा जाता था और उन पर किसी प्रकार का अत्याचार नही होने पाता था। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। मेगस्थनीज सिंचाई व्यवस्था का वर्णन करते हुए ऐसे अधिकारियो का उल्लेख करता है जिनका कर्त्तव्य "भूमि को नापना और उन छोटी नालियो का निरीक्षण करना था जिनमे होकर पानी सिंचाई की नहरो मे जाता था जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपना सही भाग मिल सके।" एक स्थान पर यूनानी राजदूत ने लिखा है कि "भूमि का अधिकांश भाग सिंचाई के अन्तर्गत है जिससे वर्ष मे दो दो फसलें तैयार हो जाती हैं।" अर्थशास्त्र मे भी जल सिंचन-व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। एक स्थान पर सिंचाई की चार प्रणालियो का निर्देशन पाया जाता है—(१) हाथ के द्वारा सिंचाई (२) मोटो के द्वारा सिंचाई, (३) कतिपय जल-यन्त्रो के द्वारा सिंचाई।

सिंचाई की व्यवस्था का उल्लेख रुद्रदामन के जूनागढवाले अभिलेख मे भी किया गया है जिसमे यह वर्णन आता है कि "पुष्यगुप्त ने एक दुर्ग और एक चट्टान के बीच बहने वाले एक जलस्रोत को बाँधकर सुदर्शन नामक झील बना लिया। परन्तु उसे पूरा तुषास्प ने किया। जूनागढ सौराष्ट्र प्रान्त के अन्तर्गत था और पुष्यगुप्त चन्द्रगुप्त के समय मे वहाँ का शासक तथा तुषास्प अशोक के समय मे शासक रह चुका था।

जल सिंचन की वैज्ञानिक प्रणालियों के द्वारा, जिनका प्रमाण हमे मेगस्थनीज, कौटिल्य और रुद्रदामन के जूनागढ वाले अभिलेख से मिलता है, भूमि की उर्वरा शक्ति

१ *Age of Imperial Unity*, P 460

बहुत बढ़ गई होगी। अर्थशास्त्र मे उन तमाम फसलों का उल्लेख किया गया है जो उस समय उत्पन्न की जाती थी। ये फसलें इस प्रकार थी—विभिन्न प्रकार के चावल, कोद्रव—मोटा अनाज, तिल, प्रियग, कई तरह की दालें, जैसे मुदग, माष और मसूर, कुलुत्थ, यव, गोधूम (गेहूँ), कलाय, अरसी, सर्षप, शाक और मूल (तरकारियाँ) तथा विभिन्न प्रकार के फल जिनमे केले, अगूर तथा गन्ना इत्यादि प्रमुख थे। कौटिल्य ने कृषि पर लगाये जाने वाले विभिन्न करो का भी उल्लेख किया है—(१) भाग—कृषि से होने वाली आमदनी पर राज्य का भाग[1], (२) बलि—यह ऐसा कर था जो भाग के अतिरिक्त भी कृषको पर लगाया जा सकता था, (३) कर—यह समय-समय पर सम्पत्ति के आधार पर लगाया जाता था, (४) विवीत—चरागाहों पर लगाया जाने वाला कर, (५) रज्जु—फसल की उपज की नाप-जोख के लिए लगने वाला कर और (५) चोरज्जु—चौकीदारी का कर। युद्ध और दुर्भिक्ष के समय कृषि की फसलो पर अतिरिक्त कर भी लगाया जा सकता था। इसके अलावा कभी-कभी किसानो से बेगार भी कराई जाती थी।

उद्योग धन्धे—मौर्य युग मे उद्योग धन्धो की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धा वस्त्र तैयार करना था। यह उद्योग भारत के प्राचीनतम व्यवसायो मे से है। वस्त्र तैयार करने के धन्धे मे सबसे पहला स्थान सूती वस्त्र का था। इस देश की उष्ण जलवायु के कारण यहाँ पर सूती वस्त्र की आवश्यकता सबसे अधिक पड़ती थी। सूती वस्त्र की बनी हुई वेशभूषा का उल्लेख बौद्ध-ग्रन्थो और यूनानियों के लेखो मे प्रचुरता से होता है। मालव गणतन्त्र के द्वारा सिकन्दर को जो वस्तुयें उपहार-रूप दी गई थी, उनमे सूती वस्त्र काफी बड़े परमाण मे सम्मिलित था। यद्यपि सूती वस्त्र का उद्योग धन्धा सम्पूर्ण देश मे प्रचलित था तथापि कुछ स्थानो में इस उद्योग के केन्द्र बन गये थे। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो मे बनारस के बढ़िया वस्त्र (कासीकुत्तम् या कासिकावत्थ) का उल्लेख किया गया है। इसके अलावा सिवि देश के वस्त्र (सिव्येक) का भी जिक्र आता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे सूती वस्त्र-उद्योग के केन्द्रो की कुछ अधिक विस्तृत सूची मिलती है। ये केन्द्र थे—(१) मदुरा—पाड्य देश की राजधानी, (२) अपरान्त—कोकण या पश्चिमी समुद्र तट, (३) काला, (४) वग, (५) वत्स—कौशाम्बी का निकटवर्ती प्रदेश और (६) महिषा। इसी प्रसग मे अर्थशास्त्र मे विशेष रूप से उन तीन प्रकार के वस्त्रो (दुकूल) का उल्लेख हुआ है जो अपने रग और स्थान के कारण एक-दूसरे से भिन्न थे। ये वस्त्र इन स्थानो के थे—(१) वग—पूर्वी बगाल, (२) पुण्ड्र—उत्तरी बगाल और (३) सुवर्णकुड्य—कामरूप मे एक स्थान था। वे क्रमश श्वेत, काले और उदय होते हुए सूर्य के रग के थे। इसी सम्बन्ध में कौटिल्य ने सन के बने वस्त्रो (क्षौम), जो काशी तथा पुण्ड्र मे तैयार किये जाते थे, का भी उल्लेख किया है। मगध तथा सुवर्णकुड्य के सन के वस्त्रो का भी जिक्र अर्थशास्त्र मे किया गया है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो मे भी इनका (क्षोम का) वर्णन प्राप्त होता है।[2] अधिक बहुमूल्य वस्त्रों में रेशमी वस्त्र का स्थान सबसे पहले आता

---

१ प्राचीन स्मृति ग्रन्थों मे कृषक की आय पर राज्य-कर का दर $\frac{1}{6}$ से लेकर $\frac{1}{12}$ तक रखा गया। कौटिल्य ने सामान्य रूप से $\frac{1}{6}$ भाग ही राज्य का बतलाया है। अशोक ने लुम्बिनी ग्राम, जो कि बुद्ध जी का जन्म स्थान था, का कर घटा दिया था। यह कर $\frac{1}{8}$ भाग हो गया था।

२ *Age of the Nandas and Mauryas*, pp 362 63 Edited by A A Nilakanta Shastri

है। रेशमी वस्त्रों के उल्लेख पालि ग्रन्थो और जातक-कथाओं में बहुत अधिक मिलते हैं (कौसय तथा कौसेय्य-पावार)। कौटिल्य ने चीनपट्ट, चीन भूमिज (अर्थात चीन में बने हुए रेशमी वस्त्र) के साथ ही साथ कौशेय का उल्लेख किया है। कौटिल्य के इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि मौर्य-युग में चीनी रेशमी वस्त्र और देशी रेशमी वस्त्र में एक-दूसरे से काफी प्रतिद्वन्द्विता थी।

ऊनी वस्त्रों का निर्माण भी इस देश का अपना एक प्राचीन धन्धा है। जातकों में गान्धार के ऊनी वस्त्रों की बड़ी प्रशंसा की गई है। कौटिल्य ने गान्धार के तो नहीं, किन्तु नैपाल के ऊनी वस्तुओं का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से इस बात के असन्दिग्ध प्रमाण मिलते हैं कि मौर्य-युग में ऊनी वस्त्र व्यवसाय ने पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा काफी अधिक उन्नति कर ली थी।

हमने इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में इस युग के विलासमय जीवन का जो उल्लेख किया है, उसके द्वारा अनेक उद्योग-धन्धों को विकास का अवसर प्राप्त हो गया। जौहरियों और शीशे की वस्तुयें बनाने की कला तीसरी शताब्दी ई० पू० के बहुत पहले ही श्रेष्ठता की ऊँची श्रेणी तक पहुँच चुकी थी। कौटिल्य के ग्रन्थ में सोने, चाँदी, हाथीदाँत तथा अन्य बहुमूल्य धातुओं के कार्यों का प्रचुरता से उल्लेख किया गया है। एरियन ने लिखा है कि अत्यन्त धनाढ्य भारतीय अपने कानों में हाथीदाँत के बहुत बढ़िया आभूषण पहनते हैं।[१]

पत्थर को काटकर सुन्दर वस्तुयें बनाने की कला में इस युग के कारीगर बहुत बढ़े चढ़े थे। अशोक के समय के आश्चर्यजनक पाषाण स्तम्भ उस युग की तक्षण-कला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। डा० स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि "कठोर पाषाण को चिकना बनाने की कला इस पूर्णता तक पहुंचा दी गई थी कि यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की कलात्मक शक्तियों के लिए यह एक खोई हुई कला ही है।" बाराबरा की गुफाओं को, जो पालिश किए हुए चिकने शीशे की भांति चमकती हैं, देखने से इस युग की उत्कृष्ट कला को ठीक से समझा जा सकता है। सुगन्धित पदार्थों के निर्माण में भी मौर्य युग में काफी उन्नति हुई। कौटिल्य ने पांच प्रकार के सुगन्धित पदार्थों का उल्लेख किया है। ये पदार्थ हैं—चन्दन, अगुरु, तैल-पर्णिक, भद्रश्री और कालेयक। ये पदार्थ अपने उत्पत्ति-स्थान, रंग और सुगन्धि की तीव्रता के कारण एक दूसरे से काफी भिन्न समझे जाते थे।

पृथ्वी के द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तुओं के प्रयोग पर मौर्य-युग की शासन व्यवस्था काफी ध्यान देती थी। सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई महत्त्वपूर्ण उद्योग धन्धों का विकास हुआ। रथों, जलयानों और शस्त्रास्त्रों के निर्माण से काष्ठ और धातु कलाओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला। काष्ठ और धातुओं के प्रयोग ने इस बात को आवश्यक बना दिया कि वनों को साफ कराने और खानें खुदवाने के कार्यों पर समुचित ध्यान दिया जाय। कौटिल्य ने इन दोनों कार्यों के लिए विशेष नियमों की व्यवस्था की है। एक अधिकारी, जिसे आकाराध्यक्ष कहा जाता था, की नियुक्ति का कौटिल्य ने विधान किया है। इस अधिकारी को खानों से सम्बन्धित विषयों का आवश्यकीय वैज्ञानिक ज्ञान होता था। भूगर्भशास्त्र में निपुण अपने अन्य सहायकों एवं खान के श्रमिकों के साथ वह राज्य की सम्पूर्ण खानों के काम की देखरेख करता

१ स्ट्रैबो आदि अन्य यूनानी लेखकों ने भी भारतवासियों की आभूषणप्रियता का उल्लेख किया है।

था। इसी प्रकार एक दूसरा अधिकारी भी होता था जो ताँबा, टीन, पारा, जस्ता, कांस्य आदि धातुओं के तैयार करने तथा इनके द्वारा बनायी जाने वाली वस्तुओं के निर्माण की निगरानी रखता था। सागर खानों का अध्यक्ष शंख इत्यादि वस्तुओं तथा हीरा, मोती, मणि आदि बहुमूल्य रत्नों तथा नमक को निकलवाने और इनके व्यापार पर नियन्त्रण रखने के लिए उत्तरदायी होता था। वनों के अध्यक्ष का यह कर्त्तव्य था कि वनों की सुरक्षा पर ध्यान रखे। दुर्गों की रक्षा के लिए काष्ठ की जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी, उनके निर्माण की व्यवस्था भी उसी को करनी पड़ती थी। इस कार्य से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योग धंधा—जलयान बनाने का धंधा—सम्बन्धित था।

व्यापार—उद्योग धंधों की इस उन्नति ने व्यापार की उन्नति को स्वाभाविक ही नहीं, अपितु अनिवार्य बना दिया। जैसा कि 'बुद्धकालीन भारत' नामक अध्याय में बतलाया गया है, भारत में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार काफी उन्नतिशील अवस्था में थे। सुदूर पूर्वीय देशों के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था और देश में भी अनेक वणिक्पथों तथा जल मार्गों की सुविधा विद्यमान थी जिनके द्वारा व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को अपनी वस्तुयें ले जाते थे। अर्थशास्त्र में व्यापार के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि वे काफी और तितर बितर हैं, फिर भी इनसे यह सिद्ध होता है कि व्यापार के क्षेत्र में मौर्य-युग में देश ने काफी अधिक उन्नति कर ली थी। कौटिल्य ने वणिक्पथों के निर्माण एवं उनकी सुरक्षा पर जो ध्यान दिया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार की उन्नति के लिए राज्य-संस्था सक्रिय रूप से सचेष्ट थी। कौटिल्य ने उन स्थानों का उल्लेख किया है जहाँ से विभिन्न वस्तुयें प्राप्त की जा सकती थीं। एक अनाम उपाध्याय के अनुसार, जिसे कौटिल्य ने उद्धृत किया है, बहुमूल्य वस्तुयें, जैसे हाथी, घोड़े, सुगन्धित पदार्थ, हाथीदाँत, पशुचर्म, सोना तथा चाँदी आदि हिमालय में बहुलता से सुलभ थीं। कौटिल्य की सम्मति में कम्बल, पशुचर्म और घोड़ों को छोड़कर अन्य वस्तुयें, विशेषतया शंख, हीरे, रत्न, मोतियाँ तथा सोना इत्यादि मूल्यवान् वस्तुओं की अधिकता दक्षिण में थी। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने अन्य वस्तुओं और उनके उत्पत्ति-स्थान की जो सूची दी है, उससे भारत के आन्तरिक और विदेशी व्यापार पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इन वस्तुओं और इनके उत्पत्ति-स्थानों में से ये प्रमुख थीं—बंगाल, आसाम, बनारस, कोंकण और पाण्ड्य के वस्त्र, चीन के सिल्क, नेपाल के ऊनी वस्त्र, हिमालय प्रदेश के पशुचर्म, आसाम, लंका तथा हिमालय के सुगन्धित पदार्थ, लंका, अलकनन्दा और विवर्ण के रत्न तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुयें।

इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि भारत के प्राचीन विदेशी व्यापार को मौर्यों की सुव्यवस्थित राज्य-संस्था द्वारा काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सेल्यूकस की पराजय के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने पड़ोस के यूनानी राज्य के साथ मैत्री की जो बुद्धिमत्तापूर्ण नीति अपनाई, उसे उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रक्खा। इस नीति ने भारत के विदेशी व्यापार को पश्चिमी एशिया तथा मिस्र में फैला दिया। यूनानी लेखकों के अनुसार भारत और यूनानी राज्यों का व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। भारत के लिए पाश्चात्य जगत के साथ यह व्यापारिक सम्बन्ध काफी महत्त्वपूर्ण और हितकर था। यहाँ से हाथीदाँत, कछुए की पीठ, मोतियाँ, नील आदि रंग और बहुमूल्य लकड़ियों का निर्यात, मिस्र देश को होता था। व्यापारियों के संघों, जिनका निर्माण काफी पहले हो चुका था, का संगठन इस युग में काफी सुदृढ़ हो गया।

व्यापार और उद्योग धंधों के प्रति राज्य की नीति के सम्बन्ध में कुछ कहना

अनुचित नही प्रतीत होता । इस सम्बन्ध मे राज्य की नीति नियन्त्रण की नीति कही जा सकती है । राज्य सस्था ने राजपथो इत्यादि के निर्माण मे जो कार्यशीलता दिखलाई, उससे व्यापार को स्वाभाविक रूप से प्रोत्साहन प्राप्त हो गया, परन्तु कौटिल्य ने व्यापारियो और कारीगरो के प्रति आवश्यकता से अधिक उदारता नही दिखलाई। कौटिल्य ने उनको नाम से तो नही, किन्तु वास्तव मे चोर कहा है । इसलिए उनसे जनता की रक्षा करने के लिए उसने अनेक विधान बनाये और बेईमानी रोकने के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की । परन्तु ये विधान, जनहित की दृष्टि से कठोर नहीं कहे जा सकते । इसके विपरीत, यह कहा जा सकता है कि मौर्यों के उदय ने भारत के देशी और विदेशी दोना व्यापारो को काफी हित पहुँचाया । हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि कारीगर को हानि पहुँचाने वाला कठोर दण्ड का भागी था । स्ट्रैबो के कथनानुसार यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्पी के हाथ काट डालता या आख फोड देता था तो उसको फासी दी जाती थी । चन्द्रगुप्त मौर्य की सरकार मुद्रा नियन्त्रण पर बहुत ध्यान देती थी । अर्थशास्त्र मे सोने, चाँदी और तांबे के सिक्को का बिल्कुल स्पष्ट उल्लेख मिलता है । सोने के सिक्के को सुवर्ण या निष्क, चाँदी के सिक्के को कार्षापण या धरण और तांबे के सिक्को को मषक तथा कार्षापण कहते थे । अधिकतर चाँदी के सिक्को का ही प्रयोग प्रचलित था । तांबे के 'कार्षापण' सिक्के का वजन १४६ ग्रेन से कुछ अधिक था । चादी के कार्षापण सिक्के की तौल, जिसे पुराण या धरण कहा जाता था, ५८ ग्रेन से कुछ अधिक होती थी ।

धार्मिक अवस्था

मौर्य-काल के भौतिक वैभव और राजनीतिक ऐश्वर्य को देखकर उनकी प्राज्वलता से हमारे नेत्र सहसा चकाचौंध हो जाते हैं, किन्तु हम इस युग के धार्मिक जीवन के महत्त्व को भुला नही सकते । जिस समय भारत के राजनीतिक नभमण्डल में मगध राज्य एक विशाल साम्राज्य रूपी सूर्य के रूप मे उदित हो रहा था उसी समय भारत के धार्मिक विचारो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे । यदि हम नन्दो के उत्थान को भी अपने युग के अन्तर्गत मान लें [1] तो मौर्य युग के धार्मिक जीवन का महत्त्व बहुत अधिक बढ जाता है । धर्म के दृष्टिकोण से मगध के उत्थान के प्रारम्भिक दिन भारतीय इतिहास मे सबसे अधिक घटनापूर्ण दिनो मे थे । ब्राह्मण धर्म के भीतर महान् परिवर्तन घटित हुये । प्राचीन विचार परिवर्तित हो गये । नये विचारो का उदय हो

१ नन्द-युग की धार्मिक विचारधारा का मौर्य-युग के धार्मिक जीवन के साथ सम्बन्ध करने का हमारा यह प्रयास निराधार नहीं है क्योंकि जिस स्थूल रूप मे हम राजनीतिक घटनाओं का विभाजन कर सकते हैं, उसी रूप मे हम सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को विभाजित नहीं कर सकते । कारण यह है कि राजनीतिक घटनायें जब कि सीमित रहती हैं, सास्कृतिक प्रवृत्तियाँ और मान्यतायें युग-युगों तक जारी रहती हैं । साम्राज्यों का उदय होता है, वे विकास को प्राप्त होते हैं और काल के विनाशकारी प्रभाव मे पड कर भूगर्भ मे समा जाते हैं, किन्तु सस्कृति की धारा किसी न किसी रूप में बहती ही रहती है । नन्दों के साम्राज्य के पतनोपरान्त उसके ध्वसावशेष पर मौर्यों के विशाल साम्राज्य की भित्ति खडी होती है और मौर्यो के उज्ज्वलतर प्रकाश मे नन्दों की प्राभा धूमिल हो जाती है (So doth the greater glory gloomed), परन्तु नन्दों के समय मे जो धार्मिक हलचल होती है उसका अक्षय प्रभाव मौर्य युग की धार्मिक विचारधारा पर पडता है और इस दृष्टि से दोनों युग परस्पर एक-दूसरे से दृढ़ शृङ्खला में आबद्ध हो जाते हैं ।

रहा था। लोकप्रिय धर्म-सम्प्रदायो और विश्वासो को उच्च वर्ग के लोगो ने स्वीकार किया और जैसे-जैसे उपनिषदो मे सर्वप्रथम आभासित स्वतन्त्र विचार-शक्ति के उदय के साथ लोगो का पशु-यज्ञो और बाध्या रीतियो के प्रति विश्वास कम होता गया, मानवतावादी और आस्तिक आन्दोलन ने शक्ति तथा वेग प्राप्त किया। ब्राह्मणो की पवित्र भूमि के बाहर, आध्यात्मिक नेतृत्व पुरोहितो ब्रह्मज्ञानियो और याज्ञिको के हाथ से निकल कर सन्यासियो और परिव्राजको के हाथो मे चला गया जो समस्त जीवो के प्रति अहिंसा और ससार की वस्तुओ के प्रति अभिलाषा त्याग देने पर सबसे अधिक जोर देते थे।[1]

इस युग की धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमे बौद्ध धर्म ग्रथो, अशोक के अभिलेखो और यूनानी लेखको के विवरणो पर अवलम्बित होना पडता है। सभी साक्ष्यो का अवलम्बन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस समय मुख्यत ये धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे—ब्राह्मण, सन्यास-आन्दोलन, बुद्ध धर्म, जैन धर्म, आजीविक और आस्तिक आन्दोलन। हम इन सब की अलग-अलग सक्षिप्त विवेचना करेंगे।

ब्राह्मण धर्म—इस युग के ब्राह्मण धर्म मे, अन्य युगो की भाँति वैदिक तथा गृह्य रीतियो का प्राधान्य था। मेगस्थनीज के मत से, जिसे हम सामाजिक जीवन के अन्तगत उद्धृत कर चुके हैं, इस कथन की पुष्टि होती है। ब्राह्मण लोग यज्ञादि मे लगे रहते थे। अशोक ने अपने अभिलेख मे जिन देवपूजको का उल्लेख किया है, उनसे अभिप्राय उन्ही ब्राह्मण पुरोहितो से है जो यज्ञ किया करते थे और लोकधर्म के आन्दोलन से पृथक् रहा करते थे। बौद्ध ग्रथो मे वैदिक ज्ञान और रीतियो का जो उल्लेख किया गया है, उसके द्वारा भी इस युग मे उनका महत्त्व सिद्ध होता है। बौद्ध-ग्रन्थ ब्राह्मणो के एक ऐसे वर्ग का उल्लेख करते हैं जिन्हे 'ब्राह्मण महाशाला' कहा जाता था। इन लोगो को राजा द्वारा दान मे दी हुई भूमि का कर प्राप्त होता था। ये ब्राह्मण बडे धनाढ्य होते थे और व्ययसाध्य यज्ञो का अनुष्ठान करने की क्षमता रखते थे। वे अपने घरो मे बहुत से शिक्षार्थियो को रखते थे जो देश के विभिन्न भागो से आते थे और उनके चरणो के निकट बैठकर धार्मिक शिक्षा ग्रहण करते थे। कभी-कभी इन शिक्षार्थियो की सख्या तीन सौ से लेकर पाँच सौ के बीच मे होती थी। ये ब्राह्मण बडे सम्मानित होते थे और न केवल जन्म द्वारा नितान्त विशुद्ध होते थे, बल्कि उन्हे दैवी रग (ब्रह्मवर्ण) और दैवी चमक (ब्रह्मवर्चस) प्राप्त होती थी। वे मधुरवाणी-सम्पन्न होते थे। लेकिन वैदिक अनुष्ठानो का पालन करने वाले सभी ब्राह्मण ऐसे निष्कलक और विशुद्ध चरित्र के नही होते थे।

केवल वैदिक यज्ञो का अनुष्ठान ही ब्राह्मण धर्म का सर्वस्व नहीं था। इसमे कुछ सूक्ष्म तत्त्व भी थे जो मनुष्य की आत्मा का परिष्कार करके उसे ऊपर उठाने की क्षमता रखते थे। यदि वैदिक क्रियावाद ब्राह्मण धर्म का स्थूल रूप था तो उपनिषदो का ज्ञानवाद इसका सूक्ष्म रूप। यह सम्भव है कि इस युग के ब्राह्मण धर्म मे अभी भी वैदिक कर्मों और अनुष्ठानो का प्राधान्य था, किन्तु ब्राह्मण धर्म के बौद्धिक और आध्यात्मिक पक्ष से भी अनेक लोग प्रभावित थे। हमने पीछे जिन अरण्यवासी ब्राह्मणो के जीवन का वर्णन किया है, उनके जीवन मे कर्मकाण्ड प्रधान धर्म का कोई महत्त्व नही था। तप और मनन द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाना एव मन, वचन तथा कर्म की विशुद्धता द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करना, ये ही उनके लिए कर्तव्य कर्म थे। न तो उन्हे मृत्यु की शका होती थी और न सासारिक वस्तुओ के प्रति कोई अनुराग। ज्ञान

१ *An Advanced History of India*, Part I, pp 81-82

पूजा भी प्रचलित थी। प्राकृतिक विपदाओ के निवारण और प्रकृति के वरदानो की अभिप्राप्ति के लिए लोग अग्नि की पूजा करते हुए देवी-देवताओ को सन्तुष्ट करने के लिए उनकी सेवा म विविध प्रकार के उपहार समर्पित करते थे। नदियो, पर्वतो, वनो राक्षसो के चैत्यो तथा समुद्र-तटो की भी लोग पूजा करते थे। लोग बहुधा तीर्थयात्राये किया करते थे। नाग प्रतिमाओ या ध्वज प्रतिमाओ की भी, जो किन्ही देवताओ की प्रतीकस्वरूप होती थी, लोग पूजा किया करते थे। जो लोग जादू की क्रियाओ में विश्वास किया करते थे, वे इन लोगो का आवाहन करते थे—बलि, सम्बर, वैरोचन, अनेक नरको के अधिपति देव, नारद, देवल, सार्वणि, गालव और मनु आदि साधु, देवो तथा देवलोको, वैदिक पण्डितो, सिद्धो, तापसो, ब्रह्मा, ब्रह्मानी, पौलोमि, तन्तु कच्छा—एक असुर और उसी के वश के अन्य लोग। लोकधर्म मे अन्धविश्वासो का पर्याप्त मात्रा मे समावेश था। स्वर्ग और नरक मे लोगो का बहुत अधिक विश्वास था। अशोक ने लोकधर्म के इस रूढिगत स्वरूप का अन्त करके एक सरल एव उन्नत धर्म को लोगो के सामने रखने की चेष्टा की थी परन्तु इसमे उसे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई, इसका विवरण हमे प्राप्त नही। यह एक स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि बौद्ध ग्रंथो मे महात्मा बुद्ध स्थान स्थान पर लोकधर्म की निन्दा करते हुए दिखलाये गये हैं, क्योकि उसमे असख्य कुरीतियो और अन्धविश्वासो का प्राधान्य था। बौद्ध-ग्रंथों मे उस समय के लोकधर्म के प्रत्येक पक्ष का विस्तृत उल्लेख मिलता है और उसकी तीव्र शब्दो मे निन्दा की गई है जिससे लोग उससे पृथक रहे। परन्तु इन प्रयत्नो के उपरान्त भी लोकधर्म जारी रहा।

भाषा और साहित्य

जिस युग की सास्कृतिक और सामाजिक अवस्था का अब तक हमने अध्ययन किया है उसका महत्त्व इस बात मे भी है कि इस युग मे न केवल प्राकृत-जैसी लोक भाषाओ की बहुत अधिक उन्नति हुई, वरन इनमे साहित्य-सृजन का भी कार्य हुआ। लिपि का व्यापक रूप से प्रचार इस युग की एक प्रमुख सास्कृतिक देन है। "लिखने की प्रणाली का सर्वसाधारण मे प्रचार था, केवल साहित्यिक रचनाओ आदि के लिए नही, बल्कि सार्वजनिक उद्योग-धन्धो और नित्यप्रति के व्यवहारो के लिए भी। अशोक के अभिलेखो से पता चलता है जिन्हे हम ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ कहते हैं, उनका कितना अधिक प्रचार था और वे कितने पहले से व्यवहृत होती जा रही थी। ये लिपियाँ भारत की वर्तमान प्रचलित भाषाओ के लिए प्रयोग मे लाई जाने वाली संस्कृत और फारसी लिपियो की जननी हैं। अभिलेखो की भाषा मागधी प्राकृत है जिसमे स्थानीय प्रयोगो और व्यवहारो का पुट पाया जाता है। इससे एक बडा लाभ तो यह हुआ कि सर्वसाधारण उन्हे पढ और समझ सकते थे। इससे यह भी पता चलता है कि साक्षरता का कितना अधिक प्रचार था और वह केवल ब्राह्मणो तक ही सीमित नहीं थी। लिखने का प्रयोग पत्र-व्यवहारो मे लोग प्राय नियमित रूप से करते थे और लिखित पत्र आदि सुरक्षित रक्खे जाते थे।' इस युग के साहित्यिक विकास की एक प्रमुख विशेषता है, इहलोकपरक साहित्य की रचना। इसका यह तात्पर्य नही कि इस समय धार्मिक अथवा दार्शनिक ग्रंथ लिखे ही नही गये, वरन् हमारे इस कथन से अभिप्राय यह है कि पाणिनि के व्याकरण को छोडकर अन्य किसी लौकिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले ग्रंथ का प्रणयन इस युग के पहले नहीं हुआ था, जब कि इस युग म पहुँचकर काव्य, नाटक, आदि साहित्य शाखाओ का हम सृजन होते देखते हैं और अर्थशास्त्र की रचना से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक शास्त्रविद् ब्राह्मण न

राजनीति जैसे लौकिक और शुष्क विषय को संस्कृत छन्दों का विषय बनाया। काम सूत्र का रचना-काल भी कुछ विद्वान् मौर्य-युग के अन्तर्गत ही रखते हैं।

कात्यायन का पाणिनीय व्याकरण पर भाष्य इसी युग की रचना कही जाती है। बृहत्कथा के संस्कृत संस्करण; हरिषेण के जैन बृहत्कथा कोष और बौद्ध-ग्रंथ मन्जुश्री-मूलकल्प में नन्द, चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के एक ब्राह्मण मंत्री सुबन्धु का उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक जो टीका लिखी है उसमें उन्होंने सुबन्धु का कुछ विस्तार के साथ उल्लेख किया है, और उसको 'वासवदत्ता नाट्यधारा' नामक एक विचित्र नाटक का रचयिता बताया है। जैन बृहत्कथा कोष में एक अन्य मंत्री 'कवि' का उल्लेख मिलता है जिसकी चर्चा चाणक्य और सुबन्धु के साथ की गई है। कवि इस समय का प्रमुख साहित्यकार जान पड़ता है किन्तु उसकी रचनाओं का हमें कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। पतञ्जलि के महाभाष्य द्वारा इस युग की साहित्यिक समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है। महाभाष्य में वररुचि-कृत 'वररुच काव्य' का उल्लेख मिलता है। भोज के शृंगार प्रकाश में वसन्ततिलका वृत्त का एक आधा श्लोक उद्धृत किया गया है जिसे कात्यायन द्वारा प्रणीत बताया गया है। अन्य काव्यों का प्रणयन जिनका पतञ्जलि ने उल्लेख किया है, इसी समय हो चुका होगा—इस प्रकार ययाति, यवक्रत, प्रियंगु, सुमनोत्तरा, भीमरथ, वासवदत्ता और देवासुर एवं राक्षसोसुरह आदि कथाओं के आधार पर आख्यानों तथा आख्यायिकाओं की रचना हो चुकी थी।

धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण रचना-कार्य हुआ। इस समय जनता के धार्मिक जीवन में जो तीन प्रमुख धारायें थीं उनके अनुसार धार्मिक साहित्य की रचना हुई। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म तीनों के धार्मिक साहित्य का प्रचुर विकास हुआ। वैदिक धर्म के अन्तर्गत इस काल में अनेक गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और वेदांग-ग्रंथों का प्रणयन किया गया। बौद्ध साहित्य की दृष्टि से यह युग काफी महत्त्व रखता है। बौद्ध त्रिपिटकों की रचना का समय तृतीय बौद्ध-संगीति, जो सम्राट् अशोक के राजत्व-काल में हुई थी, के कुछ बाद बताया जाता है। इस संगीति के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अभिधम्मपिटक के कथावत्थु की रचना की। अन्य कई सूत्रों की रचना भी, कुछ विद्वानों के अनुसार, मौर्य-युग में ही हुई थी। जैन धर्म के प्रसिद्ध लेखकों—जम्बूस्वामी, प्रभव और स्वयम्भव—की रचनायें इसी युग में लिखी गईं। इस काल में जैन-लेखकों में शीर्ष-स्थान को अधिकृत करने वाले आचार्य भद्रबाहु द्वितीय चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे और जैन अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने मौर्य सम्राट् को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था। भद्रबाहु ने नियुक्ति, अर्थात् प्रारम्भिक धर्म ग्रंथों पर एक भाष्य का प्रणयन किया। जैनियों के धार्मिक साहित्य के सृजन और संकलन की दृष्टि से तो मौर्य-युग और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र, भगवती सूत्र, उपासक दशांग, प्रश्न व्याकरण आदि महत्त्वपूर्ण जैन-ग्रन्थों के अधिकांश भाग इसी समय लिख गये।

कला की उन्नति—हम मौर्य-युग की कला के क्षेत्र में उपलब्धियों और उसके महत्त्व पर इस अध्याय के प्रारम्भ में ही विचार कर चुके हैं। मौर्य-कला का प्रारम्भ अशोक के राजत्व-काल से होता है। "अशोक का यश केवल उसकी धर्म विजय पर ही नहीं, वरन् कला और वास्तु के क्षेत्रों में उसके निर्माण-कार्यों पर भी अवलम्बित है। अनुवृत्त ने काश्मीर में श्रीनगर तथा नेपाल में ललितपाटन नगर के निर्माण । उसे दिया है। फाह्यान के लेखानुसार उसने राजभवन और राजधानी के सम्बन्ध

भी प्रभूत निर्माण किये।" परन्तु अशोक के शासन-काल की कलात्मक उपलब्धियाँ केवल वास्तु के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसने अन्य प्रकार की कलाकृतियों का भी निर्माण कराया। श्री आर० सी० मजूमदार ने अशोक के शासन-काल की कलात्मक उपलब्धियों को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया है—

(१) स्तूप
(२) स्तम्भ
(३) गुफायें और
(४) निवास सम्बन्धी भवन

ईंटों या मजबूत पत्थरों से बने हुए ठोस गुम्बदों को स्तूप कहा जाता था। इन स्तूपों का निर्माण बौद्ध या जैन लोग किया करते थे। इनके निर्माण का उद्देश्य या तो किसी महत्त्वपूर्ण घटना अथवा पवित्र स्थान की स्मृति को सरक्षित रखना था अथवा बुद्ध, महावीर या अन्य धार्मिक सन्तों के अस्थ्यावशेषों की रक्षा करना था। स्तूपों का आकार छोटे से छोटा, १ फुट से भी कम ऊँचा और बड़ से बड़ा भी हो सकता था। अशोक ने विशाल स्तूपों का बहुत बड़ी सख्या में निर्माण कराया था। अनुश्रुति के अनुसार उसने ८४,००० स्तूप बनवाये थे। नौ सौ वर्षों बाद चीनी यात्री ह्वेनसाग ने अफगानिस्तान और भारत मे विभिन्न स्थानों पर इन स्तूपों को देखा था। दुर्भाग्य से अशोक द्वारा बनवाये हुए स्तूपों में से अब केवल कुछ ही अवशिष्ट रह गये हैं। साँची का विशाल स्तूप अशोक का ही बनवाया बताया जाता है, परन्तु जिस रूप में इसका अशोक ने निर्माण कराया था उसमें आगे चलकर काफी परिवर्तन हो गया। अशोक के समय में साँची स्तूप का निर्माण ईंटों के द्वारा हुआ था। एक शताब्दी बाद इसका आकार दुगुना कर दिया गया और इसको पत्थर से ढकवा दिया गया। अशोक द्वारा सारनाथ में निर्मित धर्मराजिका स्तूप का निचला भाग अब भी वर्तमान है।

अशोक के द्वारा निर्मित कलाकृतियो मे सबसे अधिक महत्त्व उसके स्तम्भो का है। इस समय यह सम्भव नहीं कि हम अशोक की राजाज्ञा पर बनाये गये स्तम्भो की बिल्कुल ठीक-ठीक सख्या बता सकें, परन्तु तीस से चालीस के बीच की सख्या अनुमानत ठीक जान पड़ती है। स्तम्भों का निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर मे किया गया है। स्तम्भ आधार की ओर तो मोटे हैं किन्तु शीर्ष की ओर पतले होते गये हैं। "इनके तीन भाग किये जा सकते हैं —(१) ध्वज या स्तम्भ का तना जो बिल्कुल सादा परन्तु अत्यन्त चिकना और चमकीला है, (२) अण्ड या गला जो गोला बना हुआ है और धार्मिक प्रतीकों—चक्र, पशु-पक्षी, लता-पुष्प आदि—से विभक्त और अलकृत है, (३) सबसे ऊपर स्तम्भ का शीर्ष है—जिसमें सिंह, हस्ति, अश्व, वृषभादि की मूर्तियों—एक या कई साथ बनी हैं।" स्तम्भ का निर्माण एक ही पत्थर से किया जाता था और पत्थर पर इतनी सुघराई तथा कुशलता के साथ पालिश किया गया है कि बहुत से दर्शकों ने स्तम्भों को धातु-निर्मित समझ लिया था। सारनाथ का स्तम्भ मौर्य-युग की कला का सवश्रेष्ठ उदाहरण है। इसके निर्माण-कौशल की प्रशसा सभी कला-समालोचकों ने मुक्त कण्ठ से की है। स्तम्भ पर पशुओ की जो आकृतियाँ खुदी हुई हैं उनकी सजीवता और सुन्दरता सचमुच सराहने योग्य है। स्मिथ साहब ने ठीक कहा है कि सारनाथ स्तम्भ के स्थापत्य की तुलना में प्राचीन काल की पशु-स्थापत्य कला का कोई दूसरा उदाहरण नही मिल सकता। सर जॉन मार्शल ने भी इस कला की बहुत अधिक प्रशसा की है। कुछ विषयों में स्तम्भों का निर्माण कला की पराकाष्ठा सूचित करता है। इनके द्वारा मौर्य-काल की सांस्कृतिक समृद्धि में काफी अभिवृद्धि होती है। इन स्तम्भों का

"निर्माण, स्थानान्तर और स्थापना मौर्य-युगीय शिल्प आचार्यों और शिला तक्षकों की बुद्धि एवं कुशलता का अद्‌भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं।' —(वी० ए० स्मिथ)।

अशोक के समय मे भिक्षुओ के निवासार्थ विहारो तथा दरीगृहो (Cave dwellings) का निर्माण कराया गया था। बारबरा की पहाड़ियो मे बहुत-सी गुफायें अवस्थित हैं जिनमे भिक्षु निवास करते थे। इन गुफाओ की दीवालें इतनी चमकीली हैं कि वे दर्पण के सदृश जान पडती हैं और निर्माणकर्ताओं के असीम अध्यवसाय एवं महती कला निपुणता का निदर्शन करती हैं। अशोक ने जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कई भवनो का निर्माण भी कराया था किन्तु वे इस समय नही मिलते। चीनी यात्री फाह्यान ने अशोक निर्मित एक भवन को देखा था जिसके निर्माण-कौशल को देखकर वह विस्मय-विमुग्ध हो गया था। उसने समझा कि ऐसा अद्‌भुत भवन अशोक ने दानवो द्वारा बनवाया होगा क्योंकि इसका निर्माण-कौशल मनुष्यो द्वारा सम्भव नहीं।

१४ | मौर्यो के बाद का भारत[1]

ब्राह्मण साम्राज्य

मौर्य साम्राज्य के अनन्तर भारत की दशा—मौर्य साम्राज्य का प्रखर सूर्य भारत के राजनीतिक गगन पर एक शताब्दी तक अपने पूर्ण प्रकाश के साथ चमकता रहा, परन्तु इसके उपरान्त उसे भी अस्ताचल की ओर गमन करना पड़ा। अशोक के उपरान्त ही विशाल साम्राज्य, जिसके लिए उसने चतुर्दश शिलालेख में लिखा था, "महालके हि विजित" अर्थात मेरा साम्राज्य सुविस्तृत है, अपने मध्याह्न सूर्य के उत्कर्ष से पतन की ओर अग्रसर होने लगा। सम्राट अशोक के उत्तराधिकारियों में से कोई भी अपने पूर्वज (चन्द्रगुप्त) की तरह पराक्रमी नहीं हुआ और न किसी में अशोक की सी शासन निपुणता ही थी। अशोक के इतने बड़े राज्य के लिए उस जैसे या उससे भी अधिक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी किन्तु दुर्भाग्य से उसके उत्तराधिकारी राजनीति की दृष्टि से अकर्मण्य प्रमाणित हुए। मौर्यों के अधीन जिस भारत ने एक प्रचण्ड राजनीतिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का अनुभव किया था, उसी भारत में अशोक की मृत्यु के अनन्तर शीघ्र ही विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो गई। इस बात में सन्देह नहीं कि अशोक के बाद भी मौर्यवंश के नरेश भारत पर राज्य करते रहे किन्तु अशोक मौर्य-वंश का अन्तिम महान् सम्राट था, क्योंकि उसके बाद कौन सिंहासनारूढ़ हुआ, हमें इस बात की ही ठीक-ठीक जानकारी नहीं होने पाती। इस विषय में विभिन्न साक्ष्यों से जो जानकारी मिलती है वह परस्पर एक दूसरे से इतनी भिन्न और संदिग्ध है कि हम यह सुनिश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उसके बाद मौर्य-वंश की राजगद्दी पर कौन बैठा। शनैः शनैः मौर्य-साम्राज्य के विभिन्न प्रान्त इससे पृथक होने लगे और केन्द्रीय शक्ति का प्रभाव कम हो जाने पर चारों ओर अराजकता तथा अव्यवस्था फैलने लगी। ज्यों ही पाटलिपुत्र का केन्द्रीय शासन शिथिल पड़ा, कई प्रान्तों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और अपनी-अपनी स्वाधीनता का दुन्दुभिनाद किया। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि अशोक के मरते ही उसके पुत्र जालौक ने अपने को काश्मीर का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और इसी प्रकार वीरसेन भी गान्धार प्रदेश का अधिकारी बन बैठा। दूर के प्रान्तों का यह हाल देखकर निकटवर्ती प्रदेशों ने भी उसी नीति का अनुसरण किया। स्वाधीनताप्रिय कलिंगवासियों ने जिनको अपने अधीन करने में अशोक को भयंकर नरसंहार करना पड़ा था, उसके मरते ही अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर ली। पड़ोस के महाराष्ट्र प्रदेश ने भी ऐसा ही किया और आन्ध्र भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में पीछे न रहा। मौर्य वंश का प्रभाव अस्ताचलगामी संक्षिप्त किरण सूर्य की भाँति दिनोदिन सीमित होता और सिकुड़ता गया। दक्षिण का प्रदेश न केवल साम्राज्य से पृथक् ही हो गया, अपितु उसने विशाल मौर्य-साम्राज्य के लघु अवशिष्ट भाग के राजनीतिक गौरव को चुनौती भी देना आरम्भ किया। ऐसी की विशृंखलित राजनीतिक स्थिति से लाभ

उठाने की इच्छा रखने वाले यवनो ने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा को पार किया और गान्धार (उत्तरी पश्चिमी सीमा), साकल (उत्तर-मध्य पजाब) तथा अन्य स्थानो पर अपने शक्तिशाली राज्यो की स्थापना की। मगध मे भी एक महती राजनीतिक उत्क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप एक नया राज्यवश सत्तारूढ हुआ। यह वश था शुगवश और इस क्रान्ति का नेता था पुष्यमित्र शुग।

पुष्यमित्र शुग ने अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ का वध करके राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। पुराणो मे इस राजनीतिक क्रान्ति का विवरण प्राप्त होता है।[1] बाणभट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'हर्षचरित मे लिखा है कि जिस समय बृहद्रथ अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था सेनानी (पुष्यमित्र) ने उसको तलवार के घाट उतार दिया।[2] पुष्यमित्र के विषय मे कुछ जानने के पहले हम शुगो की जाति के विषय मे अवश्य कुछ जान लेना चाहिए।

शुगो की जाति

शुगो की जाति के विषय म काफी मत विभिन्नता दिखलाई पडती है। 'दिव्याव दान' नामक बौद्ध ग्रथ पुष्यमित्र द्वारा मौर्य साम्राज्य के ध्वस किये जाने की बात तो कहता है परन्तु इस ग्रथ मे उसे मौर्यवश का ही बतलाया गया है। कुछ विद्वानो ने शुगो को ईरान का बतलाकर अभारतीय प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि चूकि ईरान मे मित्र (सूर्य) की बहुत पूजा की जाती थी और शुग वश के प्रत्येक नरेश के नाम म 'मित्र' अवश्य लगा हुआ है इससे यह वश ईरानी प्रतीत होता है। परन्तु यह मत सर्वसम्मत नही प्रतीत होता। केवल नाम के आधार पर शुगो को ईरानी प्रमाणित करने का हमे कोई औचित्य नही दिखलाई पडता। अधिकाश मत है कि ये किस गोत्र के हैं। महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक म अग्निमित्र को बैम्बिक वश और काश्यप गोत्र का बतलाया है। महर्षि पाणिनि ने शुगो को विख्यात भरद्वाज गोत्र का बतलाया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र' म शुगो को आचार्य कहा है गया। उपनिषदो मे भी शुगकुल का उल्लेख मिलता है। शुगकुल की एक पुत्री से उत्पन्न एक प्रसिद्ध विद्वान् का जिक्र आता है जिन्हें शौगीपुत्र कहा गया है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने स्पष्ट रूप से शुगो को ब्राह्मण कहा है। एक स्थान पर तो तारानाथ ने पुष्यमित्र को 'ब्राह्मण राजा' कह दिया है। इन सब साक्ष्यो के आधार पर शुगों का अभारतीय होना तो निराधार प्रमाणित हो ही जाता है, उनको ब्राह्मण जाति का सोचना कुछ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि बुद्धिजीवी ब्राह्मण ने, जिसका प्रमुख कर्तव्य तत्त्व-चिन्तन, शास्त्रो का अध्यापन और आत्मिक विकास करना था, अपने हाथ मे शस्त्र ग्रहण क्या किया। लेकिन पुष्यमित्र का अपने हाथो मे तलवार पकडना और एक राजा को सिंहासन च्युत करना उसके लिए कोई अज्ञातकुलशील बात नही थी। भारतीय साहित्य और इतिहास मे इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि आवश्यकता पडने पर ब्राह्मण ने शास्त्राध्ययन छोडकर शस्त्राभ्यास को अपनाया है। परशुराम, जिनको भगवान् का अवतार माना गया है एक परम पराक्रमी ब्राह्मण योद्धा थे। इसी प्रकार महाभारत मे द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण हमारे सम्मुख योद्धा

---

१ पुष्यमित्रस्तु सेनानी समुद्धृत्य बृहद्रथम

२ "प्रज्ञादुर्बल च बलदर्शनव्यपदेशार्दाशताशेष सैन्य सेनानीरनार्यो मौर्यम् एव पिपेष पुष्यमित्र स्वामिनम।"

और शस्त्राभ्यासी के ही रूप मे आते हैं शास्त्र-चिन्तक के रूप मे नहीं। देश और धर्म की रक्षा करने के लिए सिन्धु की निचली घाटी में ब्राह्मणो ने यवन आक्रमणकारी सिकन्दर का सामना किया था और विदेशी विजेता के विरुद्ध पडोस के क्षत्रिय राजाओं और उनके प्रजाजनो को प्रोत्साहित किया था। यहाँ पर जगत विजेता सिकन्दर को एक ऐसे समुदाय से लोहा लेना पडा था जो अपने राज्य की तुच्छ सीमाओ की रक्षा के लिए प्रयत्नशील न था वरन अपने धर्म की पवित्रता और अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं को म्लेच्छो से बचाना चाहता था। इसी उदाहरण को ध्यान मे रखकर सम्भवत पुष्यमित्र शुग ने अपने हाथ मे शस्त्र ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त उसके सम्मुख कुछ ही शताब्दियो पूर्व के ऐसे राजनीतिक विप्लव का उदाहरण था जिसका नियामक एक ब्राह्मण ही था। यह ब्राह्मण था, इतिहास प्रसिद्ध चाणक्य जिसने स्वय तो कदाचित शस्त्र नही ग्रहण किया परन्तु जिसकी बुद्धिमत्ता, कूटनीतिज्ञता ने नन्दो का उन्मूलन करने मे चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता की। चाणक्य के इस उदाहरण को ध्यान मे रखने पर हमे पुष्यमित्र के कार्य का औचित्य समझ मे आ जाता है।

पुष्यमित्र का साम्राज्य-निर्माण

बृहद्रथ की हत्या करने के उपरान्त पुष्यमित्र मगध राज्य का स्वामी तो बन गया परन्तु उसके राज्य की स्थिति अभी बडी डाँवाडोल थी। हम देख ही चुके हैं कि पडोस के राज्यो, कलिंग, आन्ध्र और महाराष्ट्र में अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी और मगध राज्य को वे चुनौती देने पर तुले हुए थे। मगध के हाथो से सीमान्त प्रान्त निकल जाने से इसकी शक्ति खोखली हो गई थी और पडोस के राज्यो की बढती हुई शक्ति इसके स्वामी के लिए एक अत्यन्त विकट समस्या थी। अतएव मगध पर अधिकार जमा लेने के बाद पुष्यमित्र ने सबसे पहले अपनी शक्ति को सुदृढ करने की ओर ध्यान दिया। प्राची कोसल, आकर वत्स और अवन्ति को जो अभी भी मगध के अधीन थे, पुष्यमित्र ने पुन सगठित किया और इन प्रान्तो पर अपनी सत्ता का दृढ सिक्का जमाने का पूरा प्रयत्न किया। अवन्ति का राज्य मगध से कुछ दूर पडता था और मौर्य साम्राज्य के बाद अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाने से शासन-व्यवस्था शिथिल तथा विशृंखलित हो गई थी जिससे पाटलिपुत्र से अवन्ति पर केन्द्रीय शक्ति का अधिकारपूर्ण रूप से जमा रखना दुस्साध्य प्रतीत हो रहा था, अतएव पुष्यमित्र ने आकर प्रान्त के मुख्य नगर विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। विदिशा मे उसने अपने पुत्र अग्निमित्र को राज्य प्रतिनिधि के रूप में रक्खा। अग्निमित्र के अवन्ति प्रान्त पर शासन सुदृढ कर लेने बाद पुष्यमित्र ने अपना ध्यान साम्राज्य विस्तार की ओर दिया। परन्तु देश की विकट राजनीतिक अवस्था के कारण वह सुदूर राज्यो को अपने अधिकार मे नही कर सका। विदर्भ राज्य के साथ उसका सघर्ष हुआ जिसमे उसके आतक का सिक्का अच्छी तरह से जम गया।

विदर्भ के साथ पुष्यमित्र की सफलता—पुष्यमित्र के पुत्र और विदर्भ राज्य के साथ जो सघर्ष हुआ उसका विवरण हमे महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' से प्राप्त होता है। नाटक मे इस सघर्ष की घटना का विवरण इस प्रकार से दिया गया है—दक्षिण मे विदर्भ राज्य था जो अग्निमित्र की राजधानी विदिशा के काफी निकट था। विदर्भ राज्य की स्थापना अभी कुछ ही दिनो पूर्व हुई थी और उसकी शक्ति सुदृढ नही होने पाई थी। विदर्भ का शासन यज्ञसेन के अधीन था जिसे कुछ विद्वान् अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ का सम्बन्धी मानते हैं। सम्भवत वह मौर्य सम्राट् की ओर से विदर्भ का शासन करने के लिए नियुक्त किया गया था, परन्तु,

बृहद्रथ की मृत्यु के बाद उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। कदाचित्, वह पुष्यमित्र शुंग या उसके पुत्र की अधीनता स्वीकार करने के लिए तनिक भी तयार नहीं था। नाटक के आधार पर डा० रायचौधरी[1] ने यह अनुमान लगाया है कि बृहद्रथ के के राजत्व-काल में ही राज्य में दो परस्पर विरोधी दल खड़े हो गये। एक दल था मौर्य-सेनापति पुष्यमित्र शुंग का और दूसरे दल का नेतृत्व कर रहा था मौर्य-सचिव। इन दोनों दलों में पारस्परिक वमनस्य अवश्य ही रहा होगा। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक नियुक्त किया गया था, यह हम ऊपर देख चुके हैं। विदर्भ का शासक इस समय यज्ञसेन था जो मौर्य सचिव का साला था। नाटक में यज्ञसेन को शुंगों का स्वाभाविक शत्रु कहा गया है जिससे दोनों के पारस्परिक वैमनस्य के विचार की पुष्टि होती है। यज्ञसेन का चचेरा भाई माधवसेन, अपने भाई का साथ न देकर अग्निमित्र का मित्र था। यज्ञसेन को बिना किसी प्रकार की सूचना दिये वह विदिशा में गुप्त रूप से अग्निमित्र से मिलने जा रहा था। किन्तु ऐसा करने के पूर्व ही उस यज्ञसेन के सीमारक्षकों ने बन्दी बना लिया। इस पर अग्निमित्र को बड़ा क्रोध आया और उसने यज्ञसेन के पास इस आशय का सन्देश भेजा कि माधवसेन को शीघ्र ही मुक्त किया जाय। किन्तु यज्ञसेन ने माधवसेन को इस शर्त पर मुक्त करने का वादा किया कि यज्ञसेन के साला, जो मौर्यों का सचिव था और जो इस समय शुंगों का बन्दी था, अविलम्ब कारागृह से छोड़ दिया जाय। इस बात को सुनकर अग्निमित्र के क्रोध का ठिकाना न रहा और उसने वीरसेन को तुरन्त विदर्भ पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। वीरसेन के आक्रमण का फल यह हुआ कि यज्ञसेन को आत्म-समर्पण कर देना पड़ा। माधवसेन कारागृह से मुक्त हो गया और विदर्भ राज्य को दोनों चचेरे भाइयों के बीच बाँट दिया गया। वरदा नदी उनके राज्यों की सीमा निर्धारित हुई। दोनों ही राज्यों ने शुंगों की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार दक्षिणापथ के कुछ भाग पर पुन मगध राज्य का अधिकार हो गया। सम्भवत पुष्यमित्र और उसके पुत्र मगध-राज्य की सीमा का विस्तार करने का प्रयत्न करते, परन्तु एक बहुत बड़ी विपत्ति ने उनका ध्यान उस ओर से बिल्कुल हटा दिया। यह विपत्ति थी—यवनों का आक्रमण।[2]

यवनों का आक्रमण—पुष्यमित्र शुंग के शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी यवनों का आक्रमण और उसका शुंगों द्वारा प्रबल प्रतिरोध। मौर्य वंश के पतोन्मुख के समय से ही देश की उत्तरी-पश्चिमी सीमा अरक्षित प्रतीत होने लगी। उसके निकट ही बाख्त्री यवनों के राज्य स्थापित हो चुके थे। ये यवन राज्य भारत पर अपनी गृद्ध दृष्टि सदैव लगाये रखते थे। पुष्यमित्र के समय में यवनों ने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का विवरण हमें पतञ्जलि के 'महाभाष्य' एवं 'गार्गी संहिता' के द्वारा मिलता है। तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र के राज्य-काल में भारत पर सबसे पहले विदेशी यवनों का आक्रमण हुआ था। पतञ्जलि, जो पुष्यमित्र के समकालीन थे,[3] इस आक्रमण का उल्लेख करते हैं।

---

१ इसी बात को कहने के लिए महाकवि कालिदास ने अपने कविजनोचित शब्दों का प्रयोग किया है। वे विदर्भ राज्य की नूतनता बतलाने के लिए 'अचिराधिष्ठित' विशेषण का प्रयोग करते हैं और उसकी उपमा "नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव' से देते हैं।

२ *Political History of Ancient India*

३ पतञ्जलि ने पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख करते हुए लिखा है, "इह पुष्यमित्रम् याजयाम", वर्तमान काल के प्रयोग से यह सिद्ध है कि यज्ञ अभीष्ट

'अनद्यतनभूत क्रिया' के उदाहरण देते समय उन्होंने इसका उल्लेख किया है जो घटना को लेखक के काल के पूर्व परन्तु उसकी स्मृति में सुरक्षित कर देता है। उदाहरण इस प्रकार है अरुणाद् यवन साकेत (ग्रीकों ने साकेत को घेरा) अरुणाद यवनो माध्यमिका (ग्रीकों ने माध्यमिका घेरी)। इस प्रमाण को 'गार्गी संहिता' भी यह कहकर पुष्ट करती है कि 'दुष्ट विक्रान्त यवनों' ने मथुरा, पंचाल देश (गंगा का द्वाब) और साकेत को जीत लिया और वे कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) जा पहुँचेंगे।[1] लेकिन यवनों को पाटलिपुत्र से पीछे लौट जाना पड़ा। प्रोफेसर राधा कुमुद मुकर्जी का विचार है कि यवनों का यह आक्रमण सम्भवत उस समय हुआ होगा जिस समय पुष्यमित्र मौर्यों का सेनापति रहा होगा, और यह असम्भाव्य नहीं है कि यवनों के विरुद्ध उसकी सफलताओं ने राज्यसिंहासन के लिए सफल उद्योग करने के लिए स्थिति, पद और शक्ति प्रदान की।[2] प्रोफेसर एन० एन० घोष की धारणा है कि पुष्यमित्र शुंग को दो यवन आक्रमणों का सामना करना पड़ा। पहले आक्रमण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरे आक्रमण का विवरण 'मालविकाग्निमित्रम्' से प्राप्त होता है। यह उस समय हुआ जब पुष्यमित्र निश्चय वृद्ध हो चला था, उसका पौत्र भी इतना बड़ा था कि उसके नायकत्व मे राजकीय सेनायें युद्ध के लिए भेजी जा सकती थी और जिसके विक्रम की नाटक मे खूब प्रशंसा की गई है। यह यवन-युद्ध जिसका सम्बन्ध पुष्यमित्र के अश्वमेध से है, निश्चित रूप से उसके शासन के अन्तिम भाग मे हुआ प्रतीत होता है। कालिदास ने अग्निमित्र के पुत्र कुमार वसुमित्र और एक यवन सरदार के संघर्ष का उल्लेख किया है। यह संघर्ष उस समय हुआ जब कि वसुमित्र यज्ञ के अश्व की रक्षा के लिए ससैन्य विचरण कर रहा था और यवन-सरदार ने घोड़ा बाँध लिया। यवनों ने वसुमित्र की सेना को सिंधु नदी के दक्षिणी तट पर रोका। घोर संग्राम के फलस्वरूप यवनों को बुरी तरह पराजित होना पड़ा और यज्ञ का अश्व आदर-सहित वापस लाया गया। यवनों के साथ पुष्यमित्र शुंग के पौत्र वसुमित्र का संघर्ष, कालिदास के कथनानुसार, सिंधु के दक्षिण तट पर हुआ। इस 'सिंधु' नदी की स्थिति के विषय मे विद्वानों मे परस्पर काफी मतभेद है। कुछ विद्वान इसे पंजाब की सिंधु नदी बतलाते हैं और कुछ के विचार में यह इसी नाम की मध्य भारत की एक नदी थी।[3]

हमें संस्कृत ग्रन्थों मे, जिनके द्वारा यवन-आक्रमण का विवरण प्राप्त होता है, यवन-सरदार के नाम का कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कुछ इतिहासकारों के

समाप्त नहीं हुआ था और महाभाष्यकार पतञ्जलि, जो यज्ञ के प्रधान पुरोहित थे, पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे।

१ "तत सचेकेतमाक्रम्य पाञ्चालान मथुरा तथा
यवना दुष्टविक्रान्तचे प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम।"

२ *Age of Imperial Unity*, p 96 —Chapter VI, *The Fall of the Magadhan Empire*

३ विंसेंट स्मिथ, *Early History of India*, 4th Edition, का विचार है कि कालिदास द्वारा उल्लिखित सिंधु "अब बुन्देलखण्ड और राजपूताना के समय की सीमा का निर्माण करती है।" परन्तु इस विषय पर काफी मत-वभिन्न्य है। इसके लिए देखिये *Indian Historical Quarterly*, p 214—और *J U P Hist Soci*—July, 1941, pages 9 20

अनुसार भारत पर यवन-आक्रमण का नेतृत्व डेमिट्रियस कर रहा था और बुद्ध के विचार मे डेमिट्रियस नही, वल्कि मीनेन्डर आक्रमणकारियो का नेता था। प्रोफेसर एन० एन० घोष की धारणा है कि "गार्गी संहिता मे वर्णित एवं पतञ्जलि-महाभाष्य मे उल्लिखित पाटलिपुत्र के यवन आक्रमण का अधिनायक सम्भवत डेमिट्रियस (Demetrius) था। दूसरे आक्रमण का नेतृत्व, प्रोफेसर घोष के मतानुसार मीनेन्डर ने किया था।

अश्वमेध यज्ञ—अपनी सफलताओ के उपलक्ष्य मे पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। उसके लिए यह यज्ञ करने के महत्त्वपूर्ण कारण थे। पहली बात तो यह कि विदर्भ राज्य के ऊपर उसकी प्रभुता का सिक्का अच्छी तरह जम चुका था और विदेशी आक्रमणकारियो को दो बार निराश होकर लौट जाना पड़ा, जिसमे शुंगवंश के गौरव मे अभिवृद्धि हुई। इसी वंश-गौरव की अभिवृद्धि को प्रदर्शित करने के लिए पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। अश्वमेध यज्ञ किये जाने की पुष्टि अभिलेखिक और साहित्यिक दोनो साक्ष्यो द्वारा होती है। इस विषय मे पतञ्जलि महाभाष्य का साक्ष्य हम देख चुके हैं—(देखिए पाद टिप्पणी २, पृष्ठ २९१)। अयोध्या के एक अभिलेख से यह पता चलता है कि पुष्यमित्र ने एक नही अपितु दो-दो अश्वमेध यज्ञ किये। उसमे कहा गया है—"कोसलाधिपेन द्विरश्वमेध याजिन सेनापते पुष्यमित्रस्य। अश्वमेध के विषय मे मालविकाग्निमित्रम्' का साक्ष्य इस प्रकार है, "यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिंगन के पश्चात् विदिशा स्थित कुमार अग्निमित्र को सूचित करता है कि मैंने राजसूय-यज्ञ की दीक्षा लेकर सकडों राजपुत्रो के साथ वसुमित्र की सरक्षता मे एक वर्ष मे लौट आने के नियम के अनुसार यज्ञ का अश्व बन्धन से मुक्त कर दिया। सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर विचरते हुए उस अश्व को यवनो ने पकड लिया। जिससे दोनो सेनाओ मे घोर युद्ध हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने शत्रुओ को परास्त कर मेरा उत्तम अश्व छुड़ा लिया। जैसे पौत्र अंशुमान के द्वारा वापस लाए हुए अश्व से राजा सगर ने, वैसे मैं भी अपने पौत्र द्वारा रक्षा किये हुए अश्व से यज्ञ करूँगा। अतएव तुम्हें यज्ञ-दर्शन के लिए वधू जन-समेत शीघ्र आना चाहिये।'[1]

पुष्यमित्र की राज्य-सीमायें—पुष्यमित्र का शासन-काल छत्तीस वर्षों (१८७ १५१ ई० पू०) तक रहा। उसका राज्य दक्षिण मे नर्मदा नदी तक फैला था। पञ्जाब का पश्चिमोत्तर भाग सम्भवत उसकी राज्य-सीमा के बाहर था। मगध का निकटवर्ती समस्त देश उसके राज्य मे सम्मिलित था। बिहार और आधुनिक उत्तर प्रदेश निश्चय ही उसके राज्य मे थे। बंगाल मे समुद्र तट तक उसका अधिकार था। आधुनिक बुन्देलखण्ड पर भी पुष्यमित्र शुंग का अधिकार था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। विदिशा मे भी उसने एक राजधानी का निर्माण किया था।

पुष्यमित्र शुंग और बौद्ध धर्म—कतिपय बौद्ध ग्रन्थो मे पुष्यमित्र शुंग के ऊपर यह आरोप लगाया गया है कि वह बौद्ध धर्म का प्रबल शत्रु था। 'दिव्यावदान' के लेखक का कथन है कि पुष्यमित्र ने यह घोषणा निकलवा दी थी कि जो मुझे एक श्रमण का सिर लाकर देगा उसे सौ दीनार दूंगा।[2] तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र धार्मिक प्रश्नो मे बडा असहिष्णु था। उसने बौद्धो पर भाँति भाँति के अत्याचार किये और उनके मठो तथा संघारामो को वह जलवा दिया करता

१ मालविकाग्निमित्रम्—पञ्चमोऽङ्क

२ "यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनार शतं दास्यामि।'

था। प्रोफेसर नगेन्द्रनाथ घोष इन बौद्ध-साक्ष्यो को यथार्थ मानते हैं और इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का, जिसके द्वारा पुष्यमित्र का मगध का सिंहासन प्राप्त हुआ, ध्यानपूर्वक पर्यवेक्षण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रसिद्ध ब्राह्मण सेनापति बौद्धों का प्रपीडक था। वे इस विचार को भी नही मानते कि भरहुत के स्तूप पर तोरणों एव सूचियो का निर्माण पुष्यमित्र के समय मे हुआ था। किन्तु उनके इस कथन को मानते हुए भी कि इन तोरणो का निर्माण पुष्यमित्र शुग के बहुत बाद हुआ, हम यह नही कह सकते कि पुष्यमित्र शुग ने बौद्धो पर अत्याचार किये। प्रोफेसर घोष ने अपने कथन को जिन साक्ष्यो पर आधारित किया है वे तर्कसम्मत और प्रत्ययोत्पादक नही प्रतीत होते। 'दिव्यावदान' तथा तारानाथ के ग्रन्थ में पुष्यमित्र की धार्मिक नीति के विषय मे जो कथाये मिलती हैं उनमे ग्रन्थकारो की निराधार और विचित्र कल्पना का इतनी बहुलता से समावेश है कि उन पर विश्वास नही कर सकते। घोष महोदय ने महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री के इस कथन को बिल्कुल ठीक स्वीकार कर लिया है कि मौर्यों के शासन-काल मे ब्राह्मणो को कुछ यन्त्रणापूर्ण असुविधायें थी जिनके कारण उनके असन्तोष के आधारयुक्त कारण थे, और पुष्यमित्र शुग असन्तुष्ट ब्राह्मण का प्रतिनिधि था। अतएव अपने वर्ग के असन्तोष का प्रतिकार करने के लिए उसने बौद्धो को प्रपीडित किया। परन्तु प० हरप्रसाद शास्त्री के प्रत्येक आरोप को डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास' मे सबल और प्रमाणयुक्त तर्कों द्वारा अच्छी तरह से खण्डन कर दिया है। रायचौधरी महोदय पुष्यमित्र को बौद्धो का प्रपीडक नही मानते। हमारी दृष्टि मे बौद्ध अनुश्रुतियो की यह साक्ष्य न केवल निराधार ही है, अपितु ईर्ष्या और असन्तोष की भावना द्वारा प्रणोदित है। पुष्यमित्र ने बौद्ध सम्राट् बृहद्रथ की हत्या करके राजसिंहासन हस्तगत कर लिया था जिससे बौद्धो को अवश्य ठेस पहुँची होगी और वे रुष्ट भी हुए होंगे। इसके अतिरिक्त उसने चिरकाल से लुप्त अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया जिससे बौद्ध श्रमण अवश्य विक्षुब्ध हुए होंगे। बौद्ध-ग्रन्थो में पुष्यमित्र के लिए जिन शब्दो का प्रयोग किया है वे स्पष्टतया ग्रन्थकारो के रोष और असन्तोष को व्यक्त करते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर हम यह नही कह सकते कि पुष्यमित्र शुग का दृष्टिकोण बौद्ध-धर्म के प्रति शत्रुतापूर्ण था। हाँ, एक बात हम सोच सकते हैं वह यह कि पुष्यमित्र ने कुछ बौद्धो को तलवार के घाट उतारा और कुछ बौद्ध-सघो को विध्वस कराया, लेकिन इसलिए नही कि उसके हृदय में बौद्धो या बौद्ध धर्म के प्रति कोई घृणा अथवा ईर्ष्या थी बल्कि उसके कुछ बौद्ध प्रजा-जन और बौद्ध-सघ अपने धार्मिक कर्तव्यो को भुला कर राजनीतिक कुचक्रो मे पड गये थे। वे पुष्यमित्र की ब्राह्मणवादिनी, वैदिक नीति मे असन्तुष्ट होकर उसके विरुद्ध यवनो के साथ मिलकर षडयन्त्र रच रहे थे। यह बहुत सम्भव है कि पुष्यमित्र शुग उनके इस राष्ट्र विरोधी कार्य से काफी रुष्ट हुआ हो और उसके अपराधियो को, जो दुर्भाग्य से बौद्ध ही रहे हों, कठोर दण्ड दिया जिससे विद्रोहियो के साथी उनके उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करें और देश व सस्कृति के प्रति विध्वसक कार्यों से विलग रहें। हमारा यह विचार है कि बौद्ध लोग इस समय देश के कुछ भागो म पचमागियो का काय कर रहे थे सर्वथा निराधार नही है। इस बात को तो 'दिव्यावदान' भी मानता है कि पुष्यमित्र ने "यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याह दीनारशत दास्यामि" की घोषणा स्यालकोट म की थी। यह घोषणा पाटलिपुत्र, विदिशा अयोध्या अथवा अन्य किसी नगर मे नही, अपितु सीमा के एक नगर मे की गई जहाँ पर यूनानी प्रभाव विद्यमान था इस बात को सिद्ध करती है, कि बौद्धो को दबाने मे पुष्यमित्र शुग का एक राजनीतिक उद्देश्य

था। ऐसा करने मे वह धार्मिक पक्षपात की संकीर्ण भावना से उत्साहित नहीं था। हमे इस विषय मे W W Tarn के प्रसिद्ध ग्रन्थ The Greeks Bactria and India स भी कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। क्या कारण था कि यूनानियो को भारत की पश्चिमोत्तर सीमा मे सरलता से सफलता मिल सकी जब कि वे आगे बढ़ने मे असमर्थ रहे ? इसके उत्तर मे टार्न महोदय ने दो कारणो का अनुमान किया है। पहला कारण तो यह था कि पश्चिमोत्तर सीमा की जनता मे विदेशी तत्त्व प्रभूत परिमाण म विद्यमान थे और दूसरे यह कि वहाँ बौद्ध लोग यूनानियो की सहायता करते थे। इस दूसरे कारण से पुष्यमित्र का अपने राज्य की सुरक्षा और देशहित की दृष्टि से रुष्ट होना स्वाभाविक ही नही आवश्यक भी था। सुविख्यात अंग्रेज विद्वान श्री ई० बी० हेवेल ने इस विषय म जो कुछ लिखा है हमे वही सबसे अधिक तर्कसम्मत और युक्ति-सगत जंचता है। उन्होने लिखा है कि पुष्यमित्र शुग ने बौद्धो का दमन इसलिए किया कि उनके सघ राजनीतिक शक्ति के केन्द्र बन गये थ, इसलिए नही कि वे एक ऐसे धर्म को मानते थे जिसम वह विश्वास नही करता था।[१]

पुष्यमित्र के कार्यों की विवेचना—दुर्भाग्य स पुष्यमित्र हमारे सम्मुख एक राज-हत्ता और राज्यहर्त्ता के रूप मे आता है। स्वय ब्राह्मण होते हुए भी बाणभट्ट ने इस ब्राह्मण सेनानी को 'अनार्य' कहा है। किन्तु एक तटस्थ पर्यवेक्षक की दृष्टि म राजा का घातक होते हुए भी वह 'अनार्य' नही हो सकता। उसने एक ऐसे समय मे मौर्य राजा बृहद्रथ की हत्या की जिस समय न केवल देश मे विघटनात्मक प्रवृत्ति का बोलबाला था वरन् विदेशी आक्रमणकारियो के प्रबल धक्को से पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के द्वार अनावृत्त हो गये थे और वे देश के आन्तरिक भाग मे घुसने लगे थे। 'अरुणद् यवन साकेतम्' और 'अरुणाद्यवन माध्यमिकाम' के द्वारा उस युग की भीषण आपत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। आशका यह थी कि यदि इस समय इन यवनो को एक प्रबल अवरोध न प्राप्त होता तो वे थोडे ही समय मे देश के बहुत बड भाग मे फल जाते। उस समय देश की क्या अवस्था होती यह तो हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं किन्तु हम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि यवनो का सारे देश मे फैल जाना, देश की प्राचीन सस्कृति के लिए हितकर कभी नही हो सकता था। विदेशी आक्रमणकारियो को, जिनको उस समय की जनता 'म्लेच्छ' समझती थी, पीछे ढकेल देने वाला व्यक्ति 'अनार्य' नही कहा जा सकता, यद्यपि वह एक राजहन्ता है। हमारे पास इस बात के सबल प्रमाण तो नही हैं कि पुष्यमित्र शुग ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए राज्य हस्तगत नहीं किया परन्तु हमारा ऐसा सोचना बिल्कुल निराधार नही समझा जा सकता। उसने बृहद्रथ को मारकर जिस ताज को अपने सिर पर धारण किया वह सोने का नही कॉंटो का ताज था, यह हम देख चुके हैं। अपने छत्तीस वर्षों के शासन-काल मे वह आपत्तियो से जूझता ही रहा विलास और भोग से वह दूर रहा। यदि राजा हो जाने पर वह भोग विलास मे लिप्त हो जाता तो देश की रक्षा असम्भव हो जाती और उसकी धार्मिक नीति की कटु आलो-चना करने वाले बौद्ध-ग्रन्थ, जिनके प्रणेताओ न उसके लिए कुछ अभद्र शब्दो का प्रयोग

१ "Whatever there may be in the stories of the persecution of Buddhism by Pushyamitra Buddhist chroniclers allege that he burnt their monasteries and killed many of the monks—it is certain that it was not against Buddhism as a religion but the Sangha as a political power, that such violent means of suppression were directed'—*Aryan Rule in India*, p 123

किया है, उसकी विलासिता और अकर्मण्यता का अतिरञ्जनपूर्ण वर्णन करते। … हस्तगत करने पर भी इस वीर और निस्पृह ब्राह्मण ने कभी सम्राट् की उपाधि नहीं धारण की। वह मौर्य-सेना का सेनापति था और सदैव अपने को 'सेनानी' ही कहता रहा। अयोध्या का अभिलेख गर्व से कहता है कि उसने दो बार अश्वमेध यज्ञ किये परन्तु उसके लिए उस अभिलेख में भी 'सेनापति' विशेषण ही प्रयुक्त किया गया है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में भी पुष्यमित्र शुंग को 'सेनापति' ही कहा गया है जब कि उसके पुत्र अग्निमित्र के लिए 'कुमार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक विशाल भूभाग का एकच्छत्र स्वामी होने पर भी अपने लिए किसी विरुद या पदवी का प्रयोग न करना पुष्यमित्र शुंग की निःस्वार्थ देशभक्ति को सूचित करता है जब कि हम देखते हैं कि अन्य नरेशों को आकर्षक विशेषणों और बड़े विरुदों में विशेष अनुराग था। जिस भाग पर उसने अपना अधिकार स्थापित किया, उसे उसने पौरुष एवं सम्भवतः से शान्ति तथा सुव्यवस्था प्रदान की। उसने देश में संस्कृति और कला को प्रश्रय प्रदान करने के लिए एक अनुकूल वातावरण की सृष्टि की। ब्राह्मण धर्म का वह प्रबल परिपोषक था और 'अश्वमेध' यज्ञ का अनुष्ठान करके उसने इस धर्म के प्रति अपना अनन्य अनुराग को अभिव्यक्त भी किया। परन्तु उसकी ब्राह्मण धर्म में दृढ़ आस्था थी, केवल इस अनुमान और बौद्ध-अनुश्रुतियों के आधार पर हम उसे संकीर्ण दृष्टिकोणवाला नहीं कह सकते। इस विचार के औचित्यानौचित्य का विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं। उसने कोई महती सैनिक विजय नहीं की इसलिए वह एक महान विजेता नहीं कहलाया जा सकता परन्तु अपनी संकटापन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उसने जो कुछ किया, उसके लिए एक निष्पक्ष इतिहासकार उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। एक अन्य बात के लिए भी हमें पुष्यमित्र शुंग की प्रशंसा करनी पड़ती है। उसने विदर्भ राज्य के साथ जो व्यवहार किया उसमें उसकी कूटनीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। यज्ञसेन की पराजय के बाद विदर्भ का राज्य उसके अधीन हो चुका था और यदि वह चाहता तो उसे अपने राज्य में मिला लिया होता किन्तु उसने विदर्भ को दो भागों में विभक्त कर यज्ञसेन एवं माधवसेन को दे दिया और उन पर केवल अपनी संरक्षता ही रक्खी। इस नीति का अवलम्बन करके उसने समुद्रगुप्त को "गृहीत प्रतियुक्त" वाली नीति सिखलाई और अपने को, महाकवि कालिदास के शब्दों में 'धर्मविजयी' प्रमाणित किया। अन्त में, पुष्यमित्र शुंग के विषय में हमें स्वर्गीय डा० काशी प्रसाद जायसवाल के वे वाक्य स्मरण रखने चाहिए जिनमें उन्होंने उसकी तुलना ओलिवर क्रॉमवेल से की है।

पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी

पुष्यमित्र शुंग ने ३६ वर्षों तक राज्य किया। उसका शासन-काल लगभग १४८ ई० पू० तक रहा। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर आसीन हुआ। यही अग्निमित्र महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' का नायक है। यह हम देख चुके हैं कि यह विदिशा का शासक रह चुका था जिससे इसने राज्य संचालन में अनुभव प्राप्त कर लिया था। इसके शासन-काल में कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटित हुई। उत्तरी पञ्चाल (रुहेलखण्ड) में कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर अग्निमित्र का नाम उत्कीर्ण है परन्तु यह सब अभी संदिग्ध ही है कि यह अग्निमित्र पुष्यमित्र शुंग का पुत्र ही है अथवा उस प्रदेश के किसी स्थानीय शासक का नाम है। अग्निमित्र शुंग के पश्चात उसका भाई सुजेष्ठ मगध राज्य का अधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में भी कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई। सुजेष्ठ के बाद

अग्निमित्र का वीर पुत्र वसुमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। इसने ही सिंधु नदी के दक्षिणी तट पर यवनों की सेना को पराजित किया था। 'हर्षचरित' के लेखक बाणभट्ट के अनुसार वसुमित्र नाट्यकला में बड़ा आसक्त रहता था और मित्रदेव नामक एक व्यक्ति ने अभिनेताओं के मध्य छिपकर, इसका शीश काट लिया।[1] वसुमित्र के उपरान्त ओद्रक राजा हुआ। इसका उल्लेख सम्भवत कौशाम्बी के निकट पभोसा के शिलालेख में हुआ है। शुंग वंश के नवें राजा भागवत अथवा भागभद्र के शासन काल में तक्षशिला के यवन शासक अन्तलिकित (Antialkidas) ने उसकी राजसभा में दियां (Dion) के पुत्र हेलिओदोर (Heliodorus) को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि इस समय भी शुंग वंश की शक्ति कम नहीं होने पाई थी क्योंकि यवन राजा अन्तलिकित शुंग नरेश भागवत के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सचेष्ट था। हेलिओदोर ने अपने को भागवत धर्मावलम्बी बताया है। विदिशा में उसने वासुदेव के आराधनार्थ गरुडध्वज स्थापित किया था। शुंगवंश का अन्तिम राजा देवभूति था। 'विष्णु पुराण' में लिखा है कि उसके मन्त्री वसुदेव कण्व ने उसका वध कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा।[2] इस बात की पुष्टि 'हर्षचरित' के लेखक बाणभट्ट ने भी की है।[3] इस प्रकार मगध का राज्य शुंगों के हाथ से निकलकर कण्व वंश के हाथ में चला गया।

शुंगकालीन संस्कृति और कला

शुंगों के शासन-काल में ब्राह्मण धर्म की बहुत अधिक उन्नति हुई। कला और संस्कृति का भी पर्याप्त विकास हुआ। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में शुंगवंश का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। शुंगकालीन संस्कृति गुप्तकालीन भारतीय संस्कृति की एक शैशवावस्था थी। 'पुष्यमित्र और उसके उत्तराधिकारियों ने अशोक के पूर्ववर्ती मगध की परम्परा को बढ़ाया। धर्म विजय की अभिप्राप्ति का साधन युद्ध में घृणा नहीं अपितु सैन्यसंगठन का निर्माण समझा गया। राजनीति का रूप यथार्थ हो गया। शुंगों ने उत्तर भारत के एक विशाल भूभाग पर अपना अधिकार जमाया, यवन आक्रमणकारियों को पराजित किया और विदेशी राजाओं का सम्मान प्राप्त किया। उन्होंने कला, साहित्य और वस्तु के पुनरावर्तन को पोषित किया। मध्यदेश में बुद्धिजीवियों तथा बुद्धिमानों की दृष्टि में सन्यास-दृष्टिकोण का आकर्षण नष्ट हो गया। धर्म की शक्ति सुदृढ़ की गई, स्मृति न्याय की सत्ता को पुनः पूरी तरह से स्थापित किया गया। सामूहिक उत्साह की नयी लहर ने बौद्ध धर्म के प्रति संघर्ष के दृष्टिकोण, एक अधिक समृद्ध तथा पूर्णतर जीवन की खोज में, युद्धदेवता कार्तिकेय के सम्प्रदाय में, भागवत-सम्प्रदाय के पुनरुत्थान में तथा हिन्दू देवमण्डल में वासुदेव कृष्ण की प्रधानता में अभिव्यक्ति प्राप्त की।'[4] जैसा कि पहले हम देख चुके हैं, पुष्यमित्र शुंग ने

---

१ प्रतिवयितलास्यचशलूषमध्यास्य मूर्द्ध निमसितलतया मृणालमिव प्रलुनात ग्निमित्रात्मजस्य सुमित्रस्य मित्रदेव। हर्षचरितम् षष्ठम उच्छवास।

२ देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यवामात्य कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति।

३ अतिस्त्रीसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवोदेवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत।

४ Shri K. M. Munshi, in Foreword to *The Age of Imperial Unity*

दो बार यज्ञ करके सनातन धर्म की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठापित किया। शुंगवंश के शासन-काल में ही प्रसिद्ध पुस्तक 'मनुस्मृति' या मानवधर्मशास्त्र की रचना हुई। इस पुस्तक में हम ब्राह्मण-आदर्शों को समाज में पुनः पूर्ण रूप से प्रचलित करने का प्रयास सुस्पष्ट देखते हैं। गार्हस्थ्य जीवन का महत्त्व पिछले युगों में, बौद्ध धर्म की धर्म की प्रधानता के कारण कुछ कम हो गया था, परन्तु इस युग में मनुस्मृतिकार ने इसके महत्त्व को स्पष्ट किया। हिन्दू समाज में जाति प्रथा के बंधन काफी कठोर कर दिये गये और स्त्रियों का स्थान भी पहले की अपेक्षा निम्नतर हो गया, यद्यपि मनु महाराज ने यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः इत्यादि शब्दों द्वारा स्त्री-जीवन का महत्त्व समझाया। 'मनुस्मृति' में आदि से अन्त तक इसी बात का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन वैदिक धर्म समाज में प्रचलित हो। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि 'मनुस्मृति' तत्कालीन स्थिति का उतना निदर्शन नहीं कराती जितना कि यह समाज के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करती है। हम यह नहीं कह सकते कि इस ग्रंथ में सामाजिक अथवा धार्मिक जीवन के जिन नियमों का उल्लेख है वे सब इस समय समाज में प्रचलित थे। 'मनुस्मृति' के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस समय के हिन्दू धर्म में संकीर्णता और कट्टरता प्रवेश कर चुकी थी किन्तु आभिलेखिक साक्ष्य से जो सूचना प्राप्त होती है यह इसके विपरीत है। बेसनगर के स्तम्भ लेख से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यूनानी भी इस समय हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिये जाते थे। "इससे यह भी सिद्ध होता है कि तब का हिन्दू धर्म आज की भाँति संकुचित न था और इसकी छाया में विदेशी भी साँस ले सकते थे।" यद्यपि वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए पुष्यमित्र ने काफी प्रयत्न किया तथापि बौद्धधर्म का भी इस समय प्रचार था। यदि हम भरहुत स्तूप के 'सुगनम् रजे' को पुष्यमित्र के काल का न भी मानें तो भी हमें इतना तो कम से कम अवश्य मानना पड़ेगा कि उसके उत्तराधिकारियों की बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णु नीति न थी। इसके अतिरिक्त भागवत धर्म का प्रचार और विकास इस युग के धार्मिक जीवन की विशेषता थी। विदिशा तथा घोसुण्डी के शिलालेखों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस समय जनता में भागवत धर्म का खूब प्रचार था।

साहित्य के क्षेत्र में हम देख ही चुके हैं कि महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे जिन्होंने पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' पर एक महाभाष्य लिखा। मनुस्मृति की रचना प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० बूहलर के मतानुसार, २०० ई० पू० एवं २०० ई० के मध्य किसी समय हुई होगी। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि शुंगवंश के प्रारम्भिक युग में ही इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। पुष्यमित्र शुंग और महाराज मनु के ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने के प्रयत्नों में दृष्टिकोण की एक गहरी समानता है। पतञ्जलि ने पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक समृद्धि पर जो प्रकाश डाला है, उससे यह कल्पना करना अयुक्ति संगत प्रतीत नहीं होता कि शुंगवंश के शासन-काल में भी साहित्य-सृजन की परम्परा जारी रही होगी। परन्तु हमें ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं जिनका रचना-काल हम सुनिश्चित रूप से शुंगवंश के शासन-काल के अन्तर्गत निर्धारित कर सकें। इस काल में सम्भवतः अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों का भी प्रादुर्भाव हुआ था जिनके नाम आज काल के गर्भ में खो गये हैं।

कला की उन्नति—शुंग-काल में कला की भी काफी अधिक उन्नति हुई। इस समय की कला की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसके द्वारा अधिकांश जनता के मानस, सांस्कृतिक आदर्श तथा उसकी परम्परा का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। इस बात में

यह मौर्य-युग से नितान्त भिन्न है।[1] शुंग-काल की एक दूसरी विशेषता है कि यह अपने समय के जन-जीवन का चित्र बड़े ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। भरहुत स्तूप में दो हजार वर्षों पूर्व के भारत के दैनिक जीवन का सजीव चित्रण है। लोगों के घर, देवताओं की मूर्तियाँ, साधुओं के आश्रम तथा साथ ही साथ गाड़ियाँ, रथ, नौकाएँ, वेशभूषा, शस्त्र तथा आभूषण जिनका प्रयोग साधारण रूप से किया जाता था, ये सभी वस्तुयें नितान्त यथार्थवादी और स्पष्ट रूप में प्रदर्शित की गई हैं। ये स्तूप-स्थापत्य धार्मिक भावनाओं और विश्वासों को, वेशभूषा, परिधान तथा शिष्टाचार-सम्बन्धी व्यवहारों को सूचित करते हैं और बड़ी ही सादगी तथा प्राणवत्ता के साथ बनाये गये हैं। हम भारत के जनसाधारण के मानस और आदतों के सम्बन्ध में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं और जीवन के आनन्द तथा सुखों की भावना उन सब को परिव्याप्त किए हुए प्रतीत होती है। प्राचीन भारत, अपनी स्वस्थ आशावादिता तथा जीवन के प्रति सशक्त विश्वास के साथ, इन पाषाणों के द्वारा एक ऐसे स्वर में बोलता हुआ प्रतीत होता है जो कुछ उन प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के अन्धकारपूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण से एक तीव्र परन्तु मधुर विरोध प्रस्तुत करता है, जो इनको दोहराते हुए कभी थकते नहीं।[1] इन स्थापत्य चित्रों के उत्तकन का उद्देश्य जनता को महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से परिचित कराना था, परन्तु चित्रों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह उद्देश्य गौण हो गया और कलाकार जीवन का चित्रण करने में इतना संलग्न हो गया है कि उसे जनता के नैतिक उन्नयन का कोई विशेष ध्यान नहीं है। प्रोफेसर कुमारस्वामी ने ठीक ही कहा है कि इन चित्रों का प्रधान केन्द्र बिन्दु न तो आध्यात्मिक है और न आचारवादी, बल्कि सम्पूर्णतया मानव जीवन से सम्बन्धित है।[2] भरहुत स्तूप के तोरण-द्वारों पर पशुओं एवं वक्षलताओं के जो चित्र खुदे हैं उनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनको उत्कीर्ण करने वाले बौद्ध-कलाकारों को केवल मानव-जीवन से ही अनुराग न था वरन् उनके हृदय में सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के लिए स्नेह की भावना विद्यमान थी। प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम इन चित्रों की विशेषता है। इस दृष्टि से भरहुत के

१ "The art of the time of the Sungas and Kanvas, which immediately follows that of the Mauryas, is clearly a negation of the Mauryan attitude Indeed the base reliefs on the railings of Bharhut, Bodh Gaya and Sanchi or on the friezes of the Khandagiri-Udayagiri (Bhuvanesvara) caves that, chronologically speaking, follow closely on the art of the Mauryan court and from the point of view of subject matter, are predominantly Buddhist, reflect more of the mind, tradition, and culture ideology of the larger section of the people than Mauryan art was capable of doing Sunga Kanua art formally and spiritually is opposed to all that Mauryan art stands for, and is different in motive and direction technique and significance ---Dr Nihar Ranjan Ray *Age of Imperial Unity* --Chapter XX Art, p 510

२ "The main interest is neither spiritual nor ethical, but altogether directed to human life uxury and pleasure are represented interrupted only by death and these are nothing but facts endorsed by inherently sensual quality of the plastic language --R K Coomarswamy, *India and Indonesian Art*, p, 27 (1927)

चित्र भारतीय संस्कृति के सर्वभूतानुराग एवं अखिल सृष्टि के साथ अनुराग स्थापित करने वाले सिद्धान्त को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त की परिपुष्टि चाहते हो तो हमें संस्कृत और पाली के साहित्य-ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए जिनमें जीव-प्रेम और प्रकृति प्रेम की भावनायें बडी ही सहृदयता और सजीवता से साथ अभिव्यक्त की गई हैं। साँची के "असाधारण द्वार-तोरण" जिनका निर्माण डॉ० फूशे के मतानुसार 'विदिशा के गजदन्त शिल्पी ने ही किया था, इस दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। डॉ० नीहार रजन रे के शब्दो में "A rich world flora and fauna finds a feeling and naturalistic expression at the hands of Sanchi artists, the elephants, deer and antelopes, the lotus creepers, pipal and the host of other trees and plants which lend their characteristic form and colour and charm to Indian art are portrayed for the first time here and in certain panels of the Rani Gumpha near Bhuvaneswara"

डॉ० नीहार रजन के मतानुसार भरहुत, बोधगया और साँची की कलाओ में पश्चिमी एशिया के कुछ रूपो तथा कतिपय कला चेष्टाओ का प्रयोग किया गया है परन्तु इनकी सुन्दरता को देश की निजी कला परम्परा के साथ ऐसा मिलाया गया है कि इनका विदेशी रूप लुप्त हुआ प्रतीत होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शुंग-कण्व-वंश की कला भारत की राष्ट्रीय कला का सूत्रपात करती है जिसका पूर्ण विकास आगे चलकर गुप्त-काल में हुआ जब कि भारत कला के सम्बन्ध में विदेशी प्रभावो से विमुक्त हो चुका था और वह समस्त एशिया का गुरु था।

कण्व का शासन-काल (लगभग ७५-३० ई० पू०)

शुंगवंश के पतन के सम्बन्ध हम देख चुके हैं कि किस प्रकार राज सत्ता अन्तिम शुंगनरेश देवभूति के हाथ से निकलकर कण्व वंश के संस्थापक वसुदेव के हाथ में चली गई। शुंग वंश के शासन-काल का अन्त ७२ ई० पू० के लगभग हुआ और इसी समय से कण्व वंश का शासन आरम्भ होता है। कण्व-वंश भी ब्राह्मण था। वसुदेव ने देवभूति की षड्यन्त्र द्वारा हत्या करा के ही राज्य हस्तगत किया था, यह हम पढ चुके हैं। इस सम्बन्ध में 'विष्णुपुराण' तथा 'हर्षचरित' के विवरणों का भी हम अध्ययन कर चुके हैं। कण्व वंश को काण्वायन भी कहा जाता था। सम्भवतः यह नाम गोत्र के आधार पर पडा था। इस वंश में चार नरेश हुए। इनके नाम वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मण, जिन्होंने क्रमश ९, १४, १२ और १० वर्ष तक शासन किया। यद्यपि पुराणो में, भविष्यवाणी की प्रणाली द्वारा, यह कहा गया है कि वे पडोस के राजाओ को अपने अधीन रक्खेंगे और धर्मानुसार राज्य करेंगे तथापि कण्व-नरेशो के इतिहास के सम्बन्ध में हमें कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। कण्व-वंश का अन्त २८ ई० पू० आन्ध्रो अथवा आन्ध्रभृत्यो द्वारा हुआ।

'वायुपुराण के एक कथन द्वारा कि "आन्ध्र नरेश सिमुक अथवा सिंधुक ने सुशर्मा काण्वायन एवं शुंगो की शेष शक्ति नष्ट कर वसुधा का राज्य प्राप्त किया",[1] शुंगो और कण्वो के कालक्रम में कुछ भ्रम उत्पन्न हो जाता है। स्वर्गीय रामकृष्ण देवदत्त भण्डारकर ने इस कथन का यह अर्थ निकाला कि 'जब शुंग के राजकुमार दुर्बल हो गये तो कण्वो ने सम्पूर्ण शक्ति उनसे छीन ली और आधुनिक

१ काण्वायनस्ततो भृत्य सुशर्माणं प्रसह्यतम। शुंगानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा। सिन्धुको ह्यान्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।

ग के पेशवाओ की भाँति, अपने स्वामियो के वश का बिना उच्छेदन किये ही, न्तु उनको केवल नामधारी सम्राटो की स्थिति मे बनाकर, शासन किया।" श्री ण्डारकर जी अपने इस विचार के अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पुराणो मे ुगो के शासन-काल का ११२ वर्षों का जो समय दिया गया है उसमे कण्वो का ४५ र्षो का शासन-काल भी सम्मिलित है। किन्तु भण्डारकर महोदय के इस विचार का ाय विद्वानो ने समर्थन नही किया है। यह पुराणो के इस स्पष्ट कथन का कि दशम ुग-नरेश को कण्व-वश के सस्थापक ने मार डाला, विरोध करता है। पुराण के कथन ा कदाचित यह अभिप्राय है कि देवभूति की मृत्यु के और शुग वश के नाश के पश्चात ी इस वश के कुछ लोग कही पर शासन करते रहे, जैसे कि विदिशा मे। वास्तव मे ासको को नाममात्र के लिए राजा की उपाधि धारण करने दिया। आन्ध्र वश ने ण्वो के साथ-साथ उनके वश की राजसत्ता को भी समाप्त कर दिया। अतएव हम कह सकते हैं कि चार कण्व राजाओ ने ७५ ई० पू० से ले कर ३० ई० पू० तक राज्य किया।[1]

आन्ध्र सातवाहन वश

आन्ध्र जाति का प्राचीन इतिहास—पुराणो मे सातवाहन वश के राजाओ के लिए 'आन्ध्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, जब कि अपने अभिलेखो म वे अपने को सवदा और सवत्र सातवाहन अथवा शातकर्णि घोषित करते हैं। इन अभिलेखो मे 'आन्ध्र' शब्द कही नही मिलता। परन्तु आन्ध्र और सातवाहनो के पारस्परिक सम्बन्ध का निश्चय करने के पूर्व आन्ध्र जाति के प्राचीन इतिहास का ज्ञानार्जन आवश्यक प्रतीत होता है। आन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच की तेलगू देश मे बसने वाली जाति के थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे सबसे पहले इस जाति का उल्लेख पाया जाता है। इस जाति को आर्य सस्कृति के प्रभाव म मुक्त बताया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार विश्वामित्र के वशजो ने गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेश मे जाकर आर्येतर जातियो से विवाह किया। इन विवाहो के परिणाम-स्वरूप जिस जाति का उदभव हुआ उसे 'आन्ध्र' की सज्ञा मिली। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे आन्ध्र जाति की राजनीतिक शक्ति काफी बढी चढी थी। मेगस्थनीज ने उनकी प्रचण्ड सैन्य शक्ति का उल्लेख किया है। प्लिनी ने लिखा है कि कलिंग के राजा के पास ६०००० पदाति १००० अश्वारोही और ७०० गज सेना थी। सम्भवत मेगस्थनीज की 'इण्डिका' के ही आधार पर प्लिनी ने यह विवरण दिया है। अशोक के शिलालेख मे भी इस जाति का उल्लेख मिलता है। अशोक ने आन्ध्रो का उल्लेख उन जातियो के अन्तगत किया है जो उसके राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत थी। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि अशोक के बाद इस जाति की क्या दशा हुई परन्तु यह सोचना कुछ अधिक समीचीन जान पडता है कि वे स्वतन्त्र हो गये।

सातवाहन वश—अब प्रश्न यह उठता है कि आन्ध्रो और सातवानो में क्या पारस्परिक सम्बन्ध था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि सातवाहन-नरेश अपने को कभी भी आन्ध्र जाति का नही बताते जबकि पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उनके वश का सस्थापक सिमुक या शिशुक या सिन्धुक 'आन्ध्रजातीय' था। सातवाहन राजाओ के अभिलेखो म जिनके नाम मिलते हैं वे ही नाम पुराणो मे भी प्राप्त होते हैं। परन्तु क्या कारण है कि सातवाहन राजा अपने को कभी

---

१ इस विवेचन के लिए देखिए *Age of Imperial Unity*, pp 99-100 और *Political History of Ancient India*

'आन्ध्र' नहीं कहते, जबकि 'वायु पुराण' उनके वंश के संस्थापक को आन्ध्र ही है। इस परस्पर विरोधी मत मे किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। सातवाहन अपने को ब्राह्मण कहते हैं किन्तु आन्ध्रो का प्राचीन ग्रन्थो मे आर्य के प्रभाव से मुक्त कहा गया है जिससे स्पष्ट होता है कि आन्ध्र लोग द्रविड मूल थे। वास्तव में आन्ध्रो और सातवाहनो मे कोई सम्बन्ध नही था। वे लोग आन्ध्र सर्वथा भिन्न थे और महाराष्ट्र प्रदेश के निवासी थे। आन्ध्र लोग, जैसा कि हम देख चुके हैं गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के प्रदेश के रहने वाले थे। ने अपनी शक्ति का विकास महाराष्ट्र प्रदेश से ही किया और आन्ध्र प्रदेश मे उपनिवेश स्थापित किया। परन्तु कुछ समय के बाद शक-आभीरो के आक्रमणों फलस्वरूप उनकी सत्ता केवल आन्ध्र प्रदेश तक ही सीमित रह गई और प्रान्तो पर उनका अधिकार नही रह गया। इस प्रकार आन्ध्र ही तक सीमित रह के कारण सातवाहन लोग आन्ध्र कहलाये। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय प्रोफेसर एन० घोष का कथन सर्वथा मान्य प्रतीत होता है, "ऐसा प्रतीत होता है कि जिस पुराण लिखे जा रहे थे उस समय सातवाहनो ने अपने उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्र खो दिये थे, और आन्ध्र देश के रहने वालो के साथ इस प्रकार मिल-जुल गये थे, क्योकि शासक के रूप मे उन्हें आन्ध्रो के साथ निकटतम सम्पर्क मे आने का अवसर यो ही मिल गया था कि पुराणकार ने उस प्रदेश के शासकों को भी आन्ध्र ही कहना उचित समझा और तदनुसार प्रथम सातवाहन नरेश सिमुक को आन्ध्र वंश का संस्थापक बना दिया।"

सातवाहनों की जाति—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सातवाहन नरेशों ने अपने अभिलेखो मे अपने को 'ब्राह्मण' कहा है। नासिक के अभिलेखो म गौतमीपुत्र के लिए एक ब्राह्मण' विशेषण प्रयोग किया गया है। उनको 'क्षत्रियो के दर्प और मान का दलने वाला "खतियदपमानमदनस" तथा शक्ति मे परशुराम के तुल्य कहा है। इन सब विशेषणो को जब हम एकसाथ पढते हैं तो इस बात म सन्देह का कोई कारण नहीं रह जाता कि सातवाहन लोग ब्राह्मण थे। इस सम्बन्ध मे यह भी जान लेना चाहिए कि डॉ० भण्डारकर और कुमारी भ्रमर घोष ने नासिक अभिलेख के इन विशेषणो की व्यवस्था कुछ दूसरे ढग से की है और उसकी सम्मति म सातवाहन लोग ब्राह्मण नही थे। उनका कहना है कि 'एकब्रह्मण' शब्द का अर्थ ब्राह्मण जाति से न होकर ब्रह्मण्य' से है और 'खतियदपमानमदनस' मे जिस 'खतिय' शब्द का प्रयोग किया गया है उससे क्षत्रियो का नही वरन् उस Xathroi Khatria जाति का बोध होता है जिसका उल्लेख यूनानी लेखको ने किया है। डॉ० भण्डारकर और कुमारी भ्रमर घोष ने एक और तर्क उपस्थित किया है जिसके द्वारा वे सातवाहनो का अब्राह्मण होना ठीक समझते हैं। उनके मतानुसार गौतमी बलश्री के लिए 'राजर्षि वधू' का प्रयोग किया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवाहन नरेश ब्राह्मण नहीं थे अन्यथा 'ब्रह्मर्षिवधू' शब्द प्रयुक्त किया गया होता। परन्तु यह दूसरा तर्क भी हलका प्रतीत होता है। यदि 'गौतमी बलश्री' के लिए 'राजर्षिवधू' का प्रयोग किया गया है तो उससे यह नही सिद्ध होता कि वह एक अब्राह्मण कुल की वधू थी। जैसा कि डॉ० रायचौधरी ने सिद्ध किया है[1] 'राजर्षि' शब्द का प्रयोग हमेशा ही अब्राह्मणो के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है बल्कि भारत के साहित्य मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमे ब्राह्मणो को भी 'राजर्षि' ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त

---

1 *Political History of Ancient India*, p 413 footnote

सातवाहन नरेशो के लिए 'ब्रह्मर्षि' का प्रयोग उपहासास्पद होता, क्योंकि उन्होंने अपने हाथो में शस्त्र ग्रहण कर लिया था। इन सब कारणो से डॉ० रायचौधरी का मत है कि सातवाहन ब्राह्मण जाति के थे किन्तु उनमे नागो के रक्त का सम्मिश्रण था। वे कहते हैं, "इस बात पर विश्वास करने के लिए अनेक कारण हैं कि 'आन्ध्र', 'आन्ध्रभृत्य' अथवा सातवाहन नरेश ब्राह्मण थे परन्तु नाग रक्त का उनमे कुछ सम्मिश्रण था। द्वात्रिंशत पुत्तलिका में सातवाहनो को ब्राह्मण और नागो की मिश्रित उत्पत्ति का बतलाया गया है। नागो के इस सम्बन्ध की पुष्टि स्कन्द-नाग-सतक और नागनिका जसे नामो से भी होती है, जब कि उनके ब्राह्मण होने का प्रमाण एक शिला लेख से प्राप्त होता है।"[१] डॉ० रायचौधरी ने जिस अभिलेख का संकेत किया है, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

सातवाहन कुल का संस्थापक—पुराणो के अनुसार सिमुक या शिशुक अथवा सिन्धुक (६० से ३७ ई० पू०) ने शुगों और कण्वो की शक्ति का उन्मूलन करके आन्ध्र वश की स्थापना की। यह सिमुक ही सातवाहन कुल का प्रथम नरेश था। शुगो और कण्वो से सिमुक ने सम्भवत विदिशा के निकट का प्रदेश हस्तगत किया था। उसका राज्य दक्षिणापथ में ही था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा पैठन थी जो उत्तरी गोदावरी तट पर स्थित थी। डॉ० सरकार की राय में इस बात के लिए कोई प्रमाण नही है कि सातवाहनो का अधिकार मगध या उत्तरी भारत के किसी प्रदेश पर था। मध्य या पश्चिमी भारत के कुछ भाग कदाचित उनके राज्य मे सम्मिलित थे, परन्तु यदि सिमुक के राज्य मे पश्चिमी भारत का कोई भी जिला शामिल था तो उसने उसे या तो शुगो या कण्वों से अथवा यूनानियो से जीता था। सिमुक के विषय मे हमे किसी अन्य बात का पता नही लगता।

कृष्ण—सिमुक के उपरान्त उसका भाई कृष्ण अथवा कन्ह राज्य का अधिकारी हुआ। उसके शासन काल में सातवाहनो की साम्राज्य-सीमा के कुछ अधिक विस्तृत हो जाने का प्रमाण मिलता है। नासिक के एक शिलालेख से विदित होता है कि उसके समय मे वहाँ पर गुफा का निर्माण किया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि उसका अधिकार नासिक तक पहुँच चुका था।

शातकर्णि—सिमुक का पुत्र शातकर्णि सातवाहन-कुल का तृतीय नरेश था। यह एक महान् विजेता और अपने वश का प्रतापी राजा था। इसने मगध राज्य के संस्थापक बिम्बिसार की भाँति सैन्य विजय और वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ करने की ओर ध्यान दिया। नायानिका के नानाघाट अभिलेख मे शातकर्णि की सफलताओं और विजयो का वर्णन किया गया है। उसे सिमुक के वश का धन "सिमुक सिमुकसातवाहनस वशवधनस" कहा गया है। उसने महाराष्ट्र के महारथी की कन्या से विवाह करके अपने राजनीतिक प्रभाव मे अभिवृद्धि की। इस प्रकार वह लगभग सम्पूर्ण दक्षिणापथ का अधिकारी हो गया। नानाघाट अभिलेख मे उसे "अप्रतिहत चक्र दक्षिणापथपति" कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने पूर्वी मालवा पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित किया। पुष्यमित्र शुग की भाँति उसने भी दो बार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया और ब्राह्मण धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की। नानाघाट का अभिलेख ही इस विषय में साक्ष्य प्रस्तुत करता है जिसमे उसके लिए "अश्वमेध यज्ञ द्वितीय इष्ट" कहा गया है। साँची अभिलेख से यह प्रमाण मिलता है कि शातकर्णि ने पूर्वी मालवा पर ही विजय प्राप्त की थी। इस बात की पुष्टि उसके सिक्कों

१ *Political History of Ancient India*, p 413

एव पुराणो के इस कथन से भी होती है कि शुगभृत्य काण्वायन नरेशो के हाथ से
निकल कर 'यह पृथ्वी आन्ध्र जातियो के अधिकार मे चली जायगी।' "ऐसा प्रतीत
होता है कि शातकर्णि प्रथम राजकुमार था जिसने सातवाहनो को विन्ध्य-पार भारत के
सवसत्ताधारक सम्राटो की स्थिति तक उठाया। इस प्रकार से गोदावरी की घाटी में
पहले महान् साम्राज्य का उत्थान हुआ जो विस्तार तथा शक्ति मे गगा की घाटी
शुग साम्राज्य और पचनद प्रदेश के यूनानी साम्राज्य की बराबरी करता था।"[1]
इस शक्तिशाली नृपति को भी अपने एक समकालीन नरेश से लोहा लेना पडा। क
नरेश खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे यह प्रमाण मिलता है कि शातकर्णि क
को कुछ भी न समझते हुए उसने अपने शासन के द्वितीय वर्ष मे मुसिक नगर
आक्रमण कर दिया और सातवाहन-नरेश से वैर ठान लिया। परन्तु इस वैर मे सात
वाहन वश के गौरव को कुछ भी धक्का नही लगने पाया। खारवेल की शक्ति
नहो होने पाई और शातकर्णि का गौरव पूर्ववत ही बना रहा। किन्तु शातकर्णि
बाद सातवाहन वश का इतिहास कुछ अन्धकारमय हो जाता है।

शातकर्णि की मृत्यु के अनन्तर उसकी रानी नायानिका ने, जो
महारथी त्रणकयिरो की दुहिता थी, राजकाय सम्हाला। उसके दो पुत्र
वेदश्री अभी अल्पवयस्क कुमार ही थे, अतएव उनका सरक्षक बनकर उसी ने
अपने हाथ मे ग्रहण किया। कुमार शक्तिश्री को इतिहासकारो ने प्रतिष्ठान के
शालिवाहन का पुत्र शक्तिकुमार ही बतलाया है। उनके विचार मे ये दोनो व्या
एक ही हैं। शालिवाहन के पुत्र शक्तिकुमार का उल्लेख साहित्य ग्रन्थो मे प्राप्त होता
है। शातकर्णि के बाद के सातवाहन राजाओ मे हाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है।
परन्तु उसकी प्रसिद्धि किसी महत्त्वपूर्ण सैन्य सफलता के कारण नही अपितु उसके
साहित्यानुराग और स्वय उनके एक महान् कवि के कारण है। हाल प्राकृत
का एक महान् कवि था। उसने 'गाथा सप्तशती' नामक एक सरस प्राकृत काव्य की
रचना की। यह एक मुक्तक काव्य है और इसमे सात सौ सुन्दर पदो का सकलन
है। भारतीय साहित्य म हाल का अपना एक विशिष्ट स्थान है। 'बृहत्कथा' के लेखक
गुणाढ्य और सस्कृत व्याकरण 'कातन्त्र' के लेखक उसकी राजसभा को सुशोभित
करते थे।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि शातकर्णि के पश्चात् उसके वश का गौरव कम
होने लगा। The Periplus of Erythraean Sea "एरय सागर की परिक्रमा"
नामक ग्रन्थ के द्वारा जो पूर्वी अफ्रीका और भारत के साथ मिस्री व्यापार का वर्णन
करता है, इस बात का पता चलता है कि सूरपारक (आधुनिक सोपारा) नामक
बन्दरगाह शातकर्णि के बाद सुरक्षित न रह गया क्योकि उसके उत्तराधिकारियों की
शक्ति काफी क्षीण हो चली थी और विदेशी आक्रमणकारी प्रबल हो गये थे। मालूम
पडता है कि इस समय शको का द्वितीय आक्रमण भारतवर्ष पर हुआ जिससे सात
वाहनो की शक्ति को काफी चोट पहुँची। उनके हाथ से महाराष्ट्र प्रदेश का राज्य
निकल गया और उस पर शको ने अपना अधिकार जमा लिया। महाराष्ट्र मे शको
के जिस वश ने अपनी राजसत्ता स्थापित की थी उनका नाम क्षहरात था। क्षहरात
और सातवाहनो की राजनीतिक प्रभुता के लिए परस्परिक सघर्ष चलता रहा। नहपान
के समय के एक नासिक गुहा अभिलेख से शक सातवाहन सघर्ष पर काफी प्रकाश

१ डॉ० रायचौधरी *Political History of Ancient India*, Fifth
Edition, P 417

पडता है। नहपान एक क्षहरात सरदार था। इस संघर्ष मे कभी शक विजयी होते थे और कभी सातवाहन। क्षहरात सरदार नहपान के सिक्को और अभिलेखो से यह सिद्ध होता है कि उसका राज्य काफी दूर तक फैल गया था और उसने सातवाहनो को उनके मातृदेश महाराष्ट्र से निकाल बाहर कर दिया था। उसके राज्य की सीमायें नासिक एव पूना से लेकर मालवा, गुजरात, काठियावाड और राजपूताने मे पुष्कर तक फैली हुई थी। किन्तु उसने सातवाहनो के गौरव को भूलुण्ठित कर जो विजय प्राप्त की वह अधिक काल तक टिक न पाई और सातवाहन वश के प्रबल प्रतापी नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि ने उसको पराजित कर अपने वश की मान और प्रतिष्ठा को पुन प्रतिष्ठापित किया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि—गौतमी पुत्र शातकर्णि अपने वश का सबसे प्रतापी और पराक्रमी राजा था। उसकी माता गौतमी बलश्री के नासिक गुहालेख से उसकी विजयो, शासन-सम्बन्धिनी उसकी योग्यताओ और सफलताओ तथा उसके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के प्रशसनीय गुणो पर काफी प्रकाश पडता है। उसके राजनीतिक कार्यों का सबसे अधिक महत्व इस बात मे है कि उसने अपने वश के लुप्त गौरव की पुन प्रतिष्ठापना की और विदेशी आक्रमणकारी शको को अपनी मातृभूमि से निर्वासित कर दिया। उसने अनेक समकालीन राज्यो से लोहा लिया और उनको युद्ध मे पराजित किया। शक-यवन पहलव क्षहरातो का नाश करके गौतमीपुत्र ने अपने वश की मान मर्यादा को बढाया इसका विवरण नासिक के अभिलेख मे प्राप्त होता है। क्षहरात सरदार नहपान को उसके द्वारा जो पराभव सहना पडा, उसकी पुष्टि मुद्रा साक्ष्य द्वारा भी होती है। हम यह पीछे देख चुके हैं कि नहपान के सिक्के इस बात को सिद्ध करते हैं कि उसका राज्य नासिक और पूना से लेकर मालवा, गुजरात, काठियावाड तथा राजपूताने मे पुष्कर तक फैला हुआ था। जोगलथम्बी से चाँदी के सिक्को की जो निधि प्राप्त हुई है उसमे बहुत से ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमी पुत्र की राजमुद्रा अकित है, जिससे स्पष्ट होता है कि क्षहरातराज नहपान को उसने पराजित कर दिया था।

गौतमीपुत्र की दिग्विजयो का वर्णन भी नासिक गुहा लेख मे प्राप्त होता है। उसने एक बहुत बडी सेना लेकर अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ की। "उसके वाहनो ने तीन समुद्रो (पूर्व पयोधि पश्चिम सागर और दक्षिण मे हिन्द महासागर) का जल पिया। × × × उसका राज्य ऋषिक (गोदावरी और कृष्णा के मध्य का प्रदेश) अश्मक (गोदावरी का तटवर्ती प्रान्त), मूलक (पठन का निकटवर्ती प्रदेश), सुराष्ट्र, कुकुर (उत्तर काठियावाड), अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग) अनूप (नीमाड), जिला विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा) अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के ऊपर विस्तृत था। × × × सभी राजाओ ने उसके शासन को स्वीकार किया।' अभिलेख के इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य मे आधुनिक गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा बरार उत्तरी कोकण तथा पूना और नासिक के चारो ओर का प्रदेश सम्मिलित था। इसी अभिलेख मे गौतमीपुत्र को अनेक पर्वतश्रेणियों का अधिपति कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि वह विन्ध्य के उस पार सम्पूर्ण भारत का स्वामी था। उसके अधिकार मे ये पर्वत थे—विन्ध्य (मध्य और पूर्वी विन्ध्य और सतपुडा की पर्वत श्रेणियाँ) ऋक्षवत (मालवा के दक्षिण मे विन्ध्य पर्वत श्रेणी का एक भाग) पारियात्र (पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाडियाँ) सह्य (नीलगिरि की पहाडियों के उत्तर तक पश्चिमी घाट), मलय (त्रिवाकुर की पहाडियाँ) महेन्द्र (पूर्वी घाट) और दक्षिण भारत के प्रायद्वीप को घेरने वाली अन्य अनेक पर्वत श्रेणियाँ।

गौतमीपुत्र केवल एक महान् विजेता ही न था, वरन् एक गुणवान व्यक्ति था। नासिक अभिलेख मे उसके गुणो का भी प्रचुरता से उल्लेख किया गया है। एक रूपवान व्यक्ति था। उसका मुखमण्डल दीप्तिमय तथा प्रभावपूर्ण था। चाल सुन्दर तथा उसकी भुजायें लम्बी और बलिष्ठ थी। उसका स्वभाव अत्यन्त और करुण था। सभी की रक्षा करने को वह सदैव उद्यत रहता था। का वह एक आज्ञाकारी पुत्र था और विघातक शत्रु को भी चोट पहुँचाने मे वह का अनुभव करता था। वह गुणियो का आश्रयदाता सौभाग्य का वासस्थान एव व्यवहारो का स्रोत था। इन गुणो के साथ ही साथ उसमे एक आदर्श शासक के गुण विद्यमान थे। अपने प्रजाजनो के सुख दु ख को वह अपने ही सुख-दु ख के समझता था। वह अपनी प्रजा पर आवश्यकता से अधिक कर नही लगाता था अपराधियों के साथ भी वह दयापूर्ण व्यवहार करता था। अभिलेख मे शातकर्णि को इस बात का गौरव भी प्रदान किया गया है कि उसने धर्म का पुनरुत्थान किया। उसने न केवल वैदिक अनुष्ठानो को स्वीकार करके प्रधानता दी, अपितु ब्राह्मण धर्म के लिए जो तत्त्व घातक थे, उनके प्रयत्न किया। बौद्ध धर्म के प्रभाव और विदेशियो के सम्पर्क के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णों मे परस्पर जो वर्णसंकरता उत्पन्न हो गई थी, उसको गौतमीपुत्र शातकर्णि ने दूर किया।

कुछ विद्वानो के मत मे, गौतमीपुत्र शातकर्णि और भारतीय जनश्रुति के विक्रमादित्य एक ही व्यक्ति थे। परन्तु यह मत भ्रान्तिपूर्ण और निराधार प्रतीत होता है। उज्जैनी के विक्रमादित्य और प्रतिष्ठान के शालिवाहन का लोक कथाओ मे जो उल्लेख किया गया है उनमे परस्पर स्पष्ट विभिन्नतायें हैं। इसके अतिरिक्त गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किसी सम्वत का प्रचलन नही किया क्योंकि उसके उत्तराधिकारियो ने किसी भी सम्वत् का प्रयोग नही किया, अपितु अपने शासन-काल के वर्षों का ही उल्लेख कि है। विक्रमादित्य को विक्रम सम्वत का सस्थापक बतलाया गया है। इस बात का। कोई प्रमाण नही प्राप्त होता कि गौतमीपुत्र ने कभी भी विक्रमादित्य की उपाधि धार की थी। उसके लिए अभिलेख मे 'वर वरण विक्रम चारु विक्रम' विशेषण का प्रयो किया गया है परन्तु इस विशेषण और बल तथा शौर्य के सूचक विरद 'विक्रमादित्य' कोई सम्बन्ध नही है। इसी प्रकार इस विचार मे भी कोई तथ्य नही है कि वह नागार्जु का समकालीन सातवाहन नरेश था। ह्वेनसाग ने जिस अनुश्रुति का उल्लेख किया उसमे इस राजा के लिए यह कहा गया है कि उसका अधिकार कोशल प्रदेश पर था परन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य मे कोशल किसी भी प्रकार सम्मिलित नही था कुछ विद्वानो का यह कथन कि गौतमीपुत्र ने अपने पुत्र वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी के साथ-साथ शासन किया, प्रबल तर्कों द्वारा सम्मत एव प्रमाणित नहीं प्राप्त होता। हमें ऐसे सिक्के प्राप्त नही होते जिनमे गौतमीपुत्र और वाशिष्ठीपुत्र का साथ साथ उल्लेख किया गया हो और तोलेमी के भूगोल मे प्रतिष्ठान को केवल पुलुमावी की ही राजधानी कहा गया है जिससे सम्मिलित शासन वाला उपयुक्त मत अत्यधिक असम्भाव्य प्रतीत होता है।[२]

वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी—गौतमीपुत्र शातकर्णि के पश्चात उसका पुत्र श्री पुलुमावी १३० ईस्वी सन् के लगभग सिंहासनारूढ हुआ। उसका शासन-काल लगभग पन्द्रह

१ खतियदपमानमदनस सकयवनपह्लवनिसूदनस खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहन कुलयसपतिथापनकरस।

२ इस सम्पूर्ण विवेचन के लिए देखिए *Age of Imperial Unity*, pp 203 20-

र्यों तक रहा। पुलुमावी भी अपने पिता की भाँति पराक्रमी और विजेता था। उसने पने पूर्वज शातकर्णि प्रथम की तरह विवाह-सम्बन्ध द्वारा मैत्री स्थापित करने तथा सैन्य-विजयों द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ करने की नीति का अनुसरण किया। उसने उज्जयिनी के शक क्षत्रप रुद्रदामन की कन्या से विवाह किया था। इस विवाह-सम्बन्ध द्वारा पुलुमावी शक क्षत्रप के साथ चिरकालीन मैत्री तो स्थापित नहीं कर सका तथापि उसे इससे लाभ अवश्य हुआ। रुद्रदामन के जूनागढ वाले अभिलेख में यह स्पष्ट लिखा है कि उसने दक्षिणापथ के स्वामी को दो बार युद्ध में पराजित किया परन्तु उसे नष्ट न करके उसने यश प्राप्त किया क्योंकि वह (पुलुमावी) उसका निकट सम्बन्धी था।[1] वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी ने सातवाहनों का राजनीतिक प्रभुत्व आन्ध्र-देश तक फैलाया। उसके समय में सातवाहन वंश का गौरव अप्रतिहत न रह सका। सम्भवतः उसके शासन-काल में शकों के प्रबल हो जाने के कारण मध्यभारत और गुजरात के प्रदेश फिर से सातवाहनों के हाथ से निकल गये। वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी लगभग १५५ ई० में मरा।

यज्ञश्री शातकर्णि—यज्ञश्री शातकर्णि अथवा श्रीयज्ञ शातकर्णि सातवाहन वंश का अन्तिम प्रतापी और शक्तिशाली नरेश था। उसका शासन-काल लगभग १६५ ई० से १९५ ई० तक रहा। यज्ञश्री शातकर्णि को अपने एक अति प्रतापी पूर्वज गौतमीपुत्र शातकर्णि की भाँति अपने वंश के भूलुण्ठित गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का गौरव प्राप्त है। थाना और नासिक के जिलों में जो अभिलेख मिलते हैं उनमें इस बात का विवरण है कि उसने अपनी साम्राज्य सीमा का विस्तार किया। उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी मालवा अपरान्त (दक्षिण पठार का पश्चिमी भाग), मध्य प्रान्त एवं कृष्णा जिले में प्राप्त हुए हैं। सिक्कों के इस विस्तृत प्रदेश में पाये जाने के कारण हमारा यह सोचना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यज्ञश्री शातकर्णि का राज्य काफी दूर तक फैला हुआ था और उसके राज्य में महाराष्ट्र और आन्ध्र दोनों सम्मिलित थे। उसने शकों के सिक्कों की अनुकृति पर अपने सिक्के ढलवाये थे। ये चाँदी के सिक्के प्रभूत मात्रा में पाये गये हैं जिससे डा० विन्सेन्ट स्मिथ साहब का अनुमान है कि यज्ञश्री शातकर्णि ने उन प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमा लिया था जिनको शकों ने कुछ ही दिनों पूर्व सातवाहनों से छीन लिया था। गुजरात और सुराष्ट्र ऐसे ही प्रदेश थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि यज्ञश्री ऐसा अकेला सातवाहन नरेश था जिसके अधिकार में महाराष्ट्र और आन्ध्र दोनों प्रदेश थे। उसके शासन काल में व्यापार की भी काफी उन्नति हुई थी। उसके कुछ सिक्कों पर जलयानों के चित्र अंकित हैं जो यह सूचित करते हैं कि यज्ञश्री के समय में सामुद्रिक व्यापार काफी उन्नतिशील दशा में था।

सातवाहनों का पतन—यज्ञश्री शातकर्णि के उपरान्त सातवाहनों की राजनीतिक प्रभुता दिनानुदिन क्षीण होती गई। उसके उत्तराधिकारियों में से सभी निर्बल, अकर्मण्य तथा अयोग्य निकले। इस समय आवश्यकता थी किसी गौतमीपुत्र शातकर्णि की जो अपने वंश के लुप्त गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करता, परन्तु सातवाहनों के दुर्भाग्य से यज्ञश्री के उत्तराधिकारियों में से कोई भी उसके या गौतमीपुत्र के समान पराक्रमी तथा योग्य नहीं हुआ। कुछ पुराणों के अनुसार यज्ञश्री के उत्तराधिकारी थे—विजय (२०३-०९ स० ई०), चन्द्रश्री या चन्दश्री (२०९-१९ स० ई०)। ये दोनों केवल नाम के ही राजा थे। वास्तविक सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित नहीं रह गई थी। किसी प्रकार ये सातवाहनों की क्षीण शक्ति का प्रतिनिधित्व करते रहे परन्तु सन् २२५ ई०

१ "दक्षिणापथपते सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्त यशसा।

के लगभग सातवाहन वंश का दीपक, जो इस समय तक काफी हतप्रभ हो चुका था, विदेशी आक्रमणकारियों के प्रबल झझावात में पड़कर बिल्कुल ही बुझ गया। सातवाहन वंश की कुछ शाखायें किन्हीं प्रदेशों पर शासन बाद में भी करती रहीं परन्तु वंश का मूल गौरव लुप्त हो गया।

सातवाहन साम्राज्य के पतन में कोई नवीन या विस्मयकारक कारण नहीं थे। उत्तराधिकारियों की निर्बलता एवं अयोग्यता, शासन प्रतिनिधियों की उत्तरदायित्व हीनता एवं अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की लिप्सा तथा शासन-व्यवस्था की शिथिलता, इन सब कारणों से सातवाहनों की शक्ति खोखली हो गई। हम यह देख चुके हैं कि अपने साम्राज्य निर्माण के शैशव-काल से ही सातवाहन नरेशों को एक प्रबल विदेशी शक्ति, शकों से लोहा लेना पड़ा था। इस संघर्ष के कारण अवश्य उनकी जन, धन और सैन्य शक्ति की हानि हुई होगी। उनका ध्यान उतने अबाध रूप से शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ करने की ओर न गया होगा जितना कि किसी राजवंश के गौरव को चिरस्थायी बनाने के लिए अपेक्षित तथा आवश्यक होता है। जब कभी योग्य शासक का अभाव हुआ, आक्रमणकारियों की बन आई और उन्होंने अपने हाथ बढ़ाने शुरू कर दिये। इधर राज्य के सामन्तों और राज्य प्रतिनिधियों (Viceroys) ने राज्यहित और देशहित को गौण समझ कर अपना-अपना व्यक्तिगत स्वार्थ साधना उचित समझा। इन उपशासकों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित करके अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। इस प्रकार आन्तरिक शासन की दुर्बलता और बाह्य आक्रमणों ने मिलकर सातवाहन वंश की राज्यश्री को उन्मूलित कर दिया। सातवाहनों के बाद दक्षिण में नई राजनीतिक शक्तियों का उदय हुआ। ये शक्तियाँ थी महाराष्ट्र में आभीरों की शक्ति और पूर्वी दक्षिण में इक्ष्वाकुओं और पल्लवों की शक्ति।

सातवाहनों के समय में दक्षिण की सभ्यता और संस्कृति

सातवाहनों के शासन-काल में सभ्यता और संस्कृति की बहुत अधिक उन्नति हुई। यद्यपि सातवाहन नरेशों को विदेशी शक्तियों से लोहा लेना पड़ा और उनकी साम्राज्य सीमायें कभी भी नितान्तरूपेण सुरक्षित नहीं रहीं तथापि उनके देश में संस्कृति और कला की धारा प्रवाहित होती रही। इस समय दक्षिण का सामाजिक जीवन किस प्रकार का था, उसकी धार्मिक एवं आध्यात्मिक चेतना में कौन-सी प्रवृत्ति प्रमुख रूप से विद्यमान थी, उसके जीवन की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी अथवा निर्बल और क्या साहित्य-सृजन का कार्य एवं कलाओं की उपासना हो रही थी अथवा नहीं, इन सब विषयों का विवरण हमें सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है। सातवाहन नरेशों के अनेक अभिलेख तथा कतिपय साहित्यिक साक्ष्य इन विषयों पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। आभिलेखिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों की सहायता से हम सातवाहन युग की सांस्कृतिक समृद्धि और सभ्यता का प्रगति का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। सर्वप्रथम हम सामाजिक जीवन को ही लेते हैं।

सामाजिक जीवन—सातवाहन युग की दक्षिणी समाज की अवस्था का अध्ययन करने में हमें कतिपय विशेषतायें स्पष्टतया दृष्टिगत होती हैं। प्रथम विशेषता है स्त्री। सातवाहनयुगीन दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन में नारियों को एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। आवश्यकता पड़ने पर वे शासन-सूत्र भी अपने हाथों में ग्रहण करती थी। शातकर्णि प्रथम की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु के बाद पुत्रों के अल्पवयस्क होने के कारण स्वयं राज्य-संचालन का कार्य किया था। गौतमीपुत्र वाशिष्ठीपुत्र, माठरीपुत्र आदि मातृपरक उपाधियाँ इस बात का संकेत करती हैं कि

समाज म स्त्रियो को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। वे अपने पतियो के साथ धार्मिक कार्यों मे सहप भाग लेती थी। नायानिका के नानाघाट अभिलेख मे इस बात का उल्लेख प्राप्त होता है कि उसने अपने पति के साथ अश्वमेध यज्ञो म भाग लिया था। अभिलेखो में जिन रानिया का उल्लेख किया गया है उनके प्रति प्रभूत आदर और सम्मान प्रकट किया गया है। माता के रूप मे स्त्री का बहुत अधिक सम्मान किया जाता था। वैधव्य का जीवन व्यतीत करने पर भी उसे यन्त्रणायें नही सहन करनी पडती थी। नासिक के एक लेख से इस बात का विवरण प्राप्त होता है कि एक पवित्र विधवा किस प्रकार का जीवन व्यतीत करती थी। गौतमी बलश्री के लिए कहा गया है कि वह सत्य, दान, धैय एव जीवानुकम्पा आदि गुणो से आनन्द प्राप्त करती थी। तपश्चर्या, आत्म-नियन्त्रण और सुखोपभोगो से विरक्ति उसके चरित्र के उज्ज्वल गुण थे। उसके पुत्र की इस बात के लिए बहुत अधिक प्रशसा की गई है कि वह अपनी जननी के प्रति सदैव आज्ञाकारिता प्रदर्शित करता था।

आन्ध्रो के युग की सामाजिक अवस्था की विशेषता इस बात मे भी थी कि यह *सामाजिक जीवन व्यथ के नियन्त्रणो द्वारा बोझिल नहीं बना दिया गया था।* सात वाहन-नरेश ब्राह्मण थे और ब्राह्मण धम के पुनरुत्थान के लिए सचेष्ट भी थे। वर्णाश्रम धम के प्रचार के लिए भी प्रयत्नशील थे। गौतमीपुत्र शातकर्णि के लिए यह आभिलेखिक साक्ष्य प्राप्त होता है कि उसने चारो वर्णों की पारस्परिक वणसकरता को दूर करने का प्रयत्न किया। 'खतियदपमानमदनस विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रियो के प्रति उसके हृदय मे कुछ विरोध भावना विद्यमान थी। यह क्षत्रिय विरोधिना और भी अधिक स्पष्ट रूप मे हमारे सम्मुख आती है जब हम गौतमीपुत्र को द्विजो (ब्राह्मणो) और अवरो (छोटी जातियो, अन्त्यजो) को अपनी विशिष्ट कृपाका पात्र समझते हुए देखते हैं। गौतमीपुत्र को क्षत्रियो का इतना विरोधी क्यो दिखलाया गया है, इनका एक प्रबल कारण हमारी समझ मे आता है। इस समय शक, पह्लव और यवन आदि जातियाँ क्षत्रिय वर्ण मे प्रचुरता से प्रवेश पा चुकी थी जिससे ब्राह्मण स्मृतिकारो की दृष्टि में, क्षत्रियो की जन्म विशुद्धता काफी दूषित हो चुकी थी। ब्राह्मण धम के कट्टर अनुयायी गौतमीपुत्र ने विदेशियो को अपनी जाति मे मिलाने का काय अनुचित समझा और वर्णसकरता को दूर करने का प्रयत्न भी किया। किन्तु व्यवहार में सातवाहन नरेशो ने ऐसा ही किया और इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई यह कह सकना असम्भव प्रतीत होता है। सातवाहन राजाओ ने अब्राह्मण कन्याओ से विवाह करके इस बात का प्रमाण प्रस्तुत किया कि स्मृतिकारो के सैद्धान्तिक विधिनिषेधो को सवदा ही मान्य नही समझा जा सकता। स्वय गौतमीपुत्र के पूवज शातकर्णि प्रथम ने, जिसके लिए यह कहा जा सकता है कि उसने सातवाहन वश के गौरव की नीव डाली, एक अंगीयकुल के महारथी त्रयितकरो की दुहिता नायानिका से विवाह किया था। वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी ने शकराजकन्या से विवाह किया था। इन दो प्रमाणों के आधार पर यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे और वर्ण-सम्बन्धी नियमो मे व्यावहारिक रूप मे विशेष जटिलतायें नही आ पाई थीं। एक अन्य बात से भी हमे युग के सामाजिक जीवन को विनमनशीलता और उदारता का परिचय प्राप्त होता है। वैसे यह युग स्मृतिकारों का था जो अनेक नियमों और नियन्त्रणो से जीवन को जटिल बना रहे थे। इन नियमो और नियन्त्रणो मे से समुद्र-यात्रा पर निषेध भी एक था। परन्तु सातवाहन युग के समाज ने जीवन मे कूपमण्डूकता लाने वाले इस नियम को स्वीकार नहीं किया।

चारों वर्णों के आधार पर समाज का विभाजन यहाँ के सामाजिक जीवन की विशेषता थी। सातवाहन राजाओं के उत्कीर्ण अभिलेखों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु व्यवस्था के आधार पर अन्य अनेक जातियाँ भी उत्पन्न हो गई थीं जिनका विवरण हमें समकालीन अभिलेखों में प्राप्त होता है। इन्हीं अभिलेखों से हमें यह भी विदित होता है कि समाज में किस वर्ग का स्थान अधिक उच्च था और किस वर्ग का निम्न। समाज में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था तो थी ही और ब्राह्मणों का सम्मान भी सबसे अधिक किया जाता था किन्तु व्यवसाय के आधार पर सामाजिक सम्मान के विभिन्न स्तरों की सूचना भी हमें इन अभिलेखों द्वारा प्राप्त होती है। सबसे ऊँचा स्थान अधिपत करने वाला वर्ग, महारठियों (महाराष्ट्रिकों), महाभोजों एवं महासेनापतियों का था। अमात्य, महामात्र और महाभाण्डागारिक आदि राजपदाधिकारियों का वर्ग सामाजिक सम्मान की दृष्टि से द्वितीय पड़ता था। इसी वर्ग में निगम (श्रेष्ठिगण), सार्थवाह (व्यापारीगण) और श्रेष्ठिन् भी सम्मिलित थे। 'निगम एक साधारण व्यापारी तथा सार्थवाह सौदागरों के एक काफिले का सरदार होता था। श्रेष्ठिन् से अभिप्राय श्रेणिमुख्य से था। इंग्लैंड और आयरलैंड के नगर की व्यवस्था के अधिकारी आल्डरमैन (Alderman) की भाँति सार्थवाह का काम नगरों की व्यवस्था और देखरेख करना था।" तीसरे वर्ग में वैद्य, लेखक (राजकीय अथवा स्वतन्त्र), सुवर्णकार, गान्धिक, हालकीय (कृषक) आदि सम्मिलित थे। मालाकार (माली), वधकी (बढ़ई), लोहवाणिज्य (लुहार) एवं दासक (मछुये) इत्यादि पेशेवरों से चतुर्थ वर्ग की रचना होती थी। सामाजिक सम्मान की दृष्टि से यह चतुर्थ वर्ग सबसे निम्न स्तर का था। समाज की इकाई कुटुम्ब होती थी। इसके अध्यक्ष को कुटुम्बिन् कहते थे। कुटुम्बिन् का परिवार के अन्य सदस्य काफी सम्मान करते थे और उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे।

यदि हम किसी साहित्य-ग्रन्थ को इस युग की सामाजिक परिस्थितियों का दिग्दर्शक मानें तो हालकृत गाथा सप्तशती से हम इस दिशा में काफी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इस ग्रन्थ में हमें इस समय के सामाजिक जीवन के अत्यन्त मनोरम और हृदयग्राही चित्र मिलते हैं। कवि-कल्पना से मिश्रित होने पर भी ये चित्र उस समय के लोक-जीवन के यथार्थवादी पक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं। सरस पदों के इस संकलन में मानव के इहलोकपरक जीवन को ही प्रधानता प्राप्त है। न तो कहीं वेदिका की चर्चा है और न यज्ञ का जिक्र। मुमुक्षा का वातावरण भी कहीं नहीं दृष्टिगत होता। 'गाथा सप्तशती' को पढ़कर यह आभास होता है कि समाज के निम्न स्तर के लोगों का जीवन भी सुखपूर्ण होता था। उन्हें किसी प्रकार की यन्त्रणा सहन नहीं करनी पड़ती थी। इस ग्रन्थ में मनुष्य के शृंगारमय पक्ष का जो वर्णन किया गया है उससे जीवन के प्रति एक स्वस्थ और आशावादी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है।

धार्मिक अवस्था—सातवाहन युग के दक्षिणी भारत की धार्मिक विचारधारा अत्यन्त उदार और सहिष्णु थी। यद्यपि लगभग सभी सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे तथापि उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। उन्होंने बौद्ध धर्म को अपने राज्य में फलने फूलने का पूरा अवसर प्रदान किया। उनके शासन-काल में बौद्धधर्म का काफी अधिक प्रचार था और कला के क्षेत्र में बौद्धों ने अपना महत्त्वपूर्ण योग भी दिया। इस बात के लिए अनेक प्रमाण हैं कि धनी उपासकों ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए चैत्यों और दरीगृहों का निर्माण कराया था। वे भिक्षुओं के व्यय के लिए एक अच्छी रकम जमा कर देते थे जिसके ब्याज से बौद्ध

विहारों को काफी आमदनी होती थी। कभी कभी भिक्षुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धनाढ्य लोग गाव दान कर देते थे। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का लोगों के ऊपर काफी गहरा प्रभाव था।

सातवाहन युग में ब्राह्मण धर्म का बहुत अधिक प्रचार था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सम्भवतः समस्त सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे और इस धर्म के पुनरुत्थान के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न भी किये। मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म की अतिशय अहिंसावादिता और राजनीतिक चेष्टाशून्यता के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ की उसका प्रतिफल धार्मिक क्षेत्र में हम वैदिक यज्ञों के सोत्साह अनुष्ठान में ही देखते हैं। वैदिक प्रतिक्रिया का प्रबल समर्थन सातवाहन राजाओं ने भी किया। अश्वमेध यज्ञ तो किये ही गये बीस प्रकार के अन्य यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है। अन्य यज्ञों में "गवामयनम्", 'अग्न्याधेय'', 'राजसूय' "आप्तोर्याम्',"आंगिरसायनम्', "शतातिरात्र' आदि थे। यज्ञों में ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा प्राप्त होती थी।

वैदिक कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मण धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्मों की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। कदाचित् यह सोचना असंगत नहीं कि सातवाहन युगीन दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव धर्मों का ही सबसे अधिक प्रचार था क्योंकि ये ही धर्म लोकरुचि के सबसे अधिक निकट थे। मेगस्थनीज ने वासुदेव कृष्ण की पूजा का उल्लेख किया है और शूरसेनिया में इसका सबसे अधिक प्रचलन बताया है। शुंग युग में भी भागवत या वैष्णव धर्म का काफी प्रचार था। इस समय दक्षिण में इसका प्रचार बहुत अधिक बढ़ गया। प्रोफेसर भण्डारकर का कथन है कि सातवाहन युग के अभिलेखों में गोपाल, विष्णुदत्त, विष्णुपालित, कृष्ण आदि नामों का उल्लेख मिलता है। उससे यह पता चलता है कि इस समय वैष्णव धर्म का बहुत व्यापक प्रचार था। नामों के आधार पर भण्डारकर महोदय ने धार्मिक अवस्था के विषय में अन्य अनुमान भी किये हैं। भूतपाल महादेवानक, शिवदत्त, शिवघोष, शिवपालित, शिवभूति, शिवदास, भवगोप आदि नामों से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि दक्षिण में शैव धर्मानुयायियों की संख्या काफी अधिक थी। डा० भण्डारकर का यह अनुमान बिलकुल ठीक प्रतीत होता है कि दक्षिण में शैव धर्म का प्रचार वैष्णव धर्म से भी अधिक था। नामों के आधार पर ही हम यह अनुमान कर सकते हैं कि शिव के वाहन नन्दिन स्कन्द तथा नाग की भी पूजा की जाती थी। नन्दिन, ऋषभदात इत्यादि नाम नन्दिन पूजा का ही संकेत करते हैं। 'इसी प्रकार स्कन्दपालित, शिवस्कन्दिल, और शिवस्कन्दगुप्त आदि नाम इस बात के सूचक हैं कि स्कन्द की भी पूजा स्वतन्त्र रूप से अथवा शिव के साथ ही होती थी। नाग, सर्प तथा सर्पिल जैसे नाम नागपूजा के द्योतक हैं।"

सातवाहन-युग की धार्मिक अवस्था की एक सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस समय विदेशियों ने बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म ग्रहण किया। हम सामाजिक जीवन का अध्ययन करते समय यह देख चुके हैं कि विदेशी जातियाँ शक, पह्लव बड़े वेग से हिन्दुओं की सामाजिक रचना में प्रवेश पा रहे थे। यह इसलिये सम्भव हो सका कि उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया और तत्कालीन धर्माचार्यों ने उनके इस कार्य को स्वीकार भी कर लिया। शुंग वंश के शासन-काल में हमने एक यवन राजदूत को भागवत धर्म स्वीकार करते देखा था। इस समय विदेशियों के भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लेने की यह परम्परा और आगे बढ़ी। विदेशियों ने भारतीय धर्म ग्रहण कर लेने पर अपने नाम भी तदनुकूल ही रख लिये। प्रोफेसर भण्डारकर का कथन है,

"गुहा-अभिलेखो मे स्थान-स्थान पर चैत्यों और विहारो के दान के सम्बन्ध में यवनों का नाम आया है। कार्ली अभिलेख के २ यवनो में एक का नाम सीहधीय (सिहध्वज) और दूसरे का धर्म मिलता है। जुन्नर मे तीन का उल्लेख हुआ है—इसिल, चित्र (चित्र) एव चन्द्र। नासिक में केवल एक यवन का नाम अंकित है—धमदेव का पुत्र इन्द्राग्निदत्त। इस सभी यवनो ने बौद्ध धम मे उपासकत्व ग्रहण कर रक्खा था और एक को छोडकर सभी ने हिन्दू नाम भी रख लिये थे।"[1] विदेशियो का भारतीय धर्मों मे दीक्षित कर लिया जाना और विभिन्न धर्मावलम्बियो का एक-दूसरे के प्रति सौहार्द तथा सहिष्णुता प्रदर्शित करना निस्सन्देह भारत की धार्मिक चेतना का हमारे सम्मुख एक अत्यन्त दिव्य और उज्ज्वल पक्ष रखते हैं।

आर्थिक व्यवस्था—सातवाहनो के सुदीर्घकालीन शासन मे दक्षिण आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व समृद्ध था। लोगो का आर्थिक जीवन विभिन्न क्रिया-कलापो से युक्त होने के कारण अत्यन्त समृद्धिशाली था। इस युग के अभिलेखो द्वारा लोगो के आर्थिक जीवन पर भी काफी प्रकाश पडता है। कृषि, उद्योग धन्धे और व्यापार ये तीन ही समाज की आर्थिक व्यवस्था के अग हैं और सातवाहन-काल का दक्षिण इन तीनो दृष्टियों से सम्पन्न था। आर्थिक जीवन इस समय भी प्रमुखतया कृषि पर ही अवलम्बित था परन्तु उद्योग धन्धो और व्यापार की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। विभिन्न व्यवसायियों ने अपनी-अपनी श्रेणियाँ सगठित कर ली थी। यदि यह कहा जाय कि इस समय के आर्थिक जीवन की प्रमुख विशेषता थी, श्रेणियो का सगठन—तो अत्युक्ति न होगी। कई श्रेणियो के उल्लेख मिलते हैं—धजिक (अन्न विक्रेता), कुम्हार, कोलिक निकाय (जुलाहे), तिलपिषक (तेली), कासकार (काँसे के बतन इत्यादि बनानेवाले), बसकार (बाँस की वस्तुयें बनानेवाले)। इन श्रेणियो के विषय मे प्रोफेसर एन० एन० घोष का कथन है, "ऐसे अनेक निकायो का उल्लेख जातक-ग्रन्थो म मिलता है जो ईसा पूर्व छठी शताब्दी के सामाजिक जीवन का दिग्दशन कराते हैं। इससे यह साफ निष्कर्ष निकलता है कि छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर तीसरी शती ई० तक उत्तर और दक्षिण भारत दोनो निकायो से परिपूर्ण थे। शिल्पियो के इन निकायो की बहुलता इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि भारत मे स्वायत्तशासन-सम्बन्धी सस्थायें साधारण सी बात मानी जाती थी और उनका काफी प्रभाव था। श्रेणियाँ केवल शिल्पियों का निकाय ही नही थी, बल्कि उनसे कुछ-कुछ आधुनिक बैंको का भी काम निकलता था, क्योंकि लोग उनमे धन जमाकर उस पर ब्याज वसूल करते थे। यहाँ तक कि बहुधा उनमे आजीवन सम्पत्ति चढा देने की व्यवस्था थी जिसे "अक्षय नीवि" कहते हैं। उषवदात ने ऐसे ही दो अक्षय नीवि दो कोलिक नियमो तथा श्रणिया को प्रदान कर रक्खे थे जिसमे से पहला कपास वस्त्र (चीवरिकानि) तयार करने के लिये और दूसरा भोजन की साधारण आवश्यकताओ (कुपान) की पूर्ति के लिये थे।" मुद्राओं का बहुलता से प्रचलन होना भी इस युग की आर्थिक समृद्धि को सूचित करता है। कई प्रकार के सिक्को का प्रचार था। सबसे अधिक मूल्य के सिक्के को सुवर्ण कहा जाता था जिसका मूल्य चाँदी के ३५ कार्षापण के बराबर होता था। इसके बाद चाँदी का एक दूसरा सिक्का होता था, जिसे कुषण कहते थे। कार्षापण चाँदी और ताँबे के सबसे छोटे सिक्के होते थे जिनको लोग साधारण व्यवहार मे प्रयुक्त करते थे। ब्याज पर रुपये उधार लेने की प्रथा विद्यमान थी, इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

१ प्रोफेसर एन० एन० घोष द्वारा उद्धृत, भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० २२७

सातवाहन युग के दक्षिणी भारत में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार उन्नतिशील अवस्था में थे। व्यापार की सुविधा के लिये देश के विभिन्न भागों में राजमार्गों की समुचित व्यवस्था थी। अनेक सड़कें बनी हुई थीं जिनके द्वारा व्यापारियों के काफिले अपनी-अपनी सामग्रियों के साथ देश के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँचा करते थे। दक्षिण भारत में पैठन, नगर, नासिक, जुन्नार, कर्हाटक (करहाड) आदि व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे। ये नगर राजमार्गों द्वारा एक दूसरे से मिले हुए थे। विदेशी व्यापार भी काफी समृद्ध अवस्था में था। पाश्चात्य जगत् के साथ दक्षिण भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। इस व्यापारिक सम्बन्ध पर "एरम्-सागर की परिक्रमा" (Periplus of the Erythraean Sea) नामक ग्रन्थ द्वारा प्रचुर प्रकाश पड़ता है। भड़ोच, सोपार और कल्याण प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जहाँ से व्यापारी जलयानों में बैठकर व्यापारिक यात्रायें किया करते थे। विदेशी व्यापार से देश को काफी लाभ होता था।

शासन-व्यवस्था—सातवाहन युग की शासन व्यवस्था के विषय में हमें समकालीन अभिलेखों द्वारा विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे जिससे यह सोचना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता कि उनकी शासन व्यवस्था बहुत कुछ वैसी ही रही होगी जैसी कि तत्कालीन स्मृति ग्रन्थों में आदर्श रूप बतलाई गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मृति ग्रन्थों की छाप सातवाहन नरेशों की शासन-व्यवस्था पर काफी थी। मौर्यकालीन शासन व्यवस्था का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है। राजत्व के सिद्धान्तों में इस समय भले ही कुछ परिवर्तन उपस्थित हो गया रहा हो परन्तु मूल भावना बहुत कुछ मौर्य युग की-सी थी। अर्थशास्त्रकार के इस कथन का, कि राजा को लोकानुरञ्जन पर अधिक ध्यान देना चाहिए, इस युग के नरेश भी पालन करते थे। अशोक का अपनी प्रजा को सन्तान-तुल्य समझना इस काल के राजाओं का भी आदर्श था, यह बात हम गौतमीपुत्र के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं। जिन प्रान्तों पर यूनानियों और सीथियनों का आधिपत्य नहीं था उनमें अशोक द्वारा मान्य शासन प्रणाली ही प्रचलित थी। राज्यशास्त्र का, जिसके लिये संस्कृत शब्द 'अर्थविद्या' प्रयुक्त किया गया है, इस समय विधिवत् अध्ययन किया जाता था और अभिलेखों में राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा, उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिये आवश्यक योग्यता पर आग्रह, मन्त्रियों का वर्गीकरण, नगरवासियों तथा ग्रामीणों के हित-संरक्षण और संवर्द्धन तथा कर, विष्टि और प्रणय आदि करों के लगाने से विलग रहना आदि बातों का जो विवरण प्राप्त होता है उस पर निस्सन्देह ही इस अध्ययन का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। मौर्ययुगीन शासन प्रणाली की भाँति इस युग की राज्यसंस्था में भी लोकतन्त्र प्रधान स्वायत्त संस्थाओं की उपेक्षा नहीं की गई थी। व्यवसायियों के निकायों की बहुलता से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि सातवाहन शासक स्वायत्त संस्थाओं के महत्त्व को भलीभाँति समझते थे।

सातवाहन युग में मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था थी। मन्त्रियों को इस समय पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सम्मान और अधिकार प्राप्त था। रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले अभिलेख में मन्त्रिपरिषद् की चर्चा कुछ विस्तार के साथ मिलती है। उत्तरी-पश्चिमी भारत की राज्य संस्था में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए क्योंकि यहाँ पर कितने ही वर्षों तक विदेशी आक्रमणकारियों का शासन बना रहा। प्रान्तीय शासन की व्यवस्था इसी प्रकार के एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का निर्देशन करती है। तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन तथा अन्य कई स्थानों में फारसी ढंग के क्षत्रपों की नियुक्ति की गई थी। कुछ क्षत्रप राज्य कार्य में मन्त्रियों का परामर्श लिया करते थे। परन्तु अधिकांश क्षत्रपों का शासन

बिल्कुल सैन्य शासन का-सा था। सातवाहन-नरेश अपने राज्य में जिलाधिकारियों की जो नियुक्ति करते थे उनका सैनिक प्रशासकों की इस व्यवस्था पर (System of Military Governors) का प्रभाव स्पष्टतया दिखलाई पड़ता है। जिलाधिकारियों को महासेनापति कहा जाता था।

ऊपर हमने इस बात का संकेत किया है कि सातवाहनों की शासन-व्यवस्था में स्वायत्त प्रशासन को समुचित स्थान प्राप्त था। यद्यपि इस युग मे कहीं-कहीं सैनिक शासन का प्रचलन था तथापि वहाँ भी स्वायत्त शासन की संस्थाएँ पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होने पाईं। नगर सभाओं और नगराक्षदश नामक अधिकारियों के उल्लेख काफी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। इनका सादृश्य हम मौर्ययुग की नगर शासन-व्यवस्था के साथ स्थापित कर सकते हैं जिसके सम्बन्ध मे 'नगर वियोहालक' का नाम सुनते हैं। नगर-निवासियों की भाँति ग्रामवासियों को भी स्वशासन की प्रचुर सुविधायें उपलब्ध थी। इस काल में भी गाँव का मुखिया ही ग्राम शासन का अध्यक्ष होता था और कई पदाधिकारियों की सहायता से शासन-कार्यों का सचालन करता था। गाँवो मे ग्राम सभायें होती थीं जिनके माध्यम से राजाओं और ग्रामवासियों के बीच सहयोग स्थापित होता था। सातवाहन युग के अभिलेखों से इस बात का तो स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि ग्राम, श्रेणी निगम तथा जनपद के अपने-अपने निकाय होते थे जिनके कर्तव्य अधिकार तथा उत्तरदायित्व एक-दूसरे से काफी भिन्न होते थे। हाँ, एक बात अवश्य है कि कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध मे स्वशासन-मूलक एक सैद्धान्तिक समानता तथा एकरूपता होती थी।

कला और साहित्य—कलाओं के विकास और साहित्य-सृजन की दृष्टि से सातवाहन युग महत्त्वशून्य नही था। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, बौद्ध धर्म ने इस युग की कलात्मक प्रगति को जन्म दिया। अधिकतर रूप मे इस समय वास्तु-कला की ही उन्नति हुई। गुहा-मंदिरों एवं सेलघरों (शैलगृहो) के रूप मे वास्तु-कला का बहुत अधिक विकास हुआ। दक्षिण मे लगभग जितने भी शैलगृह और गुहा-मंदिर इस समय मिले हैं उन सब का निर्माण सम्भवत सातवाहन युग मे ही हुआ था। चैत्यगृह अथवा मन्दिर और लयन या भिक्षुओं के आवास के रूप मे गुहायें दो प्रकार की बनाई जाती थी। नासिक, कारले और भाजा मे गुहा विहार और गुहा चैत्य के अत्यन्त सुन्दर भवनों का निर्माण सातवाहन युग मे ही हुआ था। सातवाहन नरेश प्राकृत भाषा के परिपोषक और प्राकृत कवियों के आश्रयदाता थे। उनके सभी अभिलेख प्राकृत भाषा मे उत्कीर्ण हैं। उनके शासन काल मे प्राकृत भाषा और साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। हाल नामक सातवाहन राजा स्वयं प्राकृत का एक रससिद्ध कवि था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गाथा सप्तशती' का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उसी की राजसभा मे गुणाढ्य नामक सुविख्यात लेखक रहता था, जिसने 'वृहत्कथा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत मे लिखा गया है और मनोरञ्जक तथा विचित्र कथाओं का विशाल भण्डार है। एलेन महोदय के कथनानुसार 'कातन्त्र' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना सर्ववर्मन ने इसी समय के लगभग की थी। इस युग मे संस्कृत ग्रन्थों के प्रणयन का हम कोई सुस्पष्ट विवरण नही प्राप्त होता, किन्तु इस काल की प्राकृत रचनाओं पर संस्कृत की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

कलिङ्गराज खारवेल

प्राचीन भारत में कलिंग का राज्य अत्यन्त समृद्ध था। इस राज्य की चम्पा तथा अन्य नगरियों की समृद्धि का वर्णन जातकों में मिलता है। कलिंग राज्य में पुरी और

गंजाम के जिले, कटक का कुछ भाग तथा उत्तर और उत्तर-पश्चिम के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। दक्षिण भारत के आधुनिक तेलगू भाषा भाषी प्रान्त का कुछ भाग भी इसके अन्तर्गत था। नन्द सम्राटों का कलिंग देश पर अधिकार था। कुछ इतिहासकारों की सम्मति में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में भी कलिंग का राज्य सम्मिलित था। किन्तु उसकी मृत्यु के अनन्तर कलिंगवासियों ने विद्रोह कर दिया और स्वतन्त्र विजय का विवरण प्राचीन भारत के इतिहास की एक अत्यन्त चिरपरिचित घटनाओं में से है। कलिंग देश के रहनेवाले अपनी स्वतन्त्रता के दृढ़ अनुरागी थे, जिस कारण वश महान् जनक्षति के बाद ही अशोक उनको अपने अधीन करने में सफल हो सका। मौर्यों के समय में कलिंग देश सम्भवत दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। यह विभाजन शासन-सम्बन्धी सुविधाओं के दृष्टिकोण से ही किया गया रहा होगा। अशोक के बाद कलिंग का क्या हाल हुआ यह स्पष्ट ज्ञात नहीं, परन्तु अनुमान करना ठीक प्रतीत होता है कि यह स्वतन्त्र राज्य हो गया। अशोक की मृत्यु के अनन्तर ईसा की प्रथम शती पूर्व मगध साम्राज्य के जो शत्रु उठ खड़े हुए थे उनमें से कलिंग का राज्य भी एक प्रबल शत्रु था। हाथीगुम्फा अभिलेख से हमें यह ज्ञात होता है कि जिस समय पश्चिम में शातकर्णि राज्य कर रहा था, कलिंगाधिपति खारवेल ने उत्तरी भारत में अपनी सेना ले जाकर राजगृह के राजा को पददलित किया। यह खारवेल चेदि वंश के महामेघवाहन परिवार का था। श्री आर० पी० चन्द के निर्देशानुसार, चेत राजकुमार का उल्लेख वेस्सन्तर जातक में किया गया है। 'मिलिन्दपञ्हो' के एक कथन से यह मालूम होता है कि चेत लोग चेदि या चेति वंश से सम्बन्धित थे। इस ग्रन्थ में चेत राजा सूर के विषय में जो बातें बताई गई हैं वे चेदि नरेश उपरिचर के विषय में हम जो कुछ जानते हैं, उनसे काफी मिलती हैं।[१] अशोक की मृत्यु के बाद से चेदि राजवंश के उत्थान तक के समय का कलिंग का इतिहास तिमिराच्छन्न है। सम्भवत ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व में ही (नन्दों के तीन सौ वर्षों के उपरान्त) चेदि वंश का कलिंग राज्य पर अधिकार हुआ। हाथीगुम्फा अभिलेख में प्रथम दो चेदि सम्राटों के नाम स्पष्टतया नहीं मिलते। खारवेल इस वंश का तृतीय सम्राट् था।

महाराज खारवेल प्राचीन भारत के अत्यन्त विख्यात सम्राटों में अपना स्थान रखते हैं। हाथीगुम्फा अभिलेख में, जो भुवनेश्वर (उड़ीसा) के निकट उदयगिरि पहाड़ी की एक गुफा में उत्कीर्ण है खारवेल के शासन-काल की घटनाओं का अत्यन्त सविस्तार वर्णन है। इस अभिलेख के वर्णन के अनुसार राजकुमार खारवेल ने अपने जीवन के प्रारम्भिक पन्द्रह वर्ष राजोचित शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत किये। उसने शासन से सम्बन्धित निपुणता का अध्ययन किया। सोलहवें वर्ष में राजकुमार खारवेल 'युवराज' की पदवी से विभूषित किया गया। इसके उपरान्त आठ वर्ष उसने मुद्रा, गणना, व्यवहार, विधि (मीमांसा तर्क आदि) तथा अन्य विद्यायें सीखने में बिताये। अपनी आयु के चौबीस वर्ष समाप्त कर लेने के उपरान्त खारवेल कलिंग का महाराज हो गया। उसने कलिंगाधिपति और 'कलिंगचक्रवर्तिन्' की पदवियाँ धारण की। सम्भवत उसने 'महाविजय' की विरुद भी ग्रहण की।

अपने शासन के प्रथम वर्ष में महाराज खारवेल ने अपनी राजधानी के बाह्य वैभव को सँवारने की ओर ध्यान दिया। उसने उन मुख्य द्वारों और प्राकारों की मरम्मत कराई जो काल के मुँह में पड़कर टूट गये थे। उसने लोकहित की दृष्टि से कुछ नयी वस्तुओं का निर्माण कराया जिनमें शीतल जल से युक्त और सीढ़ियों से अलंकृत

१ *Political History of Ancient India*, Vth Edition, p 418

तडागो का स्थान प्रमुख था। दुर्गों की उसने अच्छी तरह से मरम्मत कराई। जनहित के कार्यों मे उसका प्रभूत धन व्यय हुआ और पैंतीस लाख मुद्रायें व्यय करके महाराज खारवेल ने जनता के मनोरञ्जन और आमोद प्रमोद की व्यवस्था की। अपने राज्य काल के द्वितीय वर्ष मे उसने अपने सैन्य-बल और आतंक का परिचय दिया। आन्ध्र नरेश शातकर्णि की शक्ति को तुच्छ समझते हुए उसने अश्व, हाथी, रथ और पदल सैनिको की एक विशाल वाहिनी भेजकर कृष्णा पर स्थित मूषिक नगर को ध्वस्त किया। चौथे वर्ष म सम्भवत खारवेल ने विद्याधर नामक राजकुमार की राजधानी पर अपना अधिकार स्थापित किया और उसी वर्ष उसने राष्ट्रिको तथा भोजको को, जो कदाचित बरार प्रदेश मे रहते थे, पराजित करके उनका दमन किया। दक्षिण मे महाराज खारवेल को जो सफलता प्राप्त हुई, उससे उसका उत्साह बहुत अधिक बढ गया और उसने उत्तरी भारत पर भी अपना प्रभाव जमाने का विचार किया। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने अपने शासन के आठवें वर्ष मे गोरथगिरि को विध्वस्त किया। यह बाराबरा की पहाडियो मे बना हुआ एक सुदृढ दुर्ग था, जिसके ध्वस्त हो जाने से उसको आगे विजय प्राप्त करने मे बडी सरलता प्राप्त हो गई। उसने राजगृह नगर पर धावा किया और वहाँ के निवासियो को सन्त्रस्त किया। खारवेल के इन शौर्यपूर्ण कार्यों के समाचार ने एक यवन नरेश के हृदय को इतना अधिक भयभीत कर दिया कि वह भागकर मथुरा चला गया। यह यवन राजा जिसका नाम कभी कभी कुछ सन्दिग्ध रूप से दिमित अथवा दिमत (डेमेट्रियस) पढा जाता है, सम्भवत पूर्वी पजाब का एक परवर्ती इण्डो-यूनानी शासक था। दसवें वर्ष मे सेना, सन्धि और साम आदि विभिन्न उपायो का अवलम्बन करके खारवेल ने भारत विजय के लिये 'भारतवर्ष की ओर' प्रस्थान किया। यहाँ पर भारतवर्ष शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उससे अभिप्राय अन्तर्वेद अथवा उत्तरी भारत से है। अपने राज्य-काल के ग्यारहवें वर्ष मे उसने पिथुण्ड नगर को विनष्ट किया और उसके प्रासादों पर हल चलवा दिया। इसी समय उसने अपने पलायित शत्रुओ के माल को लूटकर हस्तगत किया। उसने मगधवासियो को सन्त्रस्त किया और सम्भवत गगा के तट पर मगध-नरेश बहस्पति मित्र को पराजित भी किया।[1] खारवेल ने अपने शासन के आठवें वर्ष मे ही राजगृह पर आक्रमण करके वहाँ के निवासियो को भयाकुल कर दिया था और इस बार भी उत्तरापथ के अन्य नरेश खारवेल की प्रचण्ड रणशक्ति से भयभीत हो चुके थे। अतएव बहसतिमित्र ने, जिसे राजगृह का स्वामी कहा गया है सन्धि की प्रार्थना की। सन्धि की इस प्रार्थना को स्वीकार करके महाराज खारवेल ने बहसतिमित्र से अपनी पाद-वन्दना कराई। उत्तरापथ की सैन्य सफलताओ के वर्णन मे हाथीगुम्फा अभिलेख का प्रशस्तिकार कहता है कि खारवेल ने अपनी सेना के हाथी घोडो को गगा मे नहलाकर मागध जनों मे विपुल भय उत्पन्न कर दिया।[2] इसी समय वह कलिंग देश की जिनमूर्ति को अपने साथ ले आया जिसे नन्द राजा मगध ले गये थे। मगध के राजा को युद्ध मे पराजित करके महाप्रतापी खारवेल ने नन्दो और मौर्यों के समय मे किये गये कलिंग के राष्ट्रीय अपमान का प्रतिकार किया। उसने इस बार मगधवासियो की बहुत-सी सम्पत्ति भी लूटी। इसी वर्ष उसने दक्षिण के पाण्ड्य नरेश पर भी आक्रमण किया और मुक्ता मणि रत्न की अनन्त राशि प्राप्त की। सैन्य विजयो के उपरान्त अपने शासन के तेरहवें

---

१ म (।) गधान च विपुल भय जतो हथस गगाय पाययति।

२ डॉ० जायसवाल का यह कथन कि हाथीगुम्फा अभिलेख का बहसतिमित्र और पुष्यमित्र शुग एक ही व्यक्ति हैं निराधार और तर्कशून्य जान पडता है।

वर्ष में कलिंग-नरेश खारवेल ने एक धार्मिक कार्य किया। वह स्वयं जैन धर्म का अनुयायी था अतएव उसने कुमारी पर्वत (उदयगिरि, खण्डगिरि) में अर्हतो के वर्षावास तथा अन्य सुकर्तों के लिए पन्द्रह लाख से भी अधिक व्यय कर गुहायें बनवाई।

हाथीगुम्फा अभिलेख के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिंग का राजा खारवेल एक महान् विजेता तथा अपने समय का एक प्रभावशाली सम्राट् था। जिस कलिंग पर मगधेश्वरो (नन्दो और मौर्यो) ने अपनी राजसत्ता स्थापित की थी, उसी देश के शासक ने अपने भुजबल से अपने समय के मगध सम्राट को नतमस्तक होने के लिए बाध्य किया। एक बार नही, अपितु दो-दो बार उत्तरापथ पर आक्रमण करके खारवेल ने अपनी शूरता का परिचय दिया। शातकर्णि के बल की अवहेलना करके उसने मूषिक नगर का विध्वस किया पिथुण्डनगर को उसने विनष्ट किया और दक्षिण (तामिल देश) के पाण्ड्य राजा से अपने विजय-स्वरूप प्रचुर धन प्राप्त किया। शौर्य से भयभीत होकर एक यवन नरेश ने भागकर मथुरा में शरण ली—इन सब प्रमाणो के आधार पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि खारवेल अपने समय का सबसे प्रचड योद्धा और विजेता था। महान अभिलेख में हमे उसकी किसी पराजय का विवरण नहीं प्राप्त होता, जिससे यह प्रतीत होता है कि उसकी विजय-वजयती सर्वदा फहराती ही रही। विश्व के अन्य महान् शासको की भांति महाराज खारवेल में अन्य गुण भी विद्यमान थे। उसने लोकहित के जो कार्य किये, उनके द्वारा उनकी प्रजावत्सलता सिद्ध होती है। वह एक महान् दानी तथा जैन धर्म का परिपोषक भी था। हाँ, यह अवश्य है कि उसने अपने महान् सैन्यबल के बावजूद भी एक सुसगठित साम्राज्य का निर्माण नही किया। एक महान विजेता होने पर भी वह एक महान् साम्राज्य-निर्माता नही था। उसकी शासन निपुणता का विवरण उसके अभिलेख द्वारा हमे नही प्राप्त होता, अतएव हम यह नही कह सकते कि वह एक सुयोग्य शासक भी था। भारत के राजनीतिक नभोमण्डल पर अकलिगाधिपति का उदय एक ऐसे नक्षत्र के रूप में हुआ जो उज्ज्वल तो था किन्तु जिसकी आभा केवल अल्प काल के ही लिए चमकती रही। उसकी विजयो का कोई स्थायी प्रभाव नही पडा।

खारवेल के तिथि-क्रम का विचार—खारवेल के शासन-काल के विषय में विद्वानो में कुछ मतभेद है। कुछ विद्वानो की सम्मति मे खारवेल का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० का प्रथमार्द्ध है। परन्तु यह धारणा भ्रान्तिमयी है। इस बात के लिए कुछ प्रबल प्रमाण प्राप्त होते है कि उसका काल कुछ बाद का है। खारवेल ने 'महाराज' की जो पदवी धारण की थी वह महाराजाधिराज की ही भाति, भारत के विदेशी शासको द्वारा चलाई गई थी। ईसा पू० द्वितीय शताब्दी के प्रथमार्द्ध के यूनानी राजाओ ने ये पदवियाँ सर्वप्रथम धारण की थी। कलिंग देश का एक नरेश जो विदेशी सभ्यता के प्रभाव से मुक्त था, इस उपाधि का, जिसकी उत्पत्ति देश की अपनी राष्ट्रीय परम्परा द्वारा न होकर विदेशी प्रभाव द्वारा हुई थी, कुछ बाद वाले समय मे ही धारण कर सकता था। अतएव यदि इस प्रश्न का आधार बनाकर खारवेल के समय पर विचार करें तो हम कतिपय विद्वानो के इस मत को स्वीकार नही कर सकते कि वह ई० पू० द्वितीय शताब्दी के प्रथमार्द्ध में हुआ था। कलिंग के समकालीन मगध नरेश का नाम हाथीगुम्फा अभिलेख में बहसतिमित्र या बृहस्पतिमित्र दिया गया है जिसका सादृश्य हम शुग या कण्व वश के किसी भी शासक के साथ नही स्थापित कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि बहसपतिमित्र का समय शुगो (१८७–१५१ ई० पू०) के बहुत बाद का होना चाहिए। इस दृष्टि से बहसतिमित्र के समकालीन नरेश खारवेल का समय भी बाद का ही होना चाहिए। अभिलेखों की लिपि से भी खारवेल के समय के प्रश्न

१५ | शकों का आक्रमण और भारत में शक-शासन

भारतीय साहित्य मे जिन विदेशी जातियों का उल्लेख आता है, उनमें सबसे प्रथम स्थान 'शक' जाति को प्राप्त था। उसके बाद 'यवन' और 'पह्लव' जातियाँ आती थीं। सस्कृत साहित्य मे अनेक स्थानो पर "शक, यवन, पह्लव" शब्द का प्रयोग मिलता है, जिससे विदेशी जातियो का ही बोध होता है। भारत मे जितने भी विदेशी कबीले आये और यहाँ बस गये, उन सबको परवर्ती युग मे 'व्रात्य'[1] क्षत्रिय कहा जाने लगा। परन्तु यह वास्तव में उनके हिन्दू धर्म मे मिलने के प्रयत्न का प्रतिफल ही था। ये सभी जातियाँ विदेशी थी और इनके लिये साधारणतया 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इन जातियों मे सबसे प्रथम यूनानियों ने ही भारत मे प्रवेश किया जिनके विषय मे हम पिछले अध्याय मे पढ चुके हैं। जिन विदेशी विजेताओ ने उत्तरी-पश्चिमी भारत से यूनानी सत्ता का उन्मूलन किया, वे थी शक, पह्लव या पार्थियन और यूची अथवा कुषाण। शकों के लिये 'सीथियन' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। ये लोग मूल रूप मे मध्य एशिया की घुमक्कड जातियों की किसी एक शाखा से सम्बन्ध रखते थे। अपने पडोसी कबीलो के आक्रमणो से भयभीत होकर और अपनी स्वाभाविक सक्रमणशीलता के कारण शकों ने विभिन्न स्थानों मे अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। फारस के हखमनी वश के प्रारम्भिक नरेशो के लेखो मे तीन शक-उप निवेशो का उल्लेख किया गया है जो उनके प्रजाजन थे। भारत मे घुमक्कड जातियों के प्रवेश के सम्बन्ध मे चीनी इतिहासकारो के द्वारा हमे महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। १७५–१६५ ई० पू० के लगभग हियग-नु (Hiung nu) अथवा हूण लोगो ने यूयेह ची के महान और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। यूयेह ची के लोगो को तोखारियन (Tocharians) और तुरुष्क भी कहा जाता है। हूणो द्वारा पश्चिमी चीन से निकाल दिये जाने पर ये लोग पश्चिम दिशा की ओर बढ़े जहाँ पर उनकी मुठभेड एक अन्य घुमक्कड जाति से हुई। इस जाति का नाम स्से (Sse) या शक था जो सर दरिया (Jaxarted or Syr Darya) के तटो पर रहते थे। यह मुठभेड सम्भवत शको के आदि देश मे हुई थी जहाँ पर यू ची जाति से पराजित होने पर उनको दक्षिण की ओर हट जाना पडा। अपने घर से निकाले जाने पर उनको भारत के सीमावर्ती प्रदेशो मे शरण लेनी पडी। कुछ दिनो बाद विजेता यू ची लोगो को वू-सन नामक एक अन्य जाति के द्वारा पराजय सहन करनी पड़ी और जो भूभाग उन्होंने शकों से हस्तगत किया था, उसे उन्हें छोड देना पडा। वे आक्सस (Oxus) की घाटी मे बस गये और वहीं से दक्षिण मे बैक्ट्रिया पर अपना कुछ अधिकार जताने लगे। यू ची लोगों द्वारा स्वस्थान से निकाले जाने पर शकों ने अपनी विशृंखलित शक्ति का सग्रह करना आरम्भ कर दिया और बैक्ट्रिया के इण्डो-ग्रीक शासकों पर आक्रमण करने लगे। शीघ्र ही वे एराकोशिया (Arachosia) और

---

१ 'मनुस्मृति' आदि धर्मशास्त्रों मे व्रात्य क्षत्रिय उन क्षत्रियों को कहा गया है जो अपने धार्मिक और सामाजिक नियमों का परिपालन न करने के कारण भ्रष्ट और पतित समझे जाते थे।

उत्तरी गेड्रोशिया (North Gedrosia) तथा पंजाब में दिखलाई पड़ने लगे। परन्तु काबुल में उनका प्रवेश नहीं हो सका, क्योंकि वहाँ पर अब भी यूनानियों की राज सत्ता कुछ सक्रिय थी। अतः शक लोग भारत में खैबर दर्रे के मार्ग से होकर नहीं, अपितु बलूचिस्तान की ब्राहुई पर्वत-श्रेणियों और बोलन के दर्रों से होकर प्रविष्ट हुए। कुछ लोग सम्भवतः एक अधिक प्रत्यक्ष मार्ग के द्वारा घुसे। यह एक उत्तरी मार्ग था और काश्मीर तथा उद्यान में होकर जाता था। इसी मार्ग के द्वारा प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान ने भी भारत में प्रवेश किया था। पिछले अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि इस समय १४० और १२० ई० पू० बैक्ट्रिया के यवन राज्यों की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो चली थी जिससे वे इन बर्बर आक्रान्ताओं के सामने ठहर नहीं सके। आगे बढ़कर शक लोग एरियाना (पश्चिमी और दक्षिण अफगानिस्तान) तथा पूर्वी ईरान में बस गये। दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ने पर शकों ने पार्थवों से लोहा लिया, जिनका राज्य Oxus (वक्षु) नद के पार था। पार्थवों का राज्य शकों के प्रसार को रोक नहीं सका। फ्रात-द्वितीय नामक पार्थव नरेश उनको रोकने के प्रयास में मारा गया। पाँच वर्ष बाद आर्तबानुस प्रथम को भी अपने प्राण इसी कार्य में खोने पड़े। परन्तु जब शकों के प्रतापी पार्थव नृपति मिथ्रदात द्वितीय (१२३—८८ ई० पू०) से लोहा लेना पड़ा तो उनका न केवल प्रसार ही रुक गया, वरन् इस शूर शासक ने उनको दक्षिण, पश्चिम की ओर खदेड़कर हेलमण्ड घाटी की तलहटी में कर दिया। बाद में इस स्थान का नाम ही शकस्थान पड़ गया। यहीं से शक लोग आर्केशिया (कन्दहार) तथा बलूचिस्तान से होकर भारत पहुँचे और सिन्धु नदी के निचले काँठे—सिन्ध में बस गये। उनके इस नवीन आवास का भारतीय ग्रन्थकारों ने शकद्वीप और ग्रीक भूगोलवेत्ताओं ने इण्डोसीथिया कहकर अभिहित किया। यह स्थान शकों के निवास के लिये पर्याप्त सुविधाजनक था, अतएव यहाँ रहकर भारत के विभिन्न भागों में उन्होंने अपने राज्य और उपनिवेश स्थापित किये। शकों ने पाँच विभिन्न राजकुलों की स्थापना की। ये राजकुल इस प्रकार थे—(१) सिन्ध और पश्चिमी पंजाब का शक-कुल, (२) उत्तर-पश्चिमी के क्षत्रप, (३) मथुरा के क्षत्रप, (४) महाराष्ट्र का क्षहरात कुल और (५) उज्जैन के क्षत्रप। हम इन राजकुलों का अध्ययन अलग-अलग करेंगे।

(१) सिन्ध और पंजाब का शक-कुल

भारत के अभिलेखों में जिन शक राजाओं का नाम उल्लिखित मिलता है उनमें समय की प्राचीनता के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम स्थान माउस (Maues) का है। इस माउस का समीकरण विद्वानों ने मोग के साथ भी किया है जिसका उल्लेख हमें तक्षशिला के ताम्रपत्र पर मिलता है। माउस एक पराक्रमी योद्धा और प्रबल विजेता था। उसने गान्धार और तक्षशिला के प्रदेशों को यूनानियों से हस्तगत कर लिया था। उसका उल्लेख सम्भवतः मैरा के अभिलेख में हुआ था। माउस-मोग एक शक्तिशाली सम्राट् (महाराय) था।[1] उसके राज्य में चुक्षा सम्मिलित था जो तक्षशिला के निकट अवस्थित था और जिस पर एक क्षत्रप शासन करता था। मुद्रा-साक्ष्य से इस बात का संकेत प्राप्त होता है कि उसका अधिकार कापिशि और पुष्कलावती तथा साथ ही साथ तक्षशिला पर विद्यमान था। उसके क्षत्रपों ने सम्भवतः मथुरा के चारों

---

१ उसकी मुद्राओं पर ग्रीक भाषा में 'सम्राटों के सम्राट महान माउस' तथा उल्टी ओर खरोष्ठी लिपि में 'राजातिराजस महतस मोअस' लिखा मिलता है। तक्षशिला से मिले एक ताम्रपत्र में उसको 'महाराय' कहा गया है।

ओर के प्रदेश से इण्डो ग्रीक और यूनानी राजसत्ता का उन्मूलन कर दिया। कदाचित युथिडेमस के राजवंश का पतन हो जाने के बाद पूर्वी पंजाब के कुछ भागों और कति पय निकटवर्ती प्रदेशों में देश के कुछ स्वातन्त्र्यानुरागी और स्वाभिमानी वर्ग, जिनमें आदुम्बर, त्रिगर्त, कुनिन्द, यौधेय तथा अर्जुनायन प्रमुख थे, अपनी स्वतन्त्रता का दुंदुभि-नाद करने लग थे। माउस ने युक्रेटाइड्स और डेमिट्रियस के सिक्कों की शक्ल के सिक्के चलवाये, परन्तु एथेना एल्किस (Athena Elkis) प्रकार के सिक्कों के अभाव में टार्न ने यह अनुमान किया है कि माउस ने मिनेन्डर के गृह राज्य (अर्थात् शाकल का समीपवर्ती प्रदेश) को अपने राज्य में नहीं मिलाया।[1] माउस ने सम्भवत इन्हीं यूनानी के बाद ही शासन किया होगा जिनके सिक्कों की अनुकृति के आधार पर उसने अपने भी सिक्के चलवाये। इस प्रकार से उसका शासन काल ७२ ई० पू० मानना चाहिये।[2] उसके सिक्कों पर ग्रीक देवताओं के साथ-साथ बुद्ध और शिव की भी आकृतियाँ खुदी मिलती हैं।

मुद्रा-साक्ष्य के द्वारा यह विदित होता है कि माउस का उत्तराधिकारी एजेस (Azes) था जिसने हिपास्ट्रेटस के राज्य को अपने राज्य में मिलाकर पूर्वी पंजाब से यूनानी शासन के अवशिष्टांश का भी उन्मूलन कर दिया। उसने हिपास्ट्रेटस के सिक्कों को पुन मुद्रित किया जिससे उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने अपने पिता से जो राज्य उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त किया, उस पर उसने अपना स्वामित्व बनाये रक्खा था। मार्शल की सम्मति में उसने मथुरा को भी विजित किया जहाँ पर विक्रम संवत का प्रचलन था। कुछ विद्वानों की यह राय है कि एजेस ने ही ५८ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले विक्रम संवत को चलाया था, परन्तु इस प्रकार की धारणा के लिये कोई आधारयुक्त तर्क नहीं है। सिक्कों के प्रमाण पर यह अनुमान किया जाता है कि एजेस प्रथम के उपरान्त एजिलिसस (Azilises) राजा हुआ। कुछ मुद्राओं पर एक ओर यूनानी भाषा में एजेस का और प्राकृत भाषा में एजिलिसेस का नाम अंकित है, जिससे यह पता चलता है कि दोनों ने संयुक्त शासन किया। एजिलिसेस के पश्चात पंजाब और सिन्ध के शक राजकुल का शासनाधिकार एजेस द्वितीय को प्राप्त हुआ। "कुछ विद्वान दोनों एजेसों को एक ही मानते हैं परन्तु उनको पृथक् मानना ही समीचीन जान पड़ता है।" डॉ० स्मिथ के विचार में खुदाई द्वारा जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें से ऊपरी स्तरों में पाये गये सिक्के एजेस द्वितीय के तथा नीचे मिले हुए सिक्के एजेस प्रथम के हैं। मार्शल ने भी इसी मत की पुष्टि की है और एजेस-प्रथम तथा एजेस द्वितीय को दो विभिन्न व्यक्ति माना है। एजेस द्वितीय के बाद शक राजसत्ता इस प्रदेश से विनष्ट हो गई और उस पर

---

१ देखिए *Political History of Ancient India*, V Edition, pp. 437-438

२ विभिन्न विद्वानों ने माउस को जो तिथि बतलाई है, उसमें परस्पर काफी विभिन्नता है। यह तिथि १३५ ई० पू० से लेकर १५४ सन् ईसवी तक बतलाई गई है। डॉ० रायचौधरी ने अनेक तर्कों के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि माउस ने "३३ ई० पू० के बाद परन्तु प्रथम शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध के पूर्व शासन किया।" देखिये, वही, पृष्ठ संख्या ४३८—३९ परन्तु स्टेनकोनो का मत उस सम्बन्ध में इससे दूसरा है। उनका विचार है कि माउस ने ६० ई० पू० के लगभग शासन करना शुरू किया।

गोंडोफर्नीज का अधिकार स्थापित हो गया। यह एक पह्लव-नरेश था जिसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे।

(२) उत्तर-पश्चिम के क्षत्रप

शक क्षत्रप राजकुलों का इतिहास जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम क्षत्रपों के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लें। 'क्षत्रप' एक उपाधि थी। यह उपाधि फारस के बेहिस्तून अभिलेख में मिलती है जहाँ पर इसका प्रयोग क्षत्रपवान्, अर्थात् 'राज्य की रक्षा करने वाला' के रूप में हुआ है। क्षत्रप स्वाधीन राजा नहीं होते थे, वरन् शक सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में प्रान्तीय शासन का भार वहन करते थे। सिन्ध में अपनी राजसत्ता स्थापित करने के बाद माउस ने 'क्षत्रप-व्यवस्था' का प्रयोग किया था। पश्चिमी पंजाब में उसने कुसुलक के लियाक तथा पतिक को अपना राज्य प्रतिनिधि (क्षत्रप) नियुक्त किया था। राजराज की उसने जिस उपाधि को धारण किया था, वह केवल मिथ्या गर्व पर आधारित नहीं वरन् एक यथार्थ बात थी। एजेस प्रथम अथवा एजेस-द्वितीय में से किसी ने क्षत्रप अस्पवर्मन को अपना राज्य प्रतिनिधि नियुक्त किया था। जिस प्रकार मोग के प्रतिनिधि लियाक और पतिक थे, उसी प्रकार सम्भवतः एजेस-द्वितीय का प्रतिनिधि स्ट्रेटेगॉस (Strategos) अस्पवर्मन था। 'क्षत्रप-व्यवस्था' में एक अन्य विशेषता भी पाई जाती है। प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप हुआ करते थे—एक महाक्षत्रप और दूसरा क्षत्रप जो प्रायः महाक्षत्रप का ही पुत्र एवं उत्तराधिकारी होता था। इनका सम्बन्ध बहुत कुछ उसी प्रकार का था जैसा कि किसी प्रान्तीय अधिष्ठान के एक समय एक ही अथवा भिन्न स्थानों से शासन करने वाले राजन् और युवराज का।"

डॉ० रायचौधरी के अनुसार उत्तरी भारतीय क्षत्रप तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(१) कापिशि, पुष्पपुर और अभिसारप्रस्थ के क्षत्रप,
(२) पश्चिमी पंजाब के क्षत्रप और
(३) मथुरा के क्षत्रप।[१]

माणिकियाला अभिलेख में कापिशि के क्षत्रप का केवल उल्लेख भर ही हुआ है। यह ग्रणव्यहक नामक क्षत्रप का पुत्र था। काबुल संग्रहालय के एक पाषाण अभिलेख से पुष्पपुर के एक क्षत्रप का पता चलता है जिसका नाम तिरहर्ण था। पुष्पपुर' (फूलों का नगर) नामक नगर का उल्लेख हो सकता है कि पुष्करावती (कमल-नगरी) के लिये किया गया हो। अभिसारप्रस्थ नगर के क्षत्रप का नाम शिवसेन था। यह नाम ताँबे की एक सील पर मिलता है जो पंजाब में मिली है। इन तीन क्षत्रपों की राज्य सीमा में योन, गान्धार और काम्बोज सम्मिलित रहे होंगे जिनका उल्लेख हम अशोक के अभिलेख में प्राप्त होता है।[२]

डॉ० रायचौधरी ने पंजाब के क्षत्रपों को तीन कुलों में विभक्त किया है जो विभिन्न भागों पर शासन करते थे। पहला कुल था कुसुलक का। इस कुल में लियाक तथा पतिक थे जो सम्भवतः क्षहरात-कुल के थे। इनका शासन चुक्षा जिले में था। फ्लीट के अनुसार दो पतिक थे। परन्तु मार्शल की सम्मति में पतिक नामक क्षत्रप एक

१ *Political History of Ancient India*, p 443

२ देखिये, वही, पृष्ठ ४४४

ही था। कुसुलक वश के क्षत्रपो का मथुरा के क्षत्रपो के साथ निकट का सम्बध था लियाक कुसुलुक के सिक्के इस बात को सूचित करते हैं कि उसके पूर्वी गाधार प्रदेश युक्रेटाइड्ज के वशजो के हाथ से निकलकर शको के अधीन हो गया था। शिला के एक ताम्रपत्र से हमे यह पता चलता है कि लियाक भाउस अथवा मो क्षत्रप था और लियाक का पुत्र पतिक महादानपति था। दूसरा क्षत्रप कुल (Manigul) तथा उसके पुत्र जिहोनिक (Jihonika) का था। मुद्राशास्त्रवेत्ताओं राय मे ये एजेस द्वितीय के शासन काल मे पुष्कलावती के क्षत्रप थे। परन्तु के 'सिलवर वेज इन्स्क्रिप्शन' से पता चलता है कि जिहोनिक तक्षशिला के ि का क्षत्रप था। तीसरा कुल इन्द्रवमन का था। इन्द्रवमन के उपरान्त उसका पुत्र इ वमन क्षत्रप हुआ था। इस्पवमन ने एजेस द्वितीय और गोण्डोफर्नीज दोनो के रा प्रतिनिधि के रूप मे काय किया था। इस्पवमन के पश्चात् उसके भतीजे सस (S... ने राज्य प्रतिनिधि का कार्य किया। यह गोण्डोफर्नीज तथा पेकोरीज दोनो का शासक था। क्षत्रपो के उपर्युक्त दो उदाहरणो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यवस्था का तत्कालीन शासन पद्धति म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योकि शकों राज्य जब नष्ट हो गया और उनका स्थान पह्लव राजकुल ने ग्रहण कर लिया तब यह व्यवस्था प्रचलित रही और पह्लवो ने क्षत्रपो को उनके पदो से च्युत करना अनुचित समझा। यह सम्भव है कि क्षत्रप उस समय की शासन प्रणाली के मेरु स्वरूप थे जिनको सहसा बदल देने से राज्य की केन्द्रीय सरकार को धक्का प सकता था, इसीलिये इस्पवमन को प्रतापी पह्लव नरेश गोण्डोफर्नीज ने क्षत्रप के से अलग नही किया। क्षत्रप-व्यवस्था का महत्त्व हम और अच्छी तरह तभी सम सकते हैं जब आगे आने वाले कुषाणो की शासन-पद्धति का अध्ययन करें। कुषाणों पह्लवो का ध्वस करके राज्य हस्तगत किया था, किन्तु उन्होंने अपने विजितो से क्ष व्यवस्था ग्रहण कर ली, जिस प्रकार कुछ समय पूव शको की राजसत्ता का ... करने वाले पह्लवो ने अपने विजितो की क्षत्रप व्यवस्था को ग्रहण किया था। इ ही नही, कुषाण सत्ता का विनाश हो जाने पर भी क्षत्रपो का राज्य बना रहा। डा डी० सी० सरकार ने लिखा है कि पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप जो, कुषाणो की नता स्वीकार करते थे, उन भागो मे भारत मे कुषाणो की साम्राज्य सत्ता के प के बाद भी काफी लम्बे समय तक शासन करते रहे। ("The Saka Satraps Western India, owing allegiance to Kushanas continued to in those regions for a long time after the decline of Kushan i perial power in India"—*The Age of Imperial Unity*, p 135)

(३) मथुरा के क्षत्रप

मुद्राओ और अभिलेखो की सहायता से मथुरा के क्षत्रपो के राजनीतिक ह्रास को हम काफी अश मे समझ सकते हैं। अभिलेखो और मुद्राओ की प्राप्ति मथुरा के क्षत्रपो का इतिहास अन्धकारमय था। सम्भवत मथुरा के शक मथुरा का राज्य शुगवश के अन्तिम नरेश अथवा किसी कण्व राजा से हस्तगत था। इस कुल के प्रारम्भिक राजा हगान और हगामस थे जिन्होंने कुछ काल तक साथ मिलकर राज्य किया था। इन दोनो मे परस्पर पिता-पुत्र अथवा सम्बध था यह कह सकना कठिन है, परन्तु कुछ मुद्राओ मे यह पता लगता है हगामस ने अकेले शासन किया और कुछ सिक्को के द्वारा यह भी विदित होता

कि उसने हगान के साथ राज्य किया । उसके बाद, डॉ० स्मिथ के अनुसार राजुल (रज्जुवुल) उसका उत्तराधिकारी था । अभिलेखों द्वारा उसके कार्यों पर काफी प्रकाश पड़ता है । मोरा अभिलेख मे उसे महाक्षत्रप कहा गया है । उसकी मुद्राओं मे भी उसके लिये 'महाक्षत्रप' विशेषण का प्रयोग किया गया है । "इससे अनुमान होता है कि पहले वह क्षत्रप था, बाद मे महाक्षत्रप की पदवी उसने ग्रहण की । उसके स्वतन्त्र अथवा स्वतन्त्रप्राय रूप मे शासन करने का अनुमान उसकी उपाधियों एवं मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणों से होता है । राजकाज मे उसका पुत्र शोडास (सुदास) क्षत्रप के रूप मे उसकी सहायता करता था जो उसके बाद महाक्षत्रप हुआ ।' राजुल अथवा रज्जुवुल एक प्रतापी शासक था । डॉ० त्रिपाठी के शब्दों मे उसने स्ट्रेटो प्रथम और स्ट्रेटो-द्वितीय के सिक्कों का अनुकरण किया था और इससे यह निष्कर्ष निकालना बेजा न होगा कि रज्जुवुल ने ग्रीक शासन का पूर्वी पंजाब मे अन्त कर दिया । मथुरा के सिंह मस्तक वाले अभिलेखों के अनुसार वह उस समय क्षत्रप था जब कि पतिक अथवा पतिक (जो तक्षशिला लेख का पतिक है) महाक्षत्रप था । इस प्रकार हम दोनों को समसामयिक मान सकते है । ' रज्जुवुल के उपरान्त उसका पुत्र शोडास क्षत्रप हुआ । अपने पिता के शासन-काल मे वह सम्भवत क्षत्रप था किन्तु बाद मे उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर ली । शोडास के बाद का इतिहास अन्धकारपूर्ण है । स्टेनकोनो के विचार में शोडास-काल १५ ई० स० के निकट रखना चाहिये । शोडास के बाद मथुरा के शक-क्षत्रप-कुल की शक्ति बहुत ही कम हो गई । कुषाणों के आक्रमण ने इसका अन्त कर दिया । मथुरा के क्षत्रपों के भारतीयकरण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से सफल हो गई थी । उनमे से कुछ ने जैन धर्म और कुछ ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया ।

(४) महाराष्ट्र के क्षहरात शक-क्षत्रप

शक-क्षत्रपों के विषय मे हम ऊपर अभी पढ़ चुके हैं, किन्तु पश्चिमी क्षत्रप कुल का इतिहास जितना महत्वपूर्ण है उतना महत्व शक राजकुल की किसी भी शाखा का नही है । पश्चिमी क्षत्रप-कुल की दो शाखायें थी, महाराष्ट्र के क्षहरात कुलीन क्षत्रपों की और दूसरी उज्जैन के शक-क्षत्रपों की । क्षहरात कुल की उत्तरी उत्पत्ति का निर्देशन उनके सिक्कों के ऊपर की खरोष्ठी लिपि से होता है । डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने भी अनुमान किया है कि महाराष्ट्र के क्षहरात सम्भवत छहर के ही रहने वाले थे । क्षहरात भूमक महाराष्ट्र के क्षत्रप-कुल का प्रथम व्यक्ति था । उसके सिक्के गुजरात तथा काठियावाड के समुद्रतटीय प्रदेशों मे पाये गये हैं और उसकी कुछ मुद्रायें राजपूताना के मालवा तथा अजमेर प्रदेशों से भी मिली हैं । भूमक के मुद्रा लेखों मे खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों के प्रयोग से इस तथ्य का पता चलता है कि क्षत्रपों के राज्य मे न केवल मालवा, गुजरात और काठियावाड के प्रदेश ही सम्मिलित थे जहाँ पर ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी, वरन् राजपूताना और सिंध के कुछ भाग भी इसके अन्तर्गत थे ।[१] भूमक ने जिस राजकुल की सस्थापना की उसका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण हम प्राप्त नही है । उसके पश्चात नहपान क्षहरात-कुल का अधिकारी हुआ ।, प्रोफेसर रैप्सन ने भूमक और नहपान के सिक्कों का जो तुलनात्मक परिशीलन किया है उससे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भूमक नहपान का अग्रवर्ती था । उनका विचार है कि भूमक के सिक्कों के मुखपृष्ठ को नहपान ने अपने सिक्कों मे उल्टा कर रखा है । सिक्कों

१ देखिए *The Age of Imperial Unity*, p 179

ही था। कुसुलक वंश के क्षत्रपों का मथुरा के क्षत्रपों के साथ निकट का सम्बन्ध था। लियाक कुसुलुक के सिक्के इस बात को सूचित करते हैं कि उसके पूर्वी प्रदेश युक्रेटाइड्ज के वंशजों के हाथ से निकलकर शकों के अधीन हो गया था। शिला के एक ताम्रपत्र से हमें यह पता चलता है कि लियाक माउस अथवा क्षत्रप था और लियाक का पुत्र पतिक महादानपति था। दूसरा क्षत्रप कुल (Manigul) तथा उसके पुत्र जिहोनिक (Jihonika) का था। मुद्राशास्त्रवेत्ताओं राय में ये एजेस-द्वितीय के शासन-काल में पुष्कलावती के क्षत्रप थे। परन्तु के 'सिलवर वेज इन्स्क्रिप्शन' से पता चलता है कि जिहोनिक तक्षशिला के निकट का क्षत्रप था। तीसरा कुल इन्द्रवमन का था। इन्द्रवमन के उपरान्त उसका पुत्र वमन क्षत्रप हुआ था। इस्पवमन ने एजेस द्वितीय और गोंडोफर्नीज दोनों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया था। इस्पवमन के पश्चात् उसके भतीजे सस (Sas ने राज्य प्रतिनिधि का कार्य किया। यह गोंडोफर्नीज तथा पेकोरीज दोनों का शासक था। क्षत्रपों के उपर्युक्त दो उदाहरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि क्षत्र व्यवस्था का तत्कालीन शासन पद्धति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि शकों राज्य जब नष्ट हो गया और उनका स्थान पह्लव राजकुल ने ग्रहण कर लिया तब यह व्यवस्था प्रचलित रही और पह्लवों ने क्षत्रपों को उनके पदों से च्युत करना अनुचित समझा। यह सम्भव है कि क्षत्रप उस समय की शासन प्रणाली के स्वरूप थे जिनको सहसा बदल देने से राज्य की केन्द्रीय सरकार को धक्का पहुँच सकता था, इसीलिये इस्पवमन को प्रतापी पह्लव नरेश गोंडोफर्नीज ने क्षत्रप के पद से अलग नहीं किया। क्षत्रप-व्यवस्था का महत्व हम और अच्छी तरह तभी सकते हैं जब आगे आने वाले कुषाणों की शासन-पद्धति का अध्ययन करें। कुषाणों पह्लवों का ध्वंस करके राज्य हस्तगत किया था, किन्तु उन्होंने अपने विजितों से क्षत्र व्यवस्था ग्रहण कर ली, जिस प्रकार कुछ समय पूर्व शकों की राजसत्ता का उन्मूलन करने वाले पह्लवों ने अपने विजितों की क्षत्रप व्यवस्था को ग्रहण किया था। इतना ही नहीं, कुषाण सत्ता का विनाश हो जाने पर भी क्षत्रपों का राज्य बना रहा। डॉ॰ डी॰ सी॰ सरकार ने लिखा है कि पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप जो, कुषाणों की अधीनता स्वीकार करते थे, उन भागों में भारत में कुषाणों की साम्राज्य-सत्ता के पतन के बाद भी काफी लम्बे समय तक शासन करते रहे। ("The Saka Satraps of Western India, owing allegiance to Kushanas continued to rule in those regions for a long time after the decline of Kushan imperial power in India"—*The Age of Imperial Unity*, p 135)

(३) मथुरा के क्षत्रप

मुद्राओं और अभिलेखों की सहायता से मथुरा के क्षत्रपों के राजनीतिक इतिहास को हम काफी अंश में समझ सकते हैं। अभिलेखों और मुद्राओं की प्राप्ति के पूर्व मथुरा के क्षत्रपों का इतिहास अन्धकारमय था। सम्भवतः मथुरा के शक क्षत्रपों ने मथुरा का राज्य शुंगवंश के अन्तिम नरेश अथवा किसी कण्व राजा से हस्तगत किया था। इस कुल के प्रारम्भिक राजा हगान और हगामस थे जिन्होंने कुछ काल तक साथ मिलकर राज्य किया था। इन दोनों में परस्पर पिता-पुत्र अथवा भाई का सम्बन्ध था, यह कह सकना कठिन है परन्तु कुछ मुद्राओं से यह पता लगता है कि हगामस ने अकेले शासन किया और कुछ सिक्कों के द्वारा यह भी विदित होता

कि उसने हगान के साथ राज्य किया । उसके बाद, डॉ० स्मिथ के अनुसार राजुल (रज्जुवुल) उसका उत्तराधिकारी था । अभिलेखो द्वारा उसके कार्यों पर काफी प्रकाश पडता है । मोरा अभिलेख मे उसे महाक्षत्रप कहा गया है । उसकी मुद्राओ मे भी उसके लिये 'महाक्षत्रप विशेषण का प्रयोग किया गया है । "इससे अनुमान होता है कि पहले वह क्षत्रप था, बाद मे महाक्षत्रप की पदवी उसने ग्रहण की । उसके स्वतत्र अथवा स्वतत्रप्राय रूप मे शासन करने का अनुमान उसकी उपाधियो एव मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणो से होता है । राजकाय मे उसका पुत्र शोडास (शुदास) क्षत्रप के रूप मे उसकी सहायता करता था जो उसके बाद महाक्षत्रप हुआ ।" राजुल अथवा रज्जुवुल एक प्रतापी शासक था । डॉ० त्रिपाठी के शब्दो मे 'उसने स्ट्रेटो-प्रथम और स्ट्रेटो-द्वितीय के सिक्को का अनुकरण किया था और इससे यह निष्कर्ष निकालना बेजा न होगा कि रज्जुवुल ने ग्रीक शासन का पूर्वी पजाब मे अत कर दिया । मथुरा के सिंह मस्तक वाले अभिलेखो के अनुसार वह उस समय क्षत्रप था जब कि पडिय अथवा पतिक (जो तक्षशिला लेख का पतिक है) महाक्षत्रप था । इस प्रकार हम दोनो को समसामयिक मान सकते हैं ।' रज्जुवुल के उपरान्त उसका पुत्र शोडास क्षत्रप हुआ । अपने पिता के शासन-काल मे वह सम्भवत क्षत्रप था किन्तु बाद मे उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर ली । शोडास के बाद का इतिहास अधकारपूर्ण है । स्टेनकोनो के विचार मे शोडास-काल १५ ई० स० के निकट रखना चाहिये । शोडास के बाद मथुरा के शक-क्षत्रप-कुल की शक्ति बहुत ही कम हो गई । कुषाणो के आक्रमण ने इसका अन्त कर दिया । मथुरा के क्षत्रपो के भारतीयकरण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से सफल हो गई थी । उनमे से कुछ ने जन धर्म और कुछ ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया ।

(४) महाराष्ट्र के क्षहरात शक-क्षत्रप

शक-क्षत्रपों के विषय मे हम ऊपर अभी पढ चुके हैं किन्तु पश्चिमी क्षत्रप कुल का इतिहास जितना महत्वपूर्ण है उतना महत्व शक राजकुल की किसी भी शाखा का नही है । पश्चिमी क्षत्रप-कुल की दो शाखायें थी, महाराष्ट्र के क्षहरात कुलीन क्षत्रपो की और दूसरी उज्जैन के शक-क्षत्रपो की । क्षहरात कुल की उत्तरी उत्पत्ति का निर्देशन उनके सिक्को के ऊपर की खरोष्ठी लिपि से होता है । डॉ० रमाशकर त्रिपाठी ने भी अनुमान किया है कि महाराष्ट्र के क्षहरात सम्भवत क्षहर के ही रहने वाले थे । क्षहरात भूमक महाराष्ट्र मे क्षत्रप-कुल का प्रथम व्यक्ति था । उसके सिक्के गुजरात तथा काठियावाड के समुद्रतटीय प्रदेशो मे पाये गये हैं और उसकी कुछ मुद्रायें राजपूताना के मालवा तथा अजमेर प्रदेशो मे भी मिली हैं । भूमक के मुद्रा लेखो मे खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियो के प्रयोग से इस तथ्य का पता चलता है कि क्षत्रपो के राज्य मे न केवल मालवा, गुजरात और काठियावाड के प्रदेश ही सम्मिलित थे जहाँ पर ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी, वरन् राजपूताना और सिंध के कुछ भाग भी इसके अन्तगत थे ।[१] भूमक ने जिस राजकुल की सस्थापना की उसका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण हम प्राप्त नही है । उसके पश्चात् नहपान क्षहरात कुल का अधिकारी हुआ । प्रोफेसर रैप्सन ने भूमक और नहपान के सिक्को का जो तुलनात्मक परिशीलन किया है, उससे व इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि भूमक नहपान का अग्रवर्ती था । उनका विचार है कि भूमक के सिक्को के मुखपृष्ठ को नहपान ने अपने सिक्को मे उल्टा कर रखा है । सिक्को

१ देखिए *The Age of Imperial Unity*, p 179

के इस नये गठन, उसके आकार प्रकार एवं लिखावट से रैप्सन के अनुसार इस बात के लिये सन्देह का कोई कारण नहीं बचता कि नहपान भूमक का निकटतम उत्तराधिकारी था (रैप्सन, कैटलॉग ऑव आन्ध्र क्वाइन्स, पृ०, ८७, स्वर्गीय एन० एन० घोष द्वारा उद्धृत)। लेकिन, नहपान के साथ भूमक का क्या सम्बन्ध था, इस विषय पर सभी साक्ष्य मूक हैं। भूमक उस समय पह्लवों का क्षत्रप था जिस समय कुषाणों की राजनीतिक शक्ति का भारत मे उदय हुआ। वह केवल क्षत्रप ही था, कभी राजा अथवा महाक्षत्रप नहीं था। उसके कुछ सिक्कों पर एक सिंह स्तम्भ तथा धर्मचक्र खुदा हुआ मिलता है जिससे कुछ विद्वान् उसका सम्बन्ध मथुरा के क्षत्रपों के साथ जोड़ते हैं जो अपने एक बौद्ध-स्मारक के सिंह मस्तक के लिये विख्यात हैं। भूमक के शासन-काल की घटनाओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

नहपान—महाराष्ट्र के क्षहरात कुल का सबसे प्रसिद्ध शासक नहपान था। उसके विषय में उसके सिक्कों और अभिलेखों द्वारा प्रचुर सूचना प्राप्त होती है। अपने पूर्ववर्ती लेखों मे नहपान क्षत्रप कहा गया है जबकि ४६वें वर्ष के अभिलेख में उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर ली। लेकिन इन सभी अभिलेखों में वह राजन् की उपाधि से भी विभूषित है जो सम्भवतः यह सूचित करती है कि राजनीतिक स्थिति भूमक की राजनीतिक स्थिति से कहीं अधिक ऊँची थी। कदाचित वह एक स्वतन्त्र शासक के रूप मे भी शासन करता रहा, यद्यपि उसने कभी भी कुषाण सत्ता का पूर्ण कर विरोध नहीं किया। नहपान के सिक्के राजपूताना के अजमेर जिले और दक्षिण में नासिक मे प्राप्त हुए हैं। उसके साम्राज्य विस्तार का प्रमाण अभिलेखिक साक्ष्य द्वारा प्राप्त होता है। आठ गुहा अभिलेख जो पाण्डुलेना में (पूना जिले में नासिक, जुन्नर और कार्ले के निकट) खोजे गये हैं, इस बात को सिद्ध करते हैं कि उसके राज्य में महाराष्ट्र का काफी भाग सम्मिलित था। इन अभिलेखों में से सात तो उसके जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) के दानों का वर्णन करते है जबकि आठवाँ अभिलेख अमात्य (मन्त्री अथवा नगर शासन का अधिकारी) अयम के उदारतापूर्ण कार्यों का विस्तृत तथा उल्लेख करता है। उषवदात के अभिलेख इस बात का सूचित करते हैं कि नहपान का राजनीतिक प्रभाव कदाचित पूना (महाराष्ट्र प्रान्त) और सूरपारक (उत्तरी कोंकण) से लेकर काठियावाड़ में प्रभास, मालवा, उज्जैन और मन्दसोर तथा अजमेर के जिले तक फैला हुआ था। उसके राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत पुष्कर भी सम्मिलित था जो एक तीर्थस्थान था। मालय या मालव लोगों पर विजय प्राप्त करने के बाद वह (उषवदात) अभिषेक के लिये यहीं आया था।[1] महाराष्ट्र में सातवाहनों के जो अभिलेख मिले हैं, उनसे यह विदित होता है कि इस प्रदेश पर उन्हीं का अधिकार था। किन्तु नहपान के भी सिक्कों और अभिलेखों का महाराष्ट्र प्रदेश में पाया जाना यह सिद्ध करता है कि उसने प्रारम्भिक सातवाहन नरेशों से महाराष्ट्र छीन लिया था और उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इस बात के भी पुष्ट प्रमाण हैं कि महाराष्ट्र पर शासन-सत्ता जमाने वाला व्यक्ति नहपान ही था, भूमक नहीं। "भूमक की मुद्राओं के प्राप्ति स्थानों से यह पता चल जाता है कि उसका शासन मुख्य काठियावाड़ अजमेर और पुष्कर तक ही सीमित था। पाण्डुलेना (नासिक) में जितने अभिलेख मिले हैं उनमें से किसी में भी भूमक का नाम नहीं आया है। इसके विपरीत नहपान के चाँदी के सिक्के बहुतायत से महाराष्ट्र में मिल जाते हैं और नासिक के

१ देखिए, *Political History of Ancient India* V Edition, p 484

इनके ही गुहाभिलेखों में उसके और उसके जामाता उपवदात (ऋषभदत्त) के नाम आये हैं। इससे स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में शक राज्य का विस्तार करने वाला नहपान ही प्रथम क्षहरात था'—(श्री एन० एन० घोष)। पुष्कर में उपवदात के स्नान का उल्लेख नासिक अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख के अनुसार मालवों के आक्रमण इस समय बड़े प्रबल रूप में हो रहे थे जिनको रोकने का प्रयत्न उत्तमभद्र लोग कर रहे थे। नहपान ने अपने दामाद उषवदात को उत्तमभद्रों की सहायता करने का आदेश दिया। श्वसुर का अनुशासन पाकर उपवदात ने उत्तमभद्रों की सहायता की और मालवों को युद्ध में पराजित किया। अपनी इस विजय के उपलक्ष में उपवदात ने पुष्कर तीर्थ की यात्रा की। वहाँ उसने स्नान किया और ब्राह्मणों को प्रचुर मात्रा में गायें और सुवर्ण दान में दिये। उपवदात के इस कृत्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय शक लोग काफी अंशों में भारतीय हो चुके थे। उसकी पत्नी दक्षमित्रा के नाम से स्पष्ट है कि नामों में भी शक लोग अब भारतीयता अपनाने लगे थे। शकों के भारतीयकरण का ज्वलन्त उदाहरण हम महाक्षत्रप रुद्रदामन के जीवन में देखने को मिलता है जिसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे। उषवदात की धर्मपत्नी दक्षमित्रा ने पुण्य-सचयार्थ एक गुहावास दान किया था।

नहपान के अभिलेखों में तिथियाँ खुदी हुई हैं जो किसी संवत की ४१ से लेकर ४६ तक की वर्ष संख्याओं के अन्तर्गत हैं। चूंकि यह संवत् कनिष्क की राज्य-गणना को छोड़कर कोई दूसरा नहीं हो सकता, जो कि शक संवत् ७८ से प्रारम्भ होता है, अतएव नहपान संभवतः ११९–१२५ के समय ही हुआ होगा। जोगलथम्बी के सिक्कों का ढेर यह बतलाता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपान के सिक्कों को फिर से मुद्रित किया था। जिस क्षहरात राज्य के उन्मूलन का वह दावा करता है उसका अधिकार इस समय नहपान के ही अधीन था उसके किसी उत्तराधिकारी के अधीन नहीं। नहपान और गौतमीपुत्र शातकर्णि इसलिये एक दूसरे के समकालीन थे। तोलमी के भूगोल के साक्ष्यानुसार गौतमीपुत्र शातकर्णि का पुत्र प्रतिष्ठान (सातवाहनों की राजधानी) के राजसिंहासन पर १४० सन् ई० के लगभग समासीन था। अतएव गौतमीपुत्र शातकर्णि और उसके समकालीन नहपान ने द्वितीय शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में शासन किया होगा।[1]

नहपान की तिथि के संबंध में हम यह देख चुके हैं कि उसके शासन का अन्त गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किया था। इस प्रतापी शातवाहन नरेश ने न केवल नहपान को ही पराजित किया, अपितु शकों को महाराष्ट्र से निर्वासित भी कर दिया। परन्तु दक्षिणी प्रान्त सातवाहनों के हाथों में चले जाने पर भी क्षहरात वंश के राज्य का उत्तरी भाग शकों के अधिकार में रहा। नहपान के उत्तराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान बिल्कुल शून्य है। यह सम्भव है कि उसकी मृत्यु के बाद भी क्षहरात कुल का शासन कुछ और समय के लिए टिका रहा हो, परन्तु नहपान के बाद इस वंश का गौरव मिट गया।

(५) उज्जैन के क्षत्रप

यदि यह कहा जाय कि शकों के राजकुल में सबसे अधिक महत्व उज्जैन के क्षत्रपों

१ इस विवेचन के लिए देखिए *The Age of Imperial Unity*, p 180, footnote 1 रायचौधरी महोदय भी नहपान की उपयुक्त तिथि ही मानते हैं। देखिये *Political History of Ancient India*, pp 485-49

था था तो सम्भवत अत्युक्ति न होगी। उज्जैन के शक-क्षत्रपों के कुल ने
तक शासन किया और देश की राजनीतिक उथल-पुथल तथा सामाजिक
में काफी महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस वंश के एक प्रसिद्ध शासक रुद्रदामन का
हमें स्पष्टतया बतलाता है कि आक्रमणकारी शक इस समय तक देश
साथ बिल्कुल घुल मिल गये थे। वे न केवल देश की प्राचीन संस्कृति और
को ही ग्रहण कर चुके थे, अपितु वे उनके पोषक भी बन गये थे। भारत के
इतिहास मे इस वंश का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उज्जैन के क्षत्रप राजवंश का संस्थापक यसोमतिक था जो चष्टन
यसोमतिक का नाम सीथियन उत्पत्ति का है। उसके एक वंशज को,
द्वितीय के द्वारा मारा गया, बाण ने अपने 'हर्षचरित' में शक राजा कहा है।
विद्वान् इस बात को मानते हैं कि उज्जैन का क्षत्रप-कुल शक जाति का ही था
वंश का ठीक-ठीक नाम नहीं मालूम। रैप्सन का कथन है कि यह नाम
सकता है। रुद्रदामन की पुत्री इस बात पर गर्व प्रकट करती है
कार्दमक वंश के नरेशों के परिवार मे हुआ है, परन्तु यह सम्भव है कि इस बात
लिये वह अपनी माता की ऋणी रही हो। स्पष्टतया कार्दमक नरेशों के नाम का
फारस की एक नदी कर्दम से हुआ है।[1]

चष्टन उज्जैन का प्रथम शक शासक था। उसके पिता ने
पना अवश्य की थी, परन्तु उज्जैन में अपने वंश का शासन प्रारम्भ करने वाला
ही था। चष्टन ने सम्भवत कुषाणों के एक सामन्त के रूप में सिंध पर
था।[2] नहपान की मृत्यु के बाद, ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणी-पश्चिमी
उपशासक कुषाणों ने चष्टन को ही नियुक्त कर दिया और उसे
शासनान्तर्गत उन भागों को पुन अधिकार मे करने का आदेश भी
के समय मे गौतमीपुत्र शातकर्णि ने जीत लिये थे।

हम क्षत्रप-व्यवस्था के सम्बन्ध मे यह जान चुके हैं कि कभी-कभी महाक्षत्रप
की उपशासक के रूप मे जो नियुक्ति की जाती थी उसमे उनकी सहायता के लिये कभी
कभी क्षत्रप भी नियुक्त कर दिये जाते थे। जब अपनी वृद्धावस्था में चष्टन
क्षत्रप हो गया तो उसने अपने पुत्र जयदामन को क्षत्रप नियुक्त कर दिया। जयदामन
की मृत्यु शीघ्र ही हो गई जिससे उसके पुत्र रुद्रदामन-प्रथम ने उसका स्थान ग्रहण
लिया। "अन्धाऊ में जिन अभिलेखों की खोज हुई है, वे यह दिखलाते हैं कि शकवर्ष
५२ अर्थात् १३०-३१ मे राजा चष्टन अपने पौत्र राजा रुद्रदामन के साथ सम्मिलित
रूप में शासन कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस तिथि मे चष्टन
और रुद्रदामन क्षत्रप था।"[3]

रुद्रदामन्—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जयदामन अल्पायु रहा जिससे

---

१ *Political History of Ancient India*, p 505

२ डुब्रोआ नामक विद्वान् चष्टन को 'गौतमीपुत्र' का सामन्त मानते हैं।

३ देखिए *The Age of Imperial Unity*, P 183 चष्टन और रुद्रदामन
के सम्मिलित शासन की बात डॉ० भंडारकर ने भी स्वीकार की है, परन्तु डुब्रोआ
इस मत को नहीं मानते और अन्धाऊ के लेखों को रुद्रदामन के शासन-काल का
मानते हैं।

शासन-सूत्र उसके पुत्र रुद्रदामन को ग्रहण करना पड़ा। लगभग १३०-३१ ई० सन् में रुद्रदामन महाक्षत्रप हुआ। उसके सभी सिक्के उस समय के हैं जबकि वह महाक्षत्रप था। उसके शासन-काल का इतिहास जानने के लिये हमारे पास एक अनुपम साधन है। वह साधन है जूनागढ़ का उसका अभिलेख। इस अभिलेख की तिथि शक सम्वत् ७२, अर्थात् १५०-५१ ई० है। गिरनार पर्वत पर जूनागढ़ की यह प्रशस्ति उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति की संस्कृत का प्रवाह हमें गुप्त-युग के संस्कृत का स्मरण दिलाता है। इस प्रशस्ति से रुद्रदामन की सैनिक सफलताओं और उसके व्यक्तित्व के गुणों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

रुद्रदामन एक महान् योद्धा और पराक्रमी विजेता था। उसने महाक्षत्रप की उपाधि उत्तराधिकारस्वरूप न प्राप्त करके स्वयं अधिगत की थी (स्वयमधिगत महाक्षत्रपनाम्ना)। शातकर्णि नृपति को उसने दो-दो बार युद्ध में पराजित किया था, परन्तु अपना निकट सम्बन्धी होने के कारण उसने उसे मुक्त करके यश प्राप्त किया था (दक्षिणापथपतेः सातकर्णेद्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा)। रुद्रदामन ने यौधेयों को युद्ध में करारी हार दी। दक्षिणी पंजाब और निकटवर्ती प्रदेशों में यौधेयों का एक प्रबल गणतन्त्र था और अपनी स्वतन्त्रतानुरागिता के द्वारा वे सदा शासकों को तंग किया करते थे। रुद्रदामन ने इनको विजित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और अपने साम्राज्य विस्तार के मार्ग में उसने एक महान् कण्टक निर्मूल कर दिया। उसने अपने भुजबल से एक विशाल भूभाग को अपने अधीन किया। अभिलेख में उसके राज्य विस्तार के विषय में यह वाक्य खण्ड मिलता है 'पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र (म) रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीनां समग्राणां'। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसके राज्य में ये प्रदेश सम्मिलित थे—आकर (पूर्वी मालवा जिसकी राजधानी विदिशा थी), अवन्ति (पश्चिमी मालवा इसकी राजधानी अवन्ति थी) अनूप (आधुनिक मान्धाता या माहेश्वर) आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), श्वभ्र (साबरमती की घाटी), मरु (मारवाड़ का प्रदेश), कच्छ (कच्छ) सिन्धु (निचली सिन्धु घाटी का पश्चिमी भाग), सौवीर (निचली सिन्धु घाटी का पूर्वी भाग), कुकुर (उत्तरी काठियावाड़ का वह जिला जो आनर्त के निकट अवस्थित था), अपरान्त (उत्तरी कोंकण), निषाद (पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पर्वत-श्रेणियों वाला भाग)। इस प्रकार हम देखते हैं उसके राज्य में वे सभी प्रदेश सम्मिलित थे जिन पर क्षहरातों का अधिकार था। नासिक और पूना जिले के प्रदेशों पर रुद्रदामन का अधिकार नहीं था। इनमें से कुछ प्रदेशों पर गौतमीपुत्र शातकर्णि का अधिकार था। परन्तु रुद्रदामन ने उन पर अपना जो स्वामित्व स्थापित किया, उससे यह स्पष्ट है कि उसने गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारी को पराजित कर उससे कुछ प्रदेश छीन लिये थे।

रुद्रदामन केवल एक महान विजेता ही नहीं, अपितु एक सफल एवं योग्य शासक भी था। अपने सुशासन द्वारा उसने अपने राज्य से रोगों, लुटेरों, वन्य पशुओं और अन्य कण्टकों को उन्मूलित कर दिया था। वह एक स्वेच्छाचारी शासक नहीं था, वरन् आर्यावर्त के नियमों का परिपालन करने वाला एक प्रजावत्सल राजा था। अभिलेख के कथनानुसार '*सर्व-वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृत्तेन*", सब जातियों ने मिलकर उसे अपना रक्षक या स्वामी मनोनीत किया था। उसकी इस लोकप्रियता का कारण था उसका अनन्य लोकानुरंजन। प्रजा के कल्याणार्थ वह अनुचिन्तना किया करता था और वह इस हेतु कोई भी कार्य करने के लिये तत्पर रहता था। जूनागढ़ की प्रशस्ति

से उसकी लोकानुरञ्जन की भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण प्राप्त होता है। उसने सुराष्ट्र प्रान्त मे स्थित सुदर्शन झील का बाँध फिर से बनवा दिया। इस झील से वहाँ के निवासियो को बहुत लाभ होता था। बाँध टूट जाने से उनको कठिनाई का अनुभव होने लगा जिसके निराकरणार्थ रुद्रदामन ने सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण करने का निश्चय किया। परन्तु उसके अमात्यो ने उसके इस सुनिश्चय का आर्थिक कारणों के आधार पर स्वागत नही किया। किन्तु प्रजा के कल्याण की निरन्तर इच्छा करने वाला यह शासक सार्वजनिक हित के इस कार्य से कैसे विमुख होता? अतएव उसने इस पुण्य कार्य के व्यय भार को स्वयं वहन किया और प्रजा के ऊपर बिना कोई अतिरिक्त कर लगाये, पुनर्निर्माण का सारा खर्च अपने व्यक्तिगत कोष से दिया। वह अपने अमात्यो के सत् परामर्शों का सदैव स्वागत करता था और उनके निश्चयानुसार कार्य करता था। लोक-कल्याण के कार्य का सम्पादन करते समय भी रुद्रदामन ने अपने मन्त्रियों की बात मान ली और अपने जेब से उस कार्य का खर्च देकर उसने उनको सन्तुष्ट किया। मनुस्मृति के "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" के अनुसार वह एक सच्चा राजा था।

एक सफल शासक और महान विजेता होने के साथ-साथ रुद्रदामन संस्कृत भाषा का परिपोषक था। उसके अभिलेख से उसके संस्कृतानुराग का परिचय प्राप्त होता है। वह स्वयं भी एक सुशिक्षित व्यक्ति था। व्याकरण, राजतन्त्र, संगीत तथा न्याय का प्रकाण्ड पण्डित था। वह अपनी संस्कृत रचनाओ (गद्य और पद्य दोनो) के कारण सुविख्यात था।[1] कार्दमक शासको के राज्य-काल मे उज्जयिनी विद्या की एक महान् राजधानी थी जिसका यश सारे भारतवर्ष भर मे परिव्याप्त था। इस बात मे कोई सन्देह नहीं कि भारत के शक शासको मे रुद्रदामन शीर्ष स्थान को अधिकृत करता है।

रुद्रदामन के उत्तराधिकारी—रुद्रदामन के उपरान्त उसके वंश का गौरव दिनानुदिन क्षीण होता गया। यद्यपि रुद्रदामन के बाद दो सौ वर्षों तक इस वंश का शासन-काल बना रहा तथापि इतने लम्बे काल मे भी इस वंश के शासको ने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। वे नाममात्र के ही शासक थे। उनकी शक्ति काफी क्षीण हो गई इसी लिये उनके शासन-काल की घटनाओ का वर्णन करना किसी ने आवश्यक भी नहीं समझा। रुद्रदामन के बाद उनका पुत्र दामजद या दामजदश्री उज्जैन के सिंहासन पर बैठा। अपने पिता के जीवन काल मे ही उसने क्षत्रप के रूप मे अपने नाम के सिक्के चलवाये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पिता का महाक्षत्रप और पुत्र का क्षत्रप के रूप मे सम्मिलित शासन करना इस शासन पद्धति का एक साधारण नियम था। १५०-५१ ई० सन के बाद किसी समय उसने अपने पिता के महाक्षत्रप पद को ग्रहण किया। इसके बाद भी उज्जैन के शक राजवंश मे कई क्षत्रप और महाक्षत्रप हुए परन्तु उनके राजकाल का कोई महत्व नही है। ईश्वरदत्त के नेतृत्व मे आभीरो का समुदाय प्रबल हो गया और उन्होने क्षत्रपो के राज्य से प्रान्तो को छीनकर अपने अधिकार में करना शुरू किया। परन्तु आभीरो की शक्ति भी शको का पूर्ण रूप से नाश नहीं कर सकी। गुप्तो के उदय के कुछ समय बाद तक इस वंश की शासन परम्परा जैसे-तैसे बनी चलती रही। अन्त मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शक राजा का वध कर दिया और उसके राज्य को गुप्त साम्राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार से भारत मे शक शासन का पूरी तरह से उन्मूलन हो गया।

---

१ सम्भव है कि अभिलेख का यह कथन परम्परागत प्रथा के अनुसार प्रशंसा मात्र ही हो।

पह्लवों का शासन-काल

पह्लवों का इतिहास शकों के इतिहास के साथ इतना मिश्रित है कि इसका ठीक ठीक विवरण प्राप्त करना असाधारण परिश्रम का कार्य है। फिर भी पह्लवों का इतिहास अंधकारपूर्ण ही रह जाता है और इस असाधारण परिश्रम के कार्य को करने पर भी हमें उनका विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त होता। कालक्रम का जहाँ तक प्रश्न है हम पह्लवों के सम्बन्ध में कोई निश्चित कालक्रम दे ही नहीं सकते। इन सब कठिनाइयों के बावजूद भी सिक्कों और कतिपय अभिलेखों द्वारा हम पह्लवों का यत्किंचित इतिहास जान लेते हैं, जिसके अध्ययन का हम यहाँ प्रयास करेंगे।

पह्लव राजकुल का प्रथम व्यक्ति वोनोनीज था। उसने अपनी सत्ता एराकोशिया और सीस्तान में स्थापित की। रैप्सन का मत है कि वह पूर्वी ईरान पर शासन करता था। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने 'महरजस इजरजस महतस' अर्थात् महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। उसके सिक्कों पर उसके भाई स्पलिराइसिस (Spalirises) और स्पलहोरिस (Spalahores) तथा उसके भतीजे स्पलगदमिस (Spalagadames) के नाम भी खुदे हुए हैं जिससे यह प्रकट होता है कि वोनोनीज को शासन-कार्य में इनसे सहायता प्राप्त होती थी। सम्भवतः ये विजित प्रान्तों में उसके प्रतिनिधि शासक थे। वोनोनीज ने जो सिक्के चलवाये, उन पर युक्रेटाइडज तथा उसके वंशजों द्वारा चलवाये गये सिक्कों की स्पष्ट छाप है।

वोनोनीज का उत्तराधिकारी स्पलिराइसिस था। उसने भी सम्भवतः अपने नाम से सिक्के चलवाये। उसके सिक्कों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वह पश्चिमोत्तर भारत के शकवंशीय शासक एजेस का सम्राट था। कुछ सिक्कों पर सामने की ओर स्पलिराइसिस का नाम खुदा है और खरोष्ठी लिपि में पीछे की ओर एजेस का। यदि एजेस स्पलिराइसिस का प्रतिनिधि शासक था जैसा कि वह था तो यह अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है कि पह्लवों की राजसत्ता वास्तविक अर्थों में इस समय तक तक्षशिला तक फैल चुकी थी।

स्पलिरइसिस के भाई ने भी प्रतिनिधि शासक के रूप में राज्य किया था, परन्तु उसके शासन का कोई विशेष महत्व नहीं है। इण्डो पार्थियन नरेशों में सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा गोंडोफर्नीज था। डॉ० डी० सी० सरकार के मतानुसार गोंडोफर्नीज एराकोशिया का पार्थियन उपशासक था। उपशासक के रूप में उसका सम्बन्ध एक अन्य अधीनस्थ शासक के साथ था, जिसका नाम गुद अथवा गुदन था। यह नाम कभी-कभी ओर्थगनीज के सिक्कों पर अकेले खुदा हुआ मिलता है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोंडोफर्नीज और गुद दोनों ही ओर्थगनीज के अधीनस्थ उपशासक थे। गोंडोफर्नीज ने शनैः शनैः अपनी शक्ति को बढ़ाया और सम्राट बन गया। उसने ओर्थगनीज के सिक्कों के आधार पर अपने भी सिक्के चलवाये जिससे उसके पूर्वी ईरान पर अधिकार का संकेत मिलता है।[1] सम्भवतः उसने पार्थियन-साम्राज्य के कतिपय प्रदेशों को भी विजित किया। उसके सिक्कों से इस बात का पता चलता है कि पूर्वी ईरान और पश्चिमोत्तर भारत के शक पह्लव दोनों राज्यों का वह स्वामी बन बैठा था। अस्पवर्मन के कुछ सिक्कों से यह प्रकट है कि गोंडोफर्नीज ने शकराज एजेस द्वितीय के अधीनस्थ कुछ प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। इन सिक्कों पर जो लेख मिलते हैं उनसे विदित होता है कि अस्पवर्मन पहले एजेस द्वितीय

१ *The Age of Imperial Unity*, p 128

का सामन्त-नृपति था, परन्तु बाद मे उसने गोडोफर्नीज की अधीनता स्वीकार कर ली और उसको कर देना भी आरम्भ कर दिया। सँट टामस नामक प्रसिद्ध धर्म प्रचारक ने, जो उसके राज्य मे आया था, उसे 'भारत का राजा' कहा है।

डॉ० स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन भारत का इतिहास' (Early History of India) मे गोडोफर्नीज के ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने और सँट टामस के आत्म-बलिदान की कथा काफी विस्तार के साथ दी है। यद्यपि स्मिथ साहब ने जिन अनुश्रुतियो को अपनी पुस्तक में स्थान दिया है, उनका प्रचलन ईसा की तीसरी शताब्दी मे ही था, तथापि इनकी सत्यता मे विद्वानो को सन्देह है। किन्तु इतना तो अवश्य सत्य है कि सँट टामस ने गोडोफर्नीज के शासन-काल मे भारत के कुछ भागों का पयटन किया था और ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न किया था। इस ईसाई सन्त की समाधि आज भी मद्रास के एक निकटवर्ती स्थान मे देखी जा सकती है। गोडोफर्नीज का शासन-काल सँट टामस की भारत-यात्रा के कारण प्रसिद्ध है। उसकी इस यात्रा से यह सुस्पष्ट है कि ईसाई धर्म का प्रवेश यूरोप से भी पहले भारतवर्ष में हो चुका था। तख्त-ये-बाही के अभिलेख के द्वारा गोडोफर्नीज की तिथि पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख में दी हुई तिथियो के आधार पर इस पार्थियन नरेश ने सन् १६ ई० से लेकर ४५ सन् ई० तक, छब्बीस वर्षों तक राज्य किया। "ईसाई अनुश्रुति का, जो गोडोफर्नीज को सन्त टामस का समकालीन बतलाती है, तख्त-ये-बाही लेख की निधि के साथ अच्छा साम्य ठहरता है।"

गोडोफर्नीज ने अपने बाहुबल से जिस साम्राज्य का निर्माण किया, वह काफी विशाल था, परन्तु उसके पश्चात यह छिन्न भिन्न होने लगा। प्रोफेसर रैप्सन ने इस वंश के सिक्को पर खुदे हुये नामो को पढा है जिससे पता चलता है कि पकोरस (Pokores) पश्चिमोत्तर पजाब मे और सेनेबेरीज सीस्तान मे शासन कर रहा था। ये दोनो सभवत गोडोफरनीज के उत्तराधिकारी थे। इनके राज्य-काल मे पह्लव वंश की शक्ति काफी घट गई और कुषाणों ने भारत से पार्थियन राजसत्ता का मूलोच्छेदन कर दिया।

प्रश्न

Allahabad University

१ शक कौन थे ? शकों के मुख्य क्षत्रप कुलों (भारत के) का वर्णन कीजिए। सबसे अधिक प्रसिद्ध महाक्षत्रप कौन था और उसकी जानकारी के विषय के मुख्य साधन क्या हैं ? (१९१०)

2 Give an account of the establishment, growth and downfall of Saka power in N W India (1958)

३ भारत में इण्डो बैक्ट्रियन शक्ति की स्थापना और अभ्युदय का वर्णन कीजिए। (१९५६)

४ शक-सातवाहन-सघर्ष का सक्षिप्त विवेचन कीजिए। (१९६६)

शक, पह्लव और यवन जातियों की तरह कुषाण लोग भी एक विदेशी जाति थे। भारत की विदेशी आक्रान्ता जातियों में सबसे अधिक प्रभावशालिनी कुषाण जाति ही थी। इस जाति ने देश की राजनीति पर अपना प्रभाव छोड़ा और कला के विकास तथा धार्मिक जीवन में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान था। कुषाणों के मूल और प्राचीन इतिहास का विवरण हमें चीनी ग्रन्थों से प्राप्त होता है। चीनी इतिहासकारों के अनुसार कुषाण लोग यू ची जाति की शाखा के थे। मूलत यू ची लोग उत्तरी-पश्चिमी चीन के कानसू नामक प्रान्त में निवास करते थे। शकों के विषय में पढ़ते हुए हम यह जान चुके हैं कि १७५–१६५ ई० पू० के लगभग ह्यू ग-नू लोगों ने यू ची के महान् और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। ह्यू ग-नू जाति के द्वारा पराजित और पश्चिमी चीन से निर्वासित कर दिये जाने पर ये लोग पश्चिम की ओर बढ़े जहाँ पर एक अन्य खानाबदोश जाति से उनकी मुठभेड़ हुई। यह जाति थी स्से (Sse) अथवा शक जो सर दरिया (Jaxartes or Syr Darya) के तटों पर रहती थी। पश्चिम की ओर आगे बढ़ने के पहले यू ची लोगों की इली नदी की घाटी में निवास करने वाली एक जाति से मुठभेड़ हुई थी। इस जाति का नाम वू-सुन था। इस मुठभेड़ में वू-सुन जाति के सरदार को समर-भूमि में अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े और यू ची लोगों की गहरी जीत हुई। वू-सुन जाति को पराजित और उसके सरदार का वध करने के उपरान्त यू ची जाति के लोग एक उपयुक्त निवास स्थान की खोज में पश्चिम दिशा की ओर बढ़े। इसी समय यह जाति दो शाखाओं में विभक्त हो गई। इस जाति के कुछ लोग दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े और तिब्बत की सीमा में निवास करने लगे। यहाँ पर रहने वाले लोग "सिआव यू ची" अथवा छोटी यू-ची जाति के कहलाये। अन्य लोगों ने पश्चिम की ओर ही अपने प्रसार को जारी रखा। ये लोग मुख्य शाखा के थे। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, यू-ची जाति के लोगों ने सर दरिया के उत्तर में बसे हुये शकों को पराजित कर दिया और उन्हें निर्वासित कर उनकी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु अपने इस नवीन आवास में बृहत्तर शाखा के यू ची अधिक काल तक के लिए ठहर न सके। जिस जाति को उन्होंने पहले पराजित कर दिया था, उसी जाति ने इस समय उनसे बदला लेने का विचार किया। इस विचार से ही प्रेरित होकर वू-सुन जाति के नये नेता ने जो पुराने सरदार का ही पुत्र था, ह्यू ग-नू की सहायता से १४० ई० पू० के लगभग यू-ची लोगों को उनके नये निवास-स्थान से खदेड़ दिया। विवश होकर वे आक्सस (वक्षु) नदी पार कर ताहिया या तुषार प्रदेश में प्रविष्ट हुए। ताहिया प्रदेश के निवासी अधिकांशतया व्यापारी थे। उनके समाज में दृढ़ राजनीतिक सगठन नहीं था और उनकी प्रवृत्ति युद्ध की ओर भी बिल्कुल नहीं थी। फलत उन्होंने यू-ची लोगों की अधीनता स्वीकार कर ली। यहाँ पर रह कर यू-ची जाति वालों ने अपनी शक्ति का सगठन किया और बाख्त्री के निवासियों को उत्पीड़ित किया। धीरे धीरे

उन्होंने बाख्त्री और सोग्दियाना को विजित कर लिया और ईसा पूर्व की प्रथम शता म अपने घुमक्कड़पन का परित्याग करके स्थायी जीवन व्यतीत करना आरम्भ दिया। इस समय यू-ची लोग पाँच भागो म विभक्त हो गये जिनके चीनी नाम प्रकार थे—हियू मी, चुआग मो, कुएई चुआग, हिथुन, काओफू। प्रत्येक के ऊपर ही हू (साहू अथवा साही) शासन करता था। ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ म कुएई शुआग का राज्य कुषण नामक साही या सरदार को मिला। इसने शेष चारों रा को पराजित कर दिया और उनको अपने अधीन कर लिया। फिर इन सब का मि कर उसने एक विशाल राज्य का निर्माण किया। कुषण की अधीनता म हो जाने प समस्त यू ची जाति का कुषाण ही कहा जाने लगा। कुषाण का नाम कुजुल कदफि (Kujula Kadphises) भी था।

कुजुल कदफिस—कुजुल कदफिस के नेतृत्व मे कुषाण जाति के लोगो म ए दृढ राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गई। वे आगे बढने का विचार करने लगे। कुजुल ने अपनी जाति के लोगो को आगे बढने के लिये उत्साहित किया। इस बात के दो कारण थे—पहला कारण था कुजुल कदफिस की साम्राज्य लिप्सा की भावना और दूसरा कारण आवश्यकता द्वारा उत्पन्न और अनुमोदित था। बढती हुई जनसख्या के लि उतनी भूमि छोटी जान पडी जिसस कुषाण लोग आगे बढने के लिए बाध्य हो गये। कुजुल एक वीर योद्धा और कुशल नेता था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि उसी न पाँच विभिन्न राज्यो को अपने बाहुबल से अपने अधीन किया और उनको एक सुदृढ शासन व्यवस्था के सूत्र मे आबद्ध किया। अपनी शक्ति का सगठन कर चुकने के उपरान्त कुजुल न अपने घोडे की बाग भारतीय सीमा की ओर मोडी। उसने हिन्दूकुश पार किया और पार्थियन प्रदेशो पर अपना अधिकार जमाया। काबुल की घाटी और अराकोशिया पर कुजुल का अधिकार हो गया। काबुल मे जिस ग्रीक राजा का सिक्का जमा हुआ था, उसे कुजुल कदफिस ने उखाड फेंका, पर सिक्को से इस बात पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। कुछ सिक्को पर कुजुल कदफिस का नाम खरोष्ठी म और कोजोलो कडफेस हरमियस के साथ ग्रीक मे खुदा मिलता है। बाद के सिक्कों पर यूनानी जाहरमियस का नाम नही मिलता जिससे स्पष्ट होता है। कि कुछ दिनों तक कुजुल ने यह कुबूल किया कि उसके सिक्का पर यूनानी राजा का नाम रहे, परन्तु बाद म जब उसकी शक्ति बिल्कुल दृढ हो गई तो उसने केवल अपने नाम से ही सिक्के चलवाये। कुजुल ने ग्रीक राजा को अपने सिक्को मे नाम देने की नीति का अनुसरण राजनीतिक लाभ की दृष्टि से भी किया होगा। इस नीति के द्वारा उसने अपने पड़ोस की यूनानी शक्ति से मैत्री सम्बन्ध स्थापित रक्खा जिससे पार्थियन राजाओं की शक्ति का दमन करने मे उसे किसी प्रकार के विरोध का सामना न करना पड। कुजुल कद फिस न पार्थिया पर आक्रमण किया और किपिन (सम्भवत गान्धार) तथा दक्षिण अफगानिस्तान को जीत लिया। उसन जिस साम्राज्य की स्थापना की, उसका विस्तार 'वक्षु से लेकर सिन्धु तक था। उसके साम्राज्य में बैक्ट्रिया, सम्पूर्ण वतमान अफगानिस्तान ईरान का पूर्वी छोर तथा भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त के पारवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। इसम कोई सन्देह नही कि कुजुल कदफिस का जीवन सघर्षों और उन पर विजय प्राप्त करने के सफल प्रयत्नो का जीवन था। अस्सी वर्ष की परिपक्व अवस्था म कुजुल का जीवन प्रदीप बुझ गया। कुजुल के सिक्का पर रोम के सिक्कों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उसने महाराज महन्त तथा महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण कीं। सत्यधर्मस्थित विरुद भी कुजुल ने ग्रहण किया। इन सम्राट

राज-पदवियो से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिन प्रदेशो पर कुजुल ने अपना अधिकार जमाया था वहाँ की भारतीय प्रजा ने उसके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला था और वह भारतीयता के रँग मे काफी अंशा तक रँग चुका था।

वीमा कदफिसेज—कदफिसेज अथवा कदफिस प्रथम के उपरान्त उसका पुत्र सिंहासनारूढ हुआ। फान ये नामक चीनी इतिहासकार ने उसका नाम वेमा (येन) कदफिसेज दिया है जिसका विस्तृत विवरण हम उसके सिक्कों द्वारा प्राप्त होता है। चीनी साक्ष्य के द्वारा वेमा या कदफिसेज ऐसा प्रथम कुषाण सम्राट था जिसने अपने राज्य की सीमा तियन चिऔ (Tien tchou) या भारत तक विस्तृत की। चीनी इतिहासकारो के भारत का समीकरण अनेक विद्वानो ने सिन्धु नदी द्वारा अभिसिंचित पंजाब के भूभाग से किया है। वीम कदफिसेज के सिक्को के प्राप्ति स्थान से उसके राज्य विस्तार का बोध होता है।[1] उसके सिक्के काफी भागो मे पाये गये हैं जिससे मालूम होता है कि उसके राज्य का विस्तार बहुत दूर तक था। यह तो स्पष्ट ही है कि सिन्धु नदी पार कर उसने तक्षशिला और पंजाब को विजित किया। उत्तर प्रदेश के कुछ भागो पर भी सम्भवतः उसकी तूती बोलने लगी। एक विद्वान की राय मे, वीम कदफिसेज कदाचित् मथुरा तक पहुँच गया था। डा० रमाशंकर त्रिपाठी का कथन है—"उसके सिक्को के सुविस्तृत प्रचलन और महाराजा राजाधिराज जनाधिप— ऐसे उसके समुन्नत विरुदो से प्रमाणित होता है कि उसका अधिकार सिन्धु नद के पूर्व पंजाब और सम्भवतः संयुक्त प्रान्त के ऊपर भी था। अपने भारतीय प्रान्तो का वह प्रतिनिधि शासक द्वारा शासन करता था। ताँबे के वे सिक्के जो साधारणतः 'नामरहित राजा' के बताये जाते हैं और जो उत्तर भारत के अनेक भागो मे आमतौर से पाये जाते हैं, इसी शासक के चलाये कहे जाते हैं।'

वीम कदफिसेज की सैनिक सफलताओ का कुषाण साम्राज्य की दृष्टि से तो महत्त्व है ही, उनका सांस्कृतिक और व्यापारिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। डॉ० रायचौधरी के शब्दो मे, "कदफिसेज राजाओ की विजयो ने चीन और रोमन साम्राज्य तथा भारत के मध्य व्यापार के मार्ग को खोल दिया। रोम का सोना इस देश मे प्रभूत परिमाण मे आने लगा, जो सिल्क, मसाले तथा रत्नो के मूल्य के रूप मे था।" इस कथन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष रोमन साम्राज्य के देशो मे अपने मसाले अन्न, बहुमूल्य वस्त्र तथा अन्य सामग्रियाँ निर्यात करता था जिसके बदले मे उसे सोने और चाँदी के सिक्के प्राप्त होते थे।[2] रोम द्वारा प्राप्त होने वाले सोने का प्रयोग वीम कदफिसेज ने सुवर्ण मुद्राओ के प्रचलन के कार्य मे किया। उसने अपने नाम से मान के सिक्के चलवाये।

---

१ चीनी इतिहासकारों का कथन अतिरंजनापूर्ण प्रतीत होता है। वे कहते हैं, इन विजयो से यूह ची की शक्ति बहुत बढ गई। उन्होंने भारत के राजाओ को मार डाला और उसके स्थान पर अपने शासक नियुक्त किये। इस कथन से यह अभिप्राय लगाया जा सकता है कि कुषाण सम्राट का आधिपत्य भारत के काफी विस्तृत भाग पर था, परन्तु वास्तव मे बात ऐसी नहीं है।

२ भारत और चीन का व्यापारिक सम्बन्ध काफी प्राचीन था। मौर्य-कालीन सभ्यता का अध्ययन करते समय आर्थिक विवेचन के सम्बन्ध मे हम भारत और चीन के व्यापारिक सम्बन्ध का विवरण जान चुके हैं। कुषाण युग मे कदफिसेज द्वितीय की विजयों के फलस्वरूप यह सम्बन्ध काफी सुदृढ हो गया और दोनों देशों का व्यापार

वीम कदफिसेज के सिक्कों से उस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य पर पडता है जिसका उल्लेख हम पिछले अध्यायो में (सातवाहन-काल की सस्कृति, शुंग-कालीन धार्मिक अवस्था तथा शको के सम्बन्ध में) कर चुके हैं और जिसका इस पर पुन उल्लेख करना असगत नहीं जान पडता। यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य था, भारतीय सस्कृति की प्रबल जीवन शक्ति और विदेशियो को अपने में पचा लेने की उसकी अद्भुत क्षमता। हम प्रथम कुषाण सम्राट् के विषय मे अध्ययन करते हुए देख चुके हैं कि उसने जिन प्रान्तो पर अपना अधिकार स्थापित किया था वहाँ का जनता के धार्मिक विश्वासो का प्रभाव उसके ऊपर पडा था। यह प्रभाव रस द्वितीय के ऊपर और अधिक स्पष्ट रूप मे दिखलाई पडता है। उसके सिक्को पर एक ओर शिव तथा नन्दी की आकृति खुदी हुई है और उन पर 'महेश्वर' लिखा मिलता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वीम कदफिसेज अपने धार्मिक विश्वासों में शैव था। डॉ० रायचौधरी के मतानुसार शिव-पूजा का प्रचार शिव भागवत लोगों के समय से बढ रहा था, जिनका उल्लेख पतजलि ने किया है। वीम कदफिसेज के सिक्कों पर खरोष्टी लिपि मे यह लेख लिखा मिलता है "महाराजस सवलोग ईश्वरस माहेस्वरस सीमा कदफिसस त्रदर"। इसका अंग्रेजी अनुवाद डॉ० रायचौधरी के अनुसार यह हुआ The great king, the king of kings, lord of the whole world, the Mahisvara, the Defender, अर्थात् महान् राजा, राजाओ का राजा, समस्त ससार का स्वामी, माहेश्वर, (धम) रक्षक"।

कनिष्क

वीम कदफिसेज के बाद सभवत कुषाण राज्य-सिंहासन पर समासीन होने वाला कनिष्क ही था। निस्सन्देह कनिष्क कुषाण वश का सबसे प्रतापी और प्रभावशाली सम्राट था और प्राचीन भारत के महान् सम्राटो की पंक्ति मे उसका स्थान अत्यन्त गौरवशाली है। उसके व्यक्तित्व और कार्यों का विवेचन हम आगे करेंगे, पहले उसकी तिथि के सम्बन्ध मे सक्षिप्त रूप से कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

उसकी तिथि—कनिष्क के तिथि निर्धारण की समस्या प्राचीन भारत के इतिहास की जटिलतम समस्याओ मे से एक है। यह अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है कि कनिष्क का शासन-काल कब से कब तक था और अनेक पाण्डित्यपूर्ण लेखो तथा सुझाव भरे तर्कों के बाद भी विद्वान् लोग इस विषय मे एकमत नहीं हैं। इस मत-वैभिन्न्य के बीच हम अपना कोई स्वतन्त्र मत नही दे सकते। विभिन्न मतो पर विचार कर लेना और किसी तर्कमयी सभावना की ओर निर्देश कर देना ही हमारे लिए अलम् होगा। डॉ० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ने दोनो कदफिसोजो के पहले शासन किया और उस सवत् का प्रचलन भी किया जो कालान्तर मे विक्रम सवत नाम से विख्यात हुआ। इतना ही नही, फ्लीट साहब का विश्वास है कि कनिष्क ही नहीं, वरन् उसके उत्तराधिकारियों के बाद दोनों कदफिसोजो ने राज्य किया। इस मत का समर्थन कनिंघम तथा डाउसन ने किया था और बाद मे फ्राके ने भी इसको स्वीकार किया था। कनेडी

काफी उन्नति पर पहुँच गया। परन्तु रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार सुस्पष्ट रूप में और एक बड़े पैमाने पर इसी समय से प्रारम्भ हुआ। इस व्यापार से आर्थिक लाभ भारतवासियों को होता था रोमन साम्राज्य को नहीं। प्लिनी नामक रोमन इतिहासकार ने इस बात के लिए अश्रुपात किया है कि उसके देश का सोना बहुत अधिक परिमाण मे पूर्वीय देशों की विलास सामग्रियों के बदले में चला जाता है।

ी इस मत के समर्थकों में से था। परन्तु मार्शल ने इस मत का बड़ी ही योग्यता से ाण्डन किया है। मार्शल की खोजों के बाद अब डॉ० फ्लीट के उपर्युक्त मत को वीकार नहीं किया जा सकता। अभिलेखों, सिक्कों तथा ह्वेनसांग के साक्ष्य से इस ात का स्पष्ट पता चलता है कि कनिष्क के राज्य में गांधार भी सम्मिलित था, परन्तु ीनी साक्ष्यों के अनुसार प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यिन-मोफू किमिन (कपिश ाांधार पर) शासन कर रहे थे, कुषाण लोग नहीं। एलन का विचार है कि "कनिष्क े सुवर्ण के सिक्के पर रोमन सालिडस का प्रभाव है' और इस दृष्टि से कुषाण सम्राट् ो टाइटस (७९–८१ सन ई०) तथा ट्रोजन (७८–११७ सन ई०) के पहले नहीं खा जा सकता।

मार्शल, स्टेन कोनोव, स्मिथ तथा अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार कनिष्क का ासन लगभग १२५ ई० पू० अथवा १४४ ई० सन् के प्रारम्भ में हुआ और ईसा की ृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाप्त हुआ। इस मत का डॉ० रायचौधरी महोदय ने बल तर्कों द्वारा खण्डन किया है। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का विचार था कि जिस म्वत् की कनिष्क ने स्थापना की थी, वह २४८ सन ई० का त्रकूटक कलचुरि-चेदि म्वत था। इस मत का भी खण्डन डा० रायचौधरी ने बड़ी योग्यतापूर्वक किया ै। इसी प्रकार वे स्वर्गीय आर० जी० भण्डारकर के उस मत को भी स्वीकार नहीं रते जिसके अनुसार कनिष्क का राज्यारोहण २७८ सन ई० में हुआ था।

फरग्यूसन, ओल्डेनबर्ग, टामस, बनर्जी, रैप्सन तथा अन्य कई विद्वानों के अनुसार कनिष्क ने ७८ सन् ई० वाले उस सवत की स्थापना की थी जिसका नाम बाद में शक ंवत् पड़ा। परन्तु इस मत को भी दुब्रोआ नामक विद्वान् ने स्वीकार नहीं किया है। अपने मत के लिए दुब्रोआ महोदय निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(अ) यदि हम यह स्वीकार करें कि कुजुल कदफिसीज और हर्मेयास ने लगभग ५० सन् ई० में राज्य किया और कनिष्क ने ७८ सन ई० में शक सवत् की स्थापना की तो कदफिसीज प्रथम के राज्य-काल के अंतिम दिनों और कदफिसीज द्वितीय के संपूर्ण राज्य-काल के लिये केवल २८ वर्ष ही बचते हैं।

परन्तु डॉ० रायचौधरी के मतानुसार कदफिसीज के शासन-काल के लिए ५० सन ई० अनिश्चित है और यदि हम इस काल को ठीक मान लें तो भी २८ वर्षों का समय बहुत कम नहीं प्रतीत होता जबकि हम जानते हैं कि कदफिसीज द्वितीय ने जिस व्यक्ति का उत्तराधिकार ग्रहण किया, वह अस्सी वर्ष का था। जबकि कदफिसीज प्रथम अस्सी वर्ष से भी अधिक की आयु में मरा तो उसका पुत्र भी काफी वृद्ध हो गया होगा। इसलिये यह सोचना असम्भाव्य जान पड़ता है कि उसका शासन-काल काफी दीर्घ था।

(ब) दुब्रोआ महोदय का कथन है कि मार्शल ने तक्षशिला में चिरस्तूप में एक लेख की खोज की है जिसमें १३६ तिथि पड़ी है जो विक्रम सम्वत के ७९ सन ई० से मेल खाता है और उसमें जिस राजा का उल्लेख किया गया है वह कदाचित कदफिसीज प्रथम है कनिष्क तो निश्चित रूप से नहीं है।

१३६ तिथि वाले तक्षशिला लेख में कुषाण राजा के लिये 'देवपुत्र' के जिस विरुद का प्रयोग किया गया है, वह कनिष्क तथा उसके उत्तराधिकारी नरेशों की एक विशेषता

है, कदफिसीज राजाओ की नही। इसलिये इस खोज से उन लोगो को धक्का नही लगना चाहिए जो कनिष्क को ७८ सन् ई० के सवत का लाते हैं। कुषाण राजा के व्यक्तिगत नाम का अभाव इस मत की पुष्टि नहीं कि प्रथम कुषाण ही होना चाहिये। कुमारगुप्त और बुद्धगुप्त के अनेक अभिलेखों राजा का नाम केवल गुप्त नप ही मिलता है।

(स) प्रोफेसर दुब्रोआ का कथन है, "स्टेनकोनोव ने यह दिखला दिया है तिब्बती और चीनी लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि कनिष्क ने द्वि शताब्दी मे शासन किया।"

यह कनिष्क सन ४१ ई० के आरा अभिलेख का कनिष्क होगा, जिसका यदि शक सवत् मे किया जाय तो उसकी तिथि ईसा की दूसरी शताब्दी मे है। पोतेशियो (Potetiao) जो स्टेन कोनोव के अनुसार यूचियो का वह नरेश जिसने कि सन २३० ई० मे चीन मे अपना राजदूत भेजा था, वासुदेव प्रथम के धिकारियो मे से कोई रहा होगा। "वासुदेव के नाम के सिक्के उसके मर जाने के दिनो बाद तक खुदवाये जाते रहे।" डॉ० स्मिथ, श्री आर० डी० बनर्जी तथा स्टेन कोनोव एक से अधिक वासुदेव नामधारियो के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

(द) स्टेन कोनोव ने यह भी दिखलाया है कि कनिष्क सवत के अभिलेखों शक सवत् के अभिलेखो का तिथिक्रम एक-सा ही नही है।

लेकिन प्रोफेसर रायचौधरी के मतानुसार उन्ही विद्वान् (अर्थात स्टेन ने यह भी दिखलाया है कि कनिष्क सवत के सभी अभिलेखो की तिथि एक ही के अनुसार नही दी हुई है। खरोष्ठी अभिलेखो मे कनिष्क तथा उसके उत्तराधिका उसी प्रकार तिथियो का उल्लेख करते हैं जिस प्रकार उनके शक-पह्लव पूर्वाधिकारी न किया है। इस नियम के अनुसार व महीने का नाम और माह का कौन-सा दिन यह बतलाते हैं। दूसरी ओर अपन ब्राह्मी लेखो मे कनिष्क और उसके उत्तराधिका ने तिथि गणना की प्राचीन भारतीय पद्धति का ही अनुकरण किया है। क्या इस से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कनिष्क सवत् की खरोष्ठी तिथियो का उस सवत की तिथियो के साथ नही किया जा सकता जिसम ब्राह्मी अभिलेख किये गये हैं। यदि कनिष्क के तिथिक्रम की दो विभिन्न प्रणालियो का अनुसरण था तो इस बात को समझने मे हमे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं चाहिये कि उसने पश्चिमी भारत की स्थानीय परिस्थितियो के अनुकूल प्रणाली भी अपना ली होगी। स्टेन कोनोव ने स्वय इस बात का निर्देश किया है शक तिथियो मे महीने का तथा पक्ष का नाम दिया हुआ है और यही बात लेखो के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। उस बात मे कोई असम्भाव्यता नहीं है जिस प्रकार कनिष्क ने सीमावर्ती प्रदेश म प्राचीन शक-पह्लव प्रणाली को अप और हिन्दुस्तान म तिथिक्रम की प्राचीन भारतीय पद्धति को जिसका कि वहाँ प्रचलन था ग्रहण कर लिया, उसी प्रकार उसके द्वारा नियुक्त अधिकारियो ने को जोड दिया जिससे देश के उस भाग मे प्रचलित प्रथा के अनुसार यह प्रणाली खा सके।[1]

[1] कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध मे हम उपर्युक्त विवेचन के लिए पूर्णत रायचौधरी के आभारी हैं। देखिए उनकी *Political History of Ancient* V Edition, pp 461-472

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार कनिष्क संवत का समीकरण शक काल के साथ किया जा सकता है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार का कथन है कि यदि कनिष्क संवत् का समीकरण शक-काल के साथ स्वीकार कर लिया जाय, जिसका कि अनेक विद्वान् समर्थन करते हैं तो कनिष्क ने ७८ सन ई० में लेकर १०१ या १०२ ई० तक शासन किया। सरकार महोदय का विचार है कि कनिष्क कदफिसीज द्वितीय के बाद, किन्तु बहुत बाद नहीं, हुआ था। चूंकि कदफिसीज द्वितीय का शासन-काल जिसने अपने पिता के बाद लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य में सिंहासन हस्तगत किया था स्थूल रूप से ६५–७५ सन् ई० के मध्य निश्चित किया जाय तो कनिष्क की तिथि को प्रथम शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के बाद नहीं रक्खा जा सकता। कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि ७८ सन ई० मानने में जो विवादजनक प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनका निराकरण डॉ० सरकार महोदय ने किया है।[१] कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध में ७८ ई० सन वाले मत का समर्थन करते हुए प्रोफेसर एन० एन० घोष ने लिखा है, "बाद की तिथि (अर्थात् ७८ ई० सन वाली) इसलिये विशेष रूप से सम्भाव्य है कि अन्य कारणों के बीच यदि कनिष्क के शासन का प्रारम्भ हम दूसरी शती ई० में रखते हैं तो रुद्रदामन की स्वतन्त्र राजसत्ता के लिये, जिसने १३०–१५० ई० में शासन किया, आधार नहीं मिलता। रुद्रदामन की स्वतन्त्र राजसत्ता का, जिसका विस्तार सिन्धु घाटी के निम्न प्रदेश को लेकर सम्पूर्ण पश्चिमी भारत में था, कनिष्क के भारतीय साम्राज्य विस्तार के साथ किसी प्रकार सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो पाता। यह केवल उसी दशा में सम्भव है जब कि यह मान लिया जाय कि कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त तथा उसके उत्तराधिकारी के निर्बल शासन-काल में पश्चिमी क्षत्रपों ने अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त कर ली जो उन्होंने कनिष्क प्रथम के नेतृत्व में कुषाणों की बढ़ती हुई लहर के आगे खो दी थी।" कनिष्क के काल के सम्बन्ध में विद्वानों के पारस्परिक मतभेद का उल्लेख करते हुए इसी मत का समर्थन डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने भी किया है। आप लिखते हैं, 'इस अनन्त वाद विवाद के बावजूद भी हमें कनिष्क द्वारा ७८ ई० के शक संवत का संचालन सही जान पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने एक संवत चलाया था, क्योंकि उसकी गणना पद्धति उसके उत्तराधिकारियों द्वारा भी प्रयुक्त हुई और उत्तर भारत में प्रचलित हम किसी अन्य संवत् को नहीं जानते जिसका आरम्भ उस दूसरी शती ई० के प्रथम चरण में हुआ था जो तिथि कनिष्क के राज्यारोहण के सम्बन्ध में दी जाती है। उसके अतिरिक्त यदि प्रथम शती ई० के तृतीय चरण के मध्य में कुजुल कडफिसेज मरा तब कनिष्क उस तिथि से बहुत दूर नहीं हो सकता, क्योंकि अस्सी वर्ष तक जीवित रहने के कारण वीमा कडफिसेज का शासन अल्पकालिक ही रहा होगा।'

कनिष्क की सैन्य-सफलतायें—कनिष्क न केवल कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट था, वरन वह एक वीर विजेता तथा महत्वाकांक्षी शासक भी था। अपने पिता और पितामह के द्वारा स्थापित साम्राज्य की सीमाओं को वह और अधिक विस्तृत करना चाहता था। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर उसने देशों को विजित करने का निश्चय किया। उत्तर, दक्षिण और पूर्व तीनों दिशाओं में कनिष्क ने अपनी विजयों द्वारा अपने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाया। सर्वप्रथम उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी को अपने अधिकार में किया। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार कनिष्क के द्वारा काश्मीर में कई नगरों की स्थापना भी कराई गई थी। कनिष्क ने पार्थियन

१ देखिए *The Age of Imperial Unity*, pp 145-46

नरेश को युद्ध में पराजित किया। उसके पहले कुजुल कदफिसीज ने भी ... को हराया था। अपनी पराजय का बदला लेने की भावना से पह्लव राजा ने ... के शासन-काल के प्रारम्भ में ही उस पर आक्रमण कर दिया। परन्तु उसका ... सफल न हो सका। यद्यपि अभी कनिष्क अपने राज्य का ठीक से संगठन भी न ... पाया था तथा उसने पह्लवों को युद्ध में पराजित कर दिया और इस बार फिर विजेता के हाथों अपमान सहना पड़ा। चीनी और तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार ने साकेत और पाटलिपुत्र पर भी अपना अधिकार किया था। यहाँ के शासकों ... उसके सैनिक प्रयत्न पूर्ण रूप से सफल हो गये। कहा जाता है कि पाटलिपुत्र की ... के सम्बन्ध में ही उसे प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अश्वघोष को वह अपने साथ अपनी राजधानी लेता गया और उसका उचित सम्मान किया था। कनिष्क ने चीन के विरुद्ध भी युद्ध किये। पहले तो उसे इस युद्ध में ... ही प्राप्त हुई, परन्तु बाद में उसने चीन के सम्राट् को अपनी शर्त मानने के लिये ... कर दिया। चीन के साथ कनिष्क के संघर्ष का विवरण बौद्ध अनुश्रुतियों ... होता है। चीन देश का सुप्रसिद्ध सेनानायक पान चाऊ बड़ा वीर योद्धा और विजेता था। लगभग ईसा की पहली शताब्दी के अन्तिम भाग में उसने चीन देश के पश्चिमी राज्यों पर एक के बाद दूसरा, इस प्रकार से धावा बोलना शुरू कर दिया और उन पर अपने देश की विजय पताका फहराने लगा। देखते ही देखते काशगर, यारकन्द और खुतन पर पान चाऊ का प्रभुत्व स्थापित हो गया। पड़ोस के राज्यों में भी उसके आतंक और प्रभाव का सिक्का जम गया। स्वयं भी एक महत्वाकांक्षी शासक होने के नाते कनिष्क पान चाऊ की बढ़ती हुई शक्ति को सहन नहीं कर सका। उसे राज्य के लिये भी उसकी ओर से भय था, अतएव उसने चीनी सेनानायक से ठानने का विचार किया। यह एक सोचने की बात है कि इस समय चीन की साम्राज्य सत्ता कितनी सुदृढ़ और प्रभावशालिनी थी जिसको चुनौती देना साधारण बात नहीं था। पान चाऊ लगभग कैस्पियन सागर के तट तक पहुँच चुका था और रोमन साम्राज्य की सीमा पर खड़ा था। अपनी विजयों के फलस्वरूप उसने चीन देश के राजनीतिक गौरव का सिक्का लोगों के हृदयों पर जमा दिया था। परन्तु इस बात का तनिक भी विचार न करते हुए कनिष्क ने चीन के सम्राटों की भाँति 'देवपुत्र' की उपाधि धारण की और अपना एक राजदूत भेजकर चीनी राजकुमारी के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। पान चाऊ को यह प्रस्ताव अपने सम्राट और देश के लिये बड़ा ही अशोभनीय और अपमानजनक जान पड़ा। उसने भारतीय राजदूत को बन्दी बना लिया और चीन भेज दिया। अब स्पष्टतया युद्ध की घोषणा कर देने के अतिरिक्त कनिष्क के पास कोई दूसरा मार्ग नहीं था। उसने अपने सेनानायक की अधीनता में सत्तर हजार अश्वारोहियों की एक सुदृढ़ सेना चीनी सेनानायक के विरुद्ध भेज दी। मार्ग में पर्वतीय प्रदेश की कठिनाइयों द्वारा कनिष्क की सेना को भयंकर क्षति उठानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि कनिष्क की बुरी तरह हार हुई। सन्धि स्वरूप कनिष्क ने चीन के सम्राट् को वार्षिक कर देना स्वीकार किया।

परन्तु यह सन्धि कनिष्क को अतीव कष्टकर जान पड़ी। वह उपर्युक्त अवसर की खोज में बैठा था कि कब अवसर मिले और वह चीनी सम्राट् को कर देना बन्द करे तथा उसके साथ अपनी बराबरी दिखलाये। इधर पान चाऊ की मृत्यु हो जाने से पास-पड़ोस के देशों पर चीन की जो धाक पहले जम चुकी थी वह कम हो गई। पान चाऊ का युवा पुत्र पान-यांग, जिसके ऊपर अपने पिता का उत्तरदायित्व वहन का भार

आ पडा था, एक अनुभवहीन सेनानायक प्रमाणित हुआ। काश्मीर प्रदेश के मार्ग द्वारा पामीर की उपत्यकाओं से होता हुआ कनिष्क एक बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिये पहुँच गया। इस युद्ध मे कनिष्क की विजय हो गई। चीन के सम्राट को वार्षिक कर भेजने के अपमानजनक ऋण से वह उऋण हो गया। इतना ही नही, यारकन्द, खोतान और काशगर के प्रान्तो को कनिष्क ने अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया।

कनिष्क का साम्राज्य विस्तार—कनिष्क के साम्राज्य मे भारत के बाहर का काफी विस्तृत भूभाग सम्मिलित था। अफगानिस्तान, बक्ट्रिया, काशगर, खोतान और यारकन्द निश्चित ही उसके राज्य के अन्तगत थे। उसके अभिलेखिक साक्ष्यो से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कनिष्क का अधिकार आधुनिक उत्तर प्रदेश, पजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा सिन्ध के उत्तर म भावलपुर राज्य पर था। कनिष्क के अनेक लेख मथुरा म भी मिले है, जिसस मथुरा का उसके अधीन होना स्वत सिद्ध है। परन्तु चीनी अनश्रुति उस साकेत और पाटलिपुत्र का भी विजेता बतलाती है। उसके सिक्के भी श्रावस्ती, सारनाथ तथा कौशाम्बी इत्यादि स प्राप्त हुए हैं। पूव म गाजीपुर तथा गोरखपुर तक उसके सिक्के प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूव मे वाराणसी तक तो अवश्य ही उसका अधिकार था। कनिष्क के तीसरे राज्याक मे सारनाथ मे प्रतिष्ठित एक बोधिसत्वमूर्ति की पादपीठ पर खुदे हुए लेख से विदित होता है कि उस समय वाराणसी कनिष्क के साम्राज्य म थी। यद्यपि बगाल और बिहार मे भी कनिष्क के सिक्के मिले हैं, तथापि इन प्रान्तो का उसके साम्राज्य मे सम्मिलित होना सन्दिग्ध है। भारतीय सीमा के अन्तगत अन्य प्रदेशो पर भी उसके राजनीतिक प्रभाव के स्पष्ट सकेत प्राप्त होते हैं। बहावलपुर के निकट सुई विहार नामक स्थान म कनिष्क, के नाम का एक ताम्रपट प्राप्त हुआ है। साची (भोपाल राज्य, मध्य भारत) म, जो प्राचीन काल म पूर्वीय मालवा की राजधानी थी, उसके एक उत्तराधिकारी का लेख मिला है। पश्चिमी भारत म शको के अधीन क्षत्रपो की जो शासन व्यवस्था थी, उसका स्वामित्व कुषाणो के ही हाथ मे था। इन सब प्रमाणो के आधार पर यह कुछ निश्चयपूवक कहा जा सकता है कि सिन्ध, राजपूताना, मालवा और काठियावाड भी कनिष्क के राजनीतिक प्रभुत्व म तो नही, किन्तु उसक राजनीतिक प्रभाव के अन्तगत अवश्य थे। काश्मीर पर कनिष्क के अधिकार के एक से अधिक प्रमाण मिलते हैं। 'राजतरगिणी' मे कनिष्क के काश्मीर मे शासन करन का उल्लेख मिलता है।[1] बौद्ध अनुश्रुतियो से द्वारा भी कनिष्क के काश्मीर मे शासन करने का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार यदि हम कनिष्क की साम्राज्य-सीमाओ का विचार करें तो हमे स्वीकार करना पडता है कि वह एक बहुत बडे भूभाग का स्वामी था। अपने समय के सबसे प्रभावशाली शासको मे वह अवश्य ही रहा होगा।

---

१ कल्हण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मे कनिष्क के साथ दो अन्य राजाओं का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है, "अपने अपने नामों पर तीन नगर बसाने वाले हुष्क, जुष्क और कनिष्क नाम के तीन राजा हुए। इनके राज्य काल मे काश्मीर देश मे बौद्धों का ही प्राधान्य था।"

"अथाभवन स्वनामांकपुरत्रयविधायिन।
हुष्कजुष्ककनिष्काख्यास्त्रयस्तत्रैव पार्थिवाः॥
प्राज्ये राज्यक्षणे तेषां प्रायः काश्मीरमण्डलम्।
भोज्यमास्तेस्म बौद्धानाप्रव्रज्योजितचेतसाम्॥"

शासन-प्रणाली—कनिष्क की शासन-प्रणाली का विस्तृत विवरण तो हमें प्राप्त नहीं है, किन्तु कुछ स्थूल बातें अवश्य मालूम हो जाती हैं। उसके सारनाथ वाले लेख से उसकी शासन व्यवस्था पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह अपने इस विशाल साम्राज्य का शासन क्षत्रप शासन-व्यवस्था द्वारा करता था। उसके साम्राज्य का पूर्वी भाग महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप वनस्पर द्वारा शासित होता था। खरपल्लान उसका महाक्षत्रप था जो शायद मथुरा में था, और वनस्पर बनारस का क्षत्रप था। साम्राज्य के उत्तरी भागों में हम सनातनक लल, वेसपति तथा लियाक नामक क्षत्रपों के नाम सुनते हैं। विन्सेन्ट स्मिथ साहब का अनुमान है कि महाराष्ट्र का क्षहरातवंशी नहपान और उज्जैन का क्षत्रप चष्टन कदाचित् कनिष्क के ही सामन्त थे। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। उसने अपनी राजधानी को अनेक भव्य भवनों, सार्वजनिक शालाओं और बौद्ध विहारों से समलंकृत किया था। काश्मीर की कनिष्कपुर नगरी को भी संभवतः उसने ही बसाया था। परन्तु डॉ० रायचौधरी की धारणा है कि इस नगर की स्थापना आरा अभिलेख वाले कनिष्क के द्वारा कराई गई थी।

कनिष्क का धर्म—जैसा कि डॉ० रायचौधरी महोदय ने कहा है कनिष्क का यश उसकी विजयों पर उतना अधिक अवलम्बित नहीं जितना कि शाक्यमुनि के धर्म को उसके राजाश्रय प्रदान करने पर।[१] उसकी मुद्राओं तथा पेशावर (Casket) अभिलेख से यह विदित होता है कि उसने वास्तविक रूप में, संभवतः अपने शासन-काल के प्रारम्भ में ही, बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पुरुषपुर अथवा पेशावर में उसने एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था। यह बौद्ध विहार एक बौद्ध तीर्थ के रूप में नवीं शताब्दी तक वर्तमान था जबकि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वीरदेव ने उसकी यात्रा की थी जो मगध के नरेश देवपाल के समय में नालन्दा का महास्थविर निर्वाचित किया गया था। कनिष्क के चैत्य का उल्लेख अलबरूनी नामक प्रख्यात मुस्लिम यात्री ने भी किया है।

परन्तु भारतीय जीवन की परम्परा के अनुकूल कनिष्क ने धार्मिक विषयों में अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया। उसके विशाल साम्राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायी निवास करते थे जिनमें सबके साथ उसने धार्मिक निष्पक्षता तथा सहिष्णुता का व्यवहार किया। उसके सिक्कों से उसकी धर्म-सम्बन्धी धारणा का परिचय हमें स्पष्टतया हो जाता है। उसके सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और हिन्दू देवताओं के चित्र मिलते हैं। इन देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—हेराक्लीज, सेरापिज सूर्य, चन्द्र, शिव और अग्नि आदि। उसकी राजसभा को जो गुणवान् व्यक्ति समलंकृत करते थे उनमें सभी धर्मों के अनुयायी सम्मिलित थे।

कनिष्क के व्यक्तित्व का मूल्यांकन—प्राचीन भारत के इतिहास में कुषाण सम्राट कनिष्क का अपना एक निश्चित स्थान है। अपनी सैन्य-सफलताओं से जहाँ वह एक ओर हमें समुद्रगुप्त का स्मरण दिलाता है, वहीं दूसरी ओर अपनी धर्मानुरागिता तथा बौद्ध धर्म को अपने राज्य प्रश्रय प्रदान करने के कार्य से वह महान् अशोक की याद कराता है। बौद्ध धर्म के इतिहास में तो उसका अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। जैसा कि

१ "Kanishka's fame rests not so much on his conquests as on his patronage of the religion of Sakyamuni" *Political History of Ancient India*, V Edition, p 475

र आगे इसी अध्याय मे पढ़ेंगे, उसी के शासन-काल म बौद्धो की चतुर्थ सगीति हुई थी ासन महायान पथ को बौद्ध धम का एक स्वीकृत रूप प्रदान किया। कहना न होगा महायान बौद्ध धम ही लोक रुचि के अधिक निकट था और जिस बौद्ध धर्म का विदेशो प्रचार हुआ वह महायान ही था। अशोक की भाँति उसने भी बौद्ध धम के प्रचार ा प्रयत्न किया और अपनी समस्त प्रजा के साथ धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित करने भी उसने इस महान् सम्राट के द्वारा दिखाये हुए माग का अनुगमन किया। अशोक ी ही भाँति कनिष्क भी कलानुरागी तथा भवन निर्माता था। उसके द्वारा निर्मित ौद्ध विहार का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। जिस प्रकार पाटलिपुत्र मे अशोक ारा बनवाये हुए राजप्रासाद की प्रशसा आगे चलकर फाह्यान[1] नामक तीथयात्री ने ी थी उसी प्रकार कनिष्क के बौद्ध चैत्य का प्रशसा मिश्रित उल्लेख अलबरूनी ने किया ा। अनुश्रुति अशोक को नेपाल मे ललितपाटन तथा काश्मीर मे श्रीनगर की स्थापना ा श्रेय प्रदान करती है। हम देख चुके हैं कि कनिष्क को भी नगरो की स्थापना का ेय प्राप्त है। यहाँ भी अशोक और कनिष्क दोनो एकसाथ ही ठहरते हैं। एक बात र कनिष्क अशोक से भी अधिक भाग्यवान् था और यहाँ वह समुद्रगुप्त अथवा अधिक ौचित्य के साथ कहना चाहिए, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकक्षी है। हमे इस बात का कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नही कि अशोक की राजसभा मे गुणवान् व्यक्तियो ा जमघट लगा रहता था। किन्तु कनिष्क की राजसभा को, गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त-द्वितीय की राजसभा की भाँति, कई गुणवान् व्यक्ति अपनी उपस्थिति द्वारा समलकृत करते थे। चन्द्रगुप्त के नवरत्नो की भाँति इन व्यक्तियो ने भी जीवन के विभिन्न क्षेत्रो म निपुणता तथा ख्याति प्राप्त कर ली थी। न केवल बौद्ध दार्शनिको—अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र ही उसकी विशिष्ट कृपा के पात्र थ, अपितु एक अन्य विद्वान् सघरक्ष भी सम्भवत उसका पुरोहित था। नागार्जुन नामक प्रसिद्ध दार्शनिक, जिसने शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और जो महायान पन्थ का प्रबल समथक था तथा चरक, जिनका आयुर्वेद विषयक 'चरक सहिता' नामक ग्रन्थ अब भी चिकित्सको के लिए श्रद्धा और विस्मय का कारण है, कनिष्क की राजसभा को सुशोभित करते थे। माथुर नामक कुशल राजनीतिक कुषाण सम्राट् के मत्रियो मे से एक था। यूनानी इजीनियर एजेसिलेअस भी कनिष्क का समकालीन था। ये तथा अन्य गुणवान् व्यक्ति कनिष्क के शासन-काल के धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा कलात्मक कार्यों में महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे।"[2] विद्वानो को राज्य-सरक्षण प्रदान करने और गुणवानो को समादृत करने की दृष्टि से भारत के सम्राटो मे कनिष्क का निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हमने ऊपर कनिष्क के जिन गुणों का उल्लेख किया है उनके द्वारा वह अशोक के साथ बैठता है। परन्तु जिस प्रकार प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी ने हर्ष मे सम्राट् समुद्रगुप्त और महान् सम्राट अशोक की स्मृतियो का समन्वय दिखलाया है, उसी प्रकार हमने भी कनिष्क के व्यक्तित्व मे उन गुणो की उपस्थिति का निर्देश किया है जिनके कारण वह समुद्रगुप्त तथा अशोक की स्मृति एकसाथ दिलाता है। समुद्रगुप्त की भाति कनिष्क भी एक महान् विजेता था। उसकी दिग्विजय का वृत्तान्त हम पीछे पढ़ चुके हैं।

---

१ पाटलिपुत्र के राजप्रासाद का निर्माता तो सभवत चन्द्रगुप्त मौर्य था, परन्तु उसको बढ़ाने, पुनर्निर्मित कराने तथा अधिक सुन्दर बनाने का श्रेय अशोक को ही है।

२ *Political History of Ancient India*, p 476

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने भुजबल द्वारा ही कनिष्क ने भारत
विशाल भूभाग पर अपनी विजय-पताका फहराई थी। अपने पूर्वजों द्वारा
धिकार रूप में उसने जो राज्य प्राप्त किया था, उसकी उसने केवल रक्षा ही नहीं
अपितु उसकी सीमा का विस्तार भी किया। उसकी महत्त्वाकांक्षा अदम्य थी।
उसकी विशालवाहिनी चीनी सेनानायक पान चाऊ के साथ युद्ध करने में
मार्गों की कठिनाइयों के कारण बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गई थी और इसी
उसको पराजय भी उठानी पड़ी, तथापि उसने कुछ समय बाद अपने
अपने अपमान का प्रतिकार किया और अपनी महत्त्वाकांक्षा को संतुष्ट किया।

कनिष्क की शासन-व्यवस्था का कोई सुस्पष्ट विवरण हमें ज्ञात
पर हम यह कह सकें कि वह किस कोटि का शासक था, परन्तु अपने युग की
व्यवस्था —क्षत्रप द्वारा शासन-संचालन की नीति—का अवलम्बन करके उसने
राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया। हमने उसकी तिथि के सम्बन्ध
करते हुए यह देखा कि उसने सम्भवतः काल-गणना की तीसरी पद्धति भी
ली थी। उसके द्वारा दो पद्धतियों की स्वीकृति के विषय में तो कोई सन्देह
नहीं, यदि तीसरी पद्धति के ग्रहण कर लेने का हमारा अनुमान सत्य हो तो
शासन-सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण बात का पता चलता है। वह बात यह है
स्थानीय परिस्थितियों और स्थानीय आवश्यकताओं का बहुत अधिक ध्यान
था, क्योंकि उसके लिए काल-गणना की तीसरी पद्धति को ग्रहण करना
नहीं था। हाँ, यह अवश्य था कि इससे उसके शासनाधिकारियों और स्थानीय
को पर्याप्त सुविधा होती थी। कनिष्क के इस कार्य से भी उसकी राजनीतिक
दर्शिता का परिचय प्राप्त होता है।

कनिष्क का शासन-काल चतुर्थ बौद्ध संगीति के लिए विख्यात है।
के समय में भी एक बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया था जिसमें कुछ
निश्चय किये गये थे जिनके द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार को एक विशिष्ट गति और
विशेष दिशा प्राप्त हुई थी। यही बात कनिष्क के शासन-काल में भी हुई जिससे
लेखकों की दृष्टि में कनिष्क का स्थान अशोक के ही बराबर है। अतएव अब
कनिष्क के राज्य काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना का अध्ययन करेंगे। यह घटना है
बौद्ध संगीति का आयोजन।

कनिष्क के समय की बौद्ध संगीति—सम्राट् कनिष्क ने केवल बौद्ध धर्म स्वीकार
ही नहीं कर लिया, वरन् इसके सिद्धान्तों को समझने की उसने चेष्टा भी की। परन्तु
इस कार्य में उसको कठिनाइयों का अनुभव हुआ, क्योंकि इस समय तक पहुँचकर बौद्ध
धर्म का स्वरूप काफी अस्पष्ट हो गया था। सिद्धान्तों और धर्म के मूल तत्त्वों के प्रश्न
पर नाना प्रकार के विवाद उठ खड़े हो गये थे। विभिन्न धर्माचार्यों के मतों में
पारस्परिक द्वन्द्व काफी परिमाण में उत्पन्न हो गये थे। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की
सूक्ष्मता, पेचीदगी और जटिलता के भार से बौद्ध धर्म की सरल और बोधगम्य शिक्षाएँ
दब गई थीं। ऐसी स्थिति में उनको हृदयंगम करना बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त
कुछ मौलिक प्रश्नों पर विभिन्न धर्माचार्यों के एकमत होने की आवश्यकता भी बहुत
बलवती होती है। इन्हीं सब कारणों से कनिष्क के समय में बौद्ध संगीति का आयो-
जन करना अनिवार्य हो गया। बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि कनिष्क के राजत्व
काल में जो बौद्ध संगीति बुलाई गई थी, उसका उद्देश्य विवादास्पद सिद्धान्तों का निर्णय

रना था । इस चतुर्थ बौद्ध-संगीति का आयोजन काश्मीर में कुण्डलवन विहार में किया या था । वसुमित्र ने संगीति के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया था और अश्वघोष ने पाध्यक्ष का कार्यभार संभाला था । इस अधिवेशन में धर्म-ग्रन्थों के गूढ़ और जटिल थलों की परस्पर तर्क-वितर्कों द्वारा पूर्ण रूप से विवेचना की गई । इस सम्बन्ध में जो गाद विवाद हुए, उनको भाष्य रूप में संकलित कर लिया गया । ये भाष्य विभाषाशास्त्र कहलाये । त्रिपिटक पर एक प्रामाणिक भाष्य की रचना हुई जिन्हें कनिष्क ने ताम्रपत्रों र उत्कीर्ण कराया । उनको एक पत्थर के सन्दूक में रखकर उसने उनके ऊपर से एक स्तूप का निर्माण करा दिया था । "इस संगीति ने दो मुख्य कार्य किये । एक तो उसने यह किया कि नये विचारों और बौद्ध दर्शन की कतिपय नवीन विचार-सारणियों के विकास के प्रकाश में धर्म ग्रन्थों को नये ढंग पर लिपिबद्ध किया । नवीन लिपिकरण में संस्कृत भाषा का व्यवहार किया गया था । संगीति का दूसरा कार्य महायान बौद्ध शाखा को राजधर्म का रूप देना था जिसके प्रचार के लिए कनिष्क उसका संरक्षक बना । इस बौद्ध संगीति में पाँच सौ विद्वानों ने भाग लिया था जो देश के प्रत्येक भाग से आये थे । संगीति का अधिवेशन छः मास तक होता रहा (प्रोफेसर एन० एन० घोष) ।

महायान मत का उदय—बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क के राजत्व-काल में होने वाली चतुर्थ संगीति का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है । जैसा कि रालिंसन महोदय ने लिखा है, यह बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीन युग के आरम्भ होने को सूचित करती है । यह (नवीन युग) था महायान का उदय जो हीनयान के प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से उतना ही भिन्न है जितना कि मध्यकालीन ईसाई धर्म प्रथम शताब्दी ई० के ईसाइयों के सरल सिद्धान्तों से भिन्न है ।[१] रालिंसन का विचार है कि महायान पन्थ का उदय कुछ तो अश्वघोष-सरीखे विद्वान् ब्राह्मणों के प्रयत्नों का प्रतिफल था, जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और जो इसे हिन्दू धर्म के कुछ निकट लाना चाहते थे । परन्तु इसके उदय का कारण अधिकांश रूप में यह बात थी कि उत्तरी-पश्चिमी भारत में अनेक अभिनव प्रभावों का प्रवेश हो चुका था । ये प्रभाव थे—यूनानी, ईसाई, जरथुस्त्र का धर्म तथा मध्य एशिया के अनेक प्रभाव । जब बौद्ध धर्म विदेशी आक्रमणकारियों का धर्म हो गया तो इसका मूल रूप पूर्ण रूप से विलुप्त हो गया ।[२] विन्सेंट

१ "Kanishka's Council at Kashmir marks the beginning of a new epoch in the history of Buddhism This was the rise of the Mahayan or Northern Church which differs as much from the primitive Buddhism of the Hinayana, or Little Vehicle of the South, as Medieval Catholicism does from the simple creed of the Christians of the first century"

H G Rawlinson, *India—A Short Cultural History*, p 96

२ "The change was partly due to attempts of learned Brahmin converts like Asvaghosha to reconcile Buddhism with Hinduism But it was due still more to the fact that in North-Western Asia a number of new influences—Greek, Christian, Zoroastrian and Central Asian—had crept in When Buddhism became the religion of the foreign invaders from the northern steppes it entirely lost its original character" वही, पृ० ९६-९७

स्मिथ साहब का भी मत इस सम्बन्ध में रालिसन के विचार से मिलता-जुलता है। स्मिथ साहब का कथन है कि जब से बौद्ध धर्म भारत की सीमा पार करके दूसरे स्थानों में गया, तभी से उसके प्राचीन रूप में परिवर्तन होने लगा और उसमें भिन्न भिन्न प्रकार के तत्त्व आ मिले। परन्तु कतिपय भारतीय विद्वानों को स्मिथ और रालिसन का यह मत मान्य नहीं है कि महायान के उदय का मूल कारण विदेशी आदर्शों का प्रभाव है। वास्तव में हमें रालिसन साहब का वह मत अधिक मान्य प्रतीत होता है, तथापि वे स्वयं उस पर अधिक बल नहीं प्रदान करते कि यह अश्वघोष-सरीखे विद्वान् ब्राह्मण के प्रयत्नों का प्रतिफल था जो बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के निकट लाना चाहते थे। महायान पथ के ऊपर विदेशी प्रभावों की अपेक्षा भागवत धर्म का प्रभाव अधिक स्पष्ट तया परिलक्षित होता है। महायान का उदय कनिष्क के पहले हो हो चुका था। क्योंकि प्रोफेसर एन० एन० घोष ने लिखा है "महायान के बीज हीनयान सम्प्रदाय में ही निहित थे।" प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त का भी कथन है कि पाली निकायों में ही ऐसे स्थल हैं जो महायान सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं। आपने महायान धर्म के उदय-काल पर विचार किया है, जिससे मालूम पड़ता है कि कनिष्क के समय से महायान पथ पहले ही से एक सजीव शक्ति के रूप में था। प्रसिद्ध विद्वान् की सम्मति से महायान बौद्ध धर्म का एक स्वीकृत रूप कनिष्क के ही समय में बना।[1]

हीनयान और महायान धर्मों में एक मौलिक अन्तर है। हीनयान-धर्म का मोक्ष पर विशेष आग्रह है और मोक्ष के लिए वह व्यक्ति की इस कार्य के हेतु निरन्तर प्रयत्नशीलता को ही सबसे बड़ा साधन बतलाता है। बुद्ध ने अपने शिष्य से इस बात को जोर देकर कहा था कि 'तुम अपने शरण्य आप बनो, अपने लिए दीपक बनो' प्रादि। उन्होंने यह भी कहा कि अपने निर्वाण का प्रयत्न तुम स्वयं परिश्रमपूर्वक करते रहो। परन्तु महायान मत में भक्ति को समुचित स्थान दिया गया। एक करुणामय उपास्य देव की कृपाशीलता पर जोर दिया गया। हीनयान धर्म में बुद्ध केवल एक शास्ता के रूप में ही थे, परन्तु महायान धर्म में उन्हें देवता का स्थान दिया गया। उनको परमात्मा समझा जाने लगा और उनकी मूर्ति बनाकर लोगों ने उनकी पूजा करनी प्रारम्भ कर दी। महायान धर्म में अवतारवाद के सिद्धान्त को स्थान मिला। रालिसन ने लिखा है कि बुद्ध जी अब एक दिवंगत गुरु के रूप में नहीं रह गये, बल्कि एक जीवित रक्षक देवता बन गये जिन्होंने राम अथवा कृष्ण की भाँति मानवता की मुक्ति के लिए अवतार ग्रहण किया था। अवतारों का सिद्धान्त, जिसका प्रयोग वैष्णव, हिन्दू धर्म तथा जैन धर्म में हो रहा था, बौद्ध धर्म के द्वारा ग्रहण कर लिया गया। ऐतिहासिक बुद्ध आदि बुद्ध के अवतारों की एक शृंखला की अन्तिम कड़ी के ही रूप में समझे गये और अधिकाधिक रूप में वे पृष्ठभूमि में पड़ गये।[2]

१ इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए देखिए *The Age of Imperial Unity*, Chapt XIX Religion and Philosophy

२ 'Buddha ceased altogether to be a dead teacher, and became a living saviour God, incarnate like Rama or Krishna for the salvation of human race The theory *of Avatars* or incarnation which was being applied to Vaishnave Hinduism and Jainism was adopted by Buddhism The historical Gautama was regarded as merely the latest of a *series of* incarnations of the Adi Buddh or Primeval Spirit, and *fell* more and more into the Background "

अवतारवाद और भक्ति के समावेश से बौद्ध धर्म का स्वरूप काफी परिवर्तित हो गया। हीनयान धर्म शुष्क और सिद्धान्तपरक था। इसकी दृढ़ आचारवादिता साधारण जनता की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं थी, क्योंकि ज्ञान और वैराग्य उसकी शक्ति के बाहर की बातें हैं। साधारण जन ऐसे इष्टदेव की खोज करते हैं जो उनके जीवन के संघर्ष विषयों में उनकी सहायता करे और जिसकी उपासना के लिए उन्हें संसार का परित्याग न करना पड़े। जीवन के हास विलास, सुख-दुःख, हर्ष शोक, जय पराजय तथा रुदन-हास का अनुभव करते हुए ही साधारण जन इस भवसागर से पार उतरना चाहता है। इस कार्य में इष्टदेव उसकी सहायता करते हैं और उनकी पूजोपासना में तल्लीन रहकर वह अपनी अभीष्ट-सिद्धि करता है। हीनयान प्रमुख रूप से ज्ञान और पाण्डित्य सम्पन्न व्यक्तियों तथा सन्यासियों के लिए था। इसकी शुष्कता, निरीश्वर-वादिता और स्वावलम्बन पर इसके प्रबल आग्रह आदि ऐसे तत्त्व थे जो जनसाधारण के लिए नितान्त दुर्बोध थे। यह बात स्मरणीय है कि अशोक को भी बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ इसके कतिपय सिद्धान्तों को लोकरुचि के अधिक निकट लाने का प्रयत्न करना पड़ा था। उसने हीनयान धर्म के मोक्ष के आग्रह के स्थान पर अपनी प्रजा के सम्मुख स्वर्ग के दिव्य दृश्य प्रस्तुत किये। महायान धर्म में उन तत्त्वों का समावेश किया गया जिसके द्वारा यह जनसाधारण की आध्यात्मिक पिपासा को अभितृप्त करने के योग्य हुआ। भक्ति और सर्वभूतानुकम्पा इस धर्म के अभिन्न अंग बन गये।

महायान बौद्ध धर्म ने विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार को सुगम कर दिया। एक समय में भारत के अन्दर बौद्ध धर्म बड़ा ही लोकप्रिय था जिसका कारण महायान पंथ का उदय था। कुछ विद्वानों का विचार है कि जब साधारण जनता ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तो महायान का उदय अवश्यम्भावी हो गया। महायान के उदय के कारणों पर विचार करते हुये डॉ० त्रिपाठी ने अपनी यही सम्मति प्रकट की है। वे लिखते हैं, "यद्यपि प्रमाण सर्वथा प्रस्तुत नहीं, तथापि इस बात को मान लेने के लिए विशिष्ट कारण है कि महायान का उदय वास्तव में कनिष्क के काल से काफी पहले हो चुका था। इसका प्रारम्भ बौद्ध धर्म में भक्ति के समावेश के साथ माना जाना चाहिये। बौद्ध धर्म का साधारण जनता में प्रचार कुछ हद तक इसका कारण हो सकता है, क्योंकि उसे हीनयान के आदर्शवाद से ऊपर उदार जन धर्म की आवश्यकता थी और हीनयान में उसकी भक्ति को प्रज्वलित करने की सामर्थ्य न थी।" भारतीय सीमा के बाहर भी बौद्ध धर्म के प्रचुर प्रचार का श्रेय महायान को ही है, हीनयान को नहीं। महायान मत ने प्राचीन बौद्ध धर्म में नवजीवन का सञ्चार कर दिया जिससे 'अपने नये रूप में वह भारतीय सीमाओं को लाघकर शीघ्र विदेशों में जा फैला। तिब्बत, चीन बर्मा और जापान ने बौद्ध धर्म के नये रूप को उसी क्षण अंगीकार कर लिया।'

कनिष्क का निधन—कुछ दन्त कथाओं द्वारा विदित होता है कनिष्क का निधन दुःखद और करुण रूप में हुआ था। उसके सेनापतियों ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके उसका वध कर दिया। उसके सरदार और सेनापति उसके युद्धों से तंग आ गये थे जिससे उन्होंने रात्रि के समय उसकी हत्या कर डाली। कुछ विद्वानों का कथन है कि कनिष्क ने ४५ वर्ष तक राज्य किया। परन्तु अन्य विद्वानों का विचार है कि उसने २३ वर्ष तक राज्य किया था। यही मत अधिक मान्य प्रतीत होता है। इस प्रकार उसका निधन (७८+२३) १०१ सन ई० के लगभग हुआ।

कनिष्क के उत्तराधिकार—कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट कनिष्क था

जिसके देहावसान के अनन्तर इस वंश का राजनीतिक गौरव क्षीण होने लगा । १७
के उत्तराधिकारियो मे से कोई भी उसके समान पराक्रमी अथवा १७१
हुआ । उसके उत्तराधिकारियो के विषय मे हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है ।
के बाद वासिष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ । वासिष्क के विषय मे इतिहास
मूक है । उसके सिक्के भी प्राप्त नही हुए है । सम्भवत उसने अपने नाम से
चलवाये ही नही । हुविष्क के विषय मे हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है ।
एक अभिलेख काबुल के निकट वारदक में प्राप्त हुआ है जो यह सिद्ध करता है
हुविष्क का अधिकार अफगानिस्तान पर था । सम्भवत हुविष्क वही हुष्क है ।
विषय मे कल्हण ने 'राजतरगिणी' मे लिखा है कि वह काश्मीर के हुष्कपुर
नगर का सस्थापक था । कल्हण के विवरण से यह अनुमान होता है कि हु
जुष्क और कनिष्क अर्थात् वाशिष्क और आरा अभिलेख (४१वें वर्ष के) वाले क
के साथ मिलकर शासन किया था । इस बात का कोई असन्दिग्ध प्रमाण नही
कि हुविष्क ने निचली सिन्ध घाटी पर अपना अधिकार कायम रक्खा था,
बात की सम्भावना अधिक है कि इस प्रदेश को कनिष्क के उत्तराधिकारियों से रु
दामन ने छीन लिया था । इसके बावजूद भी 'सिक्को और अभिलेखो से प्रमाणि
है कि हुविष्क शक्तिशाली नृपति था और उसने कनिष्क का साम्राज्य पूर्ववत बनाये
रक्खा । नि सन्देह उसकी सत्ता काबुल, काश्मीर, पजाब, मथुरा और सम्भवत सयुक्त
प्रान्त के पूर्वी भाग मे भी मानी जाती थी ।" हुविष्क के सिक्के बडे सुडौल और सुन्दर
हैं । कुषाण सम्राट कनिष्क की भाँति उसके सिक्को पर भी विभिन्न देवी-देवताओं
की आकृतियां खुदी हुई हैं । इन देवताओ के नाम ये हैं—रोमा, हेराक्लीज सरपो,
(सरपिस), मेनेवेगो (Manaobago Mao), प्राचुर्य की देवी एरदोक्षो, सूर्य देवता
एनिओ, देवी ओनानो या ओअनिन्दा (The goddess Oanas or Oaninda) युद्ध
देवता शेओरीरो (Shaoreoro) (फारसी शाहरेवर) और भारतीय देवता ओसा
(विष्णु), मासेना (महासेन) इत्यादि । कुछ सिक्को पर स्कन्द, कुमार, विशाख और
महासेन की आकृतियां है जब कि कुछ अन्य सिक्को पर स्कन्द, कुमार और विशाख
की आकृतियां उत्कीर्ण हैं । एक अन्य प्रकार की मनोरञ्जक कोटि की मुद्राओ पर हमें
एक भारतीय देवता की आकृति दिखलाई पडती है जिसके हाथ मे एक धनुष है और
'गणेश' ब्राह्मी लेख मे स्पष्ट रूप से लिखा है । सम्भवत यह देवता शिव हो । एक
सील से, जो हुविष्क की बताई जाती है, यह पता चलता है कि वह विष्णु का भक्त
था ।[1] इस बात का हमे कारण ज्ञात नही है कि हुविष्क की मुद्राओ पर बुद्ध भगवान
की आकृति क्यो खुदी नही मिलती । केवल इस आधार पर हम यह नहीं कह सकते
कि हुविष्क बौद्ध धर्म के प्रति उदासीन था अथवा उसकी बुद्ध के प्रति श्रद्धा नहीं था ।
बौद्ध अनुश्रुति कनिष्क की भाँति उसे भी बौद्ध धर्म का अनुयायी तथा पोषक बतलाती
है । हुविष्क स्वय बौद्ध धर्म का रक्षक था और मथुरा के एक अभिलेख से एक ऐसे
विहार का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका निर्माण महाराज राजाधिराज देवपुत्र ने
कराया था । यह भी सम्भव हो सकता है विहार का नामकरण उसी के नाम है
कर दिया गया हो । हुविष्क ने लगभग ३० वर्षो तक शासन किया ।

वासुदेव—हुविष्क के अनन्तर वासुदेव कुषाण साम्राज्य का स्वामी बना । इस
नृपति का नाम यह स्पष्टतया सूचित करता है कि कुषाण वंश का भारतीयकरण अब
पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुका था । उसकी ज्ञात तिथियाँ ६७ से लेकर ६८ के बीच

1 देखिए *The Age of Imperial Unity*, p 150

की हैं जो कि ई० सन् की १४५ और १७६ तिथियाँ हैं। उसके शेष और …के केवल मथुरा, पजाब और सयुक्त प्रान्त से ही मिले हैं जिससे यह सिद्ध होता …के उसका अधिकार इन्ही प्रदेशो तक सीमित रह गया था और कुषाण-साम्राज्य …पश्चिमोत्तर सीमा का निर्माण करने वाले प्रदेश उसके हाथो से निकल गये थे। …फगानिस्तान, काश्मीर, सिंध, मालवा आदि देशो पर निश्चित रूप से इस समय …णो का अधिकार नही था।

वासुदेव के सिक्को पर विभिन्न देवी देवताओ की आकृतियाँ नही प्राप्त होती। …की अधिकाश मुद्राओ पर शिव तथा उसके वाहन नन्दी की ही आकृति खुदी हुई …। यद्यपि नाम से उसके वैष्णव धर्मानुयायी होने का अनुमान लगाया जा सकता है, …।पि वासुदेव शैव था, वैष्णव नहीं।

वासुदेव कुषाण वश का अन्तिम सम्राट् था जिसका राजनीतिक प्रभुत्व बिल…न क्षीण नहीं होने पाया था। किन्तु उसके समय से ही इस राजवश का पतन आरभ … गया था। उसके बाद के कुषाण राजाओ का इतिहास प्राय तिमिरावृत ही है। …स बात म कोई सन्देह नही कि भारत मे वासुदेव के राजत्व-काल (१४५–१७६ सन् …०) के शीघ्र बाद ही कुषाण राजसत्ता का ह्रास होने लगा। जब क्षत्रप जो मूलत …निष्क प्रथम के प्रति अपना दासभाव स्वीकार करते थे, अब स्वतन्त्र शासको की भाँति …सन करने लगे। पश्चिमी और मध्य भारत के विशाल भूभागो पर उनकी स्वतन्त्र …राजसत्ता स्थापित हो गई। भारत के विभिन्न भागो मे, जहाँ कुषाण वश का अधिकार …, विशेषतया वर्तमान उत्तर प्रदेश और राजपूताने में अधीनस्थ राजवशो ने अपना …स्तक ऊँचा किया और यहाँ तक कि मथुरा से भी कुषाण शक्ति का उन्मूलन कर …या गया जहाँ पर एक नाग परिवार सत्तारूढ हो गया। नागो की अधीनता मे …ारत मे एक राष्ट्रीय शक्ति की लहर बही जिसके प्रबल वेग मे कुषाणो का साम्राज्य …ह गया।

कुषाण-युग की सभ्यता और सस्कृति

कुषाण-युग की सभ्यता और सस्कृति के विभिन्न रूपो पर विचार कर लेने से …ब यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम इसके सास्कृतिक गौरव पर दृष्टिपात करें। …मौर्य युग की भाँति इस काल की सभ्यता और सस्कृति की उन्नति के पीछे भी एक विशाल साम्राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधायें थी जिनके अभाव मे सम्भवत सस्कृति की विशेष उन्नति सम्भव न थी। मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त प्रथम बार कुषाण-साम्राज्य ही इतना विशाल था जिसमे अन्तगत न केवल सम्पूर्ण उत्तरी भारत, अपितु इसके बाहर के भी पर्याप्त भूभाग, मध्य एशिया तक के थे। इस प्रकार भारत का विदेशो के साथ घनिष्ठतर सम्पर्क स्थापित हुआ। इस दृष्टि से कुषाण-युग भारतीय सस्कृति के इतिहास मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस युग मे "उदीयमान ईसाई धर्म पूर्ण विकसित बौद्ध धर्म के साथ एशिया तथा मिस्र की पाठशालाओ और बाजारो मे मिला, जबकि दोनो धर्म वातावरण की मूर्ति पूजावादिता के प्रभावो के लिए अनेक रूपो मे उन्मुक्त थे और असख्य कलाकृतियो के प्रभाव से भी जिन्होंने बहुदेववाद के रूपो को अभिव्यक्ति प्रदान की। फारस के प्राचीन धर्म ने मानव विचार के उबाल के लिए अपना योगदान किया जो गमनागमन के विकसित साधनो तथा प्रतिद्वन्द्विनी सभ्यताओ के तीव्र सघर्ष से उत्तेजित हुआ था (स्मिथ)। स्वय बौद्ध धर्म भी एक नितान्त व्यक्तिगत

जीवन-दर्शन से विश्व धर्म में परिणत हो गया और खोतान द्वारा मध्य
व्यापार-मार्गों से होकर फैल गया, जहाँ पर भारत और चीन एक-दूसरे से मिले।

कुषाण-युग में कई नवीन तत्त्वों का उदय हुआ जिनका
में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। महायान धर्म को बौद्ध धर्म का ही स्वरूप
की स्वीकृति, गान्धार कला तथा बुद्ध प्रतिमायें, ऐसे ही कुछ तत्त्व थे। बुद्ध
देवी-देवताओं की मानव आकृति में प्रतिमायें इसी समय से बनाई जाने लगीं।
युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में डॉ० रायचौधरी का कथन है,
युग महती साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था। इसका प्रमाण हमें अश्वघोष,
तथा अन्य विद्वानों की कृतियों से प्राप्त होता है। यह धार्मिक उत्तेजना तथा
सम्बन्धी कार्यों का भी युग था। इसी युग मे शैव धर्म तथा इससे सम्बन्धित
सम्प्रदाय, महायान बौद्ध धर्म और मिहिर तथा वासुदेव कृष्ण के सम्प्रदायों का
हुआ और इस युग ने काश्यप मातंग (६१–६७ सन् ई०) द्वारा चीन में
का प्रवेश करते हुये देखा। कनिष्क के वंश ने भारतीय सभ्यता के लिए मध्य
पूर्वीय एशिया का द्वार खोल दिया।'[२]

सर्वप्रथम हम कुषाण-युगीन सभ्यता की सबसे प्रमुख विशेषता
यह विशेषता थी विदेशों के साथ इसका घनिष्ठ सम्पर्क। कनिष्क ने जिस
की स्थापना की थी, उसकी विस्तृत सीमाओं का अध्ययन हम पीछे कर चुके हैं।
कूचा पर कनिष्क का राज्य स्थापित हो जाने और काशगर, खोतान तथा यारकन्द
उसके राज्य में सम्मिलित हो जाने से गमनागमन और यातायात की सुविधायें
गईं। एक ओर व्यापारियों के काफिले अपनी विक्रय-सामग्रियों के साथ
में आने-जाने लगे और दूसरी ओर धर्म प्रचारक अपने धर्म को फैलाने के लिये
की यात्रा करने लगे। डॉ० रायचौधरी का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि
के वंश ने भारतीय सभ्यता के लिए मध्य और पूर्वी एशिया का द्वार खोल दिया।'
सन्देह नहीं कि इस समय से विदेशों मे, विशेषतया मध्य और पूर्वी एशिया में बौद्ध
के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का प्रचार होने लगा। पाश्चात्य जगत के साथ
पारिक सम्बन्ध बहुत अधिक दृढ हो गया, क्योंकि गमनागमन और यातायात के वि
साधन प्रचुरता से उपलब्ध थे। कदफिसीज द्वितीय के समय से भारत का विदेशी
पार काफी उन्नतिशील हो गया। हम पीछे इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि र
लेखक प्लिनी ने अपने देशवासियों की मूर्खता पर अश्रुपात किया है कि वे भारत से
विलास-सामग्रियों के बदले मे अपनी सुवर्ण-मुद्रायें देते हैं। रोमन-साम्राज्य की सुवर्ण
मुद्रायें भारत में इतनी बहुलता से प्राप्त हुई हैं कि प्लिनी का कथन असन्दिग्ध रूप
सत्य प्रमाणित हो जाता है। विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने से भारत को
दोतरफा लाभ हुआ। पहला लाभ तो यह था कि विदेशों में इसकी संस्कृति का प्रचार
हुआ और दूसरा लाभ था, पाश्चात्य जगत् के धन का, व्यापारिक सम्बन्धों के फल
स्वरूप देश मे प्रवेश। यह सोचना असम्मत नहीं मालूम पड़ता कि कुषाण-युग की
आर्थिक समृद्धि ने सभ्यता की उन्नति को एक प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया।

साहित्यिक उन्नति—जैसा कि डॉ० रायचौधरी ने कहा है, यह युग महती
साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था। इस युग की साहित्यिक क्रियाशीलता की एक
प्रमुख विशेषता यह है कि इसका रूप एकांगी नहीं था। इस समय केवल विशुद्ध साहित्य

१ एच० जी० रालिन्सन, *India—A Short Cultural History*, p 104
२ *Political History of Ancient India*, p 478

ग्रथो की रचना ही न हुई, अपितु दर्शन शास्त्र तथा चिकित्सा विज्ञान पर भी ग्रथ लिखे गये। अश्वघोष, नागार्जुन और चरक युग की साहित्यिक क्रियाशीलता के विभिन्न रूपो को अभिव्यक्त करते हैं। श्री जी० बी० रालिन्सन ने लिखा है कि "साहित्य के अभिनव स्वरूप प्रकाश मे आते हैं, नाटक तथा महाकाव्य अपना रूप दिखलाते हैं और साहित्यिक संस्कृति का विकास होता है।"[1] यद्यपि रालिन्सन महोदय के कथन को हम केवल कुषाण-युग के लिए स्वीकार नही कर सकते क्योकि इससे पहले भी नाटको और महाकाव्यो का प्रणयन किया जा चुका था, तथापि इस बात मे कोई सन्देह नही कि इसके लिये कुषाण-युग का भी महत्त्व काफी है। एक विदेशी राजवश के राजत्व-काल मे देववाणी संस्कृत की इतनी अधिक उन्नति होना निस्सन्देह उस राजवश के लिये गौरव का कारण है। और जब हम यह देखते हैं कि युग की साहित्यिक प्रगति मे इस वश के शासको का भी सक्रिय सहयोग था तो उनके लिये हमारे हृदयो मे श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्राट् कनिष्क के विषय मे हम पढ चुके हैं कि वह विद्वानों का आश्रयदाता था। वासुदेव का समीकरण विद्वानो ने उसी नाम के एक राजा के साथ किया है जिसका उल्लेख राजशेखर ने अपने "काव्यमीमासा" नामक ग्रन्थ मे कवियो के आश्रयदाता तथा 'सभापति' (विद्वानों की सभा के अध्यक्ष) के रूप मे किया है। अन्य कुषाण सम्राट भी साहित्यानुरागी थे, यद्यपि उनके राज्य-काल की साहित्य-सर्जना का कोई स्पष्ट विवरण हमें ज्ञात नही।

अश्वघोष कुषाण-युग की साहित्यिक प्रगति का नेता और अग्रदूत था। वह सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न था। वह एक दार्शनिक, लेखक, नाटककार, सगीतज्ञ तथा महाकवि था। तथागत के जीवन पर शुद्ध और सरस साहित्यिक शैली मे लिखा हुआ उसका महाकाव्य 'बुद्धचरित' संस्कृत काव्य का एक उज्ज्वल रत्न है। अश्वघोष दार्शनिक और नैतिकता का पुजारी था, परन्तु शायद सबसे पहले वह एक कवि था, इसीलिए जीवन के उल्लासपूर्ण और शृगारमय पक्ष की ओर वह तनिक भी उदासीन न था। इस दृष्टि से उसने संस्कृत काव्य की परम्परागत शैली का अनुसरण किया है। जिस समय युवक सिद्धार्थ को मोहित करने के लिये सुन्दरी प्रमदाये आती हैं, अश्वघोष उनके रूप-वर्णन मे बिना किसी प्रकार के वैरागी सकोच के अपनी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का उपयोग कर बठता है। अप्सराओ के सौन्दर्य-वर्णन मे वह वाल्मीकि से प्रभावित जान पड़ता है। अन्य स्थलो पर भी रामायण की काव्य शैली का प्रभाव सुस्पष्ट है। अश्वघोष की दूसरी कविता-कृति 'सौन्दरानन्द' काव्य है जिसके अठारह सर्गों मे बुद्ध द्वारा अपने चचेरे भाई नन्द को अपने मत मे दीक्षित कर लेने की घटना का वर्णन है। अश्वघोष के काव्यो मे कतिपय मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो उसकी मौलिकता का सुन्दर परिचय देते हैं। महाकवि होने के साथ ही अश्वघोष नाटककार भी था। उसने, अनुश्रुति के अनुसार, तीन नाटको का प्रणयन किया था। 'सारिपुत्र प्रकरण' निश्चित रूप से उसी की कृति है। 'वज्रसूची' को भी कुछ विद्वान् अश्वघोष की रचना बतलाते हैं जिसमे लेखक ने जाति व्यवस्था की निन्दा करने मे ब्राह्मण-ग्रथो के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

नागार्जुन नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ने दर्शन के ग्रथो की रचना की। 'मध्यमक कारिका और सुहृल्लेखा' उसके दो विख्यात ग्रन्थ हैं। 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' मे उसने माध्यमिक दर्शन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ के

1 "New literary forms come to light, the drama and the court epic make their appearance and classical Sanskrit is evolved."

एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह ब्राह्मण शास्त्रों में भी पारंगत था। बात का गौरव प्राप्त है कि महायान धर्म की व्याख्या उसने इस रूप में की कि वृत्तिजीवियों और विद्वानों को भी रुचिकर लगा। महायान धर्म पर नागार्जुन ही सबसे प्रथम विद्वान् था। वसुमित्र भी इस युग का प्रसिद्ध दार्शनिक चरक को कनिष्क का राजवैद्य बतलाया जाता है। उसने चिकित्साशास्त्र महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। उसके ग्रंथ की शैली सचमुच बड़ी ही सरस है। यद्यपि यह ग्रंथ एक विज्ञान के शुष्क नियमों का वर्णन करता है शैली में नीरसता कहीं भी नहीं है। इस ग्रंथ का महत्त्व इसी बात से समझा है कि आज से बहुत पहले ही इसका अनुवाद अरबी और फारसी जा चुका था। चिकित्सा विज्ञान के संबन्ध में चरक के सिद्धान्त आज के वैज्ञानिक युग में भी माने जाते हैं। चरक ने चिकित्सकों के लिए आचार के जिस मानदण्ड की व्यवस्था की है, वह सर्वथा स्तुत्य है। यह कहना व्यर्थ है कि चरक ग्रंथ पर यूनानी प्रभाव है।

कुषाण-युग की कलात्मक प्रगति—महायान धर्म की भक्तिवादिता ने कला के क्षेत्र में कुछ नवीनता उत्पन्न कर दी। इस युग के पूर्व बुद्ध की प्रतिमाओं का नहीं किया जाता था। भरहुत और सांची के स्तूपों में बुद्ध की उपस्थिति को संकेतों अथवा प्रतीकों द्वारा चित्रित किया जाता था। यदि बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के दृश्य को चित्रित करना हुआ तो एक आरोही-रहित अश्व दिखला दिया जाता था। अभिप्राय यह होता था कि इसी अश्व पर आरूढ़ होकर तथागत ने अरण्यगमन किया था। परन्तु ज्यों-ज्यों बौद्ध उपासकों के हृदयों में भक्ति भावना का संचार होता गया वे भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे। निश्चय रूप से भक्ति-भावना का उदय कला के विकास के लिए बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ और आगे भारत में कला की जो प्रचुर उन्नति हुई उसमें इसका बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान था। एक लेखक के शब्दों में 'कला के ऊपर बड़ा गम्भीर प्रभाव था क्योंकि पूजा की ने उन उच्चतर भावों को अभिव्यक्ति प्रदान की जिनमें समस्त महती कला के पाये जाते हैं।"[1] भारत में बुद्ध की मूर्तियों के सबसे प्राचीन नमूने गान्धार कला हैं अतएव इस पर अलग से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

गान्धार कला—गान्धार-कला से तात्पर्य मूर्ति-कला की एक विशिष्ट शैली से है जिसका विकास ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी में अधिकांशतया गान्धार तथा निकटवर्ती प्रदेश में हुआ था। इस कला के प्रमुख केन्द्र थे, जलालाबाद, हड्ड और बामियाँ, स्वात घाटी एवं पेशावर का जिला। गान्धार-कला को "इण्डो ग्रीक" कला के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय हैं किन्तु उनकी शैली यूनानी है। बुद्ध भगवान् की जो मूर्तियाँ इस शैली की शिल्पविधि द्वारा निर्मित की गई, वे यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों से काफी मिलती जुलती हैं। उनकी मुद्राएँ तो बौद्ध हैं जैसे कि कमलासन मुद्रा में बुद्ध भगवान् बैठे हुए हैं, परन्तु मूर्तियों के मुखमण्डल और वसन निस्सन्देह रूप से हेलिनिस्टक हैं। बुद्ध जी को उनकी इन मूर्तियों में अलंकृत मूंछों से युक्त प्रदर्शित किया गया है जो स्पष्टतया यूनानी अथवा रोमन कला का प्रभाव है क्योंकि भारत का तक्षक, जो इस देश की परम्परा के अनुकूल मूर्तियाँ

---

1 "The effect on art was tremendous, for the spirit of worship released and gave expression to the higher emotions in which the roots of all great art are found."—Christmas Humphreys' *Buddhism*, p 290

निर्माण करता, इस बात को जानता होता कि तथागत ने सन्यास ग्रहण करने पर केश मुड़वा दिये थे। इसी प्रकार बोधिसत्वों की मूर्तियों पर भी यूनानी कला छाप सुस्पष्ट है। बोधिसत्व यूनानी राजाओं की तरह लगते हैं। उनके वस्त्र मड़-ा हैं और वे रत्नाभूषणों से मण्डित हैं। वे किसी प्रकार भी आध्यात्मिक जगत के नहीं प्रतीत होते, वरन् उनको देखने से ऐसा जान पड़ता है मानो वे किसी देश भूपति हों। यही नहीं भगवान् बुद्ध को भी महाभिनिष्क्रमण के पूर्व उनकी मूर्तियों उन्हें यूरोपियन वेशभूषा तथा रत्नों से युक्त दिखलाया गया है। इस प्रकार से यह द्ध हो जाता है कि मूर्तियों की मुद्रायें इस देश की होने पर भी उनकी शिल्पविधि धिकांशरूपेण यूनानी अथवा रोमन है। धर्मचक्र-मुद्रा, ध्यान मुद्रा, अभय-मुद्रा और द-मुद्रा आदि विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियों का निर्माण किया गया है।

बहुत काल तक पाश्चात्य कला समीक्षकों का यह विचार था कि भारत की सर्व-ष्ठ कला का निदर्शन गान्धार कला द्वारा ही होता है, परन्तु यह धारणा नितान्त मक और त्रुटिपूर्ण है। भारत और पश्चिम की कला-सम्बन्धिनी मान्यतायें परस्पर क-दूसरे की इतनी विरोधिनी हैं कि एक विदेशी कला शिल्प के माध्यम द्वारा देश की मिक और आध्यात्मिक भावना को समुचित अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। कला क्षेत्र में भारत के ऊपर पश्चिमी का प्रभाव कभी गम्भीर न पड़ सका और इसके द्वारा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि होती है कि भारतवासियों में विदेशी प्रभावों ो ग्रहण करने की तत्परता उन्हें अपने देश की मौलिक परम्पराओं में पचा लेने ी अद्भुत क्षमता थी। भारत के कलाकार ने गान्धार-कला के माध्यम द्वारा मूर्ति र्माण की जो शिक्षा प्राप्त की उसका उसने आगे चलकर बल्कि यों कहना चाहिए ि उसी समय एक दूसरे कला केन्द्र (मथुरा) में, मौलिक और स्वतन्त्र रूप से विकास या। यह कहना सर्वथा अनुचित है कि गान्धार-कला एक अत्यन्त उच्चकोटि की कला । जिस आदर्श और भावना को अभिव्यक्त करने के लिए इस कला का उद्भव हुआ ा उसको पाश्चात्य कलाकार ठीक से समझ न पाये जिससे वे अपने कार्य में सफल हो सके। प्रोफेसर ए० कुमारस्वामी ने ठीक ही लिखा है कि "पश्चिमी रूपों का मस्त परवर्ती भारतीय तथा चीनी बौद्ध कला पर प्रभाव सुस्पष्ट रूप से खोजा जा कता है परन्तु गान्धार की वास्तविक कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है क्योंकि ोधिसत्वों की सन्तुष्ट अभिव्यक्ति और कुछ-कुछ आडम्बरपूर्ण वेशभूषा तथा बुद्ध र्तियों की स्त्रैण तथा निर्जीव मुद्रायें बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को भिव्यक्ति नहीं प्रदान कर पाती।"[१] गान्धार की मूर्तियों में कलाकार की सच्चाई का भाव दृष्टिगोचर होता है। डॉ० नीहार रंजन रे के शब्दों में ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी सिद्धहस्त कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों से तैयार की गई हो।

१ "The influence of the Western forms on all later Indian and Chinese Buddhist art is clearly traceable but the actual art of Gandhara gives the impression of profound insincerity, for the complacent expression and somewhat foppish costume of the Buddhistras and the effeminate and listless gesture of the Buddha figures but faintly express the spiritual energy of Buddhist thought"—Ananda Kumar Swamy *Buddha and the Gospel of Buddhism*, p 323

"They seem to have been turned out in large from workshops established for the purpose, almost in a anical manner as it were This explains why in spite of depicting the entire Buddhist legendary and historical in all its minutest details, the reliefs appear to be and without any character, bereft of any emotional or spontaneity, and lacking in sincerity"[१]

कुषाण युग मे गाधार के अतिरिक्त और भी कलाकेन्द्र थे जहाँ पर काफी उन्नति हो रही थी। य कलाकेन्द्र सारनाथ, अमरावती और मथुरा में "इनमे से प्रत्येक की एक अलग शैली थी, एक दूसरे से अप्रभावित। हाँ, और मथुरा से प्राप्त मूर्तियो की निर्माण-कला मे कुछ समानता अवश्य पाई जाती अमरावती से प्राप्त पाषाण वेष्टनियो पर उत्कीर्ण चित्रो की अद्वितीय कारीगरी का विलक्षण नमूना प्रस्तुत करती है।" गाधार और मथुरा कुषाण युग की प्रगति के केन्द्र थे। गाधार कला का अध्ययन हम कर चुके हैं। मथुरा की प्रवत्तियो का विवेचन कर चुकने के बाद हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

मथुरा मे भी इस समय बुद्ध और बोधिसत्वो की प्रतिमाओ का निर्माण जाता था। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि मथुरा की मूर्तिया पर किस सीमा तक प्रभाव है। पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि मथुरा की मूर्ति पर न केवल गाधार-कला का प्रभाव ही है, अपितु उसका उदभव ही कला की अनुकृति द्वारा हुआ है। परन्तु इस कथन को अन्य विद्वान् स्वीकार करते। रालिसन महोदय का कथन है, कि "उसी समय समकालीन कला का विशुद्ध देशी सम्प्रदाय, जिसका भरहुत और साची से उदभव हुआ था, मथुरा, बेसनगर तथा अन्य केन्द्रो मे प्रचलित था। पहले यह प्रवत्ति थी कि बुद्ध, और हिन्दू देवताओ की मूर्ति निर्माण के आविष्कार को विदेशी प्रभावों के बताया जाता था, परन्तु अब सामान्यतया इस बात पर विद्वान् सहमत हैं उदभव मथुरा के देशी कलाकारो के द्वारा खोजा जाना चाहिये न कि गाधार के। रालिन्सन के मत का समर्थन क्रिस्टमस हम्फ्रीस ने भी किया है, "The opinion, indeed, is that the earliest Buddha image of the Math school were pre Gandharan, and that the latter's history parallel to and independent of the main current of Indian art (*Buddhism*, p 210) डा० नीहार रजन रे ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि मथुरा

१ *The Age of Imperial Unity*, p 519

२ "At the same time a purely indigenous school of contemporary art, lineally descended from that of Bharhut and Sanchi appears to have flourished at Mathura, Bhita Besangar and other centres It was formerly the custom to attribute to foreign influence the innovation of making representations of the Buddha Mahavira and the Hindu gods but it is now generally agreed that this must be traced to the indigenous artists of Mathura rather than to Gandhara' *India—A Short Cultural History*, pp 101 102

सबसे प्राचीन मूर्तियों का भरहुत की कला से, जो द्वितीय शताब्दी ईसा से पूर्व के मध्य की है, सम्बन्ध है। आपने आगे बताया है कि गान्धार की बुद्ध प्रतिमायें मथुरा पश्चात नहीं थीं, वास्तव में अपने नमूनों में उनकी अनुकृति है और कतिपय Reliefs या अलंकरण के तरीकों में भी गान्धार शिल्पविधि की सहायता ली गई है, परन्तु मथुरा की कला में अनुकरण की यह प्रवृत्ति ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व नहीं दिखलाई पड़ती। डॉ० रे के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वे मथुरा की कला की स्वदेशी उत्पत्ति मानते हैं, विदेशी नहीं। डा० फोगेल का मत है कि मथुरा की कला भाव की कल्पना तथा अलंकरण की विधि नितान्तरूपेण भारतीय है। परन्तु वे इस कला पर गान्धार-कला का कुछ प्रभाव अवश्य स्वीकार करते हैं। आपका विचार है कि इस कला में दो प्रकार की कला-परम्पराओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। एक ओर तो भरहुत तथा साँची की प्राचीन कला शैली विद्यमान है और दूसरी ओर गान्धार-कला का भी परिलक्षित प्रभाव दिखलाई पड़ता है। वास्तव में डा० रे और फोगेल का मत ही ठीक प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मथुरा-कला का उद्भव स्वदेशी स्रोतों से हुआ था और इसका विकास भी अनेक अंशों में उन्हीं के आधार पर हुआ था, परन्तु आगे चलकर इसके ऊपर गान्धार कला का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा।

मथुरा कला की समस्त कृतियाँ सरलतापूर्वक पहचानी जा सकती हैं। कारण यह है कि इनके निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग किया जाता था जो मथुरा के समीपवर्ती सिकरी नामक स्थान से प्राप्त होता था। ईसा सन् की प्रारम्भिक शताब्दी से मथुरा की कलात्मक क्रियाशीलता बहुत अधिक बढ़ गई। यहाँ की मूर्तियाँ बाद में मध्य एशिया और तक्षशिला एवं सारनाथ तथा स्रावस्ती को भेजी जाती थी। भगवान् बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं को गान्धार और मथुरा, दोनों स्थानों में उत्कीर्ण किया गया है। ये घटनायें हैं—(१) जन्म, (२) सम्बोधि, (३) धर्मचक्रप्रवतन, (४) महापरिनिर्वाण। इन चार प्रमुख घटनाओं के अतिरिक्त बुद्ध के जीवन की तीन गौण घटनाओं को भी उत्कीर्ण किया गया है। ये घटनायें हैं—(१) इन्द्र को भगवान् बुद्ध का दर्शन, (२) बुद्ध का त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से माता को ज्ञान देकर वापस आ जाना, और (३) लोकपालों द्वारा बुद्ध को भिक्षापात्र अर्पण करना।[1] मथुरा की कुषाण-कालीन मूर्तियों की अपनी कतिपय विशेषतायें हैं। मथुरा की मूर्तियाँ अपनी घनमानता और विशालता के लिए विख्यात हैं। मस्तकों को मुकुटयुक्त नहीं दिखलाया गया है। गान्धार-कला की तरह मथुरा की मूर्तियों पर मूँछ बिलकुल नहीं हैं। बालों और मूँछों से रहित प्रतिमाओं के निर्माण की परम्परा विशुद्ध रूप से भारतीय है और इस दृष्टि से गान्धार और मथुरा की बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रतिमायें एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। मथुरा की कुषाण-कालीन मूर्तियों के दाहिने कन्धे पर वस्त्र नहीं रहता। दाहिना हाथ अधिकतर अभय मुद्रा में पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि

---

१ यह बात स्पष्ट है कि बुद्ध के जीवन की जिन तीन गौण घटनाओं को उत्कीर्ण कराया गया है, वे ऐतिहासिक बुद्ध के जीवन से किसी प्रकार भी सम्बन्धित नहीं हैं। इन घटनाओं की कल्पना उस समय की गई जब महात्मा बुद्ध को ईश्वर का अवतार समझा जाने लगा। उनके जीवन को अनेक रहस्यमय और विचित्र कथाओं से संयुक्त कर दिया गया। इस प्रकार की कल्पनायें ब्राह्मण धर्म की पौराणिक कथाओं के साथ गहरा साम्य रखती हैं।

गान्धार कला में बुद्ध जी को बहुधा पद्मासन अथवा कमलासन में ... गया है किन्तु मथुरा की मूर्तियों में सिंहासन पाया जाता है। खड़ी मूर्तियों ... पैरों के नीचे सिंह की आकृति बनी रहती है। मूर्तियों में प्रभामण्डल का ... गान्धार तथा मथुरा दोनों की तक्षण-कलाओं में दिखलाई पड़ता है और दोनों ... प्रभामण्डल अलंकृत हैं। किन्तु मथुरा की प्रतिमाओं में किनारा पर ... दृष्टिगत होता है। यदि हम मथुरा और गान्धार की प्रतिमाओं का सूक्ष्म ... करें तो यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि कला की इन दो विभिन्न ... उद्भव और विकास पृथक्-पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ। जैसा कि पहले ... चुका है कि मथुरा की कला स्वदेशी थी, अतएव गुप्त युग के कलाकारों ... कला शैली को अपनाया और इसको चरम विकास पर पहुँचा दिया। ... कुमारस्वामी यह विश्वास करते हैं कि गुप्त-युग की मूर्ति-कला का आदि ... की ही तक्षण-कला है।

मथुरा-कला की एक प्रमुख प्रवृत्ति पर हम विचार करना उचित ... है। यह कहा जा चुका है कि मथुरा की कला का भरहुत और साँची की ... के साथ निकट का सम्बन्ध है और रालिन्सन के शब्दों में Lineally desc... from that of Bharhut and Sanchi इसका उद्भव ही भरहुत ... की कला से हुआ है। परन्तु मथुरा की कला एक बात में अपनी पूर्ववर्ती ... शैली से नितान्त भिन्न है। साँची और भरहुत की कलाकृतियों में एक प्रकार ... प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता का आभास मिलता है जिसका मथुरा का ... एकान्त अभाव है। वृक्ष-लतादिक गुल्मों के मध्य स्थित या खड़ी हुई नारी ... में साँची तथा भरहुत की कला शैली में, उसे उन्नत उरजों और विकसित ... को देखकर प्रकृति की उर्वरता का आभास प्राप्त होता है। इन साँची ... की यक्षिणी-मूर्तियों और स्थापत्य चित्रों से हमें यह अवश्य विदित होता है कि ... निर्माण करने वाले कलाकारों का जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं ... प्रकृति तथा मानव शरीर के प्रति उनका दृढ़ अनुराग था, परन्तु उनमें ... की बू नहीं आती। उनकी ध्वन्यात्मकता और अभिव्यक्ति मानसिक है शारीरिक ... मनुष्य के इहलोकपरक जीवन का चित्रण करते हुये भी व दर्शकों को मानसिक ... आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करते हैं। परन्तु मथुरा की कला इस बात ... और साँची से भिन्न है। इस कला शैली में हम स्वतः स्फूर्ति के ... कृत्रिमता के दर्शन होते हैं। इसमें इन्द्रियपरकता भी काफी अधिक है। मथुरा ... यक्षिणियों की प्रतिमायें हमारे चित्त पर प्रभाव कम डालती हैं हमारी इन्द्रियों ... अवश्य आन्दोलित करती हैं। मथुरा के कलाकार का उद्देश्य, मालूम पड़ता है, ... परक और कामुकता से परिपूर्ण था।[1] मथुरा की यक्षिणी मूर्तियों के विषय में ... रंजन रे ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

१ यहाँ पर हमें एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि यद्यपि गुप्त-... मूर्तिकला का उद्भव मथुरा की तक्षण-कला से हुआ है, तथापि इसमें कृत्रिमता ... इन्द्रियपरकता का किञ्चित्मात्र भी समावेश नहीं है। गुप्त-काल के कलाकार ... सौन्दर्य-वृत्ति तीव्र थी, किन्तु उनकी उदात्त नैतिक मान्यतायें, जो उनकी ... प्रवृत्ति के साथ संयुक्त थीं, उस सौन्दर्य-वृत्ति को संयमित तथा नियन्त्रित कर देती थीं ... यही कारण है कि गुप्त-कालीन तक्षण-कला का दर्शक के चित्त पर स्थायी एवं ... प्रभाव पड़ता है।

यदि [illegible] प्रथम [illegible] के बाद की हुई तो [illegible] कि इन पर [illegible] का प्रभाव [illegible] क्योंकि [illegible] [illegible] पर अधिक ध्यान दिया जाता था। किन्तु यदि [illegible] झूठी हो तब भी यह तो स्पष्ट है कि [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] कलाकारों ने किया।

प्रश्न

Agra University

1. Sketch the history of the reign of Kanishka I. (1947)

2. Describe briefly the reign of Kanishka I, with special reference to his services in the cause of Buddhism. (1949)

३. कनिष्क (प्रथम) के शासन-काल का भारतवर्ष के धार्मिक तथा कला-कौशल के इतिहास में क्या महत्त्व है? (१९५०)

४. कनिष्क (प्रथम) के शासन-काल का भारत के धार्मिक तथा कला-कौशल के इतिहास में क्या महत्त्व है? (१९५२)

५. कनिष्क-प्रथम के शासन-काल का इतिहास लिखिए तथा उसके साम्राज्य के विस्तार का विवेचना कीजिए। (१९५३)

६. कुषाण कौन थे? कनिष्क की विजयों एवं सफलताओं पर एक नोट लिखिए। (१९५६)

7. Define the extent of Kanishka's empire and trace the conquests by which it was won. Examine his work as a patron of Buddhism. (1945)

8. Who were the Kushanas? When did they rule and where? Who was most notable ruler of their dynasty? What do you know of his career? (1947)

Allahabad University

1. Describe the growth and extent of the Kushan Empire. (1939)

2. Who were the Kushanas? Bring out clearly growth of their empire under Kanishka. (1957,58)

3. Discuss the importance of Kanishka's reign in the history of Buddhism and of Indian art. (1958)

४. कनिष्क के शासन के महत्त्व का मूल्यांकन कीजिए। (१९५९)

५. कनिष्क-प्रथम की राजनैतिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए। (१९६०)

६. कनिष्क-प्रथम के राज्यारोहण से पूर्व कुषाण-सत्ता के क्रमिक विकास का वृत्तान्त लिखिए। (१ [illegible])

१७ | गुप्त-वंश

जिस मगध साम्राज्य का उदय छठी शताब्दी ई० पू० से आरम्भ हुआ और ४ शताब्दी ई० पू० तक जिसने अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर लिया, उसी को लगभग ५०० वर्षों तक इतिहास में गौण स्थान प्राप्त हो जाता है और उसका पुनरुद्धार तब तक नहीं होगा जब तक तीसरी शताब्दी में मगध-राज्य सिंहासन पर गुप्त वंश आरूढ़ नहीं होता। इतना ही नहीं, गुप्त राजाओं के संरक्षण में मगध ने जितनी उन्नति की उतनी अन्य किसी काल में नहीं कर सका था। गुप्तों के राज्यारोहण के समय बुन्देलखण्ड तथा मध्य प्रान्त में वाकाटक नरेश राज्य कर रहे थे। उत्तरी भारत में कोई भी ऐसी शक्ति न थी जो भारतीय इतिहास की गौरव वृद्धि कर सके। किसी भी प्रभावशाली शासन के अभाव में भारत की एकता को तो खतरा था ही, साथ ही उसकी स्वतन्त्रता के भी हरण का भय था। भारतीय संस्कृति के पोषक, भारतीय राष्ट्रीयता के रक्षक तथा भारतीयता के उन्नायक इन गुप्त सम्राटों पर इतिहास को गर्व है। इनमें शस्त्र और शास्त्र का जो समन्वय देखने को मिलता है, वह इने गिने केवल भारतीय सम्राटों में ही प्राप्त होता है।

गुप्तों की जाति—गुप्त वंश का इतिहास जानने के पूर्व उनकी जाति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति गुप्तों की जाति के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में बहुत मतभेद है। कुछ इतिहासकार इन्हें क्षत्रिय और कुछ शूद्र मानते हैं। श्री गौरीशंकर ओझा इन्हें क्षत्रिय स्वीकार करते हैं किन्तु जायसवाल जी इन्हें शूद्र बतलाते हैं। जायसवाल जी का कहना है—

(१) कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक में चन्द्रसेन (चन्द्रगुप्त) को कारस्कर बताया गया है और ऐसे नीच जाति के पुरुष को राजा होने के अयोग्य बताया है।[1]

(२) उक्त नाटक में यह भी वर्णित है कि चण्डसेन तथा लिच्छवियों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित था और लिच्छवि म्लेच्छ थे, अतः चण्डसेन अर्थात् गुप्त भी शूद्र थे।[2]

(३) वाकाटक महारानी प्रभावती गुप्ता के एक लेख में, जिसमें गुप्तों की वंशावली दी गई है, 'धारण' गोत्र उल्लिखित है। आज भी अमृतसर के निवासी जाटों में भी 'धरणी' गोत्र है। ये दोनों समान हैं, गुप्तवंशवाले भारशिवों की अधीनता में पंजाब से कौशाम्बी चले आये थे।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर ही जायसवाल महोदय ने गुप्तों को शूद्र घोषित किया है, किन्तु ये सारे तर्क निर्बल हैं।

कौमुदी महोत्सव के 'कारस्कर' के आधार पर चण्डसेन को शूद्र मानना उचित नहीं। उक्त ग्रंथ में पक्षपात का अधिक अंश है। यह नाटक उस समय अभिनीत हुआ

---

१ कहिं एरिस वर्णस्स से रा असिरि। कौमुदी महोत्सव, पृ० ३०—श्री वासुदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत।

२ देखिये कौमुदी महोत्सव पृ० ३०—म्लेच्छ लिच्छविभि सह सम्बन्ध।

व चण्डसेन का विपक्षी राजकुमार कल्याणवमन शक्तियुक्त था। अत उसकी प्रशंसा और चण्डसेन की निन्दा आवश्यक थी। इस आधार पर जाति निर्धारण उचित नही।

पूना ताम्रपत्र के 'धारण' शब्द के आधार पर यह निश्चय नही किया जा सकता क गुप्त जाट थे। पहले तो शब्द साम्य अपभ्रंश का प्रतिफल हो सकता है और दोनो मूल रूप भिन्न हो सकते हैं, दूसरे भिन्न भिन्न जातिवालो के भी गोत्र समान हो सकते हैं क्योकि अपने पुरोहितो के नाम पर बहुधा गोत्र निर्धारण हुआ करता था जो आज तक प्रचलित है।

गुप्तो को क्षत्रिय मानने के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हैं—

(१) सुन्दर वमन को क्षत्रिय स्वीकार किया जाता है, अत उसने जिस चण्डसेन को गोद लिया, उसे अपना 'कृतक पुत्र' बनाया, उसका भी क्षत्रिय होना अनिवार्य है क्योकि हिन्दू धर्मशास्त्रो के अनुसार सजातीय बालक को ही गोद लिया जा सकता है। मनु ने भी अपनी स्मृति मे इसका जोरदार समर्थन किया है।[1] चण्डसेन चन्द्रगुप्त प्रथम क्षत्रिय है, अत गुप्त क्षत्रिय वश के थे।

(२) धारवाड (बम्बई) के गुत्तल नरेश अपने को उज्जैन-नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) का वशज मानते थे। बम्बई गजटियर मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को क्षत्रिय बताया गया है।

(३) यद्यपि गुप्त नरेशो ने अपने अभिलेखो मे अपनी जाति का उल्लेख नही किया है और न समसामयिक साहित्यिक ग्रथो मे इस विषय पर प्रकाश डाला गया है, तथापि परवर्ती गुप्तो (Later Guptas) की जाति के सम्बन्ध मे इसका उल्लेख मिलता है। मध्य प्रदेश के गुप्तवशीय नरेश महाशिव गुप्त की सिरपर (रायपुर मध्य भारत) की प्रशस्ति मे गुप्तो को चन्द्रवशीय क्षत्रिय बताया गया है।

(४) डाक्टर जायसवाल ने भी 'मञ्जुश्री मूलकल्प' के आधार पर गुप्तो को क्षत्रिय बताया है।

(५) 'कौमुदी महोत्सव' मे लिच्छवियो को जिनसे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित था, म्लेच्छ कहा गया है। यदि हम लिच्छवियो की जाति का ठीक-ठीक पता लगा सकें तो गुप्तो की जाति का बोध हो जायगा—

(क) लिच्छवि क्षत्रिय थे, इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण पर उनके अवशेष को प्राप्त करने के लिये लिच्छवियो ने यह दावा प्रस्तुत किया कि चूकि भगवान् बुद्ध क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं, इसलिये हमे भी अवशेष प्राप्त करने का अधिकार है।[2]

(ख) दूसरा प्रमाण यह है कि भगवान महावीर के पिता ने लिच्छवि राजकुमारी त्रिशला से ब्याह किया था, महावीर के पिता क्षत्रिय थे यह सत्य है और उन्होने सजातीय ब्याह को ही प्रश्रय दिया होगा, अत लिच्छवियो का क्षत्रिय होना सिद्ध है।

(ग) उपर्युक्त प्रौढ प्रमाणो के अतिरिक्त अन्य कई प्रमाणो से भी लिच्छवियो का क्षत्रिय होना सिद्ध है, जिन सब का यहा उल्लेख करना आवश्यक नही। केवल प्रमुख

१ औरस क्षेत्रजश्चैव दत्त कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपि विद्धश्च दायदाबान्धवाश्चषट ॥ मनु० ९।१६—श्रीवासुदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत।

२ भगवापि खत्तियो मयपि खत्तियो—दीघनिकाय।

प्रमाणो का निर्देशन पर्याप्त होगा जिनमे चीनी यात्री ह्वेनसाग का विवरण, नपाल वशावली, प्राचीन तिब्बती ग्रथ 'दुल्व' आदि प्रमुख हैं।

इन प्रमाणो के आधार पर हम लिच्छवियो को क्षत्रिय मान सकते हैं और क्षत्रियो की राजकुमारी श्री कुमारदेवी से चन्द्रगुप्त प्रथम का ब्याह हुआ था। गुप्त भी क्षत्रिय थे क्योकि प्रभावशाली लिच्छवि किसी प्रकार भी जाट को अपनी नही द सकते थे। इसके अतिरिक्त गुप्त राजाओ के अन्य वैवाहिक राजकुला मे हुए। चन्द्रगुप्त द्वितीय का ब्याह क्षत्रिय नागराज की कन्या से

अत गुप्तो को जाट या शूद्र कहना उचित नही। कुछ लोग 'गुप्त' शब्द आधार पर इन्हे वैश्य मानने की भूल करते हैं, पर यह नितान्त भ्रमात्मक है। शब्द का प्रयोग गुप्त राजाओ ने अपने नाम के अत मे केवल इसलिये किया है कि आदि पुरुषो का नाम 'गुप्त' था।

गुप्त-वश का राजनैतिक इतिहास

गुप्तो का उदय—तीसरी सदी ईसवी के तीसरे चरण मे मध्य मे स्थान पर गुप्तो का उदय हुआ था। भारशिव नागो के पश्चात भारतीय रगमच पर गुप्तो का पदार्पण मगध मे पाटलिपुत्र तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो स्वामी के रूप मे होता है।

श्रीगुप्त

गुप्त-अभिलेखो मे एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि वे उनकी वशावली साथ प्रारम्भ होते हैं। इन वश-वृक्षो मे सर्वप्रथम नाम श्रीगुप्त का आता है इससे यह प्रमाणित होता है कि गुप्तो के आदि पुरुष का नाम श्रीगुप्त था। अब यह यह प्रश्न उठता है कि नाम केवल गुप्त था या श्रीगुप्त, क्योकि 'श्री' शब्द सम्मानार्थ भी युक्त किया जा सकता था। विद्वानो मे इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद है और सब ने अपने अपने मत का प्रतिपादन बडी ही विद्वत्ता से किया है। इस सम्बन्ध मे हमें सब प्रथम नामकरण की प्रवृत्तियो पर ध्यान देना होगा। नामकरण सार्थकता को ध्यान मे रखते हुए किया जाता है। उक्त वश मे ही चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदि नामो को लीजिये। गुप्त का शाब्दिक अर्थ है—सरक्षित। अत उपरोक्त तीनो नामों का अर्थ क्रमश चन्द्र, समुद्र तथा कार्तिकेय द्वारा रक्षित हुआ। किन्तु केवल गुप्त का तो कोई विशेष अर्थ नही निकला। श्रीगुप्त का अर्थ लक्ष्मी द्वारा रक्षित हुआ जो किसी राजा के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। यदि चीनी यात्री इत्सिग ने भी सही नाम समझने मे भी भूल न की हो तो उसने भी 'श्रीगुप्त (चे लि कि-तो) ही नाम बताया है।

किन्तु एलन तथा जायसवाल महोदय की यह राय है कि गुप्तो के आदि पुरुष का नाम केवल 'गुप्त था 'श्री' तो सम्मानार्थ जोड दिया गया है। इसके मत का समर्थन स्वय समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से हो जाता है जिसमे समुद्रगुप्त ने अपने को महा राजा श्रीगुप्त का प्रपौत्र बतलाया है।[1] सभी राजाओ के नाम के पूर्व श्री जोड दिया गया है और यही नहीं जहाँ किसी का नाम वास्तव में श्री से प्रारम्भ होता है वहाँ दो श्री का भी प्रयोग किया गया है।[2]

१ महाराजा श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज चन्द्रगुप्तपुत्रस्य श्रीसमुद्रगुप्तस्य।

२ परमभट्टारिकायां राज्ञी महादेव्या श्री श्रीमती देव्यामुत्पन्ना का० इ० इ० भा० ३ न० ४६—श्रीवासुदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने श्रीगुप्त के सम्बन्ध में एक मान्य तर्क प्रस्तुत करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'द गुप्ता इम्पायर' पृष्ठ ११ पर लिखा है—

" the name of this king is to be taken as Gupta' and the prefix 'Sri' as an honorific as is shown in all the names of the Gupta emperors mentioned in their inscriptions Where Sri is a part of the name as in Srimati in inscription No 46 of Fleet the prefix Sri will still be added in the case of royalty where Sri Srimati (Ibid) Nor is the name Gupta by itself objectionable We have analogous names as Devak for Devadattak [Katyayana's Vartik on Panini, VII, 3 5] or Harsh for Harsha Vardhan "

कुछ विद्वानों का तो यह विचार है कि गुप्त वंश के आदि पुरुष का नाम कुछ और था और 'गुप्त' शब्द तो केवल उसके नाम का अन्तिम भाग था, किन्तु यह अधिक तर्कसंगत नहीं। वायुपुराण में 'भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजा' का उल्लेख किया गया है जिससे 'गुप्त के वंशज इस पर शासन करेंगे' अर्थ निकलता है। इससे भी गुप्त नाम ही प्रामाणिक सिद्ध होता है।

ऊपर हमने इत्सिंग द्वारा वर्णित श्री गुप्त (चे लि कि-तो) का उल्लेख किया है। उक्त यात्री ने ६७० से ७०० ई० के बीच भारत भ्रमण किया। यात्री ने लिखा है कि लगभग ५०० वर्ष पूर्व श्रीगुप्त नामक एक महान् राजा ने कुछ चीनी यात्रियों के लिये मृगशिखावन के निकट एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस आधार पर अर्थात् जान एलन आदि के मतानुसार इत्सिंग के चेलिकितो को गुप्तों का प्रथम राजा श्रीगुप्त मानकर हम गुप्ता के प्रथम राजा की तिथि क्या निर्धारित कर सकते हैं ? क्या इत्सिंग के कथनानुसार यह तिथि अधिक से अधिक (७००–५००)=२०० ई० है ? इसके पूर्व भी यह जा सकती है। किन्तु विद्वानों ने तीसरी शताब्दी ई० के तीसरे चरण में गुप्तों का उदय बताया है। फ्लीट महोदय इत्सिंग के '५०० वर्ष पूर्व' 'श्रीगुप्त लिख देने से ही इत्सिंग के श्रीगुप्त तथा गुप्तों के आदि पुरुष गुप्त को दो भिन्न व्यक्ति मानते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले तो इत्सिंग का अभिप्राय '५०० वर्ष पूर्व' से केवल एक अनुमानित लम्बे युग का निरूपण करना था न कि ठीक-ठीक तिथि निर्देशन था, इस श्रीगुप्त नाम से घबराने की आवश्यकता नहीं, इस 'श्री' को सम्मानसूचक माना जा सकता है। इत्सिंग ने स्वयं लिख दिया है कि उसने 'प्राचीन काल से स्थविरों द्वारा सुनी हुई अनुश्रुति मात्र का उल्लेख किया है। अतः इन विवरणों के आधार पर ठीक-ठीक काल निर्धारण करना उचित नहीं है।

इत्सिंग के विवरण से श्रीगुप्त की राज्य सीमा का भी कुछ बोध होता है। उसने आगे लिखा है कि मृगशिखावन गंगा की ओर नालन्दा के पूर्व लगभग पचास सोपान (Stages) दूर था। गंगुली (आई० एच० क्यू०, सितम्बर, १९३८) ने इत्सिंग के ही इस कथन के आधार पर कि 'नालन्दा महाबोधि के उत्तर-पूर्व में सात सोपान (Stages)' दूर था, यह निष्कर्ष निकाला है कि इत्सिंग का एक सोपान ६ मील के बराबर है। इस आधार पर यह ज्ञात होता है कि श्रीगुप्त का शासन बंगाल में मुर्शिदाबाद के जिले में कहीं पर था और इसका शासन-काल १७५–२०० ई० रहा। किन्तु यदि हम पुराणों को आधार मानें तो हमें चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में प्रारम्भिक गुप्तों का शासन गंगा के तटों पर (प्रयाग तथा साकेत नगरों से युक्त) मानना पड़ेगा।



गु० स० ११६न (४३६ ई०) है। अत इस लेख में उल्लिखित घटोत्कचगुप्त गुप्तवंशीय द्वितीय महाराज घटोत्कच से सर्वथा भिन्न है। यह घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त का छोटा भाई था तथा इसके राज्यकाल मे मालवा का शासक था।"[1]

घटोत्कच के इतिहास के संबंध मे भी इससे अधिक कुछ ज्ञात नही है। उसका राज्य-काल एलन महोदय के अनुसार ३०० से ३२० ई० रहा।

चन्द्रगुप्त-प्रथम

प्रयाग प्रशस्ति मे गुप्त वश के तृतीय शासक चन्द्रगुप्त को महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त है जब कि प्रथम दो शासको को केवल महाराजा का विरुद प्राप्त है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रथम दो राजाओ गुप्त तथा घटोत्कच और चन्द्रगुप्त के राजनैतिक अधिकारो मे अन्तर था। वे प्रथम दो सामन्त रहे (यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे किसे कर देते थे) पर चन्द्रगुप्त स्वतन्त्र राजा रहा होगा तभी उसे महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त थी जो उसके बाद के अन्य गुप्त राजाओ को भी प्राप्त है।

यह साक्ष्य चन्द्रगुप्त के राजनैतिक अधिकारो मे अपेक्षाकृत वृद्धि होने का पर्याप्त प्रमाण देता है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त ने अपनी राज्य सीमा का विस्तार किया होगा और जो भी अधिकारी शासक उसके पूर्वजो से कर उगाहता रहा होगा, उससे उसने अपने को स्वतन्त्र किया होगा।

ऐयगर महोदय ने चन्द्रगुप्त के प्रति काफी उदारता से विचार करते हुए उसकी महत्ता की सीमा को अत्यधिक बढाने के अभिप्राय से मेहरौली लौह-स्तम्भ के चन्द्र को चन्द्रगुप्त बतलाया है। किन्तु उक्त अभिलेख के आलोचनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उक्त चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त मे कोई समता नही है। मेहरौली अभिलेख मे यह उल्लेख है कि 'तार्त्वा येन मुखानि सप्त समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका'। इससे यह ज्ञात होता है कि चन्द्र ने सिन्धु पार करके बैक्ट्रिया से घोर संग्राम किया और उन पर विजय प्राप्त की। उक्त अभिलेख से चन्द्र का और भी पराक्रम देखिये—उसके समस्त विरोधी एक मित्रसंघ बनाकर उस पर बगाल की ओर से आक्रमण करते हैं और चन्द्र उन्हें पीछे हटाकर उन पर विजय प्राप्त करता है। इतना ही नही, उक्त अभिलेख के चन्द्र को 'धरती का एकाधिराज्य' (एकाधिराज्य) प्राप्त था। इस प्रकार की सूचना चन्द्र के सम्बन्ध मे हम मेहरौली लौहस्तम्भ लेख से प्राप्त होती है।

कुछ विद्वानो ने उक्त चन्द्र की वीरता का वर्णन सुनकर उसे चन्द्रगुप्त मौर्य बताने की चेष्टा की है और सुझाव रक्खा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने उक्त लौह स्तम्भ का निर्माण करवाया जिसे अपना अनुकरणीय या आदर्श पुरुष मानकर ६०० वर्ष पश्चात् समुद्रगुप्त ने उसके उक्त लौह स्तम्भ मे वर्तमान प्रशस्ति उत्कीर्ण कराई। निश्चय ही चन्द्रगुप्त मौर्य बडा प्रतापी और यशस्वी राजा था। उसने बैक्ट्रिया को पराजित किया था, समुद्र-तट तक अपनी सीमा का विस्तार किया था और अनेक विद्रोहियो का दमन करके अपने साम्राज्य को विशाल बनाया था, पर मेहरौली लेख का उक्त विवरण चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ भी तो काफी लागू होता है।

ऐयगर महोदय, जिनका यह पूर्ण विश्वास है कि मेहरौलीवाला चन्द्र और चन्द्रगुप्त एक ही हैं, ऐसा विश्वास करते हैं कि चन्द्रगुप्त ने अपने पिता तथा पितामह की

१ श्री वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ ४०

... में शासन आरम्भ किया था। चन्द्रगुप्त ने ... उसे तो उसे साम्राज्य-संस्थापन का इतना अधिक ... कुमारी से ब्याह करके उसने अपने यश और राज्य ... देवाह के फलस्वरूप अब उसकी राज्य-सीमा एक ओर ... दूसरी ओर मध्यभारत तथा पंजाब को। अतः बंगाल में ... गुप्त का अधिकार स्थापित करना सम्भव है। ऐयगर महोदय ... चन्द्रगुप्त ने मुख्यतः उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम के पड़ोसियों ... थे। 'उसकी बल्ख विजय उसे सिन्ध तथा सौराष्ट्र तक ले जाती ... शक विजय नहीं है, प्रत्युत इस विजय का अर्थ उस क्षेत्र के शासकों ... उसके बाद की सन्धि है।' किन्तु ऐयगर महोदय की उक्त धारणा ... सम्भव नहीं है और यह केवल चन्द्रगुप्त के विषय में अधिक कल्पनात्मक ... से सोचना है।

डण्डेकर महोदय ने चन्द्रगुप्त प्रथम का बल्ख तक पहुँचना कुछ असम्भव सा बताया है। उन्होंने समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के लेख के आधार पर इसकी पुष्टि इस प्रकार की है कि उक्त प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त का शासन केवल गंगा की घाटी पर बताया गया है और इसमें इस बात का कहीं भी संकेत तक नहीं किया गया है कि बंगाल के सीमान्त क्षेत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार था। चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ तो 'एकाधिराज्यम्' का प्रश्न ही नहीं उठता। डण्डेकर महोदय ने आगे लिखा है कि यदि समुद्रगुप्त के पिता ने ये समस्त विजयें प्राप्त की होतीं तो समुद्रगुप्त ने निश्चय ही उनका उल्लेख अपने अभिलेख में किया होता।[1] इन आधारों पर डण्डेकर महोदय ने मेहरौली के चन्द्र को किसी प्रकार भी चन्द्रगुप्त प्रथम स्वीकार करना अनुचित ठहराया है।

मेहरौली के चन्द्र के सम्बन्ध में अन्य इतिहासकारों ने भी अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। ऐयगर महोदय इसको सम्भवतः चन्द्र भारशिव बताते हैं जो वाकाटक प्रवर सेन प्रथम के "वैवाहिक" भवनाग का उत्तराधिकारी था। इसका राज्य पूर्वी मालवा में विदिशा की रियासतों पर ठीक उसी समय रहा होगा ... के सिंहासन पर समुद्रगुप्त या उसके पिता चन्द्रगुप्त राज्य कर रहे होंगे ... यह कैसे सम्भव है कि वह मगध से बिना कोई युद्ध लड़े ही सरलतापूर्व ... सीमान्त रियासतों से संघर्ष करने को माग ... । साथ ही भारशि ... के एकमात्र शासन पुराण सदाचन्द्र ... के किसी आक्रमण ... करते हैं। हरप्रसाद शास्त्री ने मेह ... न का शास ... है, पर यह भी युक्तिसगत नहीं है ... मेहरौली ... और 'छाप' (Expressio ... की मुद्र ... के तुलनात्मक ... में ... अपने मत ... में एक घा ... पड़ा है। य ... नाम देवगुप्त ... के लिये भारत ...

१ देखिये

ख पर विजय प्राप्त करे, क्योंकि बैक्ट्रिया से ही कुषाण अपनी शक्ति पुनः सर[illegible]त कर सकते थे। अपनी स्थिति को देखते हुये चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये यह आव[illegible]क था कि वह सम्पूर्ण सप्तसिन्धु-क्षेत्र पर आक्रमण करे जैसा कि मेहरौली लेख मे [illegible]णित है। बगाल को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विजित किया था, इसका सबसे बडा प्रमाण [illegible]क भूभाग पर चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारियो द्वारा अधिकार प्राप्त करना है। [illegible] डण्डेकर महोदय ने यह भी बताया है कि मेहरौली अभिलेख तथा प्रयाग स्तम्भ [illegible]ख की लिपि मे बहुत अधिक समता है। मेहरौली अभिलेख के चन्द्र की राजनैतिक [illegible]सेना दक्षिणी देशो पर स्थापित थी, यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्बन्ध म अक्षरश [illegible]त्य है।

कौमुदी महोत्सव नामक नाटक के आधार पर लोगा ने उसके राज्यारोहण के [illegible]तिहास की रूपरेखा खीची है जिसम अधिक सार नही है।[1] कौमुदी महोत्सव के चड [illegible]नि को चन्द्रगुप्त प्रथम स्वीकार करने म अनेक बाधायें है और यदि यह स्वीकार भी [illegible]र लिया जाय तो उक्त नाटक के विवरणो को कवि की कल्पना की दृष्टि से देखना [illegible]गा, न कि इतिहासकार की भाँति। अत इसके आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम के [illegible]ज्यारोहण या उसके राज्य विस्तार पर विचार करना भ्रममूलक ही होगा।

उसने चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवि राजकुमारी के ब्याह का निर्देश पिछले पृष्ठ [illegible] किया था। इतिहास प्रसिद्ध वैशाली के लिच्छवि अब भी काफी प्रख्यात थे। इन्ही [illegible]लिच्छवियो की राजकुमारी कुमारदेवी से चन्द्रगुप्त प्रथम ने ब्याह किया था। इस [illegible]वाहिक सम्बन्ध का गुप्त इतिहास मे काफी महत्वपूर्ण स्थान है, उक्त वैवाहिक [illegible]सम्बन्ध का बोध हम चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे होता है [illegible]जसमे समुद्रगुप्त को 'लिच्छवि दौहित्र' कहा गया है।[2] दूसरा प्रमाण स्वय चन्द्रगुप्त [illegible]थम की एक स्वर्ण-मुद्रा है जिस पर एक ओर 'लिच्छविय' तथा दूसरी ओर 'चन्द्रगुप्त [illegible]था श्री कुमारदेवी' उत्कीर्ण है तथा दोनो का चित्र उस पर अंकित है। उक्त स्वर्ण-[illegible]द्रा का निर्माण चन्द्रगुप्त-प्रथम तथा लिच्छवियों के वैवाहिक सम्बन्ध के महत्व का [illegible]निर्देशक है। एलन महोदय की तो यह धारणा है कि उक्त मुद्राओ का निर्माण समुद्र-[illegible]गुप्त ने ही अपने माता पिता के वैवाहिक सम्बन्ध की स्मृति मे तमगो के रूप मे ढलवाया [illegible]था।[3] वास्तविकता जो भी हो पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उक्त विवाह का बहुत बडा राजनीतिक महत्व था। स्मिथ महोदय ने भी उक्त विवाह [illegible]के राजनैतिक महत्व को स्वीकार किया है और उनकी यह धारणा है कि कुमारदेवी दहेज रूप म अपने पति को बहुमूल्य प्रभाव लेकर आई जिसके आधार पर चन्द्रगुप्त मगध तथा निकटवर्ती भूभागो पर अपना सुदृढ अधिकार स्थापित कर सका और अपनी स्थिति पूर्ण रूप से सुरक्षित कर सका। वे यहाँ तक स्वीकार करते हैं कि "लिच्छवि पाटलिपुत्र के शासक थे, और चन्द्रगुप्त इस वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा, अपनी पत्नी के सम्बन्धियो के अधिकार का अधिकारी हुआ।" किन्तु एलन महोदय की यह धारणा है कि गुप्तो को लिच्छवियो के साथ इस वैवाहिक सम्बन्ध से कोई आर्थिक लाभ नही हुआ, प्रत्युत लिच्छवियो की प्राचीन ऐतिहासिक महत्ता मे उनमे महानता आ गई। किन्तु

---

१ विशेष विवरण के लिये देखिए डी आर० एन० डण्डेकर की *A History of the Guptas* pp 30-35

२ लिच्छिवौहित्रस्य महादेव्याकुमारदेव्यामुत्पन्नस्यमहाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य।

३ C C G D, भूमिका, पृ० १८

गुप्तवंशजा' का अर्थ हुआ "गुप्त के वंशज गंगा के तटवर्ती भूभाग, प्रयाग, साकेत तथा मगध का राज्य भोगेंगे।" किन्तु विष्णु पुराण में 'अनुगंगा प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति' का उल्लेख है, अर्थात गंगा के तटवर्ती भूभाग प्रयाग तथा मगध तक गुप्त राज्य करेंगे। इस प्रकार के विवरण चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य विस्तार के स्पष्टीकरण में सहायक नहीं होते हैं। श्रीकृष्ण स्वामी ऐयंगर के मतानुसार कुमारदेवी से ब्याह कर लेने के पश्चात् वैशाली भी चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गया, किन्तु पौराणिक साक्ष्य इसका समर्थन नहीं करते। यह भी ज्ञात होता है। प्रयाग प्रशस्ति में भी वैशाली का उल्लेख नहीं किया गया है। वैशाली पर सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अधिकार स्थापित किया था और उसने अपना नायक (Governer) वहाँ नियुक्त किया था।

गुप्त-संवत्—ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक की तिथि से एक नय संवत् 'गुप्त संवत्' का निर्माण किया। विभिन्न गणनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि २० दिसम्बर, ३१८ ई० अथवा २६ फरवरी, ३२० ई० निश्चित होती है। अतः लगभग ३१६–३२० ई० से गुप्त संवत् का प्रारम्भ होता है। किन्तु यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता कि उक्त संवत् चन्द्रगुप्त का ही चलाया हुआ है, क्योंकि हमारे पास इस प्रकार के प्रमाणों का अभाव है। केवल इस आधार पर कि प्रथम दो गुप्त शासक दुर्बल और साधारण थे, पर वह (चन्द्रगुप्त प्रथम) बड़ा सशक्त था, यह अनुमान लगाना कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही उक्त संवत् चलाया—बहुत कुछ सम्भव तो है, पर अधिक स्वीकारात्मक नहीं है। श्री आर० सी० मजूमदार ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

'साथ ही हम उस सम्भावना की ओर से दृष्टि नहीं हटानी चाहिये कि उक्त संवत समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के उत्सव का स्मारकस्वरूप है जिसने निश्चय ही एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उक्त मत का समर्थन समुद्रगुप्त के दो ताम्र-दान-पत्रों से, जो नालन्दा तथा गया में प्राप्त किये गये हैं, हो जाता है जिनकी तिथि क्रमशः पाँचवें और नवें वर्ष में है। यदि हम यह विश्वास करें कि यह (नालन्दा का दान पत्र) समुद्रगुप्त के शासन के पाँचवें वर्ष में जारी किया गया था तो इसके स्थान पर कि उक्त संवत् को चन्द्रगुप्त-प्रथम द्वारा चलाया हुआ मानें इसे समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के स्मारक में चलाया गया मानना अधिक तर्कसंगत समझेंगे।'[1]

किन्तु मजूमदार महोदय ने आगे यह भी लिखा है कि उक्त संवत का चन्द्रगुप्त द्वारा चलाया जाना काफी प्रचलित मत है इसमें कोई सन्देह नहीं। हाँ यह एक मान्य या प्रामाणिक सत्य नहीं है। वास्तविकता जो भी हो, इस संवत को चलाने में आगामी गुप्त शासकों ने निश्चय ही काफी योग दिया, क्योंकि गुप्त वंशीय जितने शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उन सब पर गुप्त संवत से ही काल-गणना दी गई है।

---

१ देखिए मजूमदार और अल्तेकर, *New History of the Indian People*, Vol VI, p 132

यह अधिक तकसगत नही जान पडता । लिच्छवियो से वैवाहिक सम्बध करके सामाजिक स्तर ऊँचा करने की बात कहाँ तक ठीक हो सकती है जब कि स्वय 'व्रात्य क्षत्रिय' कहे जाते थे । निश्चय ही इस विवाह का उद्देश्य राजनीतिक होगा ।[1] श्री आर० सी० मजूमदार ने पूर्वलिखित स्वर्ण-मुद्रा मे 'लिच्छविय' के प्रयोग से, जो कि जातीय नाम है और जिसका प्रयोग बहुवचन म हुआ है अनुमान किया है कि लिच्छवियो का प्राचीन गणतन्त्र अब भी अपने मे विद्यमान था, पर कुमारदेवी का राजनीतिक अधिकार वशानुगत प्रतीत मजूमदार महोदय का यह भी मत है कि उक्त वैवाहिक सम्बन्ध से लिच्छवि राज्य का एकीकरण हो सका और समुद्रगुप्त के लिये 'लिच्छवि दौहित्र' का केवल इसलिये किया गया था कि दोनो राज्यो पर उसका अधिकार स्थापित मे बल मिले । लिच्छवियो तथा गुप्तो की पृथक राज्य-सीमा के सम्बध म कारा मे बहुत मतभेद है जिस पर प्रकाश डालने की यहा विशेष आवश्यकता केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि उत्तर का कुछ भाग तथा पश्चिमी पर गुप्तो का अधिकार था और उत्तर बिहार लिच्छवियो के अधिकार मे था। प्रकार जब दोनो वशो का एकीकरण हो गया तो बिहार का अधिकाश भाग तथा उ और पश्चिमी बगाल इनके राज्य के अधीन आये ।

चन्द्रगुप्त प्रथम को 'महाराजाधिराज' का विरुद प्राप्त है । इसे यह पदवी मिली, इसके सम्बन्ध मे कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता । हमने प्रारम्भ में बत था कि प्रथम दो गुप्त शासक सामन्त ज्ञात होते हैं और उनके विपरीत चन्द्रगुप्त स्वतन्त्र राजा जान पडता है क्योकि उसे उक्त विरुद प्राप्त है । पर क्या उसे यह महान् विजयी समुद्रगुप्त का पिता होने के नाते तो नही मिला है ? ऐसा सोचने पर्याप्त अवसर हमे प्राप्त है । श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है—"चन्द्रगुप्त प्रथम पराक्रम से अन्य राज्यो को जीतकर पाटलिपुत्र म फिर से एक साम्राज्य की नीव तथा उस शुभ अवसर पर 'महाराजाधिराज की पदवी धारण की ।'[2] किन्तु उसकी कि का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नही प्राप्त है । 'महाराजाधिराज' कहा जाने का कारण यह हो सकता है कि गुप्त साम्राज्य की नीव डालने का पूरा श्रेय चन्द्रगुप्त ही है और यह उसके ही कार्यों का फल था कि समुद्रगुप्त को लिच्छवियो का का भी अधिकार मिला । गुप्त साम्राज्य के निर्माण काय का मार्ग प्रशस्त करने चन्द्रगुप्त प्रथम ही है । अत इन सब कारणा से उस महाराजाधिराज की पदवी 'महाराजाधिराज' शब्द से उसके एकछत्र राज्य या विस्तृत राज्य की कल्पना करनी चाहिए । स्मिथ महोदय ने इसका अधिकार तिरहुत, दक्षिण बिहार तथा इसके सभी पर्वतीय प्रदेशो पर बताया है ।[3] चन्द्रगुप्त के राज्य विस्तार के सम्बन्ध मे एक पौराणिक दृष्टान्त अधिक प्रचलित है जिसके अनुसार साकेत (अवध) तथा मगध (दक्षिण बिहार) उसके राज्य मे अन्तगत थे । 'अनुगगा'[4]

१ देखिये *New History of the Indian People*, Vol VI, *The Gupta Age*, p 128

२ देखिये वासुदेव उपाध्याय का 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास', पृ० ४२

३ देखिये वी० स्मिथ, *Early History of India* p 280

४ अनुगगा प्रयागच साकेत मगधांस्तथा ।
एतान जनपदान् सर्वान भोक्ष्यन्ते गुप्तवशजा , वा०पु०प्रा० ९९ श्लोक ।

गुप्तवंशजा' का अर्थ हुआ "गुप्त के वंशज गंगा के तटवर्ती भूभाग, प्रयाग, साकेत तथा मगध का राज्य भोगेंगे।" किन्तु विष्णुपुराण में 'अनुगंगा प्रयाग मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति' का उल्लेख है, अर्थात गंगा के तटवर्ती भूभाग प्रयाग तथा मगध तक गुप्त राज्य करेंगे। इस प्रकार से विवरण चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य विस्तार के स्पष्टीकरण मे सहायक नहीं होते हैं। श्रीकृष्ण स्वामी ऐयंगर के मतानुसार कुमारदेवी से ब्याह कर लेने के पश्चात् वैशाली भी चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गया, किन्तु पौराणिक साक्ष्य इसका समर्थन नहीं करते। यह ठीक भी ज्ञात होता है। प्रयाग प्रशस्ति मे भी वैशाली का उल्लेख नहीं किया गया है। वैशाली पर सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अधिकार स्थापित किया था और उसने अपना नायक (Governer) वहाँ नियुक्त किया था।

गुप्त-संवत्—ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक की तिथि से एक नये संवत् 'गुप्त संवत्' का निर्माण किया। विभिन्न गणनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि २० दिसम्बर, ३१८ ई० अथवा २६ फरवरी, ३२० ई० निश्चित होती है। अतः लगभग ३१६–३२० ई० से गुप्त संवत का प्रारम्भ होता है। किन्तु यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता कि उक्त संवत् चन्द्रगुप्त का ही चलाया हुआ है, क्योंकि हमारे पास इस प्रकार के प्रमाणों का अभाव है। केवल इस आधार पर कि प्रथम दो गुप्त शासक दुर्बल और साधारण थे, पर वह (चन्द्रगुप्त प्रथम) बड़ा सशक्त था, यह अनुमान लगाना कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही उक्त संवत चलाया—बहुत कुछ सम्भव तो है, पर अधिक स्वीकारात्मक नहीं है। श्री आर० सी० मजूमदार ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

'साथ ही हम उस सम्भावना की ओर से दृष्टि नहीं हटानी चाहिये कि उक्त संवत समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के उत्सव का स्मारकस्वरूप है जिसने निश्चय ही एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उक्त मत का समर्थन समुद्रगुप्त के दो ताम्र-दान पत्रों से, जो नालन्दा तथा गया में प्राप्त किये गये हैं, हो जाता है जिनकी तिथि क्रमशः पाँचवें और नवें वर्ष मे है। यदि हम यह विश्वास करें कि यह (नालन्दा का दान-पत्र) समुद्रगुप्त के शासन के पाँचवें वर्ष मे जारी किया गया था तो इसके स्थान पर कि उक्त संवत् को चन्द्रगुप्त-प्रथम द्वारा चलाया हुआ मानें, इसे समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के स्मारक मे चलाया गया मानना अधिक तर्कसंगत समझेंगे।"[1]

किन्तु मजूमदार महोदय ने आगे यह भी लिखा है कि उक्त संवत् का चन्द्रगुप्त द्वारा चलाया जाना काफी प्रचलित मत है इसमे कोई सन्देह नहीं। हाँ, यह एक मान्य या प्रामाणिक सत्य नहीं है। वास्तविकता जो भी हो, इस संवत को चलाने मे आगामी गुप्त शासकों ने निश्चय ही काफी योग दिया, क्योंकि गुप्त वंशीय जितने शिलालेख प्राप्त हुये हैं, उन सब पर गुप्त संवत से ही काल-गणना दी गई है।

---

१ देखिए मजूमदार और अल्तेकर, *New History of the Indian People*, Vol VI, p 132

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी जी ने इस प्रसग मे फ्लीट महोदय का
हुए अपनी पुस्तक 'द गुप्ता एम्पायर' मे लिखा है कि फ्लीट के अनुसार
ने अपने राज्यारोहण का सूत्रपात एक सवत का प्रवतन कर किया जिसका
३१९–३२० ए० डी० था। डॉ० मुखर्जी ने इस प्रसग मे लिखा है कि फ्लीट
निर्धारित इस गुप्त-सवत् के विषय मे पर्याप्त मतभेद है, परन्तु उज्जन के क्षत्रप (
यह मान लिया जाय कि वे शक सवत् मे थे) से इस तिथि की परिपुष्टि होती है।

चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु तिथि—राज्यारोहण के समय चन्द्रगुप्त की आयु
अधिक थी, ऐसा उचित अनुमान लगाया जाता है, जिसके आधार पर उसके
की शका ठीक ही हो सकती है। समुद्रगुप्त के गया ताम्रलेख के अनुसार
मृत्यु तिथि ३२८ ई० ज्ञात होती है।

गुप्त-साम्राज्य का निर्माण | १८

समुद्रगुप्त

पिछले पृष्ठो मे हमने गुप्तो की सीमित राजनतिक शक्ति पर प्रकाश डाला था। तब तक उन्होने किसी प्रकार राजनैतिक सत्ता प्राप्त भर की थी। श्रीगुप्त और घटोत्कच तो बिल्कुल ही साधारण शक्तिसम्पन्न थ, चन्द्रगुप्त प्रथम उनसे कुछ अधिक सशक्त रहा। किन्तु उन सब का राज्य केवल थोडे से भूभाग पर सीमित था, पाटलिपुत्र के निकटवर्ती भूभाग पर ही उनका अधिकार था। पर चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् मगध के सिंहासन पर एक ऐसा वीर पुरुष बैठा जिसने अपनी विजयो द्वारा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और शताब्दियो के लिय गुप्त वश की नीव सुदृढ कर दी। इस विशाल साम्राज्य निर्माता का नाम था समुद्रगुप्त।

समुद्रगुप्त के साथ गुप्तो का इतिहास भी महत्त्वपूण हो जाता है। सौभाग्यवश तभी से हमे इसके इतिहास का पूण ज्ञान भी होने लगता है। उक्त इतिहास के अध्ययन की सामग्रियाँ शिलालेख, स्तम्भ-लेख, मुहरो आदि के रूप मे बिखरी पडी हैं जिन पर काफी अश तक विश्वास किया जा सकता है। ये लेख समुद्रगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारियो द्वारा उत्कीण कराये गये हैं और बगाल से काठियावाड तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे मिलते हैं।

समुद्रगुप्त के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले चार साक्ष्य हैं—दो शिलालेख तथा दो ताम्रलेख। प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख तो न केवल समुद्रगुप्त के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं प्रत्युत सम्पूर्ण गुप्त वशीय राजाओ के इतिहास को प्रकाशित करने म अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उक्त अभिलेख का महत्त्व बताते हुये श्री आर० सी० मजूमदार ने लिखा है, "यह भारत की राजनैतिक अवस्था, समुद्रगुप्त के कार्यों एव चरित्र का इतना सागोपाग एव पूर्ण विवरण देता है कि केवल एक अशोक के अतिरिक्त, उत्तरी भारत के अन्य किसी नरेश के अभिलेख मे नहीं प्राप्त हो सकता। यह समुद्रगुप्त का इतिहास जानने का हमारा प्रमुख तथा लगभग एकमात्र साधन है । इन ३३ पक्तियो की प्रशस्ति की रचना हरिषेण द्वारा हुई थी जिसको राज्य में अनेक महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त थे। यद्यपि फ्लीट महोदय ने ऐसा विचार किया है कि उक्त अभिलेख का निर्माण समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात हुआ है तथापि इस स्वाभाविक धारणा के विरुद्ध कि इसका निर्माण महान् सम्राट के जीवन काल मे ही हुआ, कोई प्रामाणिक कारण नही है।"[1]

मजूमदार महोदय का उक्त मत बिल्कुल ठीक है और समुद्रगुप्त के इतिहास के लिए सचमुच हम प्रयाग-प्रशस्ति पर काफी निर्भर रहना पडता है। काव्यात्मक होते हुए भी यह सत्य के काफी निकट है।

---

१ *New History of the Indian People*, Vol VI

काच-समस्या

काच-समस्या वर्तमान काल म भारतीय इतिहास की जटिलतम एव मु विवादास्पद घटनाओ मे से एक है। इस पूरी समस्या का ताना-बाना बुना है केवल एक प्रकार की मुद्रा ने। इस एक मुद्रा प्रकार पर ही इस समस्या का भव्य भवन स्थापित है। यह मुद्रा प्रकार (Coin type) इस प्रकार है—

अग्र भाग (Obverse) मे —

राजा की खडी मूर्ति (समुद्रगुप्त के जैसे वस्त्र धारण किए हुए), वाम हाथ में चक्रयुक्त ध्वजा ग्रहण किए हुये, एव दाहिने हाथ से आहुति देते हुए।

१ वाम हस्त के नीचे गुप्तलिपि मे
काच या काम

२ चारो ओर उपगीति छन्द मे
का–चो–गा–म–व (जित्य दिव)
क म–भि–र
उत्त–मर ज (यति)

काचो गामवजित्य दिव कमभिरुत् मैजयति पृष्ठ भाग (Reverse) में—

वाम भाग मे खडी देवी की मूर्ति, ढीले-ढाले वस्त्र पहने, दाहिने हाथ में पुष्प पकडे हुये एव वाम भुजा में कानुकोपिया (Cornucopia), अशुमाला से युक्त।

वाम भाग मे प्रतीक



स–व–रा–जो–च्छे–त्ता

एलन-का मत—एलन (Allan) ने अपन मत के समथन म तर्क देते हुये कहा है कि अग्र भाग का मुद्रालेख (legend) समुद्रगुप्त के ध्वजाधारी प्रकार (Archer type) से पूर्णतया मेल खाता है। अतएव इन दोनो मुद्राओ को एक ही नरेश (समुद्रगुप्त) ने प्रचारित करवाया था। उसके अन्य प्रमाण इस प्रकार हैं—

(१) बनावट तथा तौल समुद्रगुप्त की मुद्रा जैसी है, (२) समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'काच' था, (३) समुद्रगुप्त ने अपन अन्य मुद्राओ में "सुचरित" का अनुवाद इस सिक्के मे "कमभि उत्तमै" उत्कीर्ण करवाया है, (४) 'सवराजोच्छेता' नामक उपाधि केवल समुद्रगुप्त के लिए ही लेखो मे प्रयुक्त की गई है।

एलन (Allan) महोदय अपनी पुस्तक 'गुप्त सिक्के" म अपने मत का पुष्टिकरण इन जोरदार शब्दो में करते हैं—

"The Karmabhir-Uttamaih (कमभि उत्तमै) or the Kacha type is equivalent to सुचरितै of the Archer type The reverse legend सव राजोच्छेता (exterminator of all the kings) is applied to him alone in the inscriptions of his successors' (Page 110)

फ्लीट (Fleet) तथा स्मिथ (Smith) ने भी इसी मत का समथन किया है। परन्तु एलन (Allan), स्मिथ (Smith) तथा फ्लीट (Fleet) द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त प्रभावकारी एव दमदार नही प्रतीत होता। गुप्ता के सेंग तथा निष्क

के आधार पर यदि हम उपयुक्त महाशयो के तर्कों की यथार्थता की समीक्षा करें तो निश्चय ही हमारे सम्मुख कई आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। बनावट तथा तौल से तो हम इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि यह सिक्का समुद्रगुप्त के समकालीन था। मुद्रालेखा (legends) के भावो की समरूपता दो प्रकारो की एकरूपता का प्रमाण नही मानी जा सकती है। कई नरेशो के मुद्रालेखो का भाव तो वही है—बस केवल शब्दों के हेरफेर मे ही अन्तर है।

गुप्त-काल की मुद्राओ की यह स्थिर परिपाटी है कि नरेश का यथार्थ नाम तो अग्रभाग (Obverse) के मार्जिन (margin) पर या वेदी रेखा (Vertical line) मे राजा की मूर्ति के निम्न भाग पर। नरेश के विरुद आदि पृष्ठ भाग (reverse) मे या अन्य किसी स्थान पर उत्कीर्ण किए जाते हैं। गुप्तकाल की इस स्थिर परम्परा ने भी फ्लीट, एलन एव स्मिथ आदि के सिद्धात का खण्डन कर दिया है, क्योकि 'काच' नाम समुद्रगुप्त का विरुद या अन्य नाम नही माना जा सकता। यह तो किसी नरेश का यथार्थ नाम है, क्योकि सिक्के के अग्रभाग मे यह उल्लिखित है।

एक अन्य बात ध्यान देने योग्य है कि जब किसी गुप्त नरेश के दो विभिन्न नाम होते थे तो केवल एक ही नाम उसके सिक्को में अंकित किया जाता था। यदि समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'काच' था तो इन दो नामो मे से केवल एक ही नाम के सिक्के प्रचारित किए जाते थे। दोनो नामो के सिक्को की उपस्थिति से यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त का दूसरा नाम काच' नही था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का दूसरा नाम देवगुप्त' भी था। लेकिन देवगुप्त नाम हमे कहीं भी सिक्को पर उत्कीर्ण नही मिलता।

यदि एलन का कथन हम कुछ समय के लिए युक्तिसगत मानें और समुद्रगुप्त ने ही काच के सिक्के को चलाया, ऐसा स्वीकार करें तो एक बात यह पैदा होती है कि उसने इस सिक्के पर "सुचरित" का अनुवाद 'कर्मभिरुत्तम' क्यो करवाया ? ऐसा अनुवाद किसी अन्य गुप्त नरेश के सिक्के पर नहीं मिलता। काच को समुद्रगुप्त का सिक्का प्रमाणित करने के लिए 'सर्वराजोच्छेत्ता विरुद पर अधिक जोर दिया गया है। परन्तु प्रभावती गुप्ता के लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए भी 'सर्वराजोच्छेत्ता' की पदवी प्रयुक्त की गई थी। ऐसी अवस्था मे इस पदवी पर कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं हो सकता। जब दो गुप्त सम्राटो ने सर्वराजोच्छेत्ता की उपाधि धारण की थी, तो तीसरे नरेश द्वारा भी धारण की जा सकती थी।

पी० एल० गुप्ता (P L Gupta) ने अतएव कहा है—

"In view of there facts Mr Allan s Suggestion is not plausible, it is more likely that काच of काचगुप्त was some person other than Samudragupta"

राखालदास बनर्जी (R D Banerji) ने घोषणा की है—

"It is impossible to believe inspite of adjective clauses that Kacha was another name for Samudragupta"

डॉ० डी० आर० भडारकर (D R Bhandarkar) ने भी लिखा है—

"That all evidence thus point to Kacha being regarded as the personal name of a king distinct from Samudragupta"

राखालदास बनर्जी का सिद्धांत—प्रोफेसर राखालदास बनर्जी ने काच समुद्रगुप्त द्वारा अपने किसी निकट सम्बन्धी या घनिष्ठतम मित्र की स्मृति में स्मारक मेडलों (memorial medals) की संज्ञा दी है। उनके काच चन्द्रगुप्त प्रथम का दूसरा पुत्र था और समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ भ्राता ज्येष्ठ भ्राता ने स्वतन्त्रता के संघर्ष में अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। अतएव ज्येष्ठ भ्राता की पुण्य स्मृति में समुद्रगुप्त ने इन सिक्कों को प्रचारित लेकिन प्रोफेसर बनर्जी ने अपने इस अनुमान के समर्थन में कोई प्रमाण किया है। बनर्जी महोदय का सिद्धांत तो वस्तुत एलन द्वारा प्रतिपादित एक सिद्धांत की प्रेरणा है। एलन ने चन्द्रगुप्त कुमारदेवी मुद्राओं को स्मारक (Commemorative Medals) की संज्ञा दी है। इसी सिद्धांत को आधार कर बनर्जी महोदय ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। ही वर्ष पूर्व डॉ० अनन्त सदाशिव राव अल्तेकर (Dr A S Altekar) सूझबूझ एवं विद्वता से इस सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने यह दिया है कि 'कुमारदेवी-चन्द्रगुप्त' सिक्के वस्तुत चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं अपने शासन-काल में प्रचलित करवाये थे। अतएव स्मारक मेडलों का प्रश्न ही नहीं उठता एलन के इस सिद्धांत पर आधारित बनर्जी का सिद्धांत भी आधारशून्य एवं असंगत प्रतीत होता है।

प्रोफेसर बनर्जी के स्मारक सिद्धांत (Commemorial theory) की आपत्तिजनक बात है, जैसा कि डॉ० अल्तेकर ने कहा है, इन मुद्राओं स्मारक रचयिता के नाम का अभाव। स्मारक बनाने वाले के हृदय में सबसे बड़ी यह होती है की वह अपना नाम भी उस स्मारक कृति में अंकित जिससे कि भावी पीढ़ियाँ उन दो स्नेही व्यक्तियों का नाम सदैव स्मरण रखें। गुप्त यदि स्मारक मेडलों को प्रचारित करवाता तो निश्चयत उसकी यह होती कि वह भ्रातृत्व-स्नेह का तथ्य विश्व के प्रकाश में लाए। कुछ कहा है कि "सवराजोच्छेत्ता" विरुद स्मारक रचयिता का विरुद अंगीकार चाहिए। लेकिन यह उपाधि स्वयं में ही स्पष्ट नहीं है। हमने अभी देखा है कि गुप्त विक्रमादित्य के लिए भी इस पदवी का उल्लेख किया गया है। अतएव इस को पूर्णतया किसी एक व्यक्ति की पदवी हम स्वीकार नहीं कर सकते। इस बनर्जी महोदय का सिद्धांत भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है।

रैप्सन का मत—रैप्सन (Rapson) ने यह मत निर्धारित किया है कि समुद्रगुप्त का भ्राता था। इस ज्येष्ठ भ्राता ने चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् कुछ ही समय के लिए राज्य किया था। लेकिन जब हम यह देखते हैं कि समुद्रगुप्त को सिंहासन उसके पिता ने स्वयं प्रदान किया था तो यह सिद्धांत भी थोथा लगता है।

दण्डेकर (Dandekar) का सिद्धांत—दण्डेकर ने यह प्रकट किया है कि इलाहाबाद-स्तम्भ-अभिलेख से हमे यह आभास होता है कि समुद्रगुप्त तथा उसके थोड़ी बहुत खटपट अवश्य हुई थी। जब सिंहासन के लिए समुद्रगुप्त को चुना तो उसके भाइयों ने उसकी ओर ईर्ष्या से दृष्टिपात किया था। चन्द्रगुप्त प्रथम मृत्यु के अनन्तर समुद्रगुप्त के भाइयों ने छोटा-मोटा उपद्रव एवं विप्लव किया ऐसा इस कथन से ध्वनित होता है। इस स्तम्भ-लेख के एक खंड में यह उल्लिखित है—"कुछ को अपनी भुजाओं द्वारा संग्राम मे विजित किया"। इस स्थल-स्थल पर शब्द मिटे हुए हैं। यह संग्राम हमे तब उल्लिखित

उसका चुनाव 'युवराज' पद के लिए हो गया होता है और वह आर्यावर्त के विरुद्ध अपने प्रथम अभियान में अग्रसर होता है। इस प्रकार यह सभव है कि 'युवराज' पद की प्राप्ति के अनन्तर उसे अपने भाइयो से युद्ध लडना पडा हो और गृहयुद्ध से शान्ति पाकर ही वह आर्यावत को पराजित करने के लिए उन्मुख हुआ होगा। आगे चलकर एक अन्य वाक्याश "अभियान पश्चात्ताप में बदल गया" से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि समुद्रगुप्त के भाइयो ने अन्तत परास्त होकर उसकी अधीनता मे रहना स्वीकार कर लिया। उन्हें अपने किए हुये साहसिक कार्य का बाद मे बडा पश्चात्ताप हुआ।

कई इतिहासकारो ने उपर्युक्त उल्लिखित वाक्यांशो को कालक्रमानुसार नहीं माना है। उसकी दृष्टि में यह कोई आवश्यक नही है कि स्तम्भ में वर्णित घटनाएँ वैसे ही तरतीबवार हुई हो। सभवत यह गृहयुद्ध तब भभका हो जब समुद्रगुप्त अपने प्रथम अभियान के निमित्त अपनी राजधानी से दूर चला गया हो। चन्द्रगुप्त प्रथम, सम्भवत गगा के पार किसी स्थान पर, समुद्रगुप्त के पहुँचने के पूव ही मृत्यु को प्राप्त हुआ हो। जब समुद्रगुप्त अपने स्वर्गीय पिता के दर्शन करने गया होगा, तभी उसके भाइयो ने इस स्वर्ण अवसर का लाभ उठाने का पूरा प्रयास किया होगा। काच ने अपने भाइयों का नेतृत्व कर इस गृहयुद्ध की ज्वाला धधकाई होगी। काच वस्तुत कुछ समय तक सिंहासनारूढ रहा। उसने इसी काल में ही अपने नाम के सिक्के चलवाए। काच सिक्को के स्वर्ण की निम्नकोटिता यह प्रदर्शित करती है कि उसने मगध के सिंहासन पर बडी तीव्र गति से कदम रखा था। सवराजोच्छेत्ता विरुद वस्तुत एक कपटी का खाली बडप्पन था। काच का नाम गुप्त वशावलियो मे इसीलिए नही जोडा गया, क्योंकि वह बलात् सिंहासन छीनने वाला था।

प्यारेलाल गुप्ता (P L Gupta) ने इसी मत का समथन करते हुए लिखा है—

"These coins were undoubtedly the coins of काचगुप्त who was the son of Chandragupta I and step-brother of Samudragupta"

कृष्णाचारी का सिद्धान्त—श्री एम० कृष्णाचार्य (M Krishnacharya) भविष्योत्तर पुराण के कलियुगराज वृत्तान्त से एक उद्धरण अपनी 'शास्त्रीय साहित्य का इतिहास' (History of Classical Literature) नामक पुस्तिका मे निर्दिष्ट किया है। इसके अनुसार घटोत्कच गुप्त के पुत्र की दो स्त्रियाँ थीं। एक का नाम था कुमारदेवी और दूसरी चण्डश्री की पत्नी की भगिनी थी। लिच्छिवियो की सहायता से वह सवप्रथम मगध की सेनाओ का सेनापति नियुक्त किया गया था। तत्पश्चात् वह राष्ट्रियश्या टाक के पद पर आसीन हुआ। महारानी के भडकाने से उसने चण्डश्री की हत्या कर दी जो कि आन्ध्र का नरेश था। तत्पश्चात उसने महारानी के विरुद्ध भी विप्लव किया और उसके पुत्र पुलोमा (Puloma) की हत्या कर दी। अब चन्द्रगुप्त ने अपने पुत्र काच की सहायता से आन्ध्रो को मगध से खदेड दिया और स्वय सात वष तक मगध के सिंहासन पर रहा। उसने अपना स्वयं का शक सवत् प्रचारित किया। उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर अपने पिता एव अपने भाइयों की हत्या करके बठा। यह कार्य उसने म्लेच्छ सेना की सहायता से किया था।

लेकिन कृष्णाचार्य के इस सिद्धांत का बहुत बुरी तरह से खडन किया गया है। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार (R C Majumdar) ने इसे आधुनिक जालसाजी की सज्ञा दी है। उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि कलियुगराज वृत्तान्त वस्तुत प्राचीन काल की पुस्तक नही है, बल्कि 'शास्त्रीय साहित्य के इतिहास के रचनाकार की स्वय के

दिमाग की उड़ान है । इस लेखक ने नाम एवं धन कमाने के लिए हमारे प्राचीन भारतीय इतिहास के साथ भद्दा मजाक किया है । इस मनगढन्त रचना को यद्यपि श्रीकृष्णाचार्य ने एक बार नाम तो जरूर कमा लिया, लेकिन की अन्तरात्मा पर इतना कुठाराघात कर नाम कमाना महान व्यक्तियों नहीं देता ।

भन्डारकर का सिद्धान्त—सिद्धातो की इस श्रृंखला में विद्वान् इतिहासकार के मतों से सिद्धात देना तो अनिवार्य-सा हो जाता है । उन्होंने अभी तक पृथक् एक नवीन मत की सृष्टि की है । भंडारकर महोदय ने 'काच' शब्द को शब्द पढा है । उनके लिए तो 'काचगुप्त' कोई समस्या ही नहीं है । वे तो समस्या को ही प्रधानता देते हैं । उनके मत का मुख्य आधार है लिपि की मिलता । उन्होंने कहा है कि गुप्त लिपि में 'क' की पड़ी लकीर हट जाने से 'च' का 'म' तनिक असावधानी से हो जाता है ।

इस प्रकार भंडारकर के अनुसार एक असावधान उत्कीर्णक के हाथों 'काच' में बदल सकता है ।

लेकिन जिस नरेश ने इन मुद्राओं को ढलवाया था, उसने इसे अपनी कृतियाँ (उत्तमकर्म) माना है और अपने को सवराजोच्छेत्ता मानता है । हम रामगुप्त की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अपने लिए 'समस्त राजाओं का उन्मूलन' वाक्यांश प्रयुक्त नहीं कर सकता है । को बड़ी ही सुगमता से शकाधिपति ने परास्त कर दिया था और समुद्रगुप्त एवं गुप्त विक्रमादित्य जैसे पराक्रमी वंश में जन्म लेने पर भी इस डरपोक ने, तक का सतीत्व बेचने का निश्चय कर लिया था । ऐसे कलंकी नरेश का कि उसने उत्तम कार्य किए थे और समस्त राजाओं का उन्मूलन किया था—गलत बात है । अतएव भंडारकर महोदय का सिद्धात भी तर्कसंगत नहीं जचता है ।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विभिन्न मतों एवं सिद्धातों का समर्थन एवं खंडन हमने देखा कि केवल दण्डेकर एवं प्यारेलाल गुप्त महोदय का सिद्धात ही के समीप-सा जान पड़ता है । यह भी सत्य-सा ही प्रतीत होता है, पूर्ण सत्य पूर्ण सत्यता तो तभी प्रतिष्ठापित होगी जब कि नवीन प्रमाण प्रकाश में आन्तरिक काल में हमें दण्डेकर एवं गुप्त के मतों का अनुमोदन करना चाहिये ।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय

भारतीय इतिहास में साम्राज्यवादी युग में युद्ध एवं विजयों का महत्त्व रहा कि लगभग सभी महाकवि एवं प्रसिद्ध नृशंस चारणों ने सम्राट का अम्बर खड़ा कर दिया । प्रशस्तियों में अतिशयोक्ति का कहीं अभाव नहीं, ये काव्यात्मक हैं । प्राचीन भारत की समस्त ऐसी प्रशस्तियों में प्रयाग की प्रशस्ति अद्वितीय स्थान रखती है । उक्त प्रशस्ति से हमें समुद्रगुप्त की दिग्विजय का है, उसके सामरिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है । प्रयाग प्रशस्ति स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जिस पर महामानव अशोक के शान्ति-सन्देश खुदे हुए हैं का रचयिता हरिषेण समुद्रगुप्त का सेनानायक तथा सन्धिविग्रहिक था । सेनानायक द्वारा विजयों का विवरण सत्य के निकट होगा—ऐसा सभी करते हैं, काव्यात्मकता इसमें भले ही कुछ अत्युक्ति का समावेश कर सकती है ।

महोदय ने सम्राट् के यश-सम्बन्धी लिखे गये 'विदशपतिभुवनाप्तललितसुखविचरणम' वाक्याश के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि प्रयाग प्रशस्ति का निर्माण समुद्रगुप्त की मत्यु के पश्चात उसके पुत्र द्वारा किया गया। इस मत के समथन मे कुछ विद्वान् समुद्रगुप्त द्वारा आयोजित अश्वमेध को भी लेते है क्योंकि उक्त यज्ञ का उल्लेख इस प्रशस्ति मे नही है। इस आधार पर कुछ विद्वानो का यह मत है कि प्रयाग प्रशस्ति की रचना समुद्रगुप्त की मत्यु के पश्चात हुई, किन्तु इससे यह भी निष्कष निकाला जा सकता है कि समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पश्चात तथा अश्वमेध के पूर्व प्रयाग प्रशस्ति की रचना हुई थी। इसमे विजित राजाओ की नामावली दक्षिणापथ के राजाओं से प्रारम्भ होती है, किन्तु इसका यह अथ नही निकालना चाहिए कि समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-यात्रा दक्षिण से प्रारम्भ की थी। डुब्रूइल महोदय का यह मत है कि विजय-यात्रा का वर्णन कालक्रम के अनुसार किया गया है।[1] जायसवाल महोदय ने 'कौमुदी-महोत्सव' के आधार पर यह मत निर्धारित किया है कि चन्द्रगुप्त प्रथम (चण्डसेन) ने पाटलिपुत्र से हारकर अयोध्या मे शरण ली थी और यहीं से समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की थी।[2] प्रयाग प्रशस्ति मे विजयो की तिथि का निर्देशन नही किया गया है। विजयो का केवल परिगणन किया गया है, उसमे पारस्परिक क्रम का उल्लेख भी नही किया गया है। इन विजयो की विविध मात्रायें हैं जिनके अनुसार समुद्रगुप्त की विजयो को निम्नलिखित छ भागो मे विभक्त कर सकते हैं—

क—उन्मूलित राज्य जिसका समुद्रगुप्त ने असुर विजयी नपति की भाँति सवथा नाश (उत्खाय तरसा) कर दिया

ख—आटविक राज्य जिनके अधिपतियो को उसने अपना सेवक बनाने को बाध्य किया,

ग—दक्षिणापथ के राज्य जिनके अधिकारियो को उसने धम विजयी नृपति की भाँति पराजित करके श्रीहीन तो कर दिया, किन्तु उनके राज्य को पुन उन्हें लौटा दिया

घ—प्रत्यन्त राज्य,

ङ—गणराज्य जिन्होंने हतप्रभ होकर स्वय आत्म समपण कर दिया था, और

च—भारतीय सीमा पर स्थित तथा कुछ विदेशी राज्य जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रति आत्म निवेदन किया।

नीचे इन पर पृथक्-पृथक प्रकाश डाला जायगा।

क—उन्मूलित राज्य (आर्यावत विजय)

विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की भूमि का प्राचीन नाम आर्यावत था।[3] समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओ को पराजित करके एकछत्र राज्य की स्थापना की। ऐसे विजेता को राजनीति मे 'असुर विजयी' की उपाधि प्रदान की जाती थी। आर्यावर्तीय राजाओ की सूची प्रयाग-प्रशस्ति मे इस प्रकार दी गई है—

१ *Ancient History of Deccan*, p 32

२ जायसवाल, *History of India* (150 350), pp 132-40

३ अनेक आर्यावतराजप्रसभोद्धरणोदवत्तप्रभावमहत —फ्लीट-गुप्त, ले० सख्या १

(१) रुद्रदेव
(२) मतिल
(३) नागदत्त
(४) चन्द्रवमन्
(५) गणपतिनाग
(६) नागसेन
(७) अच्युत
(८) नन्दि
(९) बलवर्मा

उपर्युक्त राज्यो के अतिरिक्त समुद्रगुप्त ने अन्य राज्यों को भी पराजित किया होगा जैसा कि 'आदि अनेक आर्यावर्तराज' के प्रयोग से परिलक्षित होता है। ये समुद्रगुप्त के समीपवर्ती राज्य थे, अत यह बहुत सम्भव है कि समुद्रगुप्त ने पहल इन पर ही आक्रमण किया हो। यहाँ रैप्सन महोदय के इस मत का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उनके विचार से ये नौ राजा विष्णुपुराण में नव नाग नरेश हैं। इन नागवंशी नरेशो ने एक सम्मिलित राज्य की स्थापना की थी जिसे उन्मूलित करके समुद्रगुप्त ने अपने राज्य मे मिला लिया था।[1] किन्तु इसके समयन मे कोई विशेष महत्वपूर्ण प्रमाण नही प्राप्त है। सम्भवत ये भिन्न भिन्न स्थानो के शासक थे। इनके सम्बन्ध में अब तक जो कुछ तथ्यो का बोध हो सका है, उनका विश्लेषण नीचे किया जायगा।

(१) रुद्रदेव—जायसवाल तथा दीक्षित महोदय रुद्रदेव का सम्बन्ध वाकाटक वश से स्थापित करते हैं। वे रुद्रदेव तथा वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम को एक मानते हैं।[2] किन्तु प्रयाग प्रशस्ति मे रुद्रदेव की गणना आर्यावर्त्त के शासकों मे की गई है पर वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम दक्षिणापथ का शासक था।[3]

(२) मतिल—इसके सम्बन्ध मे अभी कोई विशेष मान्य मत निश्चित नहीं हो सका है। कुछ इतिहासकार इसे बुलन्दशहर के निकट का शासक स्वीकार करते हैं जहाँ इसके नाम की एक मुहर प्राप्त हुई है। एलन महोदय ने गुप्त क्वायन की भूमिका मे मुहर के मतिल तथा उक्त मतिल को दो भिन्न राजा स्वीकार किया है, क्योंकि मुहर मे नाम के साथ उपाधि नही उत्कीर्ण है। जायसवाल महोदय मतिल को अन्तर वेदी का शासक नागवशीय नरेश मानते हैं।[4]

(३) नागदत्त—मथुरा के निकट बहुत-सी मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर उत्कीर्ण नाम के अन्त मे 'दत्त' शब्द आता है। इस आधार पर कुछ विद्वानो ने नागदत्त को भी मथुरा के निकटवर्ती भाग का शासक बताया है। जायसवाल महोदय ने इसको नागवशीय शासक (ई० स० ३२८-३४८) बताया है।

(४) चन्द्रवमन—बाँकुडा (पूर्वी बगाल) मे सुसुनिया पवत पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिस पर चन्द्रवमन का नाम उत्कीर्ण है, जिसके आधार पर इसे पुष्करण नामक स्थान का शासन होने का अनुमान किया गया है।[5] डॉ० हरप्रसाद शास्त्री पुष्करण और मारवाड स्थित पोकरण को एक मानते हैं और चन्द्रवमन को मारवाड

१ *Journal of Royal Asiatic Society* (1397), p 241
२ जायसवाल, *History of India* (150-350), p 77
३ *Indian Historical Quarterly*, I, p 255
४ जायसवाल, *History of India* (150-350), p 36
५ *Epigraphia Indica*, XII, No 9

का शासक बताते हैं।[१] ओरिजिन एण्ड डवलपमेंट आफ बंगाली लैंगुएज (Origin and Development of Bengali Language) में डॉ० चटर्जी ने पुष्करण को बाँकुड़ा जिले में बताया है। डॉ० भण्डारकर भी डॉ० हरप्रसाद शास्त्री के इस विचार से सहमत नहीं कि पुष्करण पोकरण है और वे प्रयाग-प्रशस्ति के चन्द्रवर्मन तथा सुसुनिया शिलालेख के शासक को समान मानते हैं।[२] जायसवाल महोदय इसे पूर्वी पंजाब का शासक स्वीकार करते हैं।[३] विद्वानों में मत-वैभिन्न्य होने के कारण इस शासक के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

(५) गणपतिनाग—इसके सम्बन्ध में निश्चित बातें ज्ञात हैं। यह नागों की राजधानी पद्मावती (ग्वालियर नगर के निकट वर्तमान पदम-पवाया) में ई० स० ३१०-३४४ तक शासन करता था।[४] नोरवार तथा बेसनगर में इनकी मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं। डॉ० भण्डारकर के मतानुसार यह सम्भवतः नागों की विदिशा शाखा पर शासन करता था जिसका वर्णन विष्णुपुराण में प्राप्त होता है।

(६) नागसेन—इसका उल्लेख प्रयाग प्रशस्ति में आर्यावर्त्त के राजाओं की सूची के पूर्व भी मिलता है। यह नागवंशीय राजा था और गणपतिनाग के समकालीन नागों की दूसरी शाखा पर शासन करता था। हर्षचरित' के इस कथन के आधार पर 'नागकुलजन्मन सारिका श्रावितमन्त्रस्य आसीत् नाशो नागसेनस्य पद्मा वत्या म्' रैप्सन महोदय ने प्रयाग प्रशस्ति के नागसेन तथा हर्षचरित के नागसेन का समान माना है। किन्तु जायसवाल महोदय के मतानुसार बाण का नागसेन पद्मावती का शासक था, जैसा कि 'हर्षचरित' से ही स्पष्ट हो जाता है और यह सम्भवतः गुप्तों के अधीन था। प्रयाग प्रशस्ति का नागसेन मथुरा का शासक जान पड़ता है। अतः यह कहना कि 'हर्षचरित' का नागसेन समुद्रगुप्त का समकालीन था, तर्कसंगत नहीं है।

(७) अच्युत—अच्युत के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। जायसवाल महोदय अच्युत तथा नन्दि को एक ही मानते हैं।[५] एलन महोदय ने बरेली में अहिक्षतर (वर्तमान रामनगर) में प्राप्त मुद्राओं पर 'अच्यु' शब्द पढ़ा है। इस आधार पर यह अनुमान किया गया है कि ये अच्युत की ही मुद्रायें हैं। डॉ० भण्डारकर ने इन मुद्राओं की बनावट तथा पद्मावती की नाग-मुद्राओं की बनावट में समता पाई है जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि अच्युत भी कोई नागवंशीय राजा रहा हो और मथुरा के निकट राज्य करता रहा हो। जायसवाल महोदय इसे अहिक्षतर का शासक मानते हैं।

(८) नन्दि—पुराणों में नागवंशीय नरेशों की सूची में शिशुनन्दि या शिवनन्द का सम्बन्ध मध्य भारत से स्थापित किया गया है तथा 'ऐंशियन्ट हिस्ट्री आफ डक्कन' (Ancient History of Deccan) में डुब्रूइल महोदय ने शिवनन्दि तथा नन्दि को समान बताया है। यह भी सम्भवतः नागवंशीय शासक था।

(९) बलवर्मा—इसके सम्बन्ध में भी कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह राजा हर्ष के समकालीन आसाम के राजा

१ *Indian Antiquary*, 1913
२ *Indian Historical Quarterly*, I, p 255
३ जायसवाल, *History of India* (150-350), p 142
४ जायसवाल, *History of India* (150-350), p 35 or 38
५ वही, पृ० १३३

भास्करवमन का पूवज हो ।[1] किन्तु आर्यावत म आसाम नही सम्मिलित था, अत बलवर्मा आसाम का शासक नही हो सकता

ख—आटविक राज्य

उत्तरी भारत के पूवकथित राजाओ को पराजित करके समुद्रगुप्त दक्षिण-विजय की चिन्ता करने लगा, किन्तु मार्ग मे पडनेवाले भूभाग पर अधिकार स्थापित करना आवश्यक था, अत समुद्रगुप्त ने आटविक नरेशो को परास्त करके उन्हें अपना सेवक बनाया ।[2] आटविक राज्य मध्य भारतीय वन-परपरा मे नही थे । प्रयाग प्रशस्ति में आटविक नरेशो के नाम तथा उनकी सख्या का उल्लेख नही किया गया है । फ्लीट महोदय के मतानुसार आटविक नरेश आधुनिक गाजीपुर से जबलपुर तक प्रसारित थे।

कुमारगुप्त प्रथम ने बडे भव्य शब्दो मे समुद्रगुप्त की प्राप्तियो एव लब्धियों का गुणगान करते हुए अपने बिलसद के अभिलेख मे लिखा है—

"सवराजोच्छेत्तु पृथिव्याम प्रतिरथस्य चतुदधि-सलिलास्वादिय यशसो धन" वरुणेन्द्रान्तक समस्य कृतान्त परशो न्यायागता नेक गो हिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्ना स्वमेधाहर्त्तु ।"

जितनी इस सम्राट की प्रशसा की गई है, वस्तुत वह इसका पात्र भी है । वह भारत का चक्रवर्तिन सम्राट था । भारत के सवमहान नरेशो मे उसका स्थान अग्रणी है । उसने अपने विभिन्न सैनिक अभियानो मे भारत के विभिन्न भागो पर आधिपत्य जमाया था । इतना होने पर भी हम उसकी तुलना नैपोलियन से नही कर सकते । नैपोलियन की तो बस यही एक नीति थी कि विजय प्राप्त कर विजित क्षेत्र को अपना अग बना लेना । परन्तु समुद्रगुप्त ने पूर्णतया इस नीति का अनुमोदन नही किया था । उसे हम सैनिकवाद का पुजारी नही कह सकते । नैपोलियन सैनिकवाद का महान उपासक था । श्री ऐयगर ने हमारे मत की पुष्टि इन शब्दो मे की है—

"It is most unjust to describe him as a Napolian who regarded kingdom taking as the duty of the kings

उसने अपनी विजयो के दक्षिणी भाग मे 'धमविजयी' की नीति अपनाई थी । वह एक उदार एव परलोक विश्वासी नरेश था । उसे कुछ धम के पालन आदि का भी ध्यान रखना अनिवाय प्रतीत होता था । इसी भावना से काम लेते हुए वह 'ग्रहणमोक्षानुग्रह' वाक्याश का प्रणेता बना । यह वाक्याश उसका नारा बन गया । कुछ विद्वानो को इस भावना की सात्विकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है । उन्होंने कहा है कि यह सब उदार भावनाएँ सहिष्णु दृष्टिकोण और कुछ नही, बल्कि कूटनीति के दाँव-पेंच हैं । उसकी बात मे भी असलियत का रग नजर आता है । लेकिन पूरी असलियत क्या है, यह तो स्वय सम्राट या सम्राटो का सम्राट भगवान ही बता सकते हैं । तत्कालीन परिस्थितियो मे पूरे भारतवष की एक राजधानी से शासन चलाना बडी कठिन बात थी । सचार-व्यवस्था नही थी, आवागमन के साधन नहीं थे, मार्ग बड बीहड एव ऊबड खाबड थे—इन दशाओ मे एक प्रतिभावान् राजनीतिज्ञ का काय होता है कि वह अन्य उपाय निकाले जिससे उसका प्रभुत्व भी जमा रहे और विप्लव तथा उपद्रव होने की आशकाएँ भी न हो । समुद्रगुप्त ने ऐसा ही मार्ग अपने लिए वरण किया । उसने दक्षिण के नरेशो को पहले तो परास्त किया एव तत्पश्चात् उनके राज्यो को उन्हीं को वापस

१ *Epigraphia Indica* pt 12, p 69
२ परिचारको कृत सर्वाटविकराजस्य (प्रयाग प्रशस्ति) ।

कर उन्हें साम्राज्य का स्वामिभक्त मित्र बना लिया। इस प्रकार एक ओर यह नरेश स्वतंत्र थे और इस प्रकार उनके विप्लव या उपद्रव करने का भय नहीं था। दूसरी ओर यह लोग समुद्रगुप्त की धाक स्वीकार करते थे। उसके प्रति अपना आदर व्यक्त करना अपना पावन कर्तव्य समझते थे।

इसी दक्षिण के विजय मे इसने इन निम्नलिखित नरेशों को जीता था।

(i) कौसलक महेन्द्र (कोशल का महेन्द्र)—कोशल निश्चित रूप से दक्षिण कोशल को निर्दिष्ट करता है। इस दक्षिण कोशल मे बिलासपुर, रायपुर तथा सम्बलपुर के जिले सम्मिलित हैं। यह जिले भारत के नूतन मानचित्र के अनुसार मध्यप्रदेश के पूर्वी एव दक्षिणी भाग हैं। जहाँ तक स्थिति के निश्चयन का प्रश्न था वह तो हो गया लेकिन महेन्द्र के विषय मे हम किसी अन्य स्रोत से कुछ भी पता नहीं चलता।

(ii) महाकान्तारक व्याघ्रराज (महाकान्तार का व्याघ्रराज)—जायसवाल ने महाकान्तार की एकात्मकता भकर एव बस्तर से की है एव यही महोदय व्याघ्रराज की एकात्मकता वाकाटक सामत युवराज व्याघ्र से स्थापित करते हैं। इस युवराज के अभिलेख नचने की तलाई तथा गज (मध्यप्रदेश) मे प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वानो ने इस व्याघ्रराज को बुन्देलखड मे उच्छकल्प राजवश का माना है। इस एकात्मकता के विरुद्ध मुख्य बात तो यही है कि व्याघ्रराज को दक्षिणापथ के शासको मे ही होना चाहिये, उत्तरापथ के शासको मे नही। बुंदेलखड मे उसके राज्य के निश्चयन से वह विन्ध्याचल के उत्तर का नरेश बन जाता है जो युक्तिसगत नही है। दूसरी बात यह है कि यह अट्टवीराज के क्षेत्र मे भी आ जाता है जो उसे नही आना चाहिये, क्योकि उसी अभिलेख मे अन्य स्थल पर अट्टवीराज का पूर्णरूपेण पृथक् उल्लेख है। यद्यपि यह आपत्तियाँ कोई अत्यधिक दमदार नही हैं, लेकिन फिर भी गुरुतर तक हैं प्रस्तावित एकात्मकता पर। एक इतिहासकार ने व्याघ्रराज को जयपुर वन (उडीसा मे) का शासक प्रस्तावित किया है। इस जयपुर वन को महावन भी एक पुराने अभिलेख मे कहा गया है। अतएव महावन एव महाकातार मे पर्याप्त समरूपता पर इतिहासकार ने अपनी एकात्मकता प्रस्तुत कर दी। परन्तु प्रकाशाभाव मे हम निश्चित पूर्वक नहीं कह सकते कौन सी एकात्मकता सत्य है।

(iii) कौरालक मण्टराज (कुराल का मण्टराज)—कीलहार्न (Keilhorn) के मतानुसार कुराल कुणाल का गलत रूप है। कुणाल का उल्लेख ऐहोल अभिलेख मे आया है। पुलकेशिन द्वितीय ने इसे ध्वस्त किया था। जायसवाल ने कोलेर झील (Colair Lake) के साथ इसकी एकात्मकता स्थापित की है। कई विद्वानो ने इसे केरल बताया है। भडारकर ने इसे मध्यप्रदेश मे सोनपुर जिले से एकलन किया है। बार्नेट (Barnett) ने कोरद (Korad) से इसकी एकात्मकता स्थापित की है। फ्लीट (Fleet) ने इसे ययातिनगर के आसपास माना है। ऐयगर (Aingar) ने केरल को चेरल मानकर पूर्वी गोदावरी जिले मे नागपुर तालुका से एकात्मकता मानी है। मण्टराज के विषय मे हमे कुछ भी पता नही चलता।

(iv) पैष्ठपुरक महेन्द्रगिरि (पिष्ठपुर का महेन्द्रगिरि)—गोदावरी जिले मे पिष्ठपुर ही आधुनिक पीठापुरम है।

इस स्थल पर जाकर शब्दो के खड करने मे तनिक कठिनाई-सी प्रतीत होती

है। फ्लीट (Fleet) ने वाक्य (पैष्ठपुर कमहेन्द्रगिरि कौहरक स्वामिदत्त) का विभाजन इस प्रकार किया है—पैष्ठपुर महेन्द्र तथा गिरि कौहरक स्वामिदत्त। वह इसका अनुवाद इस प्रकार करता है "पिष्टपुर का महेन्द्र, पर्वत के कोहूर का स्वामिदत्त"। फ्लीट के इस प्रकार के विभाजन करने के पीछे यही तक है कि महेन्द्रगिरि एक शासक का नाम नही हो सकता। लेकिन यह प्रस्ताव अमान्य है।

डॉ० भगवानदास इन्द्र जी ने इस वाक्य को इस प्रकार से खंडित किया है "पैष्ठपुरक, महेन्द्रगिरिक, अहूरक तथा स्वामिदत्त" (स्वामिदत्त पिष्टपुर, महेन्द्रगिरि तथा अहूर का शासक था)। यह मत भी अमान्य है, क्योकि महेन्द्रगिरि एक पर्वत श्रेणी का नाम तो हो सकता है लेकिन एक देश का नही। दूसरी बात व्याकरण की है। यदि यह देश या पर्वत का नाम होता तो इसे "माहेन्द्रगिरिक" होना चाहिए था न कि महेन्द्रगिरिक।

विन्सेंट ए० स्मिथ (Vincent A Smith) का खंड सर्वमान्य है। यह इस प्रकार से है—पैष्टपुरक महेन्द्रगिरि (पिष्ठपुर का महेन्द्रगिरि) तथा कौहूरक स्वामिदत्त (कोहूर का स्वामिदत्त)।

(v) कौहूरक स्वामिदत्त (कोहूर का स्वामिदत्त)—ऐयगर ने कोहूर की कोयम्बटूर से एकात्मकता स्थापित की है। डॉ० फ्लीट ने कोहूर की कोहूर-पोलासी (Kohur Polacy) से एकात्मकता स्थापित की है। यह कोहूर-पोलासी कोयम्बटूर जिले मे है। श्री डुब्रेल महोदय इसे गंजाम जिले का कोहूर मानते हैं। गंजाम आन्ध्र प्रदेश का मुख्य नगर है। सथियानयायर महोदय ने तनी (पूर्वी गोदावरी जिला) के समीप कोहरू के साथ इसकी एकात्मकता स्थापित की है। स्वामिदत्त के विषय में कुछ भी नही कहा जा सकता।

(vi) एरण्डपल्लक दमन (एरण्डपल्ल का दमन)—एरण्डपल्ल खानदेश का एरण्डोल माना जाता है। यही प्रचलित मत है। श्री डुब्रेल महोदय ने इसकी एकात्मकता उडीसा तट पर चिनकोकोले (Chincocole) के समीप एरण्डपल्ली शहर के साथ की है। सथियानयायर महाशय ने इसे पश्चिमी गोदावरी जिले के चेहतलपुडी तालुका (Chehtalpudi taluka) माना है।

(vii) काञ्चयक विष्णुगोप (काञ्ची का विष्णुगोप)—काञ्ची निश्चित रूप से चिंगलपुर जिले मे काञ्चीवरम है। विष्णुगोप को प्रारम्भिक पल्लव नरेश माना गया है।

(viii) अवमुक्तक नीलराज (अवमुक्त का नीलराज)—इसके विषय में हमें कुछ भी पता नही चलता।

(ix) वेंगयक हस्तिवर्म्म (वेंगी का हस्तिवमन)—इस वेंगी की वेगी या पेड्डा-वेगी से एकात्मकता अगीकार की गई है। यह वेगी या पेड्डा-वेगी गोदावरी जिले के एल्लौर तालुका मे एक गाँव है। हस्तिवमन की हुल्ट्श (Hultzch) ने अहोवमन के साथ एकात्मकता की है। यह पल्लव जाति के कन्दर नरेश परिवार का व्यक्ति था। ऐयगर ने यह प्रस्तावित किया है कि हस्तिवमन एल्लौर तामुके का सालहायन महाराज था।

(x) पालक्कोग्रसेन (पालक का उग्रसेन)—स्मिथ ने पलक्क को पालघाट या *पालकट्ट माना है। यह मालाबार जिले के दक्षिण मे अवस्थित है। डुब्रेल ने इस स्थान* को कृष्णा के दक्षिण में स्थिर किया है। वेन्कय्या ने इसे नेल्लोर जिल मे माना है।

(xi) देवराष्ट्रक कुबेर (देवराष्ट्र का कुबेर)—श्री वाई० आर० गुप्त, फ्लीट तथा स्मिथ ने इसे महाराष्ट्र मे स्थिर किया है। भंडारकर ने इसे देवराष्ट्र (येलाममचिली क्षेत्र) का देश माना है। इसका उल्लेख विजगापटटम जिले मे प्राप्त एक ताम्रपत्र पर हुआ है। कुबेर की एकात्मकता के विषय मे कुछ लोगो की राय है यह चन्द्रगुप्त द्वितीय की महारानी कुबेर नागा का पिता था। लेकिन तथ्यो के अभाव मे हम कुछ नही कह सकते। श्री सथियानथायर ने इसे सतना जिले के खानपुर म निश्चित किया है।

(xii) कोस्थलपुरक धनजय (कुस्थलपुर का धनञ्जय)—बार्नेट के अनुसार यह उत्तरी अर्काट मे पोलूर के समीप कुट्टलपुर है। आयगर की दृष्टि मे यह कुस्थलीपुर नदी के आसपास का क्षेत्र है।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय का मार्ग एव उसके शासन का विस्तार

श्री स्मिथ (Smith) के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर उन्मुख होने के पूव गगा की घाटी मे अपना अभियान प्रारम्भ किया था। इस अभियान के उपरात ही दक्षिण दिशा की ओर वह उन्मुख हुआ। ३५० ई० के लगभग दक्षिण में उसका अभियान समाप्त हुआ था।

श्री डुब्रेल महोदय का विचार है कि समुद्रगुप्त की दक्षिणी दिग्विजय उसके शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे घटित हुई थी। उनकी गणनानुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण का अपना अभियान ३३४ ई० या ३४० ई० मे प्रारम्भ किया था।

इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख मे समुद्रगुप्त की विभिन्न विजयें जिस क्रम से वर्णित हैं, उसी क्रम से समुद्रगुप्त ने भारत या उत्तर भारत पर विजय प्राप्त की होगी—यह एक विवादग्रस्त समस्या है। लेकिन इतना तो हम कह सकते हैं कि हरिषेण ने इन विजय-वर्णनो मे शत प्रतिशत कालक्रमानुसार का ध्यान नही रखा होगा। प्रशस्ति-कार का मुख्य ध्येय नरेश का गुणगान एव आदर वर्द्धन होता है, शत प्रतिशत इतिहास का वर्णन नही। अतएव विद्वानो ने यह मानना अधिक युक्तिसगत समझा है कि स्तम्भ की विभिन्न घटनाओ का क्रम वस्तुतः कालक्रमानुसार नही निर्धारित किया है।

श्री जे० डुब्रेल (Dubreuil) ने अपने एक विशिष्ट मत का प्रतिपादन किया है। अपनी पुस्तक के अनुसार समुद्रगुप्त कभी भी काञ्ची के परे नहीं गया। उन्होंने प्रचलित मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि कोयम्बटूर तथा मालाबार जिले (मद्रास प्रेसीडेन्सी), महाराष्ट्र तथा खानदेश समुद्रगुप्त ने कभी जीते नही थे। जिन विद्वानो ने इस मत का प्रतिपादन किया है, उसका एकमात्र कारण है उनकी कुछ भौगोलिक नामो की गलतफहमी, और कुछ नही। उन्होंने नामो की समरूपता देखकर दो नामो मे एकात्मकता स्थापित कर दी है। यही वास्तविक त्रुटि है। श्री डुब्रेल महोदय ने अपने इसी मत को मजबूती पर खडा करने के लिए एक उपकल्पना का भी निर्माण किया है। उन्होंने कहा है कि समस्त नरेशो के सघ ने मिलकर समुद्रगुप्त का सामना किया था। यह नरेश गोदावरी तथा कृष्णा के मुहानो के समीप शासन करते थ। इन

नरेशो मे सबसे शक्तिशाली था विष्णुगोप। दूसरे नरेश थे नीलराज, हस्तिवमन, उग्रसेन तथा कुबेर। पश्चिम-दक्षिण के इन नरेशो ने समुद्रगुप्त के द्रुतगति स बढते हुए रथ रोक दिए थे और यही नही, उसकी सेनाओ को भी पीछे ढकेल दिया गया था। इस स्थान पर हार खाने के बाद समुद्रगुप्त ने उडीसा के तट पर की गई अपनी विजयो को छोड दिया था और अपने घर लौट गया था। श्री डुब्रे ल ने अपने शब्दो में अपने मत को इस प्रकार रखा है—

"Samudragupta first subjugated in his scheme of conquest, some kings but very soon encountered superior forces, and was therefore obliged to relinquish his conquests and return rapidly to his state"—D Dubreuil

लेकिन जहाँ तक श्री डुब्रे ल महोदय के इस सिद्धात का ऐतिहासिक तथ्यो से सम्बन्ध है वहा तो यह सिवाय मस्तिष्क की उडान के और कुछ नही है। किसी भी अभिलेख मे या किसी भी प्राचीन साहित्यिक सामग्री मे श्री डुब्रे ल को अपना समर्थन नही मिला है। जब तक ऐतिहासिक तथ्यो से इस सिद्धात की पुष्टि नही की जाती तब तक के लिए इस फ्रेंच विद्वान् का मत अमान्य रहेगा। दूसरी बात यह है कि समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण विजय मे जिस नरम नीति का पालन किया था, उसके अनुसार विजित क्षेत्रो के अधिदोहन करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हमारे पास कोई विश्वस्त प्रमाण नही हैं यह दिखाने के लिए कि समुद्रगुप्त ने कभी भी अपनी सेनाएँ दक्षिण के मध्यवर्ती तथा पश्चिमी भागो मे भी भेजी हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस भाग पर वाकाटक नरेश पृथ्वीसेन प्रथम शासन करता था। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने वाकाटक नरेश से मित्रता का सम्बन्ध बनाए रखने के लिए ही उसे अबाध शासन करने दिया। वाकाटको तथा गुप्तो मे एक सन्धि की गई थी परस्पर प्रभुता-सम्मान की। रुद्रसेन प्रथम की मृत्यु के उपरान्त पृथ्वीसेन प्रथम ने समुद्रगुप्त के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया था। समुद्रगुप्त ने उसे मित्र बनाकर उसे उसके राज्य का स्वतन्त्र शासक अंगीकार कर लिया, लेकिन हमे इस सम्बन्ध मे भी इतिहास से तनिक भी पता नही लगता। उपयु क्त विवरण वस्तुत श्री काशी प्रसाद जायसवाल जी के सजनात्मक मस्तिष्क का एक सिद्धात है। पुष्टि के तथ्यो की कमी के कारण हम इसको नही स्वीकार कर सकते।

श्री आर० सथियानथायर (R Sathianathaier) ने भी अपने उवरा मस्तिष्क का कमाल दिखाया है। उन्होंने भी प्रचलित मत के विपरीत अपना एक नूतन सिद्धात ला खडा किया है। इस सिद्धात के अनुसार समुद्रगुप्त उडीसा, गजाम एव विजयापट्टम से होकर नही गया था, बल्कि पहले-पहल वह पूर्वी किनारे पर पिष्टपुर (पीठापुरम) मे प्रकट हुआ था और वही से उसने पश्चिमी दक्षिण जीता था। लेकिन यह मत भी ऐतिहासिक तथ्यो से पुष्टि नही कर पाता। मस्तिष्क की उडान का मूल्य मस्तिष्क की उडान जैसा होना चाहिए। जब तक सिद्धात का यथार्थ से मेल न हो, वह इतिहास की प्रामाणिक घटना नही बन सकता।

श्री रमेशचन्द्र मजूमदार का सवमान्य मत इतिहास द्वारा कुछ अशो तक पुष्टि को प्राप्त करता है, अतएव जब तक नये अनुसन्धानो द्वारा हमे नूतन ज्ञान का पता नही चलता, तब तक के लिए मजूमदार जी का मत युक्तिसगत है। उनके अनुसार समुद्रगुप्त ने मध्यप्रदेश के मध्यवर्ती एव दक्षिणी भागों से होकर उडीसा मे प्रवेश किया था और अपनी दक्षिण विजय प्रारम्भ की थी। उडीसा से वह कांची तक गया था।

।—प्रत्यन्त राज्य

प्रत्यन्त नृपति सीमाप्रान्तीय थे। समुद्रगुप्त की विजयों की महती शृंखला से (भ)यभीत होकर इन नृपतियों ने उस 'प्रचण्ड शासक यशस्वी गुप्त-सम्राट समुद्रगुप्त को (स)ब प्रकार के कर प्रदान करना आरम्भ कर दिया और वे उसकी आज्ञा का पालन (क)रने लगे।'[1]

निम्नलिखित पाँच प्रत्यन्त राज्य थे—

(१) समतट, (२) डवाक, (३) कामरूप, (४) नपाल तथा (५) कर्तृपुर।

नीचे इनके सम्बन्ध में संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गयी हैं—

(१) समतट—गंगा तथा ब्रह्मपुत्र की धाराओं के मध्य भाग में स्थित यह पूर्वी (ब)ंगाल के समुद्रतट का प्रदेश है। कोमिल्ला के निकट कर्मान्त इसकी राजधानी थी।[2]

(२) डवाक—समतट तथा कामरूप के बीच में डवाक का उल्लेख किया गया है जिससे यह आभासित होता है कि ढाका तथा चटगाँव के मध्यस्थ भूभाग पर स्थित (र)ाज्य को डवाक कहते थे। बरुआ ने आसाम की कोपिली घाटी से इसकी समता की है। स्मिथ महोदय ने इस राज्य के अन्तर्गत बोगारा, दिनाजपुर तथा राजशाही जिले (ग)िनाय हैं।

(३) कामरूप—इसका आधुनिक नाम आसाम है। यहाँ वर्मन राजा राज्य (क)रते थे। हर्षवर्धन के शासन काल में यहाँ भास्करवर्मन राज्य करता था।

(४) नेपाल—यह आज भी इसी नाम से पुकारा जाता है। समुद्रगुप्त का समकालीन नेपाल शासक जयदेव था। इसी राजा के शासन-काल में नेपाल में गुप्त संवत् (क)ा प्रयोग प्रारम्भ हुआ।[3]

(५) कर्तृपुर—नेपाल के पश्चात् समुद्रगुप्त ने कर्तृपुर पर आक्रमण किया जिससे यह परिलक्षित होता है कि इस राज्य में कुमायूँ, गढ़वाल एवं रुहेलखण्ड[4] के इलाके सम्मिलित थे। इसका आधुनिक नाम करतारपुर भी बताया जाता है जो पंजाब के जालंधर जिले में स्थित है। यहीं से समुद्रगुप्त पश्चिम की ओर मुड़ा था।

किन्तु फ्लीट एवं एलन महोदय का उपर्युक्त मत इसलिए युक्तिसंगत नहीं ज्ञात होता कि इस वर्ग के समस्त राज्य सीमान्त के हैं, प्रत्यन्त राज्य हैं और वे पूर्वी एवं उत्तरी सीमाओं पर स्थित हैं। यदि यह जालंधर होता तो इसका उल्लेख प्रत्यन्त राजाओं के साथ नहीं किया गया होता।

ङ—गणराज्य

उत्तरी एवं पूर्वी सीमा के राज्यों को विजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त पश्चिम की ओर मुड़ा और उसने वहाँ के गणराज्यों का अन्त किया। सम्भवतः इसी समय से

१ सर्वकर दानाज्ञाकरण प्रणामागमनपरितोषित प्रचण्डशासनस्य—प्रयाग प्रशस्ति।

२ भट्टसालि, *Iconography*, p 4

३ प्राचीन नेपाल उतना विस्तृत नहीं रहा होगा, उसकी उत्तरी एवं दक्षिणी सीमा तो निश्चय ही कम रही होगी।

४ *J A R S*, 1898, pp 198-99

भारत में सघ शासन का अन्त हुआ । समुद्रगुप्त ने इनको अपने अधीन शासन करने की आज्ञा दे दी और ये गणराज्य उसे कर देते रहे । इनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) मालव,	(४) मद्रक,	(७) सनकानीक,
(२) अर्जुनायन,	(५) आभीर,	(८) काक तथा
(३) यौधेय,	(६) प्रार्जुन,	(९) खर्परिक

नीचे इनका समीकरण प्रस्तुत किया जायेगा ।

(१) मालव—सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के सम्बन्ध मे पढते हुए हमने इनके विषय मे ज्ञान प्राप्त किया था । ये अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध थे । उस समय यह जाति उत्तर-पश्चिमी सीमा पर निवास करती थी, किन्तु कालान्तर मे इन्होने राजपूताना को अपना निवास-स्थान बनाया जहाँ शक शासक नहपान के जामाता उषवदात से इनका युद्ध हुआ था । इनके नाम पर ही उस स्थान (अवन्ति) का नाम मालवा पड़ा । इनका सम्बन्ध विक्रम सवत् से भी बताया गया है और इसीलिये विक्रम सवत् को कभी-कभी मालव सवत् भी कहते हैं ।[१] समुद्रगुप्त के शासन-काल मे इस जाति का आधिपत्य मध्यभारत पर था । तीसरी शती ईस्वी की बहुत-सी मुद्रायें जयपुर राज्य के नागर नामक स्थान मे मिली हैं जिन पर 'जय मालवगणस्य जय' उत्कीर्ण है ।[२]

(२) अर्जुनायन—बृहत्सहिता मे यौधेय के साथ इस जाति का उल्लेख किया गया है और प्रशस्ति मे इन्हें मालव एव यौधेय के मध्य मे । इस आधार पर इतिहासकारो ने यह अनुमान किया है कि इनका निवास-स्थान मध्यभारत मे तथा यौधेयो के निवास-स्थान (पूर्वी पजाब) के मध्य मे कहीं रहा होगा । इनकी मुद्रायें भरतपुर एव अलवर राज्य मे मिली हैं जिन पर 'अर्जुनायनाना जय' उल्लिखित है ।[३]

(३) यौधेय—पाणिनी के समय मे भी इस जाति का अस्तित्व बना रहा उसने इन्हे आयुद्धजीवी बताया है ।[४] महाक्षत्रप रुद्रदामन द्वारा ई० सवत् १५० मे क्षत्रियो मे वीर की उपाधि धारण करने वाले यौधेयो के पराजित किये जाने का उल्लेख मिलता है ।[५] भरतपुर रियासत मे बयाना के निकट विजयगढ से प्राप्त एक लेख मे यौधेयो का नाम दिया है जिसमे उनके 'महाराज महासेनापति' उपाधि धारण करने वाले अधिपति का उल्लेख है ।[६] ऐसा अनुमान किया जाता है कि पजाब की भहावलपुर रियासत की नाहिया नामक जाति यौधेयो की आधुनिक वशधर है तथा यौधेयों के नाम पर ही उस प्रदेश का योहियावार नाम पड़ा है । यौधेयो की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर 'यौधेयाना गणस्य जय' अथवा 'भगवतो स्वामिन ब्रह्मण यौधेयन्देवस्य' उत्कीर्ण है ।[७]

१ मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये—गु० लेख न० १८

२ *J R A S*, 1897 p 883

३ इ० म्यू० क० पृ० १६१

४ अष्टाध्यायी २५।३।११४

५ सवक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधयानायौधेयानां (इ०, पृ० ४७) ।

६ *C I I*, भाग ३, न० ५८, पृ० २५१–५२

७ *Coins of Ancient India Plate* 6

(४) मद्रक—इनकी भी गणना पाणिनी ने अष्टाध्यायी मे आयुधजीवियो के साथ की है।[1] ये प्राचीन काल मे उत्तर-पश्चिम मे निवास करते थे। झेलम तथा रावी के मध्य का भाग मद्र देश के नाम से विख्यात था।[2]

(५) आभीर—सिकन्दर के आक्रमण के समय भी इनकी आस्था बनी रही जिसका विवरण दिया जा चुका है। यूनानी इन्हे शूद्र (Sodrai) कहते थे। पतञ्जलि के महाभाष्य में भी इस जाति का उल्लेख किया गया है।[3] इनकी दो शाखायें थी जिनमे प्रथम शाखा पजाब तथा दूसरी मध्यभारत मे निवास करती थी, दूसरी शताब्दी ई० मे इनकी शक्ति काफी बढ़ गई थी। गुण्डा की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आभीरो का सेनापति ईश्वरसेन था। इसने पश्चिमी भारत मे शासक शक महाक्षत्रप को पराजित किया और स्वय शासक बन बैठा। झांसी तथा भिलसा के मध्य भाग को आहिरवाड़ा इसीलिये कहते हैं कि यहाँ आभीर जाति रहती थी।[4] यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि समुद्रगुप्त ने आभीरो की दोनो शाखाओ को अपने अधीन कर लिया था।

(६) प्रार्जुन—इस जाति के निवास-स्थान का कोई निश्चित समीकरण नहीं हो सका है। इतना अवश्य है कि ये भी मध्य भारत मे कही बसे थे और अधिक सभावना है कि नरसिंह अथवा नरसिंहपुर गढ़ का इलाका इनका निवास स्थान था।

(७) सनकानीक—चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के लेख मे सनकानीक महाराजा का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे यह बताया गया है कि सनकानीक शासक गुप्तो के अधीन थे।[5] इनका निवास स्थान भिलसा के निकट कही था।

(८) काक—ये सनकानिको के पडोसी थे। महाभारत मे इनका उल्लेख किया गया है।[6] बम्बई गजेटियर मे काक की समता बिठूर के निकट काकूपुर से की गई है। स्मिथ महोदय के अनुसार साँची के निकटवर्ती प्रदेश काकनाड ही काक है।

जायसवाल ने भिलसा से बीस मील उत्तर काकपुर नामक स्थान मे काको का निवास-स्थान बताया है।[7] काको के निवास के कारण ही इस स्थान का नाम काकपुर पड़ा होगा।

(९) खर्परिक—भण्डारकर महोदय के मतानुसार ये मध्यप्रान्त के दमोह जिले मे बसे थे।[8] बतिहगढ के एक लेख[9] मे खर्पर जाति का उल्लेख मिलता है। इसी आधार पर भण्डारकर ने प्रयाग प्रशस्ति के खर्परिक को बतिहगढ का खर्पर बताया है।

१ मद्रवृज्ययो कन।

२ *R K Survey Report* Pt 2, p 14

३ महाभाष्य १।२।३

४ *J B U R S*, 1897 p 891

५ फ्लीट, न० ३

६ महाभारत ६।९।६४॥

७ *J B U R S*, p 28

८ भडारकर, *I H Q*, 1925,258

९ *Epigraphia Indica*, p 12, 46

उपर्युक्त समस्त गणराज्य मध्य प्रान्त तथा मध्य भारत के प्रदेशों मे थे और समुद्रगुप्त ने इन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया।

च—विदेशी राज्य

समुद्रगुप्त की विजयो की ध्वनि भारत के निकटवर्ती विदेशी राज्यो तक पहुँची और उन्होंने राजनीति की उचित चाल चलकर उससे मित्रता स्थापित की। इन राज्यों के नाम ये हैं—

(१) दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि, (२) शक, (३) मुरुण्ड, तथा (४) सिंहल एवं अन्य द्वीप। इन विदेशी राज्यो ने मित्रता का केवल स्वांग नही रचा, वरन् आत्म-निवेदन, कन्याओं की भेंट तथा अपने राज्य मे शासन करने के लिये गरुड की मुहर से मुद्रित अधिकार माँग कर[1] उन्होंने एक प्रकार से उसकी प्रत्यक्ष अधीनता स्वीकार की।

प्रयाग-प्रशस्ति का उद्धरण 'दैवपुत्र ... सैंहलकादिभिश्च' पीछे दिया गया है। इसके देखने से ज्ञात होता है कि दैवपुत्र शाहि और शाहानुशाहि दो राजे नहीं हैं जैसा कि कुछ लोगो ने सोचा है और इस प्रकार विदेशी राज्यों की संख्या पाँच बताई है—(१) दैवपुत्र शाहि, (२) शाहानुशाहि, (३) शक, (४) मुरुण्ड, तथा (५) सैंहल। किन्तु यह उचित नही है जैसा कि आगे विचार किया जायेगा।

(१) दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि—यह कुषाण राजाओं का विरुद है जिसे उन्होंने ईरानियो से प्राप्त किया था। आरा-प्रशस्ति (कार० इन० इडी०, भाग २, पृष्ठ ८१) तथा मथुरा के निकट प्राप्त एक लेख मे (आर० सर्वे रिपोर्ट, १९११–१२, पृष्ठ १२४) मे महाराजा, राजतिराजा तथा देवपुत्र की उपाधि कुषाण राजाओं को प्रदान की गई जो शाहि शाहानुशाहि का संस्कृत रूपान्तर ज्ञात होता है। कुषाण मुद्राओं पर इस विरुद का यूनानी रूपान्तर शावोनैनो-शावो (Shao Nano Shao) उत्कीर्ण रहता है। पश्चिमोत्तर प्रान्त में यही कुषाण नामक विदेशी जाति गुप्तों से पूर्व ही राज्य करती थी। इनको उपर्युक्त विरुद प्राप्त था, किन्तु कुषाण साम्राज्य के विनाश के पश्चात् गान्धार के निकट बहुत-सी जातियाँ शासन करती थी जिन्हें किदार कुषाण कहा जाता था और इन्होंने भी कुषाणो के उस विशाल विरुद को धारण कर लिया।[2] समुद्रगुप्त के सम्मुख इनकी शक्ति नगण्य थी अतः इन्होंने उससे मैत्री करना अपने हित में श्रेयस्कर समझा।

(२) शक—प्राचीन काल में पश्चिम तथा मध्य भारत मे शको का आधिपत्य स्थापित था। यहाँ शक नरेशो का अभिप्राय सौराष्ट्र के शक क्षत्रप तथा मध्य भारतीय शक नरेशो से है। साँची के निकट इन्ही शक नरेशों का एक लेख प्राप्त हुआ है जिससे यह ज्ञात होता है कि महादण्डनायक श्रीधर वर्मन ई० स० ३१९ के लगभग राज्य करता रहा।[3] इससे मध्य भारत म शको के आधिपत्य का बोध होता है।

---

१ दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिश्च आत्म-निवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य—प्रयाग प्रशस्ति।

२ स्मिथ महोदय के मतानुसार देवपुत्र कुषाण से ही इन्होंने देवपुत्र का विरुद धारण किया। शाहिशाहानुशाहि कुषाणों का विरुद था ही, इस प्रकार इन्होंने देवपुत्र शाहि शाहानुशाहि लिखना प्रारम्भ कर दिया।

३ ए० इ०, भाग १६ पृ० २३२। J R A S, १९२४, पृ० ११७ भी देखिये।

(३) मुरुण्ड—स्टेनकेनो ने मुरुण्ड को कोई पृथक् जाति को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि उन्होंने शक भाषा में मुरुण्ड का अर्थ स्वामिन् बताया है। अतः शक मुरुण्ड से शक राजा का बोध होता है।[1] मत्स्यपुराण में यवन तथा तुषार के साथ मुरुण्ड शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह परिलक्षित होता है कि यह जाति यवनों के साथ पश्चिमोत्तर प्रान्त में निवास करती थी। वास्तविकता जो भी हो, इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शक मुरुण्ड उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में निवास करते थे और उन्होंने समुद्रगुप्त से मित्रता स्थापित की थी।

(४) सैंहल—ऊपर उत्तर पश्चिमी सीमान्त विदेशी राज्यों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने समुद्रगुप्त के आक्रमण से सुरक्षित रहने के अभिप्राय से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया था। इनके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण के विदेशी राज्यों ने समुद्रगुप्त के आगे सर झुकाया। प्रयाग प्रशस्ति में केवल सैंहल का ही नामांकन किया गया है और तत्पश्चात् 'सर्वद्वीपवासिभि' लिख दिया गया है। अन्य कौन-कौन द्वीप थे, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। सैंहल द्वीप से लंका का तात्पर्य है। समुद्रगुप्त का समकालीन मेघवर्ण यहाँ का शासक था। इसने समुद्रगुप्त से मित्रता स्थापित की थी और अपने दूत के हाथ बहुमूल्य रत्नादि उसे भेंट के रूप में भेजे थे। मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त से आज्ञा लेकर बुद्ध गया में एक बौद्ध मठ का निर्माण करवाया था जिसका सुन्दर वर्णन ह्वेनसांग ने किया है।

साम्राज्य विस्तार

चन्द्रगुप्त के समय में गुप्त-साम्राज्य में दक्षिण बिहार, प्रयाग, साकेत तथा गंगा का तटवर्ती मध्य देश सम्मिलित थे किन्तु इस दिग्विजय के पश्चात् इनके चारों ओर के दूरस्थ भूभाग भी साम्राज्य की सीमा में आ गये। समुद्रगुप्त की दिग्विजय-सम्बन्धी नीति का कुछ आभास हमें पूर्व ही मिल चुका है। उसकी विजयों में जितने राज्यों की गणना की गई है, वे सभी साम्राज्य में नहीं मिला लिये गये। संयुक्त प्रान्त, बिहार, पश्चिमी बंगाल आदि तो इस साम्राज्य में थे ही, उसके सामन्त राज्यों की संख्या भी अधिक थी। मध्यभारत एवं मध्यप्रान्त के आटविक राज्यों, दक्षिणापथ के सुदूरस्थ राज्यों, सीमाप्रान्त के प्रत्यन्त राज्यों तथा पंजाब, राजपूताना और मध्य भारत के गणराज्यों पर समुद्रगुप्त का अधिराज्य स्थापित हो गया था। विदेशियों ने भी इससे मैत्री स्थापित करके साम्राज्य के महत्त्व को बढ़ा दिया। समुद्रगुप्त ने केवल आर्यावर्त तथा जंगलों के समस्त देशों को ही अपने राज्य में मिलाया था। इस प्रकार इसका साम्राज्य उत्तरी भारत से मध्यप्रदेश तक विस्तृत था।

अश्वमेध यज्ञ

इस विशाल विजय के पश्चात् समुद्रगुप्त अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी हो गया। अतः उसने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में दान देने के लिये उसने स्वर्ण मुद्रायें भी ढलवाई। इन मुद्राओं पर एक ओर यज्ञस्तम्भ (यूप) में बँधे हुए अश्व की मूर्ति है तथा दूसरी ओर समुद्रगुप्त की महारानी हाथ में चँवर लिये खड़ी है। इन पर 'अश्वमेध पराक्रम' लिखा रहता है। इस यज्ञ का अनुष्ठान प्रयाग प्रशस्ति में अंकित किये जाने के पश्चात् ही हुआ होगा क्योंकि प्रशस्ति में इसका उल्लेख नहीं किया गया

---

१ रायचौधरी, *Political History of Ancient India* (V Edition), p 547

है। समुद्रगुप्त के वशधरों के अभिलेखो मे इस यज्ञ के लिये 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तु' लिखा है जिसका अभिप्राय यह सूचित करता है कि दीर्घकाल तक उपेक्षित अवस्था मे पड़ा रहने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने इस यज्ञ का पुनर्स्थापन किया था। "परन्तु इसमें साफ अतिरंजना है, क्योंकि हमे विदित है कि भारशिव नागों तथा प्रवरसेन प्रथम वाकाटक ने समुद्रगुप्त से कोई बहुत समय पूर्व अश्वमेध नही किये थे।"[1]

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन

समुद्रगुप्त की विजयो की इस लम्बी तालिका से उसके सामरिक गुणो का अनुमान लगाना अत्यन्त सरल है और यह अनुमान सत्य के काफी निकट तक पहुँचेगा। इसकी दिग्विजय के आधार पर ही कुछ इतिहासकारो ने इसकी तुलना नेपोलियन से की है जिसके सम्बन्ध मे केवल इतना कह देना पर्याप्त ही है कि यह तुलना निराधार है। कहाँ एक साधारण सिपाही और कहाँ राजकुमार! इन दोनो की विजयो में भी अन्तर है। नेपोलियन का युद्ध प्रमुख शक्तियो से हुआ था जब कि समुद्रगुप्त को उन शक्तियो का सामना करना पडा था जिनका भारतीय इतिहास मे कोई बहुत बड़ा सामरिक महत्त्व नही था। कभी पराजित न होने वाली विशेषता का यहाँ आंशिक अन्त हो जाता है।

समुद्रगुप्त के चरित्र का मूल्यांकन भी अतिरंजनात्मक है। इसका मूल कारण यह है कि चरित्र-निरूपण का मूलाधार प्रयाग प्रशस्ति है। काव्य मे राजनीतिक घटनाओ का उल्लेख तो बहुधा कुछ संभल कर किया जाता है क्योंकि उसमें सत्यासत्य के स्पष्टीकरण का कुछ भय बना रहता है, किन्तु जब कवि अपने स्वामी या नायक का चरित्र चित्रण करने लगता है तो वह समस्त गुणो को उसी मे केन्द्रित कर देना चाहता है।[2] ठीक यही दशा हरिषेण की है। उसने समुद्रगुप्त मे समस्त गुणो को पुंजीभूत कर दिया है—

यस्य प्रज्ञानुषंगोचितसुखमनस शास्त्र तत्त्वार्थभर्तु (जिसका मन विद्वानो के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्त्वार्थ का समर्थन करने वाला था), 'स्फुट बहुकविताकीर्तिराज्य भुनक्ति' (बहुतेरी स्फुट कविता से कीर्तिराज्य का भोग कर रहा है), धर्मप्राचीरबन्ध शशिकरशुचय कीर्तय सप्रताना—वैदुष्य तत्त्वभेदि प्रशम—तीयम' (धर्म के बाँधे हुए परकोट के सदृश जिसकी कीर्ति चन्द्रमा की किरणों की भाँति निर्मल और चारो ओर छिटक रही थी, जिसकी विद्वता शास्त्र तक को पहुँच जाती थी), 'अध्येय सूक्तमार्ग कविमतिविभवोत्सारण चापि काव्य" (जिसने सूक्तो का मार्ग अपना ध्येय बना लिया और उसकी ऐसी कविता थी जो कवियो के मति के विभव का उत्सारण करती थी) 'साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य, भक्त्यवनतिमात्रग्राह्य मृदुहृदयस्यानुकम्पावतो नेक गोशतसहस्रप्रदायिन, 'कृपणदीनानाथ आतुरजनोद्धरणमन्त्र दीक्षाद्युपगतमनस, समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनद वरुणेन्द्रान्तकसमस्य' (जिसका मन कृपण दीन, अनाथ आतुर जनो के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह तथा साक्षात् जाज्वल्यमान् स्वरूप था, जो कुबेर, वरुण

---

१ देखिए, *Annals of the Bhandarkar Institute*, VII, pp 164-65, तथा डॉ० एस० के० ऐयगर, *Studies in Gupta History*, pp 44-45

२ हरिषेण के शब्दों में हो 'को नु स्याद्यो स्य न स्याद् गुणमति (ऐसा कौन था जो उसमें न था—)

इन्द्र और यम के समान था), 'निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितै व्रीडित त्रिदशाधिपति गुरुतुम्बुरुनारदादे' (जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और संगीतकला के ज्ञान और प्रयोग से इन्द्र के गुरु कश्यप, तुम्बुरु, नारद आदि को लज्जित किया था), 'विद्वज्जनोपजीव्यनेककाव्य क्रियाभि प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य (जिसने विद्वानो को जीविका देने योग्य अनेक काव्य-कृतियो से अपना कविराज पद प्रतिष्ठित किया था)—ऐसा हरिषेण का समुद्रगुप्त है।

उपयुक्त काव्योचित अतिरंजित शैली मे हरिषेण ने समुद्रगुप्त का जो चरित्र चित्रण किया है, इसी आधार पर बहुधा विद्वानो ने भी समुद्रगुप्त का मूल्याकन किया है। समुद्रगुप्त की युद्धनीति की प्रशसा कुछ इतिहासकारो ने मुक्त कठ से की है। वह सभी विजित राज्यो को अपने साम्राज्य मे न मिलाकर अधिकाश को मुक्त कर देता था और उनसे कर लेता था, जैसा कि बताया जा चुका है, किन्तु इसमे उदारता और कूटनीति का क्या अनुपात था, यह कहना कठिन है।

किन्तु हरिषेण की अतिरजना भी निराधार नही हो सकती—समुद्रगुप्त मे वे गुण किसी न किसी मात्रा मे विद्यमान रहे होगे जिनसे कवि को अत्युक्ति की प्रेरणा मिली होगी।

समुद्रगुप्त की विजय और उसकी सामरिक प्रतिभा की विभिन्न इतिहासकारो ने मुक्त कठ से प्रशसा की है। डा० राधा कुमुद मुखर्जी के अनुसार 'जब कि अशोक शान्ति और अहिंसा के लिए प्रख्यात है, समुद्र इनके विपरीत गुणो, युद्ध और आक्रमण के लिए प्रख्यात है। एक को विजयो से घृणा थी, दूसरे को उनसे मोह।' इसी प्रसग मे उन्होंने आगे लिखा है कि समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के लिए एक व्यापक कार्यक्रम बनाया था और उस दिशा मे उसने जो उपलब्धि प्राप्त की, उसके आधार पर उसे भारतीय नपोलियन कहना असगत न होगा। इसी प्रकार प्रो० आर० डी० बनर्जी ने समुद्रगुप्त के विषय मे लिखा है कि 'समुद्रगुप्त एक महान शासक था, सम्भवत अपने राजवश का सबसे महान् शासक था। उसे उत्तराधिकार मे एक छोटा-सा राज्य मिला था पर विरासत मे वह एक विशाल साम्राज्य छोड गया। उस ने राज्य और प्रशासन की व्यवस्था मे परिष्कार किया। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व प्रभावशाली और अप्रतिम था। उसने भारत के इतिहास मे एक नय युग का प्रवर्तन किया।'

तिथि निर्णय—समुद्रगुप्त की तिथि का बोध कराने के साधन सीमित हैं। उसके समय के प्रयाग, एरण तथा गया के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इन तीनो शिलालेखो मे से केवल गया की प्रशस्ति मे तिथि का उल्लेख है जो गुप्त सवत के नवें वर्ष की है और ईसवी सन (३१६+६) ३२८ वर्ष मे पडती है। किन्तु इस तिथि को मानने मे सभी इतिहासकार सहमत नही। डॉ० रायचौधरी निधिपाठ[1] पर तथा डॉ० फ्लीट स्वय गया प्रशस्ति की प्रामाणिकता पर[2] विश्वास नही करते। डॉ० स्मिथ ने यह तिथि ३३०-३७५ के बीच निर्धारित की है। नालन्दा तथा गया के तिथियुक्त दानपत्र गुप्त सवत के अनुमानत क्रमश पाँचवें और नवें वर्ष अंकित हुए थे। इस आधार पर समुद्रगुप्त क शासन-काल का प्रारम्भ ३२४ २५ ई० मे माना जा सकता है। चन्द्रगुप्त-

१ रायचौधरी, *Political History of Ancient India* (V Edition), P 551

२ फ्लीट—गुप्तलेख भूमिका।

द्वितीय की सम्भवत प्रारम्भिक प्रशस्ति मथुरा की प्रशस्ति है 'जिसकी तिथि के ६१वें वर्ष की है। अत समुद्रगुप्त के शासन-काल की समाप्ति (३१९+६१)-३८० ई० तक अवश्य हो गई होगी। विद्वानो ने ३७५ ई० तक समुद्रगुप्त का शासन काल बताया है। शासन-काल का प्रारम्भ इसी आधार पर ३३० ई० म बताया जाता है।

समुद्रगुप्त की मुद्राएँ

समुद्रगुप्त ने लगभग आठ प्रकार की स्वर्ण-मुद्राओ का निर्माण करवाया था। इसकी मुद्राओ के प्रारम्भिक उदाहरणो पर तो कुषाण शली का प्रभाव दृष्टिगत होता है, पर आगे चल कर विशुद्ध भारतीय शैली पर मुद्राओ का निर्माण करवाया जाने लगा। समुद्रगुप्त की अधिकाश मुद्राएँ ध्वज शली की हैं। इसके अतिरिक्त धनुर्धारी शैली, परशु शैली, काच शैली, व्याघ्र शैली, वीणावादक शैली, अश्वमेध शली आदि विभिन्न शैलियो की मुद्राओ का भी निर्माण करवाया गया था।

रामगुप्त-समस्या

लगभग ५० वष पूव किसी भी इतिहासकार को यह भी पता नही था कि रामगुप्त नाम के एक महान् गुप्त सम्राट् ने भी भारतवष पर राज्य किया था। गुप्तवश की वशावलियो को ही नेत्र मूद कर मानने वालो की आँखें तब खुली जब 'देवीच द्रगुप्तम' नाम का एक नाटक एकाएक उनके सम्मुख आया। इस नाटक के रचयिता विशाखदत्त हैं। यद्यपि यह नाटक मूल रूप मे उपलब्ध नही होता है, परन्तु इसके उद्धरण हमें विभिन्न स्थानो पर प्राप्त होते हैं। समुद्रगुप्त के बाद च द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने सिंहासन ग्रहण किया था। यह तत्कालीन इतिहासकारो की दृढ धारणा थी। परन्तु अब तथाकथित दढ धारणा पूणतया युक्तिसगत प्रतीत नहीं होती है। इस प्रकार 'रामगुप्त-समस्या' हमारे सम्मुख उपस्थित हुई।

विशाखदत्त की रचना की ऐतिहासिकता एव प्रामाणिकता के विषय मे मतभेद पाया जाता है। कुछ इतिहासकारो ने तो इसे रचनाकार की सजनात्मक प्रतिभा का चमत्कार माना है। वे इसे एक कपोल-कल्पित कथा मानते हैं। उनके अनुसार एक नाटक मे से ऐतिहासिक तथ्य ढूढना पूण मूखता है। परन्तु इन इतिहासकारों की दलील लचकदार हैं। 'देवीच द्रगुप्तम' की ऐतिहासिकता के विषय मे जो विभिन्न प्रमाण प्राप्त हुए हैं, उनका उल्लेख हम आगे करेंगे—

देवीचद्रगुप्तम की ऐतिहासिकता—हेमचन्द के प्रमुख शिष्य रामचन्द एव गुणचन्द्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'नाट्यदपण' मे इस नाटक के प्रथम छह अश आए हैं। हेमचन्द्र कुमारपाल (११४३–११७३ ई०) का समकालीन था। कुमारपाल अन्हिलपाटक के चालुक्य वश का नरेश था।

राज भोज न भी अपने 'शृगारप्रकाश' मे इस पुस्तक के उद्धरण दिए हैं। भोज एक महान् राजनीतिज्ञ था। उसने निश्चयत ही ऐतिहासिक तथ्यो को उद्धृत किया होगा।

सजन प्लेटो का प्रमाण यह सिद्ध करता है कि च द्रगुप्त द्वितीय ने अपने भाई की हत्या की थी, उसके सिंहासन को बलात छीना था और उसकी पत्नी से विवाह किया था। सस्कृत का मूल श्लोक इस प्रकार है—

"हत्वा भ्रातरमेव राज्य हरद्देवी च दीनस्तत"

विशाखदत्त ने अपने नाटक मे इसी घटना को विस्तृत कर साहित्यकार की तूलिका से लिखा है। इस प्रकार घटना की यथार्थता एव सत्यता का प्रमाण हमे उपयुक्त श्लोक से लग जाता है। देवीचन्द्रगुप्तम् की ऐतिहासिकता का यह प्रभावकारी ज्वलत उदाहरण है।

बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' मे यह अकित किया है कि पराई स्त्री को चाहने वाले शकपति को चन्द्रगुप्त ने स्त्री का वेष धारण करके मार डाला। मूल श्लोक इस प्रकार है—

"परकलत्रकामुक कामिनी वेषगुप्त चन्द्रगुप्त शकपतिमासतयत्।"

सगली तथा कॅम्बे प्लेटो ने इसी घटना के साथ 'साहसाक' नाम के नरेश को सयोजित किया है। साहसाक को वस्तुत चन्द्रगुप्त का अनुवाद समझना चाहिये। इस प्रकार ये प्लेटें भी घटना की प्रामाणिकता का बोध कराती हैं।

राजशेखर (९०० ई०) ने अपनी 'काव्यमीमासा' मे एक पद्य कुमारगुप्त प्रथम को सम्बोधित करके लिखा हुआ है। इस पद्य का अग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"The Praises (of Chandragupta) are sung by women of कार्तिकेय नगर, just on that Himalaya from where Sarma (Rama ?) Gupta was forced to retreat after giving over his queen to the king of Khasas (Shakas)"

इस पद्य के शमगुप्त को रामगुप्त मानकर एव खस को शक मानकर इतिहासकारो ने इस पद्य को भी 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की घटना की सत्यता का प्रमाण अगीकार किया है।

देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक का चन्द्रगुप्त चन्द्रगुप्त प्रथम को निर्दिष्ट करता है या द्वितीय को—इसके लिए इतिहासकारो ने चन्द्रगुप्त की महारानी ध्रुवदेवी को उपस्थित किया है। ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त-द्वितीय की स्त्री थी, अतएव नाटक का नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय है। इसी ने रामगुप्त की विधवा से विवाह कर उसे अपनी सम्राज्ञी बनाया था।

विशाखदत्त भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबार का नाटककार या समकालीन माना जाता है। हिल्लेब्राड (Hille Brand), टानी (Tawney), वि० स्मिथ (Smith) तथा काशी प्रसाद जायसवाल (K P Jayaswal) ने अपने तर्कों से विशाखदत्त को महान् गुप्त सम्राट् का समकालीन सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार यह नाटककार अनिवार्य रूप से अपने काल मे घटी इस महत्वपूर्ण घटना का प्रेक्षक था और उसी ने घटना को अमर रूप देने के लिए अपने हाथो से इसे सँजोया।

इस प्रकार इन प्रमाणो के आधार पर देवीचन्द्रगुप्तम् नाटक की घटना की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाती है। अब हम सक्षेप मे इस घटना का उल्लेख करेंगे।

देवीचन्द्रगुप्तम् की कथा—समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरात रामगुप्त सिंहासनारूढ हुआ। रामगुप्त की पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। शक-नरेश ने एक बार युद्ध के सिलसिले मे रामगुप्त की सेनाओ को बडी बुरी तरह से घेर लिया। शक नरेश ने जब देखा कि अब विजय पूर्णतया निश्चित है और मगध का साम्राज्य उसी के कदमो को चूमने वाला है तो उसने रामगुप्त के सम्मुख विचित्र शर्तें रखीं। रामगुप्त ने अपनी दयनीय स्थिति को देखते हुए अपनी महारानी को शक नरेश के पास भेजना स्वीकार कर लिया। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने इस असम्मानजनक कार्य के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित किया।

और ध्रुवदेवी के वेश मे शकाधिपति के कैम्प मे जाने के लिए अपने को प्रस्तुत किया। इस छल मे वह शत्रु को मारना चाहता था। चन्द्रगुप्त का षड्यन्त्र सफलीभूत हुआ। चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य और उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा की। इस घटना ने चन्द्रगुप्त को जनता की दृष्टि मे चढा दिया। महारानी ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त के लिए अपने हृदय मे स्थान बनाया। रामगुप्त की प्रसिद्धि एव चरित्र ने अत्यधिक भीषण आघात खाया। यही से दोनो भाइयो मे खटपट होनी प्रारम्भ हुई। चन्द्रगुप्त को यह डर रहने लगा कि कही उसका ज्येष्ठ भ्राता उसकी हत्या न करवा दे। अतएव उसने पागलपन का स्वाँग रचाया। अन्त मे चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की किसी प्रकार हत्या कर दी और स्वय सिंहासन पर आरूढ हुआ। सिंहासनारोहण के उपरात उसने ध्रुवदेवी के साथ विवाह किया।

यह थी घटना जिसका ज्ञान आधुनिक शताब्दी की देन है। इस घटना के निर्माण मे विभिन्न विद्वानो ने बडी धीरता, उद्योग एव प्रतिभा का प्रयोग किया है। इस प्रकार गुप्तवश का पूर्णतया अज्ञात अध्याय हमारे सम्मुख खुल गया है।

कुछ आपत्तियाँ—भारतवर्ष मे ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण हमे प्रत्येक समस्या मे मतभेदो एव आपत्तियो का सामना करना पडता है। 'रामगुप्त' के साथ भी वही समस्या है। हमने उपयुक्त प्रमाण जो उल्लिखित किए है वे ऐसे नही हैं कि उनमे आपत्तियाँ उपस्थित न की जा सकें।

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' मे जिस शर्मगुप्त का निर्देश किया है, उसे इतिहासकारो ने रामगुप्त माना है। उनकी इस एकरूपता स्थापित करने के पीछे केवल एक ही तर्क है—वह यह कि शर्मगुप्त एव रामगुप्त दोनो की पत्नियो का नाम ध्रुवस्वामिनी था। लेकिन केवल पत्नी के नामो मे समरूपता होने से यह आवश्यक नही है कि वे केवल एक ही नरेश की पत्नी हो। 'खस' नाम के राजा का इस पद्य मे उल्लेख है। इस विद्वानो ने 'शक' स्वीकार किया है। इसके लिए विद्वानो का कहना है कि क्योकि साहित्यकार एक रोमान्टिक पृष्ठभूमि एव काव्यगत विरोधाभास का विकास करना चाहता था, अतएव उसने इतिहास मे थोडी-सी स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति ग्रहण की है। लेकिन काशी प्रसाद जायसवाल ने इस दलील का खण्डन करते हुए लिखा है—

It is unlikely that with a desire of having a romantic back ground and developing a poetic contrast he may have permitted himself a little liberty with history by changing the name Saka into Khasa "

हम यह भी भलीभाति जानते हैं कि रामगुप्त के दिनो मे खसो मे इतनी शक्ति नही थी कि वे गुप्त सम्राट् का परास्त एव पददलित कर सकें। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख (4 C A I) मे खसो का कही निर्देश नही आता। काशी प्रसाद जायसवाल ने खसो की स्थिति को निश्चित करते हुए बताया है कि इन लोगो ने कर्तृपुर तथा नेपाल पर अपना आधिपत्य जमाया हुआ था। यह दोनो राज्य समुद्रगुप्त के सीमांत सामतीय राज्य थे। इन दोनो मे से किसी को भी खसाधिपति की सज्ञा नहीं दी गई है। अतएव जायसवाल महोदय ने यह कहा है कि यह उचित नही प्रतीत होता कि एक ही पीढ़ी के अन्तगत वे लोग इतने शक्तिशाली हो गए कि वे गुप्त साम्राज्य को एक असम्मानजनक सधि के लिए विवश करें। उन्ही के शब्दो मे—

It is therefore unlikely that within one generation the khasas would have become so powerful as to dictate a humiliating peace to the Gupta empire

अतएव उन्होंने माना है कि 'खस' शब्द वस्तुत शक के स्थान पर गलती से लिखा गया है। इस प्रकार इस आपत्ति का भी समाधान हो जाता है।

किसी भी गुप्त अभिलेख में, जिसमे कई राजकीय हैं, वंशावली में रामगुप्त का नाम नहीं लिखा है। अतएव विरोधी इतिहासकारों ने इसी से 'रामगुप्त' की ऐतिहासिकता मानने से इनकार कर दिया है। लेकिन अभिलेखों में नरेश के नाम की अनुपस्थिति नरेश की ऐतिहासिकता के विरोध में पर्याप्त प्रमाण नहीं हो सकती है। एक इतिहासकार ने हमारे मत के समर्थन में लिखा है—

"Epigraphical lists are usually genealogical and not dynastic and they often omit collateral rulers"

लेखों में उत्कीर्ण सूचियाँ अधिकांशत वंशावलियाँ होती हैं। ये किसी एक ही परिवार के सदस्यों की सूचना देती हैं। अतएव उनसे यथार्थता की अपेक्षा करना दुष्कर कार्य है। राजवंशीय सूचियाँ इन अभिलेखों में कम ही होती हैं और समकालीन शासकों को तो अवसर यह उपेक्षित करती हैं।

एरण (Eran) अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के कई पुत्र थे। रामगुप्त सम्भवत ज्येष्ठ पुत्र हो, या उनमें से एक। पिता की मृत्यु के अनन्तर उसने सिंहासन सँभाला होगा।

कुछ इतिहासकारों ने यह आपत्ति उठाई है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का अपने बड़े भाई की विधवा से विवाह करना उचित नहीं प्रतीत होता, अतएव य घटना की प्रामाणिकता में संदेह करते हैं। लेकिन यह न मानने वाली बात पूर्णतया ऐतिहासिक तथ्य है। कुछ लोगों ने यह भी सम्भावना व्यक्त की है कि चन्द्रगुप्त की पत्नी का नाम भी ध्रुवदेवी हो सकता है तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की ध्रुवदेवी तथा रामगुप्त की ध्रुवदेवी दो पृथक् देवियाँ हैं। लेकिन यह तर्क भी कोई जोरदार नहीं है।

डॉ० एस० कृष्णास्वामी तथा श्री आर० सरस्वती ने घटना का यह रूप स्वीकार नहीं किया है। इन दो महानुभावों के अनुसार ध्रुवदेवी दुर्घटनावश शक नरेश के हाथों द्वारा पकड़ी गई थी। शक नरेश ने इस अवसर का लाभ उठा उससे प्रेम प्रस्ताव किया। ध्रुवदेवी ने किसी भाँति इस घटना की सूचना रामगुप्त तक पहुँचा दी। रामगुप्त ने सम्राज्ञी का भेष बना शक नरेश से एक साक्षात्कार किया। इसी साक्षात्कार के समय उसने शकाधिपति का वध कर डाला।

घटना को तोड़ मरोड़ कर इस प्रकार उपस्थित करना केवल कल्पना में ही यथार्थ माना जा सकता है। इस घटना के समर्थन में उपर्युक्त दोनों महाशयों ने कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किए हैं। अतएव दिमागी उड़ान को यथार्थ तथ्य का रूप नहीं दिया जा सकता है।

कुछ लोगों ने रामगुप्त के सिक्कों के अभाव को भी नरेश की अनैतिहासिकता का प्रमाण माना है। हम मानते हैं कि नरेश के सिक्कों की अनुपस्थिति काफी गम्भीर आपत्ति है। लेकिन यह सम्भव है कि नरेश का राज्य-काल इतना छोटा रहा हो कि वह अपनी मुद्राएँ न निकलवा सका हो, क्योंकि सिंहासन पर आते ही उसे शकाधिपति

से अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करना था। डा० भंडारकर ने 'काच' मुद्राओं को रामगुप्त की मुद्राएं माना है। उन्होंने जिन तर्कों के आधार पर यह एकरूपता स्थापित की है उसका वर्णन हमने 'काच रामगुप्त' के अन्तर्गत पहले ही किया है।

एक इतिहासकार ने लिखा है कि यह विश्वास करना बड़ा कठिन प्रतीत होता है कि महान् समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी को एक विदेशी नरेश ने इतनी बुरी तरह से परास्त किया कि वह अपनी स्त्री देने तक को विवश हो गया। शत्रु को अपनी स्त्री उपहार रूप में देना जितना निन्दनीय कार्य है, उसके लिए हमारे पास शब्द नहीं, और स्वर्ण-काल के भारत में उस नरेश द्वारा जिसकी रगों में समुद्रगुप्त का खून बहता था, ऐसा कार्य करना घोर अपमान एवं तिरस्कार है।[1] अतएव यह घटना सत्य नहीं हो सकती।

लेकिन जब हम मजमूल-तवारीख में वर्णित घटना का अध्ययन करते हैं तो स्थिति की गहराई का अनुमान होता है। इसमें यह वर्णित है कि नरेश रव्वल (रामगुप्त) तथा उसका दल एक पहाड़ी दुर्ग में घेर लिया गया था। रव्वल (रामगुप्त) की सेना शक नरेश द्वारा पूर्व परास्त कर दी गई थी। अब नरेश शकाधिपति की दया पर निर्भर था। अतएव ऐसी अवस्था को देख कर उसने नरेश की अपमानजनक शर्त मान ली। लेकिन इस परिस्थिति में भी हम इस प्रकार के कुकृत्य का परिष्कार नहीं मान सकते हैं। इस निन्दनीय काम से तो यही श्रेयजनक था कि नरेश अपनी हार मान ले।

कुछ इतिहासकारों ने यह मत प्रस्तावित किया है कि क्योंकि रामगुप्त का नाम महान् गुप्त वंशावलियों में नहीं आता है, अतएव सम्भवतः वह सम्राट न रहा हो, बल्कि एक प्रान्तीय राज्यपाल रहा हो। यह तो निश्चित है कि गुप्तों में शाही खानदान के व्यक्ति गवर्नर नियुक्त किये जाते थे। गोविन्दगुप्त वैशाली का गवर्नर था। रामगुप्त और चन्द्रगुप्त सम्भवतः भाई या भतीजे थे और बुन्देलखण्ड में राज्य कर रहे थे। शक नरेश ने प्रान्तीय गवर्नर रामगुप्त की पत्नी की मांग की थी, न कि सम्राट रामगुप्त की। मुद्राओं का अभाव भी हमारे इस मत का अनुमोदन करता है।

लेकिन इस सिद्धान्त से हम वर्तमान साहित्यिक प्रमाणों के विरुद्ध जा पड़ेंगे। इन साहित्यिक प्रमाणों में नरेश का उल्लेख है, गवर्नर का नहीं। अमोघवर्ष की संजन प्लेटों ने भी अज्ञात गुप्त नरेश की ओर निर्देश किया है। अमोघवर्ष की इन प्लेटों ने इस अज्ञात नरेश की दानवीरता का भव्य शब्दों में वर्णन किया है। एक राज्यपाल इतने लाख रुपये दान में व्यय नहीं कर सकता। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त जैसे महान सम्राटों ने, कभी भी अपने गवर्नर की, जो कि उनका निकट सम्बन्धी हो, इस प्रकार की दयनीय परिस्थिति नहीं देख सकते। वे अपने वंश पर कलंक का टीका नहीं थोप सकते। एक शत्रु गुप्तवंश की एक अबला को बलात् ले जाये और ये संस्कृति का ढिंढोरा पीटने वाले शान्त रहें, बिल्कुल असंभव बात है। हमने देखा कि इस विचित्र संकट में रामगुप्त और चन्द्रगुप्त किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते हैं। यह वास्तव में उनके

---

1 It is difficult to believe that the inheritor of the mighty empire of Samudragupta could be so decisively defeated by a Saka king that he had no means of saving his army or kingdom save by consenting to an act which would be regarded as the most ignominious by any king in any age or country, not to speak of the mighty emperor of the golden age of India who had the blood of Samudragupta running in his veins

पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सम्राट होने का ही प्रमाण है। यदि वे किसी सम्राट् के राज्यपाल होते तो अनिवार्य रूप से उन्होंने अपने स्वामी से सहायता की प्रार्थना की होती।

रामगुप्त को सम्राट मान लिए जाने पर हमारी एक अन्य समस्या का भी समाधान हो जाता है। वह समस्या यह थी कि प्रारम्भिक गुप्त-कालक्रम बडा ही अस्वाभाविक प्रतीत होता था। जब से यह निश्चित हो गया कि गुप्त संवत का संस्थापक कोई विदेशी नरेश नहीं है, बल्कि चन्द्रगुप्त प्रथम ही इसका संचालक है तो हम इसका प्रारम्भ ३१६–२० ई० के लगभग कह सकते हैं। इसकी ओर चन्द्रगुप्त-द्वितीय निश्चित रूप से ४१२–१३ ई० मे राज्य कर रहा था। इस प्रकार प्रथम तीन नरेशों ने लगभग ६३ वर्ष कम से कम राज्य किया था। जब कुमारगुप्त का शासन-काल भी हम इसमे जोडते हैं तो चार निरन्तर नरेशो की शासनावधि कम से कम १२० वर्ष बैठती है। इसमे १० या १५ वर्ष और जोडे जा सकते हैं, क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथम ने संवत-स्थापन के १० या १५ वर्ष बाद ही अपना राज्य-कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार इन चार नरेशों के लिए ३५ वर्ष औसतन समय का काल होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास मे निरंतर चार नरेशों के लिए यह औसत कुछ अजोबोगरीब सी लगती है। अतएव ५वें नरेश रामगुप्त के इस शृंखला में सम्मिलित हो जाने से इस अस्वाभाविकता की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार रामगुप्त की ऐतिहासिकता अब एक पूर्णतया सिद्ध तथ्य हो गयी है।

शक-नरेश का समीकरण—जिस शक नरेश ने रामगुप्त को ऐसी दयनीय परिस्थिति मे पहुँचा दिया था, उसकी पहचान के विषय में गम्भीर मतभेद हैं। केवल 'शकाधिपति' के अतिरिक्त नरेश की स्थिति का, उसके नाम का हमे तनिक भी ज्ञान नही। विभिन्न इतिहासकारो ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं। आइए, उन कुछ कल्पनाओं मे हम आपको परिचित करवायें।

डॉ० फ्लीट (Dr Fleet) के अनुसार उत्तर पूर्वीय भारत म किसी स्थान पर कनिष्क प्रथम का वंशज समुद्रगुप्त के आक्रमण के समय शासन कर रहा था। अतएव इसी वंश की ही ओर यह 'शकाधिपति' इंगित करता है।

डॉ० राखाल दास बनर्जी (D R D Banerji) के अनुसार जिस शक ने रामगुप्त के क्षेत्र पर आक्रमण किया था, वह कनिष्क के पुत्र का वंशज था।

श्री रंगस्वामी सरस्वती (Rangsvami Saraswati) के अनुसार यह शक नरेश स्वामी सत्यसिंह का पुत्र स्वामी रुद्रसिंह था जिसकी अन्तिम ज्ञात तिथि ३१० ई० है। लेकिन यह एकलन उचित नही है क्योंकि शक घटना ३७५ के पश्चात और ३८० के मध्य घटी थी।

डा० अनन्त सदाशिव राव अल्तेकर (Dr A S Altekar) ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि यह शक नरेश पश्चिमी क्षत्रप राजवंश का एक शासक था जिसे रुद्रसेन द्वितीय कहा जाता है। इस नरेश की तिथियाँ ३४८ से ३७८ ई० के लगभग हैं। लेकिन हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नही जो यह बता दे कि पश्चिमी क्षत्रप इतने अधिक शक्तिशाली हो गए कि वे गुप्त सम्राटों को बलात् ले जाने मे समर्थ थे—विशेषत अलीपुर क्षेत्र से।

श्री वी० वी० मिराशी (V V Mirashi) ने प्रस्ताव किया है कि शक एक कुषाण नरेश था जिसने पंजाब एवं काबुल पर राज्य किया था। मिराशी नरेश का नाम नही लिखता है।

श्री जगन्नाथ (Jagannath) के अनुसार यह सम्राट कोई खस नरेश था जिसका नाम लिखा नही गया।

काशी प्रसाद जायसवाल (K P Jayaswal) ने लिखा है कि ३६० ई० में काबुल का कुषाण नरेश प्रम्वेट शर्सैनियन (Sassanian) की ओर से सीस्तान के शकों सहित रोमनो के विरुद्ध संघष कर रहा था। एक पीढी बाद राजराज तोरमाण जो कि पश्चिमी पजाब मे शासन कर रहा था, या तो देवी चन्द्रगुप्तम् का शकाधिपति था या उसका दूसरा उत्तराधिकारी। इस शासक को सवप्रथम बुहलर (Buhler) ने निर्दिष्ट किया था।

शकाधिपति एव रामगुप्त के सघष के स्थिति निश्चयन के विषय में भी विभिन्न इतिहासज्ञो की विविध धारणाएँ हैं।

डॉ० राखालदास बनर्जी के अनुसार यह मुठभेड सम्भवत मथुरा के आसपास हुई होगी।

डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने इस सघष को जालधर दोआब म घटित होना निश्चित किया है।

डॉ० भडारकर ने कहा है कि सभवत यह पूरा दृष्य गोमती की घाटी में हुआ है।

श्री आर० एन० सलेटोर ने प्रस्ताव किया है कि यह भूभाग झलम तथा रावी के बीच कांगडा घाटी में होना चाहिए।

इस प्रकार हम अभी तक शक नरेश की निश्चितता तथा युद्धस्थल की प्रामाणिकता के विषय मे कुछ नहीं कह सकते हैं। भावी अनुसधान एव प्रमाण हमें इस दिशा मे कदाचित् कुछ सहायता देंगे।

निष्कष—डॉ० अनन्त सदाशिव राव अल्तेकर महोदय की सम्मति मानते हुए हमे देवीच द्रगुप्तम् की घटनाओ को पूणतया एक एक शब्द सत्य नहीं मानना चाहिए—न ही हमे इस नाटक को कपोल-कल्पित कथा।

चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य

रामगुप्त के अल्प शासन के पश्चात समुद्रगुप्त का दूसरा पराक्रमी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासनारूढ हुआ। पिछले पृष्ठो मे हमने देखा था कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कापुरुष रामगुप्त की हत्या करके उसकी पत्नी से ब्याह किया और राज्याधिकारी हुआ। शको की पराजय च द्रगुप्त की वीरता का प्रथम उदाहरण है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि च द्रगुप्त भ्राता की हत्या करके ही राज्याधिकारी बन सका। कुछ प्रमाणो के आधार पर हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। सम्भवत वह इसका प्रकाश खुले दरबार में न कर सका था और इसीलिये साधारण नियमानुसार ज्येष्ठ पुत्र सिंहासनारूढ हुआ। इसकी स्पष्ट ध्वनि 'तत्परिगृहीत'[1] शब्द से होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त के इस मन्तव्य का प्रकाश राज्यारोहण के पश्चात् कर देना आवश्यक समझा था। समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे जिसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। समुद्रगुप्त ने एरण अभिलेख (का० इ० इ० तृतीय, पृष्ठ २०) मे भी समुद्रगुप्त को 'बहु-पुत्र-पौत्र

१ च द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का दानपत्र।

है। इस प्रकार वे पुत्रों में उसने चन्द्रगुप्त को ही सर्वोचित की कुशलता का परिचय प्राप्त होता है।

मुकर्जी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'द गुप्ता एम्पायर' पृष्ठ ४ के सम्बन्ध में विभिन्न साक्ष्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए लिखा है—

"The Eran Stone inscription of Samudra Gupta (Fleet, No refers to the 'many sons and grandsons' of Samudra Gupta, w the Mathura Stone inscription of Chandra Gupta II (Fleet 4) states that he was chosen for the throne out of all his sons (parigrihena) by Samudra Gupta. The same fact is repeate the Bihar & Bhitari Stone Pillar inscription of year 61 Samudra Gupta in fact pays to his son the same complimen was paid to him by his father who acclaimed him before all kinsmen (tulyakulaj) as the fittest to succeed him on the thron

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति—यहाँ तत्कालीन राजनीतिक अवस्था पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। जिस समय चन्द्रगुप्त-द्वितीय सिंहासन पर बैठा, उस समय यद्यपि भारत की विभिन्न जातियों एवं राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, क्योंकि जैसा कि हमने पिछले परिच्छेद में पढ़ा है, समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राज्य, आटविक राज्य, दक्षिणापथ के राज्य, प्रत्यन्त राज्य, गणराज्य आदि का दमन कर दिया था, फिर भी यह दमन स्थायी नहीं रह सकता था क्योंकि दासता में स्वाभिमान लाने के लिए स्वाधीन लोगों को समय की लम्बी दूरी पार करके अभ्यस्त कराना आवश्यक था, ऐसा नहीं हो सका था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही रामगुप्त जैसा कायर सिंहासनारूढ़ हुआ जिसकी दुर्बलता का परिचय हमें पिछले पृष्ठों में प्राप्त हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में तो चारों ओर विद्रोह होना आवश्यक था, किन्तु समुद्रगुप्त की वीरता की स्मृति अब भी अवशेष थी, अतः केवल शकों ने ही विद्रोह किया। ... शकों के दो केन्द्र थे—(१) सीमाप्रान्त अफगानिस्तान आदि और (२) ... सौराष्ट्र।

... नीति—ऐसी परिस्थिति में चन्द्रगुप्त को सतर्कता से काम करना ... वैवाहिक सम्बन्ध दोनों अस्त्रों द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ़ ... । पहले हम उसके वैवाहिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे ... की एक राजकुमारी कुबेरनागा से ब्याह किया। कुबेरनागा ... पुत्री उत्पन्न हुई जिसका ब्याह उसने वाकाटक नरेश ... यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि वाकाटक से वैवाहिक ... ने ... शक्ति की ... अथवा ... था कि ... [illegible]

द्वितीय के समय मे वाकाटको की शक्ति बनी थी और इसीलिये चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इससे वैवाहिक सबध स्थापित किया। वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के महत्त्व का बोध हमे स्मिथ महोदय के इस कथन से हो जाता है—

"वाकाटक महाराज का अधिकार एक ऐसी भौगोलिक स्थिति पर था जहाँ से वह गुजरात और सौराष्ट्र के शक क्षत्रपो के विरुद्ध उसके उत्तरी आक्रान्ता को सहायता या बाधा पहुँचा सकता था।"

समुद्रगुप्त ने अनेक विजयें की और उसने गुप्त साम्राज्य की सीमा को शक्ति बढाया, पर हमे यह भी ज्ञात होता है कि उसके साम्राज्य मे समस्त विजित राज्य नहीं सम्मिलित थे। समुद्रगुप्त के विशाल साम्राज्य मे ही अनेक छोटे-छोटे राजे थे जो उसे कर देते थे। इस प्रकार इसे एकछत्र राज्य नही कहा जा सकता था। पूर्व तथा उत्तर के सीमान्त राज्य एक प्रकार से स्वतन्त्र ही थे, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त की भी लगभग यही दशा थी। अत विजयो द्वारा भी अपनी स्थिति सुदृढ करना चन्द्रगुप्त के लिये आवश्यक था।

शक विजय—रामगुप्त पर आक्रमण करनेवाले शको को चन्द्रगुप्त ने पराजित किया। इसका प्रमाण हमे पिछले पृष्ठो मे मिल चुका है। एक अन्य प्रमाण उदयगिरि का गुहालेख है जिसमे चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्ध सचिव के लिये लिखा है—"सम्पूर्ण विश्व की विजय-कामना रखने वाले अपने स्वामी (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के साथ वह (वीर) यहाँ (पूर्वी मालवा) आया।"[1] सनकानिक महाराज (४०१—०२ ई०) तथा आम्रकारदव (४१२—१३ ई०) के अभिलेखो से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने प्रमुख विरोधी गुजरात तथा काठियावाड प्रायद्वीप के शक शासक शक-नरेश रुद्रसिंह तृतीय पर विजय प्राप्त करके पश्चिमी सीमा की ओर अपने राज्य का विस्तार किया। यहाँ पर भी बता देना आवश्यक है कि रामगुप्त को त्रस्त करने वाले शकपति को चन्द्रगुप्त द्वारा पराजित करने की बात कहाँ तक सत्य है, यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ इतिहासकारो की तो यह भी धारणा है कि 'देवी चन्द्रगुप्तम्' आदि साहित्यिक ग्रथो मे वर्णित शक चन्द्रगुप्त-युद्ध वास्तव मे चन्द्रगुप्त द्वितीय की इसी शक-युद्ध की प्रतिध्वनि है। श्री आर० सी० मजूमदार के शब्दों में—"It is not unlikely that the literary references to Chandragupta's war with Sak chief, mentioned above in connection with the episode of Ramgupta, contain an echo of this victory"—*Classical Age*, p 19

शक विजय की तिथि के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारे पास दो पुरातात्त्विक साक्ष्य तथा मुद्रायें हैं। शको के अन्तिम नरेश रुद्रसिंह-तृतीय की मुद्राओं पर (अन्तिम वर्ष की मुद्राओ पर ?) शक सवत् ३१० (ई० सन् ३८८) अंकित है। शक मुद्राओ के अनुकरण पर बनाई गई चन्द्रगुप्त की चाँदी की प्रारम्भिक मुद्राओं पर तिथि ६० (इकाई सख्या के अभाव मे यह ६० तथा ६९ के बीच म भी हो सकती है) दी गई है, अर्थात् ४०९ से ४१८ ई० सन्। ऊपर चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्त सनकानिक महाराज विष्णुदास के पुत्र के दानपत्र का उल्लेख किया गया है जिसकी तिथि

१ कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञ एवेह सहागत—उदयगिरि का गुहालेख का० इ० इ०, १६।

२ रप्सन, *Andra Coins* इकाई की सख्या के अभाव मे यह ३१० से ३१९ के बीच में भी हो सकता है और फिर ३९७ ई० सन् होगा।

गुप्त सवत् ८२ (ई० सन् ४०१-४०२) है। इससे भी उक्त तिथि के निर्धारण में काफी योग मिलता है और इन समस्त प्रमाणो के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह युद्ध पाँचवीं शती ई० की प्रथम दशाब्दी मे हुआ।

विजय का परिणाम—इस विजय से चन्द्रगुप्त ने न केवल विदेशियो को भारत से पृथक् किया, प्रत्युत उसने अपनी राज्य-सीमा के अन्तर्गत काठियावाड तथा गुजरात जैसे प्रदेशो को सम्मिलित करने अपके साम्राज्य का प्रसार बगाल की खाडी से अरब सागर तक कर दिया। पश्चिमी तटवर्ती पत्तनो के सम्पर्क मे आ जाने के कारण भारत के पाश्चात्य व्यापार पर एक प्रकार से गुप्तो का एकाधिकार हो गया। साथ ही देश पाश्चात्य सभ्यता के निकट सम्पर्क मे आ सका।

अन्य विजयें—अब हम चन्द्रगुप्त की अन्य विजयो पर विचार करेंगे जिसका सकेत अभिलेख से मिलता है। चन्द्रगुप्त के युद्ध-सचिव शाव के लेख से यह ज्ञात होता है कि वह (चन्द्रगुप्त द्वितीय) विश्व विजय करने के लिए चला था। चन्द्रगुप्त के सेनानायक आम्रकारदव के लिये कहा जाता है कि उसने अनेक विजयो से ख्याति प्राप्त की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश इन विजयो के विषय मे सामग्रियो का अभाव है। दिल्ली की कुतुबमीनार के निकटवर्ती लौह-स्तम्भ (मेहरौली स्तम्भ) पर चन्द्र नामक किसी राजा की विजय-यात्रा का उल्लेख है। इस स्तम्भ-लेख मे चन्द्रगुप्त ने 'सिन्धु नदी के सातों मुखो को पार करके बाल्हिक (बल्ख) के शासको को जीता।'[1] इस प्रकार का कथन है, जिससे यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि मेहरौली लौह-स्तम्भ-लेख का चन्द्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है[2] जिससे हमें यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्य के पूर्वी तथा पश्चिमी दोनो सीमान्त प्रदेशो पर आक्रमण किया और उसे इन अभियानो मे सफलता प्राप्त हुई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बल्ख का मार्ग सिन्धु

१ यस्योद्वर्तयत प्रतीपमुरसा शत्रून समेत्यागतान।
वगेष्वाहववर्तिनोभिलिखिता खड्गेनकीर्तिभुजे,
तीर्त्वा सप्तमुखानियेन समरे सिन्धोर्जिता वाल्हिका —मेहरौली लौह स्तम्भ-लेख

२ बसाक (*H A E Ind* pp 13-18) तथा फ्लीट (*C L I*, 3 भूमिका, पृष्ठ १२) चन्द्र को चन्द्रगुप्त मानते हैं और बगाल पर उसके आक्रमण करने का तथा तत्सम अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। बैनर्जी (*Ep Ind* 14, pp 367 71) तथा हरप्रसाद शास्त्री (वही, १२ पृष्ठ ३१५-२१, १३ पृष्ठ १३३) चन्द्र को चन्द्रवमन मानते हैं और अपने मत के समर्थन मे सुसुनियाँ पर्वत पर प्राप्त लेख को प्रस्तुत करते हैं, जिसमें पुष्करण (जोधपुर राज्य) नामक स्थान के चन्द्रवमन नामक राजा का पश्चिमी बगाल में आने का उल्लेख है। रायचौधरी इसे सदाचन्द्र अथवा चन्द्रांश मानते हैं। स्मिथ महोदय इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं (*J R A S*, 1947, pp 1 18)।

मेहरौली लौह स्तम्भ-लेख के चन्द्र को चन्द्रगुप्त द्वितीय मानने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं—चन्द्रगुप्त प्रथम के लिये 'एकाधिराज्य' कसे सम्भव है? चन्द्रवमन् इसलिये नहीं हो सकता कि सुसुनियाँ पर्वत लेख मे वर्णित पुष्करण राजाओं की वंशतालिका का जब उनके लेखों से अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि चन्द्रवमन समुद्रगुप्त का समकालीन था। भला यह कैसे सभव है कि उस प्रतापी वीर के सामने कोई जोधपुर राज्य से पश्चिमी बगाल पर आक्रमण करे और समुद्रगुप्त उससे कुछ न बोले।

२६

नदी को पार कर नही जाता, अत जान एलन महोदय का मत है कि 'बाल्हिक' शब्द से सिन्धु के पार यवन की भाँति किसी अन्य जाति का अभिप्राय है जो कदाचित बिलोचिस्तान के आसपास निवास करती थी। मेहरौली अभिलेख म 'वगेष्वाहववर्तिनोभिलिखितखड्गन कीर्तिभजे' (वग के युद्ध मे जिसने अपने पराक्रम से शत्रुओं का पराभव किया) आता है, इस वग से पूर्वी बगाल का बोध करना चाहिये। पूर्वी बगाल पर चन्द्रगुप्त ने आक्रमण किया अथवा बगवालो ने विद्रोह किया था जिसे दबाने के लिये चन्द्रगुप्त को रणयात्रा करनी पडी थी, यह शका भी आर० सी० मजूमदार ने उठाई है। Classical Age, p 20 पर मेहरौली लेख से ही यह परिलक्षित होता है कि जो (बगवाले) सगठित रूप से उस पर (चन्द्रगुप्त पर) आक्रमण करने के लिये उद्यत थे' अर्थात उन्होने विद्रोह कर दिया था जिसके दमनार्थ चन्द्रगुप्त को आक्रमण करना पडा था। वास्तविकता जो भी हो, इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस युद्ध के पश्चात गुप्तो का पूर्ण अधिकार बग पर हो गया, क्योकि आगे चल कर (पाचवी शती ई० मे) हम एक गुप्त नरेश को इस पर राज्य करते देखते हैं।

इस विजय का बहुत ही सुन्दर परिणाम हुआ, क्योकि शक विजय द्वारा यदि पश्चिमी समुद्र तट के व्यावसायिक केन्द्र और बन्दरगाह चन्द्रगुप्त के हाथ म आ गये थे और इस प्रकार प्रमुख व्यापारिक केन्द्र एव उत्तर जाने वाले माल की मडी उज्जैन साम्राज्य की दूसरी राजधानी सा हो गया था तो बग विजय से भारत की अत्यन्त उवरा भूमि साम्राज्य के अधीन आ गई जिससे उसकी समृद्धि म आशातीत उन्नति हुई होगी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का मूल्यांकन

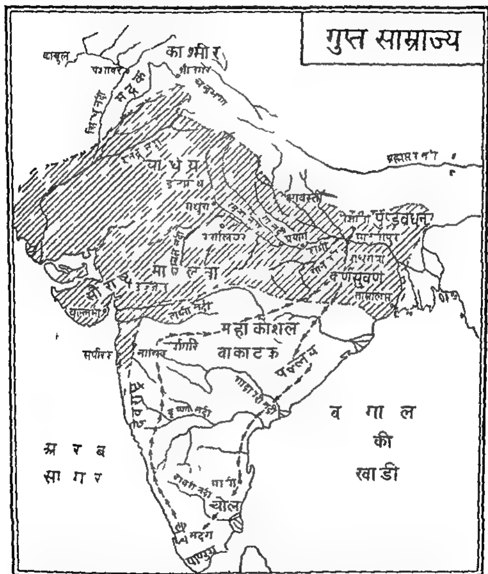
चन्द्रगुप्त द्वितीय भारतवष का महानतम सम्राट माना जाता है। इसकी महानता प्रत्येक क्षेत्र मे परिलक्षित होती है। वह क्षेत्र चाहे शासन का हो, चाहे साम्राज्य विस्तार का हो, चाहे कलापक्ष का हो, चाहे आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्र हो—प्रत्येक मे वह शिखर के अन्यतम भाग पर आरूढ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही कारण गुप्त-काल स्वर्ण काल कहलाया। चन्द्रगुप्त के ही कारण भारत की धरती पर विदेशी ध्वजा फहराई।

चन्द्रगुप्त का साम्राज्य भारत के सागरो को ही छूता नही था, बल्कि कई विदेशी राज्यो को भी उसमे आत्मसात् कर लिया गया था। नर्मदा नदी तक की धारा इसकी दक्षिणी सीमा थी। मध्येशिया इसकी उत्तरी सीमा का दूसरा द्वार था। पूर्वी सीमा बगाल की खाडी का स्पर्श करती थी। पश्चिमी सीमा अरब की खाडी से अनवरत करती थी। भारत की भूमि पर कपोला के रूप म वर्तमान विदेशी उपनिवेशों का सफाया कर माता वसुन्धरा का इस महान् वीर ने कल्याण किया था। भारत की कोटि-कोटि जनता मे भारतीय सस्कृति का मन्त्र फूक कर उन्हें शुद्ध भारतीय बनाने वाला यही अमर सेनानी था।

यह अब पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता समुद्रगुप्त के आदर्श का अनुगमन करते हुए विजय-अभियान में उन्मुखता प्रदर्शित की थी। उदयगिरि के अभिलेख से हम चन्द्रगुप्त की उत्कट अभिलाषा का पता चलता है। उदयगिरि के अभिलेख म चन्द्रगुप्त ने विश्व विजय की कामना व्यक्त की थी।

अभिलेख वस्तुत सम्राट की दक्षिण पश्चिमी विजय के लिए किया गया अभियान की ओर परोक्ष रूप से प्रकाश डालता है।

इसकी प्रशंसा मे श्री आर० सी० मजूमदार ने लिखा है—



"समुद्रगुप्त जो समरशतशौण्ड था, वह इतिहास का एक चरित्रनायक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय जिसने राजनीतिक महानता और सांस्कृतिक पुनर्जीवन के नवीन युग को प्रौढ़ता पर पहुँचाया, उसने लोक-हृदय मे अपना स्थान बना लिया।'[१] वास्तव में गुप्तकालीन भारत की बहुमुखी उन्नति के मूल मे इन्ही दोनो सम्राटो का हाथ है। इन्होंने ही अपने सक्रिय सहयोग से इस युग को 'स्वर्ण युग' की उपाधि प्रदान कराई।

१ *Classical Age* p 28

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कला एवं साहित्य को जो संरक्षण प्रदान किया,[1] प्रेरणा दी उसकी चर्चा प्राचीन काल से ही दन्तकथाओं का विषय बनी हुई है। इन दन्तकथाओं की ऐतिहासिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके द बार में नवरत्नों की जो बात कही जाती है और उसमें कालिदास का नाम जाता है, वह सत्य है जैसा कि अगले पृष्ठों में स्पष्ट किया जायेगा। चन्द्रगुप्त-द्वितीय के शासन काल में भारत में लगभग १०–११ वर्षों (४००–४११ ई०) तक निवास करने वाले चीनी यात्री फाह्यान के विवरण में (जिसके सम्बन्ध में हम आगे प्रकाश डालेंगे) यह ज्ञात होता है कि उस समय देश में शान्ति एवं समृद्धि व्याप्त थी। प्रजा की आर्थिक अवस्था काफी अच्छी थी। बिना कठोर दण्ड के ही शान्ति स्थापित रखना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन प्रबन्ध की सफलता का प्रमाण है।

मुद्रा निर्माण की ओर भी चन्द्रगुप्त ने विशेष ध्यान दिया जिसका प्रभाव मुद्रा-निर्माण-कला तथा देश की आर्थिक व्यवस्था पर अवश्य पड़ा होगा। अब ने स्वर्ण मुद्राओं का ही निर्माण कराया था, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने तांबे तथा चांदी के सिक्के भी प्रचलित कराये जो शक-क्षत्रप की मुद्राओं से प्रभावित हैं। ताम्र-मुद्रायें लगभग ६ प्रकार की हैं। मुद्राओं पर एक ओर गरुड का चित्र अब भी अंकित किया जाता था तथा दूसरी ओर राजा का चित्र रहता था।[1] कला एवं पूर्णता में चन्द्रगुप्त की मुद्रायें समुद्रगुप्त की मुद्राओं से स्पर्धा करती हैं। चन्द्रगुप्त ने मुद्रा निर्माण में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन ला दिये थे—उदाहरणार्थ चीते के स्थान पर वह सिंह का शि करता हुआ दिखाया गया है क्योंकि उसे 'सिंह विक्रम' की उपाधि प्राप्त थी। इसी आधार पर कुछ इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिंहवध प्रदर्शित करने वाली मुद्रायें चन्द्रगुप्त की गुजरात विजय का संकेत करती हैं क्योंकि उन दिनों सिंहों का बाहुल्य था। दूसरा अन्तर पिता-पुत्र की मुद्राओं में यह देखने को मिलता है कि वीणा वाली मुद्राओं के स्थान पर चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने पुष्पांकित मुद्राओं का निर्माण कराया। वीणा के स्थान पर पुष्प को स्वीकार करना उसकी कोमलतर कला-रसिकता का परिचायक है। कुछ नये ढंग की मुद्राओं का निर्माण करके जिनमें उसकी वीरता प्रदर्शित होती है, चन्द्रगुप्त ने अपने चरित्र के उस पहलू का भी दिग्दर्शन कराया है जिसमें वीरत्व तथा पुरुषार्थ का अंश प्रधान होता है।

चन्द्रगुप्त के विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इस उपाधि पर प्रचलित अनेक दन्त-कथाओं के माध्यम चन्द्रगुप्त द्वितीय को हम दानी, उदार, विद्याप्रेमी आदि अनेक रूपों में पाते हैं। इन कथाओं में उज्जैन के किसी शासक विक्रमादित्य द्वारा प्रथम शक विजेताओं को भारत से बाहर निकाल देने का वर्णन मिलता है। सम्भवतः शकों को पराजित कर देने के पश्चात् अशोक को भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। कुछ इतिहासकारों का तो यह भी मत है कि इसके पिता ने भी विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था और यह सम्भवतः विशेष सामरिक प्रतिभा-सम्पन्न भारतीय विजेताओं के लिये प्रचलित विरुद था।[2]

१ समुद्रगुप्त की मुद्राओं पर भी गरुड के चित्र का उल्लेख पीछे किया गया है।

२ देखिए *Classical Age*, p 19

"मेहरौली स्तम्भ-अभिलेख"

दिल्ली के समीप एक गाँव का नाम मेहरौली है। इस मेहरौली गाँव की दो वस्तुएँ विश्व प्रसिद्ध है। एक तो कुतुबमीनार और दूसरा लौह-स्तम्भ। लौह-स्तम्भ पर संस्कृत में कुछ श्लोक उत्कीर्ण हैं। इन पंक्तियो ने प्राचीन भारतीय इतिहासकारो के लिये एक अभिनव समस्या को जन्म दिया है। इस स्तम्भ के अभिलेख में 'चन्द्र' नाम से एक राजा की ओर निर्देश किया गया है। इस नरेश को किस भारतीय नरेश से एकात्मकता स्थापित की जाये यही समस्या वस्तुतः विवाद का विषय है। विविध विद्वानो ने विभिन्न सम्राटो में 'चन्द्र' की एकात्मकता स्थापित करने का प्रयास किया है लेकिन अभी तक कोई संतोषजनक समाधान नहीं निकला है।

चन्द्र को कुछ विद्वानो ने चन्द्रगुप्त मौर्य, कुछ ने कनिष्क प्रथम, कुछ ने नाग चन्द्रवर्मा, कुछ ने मालवा के पुष्करण का चन्द्रवर्मन कुछ ने मगध के गुप्तवंश का चन्द्र गुप्त प्रथम, कुछ ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य एवं कुछ ने मिहिरकुल का भ्राता माना है। इतनी अधिक मत विभिन्नता के कारण सत्यता का पता लगना दुष्कर-सा हो गया। फिर भी सागर में डुबकी लगाकर असली मोती पाने का हमारा प्रयास तो अकाट्य रहेगा। हम निम्नलिखित पंक्तियों में प्रत्येक इतिहासकार के द्वारा उपस्थित तर्कों का सूक्ष्म विश्लेषण करेंगे और युक्तिसंगत तथ्यों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करेंगे।

हरिश्चन्द्र सेठ का मत—हरिश्चन्द्र सेठ, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि अलैक्जैण्डर कभी भारतीय सीमा में प्रविष्ट नहीं हुआ था एवं यूनानी विवरण जिन्होंने इस वृत्तान्त का उल्लेख किया है केवल अपने देश एवं नायक की सर्वोच्चता एवं महानता द्योतित करने के लिए ही लिखे गये हैं, भारतीय इतिहासकार अपनी विशिष्ट भारतीयता के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका मत पक्षपातरहित रहे, यह अत्यधिक कठिन बात है। आप सदैव भारत की सर्वतोमुखी गरिमा एवं प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए इतिहास से भी अन्याय कर बैठते हैं। मेहरौली स्तम्भ के 'चन्द्र' के विषय में भी इनका मत दिलचस्प है। इनके अनुसार इस लौह स्तम्भ का निर्माता चन्द्रगुप्त मौर्य था और समुद्रगुप्त ने लगभग ६०० वर्षों के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना आराध्य नायक मानते हुये, इस स्तम्भ पर वर्तमान प्रशस्ति उत्कीर्ण करवाई। हरिश्चन्द्र सेठ ने इसके अतिरिक्त अपने इस मत के समर्थन में कोई अन्य तर्क उपस्थित नहीं किया। केवल कल्पना की उड़ानों पर आधारित मत बालू की भीति की भाँति होती है। ऐतिहासिक तथ्यों की कोटि में आने के लिये मत के पीछे प्रभावकारी प्रमाण होने चाहियें। सेठ महोदय के सिद्धांत की तो यही बड़ी कमी है। अतएव आधार-रहित मत का स्वीकार करना आधार-रहित छत पर खड़े होना है। अतएव अमान्य है।

डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत—डा० रमेशचन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुपम रत्न हैं। इन्होंने मेहरौली के चन्द्र एवं कनिष्क में एकात्मकता निर्धारित की है। डा० मजूमदार महोदय के मत का मुख्य आधार एक खोटानी पाण्डु-लिपि है। इस पाण्डुलिपि में कनिष्क महान को चन्द्र कनिष्क के नाम से सम्बोधित किया गया है। लेकिन केवल इसी एक ग्रन्थ में कनिष्क के नाम के आगे चन्द्र जुड़ जाने से हमारी आत्मा की सन्तुष्टि नहीं हो जाती। कनिष्क के इसी अभिलेख में हमें 'चन्द्र' नाम नहीं मिलता है। साथ ही साथ 'चन्द्र' के नाम से जुड़ी विजयें भी हम कनिष्क

को नही थाप सकते । डॉ० साहब का मत भी प्रमाणो एव पुष्टियों के अभाव में है स्वीकाय नही हो सकता ।

डा० हेमचन्द्र रायचौधरी का मत—डा० रायचौधरी ने ऐतिहासिक तथ्यों से हटकर एक अस्पष्ट सूत्र से अपनी धारणा निर्धारित की है । डॉ० चौधरी ने पुराणों का सहारा लिया है । पुराणो मे नागवश के परवर्ती आन्ध्र नरेशो की सूची में चन्द्रांश नाम का एक नरेश उल्लिखित है । इसी 'चन्द्रांश' को उन्होंने मेहरौली स्तम्भ-अभिलेख का 'चन्द्र' मान है । इस नरेश का विरुद 'द्वितीय नखवत' (द्वितीय नहपाण) दिया गया है । इस विरुद से रायचौधरी ने यह अनुमान लगाया है कि चन्द्रांश एक महान् शक्तिशाली सम्राट था । इसी आधार को लेकर डॉ० रायचौधरी ने अपना सिद्धान्त तैयार किया है । सिद्धात तैयार करना तो सुगम काय है, परन्तु तथ्यो से उसकी पुष्टि करना दुष्कर है । अभी तक हमने जितने सिद्धातो या मता का अवलोकन किया है, वे 'सिद्धात सिद्धात के लिए' के उद्देश्य स लिखे गये है । 'चन्द्रांश' का नाम तो प्राचीन भारतीय इतिहास क विद्यार्थियो ने कदाचित इसी समस्या क अध्ययन मे, पहले बार सुना या पढा होगा । ऐसा उपेक्षित एव अस्पष्ट नरेश की 'चन्द्र' से एकात्मकता प्रति पादित करना तकसगत नही प्रतीत होता है । इस प्रकार डॉ० रायचौधरी का मत भी हमे अमान्य है ।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का मत—हर प्रसाद शास्त्री ने महरौली स्तम्भ के चन्द्र का चन्द्रवमन होना स्वीकार किया है । चन्द्रवमन बगाल की ओर का नरेश था । लेकिन हरप्रसाद महोदय का यह मत हम इस बात पर अमान्य है, क्योंकि इस नरेश को समुद्रगुप्त ने पराजित किया था । मेहरौली-स्तम्भ का 'चन्द्र' तो एक पराक्रमी सम्राट था । उसकी विजय-वैजयती दिग्दिगन्तों म फल रही थी । अतएव समुद्रगुप्त द्वारा पराजित 'चन्द्रवमन' स उसकी एकात्मकता नही स्थापित जा सकती ।

डा० फ्लीट एव आयगर का मत—डा० फ्लीट एव श्री आयगर ने यह मत प्रस्तावित किया है कि महरौली का 'चन्द्र' वस्तुत गुप्त वश का चन्द्रगुप्त प्रथम है । राधागोविन्द बसाक ने उपयुक्त महानुभावो के मत का अनुमोदन किया है । यद्यपि कुछ अश तक यह 'एकात्मकता' उचित मानी जा सकती है । जैसे 'चन्द्र' एव चन्द्रगुप्त प्रथम दोनों भागवत धम के उपासक थे । दोना ही ने अपन भुजबल से साम्राज्य का निर्माण किया था । न तो चन्द्रगुप्त प्रथम को और न ही 'चन्द्र' को विस्तृत राज्य प्राप्त हुए थे । दोनों ने अपने छोट स सीमित क्षेत्र को विशाल साम्राज्य म परिवर्तित कर दिया था । दोनों का शासन बगाल मे फैला हुआ था । दोनो न ४वी शताब्दी के आसपास राज्य किया था । लेकिन इस मत के विरुद्ध आपत्तिया म भी पर्याप्त जोर है । मेहरौली स्तम्भ मे 'चन्द्र' का साह्लिक का विजेता, दक्षिण भारत म प्रभावकारी एव बगाल पर हावी दर्शाया गया है । जहाँ तक चन्द्रगुप्त-प्रथम के साम्राज्य का सम्बन्ध है, वह पर्याप्त सीमित था । इसका सबस बडा प्रमाण यही है कि उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नरेशो का परास्त करने के लिए अभियान किया था । चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्य गगा की घाटी तक सीमित था, लेकिन 'चन्द्र' ने तो भारत को जीतकर, भारत के परे विदेशो मे भी विजय पताका फहराई थी । इस प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम को भी हम लौह-स्तम्भ का नायक नहीं मान सकते हैं । इस मत के प्रणेताओ को भी अपने इस मत की प्रामाणिकता मे सन्देह है । उन्होंने इस मत का विकल्प भी प्रस्तुत कर दिया है ।

इस विकल्प मे उन्होने मिहिरकुल के एक छोटे भाई को मेहरौली स्तम्भ का 'चन्द्र' माना है। लेकिन इस मत के पक्ष म केवल ह्वेनसाग का साक्ष्य दिया गया है। इतिहास के विद्यार्थी के लिय यह प्रमाण पर्याप्त नही है। अतएव इस मत को भी हम सदोष पाते हैं।

इसी तरह एक अन्य इतिहासकार ने भी पुराण म वर्णित एक नरेश की 'चन्द्र' से एकात्मकता निर्धारित की है। यह नरेश दशरक्षित वश का था। पुराण म इस नरेश की शक्तिशालिता का प्रमाण यह वाक्याश है 'ताम्रलिप्तान ससागरान'। लेकिन केवल इस एक वाक्याश को लेकर एक सिद्धात का प्रतिपादन करना कोरी मूर्खता नही तो और क्या है। क्या जिज्ञासु विद्यार्थी इसी कथन से सतुष्ट हो जायेंगे। कुछ इतिहासकारो ने तो जबरदस्ती अपनी टाँग घुसेडने के लिए बेकार के, आधारशून्य, तथ्य-रहित मतो का निर्धारण किया है। इतिहास म इस प्रकार की बातो को देखकर उनकी बुद्धि पर तरस आता है।

डॉ० हानले (Hoernle) आदि का मत—डा० हानले (Dr Hoernle) थी कलाश चन्द्र ओझा, श्री सुरेन्द्र कुमार अरोडा तथा अन्य विद्वानो ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से 'चन्द्र' की एकात्मकता स्थापित की। यही मत पर्याप्त अशो मे वैज्ञानिक, तर्कसगत एव युक्तिसगत प्रतीत होता है। किसी मत को तर्कसगत मानने के लिय निम्नलिखित ६ परीक्षाएँ हैं। इन परीक्षाओ म उत्तीर्ण होने वाले नरेश की 'चन्द्र' स एकात्मकता आँख मूद कर की जा सकती है।

(१) मेहरौली अभिलेख का तिथि निश्चयन ५वी शताब्दी म लगभग किया गया है। अभिलेख की ब्राह्मी लिपि गुप्त-काल की लिपि विशिष्टताओ स युक्त है।

(२) 'चन्द्र' अनिवार्य रूप स वैष्णव धर्म का आराधक था, क्योकि उसने इस स्तम्भ का निर्माण अपने इष्टदेव के प्रति अपना भक्ति भाव प्रकट करने के लिय किया था।

(३) स्तम्भ की प्राप्ति का स्थान चन्द्र की सीमाओ मे था।

(४) चन्द्र ने बगाल मे सघर्ष किये थे। इसका प्रमाण इस श्लोक से ध्वनित होता है—

'यस्योद्वर्तयत प्रतीपमुरसा शत्रून-समेत्यागता—
बगेष्वाहव-वर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ।'

(५) चन्द्र का सर्वभुत्वशाली प्रभाव दक्षिण म व्याप्त था। इसका प्रमाण यह पक्ति है—

"यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्य्यानिलैर्दक्षिण "

(६) चन्द्र ने मध्य एशिया म, सिन्धु के सात मुहानो को पार कर वाह्लीको को जीता था। यह विजय निम्नलिखित पक्ति से उद्घाटित होती है।

'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका'

इस प्रकार अब हमको चन्द्रगुप्त द्वितीय को इस तराजू पर तौलना है। अगर वह खरा उतरता है तो हम इस एकात्मकता को सर्वाधिक प्रबल उपकल्पना के रूप म अगीकार करना चाहिए।

यह तो हम सभी जानते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन-काल ३८०–८१ ई०

से प्रारम्भ होता है और ४१२–१३ तक अनवरत रहता है। यह तिथियाँ हम लेखों एव मुद्राओ से ज्ञात होती हैं। अतएव 'चन्द्र' एव चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय एक ही है।

अभिलेखो एव मुद्राओ से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रथम गुप्त-सम्राट था जिसने वैष्णव धर्म को राजधर्म घोषित किया था। उसने अपने अभिलेखों में अपने को "परम भागवती महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त" एलान किया है। 'चन्द्र' एव चन्द्रगुप्त-द्वितीय दोनो विष्णु के महान् उपासक थे।

डॉ० भडारकर ने यह विचार व्यक्त किये हैं कि विष्णुपाद पजाब में एक पहाड़ी थी जहाँ से काश्मीर दिखाई पडता था। वहा से लाकर यह स्तम्भ अपने वर्तमान स्थान पर लगाया गया था। लेकिन अन्य पुरातत्त्ववेत्ताओ ने इसका खडन किया है। फ्लीट (Fleet) महोदय का मत है कि यह अभिलेख अपने मूल स्थान मे ही गडा हुआ है। उन्ही के शब्दो मे—

"The fact that the underground supports of the pillar include several small pieces of metal like bits of bar iron' is in favour of its being now in its oariginal position"

डॉ० भडारकर का मत है कि यह स्तम्भ चन्द्रगुप्त द्वारा वाह्लीकों पर विजय के आनन्द मे उत्तर-पूर्वी क्षेत्र मे किसी स्थान पर स्थापित करवाया गया था। वास्तविकता कुछ भी रही हो, दोनो स्थान, चाहे स्तम्भ का प्राप्ति-स्थान दिल्ली हो, चाहे बैक्ट्रियन भूभाग हो, चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रभुत्व म थे।

यह साधारणत माना जाता है कि बगाल गुप्त साम्राज्य का प्रारम्भ से आन्तरिक भाग था। लेकिन यह सामान्य स्वीकृत मत न्यायोचित नही है। समुद्रगुप्त के ही शासन काल मे जाकर कही बगाल के दक्षिण पश्चिमी भाग गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत प्रथम बार आये थे। समुद्रगुप्त को इसके लिए पुष्करण के चन्द्रवमन को पराजित करना पडा था। बगाल का बडा भाग अब भी समुद्रगुप्त के शासन के पर था। समतट डवाक एव कामरूप की सीमाओ के अन्दर ही यह भूभाग था। समुद्रगुप्त के सिक्के भी बगाल पर उसकी विजय की गवाही देते हैं।

कुमारगुप्त प्रथम के समय से गुप्त अभिलेख बगाल मे भी प्राप्त होने प्रारम्भ हो गए थे। यह धनैदह ताम्रपत्र तथा दामोदर ताम्रपत्र से प्रकट है। यह स्पष्ट है कि तब तक बगाल के बहुत बडे भाग पर गुप्त शासन व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। तब शासन-व्यवस्था बडी सुचारु एव सुघटित रूप मे चल रही थी। गुप्त शासन-व्यवस्था को सुदृढता से अपना काय करने के लिए कुछ वर्ष अवश्य लगे होगे। इसम यह अनुमान लगा सकते ह कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अवश्य बगाल को अपनी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत किया होगा। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय का बगाल पर भी प्रभुत्व सिद्ध हो जाता है। गुप्त सिक्के भी हमारे मत को पुष्टि करत हैं।

समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् दक्षिण मे गुप्त प्रभुता की धाक हिल गई थी। समुद्रगुप्त ने दक्षिण की विजय-यात्रा मे अपना प्रभाव खूब प्रभावशाली ढग से डाल लिया था। कर्नाटक, खानदेश, मद्रास के राज्यों को जीतकर उनके नरेशों को पुन सिंहासन पर बैठाना उसकी कूटनीतिक प्रतिभा की सूझ थी। चन्द्रगुप्त ने भी सिंहासन पर आते अपनी धाक को पुनर्जीवित करने के लिए एक बडा सुन्दर ढग अपनाया। उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह पृथ्वीसेन के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से कर

दिया। इस वैवाहिक संधि ने चन्द्रगुप्त का प्रभाव वाकाटक साम्राज्य में बढ़ा दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिण में अपनी महत्ता बनाये रखी।

यद्यपि किसी अन्य स्रोत से हमें यह पता नहीं लगता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सिन्धु के पार भी एक अभियान का नेतृत्व किया था और वक्ट्रियस को जीता था। लेकिन सभी गुप्त सम्राटों में यही इतना योग्य था जो कि इस अभियान को इतनी दूर तक ले जा सकता था। समुद्रगुप्त द्वारा दर्शायी गई एवं श्रीगणेश की गई आक्रामक नीति चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनवरत रखी थी। उसने अपने साम्राज्य की सीमायें और अधिक विस्तृत की थी और विदेशों में भी उसी ने भारतीय ध्वज लहराया था। मालवा एवं पश्चिमी छत्रपों पर उसने अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

इस प्रकार यह 'एकात्मकता' यद्यपि अन्य 'एकात्मकताओं' की तुलना में श्रेष्ठ तर है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह सत्य ही हो। अब हम इस मत के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का भी विवेचन करेंगे जिससे स्थिति की वास्तविकता का साक्षात्कार हो जाय।

आपत्तियाँ— एक विहगमावलोकन से ही यह ज्ञात हो जाता है कि यह एकात्मकता भी कितनी कोमल टहनियों पर टिकी हुई है। हम बड़ी ही सुगमता से इस का भी खंडन कर सकते हैं।

लिपिमाला (Paleogoraphy) महरौली अभिलेख के कालक्रम निश्चयीकरण का केवल एकमात्र आधार है। मुख्यतः इसी के आधार पर चन्द्र की चन्द्रगुप्त के साथ एकात्मकता स्थापित की गई है। यह सर्वविदित है कि लिपि सम्बन्धी विशिष्टताएँ ५० वर्षों या इसी के समीप काल में कोई विशेष परिवर्तित नहीं होती। अतएव ५० या ६० वर्ष का हेरफेर हो जाना तो एक स्वाभाविक-सी बात है। इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए हम यह कभी भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इस अभिलेख की लिपि किस नरेश के समय की है। इस प्रकार अधिकांश रूप से इस पर आधारित यह एकात्मकता कितने पतले आधार पर खड़ी है।

अभिलेखों तथा मुद्राओं से यह पता लगता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सौराष्ट्र एवं काठियावाड़ के शकों पर विजय प्राप्त की थी। सम्राट ने इस विजय को असाधिक महत्त्व प्रदान किया था। परन्तु यह उल्लेखनीय विजय महरौली स्तम्भ-लेख में न उत्कीर्ण होने से यह पता लगता है कि 'चन्द्र' एवं चन्द्रगुप्त दो पृथक थे।

जान एलन (John Allen) ने 'चन्द्र' की चन्द्रगुप्त के साथ एकात्मकता स्थापित करने के विपक्ष में कई तर्क एवं दलीलें उपस्थित की थीं। उन दलीलों का उत्तर आज भी कोई देने वाला नहीं है। यद्यपि असंतोषजनक रूप से कई इतिहासकारों ने एलन के तर्कों का खंडन करने का प्रयास किया है, परन्तु वे सब तर्क व्यर्थ है। एलन ने लिखते हुए कहा था—

"The inscription (Mehrauli Pillar) presents several remarkable features the phraseology is quite unlike that of any Gupta inscription, and no genealogy is given it may be significant that Virya (वीर्य) and not Vikram (विक्रम) is used for prowess here the phrase Parama Bhagwat (परम भागवत) So favoured by Chandragupta II is not used here There is no analogy for the abbreviation Chandra (चन्द्र) for Chandragupta inscriptions its occurrence in the field

cows's hardly a parallel, as this is due a lack af space, and never occurs in the original legend"

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के प्रधान श्री गोवर्धन राय शर्मा ने उपयुक्त तर्कों का तर्कयुक्त एव युक्तिसगत उत्तर देने का प्रयास किया है। एक पुरातत्ववेत्ता की लेखनी से निकले हुये यह शब्द वस्तुत विचारणीय हैं। अभी तक जितने विद्वानो ने एलन के तर्कों के खडन का प्रयास किया है, उनमे श्री शर्मा जी के विचार सर्वाधिक सतोषजनक एव वजनदार है। प्रोफेसर शर्मा महोदय महरौली स्तम्भ मे वशावली के अभाव का कारण बताते हुये लिखते है कि उदयगिरि गुहा-अभिलेख मे भी वशावली तथा नरेश की उपाधियो का अभाव है। इस प्रकार मेहरौली स्तम्भ अभिलेख कोई नई परपाटी एव अन्य नरेश का नही है, बल्कि गुप्त-काल की ही कृति है और सम्भवत चन्द्रगुप्त द्वितीय की ही। प्रोफेसर शर्मा के मत का खण्डन करते हुए प्राच्य इतिहास के एक अन्य विद्वान् लेखक डॉ० ओझा ने कहा है कि उदयगिरि अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रारम्भिक वर्षों मे अकित किया गया था। उस समय तक नरेशा की उपाधियाँ पूर्णरूपेण निर्धारित नही हुई थी। दूसरी बात यह है कि उदयगिरि गुहा अभिलेख राजकीय अभिलेख नही है। अतएव इस अभिलेख मे उपाधियों का होना कोई अनिवार्य बात नही है।

प्रोफेसर शर्मा ने दूसरी दलील का खण्डन करते हुये लिखा है कि 'परम भागवत एव 'विक्रमादित्य' उपाधियाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के अन्तिम समय मे जाकर कही सवसाधारण रूप से प्रचलित हुई होगी। अतएव मेहरौली स्तम्भ अभिलेख म इनका होना आवश्यक नही है, क्योकि यह स्तम्भ सम्राट् के प्रारम्भिक समय म उत्कीर्ण करवाया गया था। परन्तु प्रोफेसर शर्मा के इस मत को कि मेहरौली स्तम्भ चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक शासन-काल का है, डॉ० ओझा अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह अभिलेख शासन के परवर्ती समय का है। इस बात को ध्यान म रखते हुय मेहरौली स्तम्भ अभिलख मे उपयुक्त उपाधियो का आना आवश्यक-सा लगता है।

आधे नाम चन्द्र के प्रयाग का कारण बताते हुये श्री शर्मा जी ने लिखा है कि यह छन्द की आवश्यकताओ को दृष्टिगत कर ही किया गया था परन्तु ओझा महोदय ने इसके उत्तर मे कहा है कि क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबारी कवि उसके पूर्ण नाम से कविता बनाने मे अयोग्य थे? समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदि नरेशो के प्रशस्तिकारो ने तो नरेश का पूरा नाम लिखा है, फिर चन्द्रगुप्त द्वितीय ही के विषय में ऐसा क्यो?

इस प्रकार हमने विभिन्न खण्डनो एव मडनो का सूक्ष्म विवेचन किया है। परन्तु यह तो निश्चित तथ्य है कि एलन महोदय की दलीलें आज भी उतनी ही जोरदार एव वजनदार हैं जितनी कुछ दशाब्दियां पूव थी। इन तर्कों का उत्तर देने के लिए अभी इतिहासकार को अधिक मनन करना पडगा। इस प्रकार, चन्द्रगुप्त द्वितीय स की गई एकात्मकता भी असफल भाषित हुई है। जब ऐसी दशा हमारे सम्मुख है तो हम किस भारतीय नरेश से चन्द्र की एकात्मकता स्थापित कर सकते हैं? निदान हमको एकात्मकताएँ स्थापित करने के स्थान पर 'चन्द्र' को ही एक पृथक प्रभुत्वसम्पन्न सम्राट मानना पडेगा और इसको भारतीय इतिहास क पृष्ठो मे स्थान देने क लिये हमें अपने इतिहास मे क्रातिकारी परिवतन एव परिवतन करने पडेंगे। इन सब का कारण यही है जिसे हम डा० ओझा के शब्दो म व्यक्त करते हैं—

"The approach to the Mehrauli inscription for working out its historical background through identification fails"—*Dr Ojha*

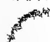
कुमारगुप्त-प्रथम

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र कुमारगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी तिथि के विषय में हम अपेक्षाकृत अधिक निश्चित मत दे सकते हैं। उसकी सबसे प्राचीन लिखित तिथि गुप्त संवत् ९६=४१५ ई० है। उसके चाँदी के सिक्कों पर उसकी सबसे बाद की तिथि दी हुई है। यह तिथि गु० स० १३६=४५५ है। इससे यह पता चलता है कि कुमारगुप्त ने सन् ४१५ ई० से लेकर ४५५ ई० तक शासन किया। उसका शासन-काल काफी लम्बा था। कुमारगुप्त के जितने अधिक अभिलेख प्राप्त हुए हैं उतने किसी भी अन्य गुप्त सम्राट् के नहीं। उसके सिक्के भी बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। उसने कुछ नवीन प्रकार की सुवर्ण मुद्रायें चलाईं। कार्तिकेय प्रकार के सुवर्ण सिक्के कुमारगुप्त प्रथम ने ही चलवाये थे। इन सिक्कों पर एक ओर कार्तिकेय अपने वाहन (मयूर) पर आरूढ़ है और दूसरी ओर कुमारगुप्त की आकृति, मोर को भोजन कराते हुये, खुदी है। उसके सिक्कों और अभिलेखों का विस्तार बंगाल से लेकर सुराष्ट्र तथा हिमालय से लेकर नर्मदा तक है जिससे सिद्ध होता है कि उसने अपने पिता द्वारा अधिगत साम्राज्य को सुरक्षित रक्खा और एक विशाल राज्य पर शासन किया था। मन्दसौर शिलालेख में कहा गया है कि कुमारगुप्त प्रथम "चारों समुद्रों की चंचल लहरों से घिरी हुई पृथ्वी पर" शासन करता था। अपने प्रतापी पिता की भाँति कुमारगुप्त भी, कहावत के कालिदास के शब्दों में, 'आसमुद्रक्षितीश' था। उसने महेन्द्रादित्य की उपाधि भी धारण की थी।

कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेखों से उसकी शासन-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। उसके एक अभिलेख में उसके कुछ प्रान्तीय शासकों के नामों का उल्लेख किया गया है। पौंड्रवर्धन भुक्ति का शासक चिरातदत्त था, घटोत्कचगुप्त, जो सम्भवतः सम्राट् का एक पुत्र था, ऐरिकिण अथवा एरण प्रदेश पर शासन करता था। एरण का प्रान्त आजकल के मध्य प्रान्त का सागर जिला था। पौंड्रवर्धन भुक्ति उत्तरी बंगाल में था। बन्धुवर्मन् दशपुर (मन्दसौर, पश्चिमी मालवा) का शासक था।

कुमारगुप्त प्रथम के कुछ सिक्कों से यह विदित होता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। परन्तु उसके तेरह अभिलेखों में से किसी एक में भी उसके द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि अपनी किस विजय की उपलब्धि में उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। मजूमदार का कथन है कि कुमारगुप्त के अश्वमेध यज्ञ से उसके द्वारा की गई नवीन विजयों की सूचना मिलती है अथवा नहीं, यह हम नहीं जानते। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी का विचार है कि 'यह प्रायः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बिना कुछ प्रदेश विजय किये वह इस साम्राज्यपरक अनुष्ठान का आयोजन नहीं कर सकता था।' उसके अश्वमेध शैली के सुवर्ण सिक्कों से ही अश्वमेध यज्ञ किये जाने की सूचना प्राप्त होती है। इन सिक्कों पर एक ओर यज्ञ स्तूप से बंधा हुआ अश्व और दूसरी ओर हाथ में चंवर लिये हुये राज महिषी की आकृति खुदी हुई है। कुछ सिक्कों पर एक ओर घोड़े के नीचे 'अश्वमेध' और दूसरी ओर 'अश्वमेधमहेन्द्र' अंकित है। एलेन महोदय का अनुमान है कि अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के उपरान्त ही कुमारगुप्त ने यह उपाधि धारण की थी।

पुष्यमित्रों से युद्ध—वैसे तो कुमारगुप्त प्रथम का शासन-काल काफी शान्तिमय



था, किन्तु उसके राजत्व काल के अन्तिम दिनों में उसके साम्राज्य रूपी नभमण्डल पर विपत्ति के बादल घिर आये थे। भीतरी स्तम्भ-लेख के एक श्लोक[1] से इस विपत्ति पर प्रकाश पड़ता है। इस श्लोक से पता चलता है कि कुमारगुप्त की वृद्धावस्था में पुष्यमित्रों ने जिनकी सैन्य शक्ति और सम्पत्ति काफी बढ़ गई थी (समुदितबलकोशान्) गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये थे। यह आक्रमण इतना भयंकर था कि इसके द्वारा गुप्त वंश की राज्य लक्ष्मी विचलित हो गई थी जिसको फिर से प्रतिष्ठापित करने के लिये कुमारगुप्त प्रथम के वीर पुत्र स्कन्दगुप्त को रात भर पृथ्वी पर लेटे लेटे ही बिताना पड़ा था (क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा)। परन्तु कठिनाइयों के बावजूद भी विजयश्री ने गुप्त सम्राट का ही वरण किया।

भीतरी स्तम्भ लेख के श्लोक का कुछ दूसरा अर्थ भी लगाया गया है। श्री दिवेकर ने 'पुष्यमित्राश्च" के स्थान पर "युध्यमित्राश्च" पाठ का सुझाव प्रस्तुत किया है। इसका यह अर्थ होगा कि स्कन्दगुप्त ने इस युद्ध मे (युधि) अमित्रों (शत्रुओं) को पराजित किया था। आगे के श्लोक में लिखा है कि अपने वंश की विलुप्त लक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठापित करके स्कन्दगुप्त ने अपनी विजय का समाचार अपनी अश्रुपरिप्लुत नेत्रों वाली माता को उसी प्रकार दिया जिस प्रकार विजयी कृष्ण देवकी को सुनाने गये थे।[2] इन सब बातों से यह अनुमान लगाया गया है कि कुमारगुप्त मृत्यु के अनन्तर गुप्त वंश मे एक गृहयुद्ध हुआ था। परन्तु दिवेकर के 'युध्यमित्र' पाठ के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। अतएव गृहयुद्ध की बात को माना नहीं जा सकता। डा० राय चौधरी ने गृहयुद्ध के सिद्धान्त का, जिसका पोषण डा० आर० सी० मजूमदार ने किया था, काफी सबल तर्कों द्वारा खण्डन किया है।[3] रायचौधरी साहब का कथन है कि 'हतरिपुओं' से तात्पर्य बाह्य शत्रुओं से है, आभ्यन्तर शत्रुओं से नहीं। ये शत्रु पुष्यमित्र लोग ही थे। पुष्यमित्रों का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। विष्णुपुराण के अनुसार पुष्यमित्र लोग नर्मदा के उद्गम के निकट मेकल प्रदेश में निवास करते थे। फ्लीट ने पुष्यमित्रों का स्थान नर्मदा-तट के निकट कहीं पर निर्धारित किया है।

कुमारगुप्त-प्रथम के कार्यों और चरित्र का मूल्यांकन—श्री आर० एन० दण्डेकर का कथन है कि यद्यपि कुमारगुप्त प्रथम ने प्रायः अपनी तुलना देवताओं के सेनानायक से की है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वह न तो समुद्रगुप्त की तरह वीर योद्धा ही था और न चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाँति मनुष्यों का एक निर्भीक नेता ही।[4] किन्तु सैन्य-सफलताओं के गौरव से शून्य होने पर भी कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य में कुछ ऐसे गुण विद्यमान थे जिनके लिये उसके शासन काल का महत्त्व काफी अधिक है। कुमारगुप्त का सुदीर्घकालीन शासन सुख शान्ति और समृद्धि के लिए विख्यात है। डा० मजूमदार का कथन है कि 'इस विश्वास के लिए कारण है कि कुमारगुप्त का दीर्घ शासन-काल सब कुछ मिलाकर शान्तिपूर्ण और समृद्ध था और साम्राज्य ने उसके पिता तथा पितामह

१ "विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।

२ पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः। जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः।

३ देखिए *Political History of Ancient India* pp 522 577

४ आर० एन० दण्डेकर, *A History of the Guptas*, p 101

की सैन्य विजयों के लाभों का पूर्ण रूप से उपभोग किया।'[1] कुमारगुप्त के तेरह अभिलेखों में केवल एक ही सैन्य कार्यवाही का विवरण प्राप्त होता है और यह उसके शासन के अन्तिम दिनों में की गई थी जबकि वे सभी एक शान्तिपूर्ण तथा दृढ़ शासन-व्यवस्था का संकेत करते हैं जिसका प्रसार अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक था। केवल एक दृढ़ तथा उदार शासन-व्यवस्था के अधीन ही इतने अधिक दिनों तक इतना विशाल भूभाग रक्खा जा सकता था। उसके देहावसान के अनन्तर शीघ्र ही हूणों और अन्य शत्रुओं को जो पराभव सहन करना पड़ा, उससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता था कि इतने लम्बे शान्तिपूर्ण शासन काल में भी सेना की सैन्य निपुणता का ह्रास नहीं होने पाया था। यह बात कुमारगुप्त के लिए कोई कम गौरव की नहीं है कि इतने अधिक दिनों तक युद्ध से विरत रहने पर भी उसने अपने सैनिकों की रण-कुशलता को कम नहीं होने दिया।

उपर्युक्त अभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने कुमार-गुप्त प्रथम के महत्त्व को इस प्रकार प्रदर्शित करने किया है।

"कुमारगुप्त ने अपने पिता की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पूरी तरह से पालन किया। उसने अपने अभिलेखों में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वह स्वयं कार्त्तिकेय का बड़ा भक्त था, किन्तु उसने सूर्य बुद्ध, शिव एवं विष्णु आदि देवताओं की पूजा में किसी प्रकार का विघ्न नहीं उत्पन्न होने दिया। इसके विपरीत, उसके अभिलेख इस बात के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उसने बौद्ध तथा अन्य धर्मों के प्रति महती उदारता का परिचय दिया। मानकुंवर, करमदण्डे और मन्द सौर अभिलेखों में क्रमशः बुद्ध, शिव तथा सूर्य के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है।

स्कन्दगुप्त

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के अनन्तर स्कन्दगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है, डा० मजूमदार का विश्वास है कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए परस्पर युद्ध छिड़ गया जिसमें स्कन्दगुप्त विजयी रहा। उसने अपने भाइयों को मारकर सिंहासन स्वयं हस्तगत कर लिया। परन्तु डा० मजूमदार के इस मत के लिए पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। कुछ भी हो, स्कन्दगुप्त शासन सूत्र अपने हाथ में चाहे जिस तरीके से ग्रहण किए रहा हो, उसके शासन-काल के प्रारम्भिक वर्ष नितान्त अशान्तिमय रहे। हम पीछे पढ़ चुके हैं कि अपने पिता के समय में उसे पुष्यमित्रों के आक्रमण का सामना करना पड़ा था जिसमें उसको विजयश्री प्राप्त हुई थी। परन्तु अपनी इस महत्त्वपूर्ण सफलता पर वह अधिक दिनों तक संतोष न कर पाया। शीघ्र ही उसे अन्य विपत्ति का सामना करना पड़ा जो पहले की अपेक्षा अधिक भयंकर थी।

हूणों का आक्रमण—स्कन्दगुप्त के समकालीन लेखों में उसके शत्रु राजाओं के साथ संघर्ष का उल्लेख मिलता है जिनमें कुछ शत्रुओं के लिए 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु संघर्ष का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। इतना तो निश्चित है कि अपने शासन काल में किसी समय स्कन्दगुप्त को हूणों के आक्रमण का सामना अवश्य करना पड़ा था। हूण लोग बर्बर जाति के थे और अपनी शक्ति बढ़ा लेने पर वे यूरोप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में आतंक फैलाया करते थे। ईसा की लगभग

१ *Classical Age*, p 24

पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूणों की एक शाखा ने, जिन्हें श्वेत हूण कहा जाता है, आक्सस की घाटी पर अपना अधिकार जमा लिया और फारस तथा भारत के निवासियों को भयत्रस्त कर दिया। उन्होंने गान्धार को जीत कर वहाँ एक ऐसे राजा को सिंहासन पर बैठा दिया जो अत्यन्त निर्दय और बर्बर था। गान्धार के निवासियों के साथ हूणों ने बड़ी ही निर्दयता का व्यवहार किया और उन पर भाँति भाँति के अत्याचार किये। गान्धार के पश्चात वे भारत की सीमा में प्रविष्ट हो गये और गुप्त-साम्राज्य के ऊपर अपने दाँत गड़ाने लगे किन्तु इस समय भारत पर एक वीर सेनानी और साहसी योद्धा शासन कर रहा था। यह वीर सेनानी स्कन्दगुप्त था जिसने पुष्यमित्रों को पराजित कर अपने पराक्रम और भुजबल का परिचय दिया था। इस बाह्य विपत्ति से वह तनिक भी नहीं घबड़ाया और उसने डटकर उसका सामना किया। हूणों के साथ स्कन्दगुप्त का जो संघर्ष हुआ वह निश्चय ही भयानक रहा होगा।[1] परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त ने बर्बर हूणों के ऊपर विजय प्राप्त की और अपने राज्य की एक भारी विपत्ति से रक्षा की। हूणों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में स्कन्दगुप्त ने देवताओं के लिए बलि अनुष्ठान करवाये और एक विष्णु-स्तम्भ का निर्माण भी करवाया। गान्धार के पूर्व में पाँचवीं शताब्दी के अन्त तथा छठी शताब्दी के प्रारम्भ तक फिर कभी धावा बोलने का हूण लोग दुस्साहस नहीं कर सके।

स्कन्दगुप्त की शासन नीति—यद्यपि स्कन्दगुप्त ने महान संकट के समय राजसिंहासन पर अधिकार स्थापित किया था और उसकी काफी शक्ति इस संकट के निवारण में समाप्त हो गई थी तथापि उसने शासन व्यवस्था को तनिक भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा। उसने अपने राज्यारोहण के तुरन्त बाद ही प्रान्तीय शासकों को नियुक्त किया। इस कार्य द्वारा उसने अपने शासन को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। उसकी शासन-व्यवस्था उदारता और लोकहित के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों में भी सार्वजनिक हित के कार्यों पर ध्यान दिया। ऐसा ही एक कार्य था सुराष्ट्र में सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण, जिसका अध्ययन हमें नए शीर्षक के अन्तर्गत करना चाहिए।

सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण—हम पीछे भी सुदर्शन झील के विषय में पढ़ चुके हैं। इस झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के एक प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त वैश्य ने सुराष्ट्र में गिरनार पर्वत के निकट कराया था। इस झील का निर्माण लोकहित की दृष्टि से कराया गया था। अशोक के समय में उसके प्रान्तीय शासक तुषास्प ने इस झील से नहरें निकलवाई थी। रुद्रदामन के विषय में पढ़ते हुए हम देख चुके हैं कि अपने अमात्यों के विरोध करने पर भी उसने किस प्रकार अपने व्यक्तिगत कोष से झील का पुनर्निर्माण कराया था। रुद्रदामन के समय में इस झील का बाँध टूट गया था जिसकी उसने मरम्मत करा दी थी। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में गुप्त संवत् १३६ या ४५६ में पुन इसका बाँध टूट गया जिससे सुराष्ट्र के लोगों को कष्ट होने लगा। इस समय सुराष्ट्र में पर्णदत्त स्कन्दगुप्त के राजप्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा था। पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने स्कन्दगुप्त की आज्ञा पाकर "असीम व्यय" उठाकर सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया। जब झील के पुनर्निर्माण का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया तो चक्रपालित ने चक्रभृत अथवा विष्णु का एक मन्दिर बनवा दिया। दुर्भाग्य से सुदर्शन झील अथवा विष्णु मन्दिर के कोई भी चिह्न आज अवशिष्ट नहीं हैं।

१ 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्तकरस्य।"

स्कन्दगुप्त की धार्मिक उदारता—अपने सुयोग्य और बुद्धिमान् पूर्वजो की भाँति स्कन्दगुप्त ने भी धार्मिक विषयों मे दृष्टिकोण की उदारता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यद्यपि वह एक धर्मनिष्ठ वैष्णव था तथापि उसने जैन और बौद्ध धर्मों का भी समादर किया। उसके नाम से विदित होता है कि वैष्णव धर्मानुयायी गुप्त सम्राट शैव धर्म के प्रति भी आस्था रखते थे। "यथा राजा तथैव प्रजा" के अनुसार स्कन्दगुप्त की धार्मिक उदारता का उसके प्रजाजना पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। उसकी प्रजा का दृष्टिकोण भी उदार और सहिष्णु था। कहौम के एक लेख से विदित होता है कि मद्र नामक एक व्यक्ति ने जिसके हृदय में ब्राह्मणो, गुरुओ और पारिव्राजको के प्रति असीम श्रद्धा थी, जैन तीर्थंकरो की पाँच पाषाण प्रतिमाओ का निर्माण कराया था। इसी प्रकार इन्दौर पत्रलेख से भी इस युग की धार्मिक उदारता पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ पर क्षत्रियो ने एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था। मन्दिर मे नित्य तैल दीप जलाने की व्यवस्था करने के दृष्टिकोण से एक ब्राह्मण ने इतना अधिक रुपया दान कर दिया था कि उसके ब्याज से भी मन्दिर का यह व्यय पूरा होता रहा। यद्यपि इस समय बौद्ध धर्म उन्नति पर नही था तथापि स्कन्दगुप्त ने इसको उचित सम्मान की दृष्टि से देखा। स्वयं वैष्णव होते हुए भी उसने बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु की शिष्यता ग्रहण की थी।

स्कन्दगुप्त के कार्यों की विवेचना—गुप्त सम्राटो मे ही नही, प्राचीन भारत के महान् सम्राटो मे स्कन्दगुप्त की गणना की जानी चाहिए। अपने युवराज-काल मे ही पुष्यमित्रो को, जिन्होंने अपनी शक्ति और सम्पत्ति काफी बढ़ा ली थी, उसने पराजित कर अपनी वीरता और साहस का परिचय दिया। इस कार्य मे उसे जिन कठिनाइयो का सामना करना पड़ा होगा उनका अनुमान हम केवल इस एक बात से ही कर सकते हैं कि उनको सारी रात पृथ्वी-तल पर ही बितानी पड़ी थी।[१] डा० मजूमदार ने भीतरी-स्तम्भ लेख के साक्ष्य के आधार पर अपना यह मत दिया है कि प्रशस्तिकार की काव्यात्मक आलंकारिता के बावजूद भी ऐसा प्रतीत होता है कि वृद्ध कुमारगुप्त की सेना को कई बार पराजय सहन करनी पड़ी थी, किन्तु स्कन्दगुप्त ने स्थिति सँभाली और पुष्यमित्रो को युद्ध में पराजित किया। इसमे कोई सन्देह नही कि वीर स्कन्दगुप्त को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने अपने वंश की 'विचलित कुललक्ष्मी' का स्तम्भन किया और विलुप्त वंशलक्ष्मी को फिर से प्रतिष्ठापित किया। अपने युवराजत्व के समय मे इतना महान् पराक्रम और साहस दिखलाने वाले स्कन्दगुप्त को एक अन्य महत्तर कार्य का भी श्रेय प्राप्त है, जो है हूणो को हराना।

स्कन्दगुप्त ने सिंहासनारूढ़ होने पर हूणो के आक्रमणो का सफलतापूर्वक सामना किया और उनको देश की सीमा के बाहर ढकेल दिया। इस महान और गौरवपूर्ण कार्य के लिए स्कन्दगुप्त की जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। जैसा कि मजूमदार महोदय ने कहा है, अपने इस कार्य के द्वारा वह इतिहास मे भारत के रक्षक के रूप मे समझा जायगा। स्कन्दगुप्त के इस कार्य को महत्त्वपूर्ण रूप से तभी समझा जा सकता है जब समकालीन घटनाओ को अपने ध्यान मे रक्खें। स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के कुछ ही समय पूर्व हूणो ने यूरोप मे अपनी प्रभुता जमा ली थी और इन बर्बरो की शक्ति के सम्मुख शक्तिशाली रोमन साम्राज्य की भी कुछ हस्ती नहीं थी। हूणो के नेता एटिला ने रेवन्ना और कुस्तुनतुनिया की राजशक्तियो का समान रूप से विरोध

१ "क्षितितलशयनदोये येन नीता त्रियामा"।

किया । स्कन्दगुप्त से पराजित कर दिये जाने पर उन्होंने फारस पर आक्रमण करके वहाँ के राजा का वध कर दिया । जहाँ कहीं भी वे जाते, मृत्यु की विभीषिका और विनाश का ताण्डव उपस्थित कर देते । लहलहाते हुए खेतों से परिपूर्ण समृद्ध गाँव और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से युक्त वैभवशाली नगर हूणों की बर्बरता के आखेट बनते और धूलि में मिला दिये जाते । यदि हम इन बातों को अपने स्मृति-पटल पर रखें तो हम भलीभाँति स्कन्दगुप्त की इस महान् विजय का महत्त्व समझ सकते हैं । साम्राज्य के प्रत्येक भाग में लोगों ने हूण आक्रमण की महान आपदा के सफलतापूर्वक टल जाने पर सुख तथा चैन की साँस ली होगी और जैसा कि एक समकालीन लेखक कहता है कि 'स्कन्दगुप्त के यश का गान संतुष्ट जनों द्वारा विभिन्न दिशाओं में गाया जाता था ।'[1] स्कन्दगुप्त ने अपने पितामह की भाँति विक्रमादित्य की जो उपाधि धारण की थी, उसका औचित्य उसके इस शौर्यपूर्ण कार्य द्वारा पूरी तरह से समझ में आ जाता है ।[2]

श्री आर० एन० दण्डेकर ने ठीक ही लिखा है कि "स्कन्दगुप्त सबसे ऊँची प्रशंसा का अधिकारी है, जो निःसन्देह हूणों को पराजित करनेवाला यूरोप और एशिया में प्रथम वीर था । श्रेष्ठ, बुद्धिमान, धर्मवत्सल, ये तीन विशेषण हैं जो मंजुश्री मूलकल्प में इस ख्यातनामा सम्राट के लिए प्रयुक्त किये गये हैं । उसका बुद्धिमत्तापूर्ण शासन, उसके शौर्यपूर्ण युद्ध, उसकी स्वदेशभक्ति-सम्बन्धी इच्छाएँ, इन सब ने स्कन्दगुप्त को सबसे महान गुप्त सम्राटों में से एक बना दिया ।' स्कन्दगुप्त ने हूणों द्वारा देश की बर्बादी को अगले पचास वर्षों तक के लिए रोककर भारत की महान् सेवा की ।'[3]

स्कन्दगुप्त केवल एक वीर योद्धा और महान विजेता ही नहीं था, एक बुद्धिमान् सुयोग्य और सफल शासक भी था । अपने प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति उसने जितने अधिक चिन्तन और विचार विमर्श के उपरान्त की थी, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शासन-सम्बन्धी कार्यों में वह कभी असावधानी नहीं प्रदर्शित करता था । उसके प्रान्तीय शासक के पुत्र चक्रपालित ने सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार में 'असीम व्यय' के बावजूद भी जिस तत्परता का परिचय दिया उसने स्कन्दगुप्त की उदार शासन-नीति पर बड़ा समुज्ज्वल प्रकाश पड़ता है । उसकी सुवर्ण मुद्रायें अपेक्षाकृत न्यून संख्या में प्राप्त हुई हैं और उनमें निकृष्ट धातुओं की कुछ मिलावट भी है जिससे पता चलता है कि उसके शासन काल में देश उतना समृद्ध नहीं था जितना कि उसके पिता के समय में था । परन्तु इस आर्थिक संकट का प्रमुख कारण था बर्बर हूणों का आक्रमण जिसका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए राज्य को प्रभूत धन व्यय करना पड़ा होगा । इतना होने पर भी स्कन्दगुप्त ने लोकहित के कार्यों पर समुचित ध्यान दिया और प्रजा के कल्याणार्थ सुराष्ट्र जैसे सुदूरस्थ प्रान्त में भी झील की मरम्मत कराई ।

पर्णदत्त का अभिलेख, जो संस्कृत भाषा की एक ललित रचना कहा जा सकता है, हमारे सम्मुख एक सुदृढ़ तथा संयुक्त साम्राज्य का दिव्य चित्र प्रस्तुत करता है, जो एक उदार तथा लोकप्रिय शासक के सशक्त शासन के अधीन था । गुप्त-साम्राज्य, जो इस समय सम्भवतः बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक फैला हुआ था, एक ऐसे स्वामी के अधीन था जिसकी आज्ञाओं का पालन उसके द्वारा नियुक्त उसके प्रान्तीय

१ सुचरितममलकीर्ति गीयते यस्य शुभ्रं दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ।
२ *Classical Age* p 27
३ *A History of the Guptas*, pp 121-122

शासक, इस विशाल प्रदेश में एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक करते थे। साम्राज्य की नींव इतनी सुदृढ थी कि व आन्तरिक धक्कों के बावजूद भी बनी रही और साहसी हूण भी इसकी दीवारों को नहीं तोड सके। लगभग एक शताब्दी तक साम्राज्य आर्यावर्त की एकता, शक्ति तथा स्वतन्त्रता के प्रतीक के रूप में खडा रहा। जिस कवि ने (४६० ई०) स्कन्दगुप्त के शान्तिमय शासन-काल का उल्लेख किया था, उसने कदाचित अतिशयोक्ति नहीं की थी। हमारे पास यह विश्वास करने के लिए कारण हैं कि विशाल साम्राज्य के ऊपर शान्ति और समृद्धि का शासन था और सांस्कृतिक उन्नति का नवीन युग अप्रतिहत रूप में असीमित भौतिक शक्ति तथा वैभव की छत्रछाया में फलता फूलता रहा। जब ४६७ ई० में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हुई तो उसे इस बात का सन्तोष था कि उसके महान पूर्वजों ने जिस साम्राज्य का निर्माण किया था उसको वह उसी अवस्था में छोड रहा था।[1] उस साम्राज्य की सीमायें किसी प्रकार संकुचित नहीं होने पायी थी। अत आभिलेखिक तथा मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि स्कन्दगुप्त का साम्राज्य बहुत विशाल था जिसमें सम्पूर्ण उत्तरी भारत—पश्चिम में काठियावाड से पूर्व में बंगाल तक सम्मिलित था।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य

स्कन्दगुप्त के अंतिम दिन—स्कन्दगुप्त का शासन-काल वस्तुत आक्रमणों एवं प्रत्याक्रमणों के कारण विचलित हो रहा था। हूणों ने यद्यपि गुप्त सम्राट से करारी पराजय प्राप्त की थी। परन्तु हूण इस हार से भी शान्त बैठने वाले नहीं थे। पूरे एशिया एवं यूरोप को आतंकित करने वाली यह बर्बर जाति भारत को भी पूर्णतया पददलित करना चाहती थी। परन्तु गुप्त सम्राटों ने इस जाति की अभिलाषा को मूर्त रूप प्राप्त होने से रोक दिया था। अभी तक विद्वानों की यह धारणा थी कि स्कन्दगुप्त से एक बार मार खा जाने पर हूण कुछ समय के लिए भारत की ओर अग्रसर होने में अवरुद्ध हो गये थे। परन्तु अब कुछ मान्यों ने इस कथन को तर्कसंगत बनाने में कोई कमी नहीं छोडी है कि स्कन्दगुप्त के शासन-काल में भारत पर कई बार हूण आक्रमण हुए। इन आक्रमणों ने स्कन्दगुप्त की शक्ति को झकझोर दिया था। अपने शासन की संध्या बेला में वह इन हमलों का डट कर मुकाबला न कर सका। इन्हीं आक्रमणों के कारण उसे अन्त में हूणों से पराजय खानी पडी। डॉ० स्मिथ ने अपने मत के समर्थन में लिखा है—

"He was unable to continue the successful resistance which he had offered in the earlier days of his rule and was forced at last to succumb to the repeated attacks of the foreigners"

डॉ० आर० डी० बनर्जी ने तो लिखा है कि संभवत स्कन्दगुप्त हूणों से लडते हुए ही मारा गया था। देखिए उसके शब्द—

'The subsequent history of the reign of Skandagupta is not known to us but the Huna *invasions* continued and most probably Skandagupta lost his life in trying to stem the mighty flood of the third invasion' —*Dr R D Banerji*

इन कल्पनाओं का आधार डॉ० बी० पी० सिन्हा ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने

१ *Classical Age*, p 28

कहा है कि उपर्युक्त पूरे मत के पीछे केवल मुद्राशास्त्र का ही हाथ है। स्कन्दगुप्त के प्रारम्भिक काल के गुरुतर सिक्के हमे उसके अन्तिम शासन-काल मे नहीं प्राप्त होते। सिक्कों का घिस जाना या कम मूल्य के सिक्कों का प्रचारित करना यह प्रकट करता है कि शासन अन्तिम दिनो मे कठोर समय से गुजर रहा था। सिक्कों की विशिष्टता के आधार पर उपकल्पना का निर्माण वस्तुत कोरी कल्पना के सागर में डुबकी लगाना पड़ता है। बहुत कम ही गोताखोर को समुद्र की तह से मोती प्राप्त होते हैं। डॉ० स्मिथ एव डॉ० बनर्जी आदि विद्वानो का यह कहना कि हूण आक्रमणो के कारण से स्कन्दगुप्त का कुछ भाग विदेशी प्रभुत्व में आ गया था, पूरे रूप से असिद्ध हो चुका है।

"If Chandragupta Maurya liberated the country from the yoke of the servitude of the Greeks, if Chandragupta II destroyed the power of foreign Sakas, Skandagupta saved the empire and the country from the occupation of Hunas"

A History of the Guptas B P Sinha obverse Allen

समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य एव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पक्ति म आने वाला यह सम्राट् भारत की सुरक्षा का बहुत बडा कवच सिद्ध हुआ। इसके शस्त्रों की झनकार स भारत पूर्णतया ५० वर्षों तक विदेशी आक्रमणा से मुक्त रहा था।

कुमारगुप्त-प्रथम की मृत्यु के पश्चात् महान् गुप्त वश की पक्ति मे विवाद उपस्थित हो जाता है। वशावली के अभाव मे हमे भिन्न भिन्न स्रोता के आधार पर एक सतोषजनक सूची बनाने को तत्पर होना पडता है। ऐतिहासिक तथ्यो के मौन के कारण विभिन्न इतिहासकारो ने विभिन्न सूचियाँ तैयार की हैं। उनकी वशावलियाँ परस्पर पृथक् हैं। दण्डेकर महोदय ने अपनी पुस्तक 'A History of the Guptas' में नरेशो का क्रम निम्न प्रकार से रखा है—

(१) कुमारगुप्त प्रथम
(२) स्कन्दगुप्त
(३) पुरुगुप्त
(४) नरसिंह गुप्त बालादित्य
(५) कुमारगुप्त द्वितीय
(६) बुद्धगुप्त
(७) तथागतगुप्त
(८) बालादित्य भानुगुप्त
(९) वज्र
(१०) विष्णुगुप्त
(११) वैन्यगुप्त
(१२) द्वादशादित्य

परन्तु डॉ० बी० पी० सिन्हा (B P Sinha) ने आधुनिक अन्वेषणों एवं अनुसधान के आधार पर परवर्ती महान गुप्तो की विभिन्न सूची तैयार की है। इनके अनुसार क्रम इस प्रकार था—

(१) कुमारगुप्त प्रथम
(२) पुरुगुप्त
(३) स्कन्दगुप्त
(४) कुमारगुप्त द्वितीय
(५) बुद्धगुप्त
(६) नरसिंहगुप्त प्रथम
(७) वैन्यगुप्त
(८) कुमारगुप्त-तृतीय
(९) विष्णुगुप्त

डॉ० बी० पी० सिन्हा की वशावली सत्य के समीप अधिक प्रतीत होती है अतएव हम उन्हीं के क्रम द्वारा महान् गुप्त नरेशो का वर्णन करेंगे।

कुमारगुप्त-द्वितीय

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात सम्भवत उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय सिंहासन पर आसीन हुआ। दण्डकर महोदय एव अन्य विद्वानों ने नरसिंहगुप्त बालादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त द्वितीय को माना है, परन्तु इन विद्वानो की यह धारणा अनुचित है। कुमारगुप्त की एकात्मकता युवान च्वाग द्वारा वर्णित शक्रादित्य से की जा सकती है। इसी शक्रादित्य ने नालन्दा मठ का निर्माण कराया था। डॉ० रायचौधरी ने कुमारगुप्त द्वितीय की एकात्मकता सारनाथ लेख मे उल्लिखित कुमारगुप्त से स्थापित की है। इस नरेश के शासन काल म व्यापार की पर्याप्त प्रगति हो रही थी। तभी मे तो जुलाहो की एक श्रेणी ने दशपुर के सूय मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। दण्डेकर न इस निर्माण की समीक्षा मे लिखा है–

"कुमारगुप्त द्वितीय के समय मे रेशम के जुलाहो की श्रेणी को सूय मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए पर्याप्त समय, धन और शान्ति मिल गई। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मालवा को गुप्तो ने पुन प्राप्त कर लिया था। व्यापारिक कार्यों को महान् प्रोत्साहन दिया जाता था और फलस्वरूप रेशमी जुलाहो की श्रेणी इस युग मे काफी समृद्ध हो गई थी। य तथ्य इस बात की ओर सकेत करते हैं कि किस प्रकार साम्राज्य क पुनर्निर्माण का काय कुमारगुप्त द्वितीय के समय मे भी निरन्तर प्रगति कर रहा था।"

मजुश्री मूलकल्प मे बालारण्य की एकात्मकता कुमारगुप्त द्वितीय से की गई है। परन्तु इस एकात्मकता के प्रेरक दण्डकर महोदय ही हैं। उनके अनुसार पूर्वी भारत भी गुप्त साम्राज्य के अन्तगत था। कुमारगुप्त को 'धमवत्सल' होने की भी सज्ञा प्रदान की गई है।

मुद्राशास्त्र के अध्ययन से हमे कुमारगुप्त के नाम की दो प्रकार की मुद्राओ का पता चलता है। इन मुद्राओं के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि इन नरेशो ने भिन्न समया म राज्य किया था क्योकि सिक्को की शुद्धता मे अत्यधिक महान् अन्तर प्रतीत होता है। प्रथम वग की मुद्रायें ७६ प्रतिशत को मात्रा मे स्वण रखती हैं जब कि दूसरे वग की मुद्रायें केवल ५४% स्वण की बनी हुई हैं। इन दोनो की गणना का आधार ब्रिटिश सग्रहालय की प्रयोगशाला है। दूसरे वर्ग की मुद्राएं एक विशिष्ट अन्तर को अपने मे सँजोए हुए हैं। ऊर्ध्व भाग (obverse) मे नरेश के बीच मे गो या ज अकित है जबकि प्रथम वग की मुद्राओ मे ऐसा कोई अक्षर उत्कीण नहीं है। इस विशिष्टता से भी यह दोनों वर्ग दो विभिन्न नरशों की ओर निर्देश करते हैं। अन्तर का दायरा यही तक ही सीमित नही हैं, बल्कि दोनो मुद्राओ के लेख की लिपि भी भिन्न कालो की प्रतीत होती है। एलन Allen) महोदय ने इन लिपियो का सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात यह निष्कष निकाला है कि प्रथम वर्ग की मुद्राएँ दूसरे वर्ग की तुलना मे प्रारम्भिक काल की है। डा० बी० पी० सिन्हा ने भी इन दो वर्गों की मुद्राओं के वैषम्य की ओर सकेत करत हुये लिखा है—

"The two types of coins are so different in finish, style, purity of metal, legend on the inscription and paleography that except for the common reverse title 'Kramaditya' and 'Ku' in the obverse is nothing to take them as issued by one and the same king"

इस प्रकार डॉ० बी० पी० सिन्हा के अनुसार कुमारगुप्त तृतीय भी महान्

कहा है कि उपयुक्त पूरे मत के पीछे केवल मुद्राशास्त्र का ही हाथ है। स्कन्दगुप्त के प्रारम्भिक काल के गुरुतर सिक्के हमे उसके अन्तिम शासन-काल मे नहीं प्राप्त होते। सिक्कों का घिस जाना या कम मूल्य के सिक्को का प्रचारित करना यह प्रकट करता है कि शासन अन्तिम दिनो मे कठोर समय से गुजर रहा था। सिक्कों की विशिष्टता के आधार पर उपकल्पना का निर्माण वस्तुत कोरी कल्पना के सागर में डुबकी लगाना पडता है। बहुत कम ही गोताखोर को समुद्र की तह से मोती प्राप्त होते हैं। डॉ० स्मिथ एव डॉ० बनर्जी आदि विद्वाना का यह कहना कि हूण आक्रमणो के कारण से स्कन्दगुप्त का कुछ भाग विदेशी प्रभुत्व मे आ गया था, पूरे रूप से असिद्ध हो चुका है।

"If Chandragupta Maurya liberated the country from the yoke of the servitude of the Greeks, if Chandragupta II destroyed the power of foreign Sakas, Skandagupta saved the empire and the country from the occupation of Hunas"

A History of the Guptas B P Sinha obverse Allen

समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य एव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पंक्ति मे आने वाला यह सम्राट् भारत की सुरक्षा का बहुत बडा कवच सिद्ध हुआ। इसके शस्त्रो की झनकार से भारत पूर्णतया ५० वर्षों तक विदेशी आक्रमणो से मुक्त रहा था।

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् महान गुप्त वश की पंक्ति मे विवाद उपस्थित हो जाता है। वशावली के अभाव मे हमे भिन्न भिन्न स्रोतो के आधार पर एक सतोषजनक सूची बनाने को तत्पर होना पडता है। ऐतिहासिक तथ्यो के मौन के कारण विभिन्न इतिहासकारो ने विभिन्न सूचियाँ तैयार की हैं। उनकी वशावलियाँ परस्पर पृथक् हैं। दण्डेकर महोदय ने अपनी पुस्तक 'A History of the Guptas' में नरेशो का क्रम निम्न प्रकार से रखा है—

(१) कुमारगुप्त प्रथम
(२) स्कन्दगुप्त
(३) पुरुगुप्त
(४) नरसिंह गुप्त बालादित्य
(५) कुमारगुप्त द्वितीय
(६) बुद्धगुप्त
(७) तथागतगुप्त
(८) बालादित्य भानुगुप्त
(९) वज्र
(१०) विष्णुगुप्त
(११) वन्यगुप्त
(१२) द्वादशादित्य

परन्तु डॉ० बी० पी० सिन्हा (B P Sinha) ने आधुनिक अन्वेषणों एव अनुसधान के आधार पर परवर्ती महान गुप्तो की विभिन्न सूची तैयार की है। इनके अनुसार क्रम इस प्रकार था—

(१) कुमारगुप्त प्रथम
(२) पुरुगुप्त
(३) स्कन्दगुप्त
(४) कुमारगुप्त द्वितीय
(५) बुद्धगुप्त
(६) नरसिंहगुप्त प्रथम
(७) वन्यगुप्त
(८) कुमारगुप्त-तृतीय
(९) विष्णुगुप्त

डॉ० बी० पी० सिन्हा की वशावली सत्य के समीप अधिक प्रतीत होती है अतएव हम उन्हीं के क्रम द्वारा महान् गुप्त नरेशो का वर्णन करेंगे।

कुमारगुप्त-द्वितीय

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात सम्भवत उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय सिंहासन पर आसीन हुआ। दण्डकर महादय एव अन्य विद्वानों ने नरसिंहगुप्त बालादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त द्वितीय को माना है, परन्तु इन विद्वानो की यह धारणा अनुचित है। कुमारगुप्त की एकात्मकता युवान च्वाग द्वारा वर्णित शक्रादित्य से की जा सकती है। इसी शक्रादित्य ने नालन्दा मठ का निर्माण कराया था। डॉ० रायचौधरी ने कुमारगुप्त द्वितीय की एकात्मकता सारनाथ लेख मे उल्लिखित कुमारगुप्त से स्थापित की है। इस नरेश के शासन काल मे व्यापार की पर्याप्त प्रगति हो रही थी। तभी से तो जुलाहो की एक श्रेणी ने दशपुर के सूय मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। दण्डेकर ने इस निर्माण की समीक्षा में लिखा है–

"कुमारगुप्त द्वितीय के समय मे, रेशम के जुलाहो की श्रेणी को सूय मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए पर्याप्त समय, धन और शान्ति मिल गई। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मालवा को गुप्तो ने पुन प्राप्त कर लिया था। व्यापारिक कार्यों को महान् प्रोत्साहन दिया जाता था और फलस्वरूप रेशमी जुलाहो की श्रेणी इस युग मे काफी समृद्ध हो गई थी। ये तथ्य इस बात की ओर सकेत करते हैं कि किस प्रकार साम्राज्य के पुनर्निर्माण का काय कुमारगुप्त द्वितीय के समय मे भी निरन्तर प्रगति कर रहा था।"

मजुश्री मूलकल्प के बालारण्य की एकात्मकता कुमारगुप्त द्वितीय से की गई है। परन्तु इस एकात्मकता के प्रेरक दण्डेकर महोदय ही हैं। उनके अनुसार पूर्वी भारत भी गुप्त साम्राज्य के अन्तगत था। कुमारगुप्त को 'धमवत्सल' होने की भी सज्ञा प्रदान की गई है।

मुद्राशास्त्र के अध्ययन से हमे कुमारगुप्त के नाम की दो प्रकार की मुद्राओ का पता चलता है। इन मुद्राओ के अध्ययन मे यह भी पता चलता है कि इन नरेशो ने भिन्न समयो म राज्य किया था क्योकि सिक्का की शुद्धता मे अत्यधिक महान अन्तर प्रतीत होता है। प्रथम वग की मुद्रायें ७६ प्रतिशत की मात्रा मे स्वण रखती हैं जब कि दूसरे वर्ग की मुद्रायें केवल ५४% स्वण की बनी हुई हैं। इन दोनो की गणना का आधार ब्रिटिश सग्रहालय की प्रयोगशाला है। दूसरे वर्ग की मुद्राए एक विशिष्ट अन्तर को अपने म सँजोए हुए हैं। उध्व भाग (obverse) मे नरेश के बीच मे गो या ग अकित है, जबकि प्रथम वग की मुद्राओ मे ऐसा कोई अक्षर उत्कीण नहीं है। इस विशिष्टता से भी यह दोनों वग दो विभिन्न नरेशों की ओर निर्देश करते हैं। अन्तर का दायरा यही तक ही सीमित नही हैं, बल्कि दोनो मुद्राओ के लेख की लिपि भी भिन्न कालो की प्रतीत होती है। एलन Allen) महोदय ने इन लिपियो का सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात यह निष्कष निकाला है कि प्रथम वर्ग की मुद्राएँ दूसरे वर्ग की तुलना में प्रारम्भिक काल की हैं। डॉ० बी० पी० सिन्हा ने भी इन दो वर्गों की मुद्राओं के वैषम्य को ओर सकेत करत हुये लिखा है––

"The two types of coins are so different in finish, style, purity of metal, legend on the inscription and paleography that except for the common reverse title Kramaditya' and 'Ku' in the obverse is nothing to take them as issued by one and the same king"

इस प्रकार डॉ० बी० पी० सिन्हा के अनुसार कुमारगुप्त तृतीय भी महान्

गुप्त वश की शाखा का सदस्य था । इस कुमारगुप्त-तृतीय के विषय में यथास्थान वर्णन किया जायेगा । कुमारगुप्त द्वितीय का शासन सम्भवत ४७४ ई० मे समाप्त हुआ था।

बुद्धगुप्त

कुमारगुप्त द्वितीय के पश्चात् बुद्धगुप्त ने सिहासन धारण किया था। कुछ विद्वानो की धारणा है कि बुद्धगुप्त ने अपना सिहासन बलात प्राप्त किया था। उसने शक्रादित्य के जीवन-काल मे ही विद्रोह द्वारा सिहासन पर अधिकार जमाया था, इस प्रश्न पर एक सम्मति के अभाव मे हम कुछ नही कह सकते कि कुमारगुप्त का बुद्धगुप्त से किस प्रकार का सम्बन्ध था । इस पर भी तथ्यो का अभाव है । अल्तेकर महोदय ने उसे कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र माना है । अल्तेकर महोदय की सम्मति का आधार युवान च्वाग का कथन है जिसके अनुसार बुद्धगुप्त शक्रादित्य का वशज था । शक्रादित्य को अल्तेकर न कुमारगुप्त प्रथम माना है और इसी एकात्मकता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है । डॉ० बी० पी० सिन्हा एव अन्य विद्वानो ने कुमारगुप्त द्वितीय की शक्रादित्य से एकात्मकता स्थापित की है । ऐसी एकात्मकता के आधार पर उन्होंने बुद्धगुप्त को कुमारगुप्त-द्वितीय का पुत्र माना है । नालदा सील की प्राप्ति से हमारी अवधारणा की उपकल्पना व्यर्थ सिद्ध हो गई है । इसके अनुसार पुरुगुप्त ही बुद्धगुप्त का पिता था । सारनाथ अभिलेख मे बुद्धगुप्त की सबसे प्राचीन तिथि ४७६ ई० दी हुई है। इससे यही अनुमान निकाला जा सकता है कि बुद्धगुप्त के शासन का प्रारम्भ ४७५ ई० के बाद ही से हो गया था । ४९५ के आसपास तक उसका शासन भारत के एक विस्तृत प्रदेश पर स्थापित रहा था ।

उसके उत्कीर्ण लेखो से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व मे बगाल से लेकर पश्चिम मे नर्मदा के किनारे तक उसका आधिपत्य था । ये सारनाथ (उ०प्र०), एरण (म०प्र०) तथा दामोदर (बगाल) मे पाए गए हैं ।

छठी शताब्दी के प्रारम्भ मे या पाँचवी के अन्त मे हूणो ने पुन भारतवर्ष में आतक एव रक्त का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया था । तोरमाण का एरण का लेख जो कि उसने शासन-काल के प्रथम वर्ष मे प्रचारित किया गया था, निश्चय रूप से बुद्धगुप्त के एरण अभिलेख के बाद ही, जिसे उसने ४८४-८५ ई० मे प्रचारित किया था, हूणो की गुप्त-साम्राज्य के एक भाग पर प्रभुसत्ता का सूचक है । यह विजय बुद्धगुप्त की मृत्यु के पश्चात हूणो को प्राप्त हुई होगी या सम्भवत बुद्धगुप्त के अन्तिम दिनों में। वह वस्तुत अपने जीवन पर अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए जागरूक रहा होगा। लेकिन बुद्धगुप्त के पश्चात् महान् गुप्त वश वस्तुत महान् नही रह गया। उसका राज्य एक छोटी-सी सीमा मे परिमित हो गया था । डॉ० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

"The death of Budhagupta constitutes turning point in the history of empire and India"

बुद्धगुप्त के उत्तराधिकारी

बुद्धगुप्त के पश्चात गुप्त वंश का पतन बड़ी द्रुतगति से होना प्रारम्भ होता है। समुद्रगुप्त एव चन्द्रगुप्त द्वितीय के वशजो की ऐसी परिस्थिति देखकर बड़ी ही निराशा होती है । स्वय डॉ० बी० पी० सिन्हा ने कहा है—

"Now the later history of Magadh read in contrast to Mauryan greatness and Gupta splendour read like a parody of its own past" —B P Sinha

नरसिंहगुप्त बालादित्य

दण्डेकर महोदय ने ह्वेनसाग के चरित के आधार पर बुद्धगुप्त का उत्तराधिकारी तथागतगुप्त को माना है। उन्होंने नरसिंहगुप्त बालादित्य को पुरुगुप्त का उत्तराधिकारी माना था। परन्तु डॉ० सिन्हा ने नूतन खोजो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि बुद्धगुप्त के उपरान्त ही नरसिंहगुप्त बालादित्य सिंहासनारूढ हुआ था। ये दोनो परस्पर औरस भ्राता थे। नरसिंहगुप्त के सिक्के भी प्राप्त हुए है। इस सिक्को के ऊर्ध्व भाग मे 'नर' नामक शब्द उत्कीर्ण है और अधोभाग मे श्री बालादित्य उल्लिखित है। ये स्वर्ण मुद्राए इसी सम्राट द्वारा प्रचारित की गई थी, ऐसी पूर्ण सम्भावना है।

नरसिंहगुप्त के ही दरबार मे वसुबन्धु नामक दार्शनिक वर्तमान था, अतएव परमार्थ ने बालादित्य की एकात्मकता नरसिंहगुप्त बालादित्य ने ही स्थापित की है। इसी प्रकार 'आर्य मजुश्री मूलकल्प' मे अकित बाल की एकात्मकता भी इसी नरेश से कर सकते है।

जो विद्वान् नरसिंहगुप्त को पुरुगुप्त का उत्तराधिकारी सिद्ध करते हैं, वे उपर्युक्त एकात्मकताओ को नही मानते हैं। ह्वेनसाग के बालागुप्त के साथ वह नरसिंहगुप्त बालादित्य का समीकरण नही स्वीकार करते। वसुबन्धु के काल निश्चयन के विषय मे विद्वानों मे मतभेद है। इन विपक्षियो ने वसुबन्धु को स्कन्दगुप्त के दरबार का दार्शनिक माना है, अतएव परमार्थ द्वारा स्थापित एकात्मकता भी उन्हें अस्वीकार है।

परन्तु इन इतिहासकारो के तर्कों मे कोई विशेष ठोसपन नही प्रतीत होता है। अतएव हमे डॉ० बी० पी० सिन्हा के ही मत को मानते हुए आगे बढना चाहिए। नरसिंहगुप्त बालादित्य का साम्राज्य बगाल से अवध तक व्याप्त था अयोध्या साम्राज्य की मुख्य नगरी थी। अवध मे उसकी मुद्राएँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हुई हैं और कालीघाट सचयन मे इनकी सख्या पर्याप्त थी। नादिया जिले मे राजघाट से एक सुवर्ण मुद्रा प्राप्त हुई है। इसी नरेश के कई सिक्के नाहर सग्रह मे प्राप्त हैं। कलकत्ते की बगीय साहित्य परिषद के सचयन मे भी इस सम्राट् की कुछ मुद्राएँ हैं। बगाल ही के वीरभूम जिले मे एक अन्य मुद्रा प्राप्त हुई है।

इस प्रकार इस नरेश का साम्राज्य पर्याप्त विस्तृत था और इसने गुप्त साम्राज्य के लुप्त गौरव को पुनर्स्थापित करने के लिए पुन प्रयास किया था। इसको अपने प्रयत्न मे पर्याप्त सफलता भी हस्तगत हुई थी। डॉ० दण्डेकर ने कहा है—

' नरसिंहगुप्त ने काफी अशो मे गुप्त साम्राज्य के भाग्य को लौटाया। 'मजुश्री मूलकल्प' मे कहा गया है कि बालादित्य का शासन-काल शत्रुओ और कण्टको से रहित नि सपत्न अकण्टकम' था। यह स्वाभाविक है कि इस कथन को हम काव्यात्मक अतिशयोक्ति समझें, क्योकि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हम इसे पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु उसके सिक्को की अधिक सख्या और उनके भारी वजन अवश्य इस धारणा का समर्थन करते हैं कि नरसिंहगुप्त ने अपने वश के विलुप्त गौरव को पुन अधिगत करने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयत्न मे उसे कुछ अश तक सफलता

भी प्राप्त हुई। य सिक्के बगाल मे बिहार या उत्तर प्रदेश की अपेक्षा अधिक सख्या मे पाये गए हैं।

मजुश्री मूलकल्प ने इस सम्राट् को 'चक्रवर्तिन्' की सज्ञा दी है। इससे यह स्पष्ट है कि अभी गुप्त साम्राज्य एकदम पतनोमुख नही हो गया था, बल्कि जिन भूभागो को शत्रुओ ने विजित भी कर लिया था, उसे उस सम्राट् ने वापस लेकर वश की लुप्त मर्यादा को फिर से स्थापित करने का प्रयास किया।

द्रोणसिंह की समस्या—एक अभिलेख म यह उल्लिखित है कि सम्राट ने द्रोणसिंह को महाराज की उपाधि से विभूषित किया था। इस काय के लिए स्वय सम्राट ने वल्लभी की यात्रा की थी। इस सम्राट के नाम का उल्लेख हमे नही प्राप्त होता, अत एव इसके अभाव मे इतिहासकारो ने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का कमाल दिखाया है। जैकसन (Jackson) ने 'Cambridge History of India' मे लिखा है कि यह सम्राट् यशोधमन का एक पूवज ही रहा होगा। यशोधमन मालवा के एक नय शक्ति होते हुए राज्य का स्वामी था। फ्लीट (Fleet) ने यशोधमन को ही द्रोणसिंह का स्वामी माना है। हानली (Hoernle) ने लिखा है कि उस समय यशोधमन का मालवा मे शासन ही नही था। अतएव वह कसे द्रोणसिंह का स्वामी हो सकता है? कनिंघम (Cunninghan) की सम्मति मे बुद्धगुप्त द्रोणसिंह का स्वामी था। डा० बी० पी० सिनहा ने नरसिंहगुप्त बालादित्य को ही यह सम्राट् माना है। सम्राट ने उस समय जब कि द्रोणसिंह ने हूणो के विरुद्ध सफलतापूवक अभियान किया था, वल्लभी के मैत्रक वश के सस्थापक को प्रसन्न करने के लिए यह पुरस्कार प्रदान किया था। इस व्यक्तिगत यात्रा के पीछे एक कूटनीति की चाल का दाँव पच था। इसी दावपच को समझाते हुए डॉ० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

"The event may be interpreted as a diplomatic move of Narsimhgupta to rally round him the rising and erstwhile independent dynasty of Maitrakas of Valabhi"

यह सब जानते हैं कि मैत्रक महान् गुप्त वशीय सम्राटो के सामन्त थ। अतएव जिस स्वामी ने अपने सामन्त पर महाराज का मुकुट रखा था, वह स्वामी गुप्त सम्राट नरसिंहगुप्त बालादित्य ही सम्भवत था।

प्रकटादित्य की समस्या—तोरमाण ने हूणो की विशाल सेना लेकर गुप्त साम्राज्य को पदनलित करना प्रारम्भ कर दिया था। हूणो को जहाँ गुप्त साम्राज्य की पतनोमुख अवस्था से अपनी सीमाएँ विस्तृत करने का अवसर प्राप्त हुआ था वहाँ देश की आन्तरिक विघटनकारी प्रवत्तियो ने भी उन्हें इस काय के लिए आमंत्रित किया। प्रकारारण्य नाम का नरसिंहगुप्त का एक प्रतिद्वन्द्वी कारागार के सीखचों मे बन्द था। अतएव तोरमाण ने जब ५०३ ई० के लगभग नरसिंहगुप्त बालादित्य को पराजित किया तो उसने इस प्रतिद्वन्द्वी को कारागार से मुक्त किया और उसे काशी में सिंहासनारूढ किया।

प्रकटादित्य की एकात्मकता के विषय मे डॉ० बी० पी० सिन्हा का कहना है कि यह नरसिंहगुप्त का पुत्र था। इसकी माता का नाम महारानी धवला देवी था। कुमारगुप्त-तृतीय भी इसी नरेश का पुत्र था, परन्तु यह महारानी श्री मित्रदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। किसी कारणवश सम्राट ने प्रकटादित्य को कारागार में डा

दिया था। तोरमाण ने परिवार की फूट का पूरा लाभ उठाना चाहा, क्योंकि घर का भेदी ही लंका ढहा सकता है।

वैन्यगुप्त

दण्डेकर ने यह माना है कि बुद्धगुप्त के पश्चात् वैन्यगुप्त नामक नरेश सिंहासनारूढ हुआ। उसके कालक्रमानुसार यह ५०६–५०७ ई० तक सिंहासन पर रहा। परन्तु डॉ० बी० पी० सिन्हा ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो डॉ० साहब की कल्पना की उड़ान ही प्रतीत होता है। उनके अनुसार नरसिंहगुप्त की पराजय के पश्चात् गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर तोरमाण की कठपुतली ने शासन सूत्र सँभाला था। तोरमाण या तो कुमारगुप्त द्वितीय का या बुद्धगुप्त का पुत्र था, अतएव शासन का वह भी अधिकारी था। परन्तु नरसिंहगुप्त की विशिष्ट प्रतिभा ने उसे सिंहासन से च्युत कर दिया। इस प्रकार वैन्यगुप्त सदैव इस आशा में था कि कैसे सिंहासन प्राप्त किया जाये। जब नरसिंहगुप्त परास्त हो गया और किन्हीं जंगलों में जाकर छिप गया, तब वैन्यगुप्त ने मगध का शासन सँभाला। तोरमाण के प्रति कृतज्ञता का प्रदर्शन तो उसने पग-पग पर उसके आदेश मानकर किया। एक विदेशी आक्रामक की इससे बढ़कर श्रेष्ठ परिस्थिति और क्या हो सकती है। वैन्यगुप्त का शासन-काल ५०४ से ५१४ ई० के लगभग रहा होगा, ऐसी डा० सिन्हा की राय है।

डॉ० सिन्हा ने इस अजीबोगरीब थ्योरी (theory) के लिए मुद्राशास्त्र का आश्रय लिया है। इसी मुद्राशास्त्र के साक्ष्य के विवेचन के आधार पर नरसिंहगुप्त ने दो बार राज्य किया था, ऐसा ज्ञात होता है। नरसिंहगुप्त के सिक्के दो प्रकार के पाए गए हैं। ब्रिटिश म्यूजियम की प्रयोगशाला ने प्रथम वर्ग के नरसिंहगुप्त के सिक्कों में (५६०–B M C) ७१% सुवर्ण की मात्रा देखी है, नरसिंहगुप्त के दूसरे वर्ग के सिक्के (५६५–B M C) केवल ५८% सुवर्ण से युक्त हैं। वैन्यगुप्त द्वादशादित्य के सिक्कों में (५८६) ७३% सुवर्ण प्राप्त हुआ है। इससे डॉ० सिन्हा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन दो वर्गों के सिक्कों के बीच में वैन्यगुप्त के सिक्के रखे जाते हैं। अतएव वैन्यगुप्त का राज्य नरसिंहगुप्त के राज्यकाल के मध्य में ही स्थापित हुआ था।

कुछ विद्वानों ने ह्वेन के समय में आए हुए चीनी यात्री द्वारा वर्णित तथागत की एकात्मकता इसी वैन्यगुप्त से की है। यह एकात्मकता मानने में हमें कोई संकोच नहीं है।

नरसिंहगुप्त का पुनरासीन होना

वैन्यगुप्त का सिंहासन-काल काफी अस्थायी रहा। इसकी पुष्टि हम इस नरेश के सिक्कों से होती है। केवल तीन ही मुद्राएं अब तक इस नरेश द्वारा प्रचारित हमें प्राप्त हुई हैं। हम मुद्राओं एवं अभिलेखों से यह पता चलता है कि विजयसेन वैन्यगुप्त एवं गोपचन्द्र दोनों का सामंत था। गुनैगढ़ ताम्र पत्र में विजयसेन ने अपने स्वामी वैन्यगुप्त की सील प्रयुक्त की थी जबकि मल्लसारूल ताम्रपत्र विजयसेन की ही सील द्वारा अंकित है। इन सीलों से तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोपचन्द्र के समय में विजयसेन की स्थिति वैन्यगुप्त के समय की स्थिति से ऊंची थी। गोपचन्द्र वर्धमान भुक्ति एवं पूर्वी बंगाल का शासक था क्योंकि मल्लसारूल प्लेट तथा फरीदपुर प्लेट उसको इस स्थिति से हमें अवगत कराते हैं। धर्मादित्य की ताम्र प्लेटें भी हमें

इसी स्थान से प्राप्त हुई हैं। पार्जिटर (Pargiter) ने कहा है कि गोपचंद्र के पूर्व धर्मादित्य सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। लेकिन रमेशचन्द्र मजूमदार की धारणा है और जो धारणा बलवती है कि धर्मादित्य के पूर्व ही गोपालचन्द्र सिंहासनारूढ़ हुआ था। इन तथ्यों से तो हमें यही निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि गोपचन्द्र ने या तो वैन्यगुप्त के शासन को बंगाल से उखाड़ फेंका था या उसके उत्तराधिकारी-रूप में शासन प्राप्त किया था। हमने यह पहले से ही माना है और यही डॉ० बी० पी० सिंहा का भी कहना है कि गोप एवं गोपचन्द्र एक ही व्यक्ति के नाम हैं। गोप ने आर्यमंजुश्री मूलकल्प के अनुसार नरसिंहगुप्त की सहायता की थी, प्रकटादित्य को कारागार में डालने के लिए। अन्त में वैन्यगुप्त को पदच्युत करने के लिए नरसिंहगुप्त ने उसके विरुद्ध विरोध का संगठन करना प्रारम्भ किया। गोपराज के अभिलेख से हमें यह पता चलता है कि भानुगुप्त तथा गोपराज ने मिलकर मालवा में हूणों के आधिपत्य के विरोध में भीषण संग्राम किया था। यह संग्राम हूणों के भारत में बढ़ते हुए प्रभाव को अवरुद्ध करने के लिए किया गया था। संग्राम के परिणाम के विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते, परन्तु इतना तो निश्चय है कि इसने मिहिरकुल को पर्याप्त परेशानी में डाल दिया था। अन्त में बंगाल में वैन्यगुप्त का अधिकार उखाड़ फेंका गया और मगध पर भी अन्य भारतीय नरेशों ने प्रभुत्व जमा लिया और वैन्यगुप्त का प्रभुत्व नष्ट हो गया। वैन्यगुप्त के शासन की समाप्ति पर पुनः एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें नरसिंहगुप्त अपने अधिकार को संचालित कर सकता था और अपनी प्रभुता मगध पर स्थापित कर सकता था। लगभग १० वर्षों तक वह छिपा-छिपा घूमता रहा था और अन्त में ५१८ ई० में उसका भाग्य पुनः उदित हुआ, बिना किसी युद्ध के नरसिंहगुप्त को मगध का शासन प्राप्त हो गया एवं हूण नरेश मिहिरकुल ने ऐसी अवस्था को देखकर गुप्त सम्राट् से समझौता कर लिया। जिससे दोनों नरेशों ने एक दूसरे की प्रभुता का सम्मान करना आवश्यक मान लिया। युवान च्वांग ने तो कहा है कि नरसिंहगुप्त ने हूण नरेश की प्रभुता स्वीकार कर ली थी और उसे वार्षिक कर-दान देना अंगीकार कर लिया था।

नरसिंहगुप्त बौद्ध धर्म का उपासक था। जब तोरमाण की मृत्यु के पश्चात् मिहिरकुल ने हूणों का नेतृत्व सँभाला तो युद्ध के बादल फिर से घिरने लगे। मिहिरकुल बौद्ध धर्म के विरुद्ध अन्याय की नीति का अनुगमन कर रहा था। उसकी धर्म प्रताड़न की नीति से जनता एवं नरेश परेशान हो चले थे। अतएव बालादित्य ने अपने ऊपर से हूणों की प्रभुता नष्ट करने के लिए इस बहाने का प्रयोग किया। नरसिंहगुप्त के विद्रोह की गंध पाकर ही इस हूण नरेश ने मगध की दिशा में अपने सम्प्रचलन भेजने आरम्भ कर दिए। मिहिरकुल की महती सैनिक शक्ति के विरोध में नरसिंहगुप्त की छोटी सी सेना ठहर न पाई। नरसिंहगुप्त को करारी पराजय का सामना करना पड़ा। अन्त में लाखों की संख्या में अपनी प्रजा के साथ उसने राजधानी तजकर बंगाल की खाड़ी में शरण ग्रहण की। मिहिरकुल ने बालादित्य को सम्भवतः ५१९-२० ई० के आसपास ही हराया था। उपर्युक्त लिखित विवरण हमें युवान च्वांग तथा कल्हण की राजतरंगिणी से प्राप्त हुआ है। यशोवर्मन ने अन्त में मिहिरकुल को पराजित कर दिया था।

स्मिथ (Smith) ने युवान च्वांग द्वारा दिए गए विवरण की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है। उनके अनुसार—

"The weight of evidence is now decidedly in favour of the rejection of Yoanchwang's story"

कुछ विद्वानो की धारणा है कि नरसिंहगुप्त एव यशोधमन ने एक सम्मिलित प्रयास से हूणों को हराया था। स्मिथ के यही विचार हैं—

"Yashodharman and Narsimhagupta formed an alliance against the Huns"

परन्तु एलन न इस मत का नही माना है, क्योंकि ऐतिहासिक तथ्यो से यह मेल नही खाता—

"As contrary to the evidence of both our authorities Yuanchwang and the inscription"

फ्लीट (Fleet) ने कहा है कि पश्चिम मे मिहिरकुल को यशोधमन ने हराया था और मगध की दिशा मे बालादित्य ने। इस प्रकार दो विभिन्न कालो मे दो विभिन्न हारें हुई थी।

"Mihirkula was overthrown by Yashodharman in the west of Baladitya in the direction of Magadha"

हानली (Hoernle) ने कहा है कि नरसिंहगुप्त के सामन्त के रूप मे ही यशोधमन विष्णुवर्धन ने मिहिरकुल को पराजित किया था।

हेरास (Heras) के अनुसार मिहिरकुल को पहले तो यशोधमन न हराया था और बाद म नरसिंहगुप्त बालादित्य ने।

कुछ विद्वानो ने यशोधमन की मिहिरकुल पर विजय का समय ५३३ ई० निश्चित किया है।

गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण—गुप्त साम्राज्य के उदय की भाँति उसका पतन भी भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वह गुप्त साम्राज्य जिसे समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपन पराक्रम और शौय से खडा किया था, वह कालान्तर मे पतन के गर्भ मे चला गया। इस विशाल साम्राज्य के पतन और विनाश के कई कारण थे जिन्हे सक्षेप मे हम इस प्रकार रख सकते हैं। प्रथमत स्कन्दगुप्त के उपरान्त गुप्त शासको की परम्परा मे कोई ऐसा पराक्रमी शासक नही हुआ जो गुप्त साम्राज्य की गिरती हुई दीवारो को रोक सकता। बुद्धगुप्त तथा भानुगुप्त बालादित्य जसे गुप्त सम्राटो ने अवश्य गुप्त साम्राज्य की लुप्तप्राय परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, किन्तु अयोग्य गुप्त शासको की लम्बी परम्परा इस विशाल सामाज्य को सुगठित रखने मे असमथ रही।

इसी मे सम्बन्धित अन्य कारण जिसने गुप्त साम्राज्य की नीव का हिला दिया था, गुप्त राजवश के उत्तराधिकारियो का पारस्परिक वैमनस्य था। राजकुमारो का पारस्परिक वैमनस्य और उनकी स्वार्थपरता उत्तराधिकार के प्रश्न को प्राय जटिल बनाती रही। इस दृष्टि मे समुद्रगुप्त, रामगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के सघर्षों का उल्लेख किया जा सकता है। इन सघर्षों ने गुप्त साम्राज्य को अशक्त बनाने मे अपनी भूमिका निभाई।

राजवश के उत्तराधिकारियो के पारस्परिक वैमनस्य के अतिरिक्त गुप्त सामन्तो के विद्रोह ने भी गुप्त साम्राज्य को आघात पहुँचाया। सामन्तो की स्वतत्रता का शखनाद यशोधमन ने किया। जैसा कि डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—

"This decline was precipitated by the assumption of indepen-dence by the provincial governors and feudal chiefs Yasodharman set the fatal example which was perhaps more disastrous to the Gupta Empire than even the Huna invasion "

यशोधमन का अनुकरण अन्य प्रान्तीय शासको और प्रमुखो न किया। इनमे मौखरियो का नाम मुख्य है जिन्होंने मगध और उत्तर प्रदेश म अपन स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। वगाल तथा उत्तर भारत के अन्य राज्यो मे भी स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गए।

गुप्त शासको के पतन के कारणो मे परवर्ती गुप्त शासको की सनिक आवश्यकता विषयक उदासीनता थी। गुप्त वश के प्रारम्भिक शासक वष्णव धमावलम्बी थे, पर परवर्ती शासको ने बौद्ध मत का अनुसरण कर अहिसा और शान्ति पर आधारित जिस नीति का अनुगमन किया उससे सनिक कार्यों की उपेक्षा हुई। उसके परिणाम स्वरूप उनमे पहले जैसी सामरिक प्रतिभा न रही। फलत वे विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करने मे असमर्थ रहे। इस प्रसग मे ह्वेनसाग ने एक रोचक विवरण दिया है। उसने लिखा है कि जब मिहिरकुल ने बालादित्य की ओर अभियान किया तो बालादित्य ने अपने मन्त्रियो से कहा, 'मैंने सुना है कि यह चोर आ रहे हैं, और मैं उनसे युद्ध नहीं कर सकता। यदि मेरे मन्त्री मुझे अनुमति प्रदान कर तो मैं पक की झाडियो में छिप जाऊँ।'

इसके अतिरिक्त परवर्ती गुप्त शासको की आन्तरिक और वदेशिक नीति भी उनके पतन का कारण बनी। आन्तरिक दृष्टि से गुप्त शासको ने अपने पूर्वजों की कठोर दण्डनीति की परम्परा का परित्याग कर दिया और अत्यन्त उदार दण्ड-व्यवस्था का सहारा लिया। उनकी यह उदारता उनके साम्राज्य के लिए अहितकर बनी। इसी प्रकार ये गुप्त शासक अपने पडोसी राज्यो के साथ भी कुशल कूटनीतिक सम्बन्ध बनाए रहने मे असमथ हुए। इसके परिणामस्वरूप उनको आवश्यकता पडने पर अपने पडोसी राज्यो की समुचित सहायता न मिल सकी। गुप्त साम्राज्य के पतन के इन कारणो में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण विदेशी आक्रान्ता हूणो का आक्रमण था। स्कन्दगुप्त ने हूणो के आक्रमणो को रोकने का सफल प्रयास किया था, किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त अशक्त गुप्त शासक इन आक्रमणो का सफलतापूवक सामना न कर सके। इस प्रकार वह गुप्त साम्राज्य जिसने कि प्राचीन भारत को अपने प्रतापी शासक दिए वह गुप्त साम्राज्य जिसके राजत्व-काल मे भारत की चतुमुखी उन्नति हुई, वह गुप्त साम्राज्य जिसका शासन काल भारतीय इतिहास का स्वण युग कहा जाता है या जो भारत के 'पेरिक्लीज युग' के नाम से प्रख्यात है, उपयुक्त कारणो के फलस्वरूप पतन के गर्त में चला गया।

प्रश्न

Allahabad University

1 Narrate briefly the Deccan campaign of Samudragupta (1917)

2 Narrate briefly the important events of the reign of Samudragupta (1959)

३ समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ की विजय का विस्तृत विवरण लिखिए। (१९५१)

४ चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य भारतीय इतिहास मे क्यों प्रसिद्ध है ? (१९५१)

५ समुद्रगुप्त के शासन-काल की ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तृत विवरण लिखिए। (१९५३)

६ इलाहाबाद स्तम्भ लेख के आधार पर समुद्रगुप्त की विजयों का उल्लेख कीजिए। (१९५५)

7 Give full account of the conquests and character of Samudragupta (1956)

8 State briefly the facts you know of the founder of Gupta imperialism and give an idea of the extent of his empire What was the expansion of the same under his successors? (1956)

९ "गुप्तों के उत्कर्ष का मुख्य कारण उनका लिच्छवियो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना था।" गुप्त साम्राज्य के संस्थापक का संकेत करते हुए इसकी विवेचना कीजिए। (१९५७)

१० "समुद्रगुप्त का राज्यकाल, उसकी भारतवर्ष के भिन्न भागो मे दिग्विजय का प्रतिवाद है।" विवेचना कीजिए।

११ देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक की कथा कोई ऐतिहासिक घटना पर आधारित नहीं है। मूलभूत कारणों के प्रधार पर अपने विचार विस्तारपूर्वक लिखिए। (१९५७)

१२ "मेहरौली के लेख की समस्या जटिल है।" इसमे उल्लिखित चन्द्र की समानता किस सम्राट के साथ की जा सकती है ? विस्तारपूर्वक अपने विचार लिखिए। (१९५७)

13 Discuss the career and achievements of Skandagupta (1958)

14 Account for the downfall of the Guptas (1968)

15 Sketch the career of Chandragupta II, Vikramaditya under (a) conquests (b) administration and (c) diplomacy (1955)

16 Describe the career and conquest of Samudragupta (1956)

17 Describe the personality and achievements of Samudra gupta as gleaned from the Allahabad Pillar Inscription (1957, 1967)

18 Discuss the significance of the rise of the Guptas in ancient Indian history (1958)

19 Form an estimate of Chandragupta as a ruler and conqueror (1959)

20 Write notes on any two of the following —

(a) Historicity af Ramagupta

(b) Identificatian of Kache

Agra University

1 Describe briefly the campaign of Samudragupta and identify the territories conquered by him in that connexion (1942)

2 Sketch the history of the reign of Chandragupta II Who was I ahien? (1943)

3 Describe the various stages of the growth of the Gupta empire (1944)

4 Write a note upon the personality of Samudragupta and discuss his conquest in northern and southern India Who was his successor? (1945)

5 Describe the achievements of Chandragupta II Vikramaditya (1947)

6 What are the principal sources of Samudragupta's history Describe his achievements (1948)

7 What light does the Allahabad Pillar inscription of Samudragupta throw on his (a) personal qualities and (b) political career? (1951)

8 Summarize the evidence bearing the conquest of western India by Chandragupta II (1952)

Lucknow University

1 Describe briefly the reign of Skandagupta with special reference to the Huna invasion in the western provinces of Gupta empire

२ "स्कन्दगुप्त का स्थान गुप्तवश के सम्राटो मे सर्वोच्च है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं। कारणसहित लिखिए। (१९५५)

3 Sketch the history of the reign of Skandagupta and discuss the extent of his empire in the western part of India (1956)

४ "स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात अराजकता तथा कुशासन का पदार्पण होता है।" प्रधान गुप्तवश के अतिम सम्राटो का इतिहास लिखिए। (१९५७)

I A S Question

1 Examine the causes of the fall of the Gupta Empire (1947)

2 Describe briefly the salient features of the Gupta age (1956)

3 Describe the literary and artistic achievements of the Gupta period (1957)

गोरखपुर विश्वविद्यालय

१ "समुद्रगुप्त एक कुशल सेनानायक तथा राजनीतिज्ञ होने के अतिरिक्त अनेक ऐसे गुणों से सम्पन्न था, जो कि शान्तिमय कृतियो से सम्बन्धित जीवन के लिए उपयुक्त है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। (१९६१)

२ समुद्रगुप्त के राजनैतिक आदर्श और विभिन्न राज्यो के साथ उसके सैनिक और कूटनीतिक सम्बन्धो की व्याख्या कीजिए। (१९६२)

३ भारतीय सस्कृति के पोषक के रूप मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। (१९६२)

४ स्कन्दगुप्त के शासन-काल का वर्णन कीजिये और उसके साम्राज्य की सीमाएं बतलाइए। (१९६३)

५ समुद्रगुप्त की विजय तथा उसके व्यक्तिगत गुणो के विषय में आप क्या जानते हैं? १९६४)

६ चन्द्रगुप्त द्वितीय की पश्चिमी भारत की विजय का विवरण दीजिए। (१९६५) (१९६६)

७ समुद्रगुप्त की विजयो का वर्णन कीजिए। (१९६७)

८ चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की विजयों का वर्णन कीजिए।

९ स्कन्दगुप्त के जीवन चरित का सक्षेप में वर्णन करते हुए उसकी विजयों का विवरण दीजिए। (१९६८)

१० प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर समुद्रगुप्त की रणनीति, दिग्विजय और राजनय का वर्णन कीजिए। (१९७०)

११ गुप्त-साम्राज्य के पतन के कारणों का उल्लेख कीजिए।

गुप्तकालीन सभ्यता और संस्कृति | १६

भारतीय इतिहास में गुप्त-युग को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पिछले युग की अन्धता और अनैक्य के स्थान पर हम गुप्त युग के ऐक्य और प्रकाश को देखते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश में विघटन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, वह गुप्त युग के उदय के पूर्व तक जारी रही और यद्यपि संस्कृति का नद अविच्छिन्न तथा अबाध गति से बहता रहा तथापि उसमें उतना वेग एवं प्रवाह नहीं था जितना कि हम गुप्त युग में देखते हैं। अपनी महान् उपलब्धियों और सफलताओं के कारण गुप्त-युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है। आगे हम गुप्त-युग के सांस्कृतिक जीवन का विशेष विस्तार के साथ अध्ययन करेंगे तो सुस्पष्ट सिद्ध हो जायगा कि इस युग के लिए स्वर्णयुग का प्रयोग सर्वथा समीचीन और सार्थक है, किन्तु हम पहले इस युग की संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं पर विचार कर लेना चाहते हैं।

मौर्य-युग की सांस्कृतिक अवस्था का विवेचन करते समय हमने देखा था कि एक सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था तथा विशाल साम्राज्य की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक विकास को कितना महत्वपूर्ण प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। गुप्त-युग में आकर यह प्रोत्साहन न केवल स्वतः उत्पन्न हुआ था वरन् यह विशेष सक्रिय भी था। विदेशी राज्यों का विध्वंस हो जाने पर देश में गुप्तों के अधीन एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई जिसने देशवासियों के जीवन में एक नई चेतना तथा अभिनव स्फूर्ति का संचार किया। गुप्त साम्राज्य की स्थापना ने देश में पुनः शक्ति, समृद्धि तथा सुख के युग का सूत्रपात किया। एक सुदृढ़ किन्तु उदार शासन के अधीन देशवासियों की क्रियात्मक और सृजनात्मक प्रतिभा जागरूक हो उठी। गुप्तकाल में देश की राष्ट्रीय संस्कृति अपनी पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। कहना न होगा कि इस पराकाष्ठा के लिए गुप्त नरेशों का योगदान तथा उनके द्वारा स्थापित सुशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। समुद्रगुप्त ने अपने बाहुबल से जिस साम्राज्य का विस्तार किया और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने जिसका संरक्षण तथा संवर्द्धन किया, वह समुद्र से लेकर समुद्र तक (आसिन्धु सिन्धुपर्यन्त) विस्तृत था। यदि उसकी एक सीमा बङ्गाल की खाड़ी थी तो दूसरा छोर अरब सागर तक। यह सत्य है कि सीमा में गुप्तों का साम्राज्य मौर्य साम्राज्य की अपेक्षा कम विस्तृत था किन्तु यह अधिक स्थायी था। गुप्त साम्राज्य के अधीन कम से कम सम्पूर्ण उत्तरी भारत तो अवश्य था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने एक ओर बंगाल में तो दूसरी ओर वाह्लीक में गुप्तों की विजयध्वजा फहराई। कुमारगुप्त प्रथम ने इस साम्राज्य की सीमा को तनिक भी संकीर्ण या संकुचित नहीं होने दिया। स्कन्दगुप्त ने बर्बर हूणों को ढकेलकर देशवासियों की कृतज्ञता अर्जित की और अपने पितामह तथा प्रपितामह द्वारा स्थापित साम्राज्य को उसी रूप में छोड़ा। इस प्रकार लगभग एक सौ पचास वर्षों तक चार गुप्त सम्राटों ने समस्त उत्तरी भारत को एक सामान्य शासन प्रणाली के अधीन रखा। इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—

'देश की भौतिक और नैतिक प्रगति का मुख्य कारण सुस्थिर राजनैतिक दशा थी।'

दक्षिण-भारत की राजशक्तियों के साथ इन गुप्त सम्राटों का मैत्री सम्बन्ध था। यद्यपि दक्षिण के वाकाटक और पल्लव राजवंश गुप्तों के अधीन न थे तथापि उनकी श्रेष्ठता को वे स्वीकार करते थे। इस प्रकार गुप्त-युग के विशाल साम्राज्य तथा सम्पूर्ण देश में प्रचलित लगभग एक-सी शासन-पद्धति ने संस्कृति तथा सभ्यता की उन्नति को उपयुक्त वातावरण प्रदान किया।

गुप्त सम्राटों की कला तथा साहित्यानुरागिता एवं उनकी गुणग्राहिता से भी सांस्कृतिक उन्नति को प्रभूत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व की विवेचना करते हुए हम उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से परिचय प्राप्त कर चुके हैं। वह न केवल सुसंस्कृत अभिरुचि का सुयोग्य सम्राट् था, अपितु विद्वानों और गुणियों का आश्रयदाता भी था। इस योग्य पिता के योग्य पुत्र सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा कवियों और विद्वानों की उपस्थिति से सर्वदा गौरवान्वित तथा समलंकृत रहा करती थी। उसके पुत्र कुमारगुप्त का शासन-काल किसी राजनीतिक सफलता के लिए विख्यात नहीं है परन्तु जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, यह शान्ति तथा समृद्ध का युग था। कुमारगुप्त को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसी के समय में भारत की सर्वोत्तम स्थापत्य-कला का विकास हुआ। स्कन्दगुप्त को यद्यपि हूणों के आक्रमण का सफलता पूर्वक सामना करने के लिए अपने समय और राजकोष का पर्याप्त अंश व्यय कर देना पड़ा था तथापि सांस्कृतिक कार्यों के प्रति वह तनिक भी उदासीन नहीं था। विद्वानों का विचार है कि उसी की राजसभा को वसुबन्धु नामक विद्वान् सुशोभित करता था। स्कन्दगुप्त के बाद यद्यपि गुप्त-युग की राजलक्ष्मी हतप्रभ होने लगी तथापि सांस्कृतिक विकास का क्रम अवरुद्ध नहीं होने पाया। इस प्रकार गुप्तों के विशाल साम्राज्य, उनकी सुदृढ़ किन्तु उदार शासन-नीति तथा उनकी गुणग्राहिता और विद्वानों एवं कवियों को राजाश्रय प्रदान करने की प्रवृत्ति से देश में कला, साहित्य और संस्कृति की अभूतपूर्व समुन्नति हुई।

गुप्त युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक सुदृढ़ सांस्कृतिक एकता विद्यमान थी। यद्यपि इस एकता का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था तथापि गुप्त-युग में इसका बहुत अधिक पोषण हुआ। इस एकता का साधन थी देववाणी संस्कृत, जिसका इस समय देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक समादर होता था। संस्कृत ने जिसमें उच्च कोटि का सृजनात्मक युग था और जिसमें आश्चर्यजनक लालित्य तथा परिष्कार था, सम्पूर्ण देश के निवासियों का एक सामान्य बौद्धिक तथा आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित कर दिया। गुप्त-युग के पूर्व देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न प्राकृतों का प्रयोग किया जाता था जिससे एक स्थान की विचारधारा दूसरे स्थान पर सरलतापूर्वक नहीं पहुँच पाती थी। परन्तु संस्कृत भाषा के प्रयोग ने यह स्थिति बदल दी। इस समय वसुबन्धु के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे पेशावर से चलकर अयोध्या में अपने महायान दर्शन का प्रचार करें, कांची के धर्मपाल के लिए यह सम्भव हो सका कि वे नालन्दा में जाकर वहाँ की सभाओं में सभापति पद को सुशोभित करें और वहाँ की शैक्षिक क्रियाओं का संचालन करें। यदि देश में संस्कृत का समान रूप से प्रचार न होता तो सांस्कृतिक एकता की भावना इतनी दृढ़ कभी न होने पाती। गुप्त-युग में संस्कृत का प्रयोग न केवल शासन-सम्बन्धी कार्यों में ही होता था, अपितु साहित्य, दर्शन और विज्ञान का एक सामान्य माध्यम होने का गौरव भी इसे प्राप्त था। इस

युग के बौद्ध और जैन लेखकों ने भी प्राकृत तथा पाली के प्रति अपना मोह त्याग कर संस्कृत को अपनाया। संस्कृत के प्रयोग ने ही भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया के सम्बन्ध को दृढ़तर किया।

संस्कृत भाषा के विकास के साथ ही इस युग में संस्कृत साहित्य की भी अभूत पूर्व उन्नति हुई। महाकवि कालिदास, सुबन्धु, अमरसिंह प्रभृति ने संस्कृत भारती के विभिन्न पक्षों की श्रीवृद्धि करने में अपना योग दिया। साहित्य ही क्या, दर्शन, विज्ञान और कला की दिशा में कीर्तिमान स्तम्भ स्थापित हुए।

ब्रह्मगुप्त, आर्यभट्ट और वराहमिहिर इस काल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक और गणितज्ञ थे जो आज भी श्रद्धा और विस्मय के साथ याद किये जाते हैं। गुप्त काल के सर्वतोमुखी बौद्धिक जीवन के विषय में, जिसको कुछ विद्वान् बौद्धिक पुनर्जागरण भी कहते हैं, एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, "सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाएं इस जागरण का उतना ही प्रतिनिधित्व करती हैं जितना कि कालिदास की कवितायें। उनके वातावरण में एक नवीन बौद्धिकता व्याप्त थी जिसकी प्रतिच्छाया वस्तु और स्थापत्य कलाओं पर उसी प्रकार पड़ी जिस प्रकार साहित्य और विज्ञान पर प्रकार का। तार्किक सौन्दर्य अनेक रूपों में हमें अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए यूनान की याद दिलाता है और जीवन के प्रति अपने उत्साह तथा साहसिकता की भावना में यह हमें एलिजाबेथ-काल के इगलैंड की स्मृति कराता है। ऐसे समयों का प्रतिनिधित्व कालिदास, यूरीपिडीज और शेक्सपीयर जैसे कवि उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार प्राक्जोटिलीज तथा सारनाथ के अनाम तक्षक अथवा नये विज्ञान के जन्म दाता, जैसे फ्रान्सिस बेकन तथा आर्यभट्ट और आर्कमिडीज करते हैं।"[१]

इस चतुर्दिक बौद्धिक नवजागरण को सम्भव बनाने के लिए गुप्तकालीन भारत में एक श्लाघ्य बौद्धिक दृष्टिकोण विद्यमान था। इस युग के पण्डित आत्मश्लाघा और दृष्टिकोण की सकीर्णता से रहित थे। विज्ञान को संसार की सबसे प्रसिद्ध वस्तु मानते हुए इसको किसी भी स्रोत से ग्रहण करने के लिए तैयार थे। इस युग की दार्श निक रचनायें अधिकांशतया आलोचनात्मक हैं किन्तु उनके द्वारा उनके प्रणेताओं की मौलिक चिन्तना तथा अद्भुत तर्कनाशक्ति के दर्शन होते हैं। हिन्दू दर्शन के षट्-सम्प्रदायोंका विकास इसी युग में हुआ। इस समय की बौद्धिकता इतनी क्रियमाण थी कि एक विचार को दूसरे स्थानों पर पहुँचने में विशेष विलम्ब नहीं लगता था। विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों के आचार्य नवीन विचारों का स्वागत करने को सर्वदा प्रस्तुत रहते थे। वे परस्पर विचार विमर्श तथा तर्क-वितर्क करके या तो नये विचारों को स्वीकार कर लेते थे अथवा उनका खण्डन करने का प्रयत्न करते थे।

गुप्त युग के सांस्कृतिक जीवन की यह विशेषता है कि जिस सक्रियता और सशक्तता के दर्शन हमें भाव, विचार और बुद्धि जगत में होते हैं, उसी सप्राणता और स्फूर्ति का संचार हम कर्म-जगत् में भी देखते हैं। जिस प्रकार गुप्त-युग के कवि की प्रतिभा सृजनात्मक और नवनवोन्मेषशालिनी थी, जिस प्रकार इस युग के तक्षक की छेनी में पाषाणों में तथा चित्रकार की तूलिका में निर्जीव रेखाओं में जान डाल देने की ताकत थी, जिस प्रकार इस युग के विचारक की चिन्तन शक्ति स्वतन्त्र और अकुण्ठित थी, जिस प्रकार इस युग के दार्शनिक की मननशीलता प्राचीन ज्ञान के असह्य भार से विमुक्त थी और जिस प्रकार इस युग के वैज्ञानिकों की दृष्टि सत्यान्वेषण के लिए अनाविल तथा

१ Kenneth Saunders, *A Pageant of India*, p. 98

मूदम थी, उसी प्रकार गुप्त-काल के व्यापारियो मे भी साहसिकता तथा
भावनायें विद्यमान थीं और धम प्रचारको के हृदयो मे सुदूर देशो म अपने धर्म
प्रचार करने का उत्साह था। गुप्त-युग के व्यापारियो और धम प्रचारकों
'पौरस्त्य मनस्विन स्वविषय को सा विदेशस्तथा' की भावना काम कर
और सागर की उत्ताल तरगें अथवा हिमगिरि की उत्तुग चोटियाँ उनकी
को दबा नही सकती थी। फलस्वरूप वे जलयानो मे बैठकर या ऊँटों पर
विदेशो की यात्रा करते थे और वहाँ पर अपने धम का प्रचार करते थे, अथवा
द्वारा वहाँ के धन से स्वदेश को सम्पन्न बनाने की चेष्टा करते थे। योद्धाओं
सैनिको के हृदय भी उत्साहपूरित थे और उन्होंने स्वभुजबल द्वारा, बिना
प्रकार की राजकीय सहायता के ही, दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशो म अपने राजनी
तथा सास्कृतिक उपनिवेशो की स्थापना की। आज के भारतवासियो को इस बात
लिए कृतज्ञ तथा गौरवान्वित होना चाहिए कि उनके गुप्तकालीन पूर्वजो ने दक्षिणी
एशिया के देशो म अपनी सस्कृति का प्रचार किया और उनके साथ भारत का
सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया। यह सत्य है कि भारत का विदेशो के साथ
प्राचीन काल से ही सम्बन्ध रहा है और इस सम्बन्ध की परम्परा उतनी ही प्राचीन
जितनी कि भारतीय सस्कृति, तथापि इस बात मे कोई सन्देह नही कि विदेशो मे भार
के सास्कृतिक उपनिवेशो की स्थापना के विवरण हमे ईसा की तृतीय शताब्दी
से ही मिलने शुरू होते हैं। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, कोचीन, चीन,
बोर्नियो इत्यादि स्थानो मे व्यापारियो, धम प्रचारकों और सेनानियों ने, स्वदेश से
किसी प्रकार की सहायता प्राप्त किये हुए ही, हिन्दू धम, सस्कृति तथा हिन्दू सामा
विचारो को फैलाया। "यदि एक ओर भारत तथा दूसरी ओर चीन के बीच
सास्कृतिक एकता विद्यमान है, यदि वह्ल स्मारक, जो भारतीय सस्कृति के गौरव
मूक साक्ष्य हैं, समस्त इण्डोचीन, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो मे बिखरे हुए मि
पडते हैं तो इसका श्रेय गुप्त युग को है जिसने भारतीय सस्कृति को बाहर फैलाने की
भावना पैदा की। यहाँ यह कह देना चाहिए कि इस विषय मे दक्षिणी भारत का
योगदान उतना ही महान् था जितना कि उत्तरी भारत का। यह एक मनोरजक
है कि इस युग के ब्राह्मण समुद्रयात्रा मे किसी प्रकार की आपत्ति का अनुभव नहीं करते
थे, हम उन्हे जावा, सुमात्रा और बोर्नियो मे जाकर बसते हुए तथा वहाँ की स्त्रियों के
साथ विवाह करते हुये पाते हैं। उनमे से कुछ बोर्नियो मे वैदिक यज्ञो का अनुष्ठान
करते हुए दृष्टिगत होते हैं और अन्य (लोग) पश्चिमी एशिया मे ईसा की
शताब्दी तक हिन्दू मन्दिरो का पोषण करते हुए दिखलायी पडते हैं।"[1] वास्तव में
गुप्त युग की सजीवनी शक्ति इतनी अधिक थी कि यह देश की सीमाओ के भीतर
अवरुद्ध नही की जा सकती थी। यही कारण है कि हम भारतीय सस्कृति की जीवन
धारा को ही उपकण्ठ भूमियो से निकलकर सुदूरपूर्व और दक्षिणपूर्व एशिया में
हुए पाते हैं। प्रोफेसर आनन्द कुमार स्वामी का यह कथन कितना महत्त्वपूर्ण है "
भग वह सम्पूर्ण जिसका सम्बन्ध एशिया की एक सामान्य आध्यात्मिक चेतना से है,
जिसके द्वारा उसकी विभिन्नताओ को फिर से मिलाया जा सकता है वह गुप्त-युग की
भारतीय उत्पत्ति की ही वस्तु है।" Almost all that belongs to the common
spiritual consciousness of Asia, the ambient in which its diversities
are reconcilable, is of Indian origin in the Gupta Period' (H...)

[1] Altekar, *Introduction Vakataka Gupta Age*, pp 6-7

Indian and Indonesian Art, p 91)

गुप्त-काल मे सभ्यता और संस्कृति की जो चतुर्दिक् उन्नति हुई, उसकी पृष्ठभूमि भारतवासियों का जीवन के प्रति वह स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण था जिसमे नव जीवन के चारो पुरुषार्थों अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष के बीच सन्तुलन स्थापित किया गया था। हम मौर्य कालीन सभ्यता और संस्कृति के अध्याय मे सन्तुलन की इस प्रवृत्ति पर सुविस्तार के साथ विचार कर चुके हैं अतएव यहाँ पर पुन इसके विषय मे कुछ कहना अनावश्यक प्रतीत होता है। हाँ, यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि गुप्तकालीन भारत मे एक ओर अध्यात्म दर्शन और दूसरी ओर ललित कलाओ मे प्रगति, एक ओर महाकवि कालिदास के काव्य एव नाटक तथा दूसरी ओर समुद्रयात्रा के लिए बड़े बड़े जलयान का निर्माण इसी प्रवृत्ति के कारण सम्भव हो सका। अल्तेकर महोदय का कथन है कि "उस युग के हिन्दू दर्शन के नये और साहसपूर्ण सम्प्रदायो का विकास करने मे उतने ही सफल थे जितने कि समुद्र द्वारा माल ले जाने के लिए सुदृढ और विशाल जलयानो का निर्माण करने मे।"[१]

गुप्त-युग की संस्कृति मे समन्वयवादिता का स्पष्ट दर्शन होता है। यो तो भारतीय संस्कृति की आधारशिला ही उसकी समन्वयात्मिका मनोवृत्ति रही है, और उसका इतिहास समन्वय की विराट मानवीय चेष्टा का इतिहास प्रस्तुत करता है तथापि गुप्त-युग भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के विकास का उत्कर्ष काल था, अतएव इस समय समन्वय का दृष्टिकोण भी प्रधानतया प्रचलित था। इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि मे धार्मिक सहिष्णुता की वह उदात्त और प्रशसनीय भावना थी जिसका प्रतिनिधित्व गुप्त वश के सम्राट् करते थे और जिसका पालन उनकी प्रजा बड़े उत्साह के साथ करती थी। इस युग मे कट्टर और धर्मपरायण ब्राह्मणो ने भी महात्मा बुद्ध का विष्णु के दशावतारो मे स्थान देकर अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया। आर्य और द्राविड संस्कृतियो के पवित्र सगम की जिस प्रक्रिया का प्रारम्भ सदियो पूर्व हो चुका था, उसको गुप्त-युग मे अपूर्व बल एव प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। शिव विष्णु, शक्ति और गणेश की समान रूप से पूजोपासना इस युग के धार्मिक जीवन की एक विशेषता थी। Classical Age की प्रस्तावना (foreword) मे श्री के० एम० मुशी ने समन्वय की इस प्रवृत्ति का वर्णन या किया है "The adjustment against the background of racial fusion is symbolised by the sacredness accorded both to the Nigama, the Vedic tradition and the Agama the Dravidian tradition by the equal ritualistic importance of the vedic homa and the Dravidian puja, to the inseverable Godhead of the Aryan Vishnu and the Non

---

१ 'The Hindus of that age were as successful in evolving new and bold systems of philosophy as in building large and sturdy vessels to carry goods over sea' *Introduction to the Vakataka Gupta Age* डॉ० कुमारस्वामी ने लिखा है कि पोत निर्माण कला मे गुप्त और हर्ष युग के भारतवासी बहुत बढ़े-चढ़े थे और उनके जलयान पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियो के योरपीय जहाजों की अपेक्षा काफी बड़े होते थे। "The greatest period of Indian ship building however must have been the Imperial age of the Guptas and Harsha Vardhana when Indians possessed great colonies in Pegu, Cambodia Java Sumatra, Borneo and trading settlements in China, Arabia and Persia Many notices in the work of European traders 15 th and 19th centuries show that Indian ships of that age larger than their own—*Art and Craft in India*, p 166

Aryan Siva It must never be forgotten that Vyas, the founder and prophet of Arya Dharma, and Sri Krishna, the World Teacher, whose message is its fundamental scripture, are both sons by high browed Aryans of non Aryan mothers" उत्तर भारत में गुप्तों के उदार शासन के अधीन आर्य और द्रविड संस्कृतियों के समन्वय का जो कार्य हो रहा था, वही कार्य दक्षिणापथ में चोलों, चेरों और पल्लवों के राजत्व-काल में ही रहा था। तमिलनाड में आर्य संस्कृति का प्रभाव काफी दूर तक पड़ा और जो उदारता आर्यों ने द्रविड तत्त्वों के ग्रहण करने में दिखलाई, उसी उदारता का प्रदर्शन तमिलनाडु के लोगों ने आर्य संस्कृत भाषा को अपनाने में किया। संगम युग के जीवन की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है "इसकी संस्कृति का सबसे प्रधान रूप इसका मिश्रण का गुण है। यह दो मूलतः विभिन्न संस्कृति, तमिल और आर्य के मिश्रण का परिणाम है, यद्यपि वह विद्वानों के लिए वर्षों के पूर्व-अध्ययन के एक कठिन कार्य होगा कि वे आर्य-पूर्व तमिल संस्कृति के तत्त्वों को पृथक कर सकें जो इस सम्मिश्रण में प्रविष्ट हो चुके हैं। ... और यह महान् सांस्कृतिक परिवर्तन अत्यन्त शान्तिपूर्ण तरीके से सम्पन्न किया गया, साहित्य में नये प्रभावों के प्रवाह के प्रति विरोध या उनके विरुद्ध संघर्ष का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसके विपरीत इस बात के प्रचुर प्रमाण कि उनका सर्वत्र सम्मान होता था और वे उत्साह के साथ उन्हें ग्रहण करते थे।"

गुप्त युग की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक प्रगति में उस शासन-व्यवस्था का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान था जिसको गुप्त सम्राटों ने अपनाया था। अतएव हम सर्वप्रथम गुप्तों की शासन प्रणाली का ही अध्ययन करेंगे।

गुप्तों की शासन-व्यवस्था

गुप्तों की शासन प्रणाली राजतन्त्रात्मक थी। शासन का प्रधान राजा था और उसकी शक्ति असीमित थी। गुप्त नरेश "महाराजाधिराज", "सम्राट", "परमेश्वर", "परमदैवत", "चक्रवर्तिन्" आदि विरुद धारण करते थे। राजाओं को देवतुल्य मानने की धारणा इस काल में काफी लोकप्रिय हो गई थी। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिए कहा गया है कि वह एक देवता था जो इस पृथ्वी पर निवास करने के लिए आया था। परन्तु राजा के देवता होने की इस भावना से यह अभिप्राय नहीं था कि वह स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो सकता था। यद्यपि उसकी शक्ति सिद्धान्त में असीमित थी तथापि उसे अनेक नैतिक बंधनों को मानना पड़ता था। वह अपने अमात्यों की सहायता से शासन-कार्य करता था जिनके परामर्शों को मानने के लिए बाध्य न होने पर भी वह उनको सुनता अवश्य था। आर्यावर्त के परम्परागत नियमों को मानना एक श्रेष्ठ राजा के लिए आवश्यक समझा जाता था। यद्यपि आधुनिक प्रजातान्त्रिक दशा की भाँति गुप्त शासन प्रणाली में कोई लोकसभा नहीं होती थी तथापि जनता को सम्राटों की निरंकुशता के दुष्परिणाम नहीं सहने पड़ते थे। ग्राम-पंचायतों और नगर-सभाओं तथा व्यापारिक श्रेणियों को शासन-सम्बन्धी कार्यों से सम्बन्धित कई अधिकार प्राप्त थे जिससे सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार अथवा राजा में केन्द्रित नहीं होने पाती थी। गुप्त युग के स्मृति ग्रंथों और अभिलेखों में इस बात पर स्पष्ट जोर दिया गया है कि एक श्रेष्ठ राजा को लोक-कल्याण के कार्यों द्वारा जनता की शुभकामनायें अर्जित करनी चाहिएँ। इस बात के प्रमाणों का अभाव नहीं है कि गुप्त-नरेश स्मृतियों के आदर्शों का समुचित रूप में परिपालन करते थे और जनता की सुख-समृद्धि पर पर्याप्त ध्यान देते थे। फाह्यान नामक चीनी यात्री ने गुप्तों की उदार शासन-व्यवस्था का जिन शब्दों में वर्णन किया है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजतन्त्रात्मक

व्यवस्था मे भी साधारण जनता को व्यक्तिगत अधिकार काफी संख्या में प्राप्त थे। चीनी यात्री लिखता है "प्रजा प्रभूततया सुखी है। लोगों को अपने घरों की छोटी-छोटी बातों का न तो ब्यौरा देना पड़ता है और न किन्हीं न्यायाधिकारियों या शासकों के यहाँ हाजिरी।" जनता के कार्यों मे राजा हस्तक्षेप नहीं करते थे। लोगों को राज्य भर मे आने जाने का पूरा अधिकार था और इसके लिए उन्हें विशेष अनुमति-पत्र नहीं प्राप्त करना पड़ता था। दण्ड आधुनिक युग की अपेक्षा भी मृदु थे। राजा न तो प्राणदण्ड देता था, न घोर शारीरिक यातना ही। बहुत से अपराधों के लिए केवल दण्डकर की ही व्यवस्था होती थी, जो अपराध की लघुता व गुरुता के अनुसार कम ज्यादा हो सकता था। बार-बार दस्युता करने पर दक्षिण करच्छेद कर दिया जाता था। राजकर्मचारियों को नियमानुसार वेतन दिया जाता था जिससे वे जनता का शोषण नहीं करते थे। यद्यपि राजनियम सरल और दण्ड मृदुल थे तथापि अपराधों की संख्या न्यून होती थी। फाह्यान के यात्रा विवरण मे गुप्तों की शासन प्रणाली पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है और उसके विवरण के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि गुप्तों की शासन प्रणाली उदार और लोकानुरञ्जक होने के कारण सर्वथा प्रशंसनीय थी तथा राजाओं की शक्ति अपरिमित होने पर भी वे अनियन्त्रित अथवा निरंकुश नहीं हो सकते थे।

मन्त्रिमंडल—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे यह स्पष्ट लिख दिया है कि 'राजसत्ता का अस्तित्व केवल सहायता द्वारा ही सम्भव है। एक अकेला पहिया कभी नहीं चल सकता, अतएव राजा को चाहिए कि वह मन्त्रियों की नियुक्ति करे और उसके सत्परामर्शों पर ध्यान दे।' इस कथन के अनुसार मौर्य शासन प्रणाली में अमात्यों की व्यवस्था की गई थी और गुप्तों ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, गुप्त नरेश अपने 'शासन सम्बन्धी' कर्तव्यों का संचालन मन्त्रियों की सहायता से किया करते थे। मन्त्रियों के लिए 'सचिव' या 'मन्त्रिन' शब्द का प्रयोग प्राय किया गया है। अमात्यों तथा मन्त्रियों का पद पितृक्रमानुगत होता था (अन्वय-प्राप्तसाचिव्य)। राजा तथा मन्त्रिगण की सम्मिलित रूप से एक सभा होती थी जिसका प्रधान राजा होता था। यह अनुमान करना सम्भवत त्रुटिपूर्ण न होगा कि सैन्य, भूमिकर, व्यापार, उद्योग तथा इसी प्रकार के अन्य विभाग मन्त्रिमण्डल के किसी सदस्य के अधीन कर दिये जाते थे और उसका उत्तरदायित्व उस सदस्य पर छोड़ दिया जाता था। समयानुसार एक ही पदाधिकारी एक से अधिक विभागों का कार्य-सञ्चालन करता था। प्रयाग का प्रशस्तिकार हरिषेण समुद्रगुप्त के शासन काल मे तीन पदों—अन्तर्राष्ट्रीय मन्त्री, कुमारामात्य तथा न्यायकर्त्ता—को सुशोभित करता था। स्मृति-ग्रन्थो मे इस बात का विवेचन किया गया है कि सचिवों मे किन किन गुणों और योग्यताओं का होना आवश्यक है और अभिलेखों से यह प्रमाण मिलता है कि मन्त्रिगण बड़े योग्य, शासन कुशल तथा विद्वान् होते थे।

केन्द्रीय शासन प्रणाली का कोई विस्तृत उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में नहीं किया गया है किन्तु कुछ प्रधान कर्मचारियों का जिक्र अवश्य किया गया है। ये कर्मचारी पूर्ववर्ती युगों की शासन प्रणालियों मे थे और इनके नाम भी वैसे ही या कुछ परिवर्तन के साथ गुप्तकालीन शासन व्यवस्था में ग्रहण कर लिये गये थे। सम्राट् के बाद सबसे ऊँचा स्थान युवराज का होता था। गुप्त-कालीन शासन प्रणाली मे शासनाधिकार का नियम उत्तराधिकार के ऊपर आधारित होता था किन्तु बहुधा सम्राट अपने उत्तराधिकारी का अपने ही जीवन-काल में निर्वाचन कर लेता था। मन्त्री सिविल शासन

का अध्यक्ष होता था। महाबलाधिकृत (सेनापति), महादण्डनायक और महाप्रति ये उच्च पदाधिकारियों में प्रमुख स्थान रखते थे। महाबलाधिकृत का पद सा सातवाहन राजाओं के कर्मचारी 'महासेनापति' से मिलता-जुलता था। उसके अ महाश्वपति (अश्वारोही सेना का निरीक्षक), भटाश्वपति (अश्वारोही सेना का निरी महापीलपति (हाथियों की सेना का अध्यक्ष), सेनापति और बलाधिकृत नामक अधिकारी होते थे। महादण्डनायक का पद मूलतः कुषाण सम्राटों तथा नेलूर देश इक्ष्वाकु नरेशों की शासन-व्यवस्था में ग्रहण किया गया था। इसके अधीन अनेक द नायक होते थे जिनके ऊपर वह अपना नियन्त्रण रखता था। इसी प्रकार म प्रतिहार भी कई प्रतिहारों का निरीक्षण होता था। संधि विग्रहिक एक ऐसा उ पदाधिकारी था जिसका नाम सबसे पहले हम गुप्त लेखों द्वारा ही सुनते हैं। य और संधि का मन्त्री था या यों कहना चाहिए कि यह परराष्ट्र मन्त्री था। सं विग्रहिक जिसके लिए 'महासंधिविग्रहिक' शब्द का प्रयोग किया गया है, राजा सैन्य विभाग के पूर्ण सहयोग द्वारा ही अपने कर्तव्यों का सचालन करता था। गुप्त के प्रारम्भ में महासंधिविग्रहिक का पद बड़ा व्यस्त और उत्तरदायित्वपूर्ण रहा हो जिस समय समुद्रगुप्त अपनी उत्तर और दक्षिण विजयों की योजना बना रहा था किन राज्यों को साम्राज्य में मिला लेना चाहिये और किनको करद राज्य के रूप रहने देना चाहिए, आदि बातों का निर्णय इस उच्च पदाधिकारी और उसके विभा द्वारा ही किया जाता था।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से गुप्त-युग में साम्राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभाजित कर दिया जाता था। गुप्त-लेखों में प्रान्त के लिए या 'भुक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति सम्राट कर था। ये अपने 'भुक्ति' की बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक विप्लवों से रक्षा करने लिए उत्तरदायी होते थे। अपनी राज्य सीमा में शान्ति-स्थापना करके सार्वजनिक के कार्य करना प्रान्तीय शासक का कर्तव्य समझा जाता था। उसे इस बात का अधि कार प्राप्त होता था कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की वह नियुक्ति करे। गुप्त-ल में प्रान्तीय शासक के लिए अधिकतर 'उपरिक महाराज' पदवी का प्रयोग किया ग है। 'गोप्तृ' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। प्रान्तीय शासक अधिकांशतया राजकु से सम्बन्धित होते थे। जितने भी शासन विभाग साम्राज्य की राजधानी में हुआ सम्भवतः वे सभी 'भुक्ति' या 'देश' की राजधानी में भी होते थे। प्रान्तीय की रचना सम्भवतः केन्द्रीय शासन के नमूने के आधार पर की गई थी। आ काल की भाँति गुप्त काल में भी गवनरों के शासन-काल की अवधि निश्चित कर जाती थी। प्रान्तीय शासकों के कार्यकाल की अवधि कम से कम पाँच वर्ष होती थी। गुप्तकालीन अभिलेखों द्वारा हम साम्राज्य के समस्त प्रान्तों का नाम ज्ञात नहीं होता किन्तु इन 'भुक्तियों' के नामों का उल्लेख काफी मिलता है—पुण्ड्र भुक्ति, तीरभुक्ति, नगरभुक्ति, श्रावस्तीभुक्ति तथा अहिच्छत्रभुक्ति, सुकुलि सौराष्ट्र आदि।

जिले का शासन—प्रान्त जिलों में विभाजित किए जाते थे। जिला 'विषय' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक 'भुक्ति' के अन्तर्गत कई 'विषय' होते थे। पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति में खाडाटपार पञ्चनगर तथा कोटिवर्ष नामक विषयों के उल्लेख होते हैं। विषय के सबसे प्रधान अधिकारी को विषयपति कहा जाता था। इ नियुक्ति बहुधा 'गोप्तृ' 'उपरिक महाराज' अर्थात प्रान्तपति ही करता था किन्तु

कभी सम्राट भी इनको नियुक्त करता था। विषयपति के लिए लेखों में 'कुमारामात्य' की पदवी प्रयुक्त की गई है। विषयपति के प्रधान कार्यालय का स्थान जहाँ उसका 'अधिकरण' होता था, 'अधिष्ठान' कहलाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्र विषय शासन के सम्बन्ध में हमें कुछ महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करते हैं। इनके द्वारा पता लगता है कि विषयपति को शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिए अनेक कर्मचारी थे जिनके नाम इस प्रकार हैं—

नगरश्रेष्ठी—नगर का प्रधान सेठ अथवा श्रेणी प्रमुख।
सार्थवाह—नगर का प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारियों के संघ का प्रधान।
प्रथमकुलिक—प्रधान शिल्पी अथवा शिल्प संघ का प्रमुख।
प्रथम कायस्थ—प्रधान लेखक।
पुस्तपाल—संग्रहाधिकारी।

विषय में इन शासनाधिकारियों के कार्यकाल की अवधि भी कम से कम पाँच वर्ष अवश्य होती थी। पुस्तपाल को छोड़कर अन्य चार अधिकारियों के द्वारा एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता था जिसका अध्यक्ष विषयपति होता था। शासन के कार्यों में विषयपति अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से परामर्श लिया करता था। इस मन्त्रिमण्डल के अस्तित्व से यह सिद्ध हो जाता है कि नगर शासन में लोकमत का भी कुछ हाथ रहता था। मन्त्रिमण्डल के सदस्य नगर की जनता के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे।

नगर शासन—इस बात का अनुमान करना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण नहीं कि गुप्त काल में नगरों में म्युनिसिपल शासन की व्यवस्था थी, यद्यपि इस समय के म्युनिसिपल शासन का विस्तृत विवरण देने वाला कोई मेगास्थनीज हमारी सहायता नहीं करता। स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि विषयों के समुचित शासन के लिए प्रत्येक मुख्य नगर में एक सभा होती थी। इस सभा का अध्यक्ष नगरपति कहलाता था जिसके लिए 'डांगिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। नगर निवासियों और व्यापारियों से कर वसूल कर 'डांगिक' उनके हित के कार्यों पर व्यय करता था। स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाता था। यदि कोई मनुष्य मुख्य मार्ग, स्नानागार, मन्दिर तथा भवन के निकट गन्दगी फैलाते हुए पकड़ा जाता था तो वह दण्डभागी होता था और उसे एक पण दण्ड-कर के रूप में देना पड़ता था।

ग्राम शासन—ग्राम उस समय के शासन प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई था। गाँव का मुखिया, जिसे ग्रामसेवक तथा ग्रामाध्यक्ष कहा जाता था, ग्राम शासन का अध्यक्ष होता था। मुखिया को शासन सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिए स्थानीय लोगों की एक सभा हुआ करती थी जिसमें राजकर्मचारी नहीं होते थे। ग्राम-सभा सरकार के लगभग समस्त कर्तव्यों का निवहन करती थी। यह ग्राम की सुरक्षा का ध्यान रखती थी, गाँववालों के मुकदमों का निर्णय करती थी, भूमिकर एकत्र कर राजकोष में जमा करती थी और ग्रामवासियों के सार्वजनिक हित के कार्य करती थी। ग्राम सभा के सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार किया जाता था, इसका विवरण हमें ज्ञात नहीं। सदस्यों के लिए लेखों में 'महत्तर' शब्द के प्रयोग से यह अनुमान होता है कि विभिन्न वर्गों के वयोवृद्ध जनों को, जो अपनी आयु, अपने अनुभव और चरित्र के कारण जनता में प्रतिष्ठित एवं विख्यात होते थे, लोकमत द्वारा ग्राम-सभा का सदस्य मनोनीत
लिया जाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्रों द्वारा ग्राम शासन पर भी महत्त्वपूर्ण
पड़ता है। इनके द्वारा ग्राम सभा के सदस्यों के निम्न प्रकारों का उल्ले

है—(१) महत्तर, (२) अष्टकुलाधिकारी—आठ कुलो के मुखिया, (३) ग्रामिक ग्राम के प्रधान व्यक्ति और (४) कुटुम्बिन—परिवार के मुख्य व्यक्ति। की सुविधा के दृष्टिकोण से ग्राम-सभा उपसमितियो का भी निर्माण करती थी उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के प्रबन्ध के लिए भिन्न भिन्न समितियाँ होती थीं। ग्राम-शासन के लिए धन की आवश्यकता पडती थी जो प्राय कर द्वारा को प्राप्त होता था। यद्यपि ग्रामवासियो का मुख्य उद्यम कृषि काय था तथापि प्रत्येक ग्राम मे जुलाहे, कुम्हार, बढई, तेल बनाने वाले तथा सुनार इत्यादि भी थे जिनके द्वारा ग्राम-सभाओ को काफी आय होती थी। ग्रामो की सीमाओ का बहुधा दीवालो और नालियो द्वारा किया था। गुप्त-लेखो मे सीमा निर्धारण नाली के प्रयोग के उदाहरण प्रचुरता स प्राप्त होते हैं।

राज्य की आय के साधन—राज्य की आय के साधन प्रचुर और विभिन्न गुप्त-लेखो से पता चलता है कि करो की सख्या गुप्त-काल म अठारह थी किन्तु नाम हमे ज्ञात नही। इसमे कोई सन्देह नही कि करो मे सबसे प्रमुख भूमि-कर था। कुछ स्थानो मे भूमि कर के लिए 'भागकर' और कुछ स्थानो मे 'उद्रग' शब्द प्रयोग किया गया है। भूमि की अवस्था के अनुसार कर सोलह प्रतिशत से लेकर प्रतिशत तक लगाया जाता था। 'भागकर' शब्द से यह स्पष्ट है कि कर उपज के द्वारा वसूल किया जाता था, अथच मुद्राओ के रूप मे अपेक्षाकृत कम। अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि के कारण उपज कम होने पर कृषकों के ऊपर स्वाभाविक रूप से अन्य वर्षो की तुलना मे हल्का पड़ता था।

चुगी-करो का उल्लेख गुप्त-कालीन अभिलेखो और स्मृतियो मे काफीप्रचुरता से किया गया है जिससे यह पता चलता है कि चुगी द्वारा भी राज्य को पयप्त आय होती थी। राज्य मे जिन वस्तुओ का निर्माण किया जाता था, उन पर चुगी जाती थी। वनो, चरागाहो बेकार भूमि तथा खानो पर राज्य का स्वामित्व और उनकी उपज को बेच कर अथवा उन्हे ठीके पर उठा कर राज्य काफी आय करता था। जगल राजकीय आय का एक प्रमुख स्रोत समझा जाता था जिसका "गौल्मिक" नामक कमचारी के अधीन होता था। गुप्तो के समकालीन के लेखो मे पता चलता है कि गृह पशुओ, यथा गो, बल इत्यादि और दूध, घी, आदि वस्तुओ पर भी कर लगाया जाता था। परन्तु हमे इस बात का स्पष्ट प्राप्त नही कि गुप्त सम्राटो ने भी यह कर लगाया अथवा नही। यह असम्भव कि गुप्तो की शासन प्रणाली मे भी इस कर की व्यवस्था थी। व्यापारियो से जो कर वसूल किया जाता था, उसे गुप्त लेखो मे "शुल्क" का नाम दिया गया। गुप्तो के शासन-काल मे भारत का आन्तरिक और बाह्य व्यापार काफी उन्नति पर और दोनो प्रकार के व्यापारियो द्वारा राज्य को काफी आमदनी होती थी। देश बाहर से जो वस्तुयें आती थी, उन पर राज्य-कर लगाया जाता था। व्यापारी राज्य की चुगी बचाने का प्रयत्न करते हुए पकडा जाता था तो उसे दण्ड का होना पडता था। नशीली वस्तुओ पर भी कर लगाया जाता था किन्तु इस कर राज्य को न्यून आय ही होती रही होगी क्योकि फाह्यान के कथनानुसार समाज मे मद्यपान का अधिक प्रचार नही था। यदि गुप्त शासकों ने कर-सम्बन्धी सम्बन्ध मे इस काल के स्मृति ग्रथो के आदश को स्वीकार किया होगा, जसा कि उनके लेखो द्वारा काफी अशो म यही प्रतीत होता है कि उन्होने स्मृति-प्रथा के आदर्श का परिपालन किया था, तो निश्चय ही प्रजा के ऊपर कर प्रभूत मात्रा म नहीं जाते थे।

गुप्तों की शासन प्रणाली की सामान्य विवेचना—गुप्तों की शासन प्रणाली का हमें पर्याप्त विवरण उपलब्ध है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह श्रेष्ठ और प्रशंसनीय थी। केन्द्र और प्रान्त दोनों में इसका संगठन सुन्दर था।[1] काफी लम्बे अरसे तक गुप्तों की शासन-व्यवस्था ने देश को बाहरी आक्रमणों और भीतरी उपद्रवों से सुरक्षित रक्खा। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में हूणों के आक्रमण का जिस सफलता के साथ सामना किया गया, उससे स्पष्ट हो जाता है कि सेना का संगठन काफी सुव्यवस्थित तरीके पर किया गया था और सेना की शक्ति भी पर्याप्त थी। दण्डनीति के सम्बन्ध में न्याय और मानवता का मणि-काञ्चन-संयोग किया गया था। अपराधियों को अविलम्ब ही दण्ड का भागी बनना पड़ता था। परन्तु जैसा कि मेगस्थनीज के विवरण द्वारा हम जान चुके हैं, वैसे कठोर दण्ड नहीं दिये जाते थे। अपराधों की संख्या बहुत ही कम होने से यह बात स्पष्ट है कि दण्ड-नीति का विभाग कुशल और सजग था।

देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए गुप्त सम्राट् काफी सचेष्ट रहते थे। राजमार्गों के निर्माण और उसकी मरम्मत कराने का वे सदैव ध्यान रखते थे। कृषि की उन्नति के लिए बाँधों, झीलों और तालाबों का निर्माण किया जाता था। खानों और वन प्रदेशों से जनता के लाभार्थ सामग्रियाँ प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। कृषि और व्यापार को राज्य की ओर से काफी प्रोत्साहन प्राप्त था।

इस बात को हम पिछले पृष्ठों में भलीभाँति देख चुके हैं कि गुप्त सम्राट निरंकुश नहीं होते थे। लोकानुरञ्जन उनका प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था। शासन की सम्पूर्ण शक्ति किसी एक व्यक्ति या सरकार में केन्द्रित नहीं थी। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि गुप्त कालीन शासन-प्रणाली विदेशियों (शक, कुषाण, पह्लव) की शासन व्यवस्था से कुछ परिवर्तित रूप में थी। इस काल का एक उल्लेखनीय परिवर्तन ग्राम और नगर सभाओं के कार्यों और अधिकारियों में अभूतपूर्व वृद्धि है। ये संस्थायें पहले भी वर्तमान थीं, पर उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं सिद्ध होता कि इनका रूप वैसा ही गैर सरकारी और इनका कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत था जैसा कि चौथी शताब्दी से उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में पाया जाता है। संधि विग्रह को छोड़कर सरकार या राज्य के बाकी सब काम ये करती थीं। ये स्थानीय शासन-संस्थायें जनता के दृढ़ दुर्ग के समान थीं और इनकी कार्यक्षमता के कारण समिति के अभाव का दुष्परिणाम विशेष रूप से प्रतीत न होने पाया। जनता के अधिकारों और स्वत्वों की सतर्कतापूर्वक रक्षा द्वारा ये ग्राम संस्थायें राजा की अधिकाधिक हस्तगत करने की प्रवृत्ति की काफी रोकथाम करती थीं। जनता से कर वसूल करने का कार्य अधिकतर ग्राम पंचायतें ही करती थीं। यदि राज्य द्वारा नये और न्यायविरुद्ध कर लगाये जाते थे तो ये उन्हें वसूल करने से ही इन्कार कर सकती थीं। गम्भीर अपराधों को छोड़कर बाकी सब झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायतें ही किया करती थीं।[2]

लोक-कल्याण के कार्य करना और विद्या, कला तथा संस्कृति को राजकीय प्रोत्साहन प्रदान करना गुप्त-कालीन शासन-पद्धति की एक प्रशंसनीय विशेषता थी।

---

१ 'We possess fairly detailed information about the Gupta government and its achievements and can well conclude that it was very well organised, both at the centre and in provinces
Vakatak Gupta Age, p 292

२ प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० २३७

है—(१) महत्तर, (२) अष्टकुलाधिकारी—आठ कुलों के मुखिया, (३) ग्रामिक—ग्राम के प्रधान व्यक्ति और (४) कुटुम्बिन्—परिवार के मुख्य व्यक्ति। ग्राम शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से ग्राम-सभा उपसमितियों का भी निर्माण करती थी। कृषि, उद्यान, सिंचाई, मंदिर आदि के प्रबन्ध के लिए भिन्न भिन्न समितियाँ होती थीं। ग्राम-शासन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती थी जो ग्राम कर द्वारा ग्राम-सभाओं को प्राप्त होता था। यद्यपि ग्रामवासियों का मुख्य उद्यम कृषि कार्य था तथापि लगभग प्रत्येक ग्राम में जुलाहे, कुम्हार, बढ़ई, तेल बनाने वाले तथा सुनार इत्यादि भी होते थे जिनके द्वारा ग्राम-सभाओं को काफी आय होती थी। ग्रामों की सीमाओं का निर्माण बहुधा दीवालों और नालियों द्वारा किया था। गुप्त-लेखों में सीमा निर्धारण के लिए नाली के प्रयोग के उदाहरण प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

राज्य की आय के साधन—*राज्य की आय के साधन प्रचुर और विभिन्न थे।* गुप्त-लेखों से पता चलता है कि करों की संख्या गुप्त-काल में अठारह थी किन्तु उनके नाम हमें ज्ञात नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि करों में सबसे प्रमुख भूमि-कर होता था। कुछ स्थानों में भूमि कर के लिए 'भागकर' और कुछ स्थानों में 'उद्रंग' शब्द का प्रयोग किया गया है। भूमि की अवस्था के अनुसार कर सोलह प्रतिशत से लेकर पच्चीस प्रतिशत तक लगाया जाता था। 'भागकर' शब्द से यह स्पष्ट है कि कर उपज के अन्न द्वारा वसूल किया जाता था, अथच मुद्राओं के रूप में अपेक्षाकृत कम। इस प्रकार अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि के कारण उपज कम होने पर कृषकों के ऊपर कर भार स्वाभाविक रूप से अन्य वर्षों की तुलना में हल्का पड़ता था।

चुंगी-करों का उल्लेख गुप्त-कालीन अभिलेखों और स्मृतियों में काफीप्रचुरता से किया गया है जिससे यह पता चलता है कि चुंगी द्वारा भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी। राज्य में जिन वस्तुओं का निर्माण किया जाता था उन पर चुंगी लगाई जाती थी। वनों, चरागाहों बेकार भूमि तथा खानों पर राज्य का स्वामित्व होता था और उनकी उपज को बेच कर अथवा उन्हें ठीके पर उठा कर राज्य काफी आय प्राप्त करता था। जंगल राजकीय आय का एक प्रमुख स्रोत समझा जाता था जिसका प्रबन्ध "गौल्मिक" नामक कर्मचारी के अधीन होता था। गुप्तों के समकालीन वाकाटक नरेशों के लेखों से *पता चलता है कि गृह पशुओं, यथा गौ, बैल इत्यादि और दूध, घी, शहद* आदि वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था। परन्तु हमें इस बात का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं कि गुप्त सम्राटों ने भी यह कर लगाया अथवा नहीं। यह असम्भव नहीं कि गुप्तों की शासन प्रणाली में भी इस कर की व्यवस्था थी। व्यापारियों और शिल्पियों से जो कर वसूल किया जाता था, उसे गुप्त लेखों में 'शुल्क" का नाम दिया गया है। गुप्तों के शासन-काल में भारत का आन्तरिक और बाह्य व्यापार काफी उन्नति पर था और दोनों प्रकार के व्यापारियों द्वारा राज्य को काफी आमदनी होती थी। देश में बाहर से जो वस्तुयें आती थी, *उन पर राज्य-कर लगाया जाता था। व्यापारी यदि* राज्य की चुंगी बचाने का प्रयत्न करते हुए पकड़ा जाता था तो उसे दण्ड का भागी होना पड़ता था। नशीली वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था किन्तु इस कर से राज्य को न्यून आय ही होती रही होगी क्योंकि फाह्यान के कथनानुसार तत्कालीन समाज में मद्यपान का अधिक प्रचार नहीं था। यदि गुप्त शासकों ने कर-ग्रहण के सम्बन्ध में इस काल के स्मृति ग्रंथों के आदेश को स्वीकार किया होगा, जैसा कि उनके लेखों द्वारा काफी अंशों में यही प्रतीत होता है कि उन्होंने स्मृति-ग्रंथों के आदेश का परिपालन किया था, तो निश्चय ही प्रजा के ऊपर कर प्रभूत मात्रा में नहीं लगाये जाते थे।

गुप्तों की शासन प्रणाली की सामान्य विवेचना—गुप्तों की शासन प्रणाली का हम पर्याप्त विवरण उपलब्ध है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह श्रेष्ठ और प्रशंसनीय थी। केन्द्र और प्रान्त दोनों में इसका संगठन सुन्दर था।[1] काफी लम्बे अरसे तक गुप्तों की शासन-व्यवस्था ने देश को बाहरी आक्रमणों और भीतरी उपद्रवों से सुरक्षित रक्खा। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में हूणों के आक्रमण का जिस सफलता के साथ सामना किया गया, उससे स्पष्ट हो जाता है कि सेना का संगठन काफी सुव्यवस्थित तरीके पर किया गया था और सेना की शक्ति भी पर्याप्त थी। दण्डनीति के सम्बन्ध में न्याय और मानवता का मणि-काञ्चन-संयोग किया गया था। अपराधियों का अविलम्ब ही दण्ड का भागी बनना पड़ता था। परन्तु जैसा कि मेगस्थनीज के विवरण द्वारा हम जान चुके हैं, वस कठोर दण्ड नहीं दिये जाते थे। अपराधों की संख्या बहुत ही कम होने से यह बात स्पष्ट है कि दण्ड-नीति का विभाग कुशल और सजग था।

देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए गुप्त सम्राट् काफी सचेष्ट रहते थे। राजमार्गों के निर्माण और उसकी मरम्मत कराने का वे सदैव ध्यान रखते थे। कृषि की उन्नति के लिए बाँधों, झीलों और तालाबों का निर्माण किया जाता था। खानों और वन प्रदेशों से जनता के लाभार्थ सामग्रियाँ प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। कृषि और व्यापार को राज्य की ओर से काफी प्रोत्साहन प्राप्त था।

इस बात को हम पिछले पृष्ठों में भलीभाँति देख चुके हैं कि गुप्त सम्राट निरंकुश नहीं होते थे। लोकानुरञ्जन उनका प्रधान कर्तव्य समझा जाता था। शासन की सम्पूर्ण शक्ति किसी एक व्यक्ति या सरकार में केन्द्रित नहीं थी। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि गुप्त कालीन शासन प्रणाली विदेशियों (शक, कुषाण, पह्लव) की शासन व्यवस्था से कुछ परिवर्तित रूप में थी। इस काल का एक उल्लेख्य परिवर्तन ग्राम और नगर सभाओं के कार्यों और अधिकारियों में अभूतपूर्व वृद्धि है। ये संस्थायें पहले भी वर्तमान थीं, पर उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं सिद्ध होता कि इनका रूप वैसा ही गैर-सरकारी और इनका कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत था जैसा कि चौथी शताब्दी से उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में पाया जाता है। संधि विग्रह को छोड़कर सरकार या राज्य के बाकी सब काम ये करती थीं। ये स्थानीय शासन-संस्थायें जनता के दृढ़ दुर्ग के समान थीं और इनकी कार्यक्षमता के कारण समिति के अभाव का दुष्परिणाम विशेष रूप से प्रतीत न होने पाया। जनता के अधिकारों और स्वत्वों की सतर्कतापूर्वक रक्षा द्वारा ये ग्राम संस्थायें राजा की अधिकाधिक हस्तगत करने की प्रवृत्ति की काफी रोकथाम करती थीं। जनता से कर वसूल करने का काम अधिकतर ग्राम पंचायत ही करती थी। यदि राज्य द्वारा नये और न्यायविरुद्ध कर लगाये जाते थे तो ये उन्हें वसूल करने से ही इन्कार कर सकती थीं। गम्भीर अपराधों को छोड़कर बाकी सब झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायतें ही किया करती थीं।[2]

लोक-कल्याण के काम करना और विद्या, कला तथा संस्कृति का राजकीय प्रोत्साहन प्रदान करना गुप्त-कालीन शासन-पद्धति की एक प्रशंसनीय विशेषता थी।

---

१ "We possess fairly detailed information about the Gupta government and its achievements and can well conclude that it was very well organised, both at the centre and in provinces
Vakatak Gupta Age, p 292

२ प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० २३७

गुप्त सम्राटों की कलानुरागिता और साहित्य-संवर्द्धन की मनोवृत्ति पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके है। शिक्षा और ज्ञान के प्रसार का भी गुप्त सम्राट काफी ध्यान रखते थे। डॉ० अल्तेकर के ही शब्दों में, "अन्य युगों की अपेक्षा इस काल के बहुत अधिक शिलालेख और ताम्रपत्रादि उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि शिक्षा के प्रसार और ज्ञान की वृद्धि की प्रशंसनीय आकांक्षा से प्रेरित होकर सरकार शिक्षा संस्था और विद्वानों को खुलकर दान और सहायता देती थी। राज्य द्वारा मन्दिर-निर्माण की प्रवृत्ति भी तक्षण, स्थापत्य, चित्रण और नृत्य आदि ललित कलाओं की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध हुई।"[१]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर हम सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० अल्तेकर के शब्दों में कह सकते हैं "We may, therefore be well proud of the Gupta administrative system which served as the ideal for contemporary and later states"[२]

सामाजिक जीवन

गुप्त युग के सामाजिक जीवन में हमें कुछ विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इन विशेषताओं का उद्‌भव पहले हो चुका था, इस समय वे और अधिक दृढ़ीभूत हो गइ। हमने मौर्य-युगीन सामाजिक अवस्था के अन्तर्गत जिन विशिष्ट तत्वों का अध्ययन किया था, उनमें से कई का प्रचलन इस काल में था और पहले की अपेक्षा अधिक प्रबलतर रूप में था। गुप्त सम्राटों के सुदीर्घकालीन शासन ने उत्तर भारत में और उनके समकालीन नरेशों ने दक्षिण भारत में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना करके पिछले युग के सामाजिक जीवन की विशेषताओं को देश की भूमि पर अच्छी तरह से जमने का अवसर प्रदान किया। मौर्य काल में भारत वासियों के जिस समृद्ध भौतिक जीवन का उल्लेख हमने किया है उसको इस युग की शान्ति ने और अधिक पनपने की सुविधा दी। गुप्त-काल के साहित्य ग्रन्थों से, सौभाग्यवश जिनकी संख्या काफी अधिक है, हमें इस काल के लोगों के इहलोकपरक जीवन का पर्याप्त विशद विवरण प्राप्त होता है। इसी प्रकार विदेश यात्रा के सम्बन्ध में जिस निस्संकोचपूर्ण मनोवृत्ति का अध्ययन हमने मौर्य-काल की सभ्यता के सम्बन्ध में किया है, उनका और अधिक सबल प्रसार गुप्त-काल में था। भारतवासियों के श्रेष्ठ नैतिक चरित्र की प्रशंसा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने की थी गुप्त-काल में चीनी यात्री फाह्यान ने भी प्रशंसापूर्ण शब्दों में ही लोगों के चरित्र का उल्लेख किया है और यह सचमुच मनोरञ्जक है कि हर्ष-काल के भारतीयों की चारित्रिक श्रेष्ठता का वर्णन ह्वेनसांग ने भी किया है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि कुछ विषयों में सामाजिक जीवन का प्रवाह अविच्छिन्न रहता है जब तक कि कोई प्रबल अवरोधक शक्ति बीच में न आ पड़े, समाज का जीवन चलता ही रहता है। अतएव हमें यह जानकर आश्चर्य न करना चाहिए कि बहुत-सी बातों में गुप्त काल का सामाजिक जीवन मौर्य काल के और कुछ बातों में अपने परवर्ती काल के सामाजिक जीवन से काफी समानता रखता है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भारतीय समाज का मूल ढांचा आज भी बहुत कुछ बातों में वैदिक कालीन सामाजिक रचना से मिलता जुलता है।

परन्तु जहां हम एक ओर समाज के संगठन में कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई

१ प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० २३७

२ *Vakataka Gupta Age*, p 294

पड़ता, वहीं दूसरी ओर कुछ बातों में सदैव परिवर्तन होता चला गया है। भारत के सामाजिक संगठन की यह विशेषता रही है कि अपनी जीवन रक्षा के हेतु इसने सदैव अपने को युग की परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित करने का प्रयास किया है और इस परिवर्तन के लिए कभी किसी महान सामाजिक क्रांति को आवश्यक नहीं समझा गया। इस कारणवश हम गुप्त-काल के सामाजिक जीवन में अवश्य ही कुछ नवीनतायें दिखलाई पड़ेंगी। गुप्त काल के पूर्व के इतिहास को पढ़ने से हम यह तो विदित हो ही चुका है कि भारत में विदेशी जातियों के आक्रमण हुए और उन्होंने अपने राज्यों की स्थापना कर ली। ये विदेशी जातियाँ भारतीय समाज में प्रवेश करने लगी, अतएव स्मृतिकारों ने इस विषय में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखा। वे इन जातियों को समाज से बहिष्कृत तो कर नहीं सकते थे क्योंकि ऐसा करना न तो हितकर था और न सम्भव ही। अतएव ब्राह्मण स्मृतिकारों ने उनको समाज में तो मिला लिया परन्तु वे उनकी अभारतीय उत्पत्ति से भलीभाँति परिचित थे, अतः उन्होंने उनको क्षत्रिय स्वीकार करके भी उन्हें 'व्रात्य' की उपाधि दी जिससे विदेशी जातियाँ वर्ण के क्षत्रियों के समकक्ष न हो सकी। हम यह स्मरण रखना चाहिए कि मौर्य युग के उपरान्त पुष्यमित्र शुंग और सातवाहन नरेशों के शासन-काल में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, उसको गुप्त काल में विशेष प्रोत्साहन और बल प्राप्त हुआ जिससे उसके सामाजिक जीवन पर कुछ प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी था। भारतीय सीमाओं में बौद्धधर्म प्रचार पहले की अपेक्षा काफी कम हो गया, अतएव उस सुधार आन्दोलन का प्रभाव क्षीण हो गया जिसको बौद्ध धर्म ने जन्म दिया था। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के फलस्वरूप कुछ ऐसे सामाजिक नियमों का उद्भव हुआ जिससे वर्ण व्यवस्था को जटिल होने का अवसर प्राप्त हुआ। क्षत्रियों और वैश्यों के उपनयन को गुप्तकाल में उत्साहरहित दृष्टि से देखा जाने लगा जिससे समाज के विभिन्न वर्गों में खाई उत्पन्न हो गई। फलस्वरूप व्यापार, उद्योग धन्धों और उपयोगी कलाओं के विकास को काफी धक्का पहुँचा। इसी प्रकार यद्यपि गुप्त काल में भी अन्तर्वर्ण विवाह और विभिन्न वर्गों के बीच भोजन-पान के सम्बन्ध प्रचलित थे, तथापि इस युग के स्मृतिकार इस प्रकार के सम्बन्ध को अनुचित बतलाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि आनेवाली शताब्दियों में जातिभेद काफी बढ़ता गया और हिन्दुओं के सामाजिक संगठन की विदेशियों को भी अपने में पचा लेने की शक्ति का बहुत अधिक ह्रास हो गया। कुछ अन्य नियमों से भी समाज के स्वस्थ जीवन को हानि पहुँची। गुप्त काल में कन्याओं के विवाह की अवस्था घटाकर १२ या तेरह वर्ष कर दी गई जिससे न केवल स्त्री शिक्षा का प्रचार कम हो गया, बल्कि बालकों की विवाह-अवस्था भी कम कर देनी पड़ी और शिक्षा-समाप्ति पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन असम्भव हो गया।

वर्ण व्यवस्था—अन्य युगों की भाँति गुप्त युग में भी समाज की आधारशिला वर्ण-व्यवस्था ही था। इस बात में सन्देह की गुंजाइश कम है कि वर्ण व्यवस्था के दिन नियमों की रचना पूर्ववर्ती युगों में की जा चुकी थी उनका परिपालन इस समय किया जाता था। हमने गुप्त और मौर्य युगों का सामाजिक जीवन की कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि समाज के कुछ नियमों में अभी परिवर्तन का समावेश नहीं हो पाया था। एक उदाहरण दे देना अनुचित नहीं होगा। जिस प्रकार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के लिए विभिन्न बस्तियों का विधान किया है, उसी प्रकार वराहमिहिर ने 'वृहत्संहिता' में भी इन चारों वर्णों के लिए अलग-अलग बस्तियों की व्यवस्था की है। गुप्त काल के स्मृति ग्रन्थ अन्तर्जातीय विवाहों और भोजन पान के सम्बन्ध को अनुमति नहीं प्रदान करते,

हालांकि उन्हे गैर-कानूनी करार नही करते। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप मे गुप्त-युग वर्ण नियमो की जटिलता के प्रारम्भ का युग था। परन्तु व्यावहारिक रूप मे इस बात के समुचित प्रमाण मिलते हैं कि सामाजिक नियम अभी बहुत कठोर नही होने पाये थे। साधारण तौर पर विवाह अपने वर्ण मे ही होते थे किन्तु अन्तर्वर्ण विवाहो का प्रचलन भी था। उच्च वर्ण के पुरुष अपने से निम्न वर्ण की स्त्रियो के साथ विवाह कर लेते थे। इस प्रकार के विवाह को स्मृति-ग्रन्थो म अनुलोम विवाह की सज्ञा दी गई है। एक गुप्त-कालीन लेख से इस बात का पता चला है कि एक ब्राह्मण युवक ने क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह किया था। वाकाटक नरेश रुद्रसेन जो ब्राह्मण वश का था, ने प्रभावतीगुप्ता के साथ, जो वैश्य वर्ण की थी, विवाह कर लिया था। यह एक मनोरञ्जक बात है इस युग के स्मृतिकार अनुलोम विवाह द्वारा परिणीता पत्नी को धार्मिक यज्ञो के अनुष्ठान का उसके पति के साथ अधिकार देते हैं, यदि उस पति के कोई सवर्ण पत्नी न हो।

प्रतिलोम विवाहो को, जिनमे पत्नी उच्च वर्ण की होती थी और पति उससे निम्नतर वर्ण का याज्ञवल्क्य ने कानूनी माना है। समाज मे इस प्रकार के विवाहो का प्रचलन था। कादम्बो ने अपनी पुत्रियो का विवाह वैश्य गुप्तो के साथ किया था, यद्यपि कादम्ब नरेश ब्राह्मण थे। इस प्रकार गुप्त युग मे अनुलोम और प्रतिलोम दोनो प्रकार के विवाह प्रचलित थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि लोकनाथ नामक व्यक्ति की माता का पूर्वज ब्राह्मण था, परन्तु उसने शूद्रा स्त्री को अपनी पत्नी बनाया था। संस्कृत नाटको के अध्ययन से विदित होता है कि उच्च वर्ण के ब्राह्मण वेश्याओ और उनको दासियो की पुत्रियो के साथ भी विवाह कर लेते थे। 'कुलशीलवान' ब्राह्मण चारुदत्त ने जो 'मच्छकटिक' नाटक का नायक है, वसतसेना नाम की सुविख्यात गणिका से विवाह कर लिया था। इसी नाटक मे सर्वलिक नामक ब्राह्मण भी वसन्तसेना की दासी मदनिका से विवाह कर लेता है। हमने आन्ध्रो के इतिहास मे ब्राह्मण वर्ण के एक सातवाहन नरेश को रुद्रदामन् एक महाक्षत्रप की कन्या के साथ विवाह करते हुए पढा है। गुप्त-काल मे भी विदेशियो की कन्याओ को पत्नी रूप मे स्वीकार कर लेने की घटनाओ के उल्लेख मिलते हैं।

विभिन्न वर्णों के बीच भोजन-पान का सम्बन्ध गुप्त काल मे निषिद्ध नही समझा जाता था। यह स्वाभाविक ही था कि जब अन्तर्जातीय विवाहो का समाज मे प्रचलन था तो भोजन पान के विषय मे प्रतिबन्ध अधिक कठोर नही हो सकता था। शूद्रो को छोड कर प्राय अन्य वर्णों के लोग परस्पर एक दूसरे के साथ खान पान का सम्बन्ध रखते थे। परन्तु याज्ञवल्क्य ने कृषक, नाई और अहीर के साथ भोजन करने की आज्ञा दे दी है, यद्यपि समाज मे ये लोग शूद्र समझे जाते थे।

अपने वर्ण के अनुसार व्यवसाय ग्रहण करना, गुप्त काल म एक नियम के रूप मे नही था। वस्तुत ऋग्वैदिक काल से लेकर आज तक कभी भी यह बात पूर्ण रूप से नही पाई गई। लोग अपनी अपनी सुविधाओ के अनुसार अपने वर्ण क प्रतिकूल भी व्यवसाय चुनते रहे हैं और आज भी ब्राह्मण योद्धाओ, ब्राह्मण व्यापारियो तथा वश्य अध्यापको का अभाव नहीं है। गुप्त युग म भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनस यह सिद्ध होता है कि लोग अपने वर्ण के अनुकूल व्यवसाय अपनाने के नियम का पालन नही करते थे। स्मृतियाँ ही इस बात का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि ब्राह्मणो ने ही अब्राह्मण व्यवसायो को ग्रहण किया था और स्मृतियो के प्रमाण की पुष्टि अन्य स्रोतो द्वारा भी हो जाती है। ऐतिहासिक व्यक्तियो के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्होने

अपने वर्णानुकूल व्यवसाय को बदल कर अपने से निम्नतर वर्णों के व्यवसाय को ग्रहण किया था। मयूरशर्मन ब्राह्मण था किन्तु उसने स्वेच्छापूर्वक क्षत्रिय-वृत्ति को अपना लिया और कादम्ब वंश की नींव डाली। महाराज मातृविष्णु एक ब्राह्मण संत इन्द्र-विष्णु के वंशज थे। विन्ध्यशक्ति भी ब्राह्मण थे किन्तु योद्धा के कार्य को ग्रहण कर उन्होंने वाकाटक राजवंश की स्थापना की। इसी प्रकार क्षत्रियों द्वारा भी निम्नतर वर्ण के व्यवसाय ग्रहण करने के उदाहरण मिलते हैं। पाँचवीं शताब्दी के एक लेख से विदित होता है कि एक तैलिक-श्रेणी के प्रमुख अधिकारी क्षत्रिय थे। यह भी सम्भव हो सकता है कि क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के अध्यापन इत्यादि व्यवसाय को भी ग्रहण किया रहा हो।

वैश्यों का कोई सुनिश्चित व्यवसाय इस समय नहीं था। अधिकांश वैश्य उद्योग धन्धों तथा व्यापार में लगे हुए थे। कृषक, व्यापारी, पशु पालक, सुनार, बढ़ई, जुलाहे, मालाकार इत्यादि जातियाँ काफी विकास को प्राप्त कर चुकी थीं। ये जातियाँ अपनी-अपनी जातियों का अधिक ध्यान रखती थीं। यह सम्भव है कि आज की भाँति अनेक कृषकों, सुनारों या जुलाहों को अपने वैश्य होने का कोई ध्यान ही न रहता रहा हो और वे अपनी जाति को ही अपनी मूल जाति समझते रहे हों। वैश्य वर्ण के द्वारा क्षत्रियों का व्यवसाय ग्रहण कर लेने के दृष्टान्तों का भी अभाव नहीं है। यह असम्भव नहीं कि गुप्तों की सेना में वैश्य सैनिक रहे हों।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-युग में शूद्रों की अवस्था पहले की अपेक्षा कुछ सन्तोषजनक थी। शूद्रों के विषय में इस काल के स्मृतिकारों का दृष्टिकोण काफी उदार प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को व्यापारी, कृषक और कारीगर होने की अनुमति दी है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि शूद्रों ने इस सुअवसर से अवश्य लाभ उठाया। कुछ शूद्रों ने सैन्य वृत्ति को भी अपनाया था और कुछ तो सेना के पदाधिकारी भी हो गये थे। शूद्रों के राजा होने का प्रमाण भी मिलता है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि मतिपुर का राजा शूद्र जाति का था।

अन्त्यजों की गुप्तकालीन हिन्दू समाज में बड़ी शोचनीय अवस्था थी। समाज में उनकी उपस्थिति इस बात को सिद्ध करती है कि स्पृश्यास्पृश्य का विचार समाज में अवश्य विद्यमान था। यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शूद्र और अन्त्यज एक ही जाति के नहीं थे वरन् भिन्न भिन्न होते थे। शूद्रों की स्थिति के विषय में हमने ऊपर पढ़ा है, जिससे स्पष्ट है कि उनकी अवस्था बुरी न थी, किन्तु अन्त्यजों को लोग छूना तक अपराध समझते थे। फाह्यान ने अन्त्यजों अथवा चाण्डालों के लिए लिखा है कि वे नगर के बाहर रहते हैं। जब वे नगर में प्रवेश करते हैं तो सूचना देने के लिए लकड़ी से ढोल बजाते चलते हैं जिससे लोग उनके मार्ग से हट जायें तथा उनका स्पर्श बचाकर चलें। केवल चाण्डाल ही मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते थे। गुप्त-कालीन समाज में मिश्रित या संकर जातियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। स्मृतिग्रन्थों में लिखा है कि अन्तर्वर्ण विवाहों के द्वारा संकर जातियाँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण जनता में लोकप्रिय नहीं हो पाया था। जैसा कि हमने पीछे देखा है, समाज के उच्चवर्ण के लोग भी अन्तर्वर्ण विवाह करते थे। उनकी सन्तानों की जाति का निर्धारण उनके पिताओं की जाति से होता था। हाँ, जब समाज में अन्तर्वर्ण विवाहों का प्रचलन बहुत कम हो गया तब स्मृति ग्रन्थों का दृष्टिकोण संकर जातियों के सम्बन्ध में कुछ मान्य समझा जाने लगा। मूर्द्धाविसिक्त, अम्बष्ठ, पारशव, उग्र, करण आदि संकर जातियों के नाम समकालीन स्मृति ग्रन्थों में मिलते हैं।

समाज में विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः मधुर और सौहार्द्रपूर्ण

थे। चाण्डालों और शूद्रों को छोड़कर अन्य जातियों में परस्पर खान-पान का व्यवहार होता था। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, यद्यपि शूद्रों को सवर्ण लोगों के साथ भोजन पान का अधिकार प्राप्त न था तथापि उनकी स्थिति अन्य युगों की अपेक्षा अधिक उत्तम थी। अन्तर्वर्ण विवाहों के प्रचलन से यह सिद्ध होता है कि अभी समाज में जातियों के सामाजिक सहवास पर कोई कड़ा प्रतिबन्ध नहीं लगने पाया था। समाज में ब्राह्मणों को सबसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उनको कुछ सुविधायें प्राप्त थी जो अन्य जातियों के लिए नहीं थी। 'मृच्छकटिक' नाटक से पता चलता है कि न्यायालय में यद्यपि चारुदत्त को हत्यारा सिद्ध कर दिया जाता है तथापि उसे उसके ब्राह्मण जन्म के कारण मृत्यु-दण्ड से मुक्त कर दिया जाता है। अपने चरित्र की उत्कृष्टता और पाण्डित्य के कारण ब्राह्मण सब जातियों के द्वारा सम्मानित किये जाते थे। समाज में क्षत्रियों का भी काफी अधिक सम्मान होता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों जातियाँ सम्पूर्ण समाज की श्रद्धा और सम्मान की अधिकारिणी समझी जाती थी। वैश्य लोग अपनी दानशीलता के लिए विख्यात थे। फाह्यान ने गुप्त काल के वैश्यों के विषय में लिखा है "जनपद के वैश्यों के मुखिया लोगों ने नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित कर रखे हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लूले, लँगड़े और रोगी लोग इस स्थान पर जाते हैं और सब प्रकार की सुविधा तथा सहायता प्राप्त करते हैं।' गुप्त-काल के वैश्यों की उदारता और दानशीलता आज के व्यापारी वर्ग के लिए आदर्श प्रस्तुत करती है।

गुप्तकालीन समाज में दास प्रथा विद्यमान थी और इस सम्बन्ध में इस काल में स्मृति-ग्रन्थों में जो नियम दिये गये हैं, वे इस प्रथा को कुछ विकसित रूप में प्रदर्शित करते हैं। नारद स्मृति में दास प्रथा के सम्बन्ध में काफी सूक्ष्म विवेचन मिलता है। युद्ध बन्दियों को दास बनाने की प्रथा काफी प्राचीन मालूम पड़ती है और गुप्त-काल में भी इसका प्रचलन था। जो ऋणकर्ता अपना ऋण अदा नहीं कर पाते थे उनको अपने ऋणदाता का दासता स्वीकार कर लेनी पड़ती थी। नारद ने इस प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। हारे जुआरी को भी दास बन जाना पड़ता था। इस प्रकार के एक दास का उल्लेख हम 'मृच्छकटिक' नाटक में पाते हैं। भारतवर्ष में दासता सम्भवतः कभी भी आजीवन नहीं होती थी। ऋणकर्ताओं, जुआरियों और युद्ध-बन्दियों को अपनी दासता से मुक्त होने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि दासों के साथ व्यवहार उनके स्वामियों के स्वभाव पर निर्भर करता था तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत में यूनान और रोम की भाँति दासों के प्रति कठोर व्यवहार नहीं किया जाता था। इस सम्बन्ध में हम मौर्य-कालीन सभ्यता के अध्याय में कुछ विचार कर चुके हैं।

पारिवारिक जीवन—सम्मिलित कुटुम्ब के ऊपर गुप्त काल का हिन्दू समाज आधारित था। इस काल के स्मृति ग्रन्थों में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा को प्रशंसनीय बताया गया है और पिता के जीवन-काल में परिवार के विभाजन की निन्दा की गई है। गुप्तकालीन अभिलेखों से भी सम्मिलित कुटुम्ब के अस्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। एक लेख से हमें पता चलता है कि एक दानकर्ता अपने अपनी माँ, पत्नी, एक पुत्र एक पुत्री, दो भतीजों और दो भतीजियों के आध्यात्मिक कल्याण के लिये दान करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पिता की मृत्यु के बाद भाई पूरे परिवार के साथ ही रहा करते थे।

नारियों की स्थिति—गुप्तकालीन समाज में नारियों की स्थिति पिछले युगों की

अपेक्षा कुछ गिरी हुई प्रतीत होती है। स्त्रियों के विवाह की अवस्था घटा दिये जाने से उनके लिए सामान्यतया उच्च शिक्षा का द्वार अवरुद्ध हो गया था और विवाह के सम्बन्ध में भी उनको किसी प्रकार पतिवरण की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। कुछ स्मृति-ग्रन्थों में पिताओं के लिए यह अनिवार्य ठहराया गया है कि वे अपनी कन्याओं का विवाह उनके यौवन के पूर्व ही कर दें। नारद और याज्ञवल्क्य ने तो यहाँ तक लिख दिया कि जो पिता अपनी कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने के पूर्व नहीं करता है उसे नरक जाना पड़ेगा। गुप्तकालीन स्मृति ग्रन्थ स्त्रियों को वैदिक शिक्षा देने की अनुमति नहीं प्रदान करते। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च कुलों में नारियों को शिक्षा दी जाती थी। वैदिक शिक्षा भले ही उनको प्राप्त न होती रही हो, किन्तु वे निरक्षर अथवा अशिक्षित नहीं होती थी। आश्रमवासिनी कन्यायें इतिहास और पुराण का अध्ययन करती थी। वे न केवल काव्यों को ही समझ सकती थी, अपितु स्वयं भी पद्य रचना कर लेती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में अनसूया शकुन्तला के छन्दोबद्ध प्रणय-सन्देश को समझ लेती है। ललित कलाओं में स्त्रियों की निपुणता के उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य ग्रन्थों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। महाकवि कालिदास ने आदर्श पत्नी के अन्य गुणों के साथ उसकी ललित कला निपुणता का भी उल्लेख किया है। शकुन्तला की सखी अनसूया चित्रकला में और यक्ष की पत्नी वीणावादन में कुशल थी। 'अमरकोष' जो गुप्तकाल की रचना है, में नारी शिक्षिकाओं (उपाध्याया और उपाध्यायी) तथा वैदिक मन्त्रों की शिक्षा देनेवाली नारियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु यह सम्भव है कि 'अमरकोष' का यह उल्लेख केवल कात्यायन तथा अन्य पूर्व वैयाकरणों का अनुकरण मात्र हो।

गुप्तकालीन समाज में विधवा विवाह का प्रचलन किस सीमा तक था, यह कह सकना कुछ कठिन अवश्य है। 'अमरकोष' से पता चलता है कि एक द्विजन्मा पुरुष पुनर्भू (विवाहित विधवा) को अपनी प्रमुख पत्नी भी बना सकता था। चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने अपने अग्रज की विधवा पत्नी से विवाह किया था। नारद और पराशर ने विधवाओं के पुनर्विवाह को नियमानुकूल बतलाया है, किन्तु अन्य स्मृतिकारों ने विधवाओं के लिए ब्रह्मचर्य और आत्म संयम के जीवन को आवश्यक कहा है। बृहस्पति ने तो यहाँ तक कहा है कि विधवा स्त्री को अपने पति के साथ उसकी चिता पर जल जाना चाहिए। सती प्रथा का प्रचलन सम्भवतः समाज में था। कालिदास के नाटकों और 'मृच्छकटिक' में सती प्रथा का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक घटना का भी जिक्र मिलता है। जब हूणों के आक्रमण का सामना करते हुए सन् ५१० ई० में लगभग गोपराज ने रणभूमि में वीरगति पाई तो उसकी पत्नी उसकी चिता पर जलकर मर गई। आगे के युग में बाण ने भी हर्ष की माता को उसके पिता की मृत्यु शय्या पर पड़े रहने के कारण सती होने के लिये उद्यत बतलाया है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि गुप्त और हर्षकालीन भारत में सती प्रथा का पर्याप्त प्रचार नहीं होने पाया था। बृहस्पति को छोड़कर अन्य किसी भी समकालीन स्मृतिकार ने सती प्रथा का उल्लेख नहीं किया है। जो विधवायें पुनर्विवाह नहीं करती थी, वे अत्यन्त सादा और संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी। वे आभूषण और अन्य विलास सामग्रियों के प्रयोग अपने लिए वर्जनीय समझती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे की प्रथा गुप्तकालीन समाज में कुछ सीमा तक अवश्य विद्यमान थी। यद्यपि गुप्त-काल की कलाकृतियों में नारी प्रतिमाओं के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं है तथापि अभिजात कुलों की स्त्रियाँ घरों से निकलने

पर घूघट अथवा पर्दे का प्रयोग करती थी। परन्तु इस युग म पर्दे की प्रथा विशेष कठोर नहीं थी।

वस्त्राभूषण—गुप्त-काल के साहित्यिक ग्रन्थो और कलाकृतियो से इस समय के वस्त्राभूषण पर प्रचुर प्रकाश पडता है। पुरुषो का वस्त्र साधारणतया एक अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय होता था। बिना सिले हुये वस्त्र पहनने का रिवाज ही अधिक था। यद्यपि विदेशी सीथियनो न कुछ सिले हुए कपडो, जसे कोट तथा पायजामा का प्रचलन देश मे किया, तथापि गुप्त सम्राटो ने अधिकतर धोती और उत्तरीय को ही अपनाया। धोती और उत्तरीय ही सम्भवतः देश की राष्ट्रीय वेशभूषा थी। पुरुषो के द्वारा सिर पर उष्णीय (पगडी) पहने जाने की सूचना भी मिलती है।

स्त्रियो की पोशाक गुप्त काल मे भी बहुत कुछ आज जसी थी। हाँ, आजकल की फैशनेबिल महिलाओ के यूरोपियन ड्रेस उस समय अज्ञात थे। साडी तथा पेटीकोट ही उस काल की नारियो के सामान्य वस्त्र थे। कहीं-कहीं एक लम्बी साडी से ही दोनो वस्त्रो का काम चल जाता है। जैकट, ब्लाउज और फ्राक का प्रयोग विदेशी सीथियन नारियाँ करती थी, परन्तु भारतीय नारियो मे इनका प्रयोग लोकप्रिय नही हो सका। नाचनेवाली भारतीय लडकियाँ भी सीथियन नारियो की पोशाक पहन लेती थी। बाघ की गुफाओ म अनेक स्त्रियो के चित्र बने हुए हैं जिनम स्त्रिया को साडी और चोली पहने हुए दिखाया गया है। अजन्ता के चित्र म एक स्त्री छीट की अँगिया पहने हुए चित्रित की गई है। स्त्रियो की साडियाँ बहुधा रगीन हुआ करती थी।

सूती कपडे का प्रचलन अधिक था किन्तु ऋतु के अनुसार ऊनी और रेशमी कपडे पहनना भी गुप्त काल के भारतवासी जानते थे। फाह्यान के विवरण से तो ऐसा मालूम पडता है कि भारतवासी ऊनी और रेशमी कपडे का प्रयोग बहुतायत से किया करते थे। रेशमी कपडा सम्भवत इस समय भी चीन से आता था जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास न 'चीनाशुम' शब्द के द्वारा किया है। रेशमी वस्त्र की स्त्रियो मे लोकप्रियता का उल्लेख कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसोर अभिलेख मे भी किया गया है। अभिलेख मे एक स्थान पर उपमा के रूप मे कहा गया है कि जसे एक युवती स्त्री सुवर्ण हार धारण किये हुए, पान और पुष्पो से युक्त भी अपने प्रेमी से एकान्त मे मिलने नही जाती, जब तक कि वह रेशमी वस्त्र न पहन ले उसी प्रकार पृथ्वी का वह भाग (नगर) उन लोगो से विभूषित था मानो वे रेशमी वस्त्र धारण किये गये हैं जो स्पर्श मे तथा विभिन्न रग के कारण आँखो को आनन्ददायक है।[1]

गुप्तकालीन साहित्य ग्रन्थो और कलाकृतियो द्वारा इस काल के स्त्री पुरुषो की अलकारप्रियता तथा विभिन्न प्रकार के आभूषणो का परिचय प्राप्त होता है। स्त्रियो के आभूषण विविध प्रकार के तथा नेत्रों को भले लगनेवाले होते थे। सोने तथा मोतियो के हारो का सौंदर्य अद्भुत होता था। 'मृच्छकटिक' मे चारुदत्त की स्त्री वसन्तसेना के लिए मोतियो के जो हार भेजती है, उसके वर्णन मे पता चलता है कि इस समय के सुवर्णकार निपुण और कलात्मक अभिरुचि-सम्पन्न होते थे। कम से कम छ प्रकार की करधनियो (मेखला) का उल्लेख मिलता है। कडो, अँगूठियो और केयूरो (बाजू

१ 'तारुण्यकान्त्युपचितोपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलकृतोपि
नारीजन प्रियमुपैति न तावदस्या यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते
स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन
यैरसकलमिद क्षितितलमलकृतपट्टवस्त्रेण।"

बन्दो) का प्रयोग बहुलता से किया जाता था। पैरो मे काफी अधिक सख्या मे कडे पहने जाते थे। घुघरूवाले आभूषणो को भी स्त्रियाँ पैरो मे पहनती थी। कालिदास ने सुन्दरियो के 'आशिञ्जित नूपुर' चरणा का उल्लेख किया है। पुरुषो को भी गहने पहनने का बडा शौक था। राजकुल के पुरुष विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करते थे। महाकवि कालिदास के रघुवश से विदित होता है कि इन्दुमती के स्वयवर मे जो नरेश और राजकुमार आये थे, वे 'उदारनेपथ्यभृत', अर्थात बढिया वेशभूषा धारण किये हुए थे और केयूर (बिजायठ) अगुलीयक (अगूठी) और हार पहने हुये थे। मेघदूत का यक्ष अपने हाथ मे कनकवलय पहने था जो उसकी विरह कृशलता के कारण ढीला पड गया था। साहित्य ग्रन्थो से स्पष्ट पता चलता है कि केवल राजा तथा उनके सामन्त आदि ही नही, वरन उनके अनुचर तथा सेवक भी आभूषण पहना करते थे। 'बृहत्सहिता' मे कहा गया है कि केवल राजा-रानियो तथा राजसभा के परिचारक-परिचारिकाओ को ही नही, वरन धार्मिक अनुष्ठानो मे सलग्न पुरुषों को भी गहने पहनने चाहिए। पहाडपुर (राजशाही, बगाल) मे पुरुषों की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं जिनके वक्षस्थल पर यज्ञोपवीत के साथ कटि पर कटिबध तथा उदर मे उदरबध आदि गहने दिखलाई पडते हैं। 'अमरकोष' मे ऐसे अनेक शब्दो की एक लम्बी सूची मिलती है जिनसे विभिन्न प्रकार के आभूषणो का पता चलता है। सिर, ललाट, कानो, नाक, कलाइयो, बाहो, अँगुलियो, कमर तथा पैरो मे गहनो का इस समय काफी प्रचार था। नाक की नथुनियो का प्रचलन इस समय सम्भवत अज्ञात था। चन्द्रगुप्त प्रथम तथा कुमारदेवी वाले सुवर्ण सिक्के पर, विवाह के उपलक्ष्य मे, राजा कुमारदेवी को अँगूठी देते हुए अकित किया गया है।

स्त्रियो के केश सँवारने का भी प्रचुर प्रमाण प्राप्त होता है जिससे सिद्ध होता है कि नारियो को अपने केश अलकृत करने का बहुत अधिक शौक होता था। स्त्रियाँ भाँति से अपने बालो को विविध प्रकार से सजाया करती थी। महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' से विदित होता है कि केशो मे मन्दार के फूल लगाकर स्त्रियाँ उनको सुग-न्धित करने का प्रयास करती थीं। 'कुमारसम्भव' के अष्टम सर्ग मे शकरजी पार्वती से कहते हैं कि पृथ्वी पर शुभ्र ज्योत्स्ना बिखरी हुई है। तुम चाहो तो चाँदनी के पुष्पो से तुम्हारे केशो का शृगार कर दू। बाघ-गुफाओ की चित्रकारी मे गायिकाओ के चित्र मिले हैं जिनके सिर के पीछे ग्रथियुक्त केश हैं जो श्वेत पुष्पो की मालाओ से गुथे तथा विभूषित हैं। यदि अजन्ता के चित्रो मे गुप्तकालीन नारियो के केश विन्यास को आधुनिक युग की फैशन परस्त महिला देखे तो उसे उस समय के केश-विन्यास की मोहकता से आश्चर्यचकित हो जाना पडेगा। गुप्त-काल मे स्त्रियाँ अपनी केशराशि के विस्तार को बढाने तथा उसे कलात्मक रूप प्रदान करने के लिए नकली बाल लगाने की कला से भी परिचित थीं।

भोजन-पान—गुप्त कालीन भारतीय समाज मे शाकाहार तथा मासाहार दोनो प्रचलित था। हमे यह याद रखना चाहिये कि इस सम्बन्ध मे फाह्यान का कथन कुछ भ्रमपूर्ण है तथा अनुभव पर पूर्णतया आधारित नही प्रतीत होता। वह कहता है, "बाजारो मे मास और मदिरा की दूकानें नहीं हैं। लोग सुअर तथा मुर्गियाँ नहीं पालते, प्याज और लहसुन तक नही खाते, शराब नही पीते। केवल चाण्डाल, जो समाज से बहिष्कृत हैं, वन्य पशुओ का आखेट करते और मास का विक्रय करते हैं।" फाह्यान का यह कथन सम्भवत देश की बौद्ध प्रजा के लिए तो कुछ सीमा तक सही माना जा सकता है परन्तु हिन्दुओ मे प्याज और लहसुन की तो कौन कहे,

मास तक खाने का रिवाज था। कालिदास के ग्रथो मे आमिषाहार का उल्लेख मिलता है। 'शकुतला' नाटक मे माढव्य भुने हुए सुअर का मास खाता है, यद्यपि वह जाति का ब्राह्मण है। लोग मास तथा मछली का भक्षण करते थे और इस सम्बन्ध मे समकालीन स्मृति-ग्रन्थो मे कोई विशेष प्रतिबन्ध नही लगाया गया है। बृहस्पति का कथन है कि केवल प्रोषितभर्तृकाओ (जिन स्त्रियो के पति विदेश चले गये हैं) को मास मदिरा के प्रयोग मे अलग रहना चाहिये। बृहस्पति के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी इस समय सुरा और मास का प्रयोग करती थी। 'कालिदास' के ग्रथो मे स्त्री पुरुषो के सुरा सेवन की काफी चर्चा मिलती है। 'मालविकाग्निमित्रम', 'रघुवश' तथा 'कुमारसम्भव' तीनो मे स्त्रियो के मधुपान का जिक्र किया गया है। मालविकाग्निमित्रम् की रानी इरावती तो इतनी अधिक शराब पीती है कि उसके पैर लड़खडाने लगते हैं। रघुवश मे नगर के बाह्योद्यानो मे नागरिको के भोजन उत्सवो तथा सुरापान का उल्लेख किया गया है। श्राद्ध के अवसरो पर मास भक्षण लोग अवश्य ही करते थे। परन्तु एक बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है। यद्यपि हम फाह्यान के इस कथन को कि समाज मे लहसुन-प्याज तथा मास मदिरा का बिल्कुल ही प्रचार नही था, सत्य नही स्वीकार कर सकते तथापि समकालीन साहित्यिक कृतियो के अध्ययन से हम यह निष्कर्ष भी नही निकाल सकते कि समाज मे व्यापक रूप मे मास मदिरा का प्रचार था। इसलिए यह कहना अधिक उचित है कि गुप्तकालीन भारतीय समाज मे कुछ लोग विशुद्ध शाकाहारी थे और कुछ लोगो के भोजन मे आमिष का भी समावेश होता था। इसमे कोई सन्देह नही कि वैदिक धर्म के अनुयायी ब्राह्मणो और क्षत्रियो ने भी भक्तिवादी आन्दोलन से प्रभावित होकर मासाहार त्याग दिया होगा। ब्राह्मण तो निश्चय ही काफी सीमा तक शाकाहारी हो गये थे और मदिरापान भी उन्होने त्याग दिया था। क्षत्रियो म फिर भी सुरा सेवन का प्रचार बना रहा।

आमोद प्रमोद और उत्सव—भारतवासियो का जीवन बडा आमोद प्रमोदमय था। उनके पास ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भ मे होनेवाली मनोरञ्जन और आमोद प्रमोद उत्सवो की एक सजीव तथा समृद्ध परम्परा थी। मौर्य-काल के भारतीयो के जीवन का हमने जो अध्ययन किया है, उससे यह सिद्ध हो जाता है वे कि बडे ही आनन्दी और सुखानुरागी थे। गुप्तकालीन भारतीयो का जीवन भी आमोद प्रमोद के विभिन्न साधनो से परिपूर्ण था। इस काल के साहित्य और कला से भारतीयो के जीवन के इस पक्ष पर काफी प्रकाश पडता है। महाकवि कालिदास के ग्रन्थो से विदित होता है कि राजाओ के लिए मृगया मनोरञ्जन का प्रमुख साधन थी। 'शकुन्तलम' मे दुष्यन्त आखेट करने जाता है और कवि ने मृगया के लाभो का बडा ही सरस वर्णन किया है। 'रघुवश' मे दशरथ के आखेट का वर्णन किया गया है। गुप्त सम्राटो के सिक्के उनकी मृगयानुरागिता को स्पष्ट करते हैं। समुद्रगुप्त अपनी कुछ मुद्राओ पर बाघ का शिकार करता हुआ दिखलाया गया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त प्रथम भी सिंह का आखेट करते हुए दिखाये गये हैं। परन्तु यह असन्दिग्ध है कि मृगया केवल राजाओ के लिए ही मनोरञ्जन का साधन थी। बहुत हुआ तो, उनके सामन्त और सेनाधिकारियो को भी शिकार की रुचि हो जाती होगी, किन्तु सामान्य जनता की आखेट मे अभिरुचि नही हो सकती थी। बाद के गुप्त सम्राटो की मुद्राओ पर उनकी मृगयानुरागिता का कोई उदाहरण नही प्राप्त होता। यह सम्भव है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से शिकार म उनकी कोई रुचि नही रह गई थी।

साधारण जनता के लिए मनोरञ्जन की पर्याप्त व्यवस्था थी। 'मृच्छकटिक' से पता चलता है कि भेडो, भैसो तथा हाथियो की परस्पर लडाई का उस समय काफी

प्रचार था और इन लड़ाइयों को देखने से लोगों का मनोविनोद होता था। यद्यपि बौद्ध धर्म के सिद्धान्त इस प्रकार के मनोविनोद के विरुद्ध थे और सम्राट् अशोक ने इसको रोकने का प्रयास भी किया था तथापि इसका प्रचार कम नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य उल्लेखनीय बात है कि भारत में उस क्रूर और निर्दय प्रथा को मनोरञ्जन की दृष्टि से कभी नहीं देखा गया जिसका प्रचार रोम में था। वहाँ एक भयंकर पशु को मदमत्त कर अखाड़े में छोड़ दिया जाता था और उससे युद्ध करने के लिए उसी अखाड़े में किसी निहत्थे पुरुष को छोड़ा जाता था। जब पशु मनुष्य पर आघात करके उसका अंगभंग करता, या उसे लहूलुहान कर देता तो दर्शक हर्षध्वनि करके तालियाँ बजाते। भारतवर्ष में ऐसे आसुरी मनोरञ्जन की कभी कल्पना भी नहीं की गई।

'मृच्छकटिक' में द्यूतक्रीडा का भी परिचय मिलता है। 'रघुवंश' के एक श्लोक से द्यूतक्रीडा (दुरोदर) के प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है। भारतीय इतिहास के पाठकों को मालूम होगा कि ऋग्वेद के समय में भी जुये का मनोरञ्जन के एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में काफी प्रचार था। गुप्त-काल में भी जुये का प्रचलन था और कुछ लोग इसके द्वारा निश्चय ही मनोरञ्जन करते थे।

लेकिन उपर्युक्त मनोरञ्जन के साधनों में सामान्य जनता कहाँ तक भाग लेती थी, यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता। यह काफी सम्भव है कि भैंसों की लड़ाई तथा द्यूतक्रीडा का अवलम्बन नगर के सम्पन्न और हल्के विभाग के लोग ही करते रहे हों और समाज के शिष्ट तथा विवेकसम्पन्न जन इनसे दूर रहते रहे हों। नगर में अनेक नाटक-गृह और ग्राम भवन होते थे जहाँ लोगों का मनोरञ्जन होता था। गुप्तकाल में इतने अधिक नाटकों का प्रणयन हुआ कि आज भी उनकी संख्या किसी भी युग के साहित्यिक विकास की दृष्टि से गौरव तथा प्रचुर समृद्धि का कारण समझी जा सकती है। यह सोचना अनुचित नहीं है कि समाज के सुशिक्षित और शिष्ट जनों का मनोरंजन नृत्य, गायन, वादन तथा नाटकों द्वारा होता था। संस्कृत के सभी नाटक अभिनेय हैं जिससे मालूम पड़ता है कि ये अवश्य अभिनीत किये जाते थे। वास्तव में नाटकों का खेला जाना प्राचीन भारत का सबसे उत्कृष्ट और शानदार मनोरंजन का साधन था। आजकल के सिनेमा चित्रों के सस्ते मनोरंजन का संस्कृत नाटकों में एकान्त अभाव था। इसके स्थान पर संस्कृत के नाटक दर्शकों को मानव जीवन के आनन्दमय दिव्य पक्ष की अनुभूति कराते थे। संस्कृत नाटकों की परम्परा यूनानी या एलिजाबीदन नाटकों की परम्पराओं से अधिक जीवन्त सिद्ध हुई और आज भी यह परम्परा बनी हुई है, यद्यपि यह गौरवमयी स्थिति में नहीं है।

सामाजिक उत्सव इस काल में आमोद प्रमोद के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन थे। इसका उल्लेख फाह्यान के यात्रा विवरण में किया गया है। चीनी यात्री ने लिखा है "प्रति वर्ष रथयात्रा का आयोजन किया जाता है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। यह पूस पर ठाटी जाती है जिसमें धुरी तथा हर्से लगे रहते हैं। रथ बीस हाथ ऊंचा और सूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। विविध प्रकार की रँगाई की जाती है। सुवर्ण, रजत और स्फटिक की भव्य देव प्रतिमायें निर्मित की जाती हैं। रेशम की पताकायें और चाँदनी लगायी जाती हैं। चारों कोनों में कलँगियाँ लगती रहती हैं। रथों की संख्या बीस होती है। रथ एक से एक सुन्दर आकर्षक और भड़कीले होते हैं। निश्चित समय पर निकट के सभी गृहस्थ और संन्यासी आकर एकत्र हो जाते हैं। गाने-बजाने वाले भी सम्मिलित होते हैं। बारी-बारी से लोग प्रवेश करते हैं।

इस वाय मे दो रातें व्यतीत हो जाती है। सारी रात दीपक जला करता है। गाना, बजाना और पूजन होता है। प्रत्येक जनपद मे ऐसा ही किया जाता है।" ऐसा प्रतीत होता है कि अय पर्वो पर भी इस प्रकार के उत्सवो का आयोजन किया जाता रहा होगा। यह उत्सव मनोरजन और आमोद प्रमोद का ऐसा साधन था जिसमे समाज के सभी वग के लोग सामूहिक रूप से सम्मिलित होते थे। फाह्यान के कथन से ही यह स्पष्ट विदित होता है कि गृहस्थ और सयासी दोनो ही इस उत्सव मे भाग लेते थे। इसी प्रकार विद्वानो और मूर्खो धनी तथा निधनो को समान उपस्थिति से इस प्रकार के उत्सव आयोजन सफल हुआ करते थे।

रहन सहन का उच्च स्तर—अभी तक हमने गुप्तकालीन भारतीयो के जीवन का जो विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके भौतिक जीवन का स्तर काफी ऊँचा था। इस काल के साहित्य ग्र थो मे इस समय के नगरो के वैभवपूर्ण जीवन का सविस्तार वणन किया गया है जिससे उस काल की भौतिक समृद्धि का चित्र आखो के सामने खिच जाता है। यद्यपि इन वणनो म कवि-कल्पना का समावेश है, तथापि यह नही कहा जा सकता कि य बिल्कुल ही निराधार हैं। एक समृद्ध और ऐश्वयमय समाज की पृष्ठभूमि उपस्थित रहने पर ही इस प्रकार के वणन सम्भव है। 'मेघदूत' के उत्तर मेघ म कालिदास ने यक्षो की नगरी के वैभव और उल्लासमय वातावरण का जो वणन किया है, उससे तत्कालीन उज्जयिनी का वभव ध्वनित होता है। कुमारगुप्त के मन्दसोर अभिलेख मे दशपुर नगर के वैभव का बडा ही सरस और कवित्वपूण वणन मिलता है। 'मृच्छकटिक' द्वारा भी गुप्तकालीन नगर-जीवन का विलासमय पक्ष मुखर हो उठा है। समाज के उच्च और सम्पन्न लोगो का जीवन सुख तथा विलास के समस्त साधनो से परिपूण था और जैसा कि मृच्छकटिक से पता चलता है, यद्यपि दरिद्रता अज्ञात नही थी तथापि फाह्यान के यात्रा विवरण से देश की भौतिक समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है। साधारण लोगो का जीवन भी सुखपूण था। उसम यन्त्रणाओ का अधिक समावेश नही था। समाज मे पर्याप्त दानशीलता तथा उदारता विद्यमान थी जिससे सम्भवत धन के असमान वितरण की कटुता का अनुभव लोगो को नही होता था। इस विषय म गुप्त-काल का भारत हेलिनिस्टिक युग और रोमन गणतन्त्र से काफी बढा चढा और श्रेष्ठ था। हेलिनिस्टिक युग मे और रोमन गणतन्त्र के अन्तिम दिनो म समाज मे चारो ओर काफी भौतिक समृद्धि दिखलाई पडती थी। विदेशो ■ प्रभूत धन आकर रोम मे जमा हो गया, परन्तु यह धन अभिजात वग के लोगो म केन्द्रित हो गया था और साधारण जनता निधन और निवस्त्र थी। जिन लोगो के हाथ मे धन आया, वे अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे और घोर विलासिता का जिसमे पाशविक मनोवृत्ति और इन्द्रियजन्य आवश्यकताओ के सन्तुष्ट करने की प्रवृत्ति प्रधान तथा ललित कलाओ की उपासना अपेक्षाकृत गौण थी जीवन व्यतीत करने लगे। सिसरो ने लिखा है कि इस समय के सम्पन्न व्यक्ति इसीलिये खाते थे कि कै कर दें और इसीलिए कै करते थे कि फिर खा सकें। रोमन गणतन्त्र म कामुकता और कामपरकता का निर्बाध साम्राज्य था। कि तु भारत म ऐसी घोर विषमतापूण स्थिति कभी नही आने पाई और न अभिजात लोगो का इतना नैतिक पतन ही होने पाया कि वे सब कुछ भूलकर इन्द्रियोपासना म सलग्न हो जाय। हाँ, यह भी नही कहा जा सकता कि भारत मे भी अभिजातो का जीवन आदर्श तथा प्रशसनीय था, किन्तु इतना कहने मे कोई हिचक नही कि अध्यात्मवादी भारत म, कम से कम गुप्तकालीन भारत मे, अथ और काम से सम्बन्ध रखने वाले क्रियाकलाप लोगो के धर्मपालन म बाधक नही हुए और उनके द्वारा उनकी मुमुक्षा हत नहीं होने पाई। हम आगे भारतीयो के आदश नैतिक

चरित्र के विषय में फाहियान का विवरण पढ़ेंगे जिससे यह सिद्ध हो जायगा कि इस काल में भारतीयों का राष्ट्रीय चरित्र हेलिनिस्टिक युग के यूनानियों तथा रोमन साम्राज्य के नागरिकों के राष्ट्रीय चरित्र की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट था।

गुप्त-काल के भारतवासियों को जीवन की अनेक सुविधायें प्राप्त थी। प्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर ई० बी० हेवेल ने लिखा था कि भारत में ब्रिटिश सत्ता के लिए सबसे गौरव की बात यह होगी कि वह भारतीयों को वे समस्त सुविधायें प्रदान करे जिनका उपभोग भारतीय जनता चौथी और पाँचवी शताब्दी में करती थी। गुप्त-काल के ग्रन्थों से ऐसी अनेक वस्तुओं का पता चलता है जिनका प्रयोग करना लोग न केवल जानते ही थे, वरन् अपने दैनिक जीवन में उन्हें इस्तेमाल में लाते भी थे। वसन्तसेना के महल के वर्णन से यह स्पष्ट पता चलता है कि गणिकायें इस समय विविध प्रकार की विलास-सामग्रियों का प्रयोग करती थी। राजाओं और सामन्तों का जीवन अधिकतर भोग विलास का ही जीवन था। शिक्षा-समुच्चय नामक महायान बौद्ध ग्रन्थ में समकालीन समाज के विलासमय जीवन का वर्णन किया गया है। यह एक विस्मय की बात है कि इस काल में जल द्वारा चलने वाली घड़ी का लोग प्रयोग करना जानते थे। सरकारी विभागों तथा सम्पन्न परिवारों में घड़ियाँ (नाडिकायें) होती थी जिनसे दिन में समय जाना जा सकता था। गुप्त-काल की नगर सभ्यता में विविध प्रकार के लेपनों तथा अंगरागों का प्रयोग प्रचलित था। इसी काल के दो ग्रन्थों 'शृंगारशतक' तथा 'ऋतु संहार' द्वारा गुप्त-काल के विलासमय जीवन का विवरण प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों से पता चलता है कि सम्पन्न लोग भिन्न भिन्न ऋतुओं में विविध प्रकार से सुखोपभोग करते थे और ग्रीष्म ऋतु में अति सुगन्धित चन्दन का लेपन करते थे। स्त्रियाँ चरणों में अंगराग तथा ओठों में अलक्तक का प्रयोग करती थी। गुप्तकालीन सभ्यता का विवेचन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यह प्रमुखतया एक सामन्तवादिनी सभ्यता थी और भोग-विलासमय पक्ष का इसमें काफी मात्रा में समावेश था। प्रोफेसर आनन्द कुमार स्वामी ने गुप्तकालीन संस्कृति को 'विलासमयी आभिजात्य संस्कृति "luxurious aristocratic culture' कहकर अभिहित किया है।

लोगों का उच्च नैतिक स्तर—गुप्त काल में भारतवासियों का जीवन सुखमय और समृद्धिशाली तो था ही उनका चरित्र सर्वथा प्रशंसनीय था। फाहियान ने उनके चरित्र के उच्च नैतिक स्तर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अरक्षित अवस्था में देश के एक विशाल भाग की यात्रा करने पर भी चीनी यात्री कभी लूटा खसोटा नहीं गया। इस घटना से एक ओर शासन प्रबन्ध की निपुणता का परिचय प्राप्त होता है तो दूसरी ओर देश के निवासियों की चारित्रिक दृढ़ता पर भी प्रकाश पड़ता है। वैश्यों की दान-शीलता के विषय में उसके कथन का पीछे उल्लेख किया गया है। यह सचमुच एक विस्मय की बात है कि फाहियान के कथनानुसार, समाज के धनाढ्य लोग लोक कल्याण के कार्यों में एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा रखते थे। इस काल के भारतीयों में अतिथि-सत्कार का एक विशिष्ट चारित्रिक गुण विद्यमान था। रस्किन (अंग्रेजी भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक) ने लिखा था कि किसी सभ्यता की श्रेष्ठता का निर्णय उन मनुष्यों के द्वारा करना चाहिए जिनको कि वह सभ्यता जन्म देती है—'A civilization is to be judged by the type of person that it produces' इस दृष्टि से जब हम गुप्तकालीन भारतीय सभ्यता की विवेचना करते हैं तो हमें यह कहना पड़ता है कि यह एक सर्वश्रेष्ठ और गौरवमयी सभ्यता थी।

आर्थिक जीवन

पिछले पृष्ठों में हमने गुप्तयुग के भौतिक वैभव का जो विवरण दिया है वह तभी

सम्भव हो सकता था जब कि देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ रही हो। इस काल में निस्सन्देह जितनी प्रगति सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में की गई थी, उतनी ही आर्थिक क्षेत्र मे भी। हमने मौर्यकालीन संस्कृति मे लिखा है कि देश की साम्राज्य सीमा का विस्तार हो जाने से और एक सुसंगठित शासन-व्यवस्था द्वारा स्थापित शान्ति मयता से देश की आर्थिक उन्नति के स्रोतो मे आश्चर्यजनक अभिवृद्धि हुई। यही स्थिति गुप्त काल के विषय मे भी कही जा सकती है। गुप्तो का साम्राज्य तो काफी विस्तृत था ही, उनकी सुदृढ और उदार शासन-व्यवस्था ने देश मे शान्ति-स्थापना करके सभी प्रकार की आर्थिक उन्नति को प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया। उत्तरी और दक्षिणी भारत मे समान रूप से समृद्धि छाई हुई थी और यदि कहा जाय कि इस समृद्धि मे उस काल की प्रचलित शासन व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान था तो कोई अत्युक्ति न होगी। कृषि, उद्योग धन्धो और व्यापार की बहुत अधिक उन्नति हुई और देश मालामाल हो गया।

कृषि—गुप्तकालीन भारत की आर्थिक रचना कृषि पर अवलम्बित थी। देश मे इस समय जमींदारी प्रथा नही थी, जो कि कुछ दिनो पूर्व आधुनिक उत्तर प्रदेश मे थी और आजकल भी बगाल में है। उपलब्ध प्रमाणो से यह ज्ञात होता है कि कृषि योग्य भूमि पर राज्य का भी अधिकार नही था वरन् वह व्यक्तियो या परिवारों के स्वामित्व मे होती थी। इस बात का कृषि की उन्नति पर अनुकूल प्रभाव पडना स्वाभाविक था और इसके प्रमाण मिलते हैं कि देश मे इस समय विविध प्रकार की फसलो की उपज होती थी तथा कृषको की अवस्था बडी ही सन्तोषजनक थी। गिरनार पर्वत के निकट की सुदर्शन झील के स्कन्दगुप्त के शासन काल मे पुनर्निर्माण की घटना यह सिद्ध करती है कि राज्य की ओर से कृषि की उन्नति पर समुचित ध्यान दिया जाता था। गुप्त काल के पूर्व ही लोगो ने कृषि की वैज्ञानिक पद्धति सीख ली थी। और इस पद्धति के द्वारा वे विभिन्न प्रकार की फसल पर्याप्त परिमाण मे उत्पन्न करते थे। गुप्त-काल मे कृषको ने भी इस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया था जिससे इस समय भी कृषि की स्थिति अत्यन्त समुन्नत एवं सुविकसित थी। 'अमरकोष' मे एक पूरा अध्याय वनो उद्यानो तथा विभिन्न प्रकार के वृक्ष पादपो का उल्लेख करता है। भूमि यो तो स्वाभाविक रूप से प्राय उपजाऊ थी पर कृषि की सुन्दर विधि से उपज की मात्रा बहुत अधिक बढ गई। अन्न की विविध फसलो के अतिरिक्त देश मे भाँति भाँति के फलो तथा शाको की भी उपज होती थी। कुछ स्थान विशेष रूप से फलो की उपज के लिए ही विख्यात थे। कई तरह के तिलहन की भी पदावार होती थी। फाहियान के यात्रा विवरण से देश की जनता की सामान्य समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है, परन्तु कृषि की अवस्था पर कोई विशेष प्रकाश नही पडता। ह्वेनसाग ने अपने ग्रन्थ मे विभिन्न फसलो का सविस्तार उल्लेख किया है जिसका उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा।

उद्योग धन्धे—गुप्तकाल मे भारतीय उद्योग धन्धों की स्थिति बडी ही समृद्धिपूर्ण और सन्तोषजनक थी। मौर्य-काल मे विभिन्न उद्योग धन्धो की जिस समृद्ध परम्परा का उल्लेख हमने 'मौर्यकालीन सभ्यता और संस्कृति' नामक अध्याय मे किया है वह गुप्तकाल मे न केवल जीवित ही रही बल्कि इस समय पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत स्थिति में थी। कुछ उद्योग धन्धो मे गुप्तकालीन भारत के कारीगरो ने जो निपुणता प्राप्त की वह आज के यान्त्रिक युग के कारीगरो के लिए ईर्ष्या और स्पृहा की वस्तु है। लोहे की वस्तुओ के निर्माण का उद्योग इसी प्रकार का एक धन्धा है। हमने पीछे प्रोफेसर कुमारस्वामी का यह मत उद्धृत किया है कि धातु निर्माण-कला मे गुप्तकालीन

कारीगर काफी कुशल थे और पन्द्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय जलयानों की अपेक्षा बड़े और मजबूत जलयान बनाते थे। दिल्ली के निकट का लौह स्तम्भ आज भी अपनी उत्कृष्ट कारीगरी द्वारा लोगों को आश्चर्यान्वित कर देता है। लौह उद्योग और पोत-निर्माण के अतिरिक्त अन्य उद्योग धधो मे भी गुप्त-युग के भारतीय कारीगर काफी निपुण थे।

साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोतों से पता चलता है कि गुप्त-काल मे वस्त्र व्यवसाय काफी विकसित दशा मे था। कुछ दृष्टियो से वस्त्र तैयार करने का कार्य देश का सबसे प्रमुख उद्योग धधा था। देश के लाखो स्त्री-पुरुषों की जीविका इसी के द्वारा चलती थी। यद्यपि सम्पूर्ण देश मे कपड़ा तैयार किया जाता था, तथापि कुछ स्थान वस्त्र-व्यवसाय के लिये विशेष रूप से विख्यात थे। इसके प्रमुख केन्द्र गुजरात, बगाल दक्षिण और तामिल देश मे अवस्थित थे। हम पीछे विचार कर चुके हैं कि देश में विभिन्न ऋतुओं में अनुकूल वस्त्र पहना जाता था जिसमे वस्त्र-व्यवसाय को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। 'अमरकोष' से पता चलता है कि न केवल सामान्य वस्त्र के विभिन्न प्रकारो के लिए ही विशिष्ट नामो का प्रचलन था अपितु बढ़िया और मामूली कपड़ा के लिए विभिन्न शब्दो का प्रयोग किया जाता था। चार प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख 'अमरकोष' मे किया गया है—(१) क्षौम, जिसका समीकरण दुकूल के साथ किया गया है, और Bark रेशो से बने हुए वस्त्र (२) रुई के वस्त्र जो फलो के रेशों से बनाये जाते थे, (३) रेशमी वस्त्र जिसका निर्माण रेशमी कपड़ा द्वारा किया जाता था और (४) ऊनी कपड़े, जो पशुओं के बालो से तैयार किये जाते थे। इसी ग्रन्थ मे उन विभिन्न शब्दो का उल्लेख प्राप्त होता है जिनका प्रयोग वस्त्र तैयार करने की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं के लिए किया जाता था। बुने हुये वस्त्र के लिए विशिष्ट शब्द था, इसी प्रकार उज्ज्वल किए हुए कपड़े के लिए भी अलग शब्द थे। वस्त्र निर्माण के साथ वस्त्र रँगने का व्यवसाय भी काफी उन्नति पर था। गुप्तकालीन स्त्री-पुरुषों का रंगीन कपड़े पहनने का अधिक शौक था जिससे इस उद्योग धधे की उन्नति होना स्वाभाविक ही था। वराहमिहिर ने वज्रलेप का उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि गुप्तकाल मे वस्त्रो को रँगने की रासायनिक क्रिया से भी लोग परिचित थे। वनस्पतियो द्वारा इस समय के कारीगर विभिन्न प्रकार के रग प्राप्त करते थे जिनका प्रयोग वे वस्त्र रंगने के काम मे करते थे।

इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि देश मे वस्त्र सिलने का व्यवसाय भी वर्तमान था। यद्यपि अब भी देश मे अधिकतर बिना सिले हुए कपड़ो का प्रयोग किया जाता था तथापि गुप्त सम्राटो के कुछ सिक्कों तथा बाघ और अजन्ता के चित्रो से पता चलता है कि सिले हुए परिधान भी इस काल मे धारण किए जाते थे। लेकिन इस समय देश मे सिले हुए वस्त्रो का प्रयोग व्यापक रूप से न होने के कारण, वस्त्र सिलने का व्यवसाय अधिक उन्नति पर नहीं रहा होगा।

गुप्त-काल मे विविध प्रकार के आभूषणो का प्रयोग किया जाता था जिससे यह ज्ञात होता है कि सुवर्णकार का व्यवसाय समृद्ध अवस्था मे था। "वास्तव मे सुवर्णकार की कला इतनी विकसित थी कि इसके द्वारा विज्ञान की एक नयी शाखा का जन्म हुआ जिसका नाम 'रत्नपरीक्षा' था। यह विज्ञान काफी प्राचीन मालूम पड़ता है, क्योंकि वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' मे इसका उल्लेख किया है। 'दिव्यावदान' मे भी यह उल्लेख मिलता है कि व्यापारियो के पुत्रो को इस विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। 'बृहत्संहिता' मे चौबीस प्रकार के आभूषणो की सूची है जिनका प्रयोग उस समय किया

जाता था। विशेष रूप से हीरा, मोतियो तथा लालो का उल्लेख उनके उत्पत्ति-स्थान, रंग तथा गुण के आधार पर किया गया है। विभिन्न रत्नो की विशिष्टताओ से लोग इस समय अच्छी तरह से परिचित थे और कवियो ने अपनी रचनाओ मे उनका प्रयोग सुन्दर उपमाएँ देने के लिए किया है।"[1] फाह्यान के यात्रा विवरण से पता चलता है कि इस काल मे सोने चाँदी और मणि की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। ताँबे के बढ़िया बर्तन तैयार करने का उद्योग भी प्रचलित था। भगवान् बुद्ध की कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ मिली है जो पीतल और काँसे की बनी हुई है, जिनसे पता चलता है कि इन धातुओ का भी लोग प्रयोग करते रहे होगे। मोती के आभूषण बनाने के व्यवसाय की गुप्त-काल मे बहुत अधिक उन्नति हुई थी।

साहित्यिक और पुरातात्त्विक दोनो स्रोतो से पता चलता है कि गुप्त-युग के भारतीय उद्योग धंधो मे गज दन्त शिल्प को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस काल के गज-दन्त शिल्पियो की निपुणता प्रशंसनीय थी। वे विविध प्रकार की वस्तुएँ हाथीदाँत से तैयार करते थे जिनका प्रयोग धनी मानी लोग अपने घरो की शोभा बढ़ाने मे करते थे।

श्रेणियाँ—प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन मे व्यापारियो और व्यवसायियो की श्रेणियो का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। हम देख चुके हैं कि बुद्धकालीन भारत मे ये श्रेणियाँ विद्यमान थी और मौर्यकालीन भारत मे इनकी क्या अवस्था थी, इस पर भी विचार कर चुके हैं। दक्षिण मे सातवाहनो के शासन-काल मे भी व्यापारिक और औद्योगिक श्रेणियाँ काफी अधिक संख्या मे थी। इनके विषय मे भी हम पीछे पढ चुके हैं। गुप्तकालीन लेखो मे श्रेणियो का उल्लेख प्रचुरता से किया गया है। श्री दाण्डेकरजी का कथन है कि एक अभिलेख मे श्रेणि प्रमुखो व्यापारियो और कारीगरो के समूहो तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओ के उल्लेख द्वारा गुप्त-युग के आर्थिक संगठन की मनोरञ्जक झाँकी मिलती है। सामूहिक क्रियाशीलता राष्ट्रीय जीवन के तीनो रूपो—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक—की प्रमुख विशेषता प्रतीत होती है। 'The mention, in an inscription of the corporation of guild presidents, traders and chiefs of groups of artisans and of kindred bodies, etc श्रेष्ठिसार्थवाहकुलिकनिगम provides interest in glimpses in the economic organisation of the Gupta period Corporate activity seems to have been the outstanding feature of all the three aspects of national life, social, political and economic'[2]

गुप्तलेखो तथा मुहरो मे कई स्थान पर व्यावसायिक श्रेणियो के अस्तित्व का पता चलता है। मन्दसोर के लेख मे, जो कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल से सम्बन्धित है, एक पटकार श्रेणी का उल्लेख किया गया है जो लाट (दक्षिणी गुजरात) से आकर दशपुर (मालवा) मे निवास करने लगी थी। स्कन्दगुप्त के लेख मे 'इन्द्रपुरनिवासिन्या तैलिकश्रेण्या' का उल्लेख मिलता है। तैलिको की इस श्रेणी के पास एक ब्राह्मण ने अक्षय नीवी जमा कर दी थी जिसके द्वारा होने वाले ब्याज से श्रेणी की ओर से सूर्य मन्दिर मे नित्य रात्रि मे दीपक जलाने की व्यवस्था की गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तयुग मे पटकार मत्तिकार, शिल्पकार, वणिक आदि व्यवसायियो की श्रेणियाँ वर्तमान थी।

---

१ *Classical Age* p 588

२ *A History of the Guptas*, p 195

गुप्तकाल की शान्तिमयता और समृद्धि ने अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राज्यो के व्यापार को बडा प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया और इसका श्रेणियो के विकास पर भी प्रभाव पडा। बसाढ, जो कि प्राचीन वैशाली के निकट बसा था और जहाँ गुप्तो की एक प्रान्तीय सरकार का केन्द्र था, अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनके द्वारा श्रेणी व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। इस विषय मे डॉ० यू० एन० घोषाल का कथन है—"From Basarh on the site of ancient Vaisali have been recovered seals and sealings belonging to guilds of bankers, traders and artizan• In many specimens the sealings of the guilds have been combined with those of private individuals who were evidently its members This suggests, as Block pointed out long ago, something life a modern chambar of commerce established at the provincial headquarters, from which members sent out instructions to their local agents '[१]

प्राचीन वशाली के निकट बसाढ से मुहरें और sealings प्राप्त हुई है जो बकरो, व्यापारियो और कारीगरो की श्रेणियो से सम्बन्धित है। बहुत से नमूनो मे श्रेणियो की मुहरो के साथ व्यक्तियो की मुहरें मिला दी गई हैं जो स्पष्टतया इसके सदस्य थे। इससे यह ध्वनित होता है, जैसा कि ब्लॉक ने बहुत पहले निर्देश किया था, कि यह आधुनिक वाणिज्य समिति (Chamber of Commerce) की तरह की एक संस्था थी जो प्रान्तीय सरकारो के केन्द्रो मे स्थापित की गई थी और जहा से सदस्यगण अपने स्थानीय एजेन्टो को आदेश भेजते थे।

ये श्रेणियाँ समाज मे बडे आदर और सम्मान की अधिकारिणी समझी जाती थी। ये स्वतन्त्र संस्थायें होती थी और अपने ही नियमो तथा उपनियमो द्वारा सचालित होती थी। इनके नियमो और परम्पराओ का सम्मान राज्य द्वारा किये जाने का उल्लेख 'याज्ञवल्क्य स्मृति' मे मिलता है। श्रेणियो के सदस्यो मे आपस मे जो मुकदमे हुआ करते थे, उनका फैसला श्रेणी की व्यवस्थापिका करती थी, राज्य के न्यायालय नही। श्रेणियो के पास अपनी सम्पत्ति तथा अपना कोष होता था। कई-कई श्रेणियो के पास तो इतना अधिक धन होता था कि वे दरीगृह दान कर सकती अथवा मन्दिर का निर्माण करा सकती थी। श्रेणियो के कतिपय सदस्य सुशिक्षित तथा सुसस्कृत अभिरुचि के होते थे। मन्दसोर अभिलेख मे पट्टकार श्रेणी के बहुत से सदस्यो का उल्लेख मिलता है जो भिन्न भिन्न विद्याओ मे निपुण थे। कुछ गान, कथा, धर्म प्रसंग, वस्त्र बुनने, ज्योतिष, समर, धर्मशील आदि विषयो मे दक्ष थे। डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का विश्वास है कि आपत्ति काल समुपस्थित होने पर श्रेणियाँ अपने ही सदस्यो और कर्मचारियो की एक छोटी मोटी सेना तैयार कर लेती थी और इस सेना के द्वारा अपने सदस्यो के शरीर, सम्पत्ति तथा माल की रक्षा कर सकती थी।

श्रेणियो के ऊपर हमने जो विचार किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी उपादेयता कितनी अधिक थी। इनके द्वारा व्यापार और शिल्प का प्रोत्साहन तो प्राप्त होता ही था, लोगो मे सहयोगपूर्ण कार्यशीलता की भावना का भी सचार होता था। श्रेणि संस्थायें देश मे सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती थी। प्रोफेसर आर० सी० मजूमदार ने ठीक कहा है कि देश के कानून इन्हे स्वशासन और स्वतन्त्रता की जो सुविधायें प्रदान करते थे, उनके द्वारा वे शक्ति के केन्द्र तथा उदार संस्कृति के आस्पद बन गये थे और इस प्रकार समाज की शक्ति तथा आभूषण

१ *Classical Age*, p 193 इस श्रेणी के विशेष विवरण के लिए देखिये *Vakataka Gupta Age*, pp 355 56

के रूप मे बना दिये गये थे । 'Through the autonomy and freedom accorded to them by the laws of the land they became a centre of strength and an abode of liberal culture and progress which made them a power and ornament of the society'[1]

व्यापार—कृषि और उद्योग धधों की समृद्धि ने व्यापार की उन्नति को अनिवार्य कर दिया । आन्तरिक व्यापार की अवस्था काफी सन्तोषजनक थी और देश के एक भाग से दूसरे भाग तक व्यापारी अपनी विक्रय-सामग्रियो के साथ बिना किसी रोक टोक के आया-जाया करते थे । विदेशी व्यापार भी समुन्नत दशा में था । आन्तरिक व्यापार की उन्नति से नगरो के वैभव और ऐश्वर्य में अभिवृद्धि हुई । सम्भवत नये नगरो की स्थापना भी हुई होगी । गुप्त-युग के लेखो से इस समय के आन्तरिक और विदेशी व्यापार की स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है । देश के भीतर व्यापार की सुविधा के लिए राजमार्गों और जलमार्गों की समुचित व्यवस्था थी और दोनो ही मार्गों से व्यापारी अपने समान पहुचाते तथा यात्रा करते थे । इस समय भड़ोच, उज्जयिनी, पैठन, विदिशा, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली ताम्रलिप्ति, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्र तथा पेशावर व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे । ये राजपथों द्वारा एक-दूसरे मे जुड़े हुए थे । गुप्तों की सुदृढ शासन-व्यवस्था के कारण राजमार्ग सर्वथा सुरक्षित थे । विक्रय सामग्रियो का गमनागमन गाडियो तथा पशुओ द्वारा होता था । कहीं-कहीं पर इस कार्य के लिए व्यापारी हाथियो का प्रयोग भी करते थे । परन्तु इस समय जलमार्ग व्यापार की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक तथा कम व्ययसाध्य था । गगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदियों द्वारा व्यापार किया जाता था । बड़ी-बड़ी नौकायें बनाई जाती थी जिनके द्वारा व्यापार काफी सुविधापूर्ण हो गया था । व्यापारियों और श्रेणियों द्वारा किन किन वस्तुओ का क्रय विक्रय होता था इस विषय मे हमे सविस्तार सूचना उपलब्ध नहीं है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार के वस्त्र, अन्न, मसाले, नमक और बहुमूल्य पत्थर इत्यादि वस्तुयें आन्तरिक व्यापार की प्रमुख सामग्रियाँ थीं ।

भारत का विदेशी व्यापार काफी विकसित अवस्था मे था और देश की आर्थिक समृद्धि का महत्त्वपूर्ण कारण था । विदेशी व्यापार भी जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा किया जाता था । स्थल-मार्ग द्वारा भारत पूर्व मे तिब्बत तथा चीन और पश्चिम मे ईरान और अरब से व्यापार करता था । सहस्रों गाडियो के कारवान भारत से विदेशों को जाते थे और यहाँ की बनी हुई वस्तुयें विदेशी बाजारो मे बिकती थीं । जलमार्गों द्वारा विदेशी व्यापार अधिक परिमाण मे किया जाता था । पूर्व मे ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह बगाल का एक प्रमुख नगर था । भारत के पूर्वीय व्यापार का यह सबसे प्रधान केन्द्र था । चीन, लका, जावा और सुमात्रा आदि देशो को भारतीय व्यापारी इसी बन्दरगाह द्वारा जाते थे । आन्ध्र देश मे गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मुहानों पर अनेक बन्दरगाह थे जिनमे कदूर और घण्टशाल अधिक प्रसिद्ध थे । इनका उल्लेख टोलमी ने भी किया है । कावेरीपट्टनम और तोन्दई चोल देश के प्रमुख बन्दरगाह थे, पाण्ड्य देश के प्रसिद्ध बन्दरगाह कोरकई तथा सलिपुर थे और इसी प्रकार मालाबार के समुद्री तट पर कोट्टयम और मूजिरिस प्रमुख बन्दरगाह थे । चीन और अन्य पूर्वीय देशों के साथ इन बन्दरगाहों के मार्ग से भारत ने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे । व्यापार के साथ-साथ इन स्थानों मे भारतीय संस्कृति का भी प्रचार होता था ।

१ *Corporate Life in Ancient India* (Second edition), p 68

चीनी यात्री फाह्यान के विवरण से इस बात का साक्ष्य मिलता है कि चौथी शताब्दी मे ताम्रलिप्ति और लका मे नियमित रूप से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था और इण्डोचीन तथा इण्डोनेशिया भी इन्व द्वारा व्यापारिक दृष्टि से जुडे हुए थे। बन्दरगाह के रूप म लका की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। भारत के पूर्वीय और पश्चिमी बन्दरगाहो को यह एक-दूसरे से जोडता था और अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण हिन्द महासागर के व्यापार मे एक बहुत बडे बाजार के रूप म था।

गुप्त-काल मे पश्चिमी देशो के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध काफी पुराना हो चुका था। कुषाण-संस्कृति का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि कुषाण-काल में भारत को पश्चिमी देशो के साथ व्यापार करने मे कितना अधिक लाभ होता था। गुप्त-काल मे यह व्यापार और अधिक सम्पन्न तथा वृद्धिगत हुआ। जिस समय से चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने काठियावाड के बन्दरगाहो पर अपना अधिकार कर लिया, भारत के पश्चिमी व्यापार को प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्राचीन तामिल साहित्य मे यवनो का उल्लेख किया गया है और इस साहित्य के अध्ययन द्वारा रोम और अन्य यवन देशो के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। कॉस्मस (Cosmos) नामक यवन न भी भारत और पश्चिमी देशो के व्यापार का उल्लेख किया है। इस लेखक न लिखा है कि भारत की कृषि-सम्बन्धी उपजो मे घीकुआँर, लौंग और चन्दन की लकडी भारत के पूर्वी समुद्रतट से लका पहुँचाई जाती थी और वहाँ से उनका निर्यात पाश्चात्य बन्दरगाहो को किया जाता था। फारस तथा इथोपियन समुद्रतट तक ये वस्तुएँ पहुचती थी। गोलमिर्च का निर्यात विशेष रूप से किया जाता था। यह वस्तु मालाबार के पाँच बन्दरगाहों से विदेशो को भेजी जाती थी। मोती बहुमूल्य पत्थर, सुगन्धित पदार्थ, कपडे, मसाले, नील, औषधियाँ नारियल और धपादि निर्यात की प्रमुख सामग्रियाँ थीं। इन वस्तुओं के बदले मे विदेशो से सोना तथा सोने के सिक्को का आयात होता था। भारतवासी खजूर, घोडे, टीन, कपूर तथा मूँगे विदेशो से मंगाते थे। चीन के रेशमी वस्त्र भी देश म काफी लोकप्रिय थे। 'अमरकोष' मे वनायु (अरब), पारसिक (फारस) कम्बोज और बाह्लीक के अश्वो का उल्लेख किया गया है। गुप्तयुग मे घोडो का आयात उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा अरब, फारस और अफगानिस्तान से किया जाता था। कासमस स्पष्टतया कहता है कि फारस से बहुत से घोडे लका पहुचाये जाते थे। 'अमरकोष से पता चलता है कि ताँबा म्लेच्छ देश म पाया जाता था। कॉस्मस ने लिखा है कि 'कल्याण' देश मे ताँबा पैदा किया जाता था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह ताँबा विदेशो से ही आता था। यह एक उल्लेख्य बात है कि इस समय कल्याण पश्चिमी भारत का एक बहुत बडा बाजार था। पश्चिमी देशो से भारत का जो व्यापारिक सम्बन्ध था, उससे भारतवासियो को आर्थिक लाभ था। गुप्त सम्राटो ने विशेषकर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा कुमारगुप्त ने, सोने की जो कलापूर्ण मुद्राएँ चलाई, उसके लिए उन्हें अधिकतर सोना विदेशियो से ही प्राप्त होता था।

धार्मिक अवस्था

गुप्त-काल भारत के धार्मिक विकास के लिए भी विख्यात था। यो तो भारत सदैव से ही धर्मपरायण देश रहा है और धार्मिक सहिष्णुता भी सदा ही यहाँ के निवासियो के दृष्टिकोण की विशेषता रही है तथापि गुप्त-युग का इन बातो के लिए विशेष महत्त्व है। गुप्त सम्राटो की धार्मिक उदारता वस्तुत प्रशसनीय थी। प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि गुप्त-सम्राटो ने आर्य धर्म की प्रत्येक

शाखा—शैव धर्म वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म—को अपनी साम्राज्य सीमा में फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया। धार्मिक सहिष्णुता की भावना केवल ब्राह्मण धर्म की विभिन्न शाखाओं, यथा शैव, वैष्णव या शाक्त धर्मों में ही विद्यमान न थी, वरन् जैन और बौद्ध सुधारवादी धार्मिक आंदोलनों में भी इसका प्रसार था।

आज के प्रचलित हिन्दू धर्म के स्वरूप का निर्माण गुप्त युग में ही हुआ। वैदिक देवताओं की पूजा के स्थान पर विष्णु और शिव की उपासना का प्रचार समाज में बढ़ा। मौर्य-काल की धार्मिक व्यवस्था के सम्बन्ध में हमने भागवत धर्म के उत्थान और विष्णु-पूजा के प्रचार का थोड़ा अध्ययन किया है। इसी प्रकार शैव धर्म की संक्षिप्त विवेचना भी हम कर चुके हैं। गुप्त-युग के धार्मिक जीवन की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इस समय धर्म की जनवादी परम्परा को, जिसकी अभिव्यक्ति शैव और वैष्णव तथा महायान सम्प्रदायों के द्वारा हुई थी, बड़ा प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कई पुराणों की रचना की गई जिनमें शैव और वैष्णव धर्मों का महत्व बतलाया गया और कथाओं के माध्यम से जनता को इन धर्मों के सिद्धान्तों से अवगत कराने का प्रयत्न किया गया। ब्राह्मण धर्म के उस रूप को, जिसे हम आज हिन्दू धर्म कहते हैं गुप्त-काल में वास्तविक स्वरूप प्राप्त हुआ। इस धर्म में वैदिक धर्म का स्पष्ट तथा प्रत्याख्यान नहीं किया गया था, वरन् यों कहना चाहिए कि वैदिक धर्म के तत्त्व भी इसमें विद्यमान थे, किन्तु लोकरुचि को आकृष्ट करने के लिए इसमें नवीन तत्वों का समावेश किया गया था। मूर्ति-पूजा का प्रचलन गुप्त युग के पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था किन्तु इस युग में हम इसका व्यापक प्रचार देखते हैं। विष्णु धर्मोत्तर में मूर्ति पूजा सम्बन्धी धारणा की व्याख्या भी की गई और पण्डितों को भी उसके महत्व से परिचित कराने का प्रयास किया गया। इस प्रकार गुप्त-युग के हिन्दू धर्म में प्राचीन और नवीन तत्वों का समन्वय था, ऊँची तथा नीची आध्यात्मिक और धार्मिक विचार धाराओं का सामरस्य था और समाज में जो नवीन तत्त्व प्रविष्ट हो गये थे, उनको भी इस धर्म में समुचित स्थान दिया गया था।[1] हम गुप्त युग की धार्मिक अवस्था का अध्ययन सुविधा की दृष्टि से कई शीर्षकों के अंतर्गत करेंगे।

वैदिक धर्म—यद्यपि गुप्त-युग में लोकरुचि के अधिक निकटवाले वैष्णव और शैव धर्मों का प्रचार अधिक था और बौद्ध तथा जैन धर्म भी अधिक ह्रासोन्मुखी स्थिति में नहीं थे तथापि वैदिक धर्म समाज में एक सबल शक्ति के रूप में था। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्मानुयायी थे, किन्तु उन्होंने वैदिक धर्म का सक्रिय पोषण किया। दक्षिण भारत में भी वैदिक यज्ञों से लोगों का परिचय हो गया और तामिल साहित्य में यज्ञ का रूप एक सामान्य चर्चा का विषय बन गया था। ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक वैदिक धर्म समाज में काफी लोकप्रिय था। बाद में भी साधारण जनता की श्रद्धा इस धर्म के प्रति बनी रही। गुप्त युग में जिस हिन्दू धर्म का विकास हुआ, वह समन्वयवादी था, क्योंकि जैसा कि हम पहले

---

१ इस सम्बन्ध में डॉ० आर० सी० मजूमदार का यह कथन बड़ा महत्वपूर्ण है 'Hinduism has already grown into that mosaic of various patterns combining the religious and spiritual ideas both old and new, high and low, losing nothing and eternally adding more and more from new elements introduced into society"—*Classical Age*, p 367

कह चुके है, इसमे भक्तिवादी शैव और वैष्णव सम्प्रदायो के तत्त्व वैदिक यज्ञ यागादि के साथ मिले हुए थे। इसलिए देश मे सामान्य जनता के बीच भक्तिवादी सम्प्रदायो का अधिक प्रचार हो जाने पर भी वैदिक धर्म का सम्मान होता रहा। समाज के विवेकी और सुशिक्षित जनो की दृष्टि मे वैदिक यज्ञ और सस्कारो का काफी महत्त्व था। हम गुप्त-युग के इहलोकपरक साहित्य द्वारा इस काल के समन्वय प्रधान हिन्दू धर्म का परिचय प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास निस्सन्देह शैव थे, किन्तु उन्होने 'रघुवश' मे वैदिक सस्कारो और यज्ञो का सच्ची सहानुभूति के साथ वर्णन किया है। एक उपमा मे उन्होने वेदो के प्रति आस्था प्रकट की है जब वे कहते हैं कि जिस प्रकार स्मृतियाँ वेद का अनुसरण करती हैं, उसी प्रकार सुनन्द कामधेनु के पीछे-पीछे चली।[1]

गुप्त-युग के लेखो से इस बात की सूचना काफी मिलती है कि उन्होने ब्राह्मणो को प्रचुर दक्षिणायें दी। यह एक उल्लेख्य तथ्य है कि ब्राह्मणो को दान देना वैदिक या ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख तत्त्व है। श्री दण्डेकर महोदय का विचार है कि इसे अस्वीकृत नही किया जा सकता कि राजाश्रय ब्राह्मणो का एक अधिकार था। उदाहरण के लिए पाँच दामोदरपुर पत्र और चार फरीदपुर पत्र या तो ब्राह्मणो या कतिपय हिन्दू देवताओं के लिए दान मे भूमि के दिये जाने का उल्लेख करते हैं। "Other donations of a religious character, which clearly indicate the 'Hindu bias', of the period, are those for the performance of five great rites, for the erection of a यूप after the completion of the पुण्डरीक sacrifice, and for the establishment of सत्र, for Brahmans and other communities'

अभिलेखो और मुद्राओ द्वारा उत्तरी और दक्षिणी भारत के नृपतियो द्वारा वैदिक यज्ञ, विशिष्टतया अश्वमेध यज्ञ, किये जाने के उल्लेख प्रचुरतया प्राप्त होते हैं। गुप्त सम्राटो द्वारा वैदिक यज्ञो के अनुष्ठान के सम्बन्ध मे दण्डेकर कहते है "The first and the second Damodarpur copperplates, of 124 G E and 129 G E respectively, are distinctly Brahmanical in nature since they clearly refer to अग्निहोत्र and महायज्ञ These references to several types of Vedic sacrifices, big and small, definitely go to point out how this prominent feature of the Brahmanical religion had considerably developed under the Guptas न केवल समुद्रगुप्त तथा प्रवरसेन प्रथम जैसे प्रतापी सम्राटो ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था, अपितु इक्ष्वाकु वश के शान्तमूल नामक एक छोटे से राजा ने भी अश्वमेध किया था। कुछ सामन्तो ने भी अश्वमेध यज्ञ करके अपनी इच्छा पूरी की। डॉ० अल्तेकर महोदय का कथन है कि उपलब्ध साक्ष्यो से यही पता चलता है कि हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो जाने के बाद तीसरी और चौथी शतियो मे यज्ञो की जितनी अधिक लोकप्रियता थी, उतनी और कभी नही थी। प्रवरसेन प्रथम नामक प्रतापी वाकाटक सम्राट ने न केवल अश्वमेध ही, वरन् आप्तोयम, उतथ्य, षोडशिन, बृहस्पतिसव और वाजपेय यज्ञो का अनुष्ठान किया। पल्लवो ने भी अनेक वैदिक यज्ञ किये थे। पल्लवो और इक्ष्वाकुओं ने अग्निष्टोम वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ किये थे। साधारण लोगो के हृदयो मे पञ्च महायज्ञो के प्रति काफी श्रद्धा थी और वैदिक धर्म के प्रति आदर का भाव था।

वैष्णव धर्म—वैदिक धर्म का प्रभाव साधारण जनता पर बहुत गम्भीर नही पड सका। ऐसा सम्भव नही था, क्योकि यज्ञो का अनुष्ठान सम्पन्न लोगो के द्वारा ही

१ तस्या खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलाना धुरि कीर्तनीया।
मार्ग मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत ॥

सम्भव था। सामान्य जन व्ययसाध्य यज्ञों को नहीं करा सकते थे। इसके अतिरिक्त भक्ति-प्रधान स्मार्त धर्म की दिनोंदिन बढ़ती हुई सर्वप्रियता के कारण वैदिक यज्ञों का प्रचार उतना अधिक नहीं रह सका जैसा कि बुद्ध ही क्यों पूर्व था। पाँचवीं शताब्दी से हम निश्चय ही वैदिक यज्ञों को ह्रासोन्मुख पाते हैं। अल्तेकर महोदय इस सम्बन्ध में हमें बताते हैं कि वाकाटक नरेश प्रवरसेन और इक्ष्वाकु राजा शान्तमूल ने कई वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया था, समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त केवल एक ही यज्ञ से सन्तुष्ट हो गये। ईसा की दूसरी, तीसरी और चौथी शताब्दियों में पाषाणयुप, जो उनके अनुष्ठान की स्मृति दिलाते थे काफी प्रचलित थे, लेकिन बाद में उनका लोप होने लगता है। भीटा, नालन्दा और वैशाली से जो मुहरें प्राप्त हुई हैं उन पर शंख, चक्र, त्रिशूल और नन्दी के चिह्न काफी अधिक संख्या में मिलते हैं—अग्नि वेदी या यूप के दर्शन बहुत ही कम होते हैं।[1] शिव और विष्णु जैसे पौराणिक देवताओं ने सामान्य जनता के हृदय को वैदिक देवताओं की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया।

इस बात का हमने पहले ही उल्लेख किया है कि गुप्त नरेश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उनके समकालीन अन्य राजाओं में भी वैष्णव होने का प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर उनको परम भागवत कहा गया है जिससे यह पता चलता है कि वे भगवान् वासुदेव के महान् भक्त थे। उनके व्यक्तिगत और सरकारी लेखों में गरुड़ एवं लक्ष्मी के चिह्न भी यह सूचित करते हैं कि वे वैष्णव धर्म के उत्साही अनुयायी थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली लौह-स्तम्भ विष्णुध्वज कहा गया है। उदयगिरि गुहा का एक अभिलेख विष्णु और दस भुजा चण्डी के चित्रों के ऊपर एक दीवाल में उत्कीर्ण है। श्री दण्डेकर के शब्दों में "The most popular sect of the Hindu religion patronized in the Gupta period seems to have been Vaishnavism A large number of Gupta inscriptions are distinctly representative of Vaishnava tendencies" चक्रपालित ने सुदर्शन झील पर जो बाँध बनवाया था, उसकी स्मृति में उसने चक्रभृत के जो विष्णु के ही एक रूप थे, एक मन्दिर का निर्माण कराया था। गुप्त राजाओं के सामन्तों की वैष्णव धर्म के प्रति आस्था का भी प्रमाण मिलता है। विष्णु के ही एक रूप भगवान् जनार्दन की स्मृति में एक ध्वजस्तम्भ मातविष्णु द्वारा बनवाये जाने का उल्लेख बुधगुप्त के एरण अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख में मातृविष्णु को, जो बुधगुप्त का सामन्त था, 'भगवान विष्णु का एक महान भक्त' कहा गया है। विष्णु के अवतारों की, जैसे वराहावतार की स्तुति बिल्कुल पौराणिक ढंग से की गई है।

उपलब्ध प्रमाणों के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि गुप्त युग में वैष्णव धर्म काफी लोकप्रिय होता जा रहा था। दक्षिण भारत में इसके प्रचार का श्रेय आलवार सन्तों को है जिन्होंने तामिल भाषा में सरल और भावपूर्ण पदों की रचना करके लोगों का ध्यान वैष्णव मत की ओर आकृष्ट किया। इनके पद इतने सरल हैं कि साधारण जन भी इन्हें समझा सकते हैं। उत्तर भारत में वैष्णव मत के प्रचार का कारण पुराणों का प्रणयन था जिसमें स्थान स्थान पर विष्णु की महिमा पाई गई है। यहाँ एक बात अवश्य ही स्मरण रखनी चाहिए कि पुराणकारों ने हिन्दू धर्म को लोकप्रिय बनाने में उन्हीं तरीकों को अपनाया जिनको महायान बौद्ध के मानने वालों ने ग्रहण किया था, परन्तु कालान्तर में ब्राह्मण लोग इस बात में अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्म प्रचारकों से बहुत आगे बढ़

१ *Vakataka Gupta Age* p 371

गये। पुराणों में विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई और उनको मानवीय आचरण से युक्त तथापि सर्वशक्तिमान और भक्तवत्सल प्रदर्शित करके पुराणकारों ने जनता के बीच वैष्णव धर्म फैलाने में काफी अधिक सफलता प्राप्त की।

गुप्त युग में भगवान विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना की गई जिनमें वराह, कृष्ण, वामन, मत्स्य, कूर्म और राम के अवतार प्रमुख थे। इन समस्त अवतारों में वराह और कृष्ण के अवतार सबसे अधिक लोकप्रिय थे। तामिल साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि दक्षिण में भी कृष्ण की लोकप्रियता सब अवतारों से अधिक थी। पाण्डवों की राजधानी का नाम 'मदुरा' पड़ना जो कि मथुरा का ही एक अन्य नाम जान पड़ता है, यह सिद्ध करता कि यह नगर भागवत धर्म की शक्ति का एक प्रबल केन्द्र हो गया था, मदुरा और इसके निकटवर्ती प्रदेशों में ही आलवारों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भक्ति और कृष्ण-पूजा के सम्बन्ध में तामिल भाषा में पद लिखे। 'शिल-प्पद्दिकारम' नामक तामिल ग्रन्थ में दक्षिण में कृष्ण मन्दिर और कृष्ण-पूजा का उल्लेख मिलता है। आलवारों ने कृष्ण और गोपिकाओं के मधुर सम्बन्ध पर गीतों की रचना की और राम, वामन, नारायण और कृष्ण के अवतारों की स्तुति में पद लिखे। भागवत पुराण में ठीक ही लिखा है कि कलियुग में जिस समय वासुदेव-नारायण के उपासक ढूंढने ही पर मिलते थे, द्रविड़ देश में उनकी काफी अधिक संख्या थी।

डॉ० अल्तेकर का कथन है कि यद्यपि महाकवि कालिदास ने राम को विष्णु का अवतार माना है तथापि यह प्रतीत होता है कि गुप्त-युग में छठी शताब्दी तक राम पूजा का प्रचलन नहीं हुआ था। किन्तु डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने लिखा है कि "The usual belief that the worship of Dasarathi Rama was not popular in the Gupta Age seems to be wrong" कालिदास ने 'रघुवंश' में तो राम को विष्णु का अवतार स्वीकार किया है, 'मेघदूत' में भी "रघुपतिपदैरंकितम मेखलासु" कहकर रामावतार के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। वराहमिहिर ने इक्ष्वाकु नरेश भगवान राम की पूजा का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि राम की मूर्तियाँ बनाने में किन नियमों का ध्यान रखना चाहिए। मलाबार तट पर एक केरल-नरेश राम का परम भक्त था। सागर जिले में एरण नामक स्थान में भगवान वराह की वराह-रूप में एक प्रतिमा पाई गई है जिस पर एक शिलालेख उत्कीर्ण है। शिलालेख का प्रारम्भ वराह की स्तुति से होता है जिससे यह स्पष्ट पता चलता है कि वराह की पूजा काफी प्रचलित थी। दक्षिण भारत में भी वराह अवतार की लोकप्रियता का प्रमाण मिलता है। छठी शताब्दी का एक लेख तगरे नामक स्थान से प्राप्त हुआ है जिससे विदित होता है कि कदम्ब लोग वराह के भक्त थे। चालुक्य और उनके सामन्त भी वराहावतार के उपासक थे।

गुप्तकालीन अभिलेखों में विष्णु और उनके अवतारों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं का कई स्थानों पर उल्लेख किया गया है। इनमें से एक अत्यन्त प्रचलित कथा की ओर केवल संकेत किया जा सकता है। भीतरी स्तम्भ लेख में "हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत" से कृष्ण के जीवन की घटना का उल्लेख प्राप्त होता है।

शैव धर्म—गुप्त-काल में शैव धर्म का भी काफी प्रचार था। यद्यपि गुप्त सम्राट स्वयं 'परम भागवत' थे तथापि उन्होंने शिव पूजा के प्रचलन में कोई बाधा उपस्थित नहीं की। उनके मन्त्री, सेनानायक और उच्च पदाधिकारी शैव थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के मन्त्री वीरसेन ने उदयगिरि पर शिवपूजा के निमित्त एक मन्दिर का निर्माण कराया था। कुमारगुप्त प्रथम के समय में ध्रुवशर्मा नामक एक ब्राह्मण के द्वारा

भिनसद मे स्वामी महासेन के मन्दिर मे दान देने का वर्णन मिलता है। शाब और पृथ्वीषेण दोनो ही शैव थे, यद्यपि ये वैष्णव धर्मानुयायी गुप्तो के शासन मे उच्च पदाधिकारी थे। यदि गुप्त, पल्लव और गग नरेश अधिकाशतया वैष्णव थे तो भारशिव वाकाटक, नल, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशो के नरेश शैव धर्म को मानते थे।

गुप्त युग की तक्षण-कला मे शिव की मूर्तिया भी प्राप्त होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय एकमुख या चतुर्मुख शिव की पूजा का ही प्रचलन था क्योंकि ये ही मूर्तिया अधिक सख्या मे प्राप्त हुई हैं। नागोद राज्य मे स्थित भूमरा तथा खोह स्थानो मे एकमुख शिवलिंग की सुन्दर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। अजमेर के सग्रहालय गुप्तकालीन मूर्तियो का जो सग्रह है उसमे चतुर्मुख लिंग तथा शिव की मूर्तिया काफी अधिक हैं। करमदण्डा मे एक शिवलिंग मूर्ति प्राप्त हुई है। इसका निर्माण पृथ्वीषेण ने करवाया था। त्रिशूल और नन्दी के अनेक चिह्न भी प्राप्त हुए हैं।

अपने या अपने पूर्वजो के नाम की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए किसी शिव मन्दिर का निर्माण कराना, गुप्त युग की एक सामान्यतया प्रचलित प्रथा थी। पृथ्वीषेण और विष्णु वर्मन ने जो गुप्तो तथा पल्लवो के सेनाधिकारी थे, अपने नामो की स्मृति बनाये रखने के लिए, मन्दिरो की स्थापना कराई थी। पजाब मे भी यह प्रथा प्रचलित थी। चन्द्रगुप्त जो कि जालन्धर का एक छोटा सा नृपति था, की पत्नी ईश्वरी ने अपने पति की स्मृति मे एक मन्दिर बनवाया। मिहिर लक्ष्मी ने कागडा जिले मे मिहिरेश्वर का एक मन्दिर निर्मित कराया। हमारे युग मे शिव की पूजा उनके विभिन्न रूपो मे की जाती है। उनकी मानवीय आकृति को परवर्ती कुषाण-सम्राटो की मुद्राओ पर देखा जा सकता है। उनका प्राचीनतम लिंग रूप काफी पुराना है।[1]

अन्य देवताओ की पूजा—गुप्त युग मे विष्णु और शिव के साथ साथ अन्य देवताओ की भी पूजा की जाती थी। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश देवताओ की त्रिमूर्ति मे विष्णु और महेश (शिव) की पूजा के विषय मे हम पढ चुके हैं। ब्रह्मा के विषय मे भी हमे जान लेना चाहिए। पौराणिक धर्म का विकास होने पर कई वैदिक देवताओ का स्थान गौण हो गया और नये देवताओ की प्रतिष्ठा बढ गई। जिन देवताओ को अगौण स्थान मिला उनमे से ब्रह्मा भी थे। त्रिमूर्ति मे उनको स्थान अब भी प्राप्त था किन्तु उनका स्थान शिव और विष्णु के समकक्ष न रह गया। फिर भी ब्रह्मा के उपासक समाज मे विद्यमान थे। पद्मपुराण मे ब्रह्मा का महत्त्व पुन प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है। 'विष्णु धर्मोत्तर और बृहत्सहिता मे ब्रह्मा की मूर्ति बनाने का नियम दिया हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा की पूजा समाज मे प्रचलित थी। सिन्ध से लेकर बगाल तक इस देवता की प्रतिमायें मिली हैं जिनके द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि होती है। यह प्रतीत होता है कि त्रिमूर्ति मे गौण स्थान प्राप्त हो जाने पर ब्रह्मा की पूजा समाप्त नहो हुई। विष्णु और शिव के मन्दिरो मे उन्हे स्थान प्राप्त होना था। पुष्कर और प्रयाग जसे पवित्र तीर्थस्थानो को ब्रह्मा के महत्त्व के साथ सयुक्त कर दिया गया।

आजकल भी यद्यपि लोग सूर्य की पूजा कर लेते हैं तथापि देवता के रूप मे सूर्योपासना उतनी प्रचलित नहो है जैसा कि गुप्त युग मे थी। वर्तमान समय मे हमे कभी सूर्य के मन्दिर नहो दृष्टिगत होते किन्तु गुप्तकाल मे कई सूर्य मन्दिरो के उल्लेख हम प्राप्त होते हैं। कुमारगुप्त के मन्दसोर वाले शिलालेख मे सूर्य भगवान की स्तुति बडी

१ *Vakataka Gupta Age* p 373

ही सरस और ललित पदावली मे की गई है। इसी लेख मे यह उल्लेख मिलता है कि दशपुर (मालवा) मे पटकारो की श्रेणी द्वारा एक जीर्ण सूय मदिर का पुर्ननिर्माण कराया गया और एक नया मदिर भी बनवाया गया। ग्वालियर मे भी सूर्य भगवान् का एक मदिर था। स्कन्दगुप्त के इन्दौर वाले ताम्रपत्र मे भगवान सूय की स्तुति की गई है। इस ताम्रपत्र से यह सूचित होता है कि दो क्षत्रियो ने अन्तरवेद मे एक सूय-मन्दिर का निर्माण कराया था और इस मदिर मे नित्य दीप जलाने की व्यवस्था एक ब्राह्मण के द्वारा की गई थी। बघेलखण्ड के आश्रमक नामक स्थान मे भी गुप्तकालीन सूय-मदिर का उल्लेख मिला है। इन मदिरो के अतिरिक्त सूय की प्रतिमायें भी मिली हैं। भूमरा मे एक अत्यन्त सुन्दर सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुई है। अजमेर सग्रहालय म कमन से प्राप्त एक सूय प्रतिमा सुरक्षित है जिसमे सूय के सात अश्वो के चित्र बने हुए हैं। बगाल मे भी सूय देवता की अनक मूर्तियाँ मिली हैं। लेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रोग निवारण के लिए सूय का आवाहन किया जाता था। वशाली तथा भीटा से कुछ ऐसी मुद्रायें भी मिली हैं जिनक ऊपरी भाग म अग्निकुण्ड का चित्र मिलता है और नीचे के भाग म भगवतो आदित्यस्य' लिखा है।

गुप्त-काल मे शक्ति (देवी) की पूजा का भी प्रचलन था। स्थानाभाव के कारण शक्ति-पूजा या शक्ति धम के उदभव पर विचार नही किया जा सकता, परन्तु एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि कालान्तर म शक्ति और शिव-पूजा का एक-दूसरे के साथ समन्वय होना प्रारम्भ हो गया। शिव और शक्ति की पूजा उनके करुणामय और भयकर, दोनो प्रकार के रूपो म की जाती थी। सम्भवत इस तत्त्व ने दोनो मतो को एक-दूसर के निकट लाने मे महत्त्वपूण सहायता प्रदान की। देवी के विभिन्न रूपो म उमा, गौरी, पावती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता इत्यादि करुणाशील रूप थे और चामुण्डा दुर्गा, कालरात्रि, कात्यायिनी और भरवी के रूप भयकर थे। देवी के सभी रूपो की प्रतिमायें भारत के विभिन्न भागो मे पाई गई हैं। बगाल या पूर्वी भारत शाक्त सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था। यह स्वाभाविक ही है कि देवी के विभिन्न स्वरूपो की मूर्तियाँ पूर्वी भारत अथवा बगाल म प्राप्त हुई हैं। शाक्त-पूजा के साथ एक विस्तृत और विशाल पौराणिक कथा-साहित्य सयुक्त कर दिया गया।

शिव-पूजा के साथ गणेश और कार्तिकेय की पूजा का भी प्रचार था। गणेश और कार्तिकेय शिव तथा शक्ति (पावती) के पुत्र थ। कार्तिकेय को स्वामी महासेन भी कहा जाता था। गणेश की पूजा का भी प्रचार था और कालान्तर म गणेश के उपासको का एक सम्प्रदाय बन गया। पहाडपुर म गणेश की कई प्रतिमायें, पाषाण तथा धातुओ की बनी हुई मिली हैं। गणेश बड़े ही लोकप्रिय देवता थे। उनको समस्त विपत्तियो का नाशक तथा सफलतादायक समझा जाता था अतएव केवल ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय ही उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से नही देखत थे, अपितु बौद्ध और जन जैसे नास्तिक मतो के अनुयायी भी उनकी पूजा करन लगे। यह एक उल्लेख्य बात है कि गणेश की मूर्ति का प्रचार सुदूरपूव और इण्डोनेशिया मे बौद्धो ने ही किया था।

गुप्तयुग में मदिरों का महत्त्व—पूव गुप्त-युग तक हम देवताओ की मूर्तियाँ तो प्राप्त होती है परन्तु मन्दिरो का कोई उल्लेख नही प्राप्त होता। यदि यह कहा जाय कि मन्दिरो का निर्माण गुप्तकाल मे ही प्रारम्भ हुआ तो सम्भवत इस कथन मे कोई त्रुटि नहीं। मदिरो मे पूजा करना एक सामान्य धार्मिक नियम हो गया। हमने देखा है कि मदिरो का निर्माण एक पवित्र कृत्य समझा जाता था और शिव, विष्णु तथा सूय के मदिर बनवाये जाते थे। धीरे धीरे मदिर हिन्दू धर्म और सस्कृति के केन्द्र

बन गय । उनके निर्माण और अलवरण के कार्यों ने पत्थर, भवन निर्माता और चित्रकार को प्रोत्साहन प्रदान किया । सामूहिक पूजा मे उनकी सेवा के लिए गायको और नर्तको की आवश्यकता हुई और सान्ध्य काल में उनके पडालो म लोकोपदेश के कार्य ने पौराणिका और दार्शनिको की सेवा का अवसर प्रदान किया ।[1] इस तरह यह स्पष्ट है कि मन्दिरो का महत्त्व केवल धार्मिक दृष्टि से नही था सामाजिक जीवन की अभिवृद्धि तथा सस्कृति सरक्षण और सम्पोषण के कार्यों मे भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। यह एक प्रसन्नता की बात है कि तत्कालीन मन्दिरो के द्वारा दया-दान और लोककल्याण के काय भी किय जाते थे । मन्दिरो के अधिकारीगण उनकी आय का कुछ अश निधनो को भोजन वितरित करने मे व्यय करते थे । बिल्सड (उत्तर प्रदेश) के कार्तिकेय मन्दिर और मध्यभारत के मानपुर मे पिष्टपुरी के मन्दिर मे यह व्यवस्था विद्यमान थी । अभी हिन्दू मन्दिरो मे लोक शिक्षा का कोई प्रबन्ध नही किया गया था ।

कतिपय प्रचलित धार्मिक विश्वास—गुप्त-युग मे जनता मे कतिपय धार्मिक विश्वास भी प्रचलित थे । आजकल की तरह उस समय भी बहुत से लोग यह विश्वास करते थे कि प्रयाग मे मृत्यु होने पर पुण्य की प्राप्ति होती है । असाध्य रोगो से पीडित रोगी स्वेच्छापूर्वक गगा के सगम पर मरने के लिए चले आते थे । दक्षिण के भी अनेक नरेश प्रयाग के तट पर आते थ और दान दक्षिणा द्वारा अपनी तीर्थयात्रा की स्मृति को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करत थे । ब्राह्मणो म वैदिक सस्कारो के पालन की प्रवृत्ति विद्यमान थी । वे प्राणायाम, सूर्योपस्थान तथा गायत्री पूजा आदि कृत्यो से युक्त सन्ध्या वन्दन करते थे । देव-पूजा तथा पितृ पूजा का भी प्रचलन था । सोलह सस्कारो, पच महायज्ञो और श्राद्ध इत्यादि को द्विज लोग आदर की दृष्टि से देखत थे । व्रत-उपवासादि धार्मिक कृत्यो का प्रचलन सम्भवत गुप्त युग से ही प्रारम्भ हुआ । इस युग के पुराणो मे इनके विधिवत पालन के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है । ग्रहण और सक्रान्ति आदि अवसरो पर नदी-स्नान तथा दान मे पुण्य होता है, यह धारणा इस समय काफी प्रचलित थी ।

हिन्दू धम का विदेशो मे प्रचार—इस बात का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं कि गुप्त-युग की सस्कृति समन्वय पर आधारित थी और इस समय जिस हिन्दू धम का विकास हुआ, वह समन्वयवादी था । यद्यपि इस धम मे लोक जीवन स सम्बन्धित अनेक तत्त्व विद्यमान थे, तथापि इसम पर्याप्त सचरणशीलता थी । हम यह देख चुके हैं कि पूर्ववर्ती युगो मे हिन्दू धम को किस प्रकार विदेशियो ने ग्रहण कर लिया था । गुप्त युग मे भारतीय सस्कृति का विदेशो मे प्रचार होने पर हिन्दू धम भी वहाँ फल गया जावा, सुमात्रा और बोर्नियो मे हिन्दू देवी देवताओ की पूजा का काफी प्रचार था औ हिन्दुओ की धार्मिक विचारधाराओ को वहाँ के निवासियो न ग्रहण किया । चौद. शताब्दी तक मेसोपोटामिया और सीरिया मे हिन्दू मन्दिरो का अस्तित्व बना रहा । यह सम्भव है कि हिन्दू धम ने ईसाई धम पर कुछ प्रभाव डाला था ।

बौद्ध धम—गुप्त युग का बौद्ध धम अपने अधिकाश रूप मे महायान था । इसके उदभव और विकास के विषय मे हम पीछे पढ चुके हैं । परन्तु हमे यह नही समझना चाहिए कि महायान बौद्ध धम की प्रधानता ने हीनयान को बिल्कुल ही ह्रासोन्मुख कर दिया । यद्यपि लोकरुचि के अधिक निकट होने के कारण महायान धम अधिक लोकप्रिय हो गया था तथापि गुप्त काल मे हीनयान भी काफी फल फूल रहा था । परन्तु

१ *Vakataka Gupta Age* p 375

समष्टि रूप मे विवेचन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय लोक मे भक्ति-प्रधान स्मार्त धर्मों का जितना अधिक प्रचार था उतना बौद्ध और जैन धर्मों का नहीं।

गुप्त-काल में हीनयान और महायान दोनो ही सम्प्रदाय फल फूल रहे थे। हीन यान सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या इस समय भी बहुत कम न थी। हीनयान मत के कुछ उप सम्प्रदायो, विशेषकर सर्वास्तिवाद का प्रचार इस समय भी काफी विस्तृत क्षेत्र के ऊपर था। सर्वास्तिवादी लोग, जिन्हे बाद मे वैभाषिक कहा जाने लगा, पूरे उत्तरी भारत मे, उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त, काश्मीर, फारस, मध्य एशिया, चीन और सुमात्रा, जावा और कोचीन चीन मे फैले हुए थे। स्थविरवादी उपसम्प्रदाय वाले उज्जैनी, वल्लभी, कांची और लका, स्याम तथा बर्मा म काफी अधिक सख्या मे थे। लका पहले की भाँति इस समय भी हीनयान बौद्ध धर्म का प्रमुख गढ था। यही पर बौद्ध धम ग्रन्थो की टीकाओ का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। पहले तो टीकाओ के प्रणयन के लिए सिंहली भाषा का प्रयोग किया गया, परन्तु बाद मे पाली भाषा का इस काय के लिए प्रयोग किया जाने लगा। "हमारा युग निस्सन्देह लका के पाली साहित्य के इतिहास मे गौरवशाली युग का निर्माण करता है। 'दीपवस' और 'महावस', जिनकी रचना ३५० सन् ई० और ४७५ सन ई० म की गई थी लका और भारत के प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए बडे महत्त्वपूर्ण हैं।' इस युग के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य को बिना किसी सकोच के समृद्ध कहा जा सकता है। बुद्धघोष गुप्त युग का प्रसिद्ध बौद्ध लेखक था। इसने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रणयन किया। लका के बौद्ध प्रचारक भारत मे आकर अपने गुरु (बुद्धजी) की शिक्षाओ का प्रचार करते थ। ईसा की तीसरी शताब्दी मे आन्ध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक कोकण और बगाल में लका के बौद्ध भिक्षुओ का काफी सम्मान किया जाता था। लका के बौद्ध धर्म-प्रचारक चीन तक गये और वहाँ पर उन्होंने अनेक हीनयान ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। धर्मनिष्ठ बौद्ध यात्रियो की सुविधा के लिए बुद्ध गया मे लका के राजा मेघवर्मन् ने एक विश्रामगृह का निर्माण कराया था।

फाह्यान पाँचवी शताब्दी में भारत मे आया था और उसने देश मे बौद्ध धर्म की अवस्था के विषय मे लिखा है। उसका विवरण यद्यपि अधिक विस्तार के साथ नहीं दिया हुआ है तथापि उसके अध्ययन द्वारा हमे काफी सीमा तक यह पता लग जाता है कि देश मे बौद्ध धम की अवस्था कैसी थी। उसने अपनी यात्रा मध्य एशिया के देशो से प्रारम्भ की थी जहाँ पर उसने बौद्ध धम को फलते फूलते हुए पाया। मार्ग मे उसने मथुरा मे अनेक बौद्ध भिक्षुओ और बौद्ध सघो को देखा और अधिकाश स्थानो मे उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि नृपतिगण अधिकतर इस धम के प्रति सौहार्द का दृष्टि-कोण रखते थे और भिक्षुओ का उचित सम्मान करते थे। कुछ राजाओ ने सघो को भूमि दान मे दे रखी थीं जिससे विहारो का व्यय अच्छी तरह से चल सके। उसने बौद्ध भिक्षुओ की इस बात के लिए बडी प्रशसा की है कि वे अनुशासन-सम्बन्धी नियमो का सुविचारपूर्वक पालन करते थे और इस बात से भी उसे बडा हर्ष तथा विस्मय हुआ कि बौद्ध धम के उपासक (गृहस्थ) अनुयायियो के हृदयो मे भिक्षुओ के प्रति काफी श्रद्धा थी और वे प्रभूत दान-दक्षिणा द्वारा अपनी श्रद्धा का परिचय देते थे। उसने यह भी देखा कि गृहस्थ लोग चैत्य तथा स्तूपो का निर्माण कराते थे। फाह्यान के विवरण मे यह आभास मिलता है कि पाँचवीं शताब्दी म भी उत्तरी भारत मे हीनयान मत का अधिक प्रचार था और महायान केवल इधर उधर वर्तमान था। केवल गया और कपिलवस्तु मे उसने विहारो को खाली और उजडा हुआ पाया।

यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से हीनयान और महायान मतो के केन्द्र भिन्न भिन्न स्थानो म थे, तथापि इन दोनो मतो के सभी सम्प्रदाय एक-दूसरे से पृथक नही रहते थे। हीनयान और महायान मतो के अनुयायियो मे काफी मतभेद होने के कारण पृथक्त्व की कुछ भावना भले ही रही हो, परन्तु उनमे इतना अधिक वैमनस्य नही था कि उन्हें अलग-अलग रहने के लिए विवश होना पडे। बहुत से विहारो मे विशेष रूप से मगध मे वे लोग साथ साथ रहते थे। नालन्दा विक्रमशिला और पाटलिपुत्र के शिक्षा केन्द्रो मे महायान और हीनयान मतो के मानने वाले मिल-जुलकर रहते थे। फाह्यान ने हीनयान और महायान दोनो प्रकार के बौद्ध भिक्षुओ का उल्लेख किया है। उसने लोवनार, दरद उद्यान गान्धार, बन्नू कन्नौज और कौशाम्बी मे हीनयान मत का ही प्रचार देखा। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत के उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा काश्मीर आदि स्थानो म सर्वास्तिवादी फैले हुये थे। काश्मीर का हीनयान बौद्ध धम के विकास की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। काश्मीर मे सर्वास्तिवादियो का प्राधान्य होने के कारण बौद्ध धम के संस्कृत ग्रन्थो का प्रणयन अधिकतर यही हुआ। काश्मीर के सर्वास्तिवादियो के प्रचार के ही कारण उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त मे हीनयान मत काफी प्रबल बना रहा। अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग म वसुबन्धु सर्वास्तिवाद दर्शन का सबसे महान पण्डित और प्रतिपादक था। उसका सुविख्यात ग्रन्थ 'अभिधमकोष' है जिसम वैभाषिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ मे बौद्ध धम के मूल सिद्धान्तो की व्याख्या इतने सुन्दर तरीके से की गई है कि बौद्ध धम के सभी सम्प्रदाय इसे प्रामाणिक मानते हैं। अफगानिस्तान, भिद (पजाब) मथुरा और पाटलिपुत्र मे फाह्यान ने हीनयान और महायान के अनुयायियो का साथ रहते हुए देखा। खोतान के विषय मे उसने लिखा है कि सभी भिक्षु महायान मत के थे।

हमने पिछले पृष्ठो म यह बतलाया है कि हीनयान बौद्ध मत साधारण जनता की आत्मिक पिपासा को परितृप्त करने मे समथ न होने के कारण कुछ दिनो बाद ह्रासोन्मुख हो गया। पाँचवी शताब्दी के बाद स निश्चय ही हीनयान मत का प्रचार घटने लगा। महायान मत को ज्यो ही विद्वान विचारको और दार्शनिको का प्रबल और सक्रिय समथन प्राप्त हुआ, इसका प्रचार तीव्रतर गति देश म होने लगा और इसने कहीं-कहीं पर हीनयान का उखाडना आरम्भ किया। नागार्जुन, वसुबन्धु, आर्यदेव, दिङ्नाग और असग आदि दार्शनिको न महायान मत को सुशिक्षित जनो के लिए भी ग्राह्य बनान का प्रयत्न किया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि महायान मत के दार्शनिक साहित्य के सृजन मे रत्नाकारो ने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया।

गुप्त-युग म महायान मत के अन्तगत कई दार्शनिक विचारधाराओ का प्रादुर्भाव हुआ और कतिपय नवीन दार्शनिक सम्प्रदाय भी बने। माध्यमिक और योगाचार दर्शन-सम्प्रदाय काफी महत्त्वपूर्ण थे। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने 'चतुश्शतक' नामक ग्रन्थ लिखकर माध्यमिक सम्प्रदाय को एक महत्त्वपूर्ण भेंट प्रदान की। गुप्त-युग निस्सन्देह ही योगाचार दर्शन का स्वणयुग है। असग नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने 'महायान सम्परिग्रह योगाचार भूमिशास्त्र और 'महायान सूत्रालकार' नामक ग्रन्थो की रचना की। महायान दार्शनिको न हिन्दू दार्शनिको के विचारो का खण्डन करने का प्रयास किया।

साधारणतया विद्वानो का विश्वास है कि गुप्त काल म बौद्ध धम निश्चय ही दीन हो गया था और इसकी प्राचीन सजीवता नष्ट हो चुकी थी। किन्तु डॉ० अल्तेकर ने इस सम्बन्ध म लिखा है "The general view that Buddhism was

on the decline in the Gupta period owing to the revival of Hinduism under the Guptas is not supported by the above survey of its philosophical activity Nor is it confirmed by the artistic evidence."[1] अल्तेकर महोदय ने देश के विभिन्न स्थानों को अलग-अलग लेकर यह दिखाया है कि यहाँ पर बौद्ध धर्म काफी समृद्ध अवस्था में था। वास्तव में अल्तेकर के तर्क काफी सबल हैं और इस धारणा की पुष्टि करते हैं कि सम्पूर्णतया विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि गुप्त-काल में बौद्ध धर्म की सजीवता नष्ट हो चली थी। कहीं-कहीं पर साधारण जनता भी बौद्ध मत को सक्रिय सहायता प्रदान करती थी। वास्तव में गुप्तों के उदार शासन के अधीन जनता का धार्मिक दृष्टिकोण इतना सहिष्णु था कि लोग एक धर्म के अनुयायी होने पर भी दूसरे धर्म को आदर की दृष्टि से देखते थे। देश में भगवान् बुद्ध की प्रतिमायें इतनी अधिक संख्या में पाई गई है कि उनके द्वारा यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का प्रचार अब भी काफी था। जब बौद्ध विहारों में व्यभिचार और अनाचार के दोष प्रविष्ट हो गये तो जनता की श्रद्धा बौद्ध भिक्षुओं और धर्म के प्रति न रह गई। सम्भवतः बौद्ध धर्म के भारत से लुप्त हो जाने का यह सबसे प्रधान कारण था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म गुप्त युग में इस दोष से बचा रहा और इसी कारण यह इस समय फल-फूल रहा था।

जैन धर्म—जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से गुप्त युग का काफी महत्त्व है। इस समय जैन मत के अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हुई। बल्लभी की प्रसिद्ध जैन संगीति गुप्त-काल में हुई थी। इस सभा में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों को लेखबद्ध किया गया। इसके बाद जैन विद्वानों ने अपने धर्मग्रंथों पर टीकाएँ एवं भाष्यों की रचनायें की। भद्रबाहु द्वितीय ने बड़े महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ (टीकायें) लिखी। जैनियों ने भी संस्कृत को अपना लिया। क्षपणक तथा सिद्ध दिवाकर नाम के दो विद्वानों ने भी कई दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

तीसरी शताब्दी के अन्त तक जैन धर्म भारतवर्ष से अच्छी तरह से जम गया। मगध से चलकर दक्षिण-पूर्व में कलिंग तक, मथुरा और मालवा तक, पश्चिम में और दक्षिण में तमिलनाडु तक जैन धर्म फैल गया। परन्तु इस समय जैन धर्म का केन्द्र मगध में न रह गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इसका प्रचार अधिक हुआ। उत्तरी भारत में जैन धर्म को कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु दक्षिण में कई राजवंशों ने इसका पोषण किया, अतएव वहीं इसका प्रधान केन्द्र बन गया। फाह्यान ने जैन धर्म का कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि जैन धर्म उसके समय में समृद्ध अवस्था में नहीं था। फिर भी व्यापारियों और मध्यवर्ग के लोगों में इस धर्म का पर्याप्त प्रचार था। गुप्त लेखों द्वारा इस धर्म के प्रचलित होने का पता चलता है। मथुरा वाले लेख (गु० सं० ११३, ई० सन् ४३२) में एक जैन स्त्री हरिस्वामिनी द्वारा जैन मूर्ति के दान का वर्णन है। उदयगिरि के लेख से भी, जो कुमार गुप्त प्रथम के समय में उत्कीर्ण कराया गया था (४२६ ई० सन्), पता चलता है कि शंकर नामक एक व्यक्ति ने पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। स्कन्दगुप्त के समय में (४६१ ई० सन्) कहौम अभिलेख में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि इसी ग्राम में जैन तीर्थंकरों की पाँच मूर्तियों का निर्माण कराया गया था। ये लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि गुप्त-साम्राज्य में जैन धर्म का प्रचार था और मथुरा, उदयगिरि तथा ककुभ आदि सुदूरवर्ती प्रान्तों के लोग इस धर्म को मानते थे। इन लेखों से इस

१ *Vakataka Gupta Age*, p 387

बात का भी संकेत मिलता है कि जैन धर्म पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में अधिक था। मथुरा और वलभी श्वेताम्बर जैन धर्म के प्रबल केन्द्र थे। उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन दिगम्बर जैन मत का केन्द्र था। दक्षिण भारत में कर्नाटक और मैसूर में दिगम्बर जैन मत के गढ़ थे। कदम्ब और गङ्ग राजाओं ने इसे राजाश्रय प्रदान किया था। हमें ऐसे अनेक लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे यह विदित होता है। कदम्ब नरेशों ने जैन साधुओं को प्रचुर दान दिया था और अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। कदम्ब राजाओं के लेख यह सूचित करते हैं कि उनके उदार राजाश्रय के अधीन जैन धर्म काफी उन्नति की अवस्था में था और अनेक उच्च पदाधिकारियों तथा सम्पन्न भूमिपति इस धर्म के निष्ठावान् अनुयायी थे। किन्तु बाद में जैन धर्म को शैव धर्म के रूप में एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मिल गया जिससे दक्षिण में भी जैन धर्म का प्रचार बहुत कम गया। किन्तु यह बिल्कुल नष्ट नहीं हो सका और आज भी तमिलनाडु गुजरात मालवा में जैनियों की काफी संख्या है।

गुप्त-युग में साहित्य एवं विज्ञान की उन्नति

गुप्त-काल संस्कृत-साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्व का युग था। इस काल में संस्कृत भाषा और साहित्य की जो उन्नति हुई, उसके लिये यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह 'न भूतो न भविष्यति' थी। परन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। गुप्त-युग की अभूतपूर्व साहित्यिक क्रियाशीलता और संस्कृत वाङ्मय के इस समय देदीप्यमान रत्नों से भरे जाने के कार्य को देखकर हमें यह न सोचना चाहिए कि संस्कृत साहित्य का इस काल में पुनर्जन्म हुआ था। वास्तव में संस्कृत में सृजन का स्रोत कभी नितान्तरूपेण शुष्क नहीं होने पाया और न संस्कृत साहित्यकारों की क्रियाशीलता ही कभी हत होने पाई। सुविख्यात विद्वान् मैक्समूलर ने अपना यह मत प्रतिपादित किया था कि विदेशियों के आक्रमण के फलस्वरूप संस्कृत का साहित्य सुषुप्त हो गया था। गुप्त-युग में सदियों की प्रगाढ़ निद्रा के बाद यह एकाएक जागरूक हो उठा। परन्तु मैक्समूलर का यह कथन ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा पुष्ट नहीं होता। विदेशियों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा, यह हम पीछे देख चुके हैं। आक्रमकारी अपना राज्य स्थापित करने में तो सफल हो गये, किन्तु देश की जीवंत सांस्कृतिक शक्ति के सम्मुख उन्होंने अपने घुटने टेक दिये। अन्त में विदेशी जातियाँ हिन्दू सामाजिक संगठन में मिला ली गईं और हिन्दू संस्कृति के रङ्ग में रंग गईं।

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' की रचना उसी काल में हुई जिसको मैक्समूलर महोदय संस्कृत वाङ्मय का सुषुप्ति-काल बताते हैं। विदेशी कुषाणों के युग में संस्कृत साहित्य में काफी सृजन कार्य किया गया। हम देख चुके हैं कि 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य, 'सौन्दरानन्द' नामक सुललित काव्य, 'शारिपुत्रप्रकरण' नामक नाटक की रचना महाकवि अश्वघोष ने विदेशी शासक कनिष्क के राज्य-काल में की थी। नागार्जुन ने अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथों का प्रणयन सम्भवतः इस समय किया था। 'चरक संहिता' का रचना-काल यही था। इन सब के अतिरिक्त यह सचमुच विस्मय की बात है कि रुद्रदामन नामक शक क्षत्रप की जूनागढ़ वाली प्रशस्ति इहलोकपरक संस्कृत गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसकी ओजपूर्ण गद्य शैली वास्तव में उत्कृष्ट शैली का एक सुन्दर नमूना है। अतएव उपर्युक्त प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए मैक्समूलर साहब के इस मत को अस्वीकार कर सकते हैं कि गुप्त-काल में संस्कृत साहित्य का पुनर्जीवन हुआ था।

गुप्त-युग की साहित्यिक समृद्धि की तुलना एथेन्स के इतिहास के पेरीक्लीयन युग और अंग्रेजी साहित्य के इतिहास के एलिजाबीदन युग से की जाती है। वास्तव में यह तुलना नितान्त समीचीन जान पड़ती है। पेरीक्लीज के युग और एलिजाबेथ के शासन-काल की तरह गुप्त-युग भी विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में मौलिक सृजन का काल था। चीनी इतिहास के स्वर्ण-युग तुङ्ग काल की भाँति गुप्त युग में कविता का विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। कुछ इतिहासकारों ने गुप्तकाल की साहित्यिक समृद्धि को ध्यान में रखते हुए इसकी तुलना लैटिन साहित्य के आगस्टन युग से की है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि आगस्टन-काल का साहित्य उतना मौलिक नहीं है जितना कि गुप्त-युग का, अतएव इस तुलना को हम सर्वथा निर्दोष नहीं मान सकते। किन्तु अंग्रेजी साहित्य के एलीजाबीदन-काल तथा यूनानी साहित्य के 'पेरीक्लीयन एज' के साथ गुप्त-काल की तुलना ठीक है।

गुप्त-काल की साहित्यिक और आध्यात्मिक उन्नति का विवरण हम न केवल इस समय के साहित्य द्वारा ही जान सकते हैं, अपितु इस समय के अभिलेख और सिक्के भी उस उन्नति का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। गुप्त अभिलेखों में संस्कृत काव्य के जिस उत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी परम्परा काफी प्राचीन थी। विभिन्न छन्दों के प्रयोग, भाषा के प्रवाह एवं शब्दों में संगीत तथा भावों की उच्चता आदि की दृष्टि से गुप्त-युग के अभिलेख संस्कृत काव्य के इतिहास में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। गुप्त युग की काव्यात्मक स्फूर्ति ने मुद्राओं पर भी अपना प्रभाव छोड़ा और सम्राटों ने अपने सिक्कों पर छन्दोबद्ध भाषा में लिखवाना प्रारम्भ किया, "राजाधिराज पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्य।" प्रयाग प्रशस्ति के रचयिता हरिषेण गद्य और पद्य दोनों ही बड़ी सुगमता से लिख सकते थे। समुद्रगुप्त के अपने द्वारा युवराज निर्वाचन की घटना का वर्णन हरिषेण ने जिन शब्दों में किया है उनसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि वे छोटे मोटे कवि नहीं थे। इसी प्रकार मन्दसोर प्रशस्ति का रचयिता वत्सभट्टि भी महान् कवि था। उसकी वर्णन शैली वस्तुतः काव्योचित और काव्यमयी है। शैली अलंकारमयी होने पर भी आडम्बर से दूर है। चन्द्रगुप्त के मिहरौली स्तम्भ लेख की भाषा ओजमयी और सप्राण है। यद्यपि इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं, तथापि उसके तीन श्लोक ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि वह साधारण कवि नहीं था। 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका" से उसकी प्रवाहमयी काव्य शैली का अनुमान लगाया जा सकता है। स्कन्दगुप्त के भीतरी-स्तम्भलेख का रचयिता प्रशस्ति लिखते समय एक उदात्त भावना से अनुप्राणित हुआ जान पड़ता है। इसी सम्राट के समय का जूनागढ़ शिलालेख भी श्रेष्ठ कविता का उत्तम उदाहरण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुप्तकालीन अभिलेखों में परवर्ती संस्कृत काव्य शैली के बीज विद्यमान दिखलाई पड़ते हैं।

विशुद्ध साहित्य—गुप्त काल में विशुद्ध साहित्य अर्थात् महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, आख्यायिकायें आदि की अभूतपूर्व उन्नति हुई गुप्तकालीन साहित्यिक महारथियों में कविकुल गुरु कालिदास का नाम अग्रगण्य है। यह एक दुर्भाग्य का विषय है कि इस महाकवि का जीवन-वृत्त हमें ज्ञात नहीं। इनके जीवन काल के विषय में विद्वानों में इतना मतभेद है कि निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। परन्तु इस बात के लिए प्रबल प्रमाण है कि महाकवि कालिदास गुप्त-काल की ही विभूति थे। उनके ग्रंथों में जिस सुशान्तिमयता, समृद्धि और वैभव का वर्णन है, वह गुप्त-युग में ही सम्भव हो सकता है। महाकवि कालिदास केवल संस्कृत काव्याकाश के सबसे देदीप्यमान नक्षत्र

हो नहीं हैं, विश्व के सर्वोत्कृष्ट कवियों की पंक्ति में उनका स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। जिस विषय पर महाकवि की लेखनी चली है, उसमें कोई दूसरा उनकी समता नहीं कर सकता। उनकी कल्पना की ऊँचाई, शब्दों का मधुर संगीत, भावों की कवित्वपूर्ण अभिव्यञ्जना, भाषा का प्रसादगुण तथा उपमाओं की चित्रमयता एवं सांगोपांगता आदि महाकवि के काव्य के विशिष्ट गुण हैं। कालिदास की कविता अपनी ध्वन्यात्मकता के लिए विख्यात है। वे उपयुक्त शब्द चयन ललित पदावली मनोरम उपमाओं एवं सुन्दर कल्पनाओं द्वारा पाठक के हृदय में रस का उद्रेक कराकर उसे उस चरम आनन्द की अनुभूति कराते हैं जिसके लिए हमारे ग्रन्थों में "ब्रह्मानन्दसहोदर" शब्द का प्रयोग किया गया है। कालिदास की कविता के गुणों का अति संक्षिप्त वर्णन भी इस पुस्तक के सीमित क्षेत्र में सम्भव नहीं, उनकी ओर दो चार शब्दों द्वारा विहंग दृष्टिपात कर लेने मात्र से ही हमें सन्तुष्ट होना पड़ता है। एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास हम भारतीयों के लिए अक्षय गौरव और गर्व के कारण हैं। उनके ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ कौन सा ग्रंथ है यह कहना सरल नहीं। यह कहना तो दूर रहा, हम केवल उनकी एक कृति मेघदूत के विषय में भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उत्तर मेघ अधिक श्रेष्ठ है या पूर्व मेघ। वास्तव में कालिदास के ग्रंथों का अध्ययन करते समय हृदय इतनी आनन्दोतिशयता का अनुभव करता है कि समालोचना कुछ क्षणों के लिए मूक हो जाती है। "कुमारसम्भवम्" और रघुवंशम् महाकवि के दो महाकाव्य हैं। 'मेघदूतम्' और 'ऋतुसंहार' उनके दो खण्डकाव्य हैं। 'विक्रमोर्वशीयम्', 'मालविकाग्निमित्रम्' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' उनके तीन नाटक हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई ग्रंथों की रचना भी महाकवि द्वारा बताई जाती है परन्तु इस बात में सन्देह है कि उन्होंने अन्य ग्रंथों का प्रणयन किया।

शूद्रक गुप्त युग के दूसरे साहित्यकार थे। इनका सुविख्यात नाटक 'मृच्छकटिकम्' संस्कृत साहित्य का एक अनोखा और ऐसा अकेला नाटक है जो समाज के यथार्थवादी, दैनिक जीवन के चित्रण से सप्राण है। इसकी नायिका पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध नर्तकी वसन्तसेना है जो कुलशीलवान् ब्राह्मण चारुदत्त से प्रेम करती है। इस नाटक में नाटककार की व्यापक सहानुभूति का परिचय इस बात से मिलता है कि उसने समाज के निम्न कहे जानेवाले लोगों को भी अपने नाटक का पात्र बनाया है और सहानुभूति के साथ उनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है। 'मृच्छकटिक' का हास्य सम्भवतः संस्कृत नाटकों के हास्य का सर्वोत्तम रूप प्रदर्शित करता है। 'मुद्राराक्षस' के प्रणेता विशाखदत्त भी गुप्त-काल में ही हुए थे। इस नाटक में चाणक्य का चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है। यह भी संस्कृत के नाटकों में अपने ढङ्ग का अनूठा नाटक है। विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक का भी प्रणयन किया था किन्तु अपने मूल रूप में यह सम्पूर्ण नाटक उपलब्ध नहीं है। सुबन्धु इस काल के प्रसिद्ध गद्य लेखक थे जिनकी 'वासवदत्ता' ने बाण के शब्दों में, कवियों के गर्व का चूर कर दिया। लम्बे समासों और अनेक विशेषणों से युक्त शैली में भी सुबन्धु ने अनेक स्थलों पर ओज भर दिया है। उनकी गद्यशैली को बाण ने अपनाकर काफी विकसित किया। किरातार्जुनीयम् के रचयिता भारवि का समय कुछ विद्वान छठी शताब्दी का अन्त बतलाते हैं। भट्टि का काल भी सम्भवतः यही है। इनका महाकाव्य 'रावणबध' एक विचित्र काव्य है जिसके प्रत्येक श्लोक के द्वारा संस्कृत व्याकरण के किसी न किसी नियम का विश्लेषण किया गया है और साथ ही साथ राम के जीवन की घटनाओं का वर्णन भी किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि भी इसी समय हुए थे। उनके तीन ग्रन्थ 'नीतिशतक', 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' अपनी दृष्टि से अतुलनीय

एवं काफी महत्त्वपूर्ण है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में भर्तृमेण्ठ नामक कवि का उल्लेख किया गया है। ये ४३० सन् ई० के लगभग हुए थे और इन्होंने 'हयग्रीव' नामक महाकाव्य की रचना की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश यह महाकाव्य अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त गुप्त युग में ही सम्भवतः 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करण तैयार किये गये।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चतन्त्र की रचना भी गुप्त काल में हुई। भारत की विश्व-सभ्यता को प्रमुख देना में से विद्वान् 'पञ्चतन्त्र' को भी एक मानते हैं। इस पुस्तक में कथाओं के माध्यम द्वारा नैतिक शिक्षा और सांसारिक जीवन में अनुभव प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है। संसार की लगभग प्रत्येक सभ्य भाषा में 'पञ्चतन्त्र' का अनुवाद किया गया है।

धार्मिक साहित्य—गुप्त युग की साहित्यिक क्रियाशीलता धार्मिक साहित्य के सृजन एवं संवर्द्धन में भी दिखलाई पड़ी। धार्मिक साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व के पुराण हैं। पुराणों की रचना का कार्य गुप्त-युग के काफी पहले, ईसा की प्रथम शताब्दी में कई सौ वर्षों पूर्व प्रारम्भ हो चुका था किन्तु आज वे जिस रूप में प्राप्त हैं, उनका वह रूप अधिकतर गुप्तकाल में ही दिया गया। वैदिक संस्कारों एवं भक्तिवादी धार्मिक आन्दोलन के समन्वय का सर्वप्रथम प्रयास पुराणों में ही किया गया है और इस बात के लिए प्रमाण है कि यह प्रयास गुप्त-काल में ही किया गया। पुराणों ने ही हिन्दू धर्म का वर्तमान स्वरूप बनाया है। यह सम्भव है कि पुराणों के कुछ अध्यायों की रचना बाद में की गई हो। परन्तु जैसा कि अलबरूनी ने कहा है अट्ठारहों पुराण १००० सन् ईसवी में पूर्व अवश्य ही लिखे जा चुके थे।

'मनुस्मृति' के आधार पर गुप्त-युग में स्मृतियाँ भी लिखी गईं। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन और बृहस्पति ने अपने स्मृति-ग्रन्थों का प्रणयन गुप्त काल में किया। कात्यायन का स्मृति ग्रंथ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु इसके उद्धरण अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। याज्ञवल्क्य की स्मृति में आचार (रीति रिवाज और संस्कार), व्यवहार (सिविल कानून) और प्रायश्चित, इन तीनों पर समुचित ध्यान दिया गया है। ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि गुप्तकाल में सिविल कानूनों और न्याय-सम्बन्धी नियमों का काफी अधिक विकास हो रहा था।

'अर्थशास्त्र' के आधार पर गुप्त-युग में केवल 'कामन्दकीय नीति सार' की ही रचना की गई। 'नीतिसार' के रचयिता कामन्दक ने कौटिल्य के सिद्धान्तों और शिक्षाओं को ही अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है। अनुकृति प्रधान होने के कारण इस ग्रन्थ में राज्य की विभिन्न समस्याओं पर स्वतन्त्र और मौलिक रूप से विचार नहीं किया गया है। राजनीतिक विचार चिन्तन के क्षेत्र में, ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य, महाभारत में शान्तिपर्व और मनुस्मृति के उपरान्त भारतीय विचारकों की मौलिक चिंतन की शक्ति खोयी पड़ गई। कामन्दकीय नीतिसार' का महत्त्व इस बात में है कि अन्य ग्रंथ से लिये गये विषय का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में अधिक सुगम रीति से किया गया है।

दार्शनिक साहित्य—गुप्त युग में एक प्रचुर दार्शनिक साहित्य का भी सृजन हुआ। हिन्दुओं, बौद्धों और जैनियों सभी धर्मों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए अनेक ग्रंथों की रचना की। सांख्य दर्शन पर सबसे पहले टीका लिखने वाले ईश्वरकृष्ण थे जिन्होंने 'सांख्यकारिका' नामक ग्रंथ लिखा। कुछ विद्वानों ने ईश्वर-कृष्ण का समीकरण विन्ध्यवास से किया, परन्तु दूसरे विद्वान् इस समीकरण को नहीं

स्वीकार करते और ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवास को दो विभिन्न व्यक्ति मानते हैं। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' पर गौडपाद ने एक भाष्य लिखा।

जैमिनी के 'मीमांसा सूत्र' की रचना गुप्त-काल के पूर्व हो चुकी थी, किन्तु उन पर प्रामाणिक टीका, शाबर भाष्य, का प्रणयन ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। 'अष्टाध्यायी' के ऊपर पतञ्जलि के 'महाभाष्य' का और अद्वैत वेदान्त के ऊपर शंकर के भाष्य का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वही स्थान जैमिनी के मीमांसा सूत्रों पर 'शाबर भाष्य' को प्राप्त है। वेदान्त दर्शन का इस काल में कितना विकास हुआ, यह सुनिश्चित रूप से पता लगाना दुष्कर है क्योंकि इस दर्शन पर जो ग्रन्थ इस समय लिखे गये थे आज उपलब्ध नहीं हैं। इस बात के प्रमाण हैं कि बौद्ध धर्म के नव सम्प्रदायों और वेदान्तियों में परस्पर वाद विवाद जोरों से चल रहे थे। 'ब्रह्मसूत्र' में बाद में जो विभाग जोड़े गये, वे केवल माध्यमिक तथा योगाचार सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का ही खण्डन करने के लिए।

न्याय दर्शन पर भी गुप्त युग में ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। गुप्त-काल के पूर्व ही न्यायसूत्र लिखे जा चुके थे। न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन ने एक टीका लिखी। इन्होंने नागार्जुन के विचारों का खण्डन किया है, परन्तु आगे चलकर दिङ्नाग ने इनके मतों का खण्डन किया। उद्योतकर नामक विद्वान् ने सातवीं शताब्दी में वात्स्यायन के मतों की पुष्टि करते हुए दिङ्नाग के विचारों को काटा है। 'पदार्थधर्मसंग्रह' का प्रणयन करके प्रशस्तपाद ने कणाद के वैशेषिक दर्शन को बहुत आगे बढ़ाया। प्रशस्तपाद का ग्रन्थ एक टीका मात्र नहीं है वरन् इसकी विषय प्रतिपादन की शैली इतनी सुन्दर है कि मौलिक ग्रन्थ की उपादेयता को यह निश्चय ही बढ़ा देता है। चन्द्र नामक विद्वान् ने दशपदार्थशास्त्र' लिखा जिसका अब चीनी संस्करण ही प्राप्त है।

बौद्ध और जैन धर्मों में भी प्रचुर दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। गुप्त-युग में बौद्ध धर्म की दो प्रमुख शाखाओं की दो दो उपशाखायें हो गई थीं। हीनयान की दो शाखायें थीं—(१) थेरवाद (स्थविरवाद) और वैभाषिक (सर्वास्तिवाद)। महायान सम्प्रदाय भी दो उपशाखाओं में विभक्त था—(१) माध्यमिक तथा (२) योगाचार। असंग योगाचार सम्प्रदाय के सबसे प्रधान आचार्य थे। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ ये हैं—(१) महायान सम्परिग्रह, (२) 'प्रकरण आर्यवाचा', (३) महायानाभिधर्मसंगीतिशास्त्र', (४) 'वज्र छेदिका टीका, (५) 'योगाचार भूमिशास्त्र'। महायान सम्परिग्रह' नामक ग्रन्थ का जापान में अब भी बड़ा समादर किया जाता है। वसुबन्धु प्रसिद्ध और बड़े वाकपटु बौद्ध आचार्य थे। वसुबन्धु ने हीनयान और महायान दोनों पर ग्रन्थ लिखे। 'अभिधर्मकोष' इनकी सर्वप्रसिद्ध कृति है जिसका प्रणयन उन्होंने वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए किया था। बौद्धों के दार्शनिक साहित्य में आचार्य दिङ्नाग की रचनाओं का बहुत अधिक महत्त्व है। 'प्रमाण समुच्चय' इनका सबसे विख्यात ग्रन्थ है। 'न्याय प्रवेश' इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। धर्मपाल नामक काञ्चीनिवासी विद्वान ने योगाचार सम्प्रदाय का विकास करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। धर्मपाल नालन्दा महाविहार के कुलपति पद पर नियुक्त किये गये थे। बुद्धघोष का बौद्ध दार्शनिकों में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। विशुद्धिमग्ग' नामक ग्रन्थ में शील समाधि और प्रज्ञा के रूप पर बुद्धघोष ने बड़ा विशद विवेचन किया है। 'समन्तपासादिका' नामक ग्रन्थ 'विनयपिटक' के समस्त ग्रन्थों की टीका है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भौगोलिक और

ऐतिहासिक तथ्यों का भी पता चलता है। 'सुमंगलविलासिनी' बुद्धघोष की एक सुविख्यात रचना है जिसमें 'दीघनिकाय' की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। कतिपय विद्वानों ने इस ग्रन्थ से बौद्धधर्म के उदय-काल के ऐतिहासिक तथ्य ढूंढ निकाले हैं।

गुप्त-युग को इस बात का गौरव प्राप्त है कि इसी युग में जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया और जैन-दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन भी गुप्त-काल में ही हुआ। आचार्य सिद्धसेन गुप्त-काल के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने दिङ्नाग की भाँति न्याय दर्शन पर ग्रंथ लिखे। 'न्यायावतार' जैन-न्याय का सबसे प्रामाणिक और प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। उन्होंने 'तत्त्वानुसारिणी तत्त्वार्थ टीका' नामक मौलिक ग्रंथ की रचना भी की। सिद्धसेन दिवाकर कवि भी थे। इनके स्तोत्र भक्ति और श्रद्धा के भावों से ओतप्रोत हैं।

अन्य साहित्यिक ग्रंथ—गुप्त-युग में प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह हुए जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अमरकोष' का प्रणयन किया। यह संस्कृत का सबसे प्रसिद्ध कोश है। चान्द्र नामक काश्मीर निवासी बौद्ध विद्वान् ने एक व्याकरण ग्रंथ लिखा जिसमें व्याकरण की ऐसी पद्धति का विकास किया गया था जो ब्राह्मण तत्त्वों से मुक्त थी। चान्द्र का व्याकरण काश्मीर, तिब्बत, नेपाल और लंका में बड़ा प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय था। मल्लिनाथ नामक प्रसिद्ध टीकाकार ने 'मेघदूत' की अपनी टीका में चान्द्र द्वारा चलाई गई व्याकरण पद्धति का उल्लेख किया है। अन्य व्याकरण ग्रंथों की रचना भी गुप्त-युग में हुई, परन्तु इनमें से अधिकांश टीकायें थीं। कहा जाता है कि भर्तृहरि ने पतञ्जलि के 'महाभाष्य' पर अपनी टीका लिखी परन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं हुई है। जिनेन्द्रबुद्धि ने काशिका पर अपनी 'न्यास' नामक टीका लिखी। माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपालवध' में 'न्यास' का उल्लेख किया है।

तामिल साहित्य—गुप्त-काल का तामिल साहित्य प्रमुखतया धार्मिक है। यद्यपि इहलोकपरक ग्रंथों की रचना भी की गई तथापि अधिकांश ग्रन्थ धार्मिक ही हैं। धार्मिक आन्दोलनों ने तामिल साहित्य के विकास में प्रचुर योग दिया, जिस प्रकार तेरहवीं और चौदहवीं सदी के भक्ति-आन्दोलन ने देश की प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य संवर्धन को प्रेरणा और शक्ति प्रदान की थी। पहले तो जैन और बौद्ध धर्मों ने तामिल साहित्य के विकास पर अपने महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाले, परन्तु कालान्तर में शैव और वैष्णव धर्मों का प्रभाव भी अधिक पड़ा। जैनियों का तामिल साहित्य के प्रचार में कुछ अधिक योगदान था और उन्होंने व्याकरण तथा नीति-सम्बन्धी ऐहिकता-परक विषयों पर भी ग्रंथ लिखे, किन्तु गुप्त युग और इसके बाद के कालों में हिन्दूधर्म के दो भक्तिवादी सम्प्रदायों ने ही तामिल साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया।

शैव नायनमारों और वैष्णव आलवारों ने तामिल भाषा में भक्ति विषयक सरस पदों की रचना की। ये सीधे सादे भक्त थे और अपने उपास्य देवों के प्रति इन्होंने भक्ति की तरंग में जो गीत गाये वे ही पदों के रूप में हो गये। नायनमारों और आलवारों के पदों में यह भाव प्रचुरता से व्यक्त किया गया है कि सर्वशक्तिमान् और भक्त-वत्सल प्रभु तर्कमयी बुद्धि द्वारा नहीं, अपितु भक्ति रस से सने तथा तड़पते हुए हृदय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नायनमारों और आलवारों की उत्कट भक्ति-भावना ने उत्कृष्ट कविता को जन्म दिया। उनके द्वारा रचित पदों की सरसता तथा मार्मिकता वस्तुतः श्लाघनीय है। उन्होंने जिस भक्ति-काव्य

का सृजन किया वह आज भी अनुपमेय है, कारण कि यह काव्य भावपूर्ण हृदय के अन्तरतम प्रदेश से बिना प्रयत्न ही निकला है।

विज्ञान— गुप्त-काल में विज्ञान की भी अधिक उन्नति हुई। इस सम्बन्ध में Mr Kenneth Saunders का कथन है, "During the Guptan Era Indian science also made great advances. We know that Indian astronomy was already far advanced when the Greeks arrived, and that Indians learned from the invader a new system. But it was Indian astronomy which passed into Europe in Arab translations in the Middle Ages." ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में गुप्तकालीन विज्ञान की महत्त्वपूर्ण देन है। दशमलव पद्धति का जो विश्व-सभ्यता को भारत के अनेक उपहारों में से एक प्रमुख उपहार है, विकास गुप्त युग में ही हुआ। भारत में चिकित्सा-पद्धति का गुप्त-काल के पूर्व ही काफी विकास हो चुका था। गुप्त-युग में विकसित चिकित्सा विज्ञान का संरक्षण और संवर्द्धन किया गया, परन्तु दुर्भाग्यवश इस युग के चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ हम आज उपलब्ध नहीं।

ज्योतिष—आर्यभट्ट गुप्त-काल के सुप्रसिद्ध दवज्ञ थे। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की अनुमानतः जो माप की थी, आज तक प्रायः सही मानी जाती है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है आदि बातों के प्रतिपादन करने का श्रेय आर्यभट्ट को ही प्राप्त है। नक्षत्र और खगोल विद्याओं के सम्बन्ध में इनकी मान्यतायें काफी सीमा तक निर्दोष मानी जाती हैं। इन्होंने सूर्य और चन्द्र-ग्रहण के विषय में पौराणिक धारणा का बड़े साहस के साथ खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया कि ग्रहण में राहु का कोई स्थान नहीं है, यह चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है।

वराहमिहिर गुप्त-काल के सबसे प्रसिद्ध ज्योतिषज्ञ थे। उन्होंने पाँच पुस्तकें लिखी—(१) 'लघु जातक', (२) 'वृहज्जातक', (३) 'विवाह-पटल', (४) 'योग यात्रा', (५) 'वृहत्संहिता' और (६) 'पञ्चसिद्धान्तिका'। अन्तिम ग्रन्थ में इन्होंने रोमक, वशिष्ठ आदि सिद्धान्तों की विवेचना की है। यह सचमुच एक आश्चर्य का विषय है कि वराहमिहिर जैसे निपुण ज्योतिषज्ञ ने भी ग्रहण के विषय में आर्यभट्ट की मान्यता का खण्डन किया और इस सम्बन्ध में पौराणिक धारणा को सत्य स्वीकार किया। परन्तु अन्य बातों में वराहमिहिर के ज्ञान की प्रशंसा करना अनिवार्य हो जाता है। उनका 'वृहत्संहिता' नामक ग्रन्थ ज्ञान विज्ञान का एक सुविशाल कोश है जिसमें खमण्डल के नक्षत्रों की गति तथा मनुष्यों पर उसके प्रभाव, भूगोल, वास्तु-कला, मूर्ति निर्माण, तालाबों को खुदवाने तथा उद्यान निर्माण कराने की रीतियाँ, विभिन्न प्रकार की स्त्रियों तथा पशुओं की विशेषताओं और विविध प्रकार के रत्नों आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। 'वृहद्विवाहपटल' तथा 'स्वल्पविवाहपटल' नामक ग्रन्थों में वराहमिहिर ने विवाह के शुभ लग्नों पर विचार किया है। वराहमिहिर ने ज्योतिषविद्या में यूनानियों के ऋण को स्वीकार है।

ब्रह्मगुप्त भी गुप्तकाल के एक प्रसिद्ध ज्योतिषज्ञ थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्म सिद्धान्त' की रचना शक संवत ५५० अर्थात ६२८ ई० में की।

संगीत—गुप्तकालीन भारत में गणित की भी उन्नति हुई। इस समय ज्योतिष और गणित एक-दूसरे के साथ काफी घनिष्ठ रूप में मिले हुए थे। इस काल के ज्योतिषज्ञ ही इस समय के प्रमुख गणितज्ञ थे। आर्यभट्ट ऐसे प्रथम विद्वान थे जिन्होंने गणित को एक पृथक विज्ञान माना। उनकी सबसे प्रधान देन है, उनकी अद्वितीय

संख्या-पद्धति। संसार के किसी भी प्राचीन देश को दशमलव पद्धति का ज्ञान नहीं था, किन्तु आज सारे संसार में यह प्रचलित है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आर्यभट्ट ने किसी प्रचलित गणना या संख्या पद्धति का सुधार किया, अथवा इस पद्धति का स्वयं आविष्कार किया। भारतीय संख्या-पद्धति के द्वारा सभी विज्ञानों और विशेष रूप से गणित की कितनी उन्नति हुई और इसके अभाव में इनकी कितनी हानि होती, यह कह सकना सरल नहीं है। आर्यभट्ट ने बिल्कुल ठीक ठीक मूल्य ३.१४ की भी खोज की। ब्रह्मगुप्त भी एक महान् गणितज्ञ था।

आयुर्वेद तथा रसायनशास्त्र (Medicine and Chemistry)—इनके क्षेत्र में भी गुप्त युगीन भारत ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की। नागार्जुन[1] नामक प्रसिद्ध विद्वान ने रस-चिकित्सा नामक नवीन चिकित्सा पद्धति का आविष्कार किया जिसने चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति समुपस्थित कर दी। नागार्जुन ने यह सिद्ध किया कि सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी रोग निवारण की शक्ति विद्यमान है। 'पारद' का भी आविष्कार नागार्जुन ने किया। शिल्पशास्त्र के भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन गुप्त-काल में किया गया।

कलाओं की उन्नति

गुप्त-काल की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक उन्नति में विभिन्न कलाओं के विकास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुप्त-युगीन कला का महत्त्व दो दृष्टियों से है। स्थापत्य, चित्र और मुद्रा निर्माण कलाओं में यह निपुणता तथा कुशलता की पराकाष्ठा को सूचित करती है। वास्तुकला के क्षेत्र में यद्यपि गुप्त युग की सफलता काफी अधिक है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस कला का यह उत्कृष्टतम रूप प्रस्तुत करता है। गुप्त-काल में मन्दिर निर्माण कला का सम्भवतः जन्म हुआ और इसका पर्याप्त विकास भी हुआ किन्तु आगे के युगों में इस कला का और अधिक विकास हुआ। इस प्रकार गुप्त-युग को इस बात का गौरव प्राप्त है कि इसने एक ओर जहाँ स्थापत्य-कला और चित्रकला को विकास की चरम सीमा पर पहुँचाया, वहीं दूसरी ओर मन्दिर निर्माण कला के क्षेत्र में इसने विकास की महती सम्भावनाओं को भी जन्म दिया। गुप्त कला की कलात्मक प्रगति का अध्ययन हम इन शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे (१) वास्तु-कला, (२) स्थापत्य-कला अथवा तक्षण-कला, (३) चित्रकला, और (४) संगीत-कला।

वास्तु-कला—गुप्तकाल में पूर्ववर्ती युगों में स्तूप, चैत्य दरीगृह और विहार बनवाये जाते थे। गुप्त काल में न केवल इनका निर्माण-कार्य जारी ही रहा, वरन् इनका चरम विकास भी हुआ। बौद्धों और जैनियों की भाँति ब्राह्मणों ने भी पर्वतों में गुफाओं को खुदवाया और उनमें साधुओं के निवास की व्यवस्था की। सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में ग्वालियर राज्य में भिलसा के निकट उदयगिरि में गुफा खुदवाई गई थी। गुफाओं में सुन्दर चित्र कभी कभी बना दिये जाते थे। बाघ और अजन्ता की जगद्विख्यात चित्रकारी गुफाओं में ही खींची गई है।

भारतीय वास्तु-कला के इतिहास में गुप्तों के शासन ने एक नये युग का आविर्भाव किया। गुप्त युग के पूर्व के भवन अधिकांशतया बाँस और काष्ठ जैसी शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं से बनाये जाते थे जिससे वास्तु को एक कला का रूप नहीं प्राप्त हो सका। परन्तु गुप्तकालीन निर्माताओं ने एक नये दृष्टिकोण से प्रेरित

१ यह नागार्जुन बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन से भिन्न है।

होकर सुदृढ़ वस्तुओं, पत्थर और ईंटों से भवनों तथा मन्दिरों का निर्माण करवाया। वास्तु के क्षेत्र में गुप्त-युग की उपलब्धियाँ निःसन्देह अदभुत और प्रशंसनीय हैं। इस काल में न केवल विशाल और भव्य मन्दिर ही बनवाये गये, वरन् मन्दसोर के अभिलेख से पता चलता है कि इस काल में अत्युन्नत गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से युक्त कई वैभवशाली नगर भी विद्यमान थे। गुप्तकालीन साहित्य में भी उत्पन्न करने वाले ऊँचे और शानदार महलों का उल्लेख किया गया है। परन्तु काल के प्रवाह में, दुर्भाग्यवश आज उनके अवशेष भी नहीं प्राप्त होते। पर प्रकृति के विध्वंसात्मक तत्त्वों और बर्बर आक्रमणकारियों के विनाशक हमलों से गुप्तकालीन वास्तुकला के जो नमूने आज भी बच रहे हैं उनसे ही इस काल की तत्सम्बन्धी प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है।

गुप्त-काल में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया गया। इस समय के बचे हुए प्रमुख मन्दिरों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं—

(१) जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान में विष्णु-मन्दिर,

(२) नागौद राज्य में भूमरा का शिव मन्दिर,

(३) बोध गया के बौद्ध मन्दिर,

(४) देवगढ़ का दशावतार मन्दिर,

(५) आसाम के दरग जिले में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर दहपरबतिया नामक स्थान में एक मन्दिर मिला है जो काफी जीर्ण दशा में है, परन्तु कला की दृष्टि से यह मन्दिर काफी उत्कृष्ट है, तथा

(६) नागौद राज्य के खोह नामक स्थान में एक शिव मन्दिर भी मिला है।

इन उपर्युक्त मन्दिरों के अतिरिक्त केवल ईंटों द्वारा निर्मित मन्दिर भी थे। भिटार गाँव का मन्दिर और पहाड़पुर तथा मध्यप्रान्त के सरपुर के मन्दिर ईंटों द्वारा ही बनाये गये हैं। इन समस्त मन्दिरों में देवगढ़ तथा भिटार गाँव के मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। "झाँसी जिले में पत्थर का बना हुआ देवगढ़ का मन्दिर तथा कानपुर के निकट ईंट चूने का बना हुआ भिटारगाँव का मन्दिर अपनी दीवारों पर उत्कीर्ण कलाकृतियों सहित गुप्त स्थापत्य और शिल्प के अच्छे नमूने प्रस्तुत करते हैं।" बोध गया का महाबोधि मन्दिर भी इसी युग का मन्दिर निर्माण-कला का एक अनुपम नमूना है। भिटारगाँव के मन्दिर की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि इसमें एक अच्छे ढंग का मेहराब है जो कि भारत की भवन निर्माण-कला में प्रयुक्त मेहराब का प्राचीनतम ज्ञात नमूना है। गुप्त-काल की भवन निर्माण कला में सुन्दर सजावटों से अलङ्कृत स्तम्भों का एक विशेष स्थान है।

मूर्ति-कला—जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, गुप्तकालीन मूर्ति-कला पराकाष्ठा पर पहुँची हुई कला है। इस दृष्टि से गुप्त युग "कला के पुनर्जीवन का नहीं, बल्कि चरमोत्कर्ष तथा प्रस्फुटन का काल था।" इस सम्बन्ध में डा० आर० सी० मजूमदार का कथन है—

"With the Gupta period we enter upon the classical phase of Indian sculpture By the efforts of centuries of techniques of art were perfected definit types were evolved and ideals of beauty were for

mulated with precision" डॉ० कुमारस्वामी का कथन है कि, "गुप्तकालीन कला की शैली पूर्णत स्वाभाविक विकास चक्र की चरमोन्नति को प्रकट करती है—आदिम, उत्कृष्ट, अद्भुत, रुचि के विरुद्ध अलंकारबहुला तथा कृत्रिम रूप।"

गुप्त-युगीन मूर्तिकला की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि इसमे शारीरिक अभिव्यक्ति को प्रधानता न देकर आध्यात्मिक भावो की अभिव्यक्ति को प्रधानता दी गई है। इस बात मे गुप्त-कला गान्धार की मूर्तिकला के विपरीत है। गुप्त युग मे मूर्ति निर्माण की जिस बौद्ध कला का विकास हुआ, वह नितान्तरूपेण भारतीय है। हैवेल महोदय ने ठीक ही लिखा है कि उस समय भारत पराधीनता की स्थिति मे नहीं था, वरन् समस्त एशिया का गुरु था और उसने पाश्चात्य भावों को उधार लिया, केवल अपनी विचार प्रणाली के अनुकूल उनको बदल लेने के लिए। 'India was not then in a state of pupillage, but the teacher of all Asia and she borrowed western suggestions to mould them to her own way of thinking'[1] मथुरा के संग्रहालय मे सुरक्षित एक सजीवाकृति बुद्ध प्रतिमा गुप्त-काल की आध्यात्मिक कलामयी मूर्तिकला का एक भव्य नमूना प्रस्तुत करती है। इस मूर्ति मे जिस मानसिक सन्तुलन और आध्यात्मिक सन्तुष्टि की अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है, वह यह सिद्ध करती है कि इसके निर्माता का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था और वह शरीर पर आत्मा की विजय प्रदर्शित करना चाहता था। मथुरा की मूर्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त-युग की मूर्तिकला विदेशी प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो चुकी थी। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा, जिसमे भगवान् तथागत बैठे हुए उपदेश देने की मुद्रा मे प्रदर्शित किये गये हैं भारत की मूर्ति-कला के श्रेष्ठतम नमूनो मे से एक है। सारनाथ बुद्ध प्रतिमा की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति प्रशान्त मुस्कराहट तथा गम्भीर विचारपूर्ण मुद्रा भारतीय कला की उच्चतम सफलता का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। अनुसार शान्त से संयुक्त और निर्लिप्त भाव में बैठे हुए भगवान् बुद्ध एक दैवी आभा विकीर्ण कर रहे हैं। बुद्ध के मुखमण्डल पर कठोर अनुशासन के साथ स्नेह, सन्तुलन करुणा, आत्म विश्वास तथा निस्सीम आध्यात्मिक आनन्द के भाव विद्यमान हैं। इन दो उदाहरणो मे भारतीय कला की विशेषता का बोध होता है। पाश्चात्य कला मे शारीरिक अवयवो की मांसलता और पुष्टता को प्रकट करने पर अधिक ध्यान दिया जाता था, मुखमण्डल पर मनोगत भावो की अभिव्यक्ति का इसमे एकान्त अभाव था। इस विषय मे स्वर्गीय श्री गौरीशंकर चटर्जी का कथन है "वास्तव मे भारतीय कला तथा पाश्चात्य कला के बीच मुख्य भेद यह है कि भारतीय कला सौन्दर्य के नियमो की मर्यादा की रक्षा करती हुई किसी पदार्थ के आन्तरिक भाव को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करती है। भारतीय कला स्वभाव का यथातथ्य अनुकरण मात्र नहीं करती थी और न वह प्रकाश अथवा छाया का कौशलपूर्ण प्रदर्शन मात्र करके सन्तुष्ट रहती थी। भारतीय कला का उद्देश्य भारतीय साहित्य की भाँति, पाठक के हृदय मे विभिन्न प्रकार के भावो का उद्रेक कर विभिन्न रसो से चित्त को भरना था। उसका उद्देश्य केवल मनोरञ्जन करना नहीं, बल्कि भावावेश उत्पन्न करना था, जिससे कोई व्यक्ति अपने को कुछ समय के लिए उध्वचेतनावस्था मे लय कर देता था। उसे हम रसानुभूति कह सकते हैं। उत्तम कला की कसौटी की परीक्षा इसी बात से होती है कि उसमे रसानुभूति को बढाने की कितनी शक्ति है।"[2]

---

१ हैवेल *Indian Sculpture and Painting*, p 105

२ हर्षवर्धन, पृ० ४०६

स्वर्गीय चटर्जी महोदय ने कुमारस्वामी के कथन को उद्धृत किया है, "गुप्त काल की शिल्प-कला और चित्रण कला निस्सन्देह प्रगाढ़ आध्यात्मिकता से युक्त है। किन्तु यह आध्यात्मिकता समाज के विरुद्ध नहीं है। इस आध्यात्मिकता का जीवन के साथ सामञ्जस्य स्थापित है। इस कला का आधारभूत विषय निस्सन्देह सदा धार्मिक है, किन्तु इस विषय के प्रतिपादन में आध्यात्मिक भावना और जीवन के अनुभव तथा तथ्यपूर्ण बातें सब एक सुसंगत समष्टि के अन्तर्गत हैं।'

हमने कुमारस्वामी के इस कथन का कुषाणकालीन संस्कृति के अध्याय में ही उल्लेख किया है कि गुप्तकालीन मूर्ति कला का उद्भव मथुरा की तक्षण कला से हुआ है और गुप्त-कला मथुरा की कला शैली का एक नितान्त विकसित रूप प्रदर्शित करती है। गुप्त-काल में सौंदर्य, सशक्तता और आध्यात्मिक भावों का सुन्दर समन्वय है। मथुरा कला की इन्द्रिय परकता के स्थान पर गुप्त-कला में आध्यात्मिक भावों की दिव्य अभिव्यंजना है। मथुरा-कला में हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने वाले सौन्दर्य का अभाव है जब कि गुप्त-काल की स्थापत्य कला इस प्रकार के कलागत सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

गुप्त काल में बौद्ध कलाकारों ने तथागत की प्रतिमायें बनाईं तो हिन्दू कलाकार भी अपने इष्टदेवों की मूर्तियों के निर्माण में उनसे पीछे न रहे। वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचार से शिव तथा विष्णु की अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ। कोह की शिवलिंग प्रतिमा ने इस काल की हिन्दू कला का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है। इस युग में हिन्दू कलाकारों ने शंकर के अर्धनारीश्वर रूप की प्रतिमा का निर्माण बड़े ही कौशल से किया। मथुरा से प्राप्त विष्णु की प्रतिमा में भी, सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा की भांति, एक स्वर्गीय सन्तुष्टि तथा गम्भीर आध्यात्मिक ध्यान मुद्रा के दर्शन होते हैं। उदयगिरि की विशाल वराह मूर्ति गुप्तकालीन कलाकार की प्रतिमा का एक सुन्दरतम नमूना प्रस्तुत करती है। सूर्य-दुर्गा, स्वामि कार्तिकेय आदि देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी इस काल में बनाई गई थीं। गुप्त काल की मूर्ति कला सजीवता आध्यात्मिकता, सुघड़ता, सौन्दर्यपूर्णता और सुरुचिसम्पन्नता में अपना सानी नहीं रखती।

चित्र कला—भारत के साहित्य में चित्रकला के उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। संस्कृत के काव्यों और नाटकों में शायद कुछ ही ऐसे होंगे जिनमें चित्रकला या चित्रों का जिक्र न किया गया हो। परन्तु गुप्त-काल से ही हमें चित्रकला के नमूने मिलने लगते हैं। यह एक विस्मय की बात है कि परवर्ती युगों की चित्रकला के नमूने भी हमें नहीं प्राप्त होते। गुप्त-काल की चित्रकारी के नमूने हमें अजन्ता और बाघ की कन्दराओं के भित्तिचित्रों द्वारा प्राप्त होते हैं।

अजन्ता और बाघ की चित्रकला की अपनी कुछ विशेषतायें हैं। यह हमारे सामने तत्कालीन जीवन का सजीव चित्र उपस्थित करती है यद्यपि बौद्ध चित्रकारों का प्रधान उद्देश्य तथागत के जीवन की घटनाओं का चित्रण करना था, तथापि वे अपने समकालीन लोक-जीवन से पृथक नहीं थे। समस्त चेतन और जड़ जगत के साथ अजन्ता और बाघ के चित्रों के चित्रकारों की गहरी सहानुभूति थी। अजन्ता के चित्रकार प्रकृति के साथ स्नेहमयी भावना रखते थे। उन्होंने फूलते हुए वृक्ष मन्द गति से बहने वाले निर्झर तथा इतस्तत परिभ्रमण करने वाले अरण्य नागरिका' (पशुओं) के सजीव चित्र खींचे हैं। बन्दरों और हाथियों हिरणों और शशकों को चित्रकारों ने बड़ी सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। भारत के सामुदायिक मानस में उनको केवल पशुमात्र नहीं समझा जाता था, वरन वे सृष्टि के अभिन्न अंग समझे जाते थे

और कलाकारो, दार्शनिको, तथा बुद्धिमान नागरिको ने उनको सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखने तथा उनके जीवन को समझने का प्रयास किया था। प्रकृति के साथ-साथ उस समय का जीवन भी अजन्ता के चित्रो मे मुखर हो उठा है। "अजन्ता के चट्टान निर्मित मन्दिरो की सहस्रो दीवालो और उनके सैकडो स्तम्भो पर हमारे नेत्रो के सम्मुख एक विशाल नाटक होता हुआ दिखाई पडता है। यह नाटक एक आश्चयजनक रूप से विभिन्नतापूर्ण दृश्य की पृष्ठभूमि मे, वनो व उद्यानो के बीच, राजसभाओ और नगरो, चौड़ मैदानो तथा गहन कान्तारो मे होता है, जबकि स्वर्ग के दूत आकाश मे सवेग घूमते हैं। इस नाटक को राजकुमार तथा साधुगण और योद्धा, तथा प्रत्येक स्थिति के स्त्री पुरुष अभिनीत करते है। इन समस्त (चित्रो) से ससार के रूप की चमक के प्रति, स्त्री-पुरुषो की शारीरिक उत्क्रान्टना के प्रति पशुओ की शक्ति तथा कोमलता के प्रति और पक्षियो तथा फूलो की लावण्यता एव विशुद्धता के प्रति, एक-एक महान् आनन्द विस्मृत होता है और इस भौतिक सौन्दय के ताने-बाने मे हम सृष्टि के आध्यात्मिक मूल्यो के व्यवस्थित रूप को बुना हुआ देखते हैं।"[१] एक अन्य लेखक ने भी लिखा है कि अजन्ता-कन्दराओ की दीवालो तथा खम्भो द्वारा एक महानाटक की पृष्ठ-यवनिका का निर्माण होता है। अभिनेता गण हैं राजकुमार, वीर पुरुष, सामान्य नर नारी, जो सभी जीवन के आनन्द से परिपूरित हैं।[१]

अजन्ता के कतिपय चित्रो की प्रभावोत्पादकता और अभिव्यक्ति सवथा प्रशसनीय है। "मरणासन्न राजकुमारी' चित्र की भावाभिव्यक्ति इतनी गम्भीर है कि इसे देखकर चित्त प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। अनेक कलवेविदो ने इस चित्र की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। एक कलाविद् का कथन है, "For pathos and sentiment and the unmistaken way of telling its story this picture, I consider, cannot be surpassed in the history of art The Florentine could have put better drawing and the Venetian better colour, but neither could have thrown greater expression on it" "माताशपुत्र नामक चित्र भी अजन्ता की चित्रकला का अद्भुत नमूना है। अजन्ता की चित्रकारी मे जुलूस के दृश्य भी बडे ही रमणीय तथा चित्ताकर्षक है। बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्रो मे 'महाभिनिष्क्रमण' का चित्र बडा स्वाभाविक और प्रभावशाली है। इस चित्र के विषय मे भगिनी निवेदिता कहती हैं, "यह चित्र सम्भवत भगवान् बुद्ध का सबसे महान् कल्पनात्मक चित्रण है जिसे ससार ने आज तक उत्पन्न किया है। ऐसी अद्वितीय कल्पना पुन उत्पन्न नही की जा सकती।"

अजन्ता के चित्रो की जितनी अधिक प्रशसा की जाय, थोडी है। श्रीमती हेरिंघम का कथन है कि अजन्ता के चित्रो के कारण भारत मानवता की श्रद्धा का अधिकारी है। एक अन्य महिला कला विशारद का कथन है कि अजन्ता की कला भारत की सर्वोत्कृष्ट कला है। चित्रो की सुन्दरता अद्वितीय है और वे भारतीय चित्र-कला के चरम उत्कर्ष हैं। अजन्ता की चित्रकारियो की कला निपुणता बडी आश्चयजनक है। एक विद्वान के शब्दो मे, 'विभिन्न भावभेदो को बिना किसी अधिक परिश्रम के, मनोहर रूप मे अभिव्यक्त करने मे चित्रकार बडे पारगत थे। स्वाभाविकता, लालित्य

१ "The walls and pillars of the Ajanta Caves constitute the back screen of a vast drama The dramatic personnel are heroes princes, ordinary men and women all of whom are imbued with the joy of creation"

तथा चेतना का अभिव्यंजन इस कला की अपनी विशेषताय हैं। अजन्ता के चित्रकार बडे प्रतिभाशाली थे, उनकी चित्रकारी इतने उत्कृष्ट दर्जे की थी कि वास्तव मे उसका कोई अनुकरण नही कर सकता। रूप भेद तथा हावभाव-सम्बन्धी उनका ज्ञान तथा भावभेदो पर उनका अधिकार वस्तुत आश्चयजनक है। हाथो की सुन्दरता तथा मानव शरीर के रूप सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातो का चित्रण इतनी कुशलता के साथ किया गया है कि आधुनिक चित्रकार उसके सामने अपनी अनभिज्ञता पर निराशा प्रकट करते हैं। इन चित्रकारो मे केवल दैवी प्ररणा ही नही थी, प्रत्युत वे बडे विद्वान् भी थे। उन्होंने शरीर तत्व (अस्थि-सस्थान) तथा मुद्राओ का प्रगाढ़ अध्ययन कर उसमे पूण कुशलता प्राप्त कर ली थी।"

सगीत —चित्रकला की भांति सगीत का भी भारतीय साहित्य मे प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। गुप्त-काल के साहित्य ग्रन्थों से पता चलता है कि इस समय गायन, वादन तथा नतन तीनो सगीत के विभिन्न रूप थे और तीनो ही का समाज मे प्रचलन था। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्को से पता लगता है कि उसकी वीणा वादन मे बहुत अधिक अभिरुचि थी और प्रयाग प्रशस्ति में तो उसे अपने वीणा-वादन से नारद एव तुम्बरु को लज्जित करने वाला बतलाया गया है। गुप्त काल के कतिपय साहित्य ग्रन्थो से ऐसा सकेत मिलता है कि सगीत की शिक्षा देने के लिए शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। समाज मे नृत्य का भी काफी प्रचार था। अभिजात कुलो की नारियाँ सगीत की शिक्षा प्राप्त करती थी। इस काल की गणिकायें सगीतादि ललित-कलाओ मे बडी निपुण होती थीं।

मुद्रा निर्माण कला—यूनानियो से मुद्रा निर्माण-कला सीखकर गुप्तो के शासन काल मे भारतवासियो ने इसको एक राष्ट्रीय कला का रूप प्रदान किया और इसे उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। गुप्त सम्राटो ने कलापूण सुवण मुद्रायें चलाई। उनकी मुद्राओ के आकार प्रकार की विभिन्नता इस कला की समृद्ध अवस्था का सकेत करती हैं। गुप्त सम्राटो के सिक्के निर्माण-सुघडता तथा रुचि की कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन पर स्पष्ट अक्षरो मे लेख उत्कीण हैं। "अप्रतिरथो विजित्य क्षिति सुचरितै दिव जयति", आदि काव्यात्मक लेखो को सिक्को पर उत्कीर्ण कराना गुप्त सम्राटों की मौलिक सूझ थी।

———

गुप्त-काल भारत का स्वर्ण-युग | २०

'गुप्तकाल' प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्ण-काल अंगीकार किया जाता है। 'गुप्तकाल' को ऐसी विशिष्ट उपाधि से विभूषित करना युक्तिसंगत बात है। गुप्त-काल में हम वैसी ही सर्वोपरि आभा, सर्वोपरि आकर्षण एवं सर्वोपरि चमक दमक पाते हैं जैसी कि स्वर्ण धातु में परिलक्षित होती है। स्वर्ण समस्त धातुओं में अनमोल स्थान रखता है। इसकी बहुमूल्यता एवं उपयोगिता सर्वविदित है। गुप्तकाल में देश ने सर्वाङ्गीण प्रगति की थी। समाज, राजनीति एवं कला का शायद ही कोई पक्ष हो जिसमें भारत की महान प्रतिभा का साक्षात्कार न हुआ हो। अनेक प्रतापी राजाओं ने अपनी गौरवशाली विजयों से दिग दिगन्तों में भारतीय पताका फहराई थी। देश ने पहली बार चक्रवर्ती सम्राटों की कल्पना का साकार रूप देखा था। भारत की सीमाओं से परे विदेशी भूभाग पर भी हमारी एकछत्रता स्थापित थी। दक्षिण पूर्व एशिया भारतीय संस्कृति की भव्यता पर लट्टू हो गया था। संस्कृति की धर्म विजय तथा शस्त्रों की असुर विजय दोनों क्षेत्रों में हमारी विशिष्टता का ढिंढोरा पिट रहा था। साहित्य के क्षेत्र में कालिदास की कोकिलकंठी सुरीली तान देशवासियों को बेसुध बना रही थी। 'कविकुलगुरु' की उपस्थिति ने साहित्यकारों के जीवन में एक नवरस का संचार किया था। साहित्यकारों एवं साहित्य प्रेमियों का ऐसा जमघट हमें कदाचित् विश्व के किसी अन्य युग में दृष्टिगोचर हो। अजन्ता की अमर चित्रकारी भी इसी युग की देन है। यदि हम यह कहें कि आधुनिक भारत में जो कुछ आज अवशिष्ट है उसमें गुप्तकाल का अंश गुरुतर है तो अत्युक्ति न होगी। स्वधर्म, स्वदेश एवं स्वभाषा की भावना को मूर्त रूप देने वाले इसी काल के सम्राट् थे। देश को विदेशियों से विमुक्त कर ब्राह्मण धर्म को राष्ट्रीय धर्म बना एवं संस्कृत को राष्ट्रभाषा का गौरव प्रदान कर जिस त्रिवेणी की धारा को उन्होंने बहाया था, वह आज भी भारतीय मानस के लिए श्रद्धा का पात्र है। अब हम विस्तार से गुप्तकाल की गरिमा का मूल्यांकन करेंगे। इस मूल्यांकन पर ही हम यथार्थ रूप से गुप्तकाल की सर्वोत्कृष्टता का निगमन कर सकते हैं।

गुप्तकाल प्रतापी राजाओं का काल—गुप्तकाल की सर्वोपरिता का सबसे कारण है—महान् सम्राटों का इस युग में फलीभूत होना। इन्हीं महान् सम्राटों की विशिष्ट क्रियाओं ने देश को उस मध्य स्थल पर पहुँचाया जिसके लिए अन्य देशवासी ईर्ष्यापूर्ण नेत्रों से निहारते हैं। सम्राट समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय में इस परम्परा का उद्घाटन किया था जिसके अनुयायी उसके परवर्ती वंशज बने। उत्तर में आर्यावर्त राज्यों को अपने में संयोजित कर, उन्हें अपने विशाल साम्राज्य का अंग बनाया। इस राजनीतिज्ञ ने दक्षिणापथ के राज्यों को परास्त कर उनके राज्यों को पुनः उन्हें लौटा कर सफल नीतिज्ञ होने का परिचय दिया। तत्कालीन परिस्थितियों में देश के इन दूर के क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित करना बड़ी कठिन बात थी। [illegible] एवं आवागमन के साधनों के अभाव में हर समय विप्लव एवं विद्रोह की

बनी रहती है। यह समस्या समुद्रगुप्त के लिए सदैव के लिए सरदर्द का कारण बनी रहती। अतएव सूझबूझ से काम लेते हुए उसने 'ग्रहणमोक्षानुग्रह' की नीति का प्रयोग किया। अश्वमेध यज्ञ का आयोजन कर उसने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार भी अपनी पराक्रमशीलता का अनुष्ठान किया। इस सम्राट के पश्चात् सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य भारत के सिंहासन पर आरूढ हुआ। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य गुप्तकाल का सबसे बड़ा प्रतापी नरेश माना जाता है। इसने अपने पिता द्वारा प्रारम्भ की गई परम्पराओं को बखूबी निभाया। उसने न केवल रणस्थल में, बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी युगान्तकारी प्रगति की। यदि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन-काल गुप्तकाल से निकाल दिया जाय तो निश्चय रूप से गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग नहीं कहला सकता। वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का काल ही स्वर्ण काल है। इसी नरेश ने स्वदेश, स्वधर्म एवं स्वभाषा की भावना को प्रतिष्ठित किया था। भारतीय भूभाग से विदेशी जातियों जैसे शकों एवं हूणों को मार भगाया। देश में पूर्णतया भारतीयता का प्रतिष्ठापन कर इस नरेश ने शकारि की उपाधि धारण की। 'विक्रमादित्य' की उपाधि भी उसके वास्तविक शौर्य एवं पराक्रम को प्रतिबिम्बित ही करती है। सिन्धु नदी के सात मुहानों को पार कर मध्य एशिया में भी इस सम्राट की विजय दुन्दुभी बज रही थी। देखिए मेहरौली के स्तम्भ अभिलेख में इस घटना का अंकन—"तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाल्हिका" दक्षिण भारत में भी इस सम्राट् का प्रभाव अनिर्विवाद रूप से स्थापित था। दक्षिण भारत के नरेश सम्राट की महत्ता एवं सर्वप्रभुता-सम्पन्नता का सत्कार करते थे। देखिए प्रशस्तिकार के भव्य शब्दों में—

"यस्याद्यावधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः"

सम्राट चन्द्रगुप्त ने भारतीय भूमि पर अपनी सार्वभौमिक शक्ति का विविध रूपों में परिचय दिया है। ब्राह्मण धर्म को राष्ट्रीय धर्म का रूप देने वाला यही परम भागवत था। संस्कृत को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कराने वाला यही कवियों का संरक्षक था। इस सम्राट के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने सिंहासन की परम्परा को निभाया। उसने उन हूणों को भीषण संग्राम में मार गिराया जिनकी पदचाप से पृथ्वी काँपती थी, जिन्होंने मध्य एशिया तथा यूरोप के क्षेत्रों में विनाश का ताण्डव-नृत्य किया था, जिनकी बर्बरता, क्रूरता एवं अत्याचार की कहानियों ने लोक गाथाओं का रूप लिया है। ऐसी ही आततायी जाति की भी हिम्मत पस्त करने वाला, उनके कदमों को अवरोधित करने वाला और यहाँ तक कि भारतीय भूमि से उन्हें बाहर ढकेलने वाला भारत माँ का लाल स्कन्दगुप्त ही था। उसके इस अप्रतिम पराक्रम का उल्लेख भीतरी के शिलालेख में प्राप्त होता है—

"क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।"

युद्ध की विभीषणता का आभास तो उस समय होता है जब हमें यह ज्ञात होता है कि इस महान सम्राट ने भारतीय वसुन्धरा को सुरक्षित रखने के लिए नंगी धरती पर ही सोकर अपने नेत्रों की प्यास मिटाई। कितना साहस, कितना त्याग, कितना रण-कौशल्य एवं कितना देशप्रेम—यह सब स्कन्दगुप्त के चरित्र में परिलक्षित होते हैं।

यह इन सम्राटों की ही शौर्यता थी कि किसी विदेशी ने भारत की भूमि पर टेढ़ी

दृष्टि करने का साहस नहीं किया। भारत की जनता ने स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता के वातावरण में पनप कर अपनी अलौकिक शक्ति एवं प्रतिभा का जो चमत्कार दिखाया है, वह क्या भुलाये जाने योग्य है। गुप्त सम्राट भारतीय राजनैतिक आकाश के वे नक्षत्र हैं जिनका प्रकाश कभी भी झिलमिला नहीं सकता। इन नक्षत्रों की प्रदीप्ति के सम्मुख अन्य तारागण लजा-से गए जान पड़ते हैं।

राजनैतिक एकरूपता का युग—भारत की प्राकृतिक एवं भौगोलिक व्यवस्था कुछ ऐसी है कि देश में एक शासन-व्यवस्था, एक प्रभुत्व की स्थापना करना कुछ कठिन-सा प्रतीत होता है। प्रागैतिहासिक युग से बीसवीं शताब्दी तक यही प्रयास होते आये हैं कि भारत को कैसे एक इकाई में पिरोया जाय? कैसे भारतीय राष्ट्र में एक राष्ट्रीयता का सदेश फूंका जाय? कैसे देश की विघटनकारी प्रवृत्तियों को कुचला जाय? इन सब का कारण यह है कि भारत के विस्तृत सभाग में विभिन्न सामाजिक व्यवस्थायें हैं, विभिन्न भाषायें हैं, विभिन्न धार्मिक प्रथायें हैं—विभिन्नताओं की कोई कमी नहीं है। गुप्तकाल के सम्राट अपने देश की इस विचित्र परिस्थिति से अवगत थे। अतएव उन्होंने देश में राष्ट्रीयता की भावना को बल देने का अथक प्रयास किया और महत्वपूर्ण एकरूपता स्थापित करने की दिशा में अपना पग बढ़ाया। देश में से विदेशियों को निकाल कर 'स्वदेश' की भावना से उन्होंने 'भारतीयता' के मन्त्र को पुष्पित-पल्लवित किया। भारत भारतीयों का है, इससे राष्ट्रीय एकता की भावना को काफी बल मिला। देश में एक धर्म का प्रचार कर, ब्राह्मण धर्म को राष्ट्रीय धर्म बना देश में धार्मिक एकता की स्थापना में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया। धार्मिक एकता का राष्ट्रीय जीवन में बड़ा ही उत्कट स्थान होता है, इससे गुप्त सम्राट भली-भाँति परिचित थे। देश में विभिन्न भाषाओं के होने से देश के लोगों में परस्पर आदान प्रदान करने में, एक-दूसरे को समझने में बड़ी कठिनाई होती है, अतएव संस्कृत को राष्ट्रभाषा बना गुप्त सम्राटों ने भाषा की एकता की स्थापना में बहुमूल्य सहयोग दिया।

लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण देश की एकता तो राजनैतिक एकता होती है। समुद्रगुप्त ने इसी आशय को दृष्टिगत कर विभिन्न अभियान किये थे। उसने अपने अभियानों से अंत में पूर्ण भारत में अपनी सार्वभौमिक प्रभुता की स्थापना कर दी और भारत के प्रत्येक छोटे-छोटे नरेश अब सम्राट् की सहानुभूति की अपेक्षा करने लग गए। देश को एक राजनैतिक इकाई में पिरो कर इस सम्राट ने भारत का अपूर्व कल्याण किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता द्वारा प्राप्त साम्राज्य को सुगठित ही किया, उसने सब अर्थों में भारतीय एकीकरण को मूर्त रूप प्रदान किया था। उसका साम्राज्य हिमालय पर्वत से लेकर कन्याकुमारी तक एवं अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक माना जाता था। यदि हम उसे भारतीयता का अग्रदूत कहें तो उचित ही होगा। स्कन्दगुप्त एवं कुमारगुप्त ने अपने पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित रखा। लेकिन यह राजनैतिक एकता अधिक समय तक टिक न सकी। गुप्त सम्राटों का प्रभावकारी हाथ जैसे ही उठा, विघटनकारी शक्तियों ने अपने सर उठाने प्रारम्भ कर दिए। विदेशी आक्रमणकारियों के सीमातिक्रमण पुन प्रारम्भ हुए। देश के विभिन्न भागों में विभिन्न राजवंशों की प्रतिष्ठापना हो गई। कन्नौज में मौखरी वंश ने शासन सूत्र सम्भाला, थानेश्वर में वर्धन वंश शक्तिशाली हो गया, वलभी ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और मालवा भी अपनी सीमित सीमायें लिए उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार देश में राजनैतिक एकता का सूत्र शिथिल पड़ गया और भारतमाता की आत्मा फिर से गुप्तकालों जैसे वीरों की आशा में खो गई।

आर्थिक समृद्धि का युग—गुप्तकाल जनता की आर्थिक समृद्धि का युग भी था। गुप्तो ने जनता को पुत्रवत् समझ कर उनके दुखदर्द को दूर करने का भरसक प्रयास किया था। अपराधो की सख्या पर्याप्त कम हो गई थी। फाह्यान ने देश के धन धान्य से परिपूर्ण होने का उल्लेख किया है। जन-जीवन के उच्च नैतिक गुणों को देखकर वह मोहित-सा हो गया था। उसने देश के विभिन्न भागो मे यात्राएँ की थीं, लेकिन कही भी किसी डाकू या चोर के दर्शन उसने नहीं किये। इस प्रकार इस यात्री के वर्णन मे तत्कालीन सुख-समृद्धि को पर्याप्त प्रतिबिम्बित किया है। कालिदास ने इन्ही शासको को सुख शान्ति एव श्रेष्ठ व्यवस्था को इगित कर लिखा था—

"यस्मिन् मही शासति वणिनीना निद्रा विहाराधपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्र सयदशुकानि, कोलम्बयेदाहरणाय हस्तम॥

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थकारो के विवरणो-रघुवश-मे हमे तत्कालीन भौतिक जीवन की समृद्धि का आभास होता है।

धार्मिक सहिष्णुता—विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो म परस्पर मेल एव एकता रहना राज्य की शान्ति के लिए अनिवार्य तत्त्व होता है। धार्मिक विद्वेषो की उपस्थिति से राज्य या राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति का होना कठिन बात होती है। सुचारु शासन का मुख्य कार्य होता है—विविध धर्मों के उपासको मे परस्पर भ्रातृ भाव का सचार करना। उनमें एक-दूसरे को समझने और एक दूसरे के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना। शासक को भी अपने आदर्श से यह तथ्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। प्राचीन भारत को इस बात पर गर्व है कि उसके समय के शासकों ने कभी भी धर्म प्रताडन की धार्मिक कट्टरता की नीति का अवलम्बन नही लिया। धर्म को सदैव व्यक्तिगत हित की बात माना गया है। गुप्त नरेशो ने इसी प्राचीन भारतीय परम्परा की शृखला म एक कडी और जोडी थी। धर्म के नाम पर अत्याचार एव अनाचार करना उनको छू तक नही गया था। यद्यपि स्वय वे ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। अपने को परम भागवत' लिखने मे अपना गौरव समझते थे। साथ ही साथ, उन्होंने इस धर्म के विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानो को भी बडे उत्साह से सम्पन्न करवाया था। उन्होंने अनेक शैव एव वैष्णव मन्दिरो का भी निर्माण करवा कर उन धर्मों के प्रति अपनी सहज रुझान प्रकट की थी। ब्राह्मण धर्म के प्रति इतनी आस्था होने पर भी उन्होंने कभी भी स्वप्न मे यह न सोचा था कि धर्मानुयायियो को बलात ब्राह्मण धर्म मे प्रविष्ट करवाया जाये। जहा हम एक ओर इस प्रकार की धार्मिक उदारता के दृष्टात पाते हैं वहा दूसरी ओर हमारे सम्मुख ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ विधर्मियो की हत्या करना परलोक प्राप्ति के लिए आवश्यक अग माना गया था। औरगजेब का अपनी हिंदू प्रजा के प्रति जिस प्रकार का क्रूर दृष्टिकोण था, उससे विश्व भलीभाँति परिचित है। क्वीन मेरी की प्रोटेस्टेन्टो के प्रति नृशसता क्या कोई भुला सकता है। परन्तु गुप्त वश के सम्राटो ने तो अत्याचार करने की बात तो दूर रही—अपनी बौद्ध एव जैन प्रजा के साथ पक्षपात तक का व्यवहार नहीं किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक सेनापति बौद्ध था। साची शिलालेख म बौद्ध अम्रकादव द्वारा एक गाँव तथा २५ दीनार भेंट मे दिए जाने का उल्लेख है। कुमारगुप्त के शासनान्तगत बुद्धमित्र नामक एक बौद्ध ने महात्मा बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। स्कन्दगुप्त के शासन-काल मे जैन धर्म के एक अनुयायी ने आदिकर्तृ न की मूर्ति की स्थापना की थी। इन सब उदाहरणो से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि गुप्तकाल धार्मिक सहिष्णुता का युग था। प्रत्येक धर्मानुयायी को अपनी इच्छानुसार अपनी

धार्मिक क्रियायें करने की स्वतन्त्रता थी। गुप्तकाल ने धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में भी स्वर्ण की भाँति अपूर्व आभा प्रदर्शित की थी और इस प्रकार स्वर्ण-युग की सार्थकता में कोई कसर न छोड़ी।

श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का युग—गुप्त सम्राटों के अभिलेखों द्वारा एवं चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा विवरण द्वारा हमें गुप्तकालीन शासन-पद्धति का बहुत कुछ पता लगता है। फाह्यान ने गुप्त सम्राटों के शासन प्रबन्ध का जितना आकर्षक चित्र खींचा है, उससे तत्कालीन श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का हमें बोध होता है। फाह्यान ने लिखा है—

"प्रजा प्रभूत तथा सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंच-पंचायत कुछ भी नहीं है। लोग राजा की भूमि जानते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहें जायें, चाहे जहाँ रहें। राजा न तो प्राणदण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस वा मध्यम साहस का अर्थ दण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युता करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार व सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में न कोई अधिवासी जीवहिंसा करता है न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज खाता है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते तथा मांस बेचते हैं।"

इन विवरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्तों की छत्रछाया में सम्पूर्ण भारत में 'रामराज्य' की-सी सुख शान्ति एवं वैभव विराजमान था। राजा सर्वप्रिय था। प्रजा पर कोई कठोर अंकुश नहीं रखा जाता था और वह शान्त साधनों से अपना काम लेता था। समस्त जनता को अपनी स्वतन्त्रता पालन का पूर्ण अवसर दिया गया था। प्रजा नागरिकों के कर्तव्यों से पूर्णतया परिचित थी। सद्व्यवहार की भावना से परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना वह अपना कर्तव्य समझती थी। अपराधों की संख्या काफी कम थी। इस कारण से राजनियमों में भी सरलता थी। देश में सम्पत्ति का अपार भण्डार भरा पड़ा हुआ था। राजा प्रजा की सुख-सुविधा को अपना प्रथम कार्य समझता था। सार्वजनिक कार्यों के लिए वह दिन प्रतिदिन व्यस्त रहता था। निर्धन व्यक्तियों को अन्न प्रदान करना एवं वस्त्रों से परिपूरित करना राज्य का कर्तव्य माना जाता था। आजकल की भाँति ही उस समय औषधालयों में चिकित्सा निःशुल्क की जाती थी। दामोदर ताम्रपत्र में हम गुप्तों की शासन व्यवस्था का बड़ा भव्य रूप देखने को प्राप्त होता है। इस प्रकार उच्चकोटि के शासन विधान में गुप्तकालीन जनता सुख शान्ति से जीवन यापन कर रही थी।

आर्य संस्कृति के पुनरुद्धार का युग—गुप्त नरेश आर्य संस्कृति के महान् पोषक एवं अनुयायी थे। आर्य जाति की श्रेष्ठता का उन्हें अभिमान था। उनकी रगों में आर्य सभ्यता का रक्त द्रुतगति से प्रवाहित हो रहा था। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' मूल मन्त्र के अनुष्ठाता गुप्त सम्राट् ही थे। उन्होंने आर्य संस्कृति के तीन मूल तत्वों के द्वारा आर्य संस्कृति की स्थापना करने का निश्चय किया था। यह तीन तत्त्व थे देश, भाषा एवं धर्म। इन तीनों तत्वों में आर्यत्व का रंग ला उन्होंने भारत को आर्य बनाने की दिशा में महान् पग उठाया था। उन्होंने स्वदेश, स्वभाषा एवं स्वधर्म के नारे लगाये थे। स्वदेश से उनका तात्पर्य था भारतवर्ष से। भारत को पूर्णतया विदेशी जातियों से विमुक्त कर पूरे देश में भारतीय शासन-व्यवस्था के अनुसार शासन करना उनके पहले नारे का भाव था। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भारत में स्थित विदेशी राज्यों को नेस्तनाबूद कर दिया था। देश को पूरे रूप से विशुद्ध भारतीय ढंग में

अन्तर्गत रख उन्होंने स्वदेश' की अपनी कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया। स्वभाषा के नारे द्वारा वह पुनः संस्कृत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते थे। वेदों एवं महाकाव्यों की भाषा को पुनर्स्थापित कर वे आर्य संस्कृति के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को अपने प्राचीन स्थान पर आरोपित करने के इच्छुक थे। अशोक के पूर्व महात्मा बुद्ध ने ही संस्कृत की श्रेष्ठता को स्वीकार न कर पाली एवं प्राकृत भाषा के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया था। महात्मा बुद्ध के इस पग ने देश में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला खड़ा किया। गुप्त सम्राटों के पहले तक के सभी नरेशों ने पाली एवं प्राकृत में ही अपने अभिलेख लिखवाने प्रारम्भ कर दिये थे। इस प्रकार संस्कृत की परमेष्ठिता को यह बड़ा भारी आघात था। गुप्त सम्राटों ने अपनी संस्कृति के इस अनिवार्य अंग की अवहेलना समझ संस्कृत भाषा को राष्ट्र भाषा का स्थान प्रदान किया। उन्होंने संस्कृत के प्रोत्साहन के लिए विविध कार्य किये। अपनी प्रशस्तियाँ संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण करवाई। मुद्राओं पर भी संस्कृत में छन्दबद्ध लेख लिखवाए। अपने संरक्षण में संस्कृत भाषा के महान् विद्वानों को शरण दी। कालिदास, भवभूति आदि इसी युग की उपज हैं। वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रति सम्मान प्रकट करने वाले गुप्त सम्राटों ने इन ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित विचारों को भी मूर्त रूप में प्रकट करने के लिए अपने अधिकार का उपयोग किया। ब्राह्मण धर्म का ह्रास महात्मा बुद्ध के उत्थान के पश्चात से होना प्रारम्भ हो गया था। वेदों के इस धर्म को बाद वाले नरेशों ने प्रश्रय भी नहीं दिया। महाकाव्यों में वर्णित इस धर्म को इस प्रकार राजाश्रय के अभाव में अपने पतन के दिन देखने पड़ गए। ब्राह्मण धर्म के विभिन्न तत्त्वों को प्रतिष्ठापित करने वाले गुप्त सम्राटों ने हिन्दू धर्म को भी अपने प्राचीन भव्य आकार में उपस्थित करने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक एवं अन्य परवर्ती नरेशों ने हिन्दू धर्म के मुख्य तत्त्व अश्वमेध यज्ञ द्वारा अपनी सार्वभौमिकता प्रकट नहीं की थी। उन्होंने इस प्रकार के अनुष्ठानों की उपेक्षा की थी। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को भी फिर से मजबूत बनाने के लिए उन्होंने ब्राह्मणों को भूयसी दान दिया। नचना तथा भूमरा में कई शैव एवं वैष्णव मन्दिरों की स्थापना कर इन नरेशों ने 'परम भागवत' की अपनी उपाधि की सार्थकता उद्घाटित की। अश्वमेध यज्ञ के अनुसार अपनी सार्वभौमिकता को प्रकट किया। दिग्विजय का आयोजन किया, अर्थात् प्राचीन ब्राह्मण धर्म के मुख्य तत्त्वों को पुनः स्थापित कर देश में आर्य सभ्यता एवं आर्य संस्कृति का जाज्वल्यमान दीपक प्रज्वलित किया। इस दीपक का प्रकाश इतना अधिक प्रस्फुटित हुआ कि आज भी भारत उसी की चकाचौंध से चकित है।

साहित्य के चरम विकास का युग—भारतीय साहित्य को वर्तमान रूप गुप्त काल में ही प्राप्त हुआ था। वस्तुतः पूर्णतया भारतीय साहित्य को गुप्तकाल की देन कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। जिन ग्रन्थों का गुप्तकाल से पूर्व निर्माण हुआ था, उन्हें इस काल में ही अपना आधुनिक रूप प्राप्त हुआ था। साहित्य के विभिन्न अंगों में इतनी द्रुतगति से और इतनी अप्रत्याशित उन्नति वास्तव में एक चमत्कार ही प्रतीत होती है। संस्कृत भाषा ने इतनी शीघ्रता से क्यों उन्नति की? इसका भी कारण है। साहित्य का विकास तभी सम्भव होता है जब देश पूर्णतया विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित हो—देश में आर्थिक समस्या भलीभाँति सुलझ चुकी हो। जनता की साहित्य के प्रति रुचि हो। जहाँ तक प्रथम बात का प्रश्न उठता है वहाँ गुप्तकाल के लिए यह कथन बड़ा ही उपयुक्त लगता है—'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते'। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे वीर सम्राटों को पाकर कौन देश गर्व न कर उठेगा? किस आक्रामक की कुदृष्टि उस पर पड़ सकती है? गुप्त सम्राटों ने

धन धान्य से राष्ट्र को परिपूरित बना दिया था। स्वयं समुद्रगुप्त कवियो का सरताज कहा जाता था। चन्द्रगुप्त के दरबार के नवरत्न तो लोकगाथाओ तक म प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार के अनुकूल वातावरण का पा किस कवि की कविता-कामिनी अपना सोलह श्रृगार नही करेगी। संस्कृत के महानतम कवि एव भारतीय शेक्सपीयर को भी इसी काल मे उत्पन्न होने का अवसर प्राप्त हुआ था। कविकुल गुरु कालिदास की कोकिल-कंठी कोमल पदावली का प्रस्फुटन गुप्त नरेशो की ही छत्रछाया मे हुआ था। एक समीक्षक ने कालिदास की प्रशसा मे कहा है—

"Kalidasa ■ a name which is the magic wand of India in the history of world's poetic literature"

कालिदास की कृतियाँ विश्व साहित्य की अमर धरोहर है। उनके खडकाव्यो एव नाटको की तुलना मे सम्भवत ही कोई अन्य रचना ठहर पाए। कुमारसभव, मेघदूत, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञानशाकुन्तलम रघुवश मालविकाग्निमित्रम् विश्वसाहित्य के प्राण हैं। विश्व की सभी सभ्य भाषाओ मे इनका अनुवाद हो चुका है।

* हरिषेण ने समुद्रगुप्त की कमनीय कीर्ति के वणन म अपनी काव्यकला का चमत्कार प्रस्तुत किया है। प्रयाग की प्रशस्ति गद्य पद्यात्मक होने के कारण चम्पूकाव्य का एक भव्य एव प्राचीन आदश है। अलकारो की झनकार प्रत्येक रसिक का मन मोह लेती है। प्रशस्तिकार की शैली मे कालिदास से पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है। वत्सभट्टि नामक एक अन्य प्रशस्तिकार ने मन्दसोर अभिलेख द्वारा अपने को अमर बना दिया है। कुमारगुप्त के शासन काल की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने मे इस प्रशस्ति का अमूल्य स्थान है। इस काव्य की भाषा बडी मॅजी, बडी ललित है। भाषा सौष्ठव एव अथ गौरव का प्राचुय है।

शूद्रक इस काल के प्रधान नाटककार मान जाते हैं। शूद्रक केवल कवि ही नही था, बल्कि स्वय एक नरेश था। उसने 'मृच्छकटिक' की रचना की थी। इस नाटक की कविता बडी ही सुन्दर एव सम्पूर्ण है। विशाखदत्त भी गुप्तकाल का एक ऐतिहासिक नाटककार था। 'मुद्राराक्षस' को तो कुछ लोग राजनतिक नाटक की सज्ञा देते हैं। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' इसी नाटककार की एक अन्य कृति है। इस नाटक ने प्राचीन भारतीय इतिहास मे एक नया पृष्ठ जोडा है।

सुबन्धु ने सस्कृत मे कथा साहित्य का श्रीगणेश किया था। बाण ने इसी लेखक से प्रेरणा ग्रहण की थी। 'वासवदत्ता' इस महान् लेखक की रचना थी। श्रव्य एव दृश्य काव्य का वर्णन करने से हमे यह प्रतीत होता है कि गुप्तकाल सुवर्ण-काल होने के साथ ही साथ सरस युग भी था। सचमुच ही गुप्तकालीन साहित्यिक वातावरण इन कविपुगवो की सरस सूक्तियो से रसमय तथा स्निग्ध हो गया था। समस्त वायु-मडल काव्यमय हो गया था। इन कवि-कोकिलो की सुमधुर काकली ने तत्कालीन भारतीय काव्योद्यान मे अकाल मे ही वसन्त का प्रादुर्भाव कर दिया था तथा अपनी रसमयी कूक से सब को आनन्द-प्लावित कर दिया था। अन्य छोटे-छोटे कवियों मे वीरसेन, वासुल, रविशान्ति मातृगुप्ताचाय एव भर्तृमेण्ठ, भामह, अमरसिंह आदि थे।

दशनशास्त्र के क्षेत्र म गण्यमान विभूतियो ने गुप्तकाल को सुशोभित किया था। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य की रचना की थी एव उद्योतकर ने न्यायवार्तिक को अपनी लखनी से प्रस्फुटित किया था। इन ग्रन्थो म बौद्धो के शून्यवाद इत्यादि सिद्धातो का बडी बुद्धिमत्ता से खडन किया गया है। ब्राह्मण-न्याय को प्रनिष्ठा प्रदान करने वाला यही सबसे पहला ग्रन्थ है। मीमासा दशन के विषय पर भी गुप्तकाल के समीप भाष्य

की रचना की गई थी। इस मीमासा भाष्य के रचयिता शबरस्वामी हैं। यह दार्श निक इस दशन के प्रामाणिक व्याख्याता माने जाते हैं। गुप्तकाल भारतीय दर्शन के इतिहास म भाष्यकारो का काल है। साख्य दशन म साख्यकारिका तथा माठरवृत्ति, न्याय मे वात्स्यायन का न्याय भाष्य और उद्योतकर का वार्तिक, वैशेषिक दर्शन म प्रशस्त पाद का भाष्य एव मीमासा दशन पर शबर भाष्य भारतीय दशन साहित्य के ऐसे अमूल्य रत्न हैं जिनकी रचना के कारण गुप्तो का यह काल भारतीय दशन साहित्य के इतिहास म सदा अमर रहेगा।

विज्ञान के क्षेत्र मे भी गुप्तकाल ने सर्वाङ्गीण उन्नति की। शिल्पशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, वैद्यक आदि विषयो में युगान्तकारी आविष्कार हुए। *'मानसार' शिल्पशास्त्र का अतीव लाभदायक ग्रन्थ है। तक्षण एव वास्तुकला के विषयों का वर्णन जितना* इसमे उपलब्ध है उतना अन्यत्र मिलना दुलभ है। ज्योतिष के क्षेत्र मे आयभट्ट का नाम लोक प्रसिद्ध है। इसने 'आयभट्टीय' नामक पुस्तक की रचना की थी। इस पुस्तक मे गणित, कालक्रिया तथा भूगोल का विवेचन प्राप्त होता है। पृथ्वी गोल है एव अपनी धुरी पर चलती है, इस अनुसन्धान का पूर्ण श्रेय इसी विद्वान् को है। लल्ल ने इस विद्वान की पुस्तक पर टीका लिखी। वराहमिहिर गुप्त काल का सवप्रमुख ज्योतिषी था। इस विद्वान ने तीन शाखाओ—तन्त्र (गणित) जातक एव सहिता पर ग्रन्थ रचना की है। इसकी कुछ पुस्तकें इस प्रकार है—लघुजातक, वृहत्जातक, विवाह पटल, योगमाया, वृहत्संहिता एव पचसिद्धान्तिका।

गुप्त काल म अन्य विज्ञानो की भाँति आयुर्वेदशास्त्र म भी विशेष उन्नति की। *नागार्जुन इस युग के महान् अनुसधान विशेषज्ञ थे।* इन्होने 'रस चिकित्सा' का आवि ष्कार किया। सोना रजत, ताम्र आदि खनिज पदार्थों म भी मनुष्यो के रोगो का निवारण करने की शक्ति विद्यमान है इस आवश्यक सिद्धान्त का पता लगा कर आचाय नागार्जुन ने इस शास्त्र मे क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी। लेकिन सवप्रमुख 'पारे' का आविष्कार है। इस प्रकार गुप्तकाल मे हमे विभिन्न अन्वेषणो का ज्ञान होता है।

कामन्दक न चाणक्य की परम्परा का पालन करते हुए राजनीतिशास्त्र पर एक अनुपम ग्रन्थ की रचना इस युग म की। यह ग्रन्थ 'कामन्दकीय नीतिसार' के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि भारत तक ही सीमित नही रही थी, बल्कि सुदूरवर्ती बाली द्वीप मे उपनिवेश स्थापना वाले भारतीयो ने इसे अपना एक प्रधान राजनीति ग्रन्थ माना एव इस द्वीप की शासन व्यवस्था के लिए इसी प्रेरणा ग्रहण की। इस पुस्तक का अनुवाद 'कवि' भाषा मे भी कर दिया गया।

कामशास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'वात्स्यायनीय कामशास्त्र' की रचना गुप्त काल में ही हुई थी। भारतीयो ने जहाँ एक ओर अथ एव धम विज्ञान का बडे मनोयोग से अनुशीलन किया था वहाँ मनुष्यो के कल्याण के लिए कामशास्त्र की भी सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की।

यद्यपि पुराणो का निर्माण काफी पहले हो चुका था परन्तु उनका अन्तिम सस्करण गुप्तकाल मे ही हुआ। इस प्रकार गुप्तकाल म वष्णव धम की उन्नति के साथ धार्मिक साहित्य का भी उत्थान प्राप्त होता है। गुप्तकाल म कई महत्त्वपूर्ण स्मृतियों की भी रचना की गई थी। याज्ञवल्क्य स्मृति पराशर स्मृति नारद स्मृति, वृहस्पति स्मृति, कात्यायन स्मृति इसी काल की कृतियाँ है। जहाँ ब्राह्मण धम का विकास द्रुत गति से हो रहा था वहाँ बौद्ध धम की भी लोकप्रियता म कोई विशेष ह्रास दृष्टिगत नहीं हो रहा था। आचाय मैत्रेय ने योगाचार सम्प्रदाय की सस्थापना की थी और

उन्होंने सूत्रालंकार, मध्यान्त विभग, धमधमता विभग, महायान उत्तर-तन्त्र एव अभिसमयालकारकारिका नामक ग्रन्थो की रचना की। आचार्य असग योगाचार सम्प्रदाय के जाने-माने शिष्य थे। महायान सम्परिग्रह प्रकरण आर्यावाचा, योगाचार, भूमि शास्त्र आदि ग्रन्थ इसी विद्वान् की लेखनी से प्रसूत हैं। आचार्य वसुबन्धु हीनयान एव महायान दोनो सम्प्रदायो के अनुभवी गुरु थे। दोनो सम्प्रदायो पर कई ग्रन्थो की रचना इन्होंने की है। परमार्थ सप्तति तकशास्त्र अभिधर्मकोष महापरिनिर्वाण-सूत्र टीका, विंशतिका इसी विद्वान् की देन हैं। दिग्नाग का 'प्रमाण समुच्चय' भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य बुद्धघोष ने विशुद्ध मग्ग की रचना की। इसके अतिरिक्त दर्जनो अन्य दार्शनिको ने इस काल म अपनी प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित किया था। अतएव साहित्य के प्रत्येक अग म एक अनुपमता, एक अपूर्वता एव पराकाष्ठा के हमे दर्शन प्राप्त होते हैं। वस्तुत गुप्तकाल ने साहित्य कोश म एक अलौकिक प्रकाशवान् नक्षत्र ला उपस्थित किया है जिसकी आभा कभी भी मन्द नही पड सकती।

कला की चरमोन्नति का युग—भारतीय ललित-कला के क्षेत्र म गुप्त युग की अद्वितीय देन रही है। गुप्त कलाकारो ने अपनी अनमोल प्रतिभा एव अनुपम कौशल से 'एक अभिनव युग' का सूत्रपात्र किया है। भारतीय कलाक्षेत्र मे एक क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी है। गुप्तकालीन भारतीय कला म एक विशिष्टता है, एक अपनापन है। सर जान मार्शल (Sir John Marshal) ने भारतीय कला के महत्त्वपूर्ण तत्त्वो का उद्घाटित करते हुए लिखा है कि इस कला म प्राकृतिक चित्रण, सादगी एव धारा प्रवाह मुख्य रूप से प्राप्त होता है। परन्तु गुप्तकालीन कला अधिक सुन्दर एव अतिगहन है। कला के निम्न ६ प्रकार होते हैं—(१) वास्तुकला, (२) तक्षणकला, (३) मृण्मयी मूर्तियाँ, (४) चित्रकला, (५) संगीत, (६) अभिनय।

वास्तुकला के क्षेत्र म गुप्तयुग ने पर्याप्त उन्नति की थी। अब भी दर्जनो मन्दिरो के उदाहरण उस युग की भव्यता की गवाही दे रहे हैं। भूमरा का शिवमन्दिर नागौद राज्य म जबलपुर इटारसी लाइन पर स्थित है। शेष मन्दिरो के नाम इस प्रकार हैं—

नचना कूथर का पार्वती मन्दिर—आजमगढ़ राज्य म स्थित है।
लडखान मन्दिर—बम्बई प्रान्त मे बीजापुर जिले मे अयहोल स्थान पर स्थित है।
देवगढ का दशावतार मन्दिर—बुन्देलखण्ड क झाँसी जिले मे स्थित है।
भिटर गाँव मन्दिर—कानपुर के समीप इटो से निर्मित यह एक विशाल मन्दिर है।
तिगवाँ मन्दिर—मध्य प्रदेश के तिगवाँ स्थान पर यह मन्दिर स्थित है।

तक्षणकला के क्षेत्र मे भी गुप्तकाल ने परमोन्नति की थी। हिन्दू एव बौद्ध प्रतिमाएँ अपने भव्य रूप म हमे विभिन्न स्थलो पर दृष्टिगत होती हैं। कलाविदो ने अपनी निर्जीव छेनी से पाषाण को काटकर सजीव मूर्ति उत्पन्न कर दी है। नचना एव भूमरा मे तक्षणकला के सुन्दर आदर्श प्राप्त होते हैं। सारनाथ के संग्रहालय म गुप्तयुगीन एक बुद्ध प्रतिमा है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्मित हास करते हुए भगवान बुद्ध कुछ कहने को उत्सुक हैं। कलाविदो ने पाषाण पर पालिश करने की विचित्र योग्यता प्राप्त की थी। कई प्रतिमाओ पर विशेष रूप से अलकरण का बाहुल्य प्रकट होता है।

परन्तु गुप्काल को स्वर्णयुग के रूप में प्रस्तुत करने वाली ललितकला है चित्रकला। आज भी अजन्ता एव बाघ की चित्रकारी देख कर दर्शक का चित्त आश्चर्य के सागर मे डुबकी लगाने लगता है। इन रमणीय एव भावव्यजक चित्रो को देखकर

गुप्तकालीन चित्रकारा की हस्तकुशलता एव निपुणता प्रकट होती है। श्रीमती ग्रेबोस्का (Grabowska) ने अजन्ता की चित्रकारी के विषय लिखा है—

"the art of Ajanta is the classical art of India the beauty of the paintings is marvellous and they are the high watermark of Indian painting" —*Ancient India and Civilization*

लारेंस बिनयान (Binyar) ने भी अजन्ता की प्रशसा मे कहा है—

"The frescoes of Ajanta have Asia and the history of Asian art the same outstanding significance that the frescoes of Assisi Siena and Florence have for Europe and history of European art Ajanta is the one great surv ving monument of the painting created by Budhist faith and fervour' —*Ancient Frescoes*

अजन्ता के चित्रो के विषय विविध हैं। परन्तु भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्रो का प्राचुय है। अजन्ता के चित्रो की सुन्दरता तो सभी को ज्ञात है, परन्तु १७वी गुफा मे जो चित्र अकित है, वह चित्रकला की पराकाष्ठा को उदघाटित करता है। करुणा एव सहानुभूति का सम्मिश्रण इस चित्र की मुख्य विशेषता है। माता एव पुत्र भगवान बुद्ध को भिक्षा प्रदान कर रहे हैं। दैन्यभाव प्रत्यक के अग-अग स टपक सा रहा है। कलाकार की तूलिका ने जिस सरलता, दीनता एव निधनता का प्रदर्शन किया, वह अनुपम है। हैवेल (Havell) ने लिखा है—

"In its exquisite sentiment comparable with the wonderful madonnas of Giovanni Bellini"

Indian Sculpture and Painting

एक अन्य विद्वान के शब्द—

"The painting suggests the purity of a mediaeval Italian madonna with her bambino'

एक अन्य सुन्दर चित्र राजकीय जुलूस का है। तीसरा चित्र हाथियो वाले जुलूस का है।

ग्वालियर राज्य मे बाघ की चित्रकारी भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है यद्यपि अजन्ता की तुलना मे इनका महत्त्व नगण्य है। इस प्रकार चित्रकला मे भारत ने अद्वितीय प्रगति की थी। सगीत एव अभिनय के क्षेत्र मे भी भारत ने कम प्रगति नही की थी। विभिन्न प्रकार की नृत्य कलाओ का विकास हो रहा था। नाटको को अभिनय द्वारा रगमच पर प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रकार कला के विभिन्न अगो मे गुप्तकाल ने महती उन्नति की थी। स्वर्णयुग की सार्थकता शत प्रतिशत इस पक्ष द्वारा पुष्टि को प्राप्त होती।

भारतीय संस्कृति के प्रसार का युग—प्राचीन भारतवासी अपनी सस्कृति एव सभ्यता के प्रति अदम्य उत्साह एव जोश की भावना से परिपूर्ण थे। वे देश देशान्तरो मे सस्कृति की विजयो को प्राप्त करने के लिए गए थे। उनके उत्कट साहस एव अनवरत परिश्रम का ही यह परिणाम है कि आज भी हमारी सस्कृति की पताका एशिया के बहुत बड भूखड पर लहरा रही है। आज भी यह देश अपने आध्यात्मिक गुरु की ओर निर्देश एव सकेत के लिए निहारा करते है। लका, इन्डोनेशिया कम्बोडिया, चीन, कोरिया एव जापान देशो मे आज भी हमारी सभ्यता के प्रति आदर एव सम्मान की भावना पाई जाती है।

भारत का इन देशो से आदान प्रदान काफी पहले से ही चला आ रहा था। ईसा पूर्व की शताब्दियो मे ही भारतवासी अपनी अपूर्व विजयो को इन देशो की जनता के हृदयो पर प्राप्त करने के लिए उन्मुख हुए थे। इसका उल्लेख रामायण तथा पुराणो मे प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति के प्रसार के पूर्व इन देशो का सीधा व्यापार होता था। धीरे धीरे इन व्यापारियो ने अपने निवास-स्थान इन विदेशी क्षेत्रो पर बनाए और इस प्रकार भारतीय संस्कृति के सम्पर्क मे यहाँ के मूल निवासी आए और उन्होने इस संस्कृति की श्रेष्ठता को स्वीकर कर उसका आलिंगन किया।

गुप्तकाल मे विशेष रूप से इन विदेशो से अधिक सम्बन्ध बढा। इसका कारण स्पष्ट है। भारतवासियो ने इन दूरस्थ देशो के निवासियो को अपनी संस्कृति के रंग से पूर्णतया सराबोर कर दिया। कविवर कालिदास को भी इन द्वीप समूहो का ज्ञान था। प्रयाग प्रशस्ति मे गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की सार्वभौमिकता के विस्तार का उल्लेख इन द्वीपो पर भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वृहत्तर भारत की कल्पना गुप्तकाल मे ही मूर्त हुई थी। इस प्रकार समस्त प्रमाणो के आधार पर यह सिद्धांत स्थिर करना उचित है कि वृहत्तर भारत मे भारतीय संस्कृति का विस्तार अधिकतर गुप्तकाल मे ही हुआ था। इस प्रकार गुप्तकाल संस्कृति के प्रसार के लिए भी भारत का स्वर्ण युग कहा जायगा।

निष्कर्ष—हमने देखा कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे गुप्तकाल ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। इसी सर्वतोमुखी एव सर्वाङ्गीण उन्नति के कारण ही गुप्तकाल स्वर्णयुग के नाम मे पुकारा जाता है। विश्व मे अन्य भी कुछ उदाहरण हैं जबकि किसी देश ने असीम उन्नति की दिशा मे पग बढाए थे। दो युगों से गुप्तकाल की कभी कभी तुलना की जाती है। यह दो युग हैं—पेरोक्लियन युग (Pereclean Age) तथा 'एण्टोनाइन्स युग' (Age of the Antonines)। अब हम विस्तार से इन दो युगो के विषय मे कुछ बताने का प्रयास करेंगे जिससे हमारी समीक्षा समीचीन हो जाये।

यूनान मे पचम शताब्दी ईसा पूर्व पेरीक्लीज (Pericles) नाम का एक राजनीतिक हुआ है। इसकी सुयोग्य सुशासन नीति का ही परिणाम था कि यूनान देश मे साहित्य एव कला के क्षेत्र मे अपूर्व प्रगति हुई। युगान्तकारी साहित्यकारो, मनीषियो, दार्शनिको एव कलाविदो से परिपूर्ण एथेन्स (Athens) नगर यूरोप का प्रेरणा बिन्दु बन गया। साहित्य प्रेमियो का ऐसा जमघट हमे कम ही देखने को मिलता है। इसी एक पक्ष को लेकर ही पेरीक्लियन यूनानी सभ्यता का स्वर्ण-युग स्वीकार किया जाता है। इसी स्वर्ण युग से इतिहासकार गुप्तकाल की तुलना करते है। बार्नेट (Barnett) ने कहा है—

"Gupta period is in the annals of classical India, almost what Pereclean age is in the History of Greece"

परन्तु बार्नेट तथा अन्य लोगो की यह तुलना युक्तिसगत नही प्रतीत होती। सबसे प्रथम बात यह है कि गुप्तकाल ने प्रत्येक क्षेत्र मे चाहे वह कला का हो साहित्य का हो शासन-व्यवस्था का हो राजनतिक एकरूपता का हो, प्रतापी नरेशो का हो, धार्मिक सहिष्णुता का हो जनता की सुख समृद्धि का हो संस्कृति के पुनरुद्धार एव प्रसार का हो—अभूतपूर्व प्रगति की थी। परन्तु परीक्लियन युग की उन्नति एकागी थी। इसने केवल साहित्य एव कला के क्षेत्र मे ही चरमोत्कर्ष प्राप्त किया था। दूसरी बात यह है कि यूनानी राज्य 'सिटी स्टेटस' (City states) थे। प्रत्येक नगर अपने

म ही पूर्ण सवप्रभुत्व सम्पन्न राज्य थ। अतएव इन छोटे छोटे नगरो मे सुशासन की व्यवस्था करना कोई कठिन काय नही था। इन राज्यो की सर्वांगीण उन्नति की दिशा म थोडे से उद्यम स सन्तोषजनक निर्णय प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु गुप्त साम्राज्य एक विशाल साम्राज्य था जिसे एकता की डोरी मे बाँधना भी एक अद्वितीय योग्यता का काय था। गुप्त सम्राटो ने अपनी इसी प्रतिभा के बल-बूत पर पूरे भारत को एक छत्र के अधीन रखा था। पेरीक्लीयन युग मे शासको का यह गुण हम दृष्टि गोचर नही होता। यूनानियो म ऐसे व्यक्तियो की सख्या भी पर्याप्त थी जिन्हें दास माना जाता था। इन दासो को नागरिको के अधिकारो से पूण वञ्चित रखा गया था। यूनान जस उच्च सस्कृति-सम्पन्न देश मे ऐसी असभ्य व्यवस्था का रहना स्वर्ण युग की उपकल्पना की निरथकता का द्योतन करता है। भारतवष म और गुप्त काल मे दास प्रथा का नामोनिशान भी नहीं था। मानव जाति मे इस प्रकार विभेद की दीवारें खडी कर कोई राष्ट्र महान नही कहा जा सकता। पेरीक्लीज ने जिस भव्य शासन व्यवस्था का सूत्रपात किया था वह केवल उसी के जीवन-काल तक ही स्थायी रही और इस महान् सगठनकर्त्ता की मत्यु के अनन्तर यह व्यवस्था भी विशृखलित हो गई। गुप्तकाल मे समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने जिस भवन की आधार शिला रखी थी वह भवन शताब्दियो तक प्रकृति की क्रूरता के विपरीत भी स्थायी रूप से स्थिर रहा। अन्त म गुप्तयुग न साहित्य एव कला के क्षेत्र म भी जितनी उन्नति की थी उतनी उन्नति पेरीक्लीयन युग भी नही कर सका था। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टिकोण से विवेचना करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि गुप्तकाल पेरीक्लीयन युग से प्रत्यक पक्ष म बढचढ कर था। अतएव यह तुलना तकसगत नही प्रतीत होती है।

कुछ इतिहासकारो ने गुप्तयुग की समता एण्टोनाइ स युग (Age of the Antonines) से की है। इस समता का मुख्य तक यही है कि रोम के इतिहास म एन्टो नाइ स नरेशो का युग 'सुवणयुग' माना जाता है। अतएव सुवर्णयुग की समता 'सुवर्णयुग' से उचित ही प्रतीत होती है। परन्तु इतिहास के पष्ठ उलट कर ही हम यथाथ स्थिति से अवगत हो सकते है। ईसा की प्रथम एव द्वितीय शताब्दी म लगभग ८ नरेशो न अपनी प्रजाभक्ति एव कुशल नतृत्व से रोम के इतिहास मे अपना अपूव स्थान बना लिया था। प्रजा को स तानवत समझना एव शासन सुधार की परम्परा स्थापित रखना इनका मुख्य कर्त्तव्य था। मार्क्स और लियस इस पक्ति मे सवप्रसिद्ध एव सवश्रेष्ठ सम्राट था। इसकी दाशनिकता इतिहास प्रसिद्ध है। शासन की सुव्यवस्था के क्षत्र मे भी इसका पर्याप्त योगदान है। परन्तु यह तथाकथित रोम इतिहास का सुवर्णयुग वास्तव मे सुवणयुग की सज्ञा से सुशोभित होने योग्य नही है। प्रजा की सुख समद्धि ही सुवर्णयुग का सबसे बडा मापदण्ड होता है। जिस युग मे प्रजा सुख एव शान्ति से अपना जीवन निर्वाह नही कर सकती वह युग सर्वाङ्गीण विकास का युग कैसे कहा जा सकता है। इन एण्टोनाइ स नरेशो के अधीन प्लीबियन लोगो के साथ दासता-जसा व्यवहार किया जाता था। उन्हें किसी प्रकार के नागरिक एव राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। केवल यही ही नही बल्कि इस युग मे धार्मिक सहिष्णुता का भी अभाव था। ईसाइयो के ऊपर नाना अत्याचार के उदाहरण हम परिलक्षित होते है। जिस युग म धम को व्यक्तिगत बात न मान कर राज्य की बात माना जायेगा वहाँ धर्मों मे परस्पर द्वेष की भावना का होना स्वाभाविक ही है। गुप्तकाल की धार्मिक सहिष्णुता तो अनुकरणीय एव उदाहरण की बात है। अत इन अभावों से युक्त 'एन्टोनाइन्स युग' की तुलना गुप्त-युग स किसी भी रूप मे नही की जा सकती।

इस प्रकार गुप्तकाल विश्व के इतिहास मे अनुपम एव अद्वितीय है। इस चरमोत्कर्ष पराकाष्ठा की सानी विश्व का कोई अन्य काल नही हो सकता। श्री अरविन्द ने Vision of India मे उचित ही लिखा है—

"Never in her history has India seen such a many sided blossoming of her force of life

अत मे कविराज घोयी के शब्दो को परिवर्तित कर ईश्वर मे यह विनम्र निवेदन करते हैं—

"यावच्छम्भुर्वहति गिरिजासविभक्त शरीर
यावज्जैत्र कलयति धनु कौसुम पुष्पकेतु
यावद् राधारमण तरुणीकेलिसाक्षी कदम्ब—
स्तावज्जीयात जगतिविमलागुप्तवशस्य कीर्ति ।

प्रश्न

प्रयाग विश्वविद्यालय

१ गुप्त काल को प्राचीन भारत का स्वणयुग क्यों कहा जाता है ? इस कथन की विवेचना कीजिए। (१९५०,५२ ५४, ६५)

२ गुप्त शासन पद्धति का वणन कीजिए। (१९६७)

३ 'गुप्त काल वहुत दृष्टिकोण, सहनशीलता तथा मित्र भाव का युग था। इस पर विचार प्रकट कीजिए। (१९५७)

४ 'लेखों से गुप्त सम्राट की शासन व्यवस्था का पूणतया पता चलता है।' विवेचना कीजिए।

५ भारतीय कला मे गुप्त काल का क्या स्थान है। विस्तारपूवक लिखिए। (१९५७)

गोरखपुर विश्वविद्यलय

१ 'गुप्त काल सास्कृतिक जीवन के विविध क्षेत्रो मे महान रचनात्मक कार्यों के लिए प्रख्यात है।'—इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (१९६१)

२ गुप्त शासन-प्रणाली का सक्षिप्त वर्णन कीजिए। (१९६४ १९६६)

३ गुप्त काल मे कला और साहित्य के विकास का मूल्याकन कीजिए। (१९६५)

४ गुप्त युग मे भारतवष की साहित्यिक और सास्कृतिक उन्नति का उल्लेख कीजिए। (१९६७)

५ गुप्त युगीन भारत की सामाजिक और धार्मिक दशा का वर्णन कीजिए। (१९६८ १९६९)

२१ | वाकाटक राजवश

यदि गुप्त नरेशो का उत्तर भारत मे गौरवपूर्ण एव आदरणीय स्थान था तो सम्पूर्ण मध्य प्रदेश, बरार एव दक्षिणी भारत मे वाकाटको का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्रो० डुब्रील के शब्दो मे "दक्षिण के उन समस्त राजवशो मे, जिन्होने तीसरी शताब्दी ई० से छठी शताब्दी ई० तक राज्य किया, सबसे अधिक गौरवपूर्ण एव आदरणीय स्थान का पात्र तथा सब मे अद्वितीय तथा सम्पूर्ण दक्षिण के राज्यो मे श्रेष्ठतम सभ्यता वाला निश्चय ही वाकाटको का यशस्वी राजवश था।"[1]

कुल—वाकाटको के कुल के सम्बन्ध मे विचार कर लेना आवश्यक है। वाकाटक राजवश के सस्थापक विन्ध्यशक्ति को कोलिकिल नामक एक जाति का शासक माना गया है।[2] विष्णु पुराण ने कोलिकिल नरेशो की गणना यवनो मे की है।[3] किन्तु भ्रष्ट पाठ एव अशुद्ध विन्यास के कारण ही भूल से विन्ध्यशक्ति को यवन तथा यूनानी जाति का माना गया था। वास्तव मे वाकाटक ब्राह्मण जाति के थे। अजन्ता (षोडश गुहा) लेख का सम्पादन करते हुए मीराशी महोदय ने यह बताया है कि विन्ध्यशक्ति एक 'द्विज' थे और वे 'विष्णुवृद्ध' गोत्र के थे।

मूल स्थान—वाकाटको के मूल स्थान के सम्बन्ध मे कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ विद्वानो का मत है कि बुन्देलखण्ड मे बिजनौर-बगाट ग्राम मे इनका मूल निवास स्थान था।[4] यह बहुत सम्भव है कि बगाट अथवा बकाट ग्राम के निवासियो ने वाकाटक नाम धारण कर लिया हो, किन्तु बिजनौर बगाट क्षेत्र के वाकाटको से इन दक्षिण के वाकाटको का क्या सम्बन्ध था, यह अभी तक ज्ञात नही है। अमरावती (आन्ध्र देश) के तीसरी शती के एक अभिलेख मे एक वाकाटक यात्री के स्थानीय स्तूप के दर्शनार्थ आने का उल्लेख किया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस ग्राम से वह यात्री आया होगा, वह विन्ध्य पर्वत के उत्तर की अपेक्षा दक्षिण मे स्थित रहा होगा। प्रो० मीराशी भी वाकाटको की दक्षिणात्य उत्पत्ति का समर्थन करते है। जब तक कोई विश्वसनीय प्रमाण नही प्राप्त हो जाता, इस सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

विन्ध्यशक्ति—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, वाकाटक वश का प्रथम शासक विन्ध्यशक्ति था। वाकाटको का मूल निवास-स्थान चाहे जहाँ भी रहा हो पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे उनका अस्तित्व बुन्देल-

---

१ जे० डुब्रील, *Ancient History of the Deccan* p 71

२ "तत कोलिकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति। समा षण्णवति ज्ञात्वा पृथ्वीं तु समेष्यति।"—वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण।

३ 'तेष्वुत्सन्नेषु कैलिकिला यवना भूपतयो भविष्यन्ति। —*Dynasties of the Kali Age* p 48

४ *H I J*, pp 66 68

खंड या आन्ध्र में न रह कर पश्चिमी मध्य प्रदेश में स्थापित था।[1] पुराणों ने विन्ध्यशक्ति को उक्त वंश का संस्थापक तथा विदिशा (आधुनिक भिलसा) और पुरिक (विदर्भ या आधुनिक बरार से सम्बद्ध) का शासक बताया है।[2] विन्ध्य की बाह्य सीमा पर अपनी शक्ति प्रतिष्ठापित करने के कारण ही सम्भवत उसे 'विन्ध्यशक्ति' की उपाधि प्राप्त हुई और यह उसका वास्तविक नाम न था। इस 'वशकेतु' ने किस प्रकार अपनी सत्ता स्थापित की, इसकी सूचना अभी अधकार मे है। सम्भवत, उसके पूर्वज सातवाहन नरेशों के अधीन बरार के राज्याधिकारी थे और सातवाहनो के पतन के पश्चात् विन्ध्य के उस पार तक अपनी सत्ता स्थापित करने मे सर्वप्रथम विन्ध्यशक्ति ही सफल हो सका।

अजन्ता अभिलेख म इसकी पर्याप्त प्रशसा की गई है। उसकी तुलना इन्द्र तथा विष्णु से भी की गई है (पुरन्दरोपेन्द्रसमप्रभाव)। यह भी कहा जाता है कि उसके पास अश्वारोहियो की एक विशाल सेना थी, जिससे उसने शत्रुओ को पराजित किया था।[3] किन्तु अल्तेकर महोदय इस पक्ष म नही हैं कि युद्ध द्वारा उसने अपनी सत्ता स्थापित की थी।[4] इसका राज्य-काल २५५ से २७५ ई० तक रहा।

प्रवरसेन प्रथम—विन्ध्यशक्ति के पश्चात् उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम, जिसे 'सम्राट' या सम्राट की उपाधि प्रदान की गई है, २७५ ई० मे सिंहासनारूढ हुआ। इसकी *प्रबल शक्ति का परिचय पुराण देते हैं और उनसे यह ज्ञात होता है कि इसने साम्राज्य* का विस्तार करके चार अश्वमेध यज्ञ किये। किन्तु इसकी रणयात्रा का विवरण अप्राप्य है। उसका प्रपौत्र रुद्रसेन प्रथम (जो उसका उत्तराधिकारी हुआ) मध्यप्रदेश के एक बड़े भाग पर राज्य करता था। उसका एक पुत्र सर्वसेन दक्षिण बरार तथा निजाम राज्य के उत्तर-पश्चिमी भाग का अधिकारी था। पुराणो के अनुसार उसके दो अन्य पुत्र भी थे जो उपयुक्त स्थानो के इतर कही शासन करते थे। इन सारे प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि प्रवरसेन ने एक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण कर लिया था। चार अश्वमेध यज्ञों के सम्पादन से यह ध्वनित होता है कि उसने चार सफल रण-अभियान किये थे जिनके फलस्वरूप उसने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

साम्राज्य निर्माण के साथ ही उसने दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि अपने पुत्र गौतमीपुत्र का ब्याह उस शक्तिशाली भारशिव नरेश भवनाग की पुत्री से कर लिया, जिससे उसकी स्थिति काफी सुदृढ हो गई। प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्रो का उल्लेख पुराणों मे किया गया है। ज्येष्ठ गौतमीपुत्र तथा दूसरा सर्वसेन था, जिसने

---

१ देखिये *Vakataka Gupta, Age* p 96

२ विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान। भोक्ष्यते च समाषष्टिं पुरीकां चनकाञ्च व ॥

३ से० इ०, पृ० ४२६-२७

४ The districts annexed by Vindhyasakti were mostly a kind of no man's land at that time, and the exhaustion of the patrimony was probably achieved more by diplomacy than by force '—*Vakataka Gupta Age*, p 97

वाकाटको की दूसरी शाखा का निर्माण वसीम (दक्षिण बरार) मे किया जो मूल शाखा के साथ-साथ ५२५ ई० तक चलती रही।

रुद्रसेन प्रथम—प्रवरसेन-प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र की मृत्यु पिता के सम्मुख ही हो चुकी थी। अत प्रवरसेन-प्रथम के पश्चात उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम शासक हुआ। चूकि वह भारशिव नरेश भवनाग का दौहित्र था, अत उसे अपनी स्थिति सुदृढ़ करने मे भारशिवो से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। कुछ विद्वान् प्रयाग प्रशस्ति के रुद्रदेव की समता इस रुद्रसेन से करते हैं, किन्तु जैसा कि पिछले पृष्ठों मे यथा स्थान बताया गया है इन दोनो मे कोई समता नही है। अत कौशाम्बी के युद्ध में समुद्रगुप्त द्वारा रुद्रसेन के मारे जाने को भी स्वीकार नही किया जा सकता है।[1]

रुद्रसेन के तीन चाचा थे जैसा कि बताया जा चुका है। इन्होने अपना-अपना पृथक् राज्य स्थापित कर लिया था। ये अपेक्षाकृत अधिक अनुभवी थे, अत इन्होने सम्भवत रुद्रसेन को पदच्युत करने का प्रयास किया होगा जिनका सामना उसने भव नाग की सहायता से किया और ऐसा अनुमान किया जाता है कि रुद्रसेन से पराजित होने के कारण ही दो चाचाओ का राज्य समाप्त हो गया, केवल एक का बसीम शाखा का राजकुल सर्वसेन के अधीन चलता रहा। किन्तु इस पारस्परिक सघर्ष से वाका टको की प्रधान शाखा की भी स्थिति दुर्बल हो गई, जिससे सीमावर्ती भागो के अधीनस्थ शासको को स्वतन्त्र होने का अवसर प्राप्त हो गया। किन्तु रुद्रसेन ने स्थिति पर पुन काबू पा लिया और उसने वाकाटक शक्ति को पुनर्जीवन प्रदान किया। वह ३६० ई० तक राज्य करता रहा और अपने पितामह की चार भागो मे राज्य विभाजन की भूला के फलस्वरूप उत्पन्न आपत्तियो का सामना करके पूर्वप्रतिष्ठा को बनाये रखने म सफल हुआ।

पृथ्वीषेण प्रथम—रुद्रसेन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीषेण ३६० ई० मे सिंहासन पर बैठा। बेसीम शाखा मे उसका समकालीन सर्वसेन का पुत्र विन्ध्यसेन था। इन दोनो शाखाओ (प्रधान शाखा तथा बेसीम शाखा) मे इस समय सुन्दर पारस्परिक सम्बन्ध था। बेसीम शाखा की कुछ प्रधानता प्रधान शाखा पर आभासित होती है। कुछ विद्वानो ने पृथ्वीषेण द्वारा कुन्तल या दक्षिणी महाराष्ट्र को विजित करके उसे वाकाटक साम्राज्य मे सम्मिलित कर लेने का अनुमान लगाया है, किन्तु अजन्ता (षोडश गुहा) लेख के परिवर्तित पाठ के आधार पर अब यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पृथ्वीषेण ने नही, प्रत्युत वेसीन शाखा के विन्ध्यसेन ने यह विजय की थी, हाँ, यह सम्भव है कि पृथ्वीषेण ने इस युद्ध मे पर्याप्त सहयोग दिया हो और तभी हरिषेण प्रशस्ति मे उसे 'कुन्तलेन्द्र' की उपाधि दी गई है। कुन्तल नरेश सम्भवत कदम्ब शासक कगवमन था। यह भी सम्भव है कि वह छठी शती मे राष्ट्रकूट राजा अभिदेय का पूवज या जो शोलापुर जिले का राज्य करता था। बघेलखण्ड के दो अभिलेखो[2] से यह ज्ञात होता है कि व्याघ्रराज नामक किसी स्थानीय राजा ने पृथ्वीषण का स्वामित्व स्वीकार किया था। यदि हम अभिलेखो के व्याघ्रराजा को उच्चकल्प शासक व्याघ्रराजा मानें, जैसा कि युक्तिसगत नही है तो पृथ्वीषेण से अभिप्राय पृथ्वीषेण

१ *Gupta Vakataka Age* pp 103 104

२ *Ganj Inscription* CRI, III, No 55 *Nachne-ki Talai Inscription*, E I XVII, Quoted by Dr A S Altekar

द्वितीय से होगा, किन्तु ऐसा स्वीकार करने में कुछ बाधायें हैं, अत यहां पृथ्वीषेण का अभिप्राय पृथ्वीषेण प्रथम से ही है।

इन प्रमाणों से यह परिलक्षित होता है कि पृथ्वीषेण प्रथम ने बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था और तभी गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने उसके पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का ब्याह करने का निश्चय किया जो सम्भवत ३८० ई० में पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुआ। २५ वर्षों तक राज्य करने के पश्चात ३८५ ई० में पृथ्वीषेण प्रथम का देहावसान हो गया।

रुद्रसेन द्वितीय—पृथ्वीषेण प्रथम के पश्चात उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। इस पर इसके श्वसुर चन्द्रगुप्त द्वितीय का बहुत प्रभाव था जिसका प्रमाण यह है कि इसने अपने पूर्वजों के शैव धर्म का त्याग करके चन्द्रगुप्त-द्वितीय के वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया। इसके राज्य-काल में राज्य समृद्धि सम्पन्न था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की, जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, पूर्वी क्षत्रपों को पराजित करने की योजना थी और इसीलिये उसने रुद्रसेन द्वितीय को अपनी पुत्री ब्याह में दी थी। रुद्रसेन साहसी और वीर पुरुष था और यह बहुत कुछ सम्भव था कि वह अपने श्वसुर के इस अभियान में योग देता, पर दुर्भाग्यवश ३९० ई० में उसकी अप्रत्याशित अकाल मृत्यु (३० वर्ष की अवस्था में) हो गई।

प्रभावती गुप्ता—संरक्षिका—पति की अकाल मृत्यु के समय प्रभावती गुप्ता के दो बालक दिवाकरसेन तथा दामोदरसेन थे जिनकी आयु क्रमश पाँच और दो वर्ष थी। अत अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का पूर्ण सक्रिय सहयोग प्राप्त कर प्रभावती गुप्ता दिवाकरसेन की संरक्षिका के रूप में राज्य करने लगी। इतने महान सम्राट् का योग प्राप्त कर लेने में प्रभावती गुप्ता को किसी प्रकार का संशय न रह गया। यहाँ तक कि बेसीम शाखा का समसामयिक शासक विन्ध्यशक्ति द्वितीय, जिसके हृदय में एकमात्र वाकाटक पुरुष नरेश होने के कारण दिवाकरसेन का संरक्षक बनने की इच्छा हो उठी होगी, प्रभावती गुप्ता से किसी प्रकार का मनोमालिन्य न प्रकट कर सका और वह उसका शुभचिन्तक ही बना रहा। इसके शासन-काल में ही चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुजरात तथा काठियावाड़ को विजित किया जिसमें प्रभावती गुप्ता का सक्रिय सहयोग रहा होगा। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने प्रभावती गुप्ता को केवल शासन सम्बन्धी सहयोग ही नहीं दिया, प्रत्युत उसने राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा की भी व्यवस्था कर दी थी और सम्भवत महाकवि कालिदास इन कुमारों के शिक्षक रह चुके थे।

प्रभावती गुप्ता पर एक दूसरी विपत्ति फट पड़ी। उसके संरक्षण काल के तेरहवें वर्ष में उसके ज्येष्ठ पुत्र दिवाकरसेन को अकस्मात मृत्यु हो गई। फलस्वरूप प्रभावती गुप्ता को पाँच छ वर्षों तक और संरक्षण करना पड़ा। ४१० ई० में दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। प्रभावती गुप्ता ने अपने पुत्र के शासन काल के १९वें वर्ष में अनुदान प्रदान किया और उसके चार वर्ष पश्चात उस पुत्र ने अपने और अपनी माता के इहलोक तथा परलोक की कुशलता के लिये दान दिया। इन साक्ष्यों से यह विदित होता है कि प्रभावती गुप्ता का लगभग ७५ वर्ष की आयु में देहावसान हुआ।

प्रवरसेन द्वितीय—इसमें राज्य की अपेक्षा कला के लिये विशेष अनुराग था और कहा जाता है कि सेतुबन्ध नामक कविता की भी इसने रचना की थी। इसने प्रवरपुर

नामक नई राजधानी की स्थापना की जो सम्भवत वर्धा जिले का पवनार था। प्रवर सेन के लगभग एक दजन ताम्रपत्र प्राप्त होते हैं जिनमे किसी प्रकार के रण अभियान का उल्लेख नही किया गया है। ऐसे साक्ष्यो के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि अमरावती, वर्धा, बेटुला, छिन्दवाडा, नागपुर, भण्डारा तथा बालाघाट और मध्य प्रदेश का शेष भाग प्रवरसेन द्वितीय के शासनाधीन था। उधर वेसीम शाखा के अधीन दक्षिणी बरार, उत्तर-पश्चिमी हैदराबाद तथा दक्षिणी महाराष्ट्र थे। प्रधान शाखा मे प्रवरसेन द्वितीय था तो वेसीम शाखा में भी इसी नाम का इसका समसामयिक प्रवरसेन द्वितीय राज्य करता था।

४३० ई० मे प्रवरसेन अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का ब्याह कुन्तल-नरेश की पुत्री अजित भट्टारिका से कर दिया। इस राजकुमारी के कुल का पूर्वबोध न होने के कारण इतिहासकारो ने ऐसा अनुमान लगाया है कि यह सम्भवत कदम्ब शासक काकुत्स्थवर्मन् की पुत्री थी। लगभग ३० वर्षों तक राज्य करने के पश्चात ४४० ई० म प्रवरसेन की मृत्यु हो गई।

नरेन्द्रसेन—कुछ विद्वानो का ऐसा अनुमान है कि प्रवरसेन द्वितीय के पश्चात उत्तराधिकार का युद्ध हुआ, जिसमे नरेन्द्रसेन को सफलता प्राप्त हुई, किन्तु यह तर्क सगत नहीं है, क्योकि अजन्ता (षोडश गुफा) लेख का पूर्व पाठ, जिसके आधार पर उक्त अनुमान लगाया गया था,[१] अब परिवर्तित रूप मे पढा गया है और इससे यह ज्ञात होता है कि यह उथल पुथल वेसीम शाखा मे हुई होगी।

बस्तर के शासक नल नरेश भवदत्तवर्मन ने नरेन्द्रसेन पर आक्रमण किया और उसने उसके राज्य मे प्रवेश करके कुछ जिले छीन लिये। सम्भवत ४४५ ई० में उसे यह विजय प्राप्त हुई थी।[२] किन्तु शीघ्र ही भवदत्तवर्मन की मृत्यु के पश्चात् नरेन्द्रसेन ने उसके उत्तराधिकारी अर्थपति को युद्ध मे पराजित कर दिया और इस प्रकार वाकाटक राज्य का नलो द्वारा अधिकृत भाग पुन रुद्रसेन के हाथ में आ गया। सम्भवत नलो के राज्य के कुछ भाग पर भी इसका अधिकार हो गया होगा। इन सघर्ष मे इसे कदम्ब-नरेश का योग अवश्य प्राप्त हुआ होगा। नरेन्द्रसेन के पुत्र के अभिलेख मे इसे मालवा का स्वामी बताया गया है किन्तु यह सत्य नही है। सम्भव है राजनीति की चालो के अनुसार मालवो ने कुछ काल के लिये यह स्वीकार कर लिया हो, पर शीघ्र ही वे स्कन्दगुप्त के हाथ मे आ जाते हैं।[३] इसी प्रकार मकल तथा कोशल पर भी नरेन्द्रसेन के स्वामित्व का उल्लेख उसके पुत्र के अभिलेख मे किया गया है। यदि रुद्रसेन द्वारा नलो की पराजय सत्य है तो उपयुक्त लेख की सूचना भी सत्य है।

वेसीम शाखा स सुदृढ सम्बन्ध बनाकर तथा राज्य सीमा मे अभिवृद्धि करके रुद्रसेन ने कुल म अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। ४६० ई० मे उसका शासन समाप्त हो गया और उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय गद्दी पर बैठा।

---

१ *A B O R I V*, 33ff *H I J*, pp 100ff

२ देखिए *Vakataka Gupta*, pp 116 117

३ नलों को पराजित करके निश्चय ही वाकाटकों ने अपना स्थान महत्वपूर्ण बना लिया था और ऐसी अवस्था मे मालवों को उन्हें अपना स्वामी स्वीकार कर लेना आश्चर्य की बात नहीं।

पृथ्वीषेण द्वितीय—पृथ्वीषेण का समकालीन वेसीम शाखा में विलासप्रिय देवसेन था। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे थे। पृथ्वीषेण के बालाघाट प्लेट से यह ज्ञात होता है कि उसे अपने कुल के भविष्य की दो बार रक्षा करनी पड़ी थी, सम्भवत प्रथम बार अपने पिता के समय नलो के निष्क्रमण के समय तथा द्वितीय बार दक्षिणी गुजरात के त्रैकूटक शासक धरसेन के आक्रमण से राज्य की रक्षा करके।

इसका शासन काल सम्भवत ४८० ई० तक रहा और अन्त में राज्यसत्ता इसके किसी पुत्र के हाथ में न आकर वेसीम शाखा के हरिषेण के हाथ में गई, जिसे अजन्ता लेख में कुंतल, अवन्ति, लाट, कोशल, कलिंग तथा आन्ध्र देशो का विजेता कहा गया है।

वेसीम शाखा का संक्षिप्त परिचय

इस शाखा का निर्माण, जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, ३३० ई० में प्रवरसेन-प्रथम के पुत्र सर्वसेन ने किया था। ३५० ई० में इसका शासन काल समाप्त हो गया। तत्पश्चात् उसका पुत्र विन्ध्यशक्ति-द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। इसने ५० वर्षों तक राज्य किया। इसने कुंतल विजय की। उसके बाद ४०० ई० में उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ, जिसने १५ वर्षों तक राज्य किया। तत्पश्चात प्रवरसेन द्वितीय का ८ वर्षीय पुत्र उत्तराधिकारी हुआ, जिसका नाम अजन्ता लेख में नहीं दिया गया है। सम्भवत प्रधान शाखा का प्रवरसेन द्वितीय इसके संरक्षक के रूप में वेसीम शाखा पर भी राज्य करता रहता रहा होगा। प्रौढ़ होने के पश्चात प्रवरसेन द्वितीय ने उसे उसका राज्य दे दिया और उसने ४५५ ई० तक राज्य किया। इस अज्ञातनामा शासक का पुत्र देवसेन ४५५ ई० में ही गद्दी पर बैठा जिसने ४७५ ई० तक शान्ति पूर्वक राज्य किया। देवसेन के पश्चात उसका पुत्र हरिषेण सिंहासनारूढ़ हुआ, जिसने ५१० ई० तक राज्य किया। वेसीम शाखा का यह सर्वशक्तिमान् शासक था। प्रधान शाखा के अंतिम शासक पृथ्वीषेण द्वितीय की मृत्यु के पश्चात, सम्भवत पुत्र के अभाव में (या यदि कोई रहा भी हो तो उसे गद्दी से उतारकर) हरिषेण ने प्रधान शाखा को भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने अपने राज्य का और भी विस्तार किया जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है।

हरिषेण के अंतिम शासन-काल तक वाकाटक शक्ति काफी प्रबल हो चुकी थी और यह चरमोन्नत अवस्था पर थी। सम्पूर्ण हैदराबाद राज्य, बम्बई, महाराष्ट्र, बरार तथा मध्य प्रदेश का अधिकांश भाग इसके अधीन था और उत्तरी कोंकण, गुजरात, मालवा छत्तीसगढ़ तथा आन्ध्र प्रदेश इसकी सत्ता के प्रभाव में थे।

हरिषेण के पश्चात वाकाटक राज्य इतिहास के रंगमंच से लुप्त हो जाता है। निश्चित कारणों का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं है। सम्भवत उत्तराधिकारियों का अभाव अथवा दुर्बल उत्तराधिकारियों का होना ही इसका प्रमुख कारण रहा होगा। मालवा या मध्य प्रान्त में इसी समय कुछ काल के लिये यशोधर्मन की शक्ति बढ़ गई थी और बहुत सम्भावना है कि उसने वाकाटकों के उत्तरी जिलों पर अधिकार स्थापित कर लिया होगा। सम्भवत कर्नाटक के कदम्ब उत्तरी महाराष्ट्र के कल्चुरि तथा बस्तर के नलों ने भी साम्राज्य को दुर्बल पाकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। अन्त में कर्नाटक के नये राजवंश चालुक्यों ने इन छोटे छोटे राज्यों का अन्त करके राज्य का अपहरण कर लिया।

२२ | गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् से लेकर हर्ष के उत्थान के पूर्व का भारत

गुप्तो के साम्राज्य के धराशायी हो जाने पर उत्तरी भारत में पुनः एक राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो गई। हम यह कह चुके हैं कि स्कन्दगुप्त के पश्चात गुप्त साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा कम होने लगी और राज्य अपनी स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करने की प्रतीक्षा में बैठे थे। स्कन्दगुप्त मरते ही साम्राज्य के एक प्रान्त सुराष्ट्र में मैत्रकों ने प्राय गुप्तों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। यद्यपि जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं स्कन्दगुप्त के बाद के गुप्त-सम्राटों ने अपने वंश की गरिमा को लौटाने का प्रयत्न किया, विघटनात्मक प्रवृत्ति रोकी न जा सकी और देश में विभिन्न राजवंशों की स्थापना हो गई। इन राजवंशों ने जिन राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया उनमें से अधिकांश गुप्त-साम्राज्य के ही भाग थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जिन राज्यों और राजवंशों की स्थापना हुई, उनमें से उल्लेखनीय हैं—(१) वलभी के मैत्रकों का राज्य, (२) मगध के उत्तरकालीन गुप्त और (३) कन्नौज का मौखरी राज्य। ये राज्य एक-दूसरे पर आक्रमण कर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते थे और इतना ही नहीं, कुछ महत्त्वाकांक्षी नरेश अपनी राजनीतिक प्रभुता अपने समकालीन नरेशों पर जमाने का स्वप्न देखते थे। इसके लिए वे प्रयत्नशील भी थे। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत का इतिहास विघटन और छोटे राज्यों के पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। हम इस काल के विभिन्न राज्यों के अध्ययन करने से पूर्व उस विपत्ति के विषय में जान लेना चाहते हैं जो हूण आक्रमण के नाम से कही जाती है।

हूणों का उत्थान एवं पतन

हूण एशिया के रहने वाले थे जिन्होंने चौथी एवं पाँचवीं शताब्दियों में सम्पूर्ण विश्व पर साम्राज्य स्थापित किया था। पूरे विश्व को अपनी क्रूरता, निर्दयता, रक्तपात एवं मारकाट से इन्होंने आतंकित कर रखा था। हूणों का मूल निवास-स्थान कहाँ था ? इसके बारे में अधिकांश विद्वानों की यह राय है कि वे चीन के समीप रहते थे। यह लोग जंगली बंजारे थे। पश्चिम की ओर जब इनका अभ्याक्रमण प्रारम्भ हुआ तो ये लोग चलकर दो धाराओं में विभाजित हो गए। एक धारा तो वोल्गा (Volga) की ओर उन्मुख हुई और दूसरी आक्सस (Oxus) की ओर। आक्सस की ओर बढ़ने वाला दल मूलतः जोअन जोअन (Joan-Joan) कबीले के अधीन था और शीघ्र ही यह आक्सस घाटी में शक्तिशाली हो गया। यह घटना ५वीं ई० शताब्दी के मध्य की है। अपने शासकीय परिवार के नाम से इन लोगों को येथ (Yetha), हेफ्थालाइटस (Hephthalites) या इफ्थालाइटस (Epthalites) पुकारा जाने लगा। यूनानी विवरण इन लोगों को "श्वेत हूण" की संज्ञा देते हैं।

हुन-यू (Hun-yu) या ह्युन यू (Hieun-yu) हूणों के स्वजातीय नाम कहे जाते हैं। डब्ल्यू० एम० मैक्गवन (W M Mc Govern) के अनुसार—

"It is now universally accepted that the Hiung nu were, in part atleast, the ancestors of the people known to the westerners under the name of Hunas"

इसे हियुन यू (Hieun-yu) को जाति मे एव भाषा मे तुरानियन (Turanian) कहा जाता है। यह लोग चीनी या परवर्ती मगोल नही थे। मैकगवन का विचार है कि यद्यपि इफ्थालाइटस (Epthalites) यूरोप के हूणो से मूल मे पर्याप्त मिश्रित हैं, लेकिन वस्तुत भारत एव ईरान मे प्रवेश करने वाले हूण यूरोपीय हूणो से पृथक हैं। कुछ इतिहास के वक्ताओ के अनुसार इफ्थालाइटस तथा यूची (yuch-chi) वस्तुत एक ही मूल के हैं।

आर० घिर्समैन (R Ghirsaman) ने अपने निगमन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि ५वीं शती ई० के मध्य मे हिन्दूकुश क्षेत्र मे कुछ हूण जाति के लोगो ने आधिपत्य जमाया था।

भारतीय स्रोतो द्वारा इनका निर्देश—इन हूणो के मूल निवास-स्थान के विषय म भारतीय ग्रन्थो से भी कुछ प्रकाश पडता है। महाभारत महाकाव्य म विदेशी कबीलो की एक सूची दी गई है। इनम चीना (Chinah) ने प्रथम स्थान ग्रहण किया है।

भीष्मपर्वन के एक पद्य मे यह दर्शाया गया है कि हूण ईरानियो के साथ सम्बन्धित थे।

कालिदास ने अपने 'रघुवश' म यह बताया प्रतीत होता है कि आक्सस सरिता पर एक हूण बस्ती थी।

बाणभट्ट न भी उत्तरापथ के एक हूण राज्य का उल्लेख किया है।

पुराण, बृहत्संहिता बाहस्पत्य, अर्थशास्त्र एव सोमदेव की नीतिवाक्यामृत ने भी हूणो को किसी उत्तरी कबीले या देश से सयुक्त किया है।

भारत पर इनका आक्रमण—आक्सस घाटी से हूण ईरान तथा भारत की ओर उन्मुख हुए। स्कन्दगुप्त ने ४५५ और ४६७ ई० के मध्य हूणो को बहुत बुरी तरह से हराया और अपने साम्राज्य का उनके ध्वसकारी हाथो से बचाया। ईरान पहले तो हूणो की दूरगामी प्रसार नीति के नीचे झुक गया, लेकिन अन्त मे उसने हूणो की फौजो को परास्त कर दिया। जब भारत म वे स्कन्दगुप्त द्वारा परास्त कर दिए गए तो भारत के साथ उनका क्या और कैसा सम्बन्ध था, इसके विषय मे एक राजदूत सुग युन (Sung-yun) हमे सूचना देता है। यह राजदूत चीन की उत्तरी वी राजवंश (Northern wei dynasty) की महारानी के द्वारा भेजा गया था। ५१८ ई० म इसे राजदूत बनाये जाने की घोषणा की गई थी। उद्यान के बीच से गुजरात होता हुआ, सुग युन (Sung yun) ५२० ई० म गधार पहुँचा। इस राजदूत न देश की तत्कालीन व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला है।

इस राजदूत के वृत्तान्त के पश्चात हूणो के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एक अन्य इतिहासकार कास्मास (Cosmos) है। इसे इण्डिको प्ल्यूस्टेस (भारतीय नेवीगेटर) कहा जाता था। यह अलेक्जण्ड्रिया का यूनानी था। इसने अपनी 'क्रिश्चियन टोपोग्रफी' म जिसे कि ५३५ ई० म लिखना प्रारम्भ किया गया था और जो ५४७ ई० मे अपने अन्तिम रूप म तयार हुई थी। एक स्थान पर कास्मास ने लिखा है—

Higher up in India, that is farther to the north, are the white Huns. The one called Gollas when going to war take with him, it is said, no fewer than 2000 elephants and a great force of cavalry. He is the lord of India, and oppressing the people forces them to pay tribute."

इसके पश्चात् कास्मास ने एक अन्य स्थान पर लिखा है—

"The river 'Phisen' separates all the countries of India from the Country of the Huns."

यह तो दो विदेशी विवरण हुए जिसमे हूणो के कार्यकलापो का हम ज्ञान होता है। इन विवरणो का सूक्ष्म विवेचन कर हम प्राचीन भारतीय इतिहास पर एक नूतन प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। लेकिन इसके पूर्व कि हम एक युक्तिसगत एव क्रमबद्ध हूणो के इतिहास का निर्माण करें, हमे भारतीय स्रोतो द्वारा भी हूणो के विषय मे जानने का प्रयास करना चाहिए।

भारतीय विवरण—हमे भारतीय स्रोतो से दो नरेशो मिहिरकुल एव तोरमाण के विषय मे कुछ पता चलता है। इन दो नरेशो को हूणो की सज्ञा दी जाती है। अब हमे निम्नलिखित विवरण से भारतीय पक्ष का भी पता चल जायगा।

(i) पजाब मे नमक की पहाडियो मे कुर नामक स्थान पर एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसम यह वाक्य उत्कीर्ण है— 'राजाधिराज महाराज तोरमाण शाही जो रब्ल'—यह अभिलेख तोरमाण महाराज का है।

(ii) तोरमाण नरेश ही की एक सील कौशाम्बी मे घोषिताराम मठ के समीप प्राप्त हुई है।

(iii) पूर्वी मालवा में एरण नामक स्थान पर एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख 'महाराजाधिराज तोरमाण' के प्रथम वर्ष मे सामत धन्यविष्णु द्वारा उत्कीर्ण करवाया गया था।

(iv) ग्वालियर मे एक अभिलेख मिला है। यह मिहिरकुल के शासन के १५वें वर्ष का है। इस अभिलेख मे मिहिरकुल के मिहिर का नाम भी उल्लिखित है, लेकिन केवल प्रारम्भिक दो अक्षर ही पठनीय हैं। यह अक्षर 'तोर' हैं। कुछ लोगो ने 'तोर' को तोरमाण माना है।

परन्तु इन चारो अभिलेखो म कही भी इन दोनो नरेशो को प्रत्यक्षत या अप्रत्यक्षत नही कहा गया है।

(v) कुवलयमाला (७७८ ई०) नामक एक जैन पुस्तक मे हमे तोरमाण के विषय मे बडी दिलचस्प बात का पता चलता है। इस पुस्तक म लिखा है कि तोरमाण विश्व का या उत्तरापथ का प्रभुत्व सम्पन्न सम्राट था। वह चन्द्रभागा (चिनाब) नदी के किनार पर पव्वैया नामक स्थान पर रहता था। हरिगुप्त उसका गुरु था। हरिगुप्त गुप्त परिवार का वशज था।

(vi) राजतरगिणी ने भी तोरमाण के विषय मे निर्देश किया है। इसके अनुसार तोरमाण मिहिरकुल का वशज था। इस ग्रथ म यह भी लिखा है कि मिहिरकुल ने उसे कारागार मे बन्द कर दिया था, क्योकि वह सिंहासन छीनने का षडयत्र कर रहा

था। लेकिन राजतरंगिणी का यह तथ्य अन्य स्रोतों से पूर्णत पृथक् है, अतएव इतिहास के विद्यार्थियो को राजतरंगिणी की यह घटना नही माननी चाहिये।

(vii) ह्वेनसांग भी मिहिरकुल का एक लम्बा वृत्तान्त हमे प्रस्तुत करता है। यह वृत्तान्त साकल नगर के वर्णन के दौरान किया गया था। साकल नगर मिहिरकुल की राजधानी थी। देखिए उसका वर्णन—

"Some centuries ago, Mihirkula established his authority in this town and ruled over India He subdued all the neighbouring provinces without exception He issued an edict to destroy all the priests through the five Indies, to overthrow the law of Budha, and leave nothing remaining"

वाटस (Watters) ने अपने वृत्तान्त मे लिखा है कि अन्य चीनी विद्वान् मिहिरकुल का ५३० ई० के काफी पहले निर्धारित करते हैं। इससे मिहिरकुल के विषय मे ह्वेनसाग की कहानी की सत्यता पर काफी गम्भीर सन्देह उत्पन्न होते हैं।

(viii) जैन लेखक सोमदेव ने एक परम्परा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार एक हूण नरेश ने चित्रकूट जीता था। एरण तथा कौशाम्बी-अभिलेखो को दृष्टिगत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि यह निर्देश तोरमाण की ओर है।

(ix) कुछ विद्वानो ने 'आर्य मंजुश्री मूलकल्प' में भी तोरमाण का निर्देश पाया है।

(x) यशोधर्मन के मन्दसोर अभिलेख में हूणो एवं मिहिरकुल दोनो का उल्लेख किया गया है। परन्तु यह उल्लेख इस प्रकार का है, जिससे दोनो में किसी प्रकार का सम्बन्ध नही प्रतीत होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हूण एवं मिहिरकुल पृथक्-पृथक् आक्रमणकारियो को निर्दिष्ट करते हैं।

(xi) इसी प्रकार तोरमाण तथा मिहिरकुल के सिक्के हैं। कुछ सिक्को मे केवल 'तोर' शब्द ही उत्कीर्ण है। यह सिक्के ससैनिड (Sassanid) नरेशो के सिक्को की असभ्य अनुकृतियाँ है। इन सिक्को मे ऐसी कोई चीज नही है जिससे पता चल कि यह हूणो के सिक्के हैं।

निष्कर्ष—ऐसी परिस्थितियो में जबकि किसी भी विवरण से हूणो एवं तोरमाण तथा मिहिरकुल मे एकात्मकता नही स्थापित होती, इन दो नरेशो को हूण मानना बिल्कुल जबरदस्ती है। यह एकात्मकता एकदम बालू की भीत के समान है जिसका ढहना अनिवार्य होता है। और तो और, लगभग सभी इतिहासकारो ने बड़ी निश्चितता से यह प्रकाशित किया है कि हूणो ने गुप्त साम्राज्य के पतन में पर्याप्त हाथ बँटाया था। यह कारण इतना अधिक प्रचलित है कि हमे इसकी सत्यता मे कोई भी सन्देह नही था, लेकिन जब हमने यह अध्ययन किया कि इस कथन का कोई आधार ही नही तो इतिहासज्ञो को इस बलात तथ्य स्थापित करने की प्रवृत्ति पर हँसी-सी आती है। तोरमाण एवं मिहिरकुल को कुछ विद्वानो ने कुषाण मुखिया की संज्ञा दी है। इन विद्वानों का कहना है कि यह दोनो नरेश हूणो से सम्बन्धित थे, अतएव गलती से भारतीय इतिहासकारो ने उन्हें हूण दलो का नेता मान लिया।

सर ए० स्टीन (Sir A Stein) तथा जायसवाल (Jayaswal) ने कहा है कि तोरमाण एक कुषाण था। एस० कोनो (Konow) ने कहा है कि तोरमाण, सभी सभावनाओ मे, हूण था।

कास्मास ने अपने विवरण मे गोलास (Gollas) नरेश को निर्दिष्ट किया है। इस गोलास को विद्वानो ने मिहिरकुल या मिहिरगुल माना है। ऐसा इसलिए निश्चित किया गया है कि 'गोलास' (Gollas) शब्द की समरूपता मिहिरकुल या मिहिरगुल के अन्तिम दो अक्षरो गुल या 'कुल' से ध्वनित होती है। शब्दो के इस तनिक समरूप उच्चारण पर मिहिरकुल को हूण नेता मान लेना इतिहासकारो का इतिहास की घटनाओ से वस्तुत अन्याय करना है। एक अन्य बात को भी हमे भलीभाति परखना चाहिये। यह बात है कि हूण-शक्ति का मुख्य केन्द्रीय स्थान सिन्धु के पश्चिम म स्थित था। सुग युन (Sung yun) तथा कास्मास (Cosmos) ने अपने वत्तान्तो म उपयक्त कथन की पुष्टि की है। ह्वेनसाग (Hiuen Tsaneg) ने मिहिरकुल की राजधानी शाकल (आधुनिक सियालकोट) स्वीकार की है। एक जैन ग्रन्थ ने तोरमाण की राजनगरी को चेनाब नदी के तट पर निर्धारित किया है।

हूणो के इतिहास की रूपरेखा—हम उपयुक्त तथ्यो का अवलोकन करने स यह निष्कर्ष निकालना पडता है कि इस विदेशी आक्रमण की दो पृथक धाराएँ भारत पर अग्रसर हुई थी। प्रथम धारा ने तब भारत म प्रवेश किया था जबकि स्कन्दगुप्त भारतीय राजनतिक रगमच पर महान गुप्तों की अनवरत परम्परा को निभा रहा था। इस महान् गुप्त सम्राट ने स्वदेश-रक्षा के निमित्त ही ४६० ई० के आसपास इन हूणो को बुरी तरह से परास्त किया। लेकिन इन विदेशियो को पूर्णतया भारतीय भूमि से भगाया नही जा सका। सुग युन के अनुसार वे लोग गधार पर अपने एक नए नेता के नतृत्व मे राज्य कर रहे थे। इसके पूर्व कि वे भारत के अन्दर की ओर पुन अग्रसर हो, उन्हने एक या दो पीढिया अवश्य व्यतीत की होगी।

दूसरे आक्रमण दल का नेता तोरमाण था। गधार या पजाब जो कि हूणो का अपना अड्डा था, से बढ़ते हुए इस हूण नरेश ने मालवा तक विजय पर विजय की।

बी० पी० सिन्हा (B P Sinha) के अनुसार तोरमाण ने ५०३–४ ई० मे नरसिहगुप्त को पराजित किया।

मजुश्री मूलकल्प के अनुसार तोरमाण ने प्रकाशादित्य को कारागार से मुक्त करवा दिया और उसे पाटलिपुत्र भेज दिया तथा काशी म उसे मगध के नरेश के सिहासन पर बठाया। उसकी सफलता सक्षिप्त थी—वैन्यगुप्त जो कि तोरमाण की कठपुतली था नरसिहगुप्त द्वारा सिंहासन पर बठाया गया। इसी समय भानुगुप्त गुप्त परिवार के एक वशज ने, विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध अपना अभियान प्रारम्भ किया। इसने एरण तक सफलता पर सफलता प्राप्त की। विदेशी आक्रमणकारी को आगे बढ़ने स रोक दिया (५१० ई०)। तभी से तोरमाण की द्रुतगामी फौजो की गति अवरुद्ध हुई थी।

मजुश्री मूलकल्प के अनुसार इसने भारत को गौड तक विजित किया था और बनारस मे इसकी मृत्यु हुई थी। गौड को उडीसा मे निश्चित किया गया है। मजुश्री मूलकल्प के इस निर्देश के विषय म और अधिक कहने के लिए हमारे पास प्रमाण नही हैं।

कुछ समय के लिए तो हूण प्रसार अवरुद्ध हो गया, लेकिन मिहिरकुल ने अपने पिता की महत्वाकांक्षी योजना को पुनर्जीवित किया। इसे भी प्रारम्भ में कुछ सफलता हस्तगत हुई क्योंकि उसकी प्रभुता उसके शासन के १५वें वर्ष (५३० ई०) ग्वालियर में भी अंगीकार की जाती थी।

ह्वेनसांग ने तो यहाँ तक लिखा है कि मिहिरकुल ने पूर्ण भारत को अपने आधिपत्य में किया था। कास्मास (Cosmos) ने भी उसे इस समय तक भारत का सम्राट घोषित किया है। उसकी रजत मुद्राएँ शशैनियन ढंग की हैं और सिन्धु बेसिन पर उसका प्रभुत्व बताती हैं। मिहिरकुल की ताम्र मुद्राएँ पूर्वी पंजाब राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी पाई गई हैं। यह मुद्राएँ मिहिरकुल के सर्वाङ्गीण प्रभाव को प्रकट करती हैं।

राजतरंगिणी के अनुसार—

Mihirkula, a man of violent acts and resemble काल ruled in the land which was overrun by the hordes of Mlechha'

यही नहीं, मिहिरकुल का आधिपत्य उत्तर में हिमालय में खसदेश पर तथा दक्षिण में सिंहल, लाट, कर्नाट एवं चोल पर भी अंगीकार किया जाता है। लेकिन हूणों का साम्राज्य काफी समय तक स्थापित नहीं रहा। मिहिरकुल को अपना अन्त शीघ्र ही दो भारतीय शासकों—यशोधर्मन और नरसिंहगुप्त—के हाथों में देखना पड़ा।

मिहिरकुल अपनी राजनगरी शाकल से भारतीय प्रदेशों पर क्रमबद्ध रूप से बौद्ध धर्म के विरुद्ध अपनी घातक नीति को क्रियान्वित कर रहा था। मगध के स्वाभिमानी एवं विजयी लोग हूण की सर्वप्रभुता को स्वीकार कर बड़े ही व्यग्र हो रहे थे। उन्होंने शान्ति का लाभ उठाते हुए हूणों की पराधीनता से मुक्त होने के लिए अनवरत प्रयास जारी रखे। उन्हें अपने विद्रोह के लिये कारण भी काफी प्रभावशाली प्राप्त हो गया। नरसिंहगुप्त बालादित्य ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध मिहिरकुल की घातक नीति को हूण सम्राट के विरुद्ध विप्लव करने का बड़ा ही उत्तम कारण पाया। बालादित्य का समर्थन मगध की लाखों जनता कर रही थी।

जब बालादित्य ने विद्रोह के झंडे गाड़े तो मिहिरकुल ने एक बड़ी सेना के साथ मगध के नरेश के विरुद्ध अभियान जारी किया। बालादित्य मिहिरकुल की महती सेना के विरुद्ध न ठहर सका। उसने राजधानी छोड़ दी और सम्भवतः बंगाल की खाड़ी के कुछ द्वीपों में जाकर शरण ली। अन्ततः मिहिरकुल पाटलिपुत्र में प्रवेश करने में सफल हो गया और इन्होंने इस ऐतिहासिक स्थल को विध्वंस कर दिया।

ह्वेनसांग के अनुसार मिहिरकुल को सम्भवतः ५१६-२० ई० में बालादित्य ने परास्त किया था। तत्पश्चात् मिहिरकुल ने कश्मीर में जाकर शरण प्राप्त की। उसने कश्मीर के नरेश की हत्या कर दी और स्वयं को सिंहासन पर ला बैठाया। उसने तब गंधार के नरेश की हत्या की, परन्तु स्वयं भी एक ही वर्ष में परलोक सिधार गया।

मन्दसौर अभिलेख में यशोधर्मन यह दावा करता है कि "उसके चरणों में प्रसिद्ध नरेश मिहिरकुल भी अपना सम्मान प्रदान करते थे?'

मिहिरकुल यद्यपि परास्त कर दिया गया था लेकिन उसका राज्य नष्ट नहीं किया गया था। यशोधर्मन के पतन के पश्चात् वह पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ।

लेकिन ह्वेनसांग के विवरण से सामान्य स्वीकृत मत में सन्देह उत्पन्न कर दिया

है। तभी से कई इतिहासकारों ने ह्वेनसांग के विवरण की प्रामाणिकता को तिरस्कृत कर दिया है। स्मिथ (Smith) के अनुसार—

"The weight of evidence is now decidedly in favour of the rejection of Uuan Chwang's story

उपर्युक्त दो पराजयों में परस्पर मेल बैठाने के लिये विभिन्न इतिहासज्ञों ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। एक पराजय तो बालादित्य के साथी मिहिरकुल को सहनी पड़ी थी और दूसरी यशोधर्मन को।

स्मिथ तथा अन्य विद्वानों ने यह मत प्रचारित किया है कि नरसिंहगुप्त तथा यशोधर्मन ने परस्पर एक सन्धि की थी जिससे हूणों को भारत से खदेड़ा जा सके। ह्वेनसांग तथा यशोधर्मन द्वारा निर्दिष्ट संग्राम वस्तुतः दो नहीं बल्कि एक है।

फ्लीट (Fleet) ने दोनों विवरणों की प्राधिकारिता स्वीकार की है और कहा है कि मिहिरकुल को पूर्व में नरसिंहगुप्त ने तथा पश्चिम में यशोधर्मन ने परास्त किया था। एलन (Allen) तथा मुकर्जी (Mookerji) ने इस मत को स्वीकार किया है। मिहिरकुल को अन्तिम भारी पराजय मालवा में ही प्राप्त हुई थी।

एच० हेरास (H Heras) ने यह अंगीकार किया है कि अन्तिम निर्णयात्मक युद्ध यशोधर्मन ने मिहिरकुल पर थोपा था उचित नहीं है। उसने कुछ दलीलें इसके अनुमोदन में दी हैं—

(i) मगध की पराजय के बाद मिहिरकुल अपने पुराने राज्य में न जा सका, अतएव वह यशोधर्मन द्वारा परास्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए यशोधर्मन द्वारा वह पहले ही परास्त हो चुका था।

(ii) मिहिरकुल कुछ समय तक भेष बदल कर जंगलों में तथा निर्धनता की स्थिति में घूमता रहा था। यह भी उसकी अन्तिम पराजय की ओर इंगित करता है।

(iii) मिहिरकुल ने अन्तिम रूप से कश्मीर में शरण ग्रहण की थी। निश्चयतः जब वह कश्मीर की ओर लौट रहा था तो उसने भारत में सभी प्राप्तियाँ खो दी थी। तभी से कश्मीर का नरेश उसकी दयनीय स्थिति से विचलित हो गया था।

इस प्रकार बालादित्य ने अन्तिम रूप से उसे पराजित किया था।

हार्नले (Hornley) ने कहा है कि यशोधर्मन विष्णुधर्मन नरसिंहगुप्त का एक सामन्त था और नरसिंहगुप्त के समय में ही उसने मिहिरकुल को परास्त किया था। परन्तु इस मत के समर्थन में कोई भी तर्क नहीं किया जा सकता। यशोधर्मन की मिहिरकुल पर जीत ५३३ ई० में निश्चित की जाती है। इसके बाद ही बालादित्य ने भारत में हूण शक्ति की जड़ें खोखली की। इसके बाद हूण अब भारत में एक आतताथी एवं महान शक्ति के रूप में नहीं रह गए वे भारतीय इतिहास में एक उत्पीडक तत्त्व भी नहीं रहे।

दो खण्डित सीलें नालंदा में प्राप्त हुई हैं। इन सीलों में एक शासक की वंशावली दी गई है। शासक का नाम अस्पष्ट है। श्री अमलानन्द घोष (A Ghosh) ने एक अन्य आधार पर निम्नलिखित हूण नरेशों की सूची तैयार की है। इन नरेशों ने मिहिरकुल के पश्चात भारत के एक सीमित भाग पर अपने जीवन में उतार चढ़ाव देखे।

महाराज लखाण
|
महाराजाधिराज—(नाम नहीं)
|
महाराज जरीव
|
महाराजाधिराज—(नाम नहीं)

जहाँ तक पहले नरेश का प्रश्न आता है, इसकी एकात्मकता राजा लखाण उदयादित्य से स्थापित की जा सकती है। यह नरेश हूणों की मुद्राओं से ज्ञात होता है। राजतरंगिणी ने भी लखाण नरेन्द्रादित्य नामक शासक को उल्लिखित किया है। यह गौड राजवंश का था। स्टीन (Stein) ने इसके बारे में लिखा है—

"It appears very probable that by Lakkhana Narendraditya of the Rajtarangini is meant the same king who calls himself Lakkhana Udyaditya in the coins

जरीव की एकात्मकता हूण मुद्राओं पर उत्कीर्ण शाही जर या जरी से की जाती है।

जिन दो नरेशों के नाम सील में नहीं हैं, उनमें एक का नाम हूण मुद्राओं के आधार पर निर्धारित किया गया है। यह है देवशाही खिंगिला। राजतरंगिणी ने भी खीन खील नरेन्द्रादित्य नाम का नरेश निर्दिष्ट किया है। इन दोनों नरेशों की एकात्मकता स्थापित की गई है।

हूण आक्रमण का प्रभाव—हूण एक बर्बर जाति के थे, जिनका व्यवसाय इधर उधर पर्यटन करते रहना और लूट-पाट करना था। सभ्यता और संस्कृति के तत्वों में उनका कोई विशेष परिचय नहीं था। किन्तु उन्होंने भारत पर जो आक्रमण किया, उसका कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। स्मिथ महोदय ने इस बात का निर्देश किया है कि उत्तरी भारत के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास में हूण आक्रमणों का काफी महत्व था। गुप्त साम्राज्य को हूण-आक्रमणों से बड़ा प्रबल धक्का पहुँचा। यद्यपि जायसवाल महोदय के अनुसार, जिनका कथन मञ्जुश्री मूलकल्प पर अवलम्बित है—हूणों का आक्रमण गुप्त साम्राज्य के पतन का परिणाम था, न कि उसका कारण, तथापि यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि हूणों ने गुप्त-साम्राज्य को काफी क्षति पहुँचाई। उत्तर भारत में बौद्ध धर्म को काफी हानि पहुंची। ह्वेनसांग के कथनानुसार हूणों ने बौद्ध बिहारों को बुरी तरह से नष्ट कर दिया। बौद्ध धर्म के प्रचार और शक्ति पर हूणों के इस आक्रमण का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ा। बर्बर हूणों ने अनेक प्राचीन राजवंशों के लेखों को विनष्ट कर दिया।

हूणों के आक्रमणों ने भारत की राजनीतिक एकता को प्रबल आघात पहुँचाया। देश में पहले से ही अनेक छोटे छोटे राज्य थे हूण-आक्रमण के फलस्वरूप वे राज्य भी भिन्न भिन्न हो गये। हूणों के द्वारा राजवंशों के लेख नष्ट कर दिये जाने से अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्रियाँ विनष्ट हो गई, जिनके अभाव में भारतीय इतिहास की कुछ समस्यायें अभी भी जटिल बनी हुई हैं। राज्यों का संगठन एक नये सिर से हुआ। देश की लोकतन्त्रात्मक भावनाओं को हूण आक्रमणों द्वारा बड़ा आघात पहुँचा। उनके दुराचार ने देश के राजाओं के सम्मुख निरंकुशता तथा नृशंसता का उदाहरण

रखा। यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि उन राजाओं ने उस उदाहरण का अनुसरण ही किया, तथापि इसमे कोई सन्देह नहीं कि मिहिरकुल की क्रूरता और नृशंसता लोकरन्जन को प्रधान बतलाने वाले भारतीय राजत्व के सिद्धान्त के नितान्त विपरीत थी।

कालान्तर मे हूण लोग हिन्दू समाज म मिला लिये गये। अनेक विद्वानों का विचार है कि इन्ही हूणो से अनेक राजपूत वशो का उद्भव हुआ जिन्होने भारतीय इतिहास की घटनाओ को काफी महत्वपूर्ण ढग से प्रभावित किया। परन्तु जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे राजपूतो की विदेशी उत्पत्ति का खण्डन अन्य विद्वानो ने किया है। पर इस बात मे सन्देह नहीं कि हूणो के तत्कालीन हिन्दू समाज मे मिल जाने से कुछ सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हुई होगी लेकिन आजकल यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक हिन्दू समाज मे कौन-सा वर्ग हूणो की सन्तान है। अन्य विदेशी आक्रमणकारियो की तरह हूणो का भारतीयकरण सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया।

वलभी का राजवश (५०६-७७५)

हमने इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही यह बतलाया है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गुप्त साम्राज्य का एक सुदूरवर्ती प्रान्त सुराष्ट्र से पृथक हो गया और वहाँ पर एक स्वतन्त्र राजवश की सत्ता प्रतिष्ठापित हो गई। सुराष्ट्र के सेनापति भट्टारक ने वलभी (भावनगर के समीपस्थ) पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण म नया राजकुल स्थापित किया।

वलभी के राजवश का मूल

वलभी म जिस राजवश की स्थापना पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण म हुई उसका विवरण हम किसी प्राचीन साहित्य म नही मिलता। इसे मैत्रक का नाम भी दिया गया है। स्मिथ साहब ने अपना यह मत प्रकट किया था कि वलभी का राजकुल ईरानी था। कदाचित मैत्रक नाम से उन्हे यह भ्रम उत्पन्न हो गया हो। उनके इस मत की पुष्टि का कोई प्रमाण नही मिलता। कुछ विद्वानो ने यह धारणा प्रकट की है कि चूंकि मैत्रक हूणो के साथ ही विख्यात हो उठते हैं, इसलिए इन दोनो का परस्पर कोई जातीय सम्बन्ध रहा होगा। परन्तु यह सम्भावना भी अथवती नहीं प्रतीत होती। वास्तव म भट्टारक ने जिस राजवश की स्थापना की, वह एक भारतीय राजकुल प्रतीत होता है। काफी प्राचीन समय से इस वश के लोग सुराष्ट्र म निवास करते थे।

वलभी के राजकुल का इतिहास—भट्टारक के राजवश के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए है जिन पर गुप्त वलभी सवत मे तिथियो का उल्लेख किया गया है। परन्तु इन अभिलेखो म केवल राजाओ का नाम ही दिया गया है। उनके विषय मे कोई विस्तृत और विश्वसनीय विवरण नही मिलता। किन्तु इधर उधर बिखरे हुए विवरणो से इस राजवश के इतिहास की एक रूपरेखा तैयार की जा सकती है। लेकिन यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पुष्ट प्रमाणो की अनुपस्थिति म वलभी राजवश के इतिहास के सम्बन्ध मे जो भी मत प्रकट किये जा सकते हैं, उनकी प्रामाणिकता और सत्यता असदिग्ध नही मानी जा सकती।

भट्टारक ने सुराष्ट्र मे एक नये राजकुल की स्थापना अवश्य की, परन्तु सम्भवत

वह पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं था। भट्टारक स्वयं अपने को 'सेनापति' कहता रहा और उसके उत्तराधिकारियों ने भी 'सेनापति' कहलाना जारी रक्खा। परन्तु बाद के नरेशों ने महाराज का विरद धारण किया। द्रोणसिंह ध्रुवसेन प्रथम, धरपट्ट, गुहसेन तथा धरसेन द्वितीय ने 'महाराज' की पदवी धारण की थी। इससे कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि वलभी के मैत्रक नरेश या तो गुप्तों का आदर करने के लिए नाममात्र को उनकी अधीनता स्वीकार करते थे, अथवा वे किसी अन्य शक्ति के सम्भवत हूणों के आधिपत्य में स्थायी रूप से रहे। इस सम्बन्ध में डॉ० त्रिपाठी का कथन है, "परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि उन्होंने किसका आधिपत्य अंगीकार किया था। क्या उन्होंने कुछ काल तक गुप्त परम्परा ही जीवित रक्खी? अथवा वे उन हूणों के अधीन थे, जो धीरे धीरे पश्चिमी और मध्य एशिया के स्वामी बन गये थे।' ऐसा प्रतीत होता है कि मैत्रक सेनापति नरेशों ने गुप्तों की अधीनता को स्वीकार किया था और हूणों की शक्ति बढ़ने पर उनका आधिपत्य भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा।

परन्तु मैत्रक राजाओं ने अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया जिसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। मैत्रक राजकुल की शक्ति धीरे धीरे बढ़ने लगी और ज्योंही हूणों की शक्ति का ह्रास हुआ, इस राजवंश के राजाओं ने अपने को उनकी अधीनता से मुक्त कर लिया। छठी तथा सातवीं शताब्दियों में पहुँच कर मैत्रक नरेश पश्चिमी भारत में सर्वशक्तिमान हो गये। वलभी का एक प्रतापी राजा शीलादित्य था। इसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया जिसका प्रमाण हमें चीनी यात्री ह्वेनसांग के द्वारा प्राप्त होता है। मो-ला-पो का वर्णन करते हुए उसने इसके राजा शीलादित्य का उल्लेख किया है जो चीनी यात्री के समय से आठ वर्ष पूर्व इस देश (मो ला पो) पर राज्य कर रहा था। इस प्रकार शीलादित्य का शासन काल ५८० ई० के लगभग ठहरता है। यद्यपि तिथियों के सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ी उत्पन्न होती है तथापि ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित मो ला-पो के शीलादित्य का वलभी के शीलादित्य-प्रथम धर्मादित्य के साथ समीकरण किया जा सकता है। यदि हम इस समीकरण को सत्य मानें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि शीलादित्य ने एक विस्तृत प्रदेश पर शासन किया। मो-ला-पो की भौगोलिक स्थिति के विषय में मतभेद होने के बावजूद भी इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि इस नाम से मालवा की अभिव्यक्ति होती है और इसमें पश्चिमी मालवा का काफी भाग सम्मिलित था। इसलिए हम यह विश्वास कर सकते हैं कि छठी शती के अन्त में वलभी का राज्य पश्चिमी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली था।[1]

ह्वेनसांग ने राजा शीलादित्य की बहुत अधिक प्रशंसा की है। उसने उसे 'शासन सम्बन्धी एक महती योग्यता तथा दुर्लभ दयालुता और करुणा से सम्पन्न शासक' कहा है। शीलादित्य ने एक बौद्ध मन्दिर का निर्माण कराया जो "आकार तथा अलंकरण में अत्यन्त कलात्मक था।' वह प्रतिवर्ष एक धार्मिक सम्मेलन का आयोजन भी किया करता था जिसमें देश भर के बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुआ करते थे। अभिलेखों के साक्ष्य से पता चलता है कि राजा शीलादित्य ने धर्मादित्य की पदवी धारण की थी जो ह्वेनसांग के द्वारा उसके चरित्र सम्बन्धी किये हुए वर्णन से अच्छी तरह मेल खा जाती है।

राजा शीलादित्य के बाद उसका भतीजा ध्रुवसेन द्वितीय वलभी का दूसरा प्रतापी

१ *Classical Age* p 63

राजा हुआ। शीलादित्य की मृत्यु सम्भवत सन् ६१२ ई० म हुई, जिसके बाद उसका अनुज खरग्रह वलभी के सिंहासन पर आरूढ हुआ। खरग्रह के बाद उसका पुत्र धरसेन-तृतीय राजा हुआ। इन दोनो राजाओ के विषय में हम विशेष रूप से कुछ ज्ञात नहीं, केवल इतना मालूम है कि वे क्रमश सन् ६१६ ई० और ६२३ ई० मे राज्य कर रहे थे। धरसेन-तृतीय के शासन काल म वलभी के राज्य में उत्तरी गुजरात सम्मिलित था।

ध्रुवसेन द्वितीय—धरसेन-तृतीय का उत्तराधिकारी ध्रुवसन द्वितीय था। ध्रुवसेन द्वितीय धरसेन का छोटा भाई था। ध्रुवसेन द्वितीय के विषय मे ह्वेनसांग ने लिखा है—"राजा जन्म से क्षत्रिय था और मो-ला-पो के पूर्ववर्ती राजा शीलादित्य का भतीजा तथा कान्यकुब्ज के शीलादित्य का दामाद था उसका नाम था तु लो-पो-पो-ता (ध्रुवभट्ट), उसके विचारो म न गहराई थी और न दूरदर्शिता परन्तु बौद्ध धर्म में उसकी आस्था गहरी थी।" ह्वेनसांग के इस कथन से यह ध्वनित होता है कि शीलादित्य के समय मे राज्य दो भागो म विभक्त हो गया था—(१) मालवा का पश्चिमी भाग (मो-ला-पो) जो शीलादित्य के अधीन था और (२) वलभी जो उसके भाई के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने रण-अभियान के सम्बन्ध मे सम्भवत हर्ष ने वलभी पर भी आक्रमण किया होगा, जब कि वहाँ का राजा ध्रुवसन (ध्रुवभट्ट) भडौच के दद्द का आश्रय प्राप्त करने के लिए देश छोडकर भाग गया और उनकी सहायता स ही अन्त म अपने राज्य पर पुन अधिकार कर सका। निश्चय ही उसके और हर्षवर्धन के बीच सन्धि हुई जिसने अपने इस राजनीतिक सम्बन्ध को वलभी-नरेश को अपना जामाता बनाकर अत्यन्त दृढ़ कर दिया। यात्री सूचित करता है कि हर्ष के प्रयाग सम्मेलन मे उपस्थित होन वाले नरेशो मे ध्रुवभट्ट भी था जो वहाँ सम्राट के अनेक मित्र-नरेशो म एक मित्र नरेश के रूप में उपस्थित हुआ था। (एन० एन० घोष) घोष महोदय ने ध्रुवसेन के राज्य छोडकर भाग जाने की घटना को भडौच के गुर्जर अभिलेखो मे उल्लिखित घटना के ऊपर आधारित मान लिया है। उन्होने गुर्जर अभिलेखो की सत्यता मे तनिक भी सन्देह नहीं किया है। दद्द द्वितीय के लिए एक गुर्जर अभिलेख मे सोत्साह कहा गया है कि उसने हर्ष द्वारा भयग्रस्त वलभी-नरेश की रक्षा करके (अथवा उसे अपने राज्य म शरण देकर) एक महान् गौरवपूर्ण कार्य किया। अभिलेख का यह कथन सत्य के निकट प्रतीत होता है यद्यपि इसमे प्रयुक्त भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि हर्ष और वलभी नरेश मे एक संघर्ष हुआ था। परन्तु इस संघर्ष के परिणामो के विषय मे हमे कोई सूचना नहीं मिलती। गुर्जर-अभिलेख के साक्ष्य स ऊपर घोष महोदय ने जो निष्कर्ष निकाला है, वही हमे सत्य मालूम पडता है। हम यह नही कह सकते कि हर्ष ने वलभी पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर ली थी और वलभी का शासक हर्ष का सामन्त हो गया था। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार का यह कथन ठीक नहीं जान पडता कि वलभी का राजा हर्ष का एक सामन्त मित्र था। यह अनुमान करना कठिन प्रतीत होता है कि सम्राट हर्ष और ध्रुवसेन का परस्पर मैत्री सम्बन्ध था।

धरसेन-चतुर्थ—ध्रुवसेन द्वितीय का पुत्र एव उत्तराधिकारी धरसेन चतुर्थ था। यह एक समर्थ और शक्तिमान् नरेश था। उसने एक चक्रवर्ती नरेश की समस्त उपाधियाँ 'परमभट्टारक', महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' तथा चक्रवर्तिन' धारण कर रखी थीं। कुछ विद्वानो की धारणा है कि 'भट्टिकाव्य' का रचयिता भट्टि इसी धरसन की राजसभा को सुशोभित करता था। धरसेन एक वीर विजेता भी था। उसने

गुजरात के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने भड़ौच के विजय स्कन्धावार से एक दान दिया था, जिससे यह प्रतीत होता है कि इस समय भड़ौच उसके अधिकार में आ गया था।

धरसेन चतुर्थ के पश्चात् वलभी का राज्य—धरसेन चतुर्थ के एक शती बाद तक मैत्रक कुल का राज्य वलभी पर बना रहा। इस वंश के अन्तिम नरेश शीलादित्य-सप्तम की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत ४७७–७६६ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय तक मैत्रक वंश का अस्तित्व कायम रहा। परन्तु धरसेन चतुर्थ के पश्चात् से लेकर इस समय तक के वलभी राज्य का इतिहास तिमिराच्छादित है। इस राज्य का राजनीतिक गौरव भले ही कम हो गया हो, परन्तु इसका सांस्कृतिक महत्त्व और अधिक समय तक रहा। अरब आक्रमणकारियों ने सन ७७० ई० के लगभग वलभी के राज्य का अन्त कर दिया।

वलभी का आर्थिक और सांस्कृतिक महत्व—यद्यपि वलभी की राजनीतिक शक्ति बहुत अधिक नहीं थी और समकालीन राजनीतिक शक्तियों में इसका स्थान बहुत अधिक गौरवपूर्ण नहीं था, तथापि इसकी आर्थिक समृद्धि और सांस्कृतिक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। वलभी राज्य की आर्थिक और सामरिक स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण थी। हमने गुप्त युग की आर्थिक अवस्था पर विचार करते हुए यह देखा है कि भड़ौच एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। कुछ समय बाद जब यह वलभी के राज्य में सम्मिलित हो गया तो इसकी आर्थिक समृद्धि के स्रोत काफी बढ़ गये। स्वयं वलभी की स्थिति बड़ी हितकर और आर्थिक क्रियाकलापों के अनुकूल थी जिससे प्रोफेसर अल्तेकर के शब्दों में "वलभी, काठियावाड़ में आधुनिक वल के निकट अवस्थित, अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य का एक बन्दरगाह बन गई थी जहाँ पर अनेक व्यापारिक मण्डियाँ प्रतिक्षण दुर्लभ व्यापार-सामग्रियों से पटी रहती थी। "Valabhi, situated near modern Wala in Kathiawar, was capital of an important kingdom and a part of international trade with numerous ware houses full of rarest merchandise"[1]

वलभी की इस आर्थिक समृद्धि ने वहाँ पर संस्कृति और सभ्यता के विकास को सुगम बना दिया। वलभी में शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था और यह नगरी अपने विद्यालय के कारण विख्यात थी। प्रोफेसर अल्तेकर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में शिक्षा' में वलभी के विश्वविद्यालय का वर्णन किया है। उसी के आधार पर हम भी उसका उल्लेख करते हैं। सातवीं शताब्दी में विद्या का केन्द्र होने के कारण वलभी की नगरी अधिक प्रसिद्ध थी। चीनी यात्री इत्सिंग से हमें सूचना मिलती है कि इसका यश पूर्वी भारत की नालन्दा नगरी के यश की प्रतिस्पर्द्धा करता था। यह सचमुच एक दुःख की बात है कि इत्सिंग ने इसकी साहित्यिक और शिक्षा सम्बन्धी क्रियाशीलता का सविस्तार वर्णन नहीं किया है। ६४० ई० में वलभी में लगभग एक सौ बौद्ध विहार थे और उनमें छः हजार भिक्षु विद्यार्थी रहते थे। सातवीं शताब्दी के मध्य में स्थिरमति और गुणमति नामक सुविख्यात बौद्ध विद्वान् इस नगरी के ख्यातनामा आचार्य थे। नालन्दा की भाँति वलभी में संकीर्ण धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। केवल बौद्ध धर्म और तत्सम्बन्धी विषय ही यहाँ के पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं थे, बल्कि अन्य विषयों की भी यहाँ शिक्षा दी जाती थी। केवल बौद्ध भिक्षु ही यहाँ

१ *Education in Ancient India*, p 125

शिक्षा नहीं प्राप्त करते थे, अपितु ब्राह्मण विद्यार्थी भी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। अल्तेकर महोदय ने 'कथासरित्सागर' से निम्नलिखित अंश समुद्धृत किया है, जिससे विदित होता है कि अन्तर्वेदी तक से ब्राह्मण-कुमार उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वलभी पहुँचा करते थे—

"अन्तर्वेद्यामभूत्पूर्व वसुदत्त इति द्विज।
विष्णुदत्ताभिधाश्च पुत्रमस्योपपद्यत ॥
स विष्णुदत्ता वयसा पूर्णषोडशवत्सर ॥
गन्तु प्रववृते विद्याप्राप्तये वलभीपुरम ॥

इत्सिग के कथनानुसार वलभी के स्नातकों को उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किया जाता था। यदि इत्सिग का यह कथन सत्य है, जैसा कि प्रतीत होता है, तो हमारा यह अनुमान प्रबल हो जाता है कि नालन्दा की भाँति वलभी के विद्यालय में भी लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार के विषय पढ़ाये जाते थे। न्याय अर्थशास्त्र साहित्य आदि विषयों की शिक्षा यहाँ अवश्य ही दी जाती रही होगी। वलभी का विश्वविद्यालय अपनी सहिष्णुता और बौद्धिक स्वतन्त्रता के लिए विख्यात था। हमे यह सूचना मिलती है कि भारत के समस्त भागों से विद्वान वलभी में एकत्र हुआ करते थे और कम से कम दो-तीन वर्षों तक ठहरकर सम्भव तथा असम्भव सिद्धान्तों पर चर्चा करते थे।' जब उनको वलभी के प्रसिद्ध आचार्य यह विश्वास दिला देते थे कि उनकी धारणायें ठीक हैं तो वे अपने ज्ञान के लिए देश भर में विख्यात हो जाया करते थे। नालन्दा की भाँति यहाँ भी विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध विद्वानों के नाम इसके उन्नत द्वारों पर श्वेत रंग में लिख दिये जाते थे।

वलभी के विश्वविद्यालय का व्यय वहाँ के समृद्ध व्यापारियों और शासकों द्वारा वहन किया जाता था। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि वलभी एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था जहाँ पर निश्चय ही अनेक धनवान व्यापारी रहते थे। विश्वविद्यालय इन व्यापारी राजकुमारों से पर्याप्त पोषण प्राप्त करता था। मैत्रक नरेश भी, जो ४८० से लेकर ७७५ सन् ई० तक वहाँ पर शासन करते थे विद्या के महान संरक्षक थे। विश्वविद्यालय के सामान्य खर्चों की पूर्ति के लिए और विश्वविद्यालय को सुदृढ करने के लिए भी प्रत्यक्ष अनुदान दिया करते थे।' सन ७७५ ई० तक यही व्यवस्था बनी रही। इसके बाद जब अरब आक्रमण के फलस्वरूप मैत्रक वंश का नाश हो गया तो विश्वविद्यालय का प्राचीन गौरव कुछ समयों के लिए लुप्त हो गया। परन्तु मैत्रकों के उत्तराधिकारियों ने भी यद्यपि इतिहास इनके विषय में हमें अधिक नहीं बताता, विश्वविद्यालय को राज्य संरक्षण देना जारी रक्खा और वलभी की नगरी विद्या केन्द्र के रूप में अपनी ख्याति बारहवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रखने में समर्थ हो सकी। सुदूरवर्ती भागों, जैसे बंगाल तक से यहाँ का विश्वविद्यालय विद्यार्थियों को आकृष्ट करता रहा।[1]

वलभी का विश्वविद्यालय मैत्रक राजाओं के लिए गर्व का कारण है। यद्यपि अधिकांश मैत्रक नरेश शैव थे, तथापि उन्होंने बौद्ध विश्वविद्यालयों को अपना राज्य संरक्षण प्रदान किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने उदार धार्मिक दृष्टि

१ हम वलभी विश्वविद्यालय के इस सम्पूर्ण विवरण के लिए प्रोफेसर अल्तेकर के कृतज्ञ हैं। विशेष विवरण के लिए देखिए—*Education in Ancient India* (Fourth Edition) pp 125 127

कोण के थे। इसके अतिरिक्त, उनके द्वारा विश्वविद्यालय के व्यय के लिए अनुदान दिया जाना यह सिद्ध करता है कि वे विद्या के महत्व को भली भाँति समझते थे। स्नातकों को वे राजकीय पदों पर नियुक्त करते थे जिससे उनकी विद्यानुरागिता का परिचय मिलता है। विद्या-संरक्षण के कारण वलभी के मैत्रक राजाओं को भारतीय शिक्षा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए।

मौखरियों का राज्य

इस समय उत्तर भारत में मौखरियों का राज्य एक प्रबल राजनीतिक शक्ति के रूप में विद्यमान था। (मौखरियों की प्राचीनता का प्रमाण पाणिनि, पतंजलि और मौर्य-कालीन ब्राह्मी अक्षरों में अंकित एक मिट्टी की मुहर द्वारा प्राप्त होता है) उनके साथ-साथ जो वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये गये थे, उनका अभिलेखों में बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया गया है, जिससे मौखरियों के कुल की प्राचीनता सिद्ध होती है। (बाण ने भी उनके कुल की प्राचीनता का उल्लेख किया है। वे सम्भवतः एक गणतन्त्रात्मक समुदाय में थे) अभिलेखों द्वारा भी उनकी प्राचीनता का प्रमाण प्राप्त होता है। उन अभिलेखों में, जो ईसा की तीसरी शताब्दी में उत्कीर्ण कराये गये थे, मौखरी सरदारों का उल्लेख किया गया है। उनकी शक्ति के केन्द्र गंगा की उपरली घाटी में थे (वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार के भागों में)। उनकी राजधानी गया में थी। सम्भवतः गुप्तों द्वारा वे पराजित कर दिये गये। अतएव गुप्त सामन्तों के रूप में उन्होंने गुप्त संवत् अपना लिया। छठी शताब्दी में वे स्वतन्त्र हो गये। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक मौखरी राजाओं ने सामन्तोचित विरुद धारण किये। ईशानवर्मन जो स्वयं एक गुप्त राजकुमारी का पुत्र था सर्वप्रथम मौखरी नरेश था, जिसने सम्राटों की पदवी धारण की। मौखरियों का एक प्रभावशाली राजवंश के रूप में उदय गुप्त साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो जाने पर कन्नौज में हुआ था।

प्रारम्भिक मौखरी-नरेश, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सामन्तोचित विरुद धारण करते थे। उनको 'सामन्त चूडामणि' तथा 'सामन्त' ही कहा गया है। सम्भवतः वे गुप्त-नरेशों के अनुवर्ती सामन्त थे। ईशानवर्मन ने अपने कुल की स्वतन्त्र राज-सत्ता का विकास करके अपने को गौरवान्वित किया और साथ ही साथ अपने वंश की मर्यादा भी बढ़ाई। जैसा पहले कहा जा चुका है, वह सर्वप्रथम मौखरि नरेश था, जिसने सम्राट का विरुद धारण किया, परन्तु यह विरुद मात्र न था (ईशानवर्मन एक योद्धा और वीर विजेता था। उसके हरहा अभिलेख में उसकी सैन्य सफलताओं का उल्लेख किया गया है जिससे विदित होता है कि उसने आन्ध्रों को जीता, शूलिकों को परास्त किया और गौडों को उनकी सीमा के भीतर घेर रक्खा। इस प्रकार उसकी शक्ति बढ़ने पर उसके समकालीन गुप्त नरेशों को चिन्ता हुई। ईशानवर्मन ने अपने को गुप्तों का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित किया। सम्भवतः उसने हूणों से भी युद्ध किया। कदाचित् वह सन् ५५४ ई० में शासन कर रहा था)। उसने मगध के गुप्त नरेश से भी लोहा लिया। इस समय से मौखरियों और परवर्ती गुप्त शासकों का पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। गंगा की उपरली घाटी में मौखरी राजकुल सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। सर्ववर्मन ईशानवर्मन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसने अपने समकालीन मगध-नरेश को जो गुप्त वंश का था और जिसका नाम दामोदरगुप्त था, युद्ध में पराजित कर दिया और

उसकी हत्या भी कर डाली। सववमन का राज्य सम्भवत बगाल से लेकर सतलज और विन्ध्य तक फैला था। उसकी राजधानी कान्यकुब्ज (कन्नौज) थी, जो एक प्राचीन नगरी (कदाचित् ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से भी पहले) थी। इसका उल्लेख पतजलि ने भी किया है और फाह्यान ने इसका भ्रमण किया था, परन्तु इस नगरी का महत्त्व गुप्तो के पतनोपरान्त ही बढा। सववमन के पश्चात् अवन्तिवमन उसका उत्तराधिकारी हुआ। अवन्तिवमन भी एक शक्तिशाली नरेश था। गुणवमन नामक एक मौखरी-नरेश (सातवी शताब्दी का प्रारम्भ) ने हर्षगुप्त की भगिनी से पाणिग्रहण किया था। मालवा के गुप्त नरेश देवगुप्त ने गुणवमन का वध कर दिया। हप ने देवगुप्त को पराजित करके अपनी भगिनी के सरक्षक के रूप मे मौखरी राज्य का भार अपने ऊपर वहन कर लिया। इस प्रकार वद्धनो ने मौखरियो की सम्राटोचित स्थिति को प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् मौखरियो की मुख्य शाखा का अन्त हो गया। मौखरियो की अनेक शाखायें थी, जिनमे उत्पन्न राजकुमार और कुछ दिनो तक शासन करते रहे परन्तु मूल मौखरी-कुल की राजसत्ता समाप्त हो गई।

डॉ० त्रिपाठी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कन्नौज का इतिहास' मे बताया है कि विन्ध्य से लेकर अवध तक और पूर्व मे पूर्वीय बगाल तक मौखरियो का राज्य फैला हुआ था। मौखरी नरेश अमात्यो की एक सभा की सहायता से राज्य पर शासन करते थे। राजवश के कुमार विभिन्न प्रान्तीय शासको के रूप मे प्रान्तो पर शासन करते थे, किन्तु सामन्तगण भी विद्यमान थे। न्याय की एक सुसगठित व्यवस्था थी और राजा तक अपील की जा सकती थी। विविध प्रकार के राज्य-पदाधिकारियो का उल्लेख भी प्राप्त होता है। कान्यकुब्ज के मौखरी राजा ब्राह्मण धम के कट्टर अनुयायी थे। उनके शासन-काल मे संस्कृति और सभ्यता का प्रचार था। पिरेज नामक विद्वान् की धारणा है कि 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक की रचना मौखरियो के राजत्व-काल म की गई थी। परन्तु इस विचार की पुष्टि के लिए समुचित प्रमाण नही है। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि मौखरी नरेशो ने विद्या के पोषण और प्रचार का प्रयत्न किया। मौखरियो का शासन-काल ५५४ ई० से ६०६ ई० तक है।

परवर्ती गुप्त-वश एव उनका मूल निवास-स्थान

कुछ वष पूव भारतीय इतिहासकारो के लिए 'परवर्ती गुप्त वश' बडी जटिल पहेली का रूप धारण किए हुए था। इन नरेशो की एकात्मकता महान गुप्त वश के नरेशो से किए जाने का प्रयास किया जाता था। परन्तु समस्या को सरल रूप प्राप्त होने के स्थान पर विषम रूप ही प्राप्त होता चला जा रहा था। अफसढ अभिलेख के कृष्णगुप्त की एकात्मकता गोविन्दगुप्त मे स्थापित की गई थी। परन्तु इस एकात्मकता के समर्थन मे विद्वानो को कोई तकसगत आधार ही नही प्राप्त हो रहा था, क्योकि यह परवर्ती गुप्त नरेश अपने को महानगुप्त सम्राटो की पक्ति मे नही रखते थे। यदि महान सम्राटो की वशावली के वे लोग सदस्य होते तो निश्चितरूपेण वे अपने को उनके वशज घोषित करते। कौन नरेश, सयोगवश, स्वणयुग के विधाताओ की पक्ति मे आना स्वीकार नही करगा ? इस एकात्मकता का मुख्य तक यही हो सकता है कि 'गुप्त' नाम दोनो वशो के नरेशो के अत मे जुडा हुआ प्राप्त होता है। अब इतिहासकारो ने यह मानना स्वीकार कर लिया है कि दो विभिन्न गुप्तो ने भारत मे भिन्न भिन्न समयो पर राज्य किया था। इन दोनो का परस्पर कोई रक्त का नाता नहीं था। यह नामों की समरूपता केवल सयोगवश ही है। परवर्ती गुप्त नरेशों के

विषय मे यह धारणा काफी तकसगत प्रतीत होती है कि यह परिवतन गुप्त साम्राज्य का सामतीय परिवार था। इन सामतो ने अपने को महान् गुप्त सम्राटो का वैधानिक उत्तराधिकारी घोषित करने के लिए ही यह 'गुप्त' नाम अपने नाम के बाद मे जोडना प्रारम्भ किया था। देश की जनता 'गुप्तकाल' की महान् धन धान्यता एव समृद्धि को कदापि भूल नहीं सकती थी। उनके लिए 'गुप्त' नाम का जादू बहुत अथ रखता था। परवर्ती गुप्तो ने इस स्थिति को दृष्टिगत कर पूण लाभ उठाने का प्रयास किया। अभी तक इस विषय पर कोई निश्चित सिद्धान्त का निर्धारण नही किया जा सकता। अतएव इस अध्याय के इस विवरण को पूर्ण स्थापित तथ्य नही स्वीकार करना चाहिए। नए-नए अनुसधानों एव अन्वेषणों के पश्चात् ही हम एक स्थिर मत पर आरूढ होगे। अब हम सबसे पूर्व परवर्ती गुप्त नरेशो के मूल निवास-स्थान के विषय मे चर्चा प्रारम्भ करेंगे।

इस विषय में तो उतना विवाद नही है कि आदित्यसेन के पश्चात् से जीवित गुप्त-द्वितीय तक के नरेशों ने मगध पर शासन किया था। विवाद के लिए तो आदित्यसेन के पूवजो का ही निर्धारण किया जाता है। आदित्यसेन का एक अभिलेख मगध मे प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख में आदित्यसेन के पूर्वजो की वशावली का निर्देश भी किया गया है। इसी साक्ष्य के आधार पर विद्वानो ने मगध को ही परवर्ती गुप्त नरेशो का क्रीडा-स्थल स्वीकार किया है।

सबसे पूव डॉ० फ्लीट (Fleet) ने इन नरेशो को मगध के महान् गुप्त सम्राटों से पृथकत्व प्रदान करने के लिए ही 'परवर्ती गुप्त नरेशों' की सज्ञा प्रदान की थी।

परन्तु हानली (Hornle) ने इस मत का प्रचार किया है कि परवर्ती गुप्त नरेश महान् गुप्त सम्राटो की एक शाखा थे और पूर्वी मालवा में शासन कर रहे थे।

वैद्य (Vaidya) ने लिखा है—

"The family mentioned in the Apshad inscription ruled Malwa at Ujjain until Devagupta "

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के भी विचार यही हैं। उन्होंने अपना तर्क इस प्रकार उपस्थित किया है—

"The fortunes of Malwa and the family, had a final set back in the defeat of Devagupta by Rajya ' *Dr R K Mookerji*

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि मालवा का शासन गुप्तवश के हाथो था, परन्तु आदित्यसेन के समय मगध को यह श्रेय प्राप्त हो जाता है—

"In the time of Adityasena, Magadha now replaces Eastern Malwa as the chief centre of Gupta power '

मालवा के गुप्त नरेशो का अस्तित्व बाण ने अपने हर्षचरित म प्रकट किया है। कुमारगुप्त एव माधवगुप्त राजकुमारो का उल्लेख हर्ष एव राज्य के सहयोगियो के रूप म किया गया है। यह मालव नरेश के पुत्र प्रभाकर के दरबार मे वधन वश के युवराजों के सहपाठी थे। श्री राखालदास बनर्जी ने 'Journal of Bihar Research Society' में इस तथ्य की सत्यता म किसी भी प्रकार का सन्देह नही प्रकट किया है। इसी प्रकार मधुबन अभिलेख से हर्ष के एक प्रतिद्वन्द्वी नरेश देवगुप्त का निर्देश

हुआ है। अफसढ अभिलेख मे माधवगुप्त नाम के एक नरेश का उल्लेख हैं जो कि "श्री हर्षदेव की सगति के लिए इच्छुक है"। डॉ० मुकर्जी ने अफसढ अभिलेख के माधवगुप्त की बाण के माधवगुप्त से एकात्मकता स्थापित की है। इस प्रकार मालवा को परवर्ती गुप्तो का मूल स्थान प्रतिपादित किया है। इसके साथ ही साथ, यह भी बताया गया है कि मगध मे उस समय परवर्ती गुप्तवश का शासन भी नही हो सकता था, क्योकि मगध पर अन्य वश का आधिपत्य था। उस समय मगध मौखरियो के अन्तगत शासित हो रहा था। ह्वेनसाग ने भी मगध पर गुप्त नरेशो के आधिपत्य के विषय मे कुछ भी नही कहा है। इससे माधवगुप्त मगध का शासक नही रहा था। श्री पियस (E A Piers) ने मौखरियो का आधिपत्य प्रारम्भ से ही मगध पर माना है। इस विद्वान न मौखरियो को शताब्दियो पूव से मगध का निवासी घोषित किया है। परवर्ती गुप्तों को मालवा का मूल निवासी बताते हुए इसने दो तर्कों को हमारे सम्मुख उपस्थित किया है (१) इस तक के अनुसार अफसढ अभिलेख का माधव गुप्त तथा हर्षचरित का माधवगुप्त एक ही नरेश की ओर इगित करते हैं। अतएव, इस नरेश के पिता तथा अन्य पूवज मालवा के ही शासक थे। (२) अभिलेखो ने यह साक्ष्य उपस्थित किया है कि मगध पर मौखरियो का शासन था अतएव परवर्ती गुप्तो का उस स्थान पर शासन सम्भव नही। एक ही क्षेत्र पर दो राजवशो का अस्तित्व साथ ही साथ असम्भव होता है। अतएव परवर्ती गुप्तो का क्षेत्र मालवा ही था। इस प्रकार इन दो तर्कों से पियस महोदय ने अपने मत की पुष्टि की है। परन्तु अन्य विद्वानो न इन तर्कों को तथ्यसगत नही स्वीकार किया है। विशेष रूप से दूसरे तक की आलोचना करते हुए डॉ० रमेश चन्द्र मजूमदार ने कहा है—

"Deo Bennaika inscription does not prove the possession of Magadha or any part by the Maukhari kings Sarvavarman and Avantivarman the village granted might not be Varnnika (Deo Barnark), but Kishorevatika which might have been the Uttar Pradesh, outside Magadha"

पियस महोदय ने अभिलेखो को मौखरी न शो के अस्तित्व का जो उल्लेख किया है, वह ठोस नही है। देव वर्नाक अभिलेख ही मे मौखरियों का निर्देश आया है। इसमे मौखरियो द्वारा अनुदान मे दिए हुए एक ग्राम का वणन है। यह वणन 'किशोर वाटिका' का है। 'वार्णाक' गाँव को अनुदान मे नही दिया गया था, बल्कि किशोर वाटिका को। यह गाँव उत्तर प्रदेश मे स्थित है। अतएव मौखरी नरेशो सववमन एव अवन्तिवमन मगध या उसके किसी भाग पर कोई आधिपत्य नही किया हुआ था।

इस प्रकार पियस एव अन्य विद्वानो का सिद्धान्त दम तोडता चल रहा है, क्योकि नूतन अन्वेषणो एव अनुसधान ने हमारे सम्मुख नया ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मालवा को हम अब परवर्ती गुप्त नरेशो का मूल स्थान नही कह सकते। आदित्यसेन के अफसड अभिलेख में यह अकित है कि महासेनगुप्त ने सुस्थित वर्मन पर विजय प्राप्त की थी—

'This mighty fame marked with the honour of victory in war over Sri Susthitvarman is still sung on the banks of the river Lauhitya'

अब पूणतया यह स्पष्ट हो गया है कि सुस्थितवमन कामरूप का नरेश था।

यद्यपि इसके पूर्व, ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में विद्वान् इसे मौखरी वंश का मानते थे। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी तथा डा० रायचौधरी ने लिखा है कि महासेनगुप्त की कामरूप के सुस्थितवर्मन पर विजय यह नहीं सिद्ध करती है कि महासेनगुप्त मालवा का शासक नहीं हो सकता। मालवा का शासक होकर भी महासेनगुप्त की आसाम के शासक पर विजय सम्भव है। तभी तो रायचौधरी ने लिखा है—

'Kumargupta had pushed to Prayaga and Damodargupta had broken up the proudly stepping array of mighty elephants belonging to the Maukharis what was there to prevent the son of Damodargupta from pushing on to Louhityas

जब मालवा नरेश कुमारगुप्त प्रयाग तक विजय प्राप्त करने में सक्षम था और जब दामोदरगुप्त मगध के मौखरियों को भी नतमस्तक कर सकता था, तब महासेनगुप्त, क्यों नहीं लौहित्य के तट तक विजय प्राप्त करने में समर्थ था। महासेनगुप्त पूर्णतया आसाम के शासक को परास्त करने में सामर्थ्यवान था। डॉ० रायचौधरी तथा डा० त्रिपाठी के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कुमारगुप्त एवं महासेनगुप्त के पिता दामोदरगुप्त का मगधपुर पर भी नियन्त्रण था, क्योंकि प्रयाग तक अपना साम्राज्य विस्तार करना एवं मौखरियों को विजित करना मगध को अपने नियन्त्रण में रखने के तुल्य है।

परन्तु हमारे उपर्युक्त मत के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है देव-बर्नार्क के अभिलेख का यह विवरण कि मौखरियों का प्रभुत्व मगध में स्थित था। इन मौखरियों में मुख्यत दो नरेशों के समय में—सर्ववर्मन तथा अवन्तिवर्मन के—यह प्रभुत्व अधिक स्पष्ट था। महासेनगुप्त तथा सर्ववर्मन लगभग समकालीन नरेश थे। इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दोनों नरेशों ने मगध को भिन्न भिन्न समयों में शासित किया था। परवर्ती नरेशों ने या तो मौखरी शासन के पूर्व या मौखरी शासन की समाप्ति पर राज्य किया था। केवल यह दो ही विकल्प हो सकते हैं। हमारे मत में, जिसके बी० पी० सिन्हा प्रवर्तक है परवर्ती गुप्तों ने अपना शासन मौखरियों के पूर्व किया था, क्योंकि कम से कम दो नरेशों ने तो मगध के कुछ भागों पर अवश्यमेव शासन किया था और सम्भवत उनके वंशजों ने इस प्रदेश पर अपना शासन अनवरत रखा हो। मौखरी नरेश ईशानवर्मन के साम्राज्यान्तर्गत प्रयाग तक का भूभाग भी सम्मिलित था। महासेनगुप्त की कामरूप विजय से हम यह निगमन कर सकते है कि उसका प्रभुत्व अवश्यमेव मगध एवं बंगाल पर स्थित रहा होगा, क्योंकि इतने प्रतापी नरेश के लिए यह दो प्रदेश मौधनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। जब महासेनगुप्त का पतन प्रारम्भ हुआ, तभी मगध पर मौखरियों का आधिपत्य पुन स्थापित होना प्रारम्भ हुआ था।

इस प्रकार, पियर्स आदि महोदयों का यह कहना कि मगध पर मौखरियों का ही आधिपत्य था, अनुचित एवं न्याय असंगत है। एक व्यावहारिक मत के प्रतिपादन के लिए उपर्युक्त निष्कर्ष ही अत्यधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। डॉ० रायचौधरी ने अपने को एक विषम परिस्थिति में डाल दिया है क्योंकि यह एक अव्यावहारिक मत का पिष्टपेषण करते हैं। इस विद्वान् ने महासेनगुप्त को ही पुन मगध से कामरूप तक परवर्ती गुप्त साम्राज्य स्थापित करने वाला बताया है। इस नरेश के पूर्व मगध मौखरियों के शासनान्तर्गत था। डा० चौधरी ने लिखा है—

"After the loss of Magadha, the later Guptas were apparently confined to Malwa till Mahasenagupta once more pushed his conquests so far as the Lauhitya."

परन्तु डॉ० साहब के इस मत के मानने से तो यही तात्पर्य होगा कि सर्ववर्मन एवं अवन्तिवर्मन का मगध पर प्रभुत्व नहीं था। परन्तु सर्ववर्मन एवं अवन्तिवर्मन का मगध पर प्रभुत्व एक प्रकार से पूर्णतया सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार दो नरेशों का मगध में साथ-साथ राज्य करना असंभव है। अतएव डा० रायचौधरी के मत को हम मानने में असमर्थ हैं।

पियस ने एक बड़ी ही निष्फल कल्पना की उड़ान भरी है यह बता कर कि महासेनगुप्त एवं मगध के मौखरी नरेश ने मिलकर कामरूप के नरेश के विरुद्ध अभियान किया था। देखिए—

"Maukhari King must have been glad that Mahasenagupta had taken upon himself the dangerous task of subduing the imperial ambitions of the far eastern potentate Magadha emperor might have but some assistance and encouragement to Mahasenagupta."

सातवीं शताब्दी ई० की सबसे महत्वपूर्ण बात है मौखरियों एवं परवर्ती गुप्तों में प्रभुत्व के लिए प्रतिद्वन्द्विता। इन दो राजवंशों ने वर्धनों के पतन के पश्चात अपनी सार्वभौमिकता स्थापित करने की जीतोड़ कोशिश की थी। परन्तु ये दोनों राजवंश अपने प्रयास में असफल रहे थे। क्या ये भीषण शत्रु एक-दूसरे से परस्पर स्नेहालिंगन कर सकते थे? क्या एक सामान्य शत्रु के विरोध में ये दोनों विपक्षी एक हो सकते हैं? इन दोनों का उत्तर नकारात्मक है। कामरूप पर विजय प्राप्त करने के लिए यह उचित ही है कि विजयी का शासन मगध पर भी हो। इतनी दूर तक अपना अभियान ले जाने वाले नरेश के लिए अनिवार्य सा है कि वह भारत के हृदय को भी जीते और विशेष कर उस समय जबकि उस पर घातक शत्रुओं का आधिपत्य हो। इस प्रकार मालवा के नरेश महासेनगुप्त का मगध तक शासन विस्तार था, यह उचित ही है।

डा० बी० पी० सिन्हा ने अपने मत को और भी पुष्ट करने के लिए कुछ अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का आश्रय लिया है। इन घटनाओं में सर्वप्रमुख है जीवितगुप्त का समुद्र के किनारे पर आक्रमण एवं हिमालय-क्षेत्रों को विजित करना। अफसड़ अभिलेख में जीवितगुप्त के इस विशेष अभियान का उल्लेख है। इस विजय से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जीवितगुप्त का साम्राज्य मुख्यतः इन्हीं क्षेत्रों के समीप ही स्थित था। हिमालय के भाग एवं समुद्रीय तट तो केवल बंगाल प्रदेश के समीपस्थ ही किसी क्षेत्र में हो सकते हैं, अतएव मगध ही जीवितगुप्त की क्रियाओं का केन्द्र था, इसमें कोई संशय नहीं। परवर्ती गुप्त नरेशों का मगध पर आधिपत्य होना इससे अधिक सिद्ध होता है।

कुछ विद्वानों ने पुनः अभिलेखों के विवरणों से हमारे प्रतिपादित मत को खण्डित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह अभिलेख बड़े ही अस्पष्ट रूप से किसी सूचना को प्रकट करते हैं। हरहा अभिलेख एवं देव-बर्नार्क अभिलेख से यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर प्रदेश एवं बंगाल के राजसाही क्षेत्र पर मौखरियों का आधिपत्य था। इन दो प्रदेशों पर आधिपत्य होने से मगध पर आधिपत्य होना तो अनिवार्य-सा

हो जाता है। अतएव मगध मौखरियो के ही कार्यकलापो का केन्द्र था, परवर्ती गुप्त का नही।

हरहा अभिलेख मे हमे ईशानवर्मन के अभियान का निर्देश प्राप्त होता है। इस अभिलेख के अनुसार ईशानवर्मन ने भिन्न भिन्न प्रदेशो पर आक्रमण किए थे। ईशानवर्मन के ये आक्रमण केवल आक्रमण के लिए ही थे, साम्राज्य विस्तार के लिए नही अतएव गौड आदि स्थानो पर उसके आक्रमण से हम मगध का उसके क्षत्रान्तर्गत नह मान सकते हैं, क्योंकि यह तो तूफान की भाति अस्थायी रूप से एक क्षेत्र को पददलित कर देता था और तूफान के बाद पुन शान्ति का साम्राज्य छा जाता था। ईशानवर्मन के आक्रमणो से हम किसी भी प्रकार का कोई निष्कर्ष नही निकाल सकते, अतएव हरहा अभिलेख से यह प्रतिध्वनित होना कि बगाल का राजसाही क्षेत्र मौखरियो के अतर्गत था, न्याय असगत है।

अब केवल देव-बर्नाक अभिलेख का साक्ष्य ही हमारे सम्मुख रह जाता है। इस अभिलेख के विवरण से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सर्ववर्मन के शासनान्तर्गत मगध पर मौखरियो का प्रभुत्व स्थापित हुआ था। इस निष्कर्ष से हमारा यह मत प्रतिपादित करना कि परवर्ती गुप्त नरेशो का मगध पर सर्ववर्मन से पूर्व राज्य था, कोई तर्क-असगत निगमन नही होगा। हम कृष्णगुप्त के वशजो को मगध के शासक के रूप मे स्वीकार कर सकते हैं और यह शासन अनवरत रूप से महासेनगुप्त के अतिम दिनो तक स्थापित रहा था।

इसी स्थल पर हमारे पहुँच जाने के पूर्व भी हमको अभी विपक्षियो के कई तर्कों का समुचित उत्तर देना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। पायस एव उनके अनुयायियो ने यह मत प्रस्तावित किया है कि मौखरियो का तो मगध पर शासन महान गुप्त सम्राटो के पूर्व ही स्थापित था। परवर्ती गुप्त नरेशो की कौन कहे, बल्कि महान् गुप्त सम्राटो के उत्थान के पूर्व मगध क्षेत्र पर मौखरियो का आधिपत्य था। इन विद्वानो ने अपने इस मत के समर्थन मे कौमुदी महोत्सव का निर्देश किया है। प्रयाग प्रशस्ति के कोट परिवार की एकात्मकता कौमुदी महोत्सव के मगधकुल से की गई है और इसी एकात्मकता को स्वीकार कर मौखरियो को मगध का शासक घोषित किया गया है। परन्तु डा० बी० पी० सिन्हा आदि अन्य विद्वानो का कहना है कि कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता को हम कदापि स्वीकार नही कर सकते। इस नाटक मे हमे कही भी 'कोट' या 'मोखरी' शब्द नही प्राप्त हुए हैं तो हम कैसे एकात्मकता स्थापित करने मे तत्पर हो सकते है। बिना किसी आधार के अपने मत की पुष्टि मे कल्पनाओ की उड़ानो के भरने से इतिहास का निर्माण नही हो जाता। इतिहास तो कोरे सत्यो एव तथ्यो का ही क्रमबद्ध विवरण है, विद्वानो की काल्पनिक उपकल्पनाओ का नही।

पायस महोदय ने अपनी बहस को यही तक ही सीमित नही किया है। उन्होने मयूरशर्मन के चन्द्रावली अभिलेख मे मौखरियो को प्रारम्भिक कदम्बो का समकालीन बताया है और यह कि वे मगध पर शासन कर रहे थे। पायस महोदय की अपनी भाषा मे—

"The Chandeavally inscription of Mayursarman has revealed the fact that the Maukhari ruled in Magadha in the time of early Kadambas"

परन्तु विद्वानो ने इस अभिलेख की प्रामाणिकता मे भी सन्देह प्रकट किया है और इस प्रकार अप्रामाणिक या विवादास्पद प्रमाण को प्रस्तुत करना कमजोर आधार-

शिला के ऊपर भवन खड़ा करना होता है और जिसका भान होना अनिवाय-सा है।
के० ए० शास्त्री न अभिलेख की सत्यता म सदेह करते हुए लिखा है—

"This impossible record has all the appearance of a modern fake and its evidence should await confirmation before accepted history "

आधुनिक जालसाजी के द्वारा ही यह अभिलेख प्रकाश म आया है क्योकि इस लख की भाषा एव विवरण ऐतिहासिक तथ्यो के पूण विपरीत प्रतीत होत हैं। हम इस प्रकार इस अभिलेख के आधार पर स्थित तक को कदापि स्वीकार नही कर सकते। इसी प्रकार विद्वानो का यह कहना कि मौखरी साम्राज्य जिसका कि हरिवमन प्रवतक था, न यज्ञवमन के द्वारा स्थापित शासन के पश्चात ही अपना महान् मौखरी राजवश प्रारम्भ किया था, भी न्यायसगत नही प्रतीत होता। यज्ञवमन एव उसके वशजो न मगध मे शासन किया था। पाटलिपुत्र पूरे वश पर मौखरियो की राजधानी थी—यह भी तकसगत नही है। यज्ञवमन तो कोई स्वतन्त्र परम्परा का स्थापित करने वाला नही था, बल्कि महान् गुप्त सम्राटो के सामत के रूप म यज्ञवमन एव उसके परिवार के लोगो न शासन किया था। श्री एन० जी० मजूमदार ने लिपिविद्या (Paleography) के नियमो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि किसी भी यज्ञवर्मन के वशज ने सम्राट की उपाधि धारण नही की थी। अतएव इनके उत्तराधिकारी के रूप मे हरिवमन एव उसके वशजो ने किस प्रकार राज्य प्राप्त किया था ? कही सामत स्वतन्त्र राज्य को उत्तराधिकार के रूप मे थोडे ही प्राप्त कर सकता है ? पाटलिपुत्र मौखरी राजवश के पूरे समय भर राजनगरी था—यह कथन भी स्वीकाय नही हो सकता, क्योकि मगध को महासेन ने मौखरियो से विजित कर लिया था। अतएव पाटलिपुत्र मौखरियो की पूरी अवधि पयन्त उनकी राजधानी नही रहा था।

अतएव डॉ० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

"This is nothing known so far which cannot be more reason ably explained and reconciled by hold ng that Magadha was the original seat of the power of later Cuptas from the time of Krishna-gupta to Mahasenagupta's early days "

इस विद्वान् इतिहासकार का उपयुक्त कथन पर्याप्त अन्वेषणो एव अनुसधानो का ही स्वाभाविक परिणाम है। हमे भी इसी मत को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करने मे कोई सकोच नही करना चाहिये।

गया के निकट अफसढ-अभिलेख म इस वश के प्रारम्भिक नरेशो के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

१ कृष्णगुप्त
२ हर्षगुप्त
३ जीवितगुप्त
४ कुमारगुप्त
५ दामोदरगुप्त
६ महासेनगुप्त
७ माधवगुप्त
८ आदित्यसेन।[1]

यह उपयुक्त सूची आदित्यसेन के अफसढ-अभिलेख मे दी गई है। जीवितगुप्त-द्वितीय का देव-बरनाक (शाहाबाद जिला) अभिलेख भी तीन अनुवर्ती गुप्त नरेशो के

१ *Classical Age*, p 72

नाम प्रस्तुत करता है। देवगुप्त नामक एक गुप्त नरेश का उल्लेख हर्ष के बसखेडा और मधुबन अभिलेखो म किया गया है। ग्यारह अनुवर्ती गुप्त नरेशो ने कुल मिलाकर दो सौ वर्षों तक राज्य किया।

कृष्णगुप्त

अनुवर्ती गुप्तो के राजकुल की सस्थापना कृष्णगुप्त न सवप्रथम मगध म की थी। अफसड-अभिलेख मे कृष्णगुप्त के विषय मे लिखा है—

"Krishnagupta was a king of good descent whose arm played the part of a lion, in bruising the foreheads of the array of the rutting elephants of his haughty enemies and in being victorious by its power over countless foes"

अफसड अभिलेख मे कृष्णगुप्त के विषय म इतना ही विवरण है। वह नरेश स्वतत्र था या किसी सम्राट् का सामत, इसमे विवाद है, परन्तु सामत नरेश होने की अधिक आशाएँ हैं। उपर्युक्त विवरण मे हमे कृष्णगुप्त की एक भीषण शत्रु से मुठभेड का निर्देश प्राप्त होता है। यह शत्रु कौन हो सकता है, इसकी एकात्मकता अभी तक स्थापित नही की जा सकी है। परन्तु तत्कालीन घटनाओ के समीक्षात्मक अध्ययन मे हम यह निगमन कर सकते ह कि हूणो न भारत के कई भागो म आतक मचाया हुआ था। मगध एव बगाल पर भी उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। कृष्णगुप्त न इन्ही आक्रमणो को अवरुद्ध कर जयपत्र प्राप्त किए थे। 'Haughty enemies' से तात्पय हूणो से ही हो सकता है। डॉ० बी० पी० सिन्हा ने कृष्णगुप्त का समय ४९० से ५०५ ई० तक का माना है। कृष्णगुप्त हरिवमन का समकालीन नरेश था। नरेश या नृप उपाधि से हम किसी को सवप्रभुत्व सम्पन्न राज्य का सचालक नही कह सकते हैं। हरिवमन कन्नौज के मौखरी वश का प्रवतक था।

श्रीहर्षगुप्त

कृष्णगुप्त के उपरान्त परवर्ती गुप्त राजवश का दूसरा उत्तराधिकारी श्रीहर्षगुप्त था। इस नृप की शासनावधि ५०५ ई० के मध्य निश्चित की गई है। इस नृप के विषय म अफसड-अभिलेख म निम्नलिखित विवरण है—

"He was always displaying a glorious triumph the written record as it were of terrible contests s

श्रीहर्षगुप्त भी महान गुप्त सम्राट का सामत था। नरसिंहगुप्त ने इसी समय मिहिरकुल के विरुद्ध विप्लव किया था। इस सामत न हूणो के विरुद्ध युद्ध म अवश्य ही अपने स्वामी को सक्रिय सहयोग प्रदान किया होगा। इस नृप के विषय मे हमे और कुछ भी नही ज्ञात होता।

जीवितगुप्त-प्रथम

श्री हर्षगुप्त के पश्चात जीवितगुप्त प्रथम सिंहासनारूढ हुआ। डॉ० सिन्हा के अनुसार ५२५ से ५४५ ई० तक इस नृप ने शासन किया था। यह नृप विष्णुगुप्त का सामत था। इसने अपने को 'क्षितीश चूणामणि' की सज्ञा प्रदान की थी। परन्तु इस उपाधि से उसकी स्थिति के विषय मे हमें कुछ अन्य न सोचना चाहिए। इस नृप ने प्रथम बार कई अभियानो एव आक्रमणो से अनुवर्ती गुप्तो की महत्त्वाकाक्षा को

प्रस्फुटित किया था। आदित्यसेन ने अपने अभिलेख में जीवितगुप्त प्रथम की महत्ता के विषय मे लिखा है—

"As superman deeds are regarded with astonishment by all mankind, like the cap of (the monkey of Hamumat), son of wind, from the side of (the mountain) Koshavardhana"

हिमालय क्षेत्रो में तथा दक्षिण-पश्चिमी बगाल में इस नरेश ने कई बार आक्रमण किए थे। परन्तु यह आक्रमण आक्रमण के लिए ही थे। इन आक्रमणो को विष्णुगुप्त के नाम से सचालित किया गया था, परन्तु अतत इससे शक्ति तो जीवितगुप्त की बढ़ी। मजुश्री मूलकल्प ने भी अनुवर्ती गुप्तो को गौड का शासक घोषित किया है। निश्चयत इस आक्रमण से अनुवर्ती गुप्तो की प्रतिष्ठा मे पर्याप्त वृद्धि हुई थी। जीवित गुप्त को ही यह सारा श्रेय प्राप्त होना चाहिए।

कुमारगुप्त

इस नरेश का शासन काल ५४० से ५६० के बीच निश्चित किया गया है। परवर्ती गुप्त नरेशो मे यह प्रथम सर्वप्रमुख सम्पन्न नरेश था और किसी भी सम्राट का सामत नही था। महानगुप्तो की पतनोन्मुख अवस्था से अवगत हो विभिन्न सामत नरेशो ने अपने स्वतत्र राज्य स्थापित करने की आकाक्षा से विप्लव करने प्रारम्भ कर दिए थे। गौडो ने इस स्थिति से सर्वप्रथम लाभ उठाने का निश्चय किया, क्योकि उनके राज्य की दूरी की वजह से राजधानी से शीघ्र सम्बलन (Reinforcements) नही भेजे जा सकते थे। उन्होने यहाँ तक कि गुप्त साम्राज्य पर भी आक्रमण कर दिया। कुमारगुप्त ने जो कि तत्कालीन गुप्त सम्राट् का सामत था, महान् गुप्त साम्राज्य की सुरक्षा एव एकता बनाए रखने के लिए पग उठाने प्रारम्भ कर दिए। अपने पग की सार्थकता के लिए किसी अन्य की सहायता अनिवार्य थी। अतएव डॉ० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है कि मौखरियो की सहायता के लिए अनुवर्ती गुप्तो ने आस लगाई। मौखरियो का गुप्तो से रक्त का सम्बन्ध था। अतएव उनसे सहायता की भी आकाक्षा की जा सकती थी। ईशानवर्मन विष्णुगुप्त का भतीजा था और कुमारगुप्त का (Cousin)। मौखरी राजवश ईश्वरवर्मन तक गुप्त सम्राटो का सामत ही था। ईश्वरवर्मन ने महाराज की ही उपाधि से अपनी तृष्णा शात की थी। ईश्वरवर्मन ईशानवर्मन का पिता था। मौखरियो एव परवर्ती गुप्तो मे प्रारम्भ मे बडा मेलजोल थी उनमे परस्पर रक्त का स्नेहित सम्बन्ध था। ईशानवर्मन के पितामह आदित्यवर्मन ने श्रीहर्षगुप्त की भगिनी हर्षगुप्ता से विवाह किया था। हर्षगुप्त कुमारगुप्त का पितामह था। इन्ही कारणो से ईशानवर्मन ने कुमारगुप्त की सहायता की प्रार्थना स्वीकार की होगी या अपने स्वामी विष्णुगुप्त के आदेश के कारण से उसे कुमारगुप्त का सहयोग करना पडा होगा। कारण जो भी रहा हो, इतना तो इस सम्मिलित प्रयास का परिणाम निकला कि गौडों की बुरी तरह पराजय हुई और गुप्त साम्राज्य को भग करने का यह प्रयास असफल रहा। परन्तु महान् गुप्त वश के दिन अब वस्तुत इने गिने ही रह गए थे। अतिम गुप्त सम्राट विष्णुगुप्त की मृत्यु लगभग ५५१–५२ ई० मे हो गई थी। इस मृत्यु के पश्चात महान गुप्त सम्राट विघटनकारी प्रवृत्तियो का गढ़ बन गया। मौखरी राजवश एव अनुवर्ती गुप्तवश ने उत्तराधिकार के लिए भीषण प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ की। दोनो राजवश अपने को महान् गुप्तो का वास्तविक एव वैधानिक उत्तराधिकारी बताते थे। इसी वैधानिकता की लडाई ही मे सम्भवत

परवर्ती गुप्तों ने अपने नाम के आगे 'गुप्त' विशेषण जोड़ना प्रारम्भ किया था, जिससे वे महान् गुप्तों के वैधानिक उत्तराधिकारी स्वीकार किए जायें। डॉ० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

"Their rivalry constitutes the main thread of the history of Northern India in the later half of the 6th C A D"

सर्वप्रथम विजय श्री कुमारगुप्त को प्राप्त हुई। परन्तु इस विजय की प्रामाणिकता में भी स्पष्टता नहीं है। अभिलेख में आए इसी कथन से हम उपर्युक्त मत की स्थापना करते हैं—

"Like Mandar churned that formidable milk cream the cause of the attainment of the fortune, which was the army of the glorious Isarvarman, a very moon among kings"

इस विवरण से विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी एवं श्री एन० के० ने तो कुमारगुप्त को पराजय का पात्र बताया है। उनके अनुसार मौखरियों को ही सबसे पूर्व विजय का सेहरा बाँधा गया था।

कुमारगुप्त के उपरान्त दामोदरगुप्त भी एक प्रतापी नरेश था। अफसढ़ अभिलेख से सिद्ध होता है कि दामोदरगुप्त ने भी मौखरियों को पराजित किया, परन्तु बाद में युद्धभूमि में उसकी मृत्यु हुई।[1] मजूमदार का विश्वास है कि अभिलेख के विवरण को संदिग्ध दृष्टि से देखने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि मौखरियों के लेखों में इस बात का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु इसके विषय में डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी का मत बिल्कुल विपरीत है। आप लिखते हैं, "अफसढ़ लेख से विदित होता है कि दामोदरगुप्त, मौखरी की बढ़ती हुई शक्तिमान राजा की दृप्त शक्ति को तोड़कर स्वयं संज्ञाहीन हो गया' (और युद्धभूमि में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ)। इसमें सन्देह नहीं कि दामोदरगुप्त की विजय का यह उल्लेख केवल पारम्परिक प्रशस्तिवाचक है। वास्तव में इस युद्ध का परिणाम उसके विरुद्ध था और वह स्वयं उस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ था।" (प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २१६, पाद-टिप्पणी ५)

चाहे दामोदरगुप्त की युद्ध में पराजय हुई हो या नहीं, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके उपरान्त अनुवर्ती गुप्त शासकों की शक्ति का केन्द्र मालवा में हो गया। दामोदरगुप्त का उत्तराधिकारी महासेनगुप्त था। 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त पूर्वी मालवा चला गया और वहाँ पर अपने राजकुल की प्रतिष्ठापना की। मालवा अभी तक सम्भवतः गुप्तों के ही अधिकार में था। परिव्राजक महाराजाओं के अभिलेख यह सूचित करते हैं कि वे इस समय तक गुप्त राजाओं को ही अपना 'अधिराष्ट्र' स्वीकार करते थे। महासेनगुप्त एक वीर और प्रतापी नरेश था। वह

१ दामोदरगुप्त की मृत्यु हो जाने का अनुमान फ्लीट के अनुवाद के आधार पर लगाया जाता है। परन्तु क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (*D R Bhandarkar Commemoration Volume* p 181) इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उक्त सन्दर्भ से दामोदरगुप्त की मृत्यु का बोध नहीं होता बल्कि उसके केवल मूर्च्छित होने का भान होता है। प० चट्टोपाध्यायजी ने यह भी बताया है कि अभिलेख में दामोदरगुप्त की विजय का उल्लेख किया गया है, पराजय का नहीं, जैसा कि बसाक ने (*History of Northern India*, p 123) अनुमान किया है।

अपनी विजयवाहिनी को आसाम तक ले गया और सेना के अश्वों को ब्रह्मपुत्र के जल का पान कराया। उसने कामरूप, अर्थात आसाम के राजा सुस्थितवर्मन को युद्ध में पराजित किया और अफसड-अभिलेख के प्रशस्ति-वचनों के अनुसार उसकी प्रशंसा के गीत आज भी लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के किनारे गाये जाते हैं।" महासेनगुप्त के राज्य की सीमाओं के विषय में हमें अपेक्षाकृत कुछ निश्चित आधार मिल जाते हैं। 'हर्षचरित' में महासेनगुप्त को मालव-नरेश कहा गया है। उसने ब्रह्मपुत्र के तट तक अपनी विजय यात्रा की इसका उल्लेख हमें अफसड-अभिलेख द्वारा प्राप्त होता है।

महासेनगुप्त के साथ पुष्यभूति वंश के नरेश आदित्यवर्द्धन का कदाचित् मैत्री सम्बन्ध था। प्रभाकरवर्द्धन की माता का नाम महासेनगुप्ता मिलता है जो सम्भवतः महासेनगुप्त की भगिनी थी। इस वैवाहिक सम्बन्ध के फलस्वरूप दोनों राजकुलों में मित्रता स्थापित हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। महासेनगुप्त ने अपने दो छोटे कुमारों को थानेश्वर भेजकर हर्ष के साथ कर दिया। इन मैत्री के कार्यों से महासेनगुप्त की प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई होगी। हम उसके समस्त प्रयत्नों पर विचार करते हैं तो यह सिद्ध होता है कि उसने सन्धि और विग्रह की द्विमुखी नीति का अवलम्बन करके अपने वंश की गौरव गरिमा को बढ़ाने का प्रयत्न किया और इसमें उसे कुछ सफलता भी मिली। पुष्यभूति और गुप्त वंशों में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित होने के कई कारण रहे होंगे जिनका अनुमान भी दण्डेकर ने किया है। इन कारणों से यह भी पता चलता है कि महासेनगुप्त वीरविजेता होने के साथ-साथ एक चतुर कूटनीतिज्ञ भी था। पुष्यभूति-गुप्त मित्रता का, जिसका उल्लेख 'हर्षचरित' और अभिलेखों में मिलता है। प्रथम कारण, दण्डेकर के अनुसार यह था कि माधवगुप्त और उसका अनुज कुमारगुप्त दोनों राजकुमार प्रभाकरवर्द्धन की राजसभा में भेजे गये थे। महासेनगुप्त का प्रभाकरवर्द्धन के साथ निकट का सम्बन्ध था यह हम देख चुके हैं। दूसरा कारण यह था कि महासेनगुप्त की कूटनीति ने इस बात को आवश्यक बना दिया कि वह इस उदीयमान राजकुल (पुष्यभूमि) का स्वागत करे। तीसरा और सबसे प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि मौखरियों की तलवार महासेनगुप्त के सिर पर बराबर लटका करती थी। मौखरि नरेश ने महासेनगुप्त के पिता दामोदरगुप्त को पराजित कर मगध में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। इसलिए महासेनगुप्त को मौखरियों की इच्छाओं के प्रति आशंका थी। उसे भय था कि वे पुनः अपनी उस शत्रुता को जारी कर देंगे जिसका प्रारम्भ कुमारगुप्त द्वारा हुआ था और जिसे दामोदरगुप्त ने जारी रखा था।[1]

अफसड-अभिलेख के अनुसार महासेनगुप्त का उत्तराधिकारी माधवगुप्त था। परन्तु हर्षचरित और मधुबन के ताम्रपत्र से विदित होता है कि इन दोनों के बीच देवगुप्त नामक एक राजा हुआ था। देवगुप्त का उल्लेख हर्ष के मधुबन-लेख और बंसखेड़ा-अभिलेख में किया गया है और उसे उन राजाओं में सबसे प्रधान कहा गया है जो दुष्ट घोड़ों से मिलते-जुलते हैं[2] और जो अन्ततोगत्वा राज्यवर्द्धन के द्वारा पराजित कर दिये गये। 'हर्षचरित' के अनुसार एक मालव-नरेश ने गृहवर्मन मौखरी को धोखा देकर मार डाला। गृहवर्मन राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन का बहनोई था। यद्यपि गृहवर्मन के घातक का नाम 'हर्षचरित' में नहीं दिया है, तथापि मालव-नरेश

१ आर० एन० दण्डेकर, *A History of the Guptas*, pp 175 176
२ राजानो युधि "दुष्टवाजिन इव श्री गुप्तादयो"।

से तात्पर्य देवगुप्त से ही है। दण्डेकर महोदय ने 'हर्षचरित' में उल्लिखित मालव-नरेश का समीकरण हर्ष के अभिलेखों में उल्लिखित देवगुप्त से ही किया है। डॉ० मजूमदार और डॉ० रायचौधरी भी यह स्वीकार करते हैं कि 'हर्षचरित' का दुष्ट 'मालवाधिपति' देवगुप्त के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। परन्तु मजूमदार का कथन है कि देवगुप्त का महासेनगुप्त के साथ क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है।

महासेनगुप्त और देवगुप्त के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दण्डेकर ने अनुमान किया है और विस्तृत विवेचन के द्वारा अपने अनुमान को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। आपका कथन है कि मालवा का देवगुप्त कदाचित् महासेनगुप्त का सबसे बड़ा पुत्र और माधवगुप्त तथा कुमारगुप्त का अग्रज था। उसने मौखरियों और अपने वंश के बीच पुराने झगड़े को फिर से जीवित किया। इस प्रयत्न में उसे गौड़ों से सहायता प्राप्त हुई जो अपने मौखरि-पड़ोसियों द्वारा लगातार परेशान किये जा रहे थे। उस समय राजनीतिक प्रभुता के लिए उत्तरी भारत में जो संघर्ष हुआ, उसमें भाग लेनेवाले दो परस्पर विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी दल थे। मौखरियों और पुष्यभूतियों का एक गुट था जो वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा भी एक-दूसरे से मिले हुए थे और देवगुप्त तथा गौडाधिपति शशांक, जो मौखरियों से सदैव ईर्ष्या करता था दूसरे राजनीतिक गुट का नेतृत्व कर रहे थे। इस संघर्ष का एक दूसरा मनोरंजक पक्ष भी था। यह पक्ष धार्मिक विचारों से सम्बन्ध रखता था। मौखरी-नरेश और पुष्यभूति राजा बौद्ध धर्म के महान् संरक्षक थे जबकि गुप्त और गौड़ ब्राह्मण हिन्दू धर्म के कट्टर परिपोषक थे।[1] देवगुप्त को राज्यवर्द्धन ने युद्ध में पराजित कर उसका वध कर दिया। इस प्रकार मालवा के अनुवर्ती गुप्त राजकुल का अन्त हो गया।

परन्तु मालवा से गुप्त राजवंश का नाश हो जाने पर भी इसका समूलोन्मूलन अभी नहीं हुआ। हम पढ़ चुके हैं कि हर्ष के साथ माधवगुप्त रहा करता था, जिससे उन दोनों में परस्पर दृढ़ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। हर्षवर्द्धन ने देवगुप्त के अनुज माधवगुप्त को अपना मित्र बना लिया और उसे कन्नौज में अपना अधीनस्थ सामन्त नियुक्त कर दिया। कन्नौज ने सामन्त की हैसियत से उसके ऊपर मगध के राज्य संचालन का भी भार आ पड़ा। उसका पुत्र आदित्यसेन बड़ा ही प्रतापी नरेश था। आदित्यसेन के कई लेख प्राप्त हुए हैं—(१) अफसड़ का अभिलेख, (२) शाहपुर का लेख, (३-४) मन्दर का शिलालेख और (५) मन्दर का लेख। आदित्यसेन की सफलताओं में गुप्त राज्य-सत्ता को पुनः लौटाना, बल्कि यों कहना चाहिए कि एक नवीन गुप्त राज्यकुल की साम्राज्यवादी सत्ता के रूप में संस्थापना करना, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आदित्यसेन हर्ष के रण-अभियान से प्रभावित हुआ था और वह अपने वंश के गौरव की पुनः स्थापना करना चाहता था। अतएव श्री हर्ष की मृत्यु के उपरान्त उसने शुभ अवसर प्राप्त होने पर अपना विजय-अभियान प्रारम्भ कर दिया। उसने रणकला और सुशासन को अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति का साधन बनाया।

आदित्यसेन ने अपनी राज्य-सीमा का काफी विस्तार कर लिया। उसके लेख, अफसड़ अभिलेख (बिहार के गया जिला), शाहपुर के लेख (पटना जिला) में पाये गये हैं। इसके अलावा मन्दर पहाड़ी का अभिलेख भी भागलपुर में मिला है। इन अभिलेखों द्वारा यह सुनिश्चित रूप से सिद्ध होता है कि आदित्यसेन का अधिकार पूर्वी

१ *A History of the Gupta*, pp 180 181

बिहार तथा दक्षिणी बिहार म था और इस प्रदेश म उसकी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई नही था। फ्लीट ने मन्दर के एक लेख को भी आदित्यसेन का बतलाया है जिसम उसके लिए "शास्ता समुद्रातवसुधराया प्रभावो बभूव" कहा गया है। मन्दसौर के इस लेख के कथन को यदि हम सत्य मानें तो आदित्यसेन, महाकवि कालिदास के शब्दो म, "आसमुद्रक्षितीश" था। आदित्यसेन ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान भी किया था और मन्दर के शिलालेख से पता चलता है कि उसने 'परम भट्टारक महाराजाधिराज की पदवी धारण की थी। 'पृथ्वीपति' का भी प्रयोग उसके लिए किया गया है। बगाल के विभिन्न भागो मे ऐसी अनेक सुवर्ण मुद्राएँ मिली हैं जिनको गुप्त सम्राटो के सिक्के की नकल बताया गया है और जिनको मगध के अनुवर्ती गुप्त नरेशो द्वारा चलवाई हुई कहा गया है। इन मगध के अनुवर्ती गुप्त नरेशो मे आदित्यसेन गुप्त प्रथम सम्राट था। इनमे से कुछ सिक्को द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की सूचना मिलती है।

आदित्यसेन एक प्रतापी नरेश और वीर विजेता ही न था अपितु उसे लोक कल्याण का भी ध्यान था। उसकी माता ने "सुरलोकगृहोपम" एक 'मठ बनवाया था जिसे उसने धार्मिको को दे दिया था। आदित्यसेन की पत्नी के लिए लिखा है कि वह सदा लोक-कल्याण के कार्यों मे सलग्न रहा करती थी। स्वय आदित्यसेन न जनता के कल्याण के निमित्त एक जलाशय खुलवाया, जिसका जल लोगो के पीने के काम म आता था। देवगढ अभिलेख के अनुसार आदित्यसेन ने अपनी विजय के उपरान्त प्रभूत धन लगाकर एक मन्दिर का निर्माण कराया था। उसके विषय मे दण्डेकर का कथन है— He was the last great sovereign belonging to that glorious dynasty, whose name will be written in letters of gold in the annals of Ancient India आदित्यसेन का शासन काल ६४८ से लेकर ६७६ ई० पयन्त था।

आदित्यसेन के बाद उसका पुत्र देवगुप्त उसके राज्य का अधिकारी हुआ। उसे ६८० ई० के लगभग विनयादित्य नामक एक चालुक्य नरेश ने कदाचित् पराजित किया था। देवगुप्त को सकलोत्तरापथ नाथ कहा गया है। चालुक्य नरेश के लेख मे 'सकलोत्तरापथ नाथ पदवी के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि देवगुप्त का राज्य समस्त उत्तरी भारत मे विस्तृत था। देव-बरनाक के लेख से ज्ञात होता है कि देवगुप्त के बाद विष्णुगुप्त राज्याधिकारी हुआ। देव-बरनाक के लख से ज्ञात होता है कि देवगुप्त के बाद विष्णुगुप्त राज्याधिकारी हुआ। इस लेख मे विष्णुगुप्त के लिए भी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की पदवी मिलती है। जीवितगुप्त द्वितीय अनुवर्ती गुप्त राजवश का सबसे अन्तिम सम्राट था। इसके बाद बगाल के गौडाधिपतियो ने आठवी शती के मध्य मे आदित्यसेन द्वारा अधिकृत प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार अनुवर्ती गुप्त नरेशो के राजवश का उन्मूलन हो गया।

प्रश्न

प्रयाग विश्वविद्यालय

१ मौखरी कौन थे ? उत्तर गुप्तों के साथ उनके सम्बन्ध का निर्देश कीजिए। (१९९६)

२ ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दियों मे भारतवर्ष मे हूणों के कार्यकलाप के विषय मे आप क्या जानते हैं ? (१९६६)

गोरखपुर विश्वविद्यालय

१ भारतवर्ष मे हूण सत्ता की स्थापना के विषय मे आप क्या जानते हैं ? (१९६१)

२ मगध के परवर्ती गुप्तो के इतिहास का सक्षिप्त परिचय दीजिए। (१९६२)

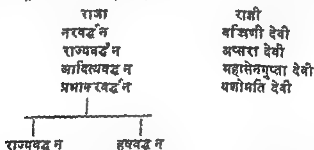
३ मौखरियों और उत्तर गुप्तो के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन कीजिए। (१९६६)

४ वाकाटक वंश के इतिहास का सक्षिप्त परिचय दीजिए।

२३ | थानेश्वर का वर्धन वंश

पिछले परिच्छेद में यह बताया गया था कि भारत में राजनीतिक अशान्ति के बादल मंडरा रहे थे। भारत की राजनीतिक अवस्था की दुर्बलता का संकेत हम प्राप्त हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में थानेश्वर में एक ऐसे वीर एवं पराक्रमी पुरुष का उदय हुआ, जिसने सभ्यता एवं संस्कृति के विनाशक हूणों से देश की रक्षा करके इसकी राजनीतिक शक्ति को दुर्बलता के कोष से पृथक् करके उसे सुदृढ़ बनाया।

कुल—बाण के 'हर्षचरित' से यह ज्ञात होता है कि हर्षवर्द्धन के पूर्वज श्रीकण्ठ (थानेश्वर) के राजा थे। उक्त ग्रन्थ में हर्ष के कुल का संस्थापक पुष्यभूति बताया गया है। पुष्यभूति के पश्चात् कितने अन्य शासक थानेश्वर के सिंहासन पर बैठे और उनके क्या क्या प्रमुख कार्य रहे, इसका कोई ज्ञान हमें प्राप्त नहीं है। बंसखेरा के ताम्रलेख, सोनपत की ताम्र-मुहर, नालन्दा में प्राप्त मुहर तथा मधुबन वाले फलक से हर्ष के चार पूर्वजों का बोध होता है—



हर्षवर्द्धन ६०६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था। इस आधार पर पुष्यभूति के वंश की स्थापना अनुमानतः छठी शताब्दी के प्रथम चरण में हुई होगी। थानेश्वर का वंश प्रारम्भ में किसी सार्वभौम सत्ता के अधीन रहा होगा और कालान्तर में गुप्तों की गिरती हुई शक्ति से लाभ उठाकर उसने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया होगा। जायसवाल महोदय ने इस वंश की उत्पत्ति थानेश्वर के विष्णुवर्द्धन—यशोधर्मन से बताई है। जायसवाल महोदय ने 'मंजुश्री मूलकल्प' के आधार पर ही यह निष्कर्ष निकाला है पर यह तर्कसंगत नहीं है। अतः मालवा का राजा विष्णुवर्द्धन से थानेश्वर के वर्द्धन राजाओं का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता है।

'मंजुश्री मूलकल्प' का रचयिता ने वर्द्धन राजाओं को वैश्य जाति का बतलाया है। ह्वेनसांग ने भी कन्नौज के शासक शीलादित्य को 'फेशे' अथवा वैश्य जाति का बताया है। कनिंघम महोदय ने इसे स्वीकार किया है, किन्तु अनेक भारतीय राजाओं की जाति का उल्लेख करने की क्षमता रखनेवाले ह्वेनसांग ने निश्चित ही किसी आधार पर थानेश्वर के राजाओं को वैश्य कहा होगा।[1]

---

[1] वाटर्स, जिल्द १ पृष्ठ ३४३

प्रारम्भिक इतिहास—प्रभाकरवर्द्धन ही थानेश्वर का प्रथम शक्तिशाली राजा था जिसने 'परमभट्टारक' तथा 'महाराजाधिराज' की उपाधियाँ धारण की थी। बाण के अनुसार उसने हूण, सिन्धु देश के राजा, गुर्जर-नरेश, गांधार-नरेश, लाट तथा मालवा के राजा से युद्ध किया था।

किन्तु बाण का यह कथन इतिहास के कितना निकट है, यह नही कहा जा सकता। प्रभाकरवर्द्धन की माता महासेनगुप्ता देवी गुप्त वंश की थी, जिससे यह परिलक्षित होता है कि थानेश्वर राजवंश का उत्तरकालीन गुप्त-नरेशो से मैत्री सम्बन्ध स्थापित था।

प्रभाकरवर्द्धन की पत्नी महादेवी यशोमति से तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं—राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन तथा राज्यश्री।

राज्यश्री का ब्याह कन्नौज के मौखरी नरेश ग्रहवर्मा से हुआ था, जिससे दोनो राजकुलो मे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया, जिसका थानेश्वर के इतिहास पर बहुत गहरा प्रभाव पडा, जैसा कि हम अगले पृष्ठो मे देखेंगे।

६०४ ई० के लगभग हूणो ने साम्राज्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर आक्रमण एव लूटमार आरम्भ कर दी जिसके दमनार्थ प्रभाकरवर्द्धन ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन को भेजा। हर्ष भी राज्यवर्द्धन के साथ चला। युद्ध काल मे ही पिता की घातक बीमारी की सूचना प्राप्त हुई और वह राजधानी को लौट आया। यहाँ आकर उसने राज्यवर्द्धन को बुलाने के लिए दूत भेजे। राज्यवर्द्धन पिता के जीवन काल मे न लौट सका। युद्ध समाप्त करके जब वह लौटा तो उसे राज्यसिंहासन देने की बातें होने लगी, पर वह संन्यास ग्रहण करने की चिन्ता मे विलीन था किन्तु राजनीतिक अशान्ति की आशंका से उसे विवश होकर राज्य भार अपने कधो पर लेना पडा। सम्भवत हर्ष का यह हठ कि वह भी उसका अनुसरण करेगा राज्यवर्द्धन को सन्यास ग्रहण करने से रोक सका। उपरलिखित राजनीतिक अशान्ति यह थी कि कन्नौज से एक दूत निम्न समाचार लेकर थानेश्वर आया—

'जिस दिन राजा (प्रभाकरवर्द्धन) की मृत्यु का दुखद समाचार मिला उसी दिन मालवा के दुष्ट स्वामी ने महाराज ग्रहवर्मा का प्राणान्त कर दिया। राजकुमारी राज्यश्री चोर की पत्नी की भाँति कान्यकुब्ज के कारागार मे डाल दी गई है और उसके चरणों मे बेड़ियाँ पहना दी गई हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सुनने मे आया है कि वह दुष्ट, यहाँ की सेना को नेताविहीन समझकर इस देश पर भी आक्रमण करने का विचार कर रहा है।'[1] ग्रहवर्मा का हत्यारा मालव-नरेश देवगुप्त था।[2]

यह समाचार सुनते ही राज्यवर्द्धन दस हजार अश्वारोहियो को लेकर तथा राजधानी हर्ष को सौंपकर मालवा के शासक पर आक्रमण को चल पडा। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि मालवा के राजा (देवगुप्त) तथा कर्णसुवर्ण के गौड राजा शशांक मे मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। शशांक निश्चय ही गुप्त वंश का था और उसने पूर्व गौरव को पुन स्थापित करने के लिए यह मैत्री सम्बन्ध जोडा था क्योंकि वह पुष्यभूमि तथा मौखरी वंश की शक्ति को छिन्न भिन्न करना चाहता था। वह यह भी जानता था कि मालवा के गुप्त लोगो तथा थानेश्वर के वर्द्धन लोगो के बीच अनबन

१ हूणहरिणकेसरी, सिन्धुराजज्वरो, गर्जरप्रजागर गान्धाराधिपगन्धद्विपकूटपाकलो लाटपाटवपाटच्चरो, मालवलतालक्ष्मीपरशु —हर्षचरित।

२ हर्षचरित।

थी। इसीलिए उसने मालवा के गुप्तों को अपने साथ लेकर कन्नौज पर आक्रमण किया था जिसे जीत कर वह थानेश्वर पर आक्रमण करना चाहता था पर योजना असफल रही।[1]

हर्ष को एक दिन कुन्तल नामक एक अश्वारोही अफसर ने सूचना दी कि महाराज राज्यवर्द्धन ने बड़ी सरलता से मालव-नरेश को पराजित किया, किन्तु गौड़ राजा के झूठे सम्मान तथा शिष्टाचार के भुलावे में आकर उसने (राज्यवर्द्धन ने) उस पर विश्वास कर लिया और उसने (गौड़-नरेश ने) अपने भवन में उसे एकाकी निरस्त्र पाकर मार डाला।[2]

हर्षवर्धन

कुछ विद्वानों ने बाण के इस कथन से कि 'राज्यलक्ष्मी ने अपनी (हर्ष की) इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक (उन्हें) सिंहासन पर बैठाया' यह निष्कर्ष निकाला है कि हर्ष ने थानेश्वर की गद्दी पर बैठना अस्वीकार कर दिया था और उसे सिंहासनारूढ़ होने के लिए बाध्य किया गया, किन्तु यह असम्भव है। सोलह वर्ष के राजकुमार में क्या इतनी भी बुद्धि, इतना भी पौरुष का भाव नहीं आ पाया था कि वह अपने भ्राता तथा बहनोई के हत्यारों के क्रूर हाथों में अपनी प्रजा को चुपचाप छोड़ देना अनुचित समझता। हर्ष ने कन्नौज के सिंहासन के सम्बन्ध में अपनी हल्की अनिच्छा प्रकट की होगी और कुछ कल्प विकल्प के पश्चात् कन्नौज का संरक्षक मात्र तक बनना स्वीकार किया होगा। चीनी ग्रन्थ फेंग चिह से ज्ञात होता है कि हर्ष अपनी विधवा बहन के साथ मिलकर शासन करता था। वह राज्य प्रतिनिधि था और राज्यश्री के नाम से कन्नौज पर शासन करता था। ६०६ ई० में हर्ष थानेश्वर के सिंहासन पर बैठा।[3]

वास्तविकता यह है कि भाई की हत्या का समाचार पाते ही हर्ष ने यह प्रण किया कि मैं "कुछ दिनों में ही धरती गौड़ विहीन कर दूंगा अन्यथा अपने पापी शरीर को पतंग सा लपटों में झोंक दूंगा।"[3] इतना ही नहीं, उत्तेजित हर्ष ने दिग्विजय का भी निश्चय किया[4] और उसने इसलिये यह घोषणा करा दी—

"उदयाचल तक सुवेल तक अस्तगिरि तक गंधमादन तक सभी राजाओं को कर देने अथवा शस्त्र-ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।"[5]

हर्ष का रण अभियान—हर्ष एक शक्तिशालिनी सेना लेकर पूर्व की ओर बढ़ा। प्रथम दिन की १६ मील की यात्रा के पश्चात् हंसवेग नामक एक दूत हर्ष के शिविर में यह समाचार लेकर आया कि प्राग्ज्योतिष का राजा भास्कर वर्मा उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। बसाक के अनुसार "यह मैत्री-सम्बन्ध दोनों के

१ रायचौधरी, *Political History of Ancient India*, V Edition, p 607

२ तस्माच्च हेलानिर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचितविश्वासं मुक्तशस्त्रं एकाकिनं विश्रब्धं स्वभवने व्यापादितमश्रौषीत—हर्षचरित। तुलना के लिये देखिये बसखेरा का ताम्रलेख, पंक्ति ६

३ हर्षचरित।

४ कि गोपियाहं मनेकेन तथा कुरु यथा नान्योऽपि करिष्यत्येवं—हर्षचरित।

५ हर्षचरित।

पारस्परिक हित के लिए था', क्योंकि हर्ष तथा भास्कर वर्मा दोनो शशांक के पडोसी शत्रु थे।[1] राखालदास बनर्जी का भी यही मत है।

शशांक—कुछ आगे बढ़ने पर हर्ष सेनापति भाडी से मिला जो राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात मालवराज की सम्पूर्ण सेना के साथ वापस लौट रहा था। भाडी ने सूचित किया कि उसे इस प्रकार की सूचना मिली है कि कान्यकुब्ज पर गुप्त नामक किसी राजा का अधिकार हो गया है और राज्यश्री कारागार से निकलकर विन्ध्यवन की ओर भाग गई है।[2] यह समाचार सुनते ही हर्ष ने गौड राजा पर स्वयं चढाई करने का निश्चय बदल दिया और इसके लिए भाडी को नियुक्त करके, मालव सेना का निरीक्षण करके स्वयं विन्ध्यवन की ओर प्रस्थान किया जहाँ काफी परिश्रम के पश्चात वह राज्यश्री को ठीक उस समय पाया जब वह चिता मे कूदने जा रही थी। बहन को साथ लेकर वह गंगा के समीप स्थित अपने शिविर को लौटा।

सेनापति भाडी ने शशांक को गौड राज्य वापस लौट जाने को बाध्य किया और शशांक को किसी प्रकार की क्षति नही उठानी पडी। पूर्व के इन सुदूरस्थ प्रदेशो पर हर्ष का अधिकार न हो सका, क्योंकि गंजाम के अभिलेख से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शशांक ६१९ ई० के लगभग सम्राट् के रूप मे शासन करता रहा।[3]

बाण शशांक के ऊपर किये जाने वाले आक्रमण के सम्बन्ध मे बिल्कुल मौन हैं। ह्वेनसांग के विवरण से हम हर्ष की विजयो का कुछ बोध होता है। वह लिखता है—

"जैसे ही शीलादित्य (हर्ष) राजा हुआ, वैसे ही उसने एक विशाल सेना लेकर अपने भ्रातृहन्ता से प्रतिशोध लेने के अभिप्राय से प्रस्थान किया। उसकी इच्छा हुई कि पडोसी राज्यो को जीतकर अपने अधीन कर लूं। वह पूर्व की ओर बढा और उसने उन देशो पर आक्रमण कर दिया जिन्होंने उसकी प्रभुता मानने से इनकार कर दिया था। निरन्तर ६ वर्षों तक वह युद्ध करता रहा। उसने पंचभारत के साथ युद्ध किया।" इस पद का एक दूसरा पाठ भी प्राप्त होता है, जिसके अनुसार हर्ष ने पंचगौड से युद्ध करके उसे अपने अधीन कर लिया। पंचभारत मे पंजाब, कान्यकुब्ज, मिथिला तथा उडीसा सम्मिलित थे।

पुलकेशी द्वितीय के सम्बन्ध मे यात्री ने लिखा है—

"इस समय महान शीलादित्य पूर्व तथा पश्चिम मे आक्रमण कर रहा था, पडोसी राज्य उसकी अधीनता स्वीकार कर रहे थे, किन्तु मो हो-ल च-अ ने उसकी प्रभुता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।"[4] किन्तु डॉ० मजूमदार यह मानने को तैयार नही हैं कि पंचगौड को हर्ष ने अपने अधीन कर लिया था क्योंकि विन्ध्य के दक्षिण मे स्थित कामरूप, काश्मीर, पंजाब, सिन्ध तथा राजपूताना को हर्ष के अधीन मानने मे अधिकांश विद्वानो को आपत्ति है। हर्ष के युद्धो के सम्बन्ध मे जो कुछ साक्ष्य प्राप्त है, उनके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसे अग्रलिखित शक्तियो का सामना करना पडा था—

---

१ बसाक *History of North Eastern India*, p 151

२ हर्षचरित।

३ वर्षशतत्रये वर्तमाने महाराजाधिराजश्रीशशांकराजेशासति— गंजाम का लेख, ए० ए० जिल्द ६, पृ० १४४

४ वाटर्स, जिल्द २, पृ० २३९

१ वलभी तथा गुर्जर के शासक
२ चालुक्य-नरेश पुल्केशिन द्वितीय,
३ सिन्धु, तथा
४ मगध, गौड ओड्र तथा कागद।
नीचे इन पर विचार किया जायगा।

वलभी नरेश—हर्ष की विजयो का बोध करने के लिए कुछ अन्य सामग्रियाँ भी उपलब्ध हैं। गुर्जर नरेश दद्द के नौसारी-दानपत्र म निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

'श्रीहर्षदेवाभिभूतो श्रीवलभीपतिपरित्राणोपजात भ्रमदभ्रविभ्रमयशोवितान श्रीदद्द'' [१] अर्थात्, श्री हर्षदेव द्वारा पराजित वलभी-नरेश का परित्राण करने के कारण प्राप्त यश का वितान श्री दद्द के ऊपर निरन्तर झूलता था।

इससे यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि हर्ष ने वलभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित कर दिया और उसे (वलभी नरेश को) गुर्जर-नरेश दद्द के यहाँ शरण लेनी पड़ी।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि गुर्जर-नरेश जैसा छोटा राज्य वलभी-नरेश को हर्ष के विरुद्ध कैसे शरण दे सका। कुछ लोगो ने गुर्जर-नरेश को शक्तिशाली राज बताया है और कुछ विद्वानो का मत है कि वलभी-नरेश की सहायता मे प्रभाकरवर्द्धन के शत्रु, लाट, मालव, गुर्जर आदि संयुक्त हो गये थे। वास्तविकता जो भी हो हर्ष ने निश्चय ही वलभी-नरेश को अब सुरक्षित और सुदृढ पाया और सम्भवत इसी लिए उसने वलभी-नरेश से अपनी पुत्री का ब्याह कर दिया। यहाँ हर्ष की कूटनीति का पता चलता है।

डा० स्मिथ ने वलभी-नरेश के साथ होनेवाले युद्ध की तिथि के सम्बन्ध म लिखा है—

''वलभी-नरेश के साथ होने वाले युद्ध, जिसके परिणामस्वरूप ध्रुवसेन द्वितीय पूर्णत पराजित हुआ और संभवत चालुक्य सम्राट् की सबल सहायता पर निर्भर रहने वाले भडौंच राजा के राज्य मे भाग गया—अनुमानत ६३३ ई० के उपरान्त और पश्चिमी भारत में ह्वेनसाग के आने के पूर्व (६४१–४२ ई०) घटित हुआ।' [२]

डॉ० मजूमदार भी इस तिथि का समर्थन करते हैं।

पुल्केशिन द्वितीय—पुल्केशिन के लेख[३] से ज्ञात होता है कि इस युद्ध मे हर्ष के हाथी गिर पड़े और वह भय से भाग गया। ह्वेनसाग भी लिखता है, 'उसने (हर्ष ने) पचभारत मे सेनायें एकत्रित की थी और सभी प्रदेशो से श्रेष्ठ नायकों को आमन्त्रित किया था तथा वह स्वयं सेनाध्यक्ष बनकर इन लोगो को (पुल्केशिन को) पराजित करने गया था, किन्तु वह अब तक इनके दलो को जीत नही सका है।' [४] ह्वेनसाग के विवरणो मे ज्ञात होता है कि यद्यपि हर्ष ने अनेक देश जीते थे, तथापि वह पुल्केशिन को नही जीत सका।

---

१ *Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society* Vol VI, p I and *Indian Antiquary* Vol B 1884 pp 70 81-

२ *Early History of India* p 354

३ *Epigraphica Indica* Vol 6, p 19

४ *H T B* 257, Quoted by K C Majumdar in *Classical Age*,

मजूमदार महोदय का यह विचार है कि उपर्युक्त विवरण से यह परिलक्षित होता है कि हर्ष ने स्वयं पुल्केशिन पर आक्रमण किया था, पर उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता नही प्राप्त हुई। इससे यह नहीं ध्वनित होता कि पुल्केशिन ने उसे पराजित कर दिया था। पुल्केशिन के उत्तराधिकारियों ने इस घटना को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। बताया गया है कि सैकड़ों युद्धों में भाग लेनेवाले शत्रु राजा को पराजित कर पुल्केशिन ने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की।[1]

युद्ध-स्थल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। स्मिथ महोदय के इस कथन का कि पुल्केशिन ने 'नर्मदा भाग की सुरक्षा इस सशक्तता से की कि हर्ष को विवश होकर लौटना पड़ा और उस नदी को अपनी बाह्य सीमा माननी पड़ी।' मजूमदार महोदय ने खण्डन किया है। उन्होंने बताया कि लाट, मालव तथा गुर्जर, कौम्स ऐहोल अभिलेख के अनुसार, पुल्केशिन के अधीनस्थ राज्य थे और इन्होंने हर्ष की अधीनता स्वीकार की हो, इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता।[2] ऐसी दशा में हर्ष का नर्मदा नदी तक आकर पुल्केशिन से युद्ध करना तर्कसंगत नहीं ज्ञात होता। ह्वेनसांग ने भी बुन्देलखण्ड तथा मालवा में स्वतंत्र राज्यों का उल्लेख किया है। हर्ष तथा पुल्केशिन का युद्ध दक्षिण में नर्मदा पर न होकर काफी उत्तर में हुआ।

डा० फ्लीट ने इस युद्ध की तिथि ६१२ ई० बताई है।[3] किन्तु जैसा कि अधिकांश विद्वानों का मत है, यदि हम मान लें कि हर्ष-पुल्केशिन युद्ध वलभी-नरेश पर किये गये आक्रमण का फल है, तो निश्चय ही इस युद्ध की तिथि ६२९ से ६४० ई० के बीच में ही कभी हो सकती है, क्योंकि वलभी-नरेश को शरण देने वाले दद्द का यही शासन-काल (६२९–६४० ई०) है। बहुत सम्भावना तो यह है कि वलभी-नरेश से युद्ध करने के दो-एक वर्ष के भीतर ही (६३४–३५ ई०) में यह युद्ध हुआ होगा।

सिन्ध—बाण के 'हर्षचरित' से यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने 'सिन्धुराज को मथकर उसकी सम्पत्ति स्वायत्त कर ली।'[4] किन्तु हम बाण के अतिरंजित वाक्यों को सावधानी से ग्रहण करना चाहिए। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि हर्ष का दक्षिणी अभियान, जिसमें उसे वलभी-नरेश दद्द द्वितीय तथा पुल्केशिन द्वितीय से संघर्ष करना पड़ा था, असफल रहा। सिन्ध प्रभाकरवर्द्धन का शत्रु था, अतः हर्ष से उसका संघर्ष तो हो सकता है किन्तु हर्ष ने उसे पराजित कर दिया हो यह विश्वसनीय नहीं, क्योंकि ह्वेनसांग बताता है कि जिस समय वह सिन्ध में पहुँचा, उस समय वह एक सशक्त स्वतंत्र राज्य था।

पूर्वी रण-यात्रा—हर्ष की जीवनी से यह बोध होता है कि ६४३ ई० में जब चीनी यात्री कामरूप-नरेश भास्करवर्मन के निमंत्रण पर वहाँ (कामरूप) गया तो उस समय तक हर्ष ने कोंगद तथा उड़ीसा को अपने अधीन कर लिया था और वह राजमहल में गंगा के तट पर कजंगल में विश्राम कर रहा था। इससे यह परिलक्षित होता है कि ६४३ ई० के पूर्व इन प्रदेशों पर हर्ष के दो-एक आक्रमण हो चुके थे।

---

१ श्री सत्याश्रय पृथ्वीवल्लभ महाराज समरशतसंघट्टसंसक्तपरनृपति राज्योपलब्धपरमेश्वरापरनामधेय —पुल्केशिन का हैदराबाद वाला दानपत्र।

२ देखिये *Classical Age*, pp 105 106

३ देखिये फ्लीट का 'कनाडी राजवंश', पृ० ३५१।

४ अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराज प्रमथ्य लक्ष्मी आत्मीकृता —हर्षचरित।

चीनी लेखक मा-त्वान लिन के लेख से यह ज्ञात होता है कि शीलादित्य ने ६४१ ई० मे मगध-सम्राट का विरुद धारण किया। ह्वेनसाग के विवरण से यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने इस तिथि के बहुत पूर्व मगध को अधिकृत नही किया। चीनी यात्री को मगध से होकर ६३७-३८ ई० मे यात्रा करते समय यह ज्ञात हुआ था कि हाल ही मे शशाक ने गया के बोधि वृक्ष को काट दिया था और उसके शीघ्र बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। तब मगध के राजा ने पूर्णवर्मा को बुलाया जो अशोकराज का अन्तिम वशज था और उसने हजार गायो के दूध से वृक्ष की जडो को सीचकर उसे पुनर्जीवित कर दिया।

शशाक की मृत्यु तिथि ६१९ ई० बताई जाती है और ह्वेनसाग के इस कथन से कि 'हाल ही मे शशाक ने गया के बोधि वृक्ष को काट दिया था' यह ध्वनि निकलती है कि ६३७ ई० के अधिक से अधिक १० वर्ष पूर्व तक शशाक जीवित था और इस समय तक निश्चय ही हर्ष शशाक का कुछ भी नही बिगाड सका था। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही वह मगध को अपने अधीन कर सका और वहाँ से कोगद तक उसने छापा मारा। सम्भवत उसने पश्चिमी बगाल को भी विजित किया। मजूमदार महोदय का मत है कि ये सारी घटनायें ६३६ ई० के पश्चात ही हुई।

यह कहना कठिन है कि शशाक से कभी हर्ष की मुठभेड हुई या नही। 'मजुश्री मूलकल्प'[1] मे इसका कुछ आभास मिलता है कि एक राजा जिसका नाम 'ह' अक्षर से प्रारम्भ होता है, अर्थात् हर्ष पूर्वी भारत की ओर बढा और पुण्ड्रनगर मे जा पहुँचा। दुष्टकर्मा सोम पराजित हुआ और वह अपने राज्य के भीतर बन्द रहने के लिए विवश किया गया, किन्तु ऐसा लगता है कि गौड देश के लोगो ने हर्ष का स्वागत नही किया। हर्ष अपने देश को लौट आया और उसने यह सन्तोष कर लिया कि मैंने विजय प्राप्त कर ली।

'मजुश्री मूलकल्प' का उक्त कथन कहाँ तक सत्य है, यह नही कहा जा सकता, किन्तु यदि हम यह मान भी लें कि हर्ष ने शशाक को अपने राज्य के भीतर बन्द रहने के लिये विवश किया तो इससे क्या ? वह शशाक के राज्य पर अधिकार नही स्थापित कर सका। हर्ष मगध से लौटा और उधर, जैसा कि ह्वेनसाग के विवरण से ज्ञात होता है, शशाक ने पुन अपनी स्वतन्त्रता (यदि उसका अपहरण भी हुआ हो) प्राप्त कर ली। ६१९ ई० तक तो शशाक का बगाल, दक्षिण बिहार तथा उडीसा पर राज्य निश्चय रूप से था। अत इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'हर्षचरित' तथा मजुश्री मूलकल्प' मे वर्णित शशाक पर हर्ष के प्रारम्भिक रण-अभियान पूर्णरूपेण असफल रहे।

भागीरथी के पूर्व तथा पद्मा नदी के उत्तर मे स्थित बगाल के भूभाग पर हर्ष का कभी अधिकार हो सका था या नही, यह भी विवादास्पद विषय है। पर इसका प्रमाण मिलता है कि हर्ष का सहायक कामरूप का शासक भास्करवर्मन उक्त भूभाग

१ पराजयामास सोमाख्य दुष्टकर्मानुचारिणम।
ततो निषिद्ध सोमाख्यो स्वदेशेनावतिष्ठत ॥
निवर्तयामास हकाराख्य म्लेच्छराज्येन पूजित।
दुष्टकर्मा हकाराख्यो नृप श्रेयसा चायर्धर्मिण ॥
स्वदेशे चैवप्रयातो यथेष्ट गतिनापि वा—मजुश्री मूलकल्प, श्लोक ७२५-७२७

पर कुछ समय तक राज्य कर चुका था। मजूमदार महोदय ने यह विचार प्रकट किया है कि यह बहुत सम्भव है कि हर्ष की पूर्वी विजयों में भास्करवर्मन ने पर्याप्त सहायता प्रदान की थी और इसी के फलस्वरूप उसे बंगाल का उत्तरी भाग हर्ष द्वारा दिया गया था।[1]

हर्ष के साम्राज्य का विस्तार

हर्ष प्राचीन भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट अंगीकार किया जाता है। इस महान साम्राज्य के नियन्ता एवं निर्माता के पश्चात भारतवर्ष में पुनः किसी हिन्दू नरेश ने ऐसा भव्य कार्य नहीं किया। इसी महान सम्राट के साम्राज्य विस्तार पर इस अध्याय में प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा। आधुनिक अनुसन्धानों एवं गवेषणों ने हमारे सम्मुख एक नई समस्या उपस्थित कर दी है। इस दशाब्दी के कुछ विद्वानों की अब इस प्रकार की धारणा हो गई है और जो धारणा उचित ही प्रतीत होती है कि हर्ष भारतवर्ष का अन्तिम महान सम्राट नहीं था। भारतवर्ष में हर्ष से बड़े हिन्दू नरेश हर्ष के पश्चात भी हुए थे। हर्ष वस्तुतः एक सीमित क्षेत्र—उत्तर भारत—का छोटा-सा शासक था। इसे व्यर्थ ही इतना अधिक गौरव प्रदान किया गया है, क्योंकि इसी के समकालीन नरेश साम्राज्य एवं शक्ति में इससे भी बढ़कर थे। यह धारणा अब एक प्रभावशाली मान्यता है। इस मान्यता के सबसे बड़े निर्माता हैं श्री रमेशचन्द्र मजूमदार। इस प्रकार अब हम एक विवादग्रस्त गुत्थी को सुलझाने के लिए विभिन्न तथ्य सम्मुख रखने पड़ेंगे, तब जाकर यह समस्या सुगम बनेगी। इससे पूर्व कि मैं आपको मूल तथ्यों की ओर ले चलूं, आधुनिक इतिहासकारों की सम्मतियाँ जानना आवश्यक सा हो जाता है।

सबसे पहले 'प्राचीन भारतीय इतिहास' के सबसे पुराने इतिहासकारों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करवाता हूँ। श्री स्मिथ (Smith) ने अपनी पुस्तक 'Early History of India' में लिखा है—

"उसके शासन काल के पिछले वर्षों में मालवा, गुजरात एवं सौराष्ट्र के अलावा हिमालय पहाड़ से लेकर नर्मदा तक (जिसमें नेपाल भी सम्मिलित था) गंगा की पूरी तरेटी पर हर्ष का प्रभुत्व निर्विवाद रूप से स्थापित था।"

श्री के० एम० पणिक्कर (K M Pannikar) ने अपनी पुस्तक 'Sri Harsha of Kanauj' में लिखा है—

'हर्ष ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लिया था और नेपाल का राज्य भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।'

इन दो विद्वानों ने हर्ष को भारतवर्ष का चक्रवर्ती सम्राट घोषित किया है। लेकिन एटिंग हासन जो कि एक फ्रांसीसी विद्वान हैं, उपर्युक्त मत में कुछ कमी का श्रीगणेश किया है। इन्होंने नेपाल को हर्ष के साम्राज्य का अंग नहीं स्वीकार किया है। आगे चल कर श्री राधाकुमुद बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'हर्ष' में उसका साम्राज्य और भी संकुचित कर दिया। देखिए उनके विचार—

"कुछ प्रान्त तो ऐसे थे जिन पर कान्यकुब्जाधिपति महाराज हर्ष प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे और कुछ प्रदेश ऐसे थे जो उनके प्रभाव में थे एवं उनकी प्रभुता स्वीकार करते थे। प्रत्यक्ष रूप से शासन का क्षेत्र संकुचित था परन्तु प्रभाव-क्षेत्रान्तगत कामरूप, नेपाल, कश्मीर तथा वलभी थे।"

---

१ *Classical Age* pp 107-108

परन्तु हर्ष के साम्राज्य का सकुचन का पूर्ण श्रेय श्री आर० सी० मजूमदार को है। इन्होने प्रचलित मत का पूर्णतया विरोध करते हुए लिखा है—

"हर्ष के साम्राज्य मे आगरा एव अवध का सयुक्तप्रान्त, बिहार तथा पूर्वी पजाब का कुछ भाग, उत्तर-पश्चिम के मो ती-पु लो (ह्वेनसाग के अनुसार) को छोडकर सम्मिलित था।"

—Journal of the Bihar Orissa Pesearch Society

श्री निहार रजन राय ने इण्डिया हिस्टारिकल क्वाटरली (India Historical Quarterly) मे 'हर्ष शिलादित्य—एक सर्वद्धित अध्ययन' शीर्षक के अन्तर्गत वे अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं कि हर्ष के प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत वह सम्पूर्ण प्रदेश था, जिसे मध्य हिन्द कहा जाता था। परन्तु हर्ष के प्रभावान्तर्गत पूरा उत्तरी भारत था। इसकी सीमायें इस प्रकार थी—उत्तर-पश्चिम मे जालधर से लेकर पूर्व मे आसाम की पूर्वी सीमा तक—दक्षिण मे नर्मदा और महानदी की तरेटी मे अवस्थित वलभी राज्य से लेकर गजाम के जिले तक का प्रदेश, और उत्तर मे नेपाल तथा सभवत कश्मीर भी सम्मिलित थे।

श्री अदीलचन्द्र बनर्जी ने स्मिथ की परिपाटी का अनुगमन करते हुए हर्ष को भारत का महान् हिन्दू सम्राट् माना है।

"हर्ष का आधिपत्य उत्तर मे शतद्रु के तट से लेकर दक्षिण मे नमदा तक और पश्चिमी मालवा के सीमाप्रात से लेकर पूर्व हिमालय के समीप स्थित प्रदेशो तक की भूमि पर स्थापित था।"

यह तो रहे विभिन्न इतिहासकारो के विभिन्न निगमन। परन्तु इतिहास के जिज्ञासु का तो यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इन विरोधी मतो मे से युक्तिसगत एव सर्वमान्य मत खोज निकाले। आधुनिक विचारको के इन मतो के आधार पर तो हम कुछ भी नही कह सकते कि कौन सा मत सत्य के अधिक समीप है और कौन-सा बकार है। इन मतो की असलियत का पता तो तभी लगेगा जब हम भी मूल ऐतिहासिक सामग्री का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करेंगे। अब हम नीचे की पक्तियो मे मौलिक स्रोतो के द्वारा डाले गये प्रकाश की रोशनी मे कुछ खोजने एव ढूढने का प्रयास करेंगे।

हर्ष के शासन-काल के दो अभिलेख बसखेरा तथा मधुबन नामक स्थानो पर उपलब्ध हुए हैं। इन लब्धियो मे हम सहज निगमन कर सकते हैं कि अहिच्छत्र एव श्रावस्ती भुक्ति हर्ष के साम्राज्य के अग थे।

'हर्षचरित' मे बाणभट्ट ने हर्ष को थानेश्वर एव समीपवर्ती स्थानो का सम्राट माना है। अतएव थानेश्वर भी हर्ष के साम्राज्य का भाग था।

ह्वेनसाग ने जिन शब्दो मे प्रयाग की मोक्ष परिषद् का वर्णन किया है, वह भी यही निर्दिष्ट करता है कि प्रयाग हर्ष के साम्राज्य का ही एक भाग था। ह्वेनसाग ने हर्ष को कान्यकुब्ज (कन्नौज) का नरेश माना है। इस प्रकार कन्नौज का समीपवर्ती भाग भी उसके अधीन था।

हेलो ने ह्वेनसाग की जीवनी में हर्ष को 'मगध' का भी शासक स्वीकार किया है।

इस प्रकार इन विवरणो से, जिन्हें हम स्पष्ट विवरण की सज्ञा दे सकते हैं हमें हर्ष के उपर्युक्त साम्राज्य का पता चलता है। अब हम उन तथ्यो का अध्ययन करेंगे जो परोक्ष रूप से हर्ष के साम्राज्य के विस्तार पर निर्देश करते हैं।

ह्वेनसांग ने चीनी पुहुती से लेकर मगध तक के राज्यों की राजनैतिक स्थिति के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। उसने केवल ६ राज्यों की स्थिति के विषय में हमें बताया है। यात्री के इस मौन धारण का स्पष्ट कोई कारण है। उसने स्वेच्छा एवं किसी भावना से प्रेरित होकर इन राज्यों की राजनैतिक स्थिति का उल्लेख नहीं किया है। निर्दिष्ट ६ राज्य इस प्रकार हैं—कन्नौज, पारियात्र, मनिपुर, सुवर्णगोग, कपिलवस्तु, नेपाल।

इन ६ राज्यों में से पारियात्र, सुवर्णगोग तथा नेपाल उसकी साम्राज्य की सीमा के स्वतंत्र राज्य थे। शेष ३ राज्य कन्नौज, कपिलवस्तु एवं मनिपुर हर्ष के साम्राज्य के अंग थे। जिन राज्यों की स्थिति के विषय में यात्री ने मौन धारण किया है, वे राज्य निश्चित रूप में हर्ष के शासन के अन्तर्गत थे। श्री गौरीशंकर चटर्जी ने इन नकारात्मक प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकाला है। श्री चटर्जी का यह मत उचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि हर्ष के साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों की स्थिति का वर्णन करना उसने उचित न समझा होगा, क्योंकि इससे उसे बारम्बार हर्ष के आधिपत्य को निर्दिष्ट करना पड़ता है। दूसरी बात यह कि उसके लिए तो यह सब प्रदेश एक ही साम्राज्य के अंग थे, अतएव उनकी राजनैतिक स्थिति के वर्णन के लिए उसे उतनी उत्सुकता नहीं थी। जिन राज्यों की राजनैतिक स्थिति के विषय में वह मौन है, उनकी संख्या १९ है। ये १९ स्थान हर्ष के ही साम्राज्य में थे।

(१) मथुरा
(२) स्थानेश्वर
(३) श्रुघ्न—वर्तमान सुघगाव (कनिंघम की एकात्मकता)
(४) पो-लो हिमो-पु लो (ब्रह्मपुर)
(५) कु पी-सग-न (गोविन्दशान) —वर्तमान रामपुर एवं पीलीभीत जिले
(६) ओ हि चि-ता लो (अहिच्छत्र)—रुहेलखंड का पूर्वी भाग
(७) पिलो शन-ना-काली नदी के तट पर स्थित अतरंजीखेरा
(८) कपित्थ या साकश्य—आधुनिक संकिस्स
(९) अयुते—आधुनिक अयोध्या
(१०) अ ए-मु-क-अयोमुख या हयमुख—वर्तमान डाडियाखेरा गंगा के उत्तरी तट पर
(११) प्रयाग
(१२) कौशाम्बी—कोसमगाँव
(१३) विशोक
(१४) शि-लो फा सि ति (श्रावस्ती)—बस्ती जिले में वर्तमान सहेत महेत
(१५) राम या रामग्राम—नेपाल की तराई में
(१६) कुशीनगर—आधुनिक कसिया
(१७) पो-लो-ना-सी—आधुनिक वाराणसी
(१८) फे शे-ली (वैशाली)—आधुनिक बसाढ (मुजफ्फरपुर में)
(१९) फु-ली चिह (वज्जियों का देश)

इस प्रकार ह्वेनसांग के स्पष्ट कथनों से हर्ष निश्चित रूप से उत्तर भारत के एक सीमित क्षेत्र का शासक था। जब ऐसी स्थिति है तो इतिहासकारों ने उसे भारत का महान् सम्राट कैसे कहा इसके लिए बाणभट्ट ने अपनी पुस्तक 'हर्षचरित' में

अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में मुक्त कंठ से अतिशयोक्तियाँ प्रयुक्त की हैं। इन अलंकारों से बोझिल कलितामयी गद्य ने हर्ष को चारों सागरों का विधाता बना दिया है। देखिए एक उदाहरण—

'देवस्यचतु समुद्राधिपते सकल राज चक्रचूडामणिश्रेणी शाणकोणकषण निर्मलीकृत चरणनखमण सर्वचक्रवर्तिना धौरेस्य महाराजाधि राजपरमेश्वर श्रीहर्षस्य।"

× × ×

"चतुरुदधि केदार कुटुंबी भोक्ता ब्रह्मस्तम्बफलस्य सकलादि—राज चरितजय ज्येष्ठमल्लो देव परमेश्वरो हर्ष।"

परमेश्वर हर्ष की सर्वशक्ति-सम्पन्नता तो उस समय अधिक प्रस्फुटित होती है जब सम्राट् के सामन्त सम्राट से दिग्विजय के लिए उत्साहित करते हैं। वे उन्हें दश देशान्तरों की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करते हैं। देखिए—

"किम्कुरुतुरुष्क विषय प्रादेश पारसीकदेश शशपद शकस्थानम्, अदृश्यमानप्रति प्रहारे पारियात्रं भामव शिथिला, शौम्य शुल्क सुलभ दक्षिणापथ।"

शब्दाडम्बरों से भरी पूरी संस्कृत प्रशस्तिकार की इन पंक्तियों ने एक छोटे से नरेश को चक्रवर्ती सम्राट तक बना दिया। हर्ष अपने बाहुबल से जो काम नहीं कर पाया था, वही बाणभट्ट ने अपनी रसमयी पंक्तियों से कर दिया। लेकिन सत्यता का फिर से प्रस्थान हो रहा है। बाणभट्ट का जादुई चमत्कार अब शिथिल पड़ रहा है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि किसी दिन हर्ष का नाम भी भारत के अन्य छोटे-मोटे नरेशों में गिना जायगा। उन इतिहासकारों के मत बिल्कुल कट जायेंगे, वे एक प्राचीन जमाने के सिद्धांत बन कर रह जायेंगे और जिन्होंने हर्ष के विषय में ऊँचे-ऊँचे विचार व्यक्त किए थे, वे सब संग्रहालय में शोभा की वस्तुएँ बन जायेंगी। 'Advanced History of India' के लेखकगण दत्ता, रायचौधरी ने हर्ष के विषय में लिखा था—

"He was undoubtedly one of the greatest kings of Ancient India."

एक अन्य इतिहासकार ने तो उसे हिन्दूकाल का अकबर मान लिया था। इन भ्रान्त विचारों पर से पर्दे हट रहे हैं। हर्ष का साम्राज्य पंजाब के कुछ भाग में, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के कुछ भाग में फैला हुआ था। यही एक युक्तिसंगत निगमन किया जा सकता है।

कन्नौज की परिषद—अब तक हमने हर्ष के राजनीतिक जीवन का दिग्दर्शन किया। अब उसके सामाजिक एवं धार्मिक जीवन पर विचार किया जायगा, जिससे उसके व्यक्तित्व की पूर्ण रूपरेखा हमारे सम्मुख उपस्थित हो सके। हर्ष कितना विद्यानुरागी था और उसमें तत्व ज्ञान-सम्बन्धी जिज्ञासा कितनी प्रबल थी, इसका पहला उदाहरण हम कन्नौज की परिषद से प्राप्त होता है जिसका आयोजन उसने चीनी यात्री ह्वेनसांग के सम्मानार्थ किया था। उसने यात्री से कहा— "मैं कान्यकुब्ज में एक विशाल सभा करने की इच्छा करता हूँ और महायान की विशेषताओं को दिखाने तथा चित्त के भ्रम का निवारण करने के लिए श्रमणों ब्राह्मणों तथा पंचगौड़ के बौद्ध धर्मेतर मतावलम्बियों को आज्ञा देता हूँ कि वे आकर उसमें सम्मिलित हों, जिससे उनका अहंभाव दूर हो जाय और वे प्रभु के महान् गुण को समझ सकें।"[1]

---

१ जीवनी, पृ० १७६

फरवरी, ६४३ ई० में कन्नौज की परिषद् की बैठक हुई जिसमे १८ देशो के राजा, तीन हजार श्रमण (महायान तथा हीनयान), तीन सहस्र ब्राह्मण एवं निग्रन्थ अर्थात् जैन तथा नालन्दा मठ के एक हजार पुरोहितों ने भाग लिया। अर्थात, तत्कालीन समस्त प्रधान धर्मों के प्रतिनिधि सभा मे सम्मिलित हुए जिन्हें घास फूस के शिविरो मे ठहराया गया। दो सहस्र व्यक्तियो के बैठने के लिए निर्मित सभा भवन में बौद्ध मूर्ति के लिए सिंहासन बना था। धार्मिक परिषद् के विधिवत उदघाटन के पश्चात उक्त मूर्ति (जिसे मिए सी० यू० की० राजा की कद के बराबर तथा कुछ विद्वान् तीन फुट ऊँची बताते हैं) को हाथी पर रखकर हाथियो पर शानदार जुलूस निकाला गया। जुलूस सभा भवन मे पहुँचा। मूर्ति को सिंहासन पर प्रतिष्ठित करके उस पर चढ़ावे चढ़ाये गये। तत्पश्चात् एक सहस्र चुने हुए विद्वान पुरोहित, पाँच सौ चुने हुए ब्राह्मण तथा बौद्धेतर धर्मावलम्बी और विभिन्न देशो से आये हुए दो सौ बड़े-बड़े मन्त्रियो को सभा भवन में प्रवेश कराया गया, अन्य लोग बाहर रक्खे गये।

ह्वेनसांग को वाद विवाद का अध्यक्ष बनाया गया जिसने सर्वप्रथम महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की प्रशंसा की। तब उसने वाद विवाद के विषय को घोषित किया और बौद्ध धर्म सम्बन्धी अध्ययन मे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त नालन्दा के एक श्रमण को श्रोता समुदाय के सम्मुख तर्कपूर्ण ढंग से विषय का समर्थन करने का आदेश दिया। वाद विवाद का विषय सभा भवन के फाटक पर तख्ती लगाकर सूचित कर दिया गया जिस पर निम्नलिखित शब्दो मे सार्वजनिक चुनौती दी गई—

"यदि कोई व्यक्ति प्रस्ताव में एक शब्द भी तर्क विरुद्ध बताये अथवा उसमें उलझन पैदा कर दे तो मैं विपक्ष के अनुरोध से उसके बदले अपना सिर कटाने को प्रस्तुत हूँ।"[1]

डॉ० स्मिथ का मत है कि उक्त वाद विवाद एक तरफा था उसकी शर्तें न्याय संगत न थी। हर्ष इस पर तुला हुआ था कि उसका कृपापात्र ह्वेनसांग पराजित न होने पाये, भला ऐसी दशा में कौन विपक्ष में बोलता।[2]

स्मिथ महोदय के मत में काफी सत्यता है, क्योकि हम देखते है कि इसकी प्रतिक्रिया विपक्षियो पर हुई और उन्होंने ह्वेनसांग की हत्या का षडयन्त्र किया। जब हर्ष को इस षडयन्त्र का बोध हुआ तो उसने घोषणा कर दी कि "यदि कोई व्यक्ति धर्माचार्य को स्पर्श करेगा अथवा चोट पहुंचायेगा तो उसे प्राणदण्ड दिया जायगा और जो उनके विरुद्ध कोई शब्द कहेगा, उसकी जिह्वा काट ली जायगी, किन्तु जो लोग उनके उपदेशो से लाभान्वित होना चाहते हैं, वे सब मेरी सत्कामना पर विश्वास रक्खें और इस घोषणा-पत्र से भयभीत न हों।"[3]

१८ दिन यों ही बीत गये और किसी भी भारतीय विद्वान को विपक्ष में बोलने का साहस नहीं हुआ, क्योंकि ह्वेनसांग को चुनौती दी जा सकती थी, पर हर्ष की शक्ति को चुनौती देना असम्भव था। अन्त में ह्वेनसांग ने महायान सम्प्रदाय की दिल खोलकर प्रशंसा की और सभा भंग हो गई। ह्वेनसांग की इस विजय के उपलक्ष मे

---

१ स्मिथ, *Early History of India*, p 361
२ जीवनी, पृ० १७६
३ जीवनी, पृ० १८०

नगर मे उसका एक शानदार जुलूस निकाला गया और यह घोषित कर दिया गया कि उसने समस्त विरोधियों को पराजित करके महायान सम्प्रदाय की सत्यता तथा हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियो के भ्रम को सिद्ध कर दिया है।

सी० यू० की० के कथनानुसार ह्वेनसांग की हत्या के लिए कोई षडयन्त्र नहीं किया गया था प्रत्युत स्वयं हर्ष की हत्या के लिए षडयन्त्र रचा गया था। धार्मिक सभा के लिए जिस स्थायी मठ का निर्माण किया गया था उसमें एक दिन सहसा आग लग गई और जब अग्निकाण्ड को देखने अन्य राजाओ के साथ हर्ष बुर्ज के शिखर पर गया तो सीढ़ी से उतरते समय एक विधर्मी ने छुरा से उसके ऊपर आक्रमण किया, किन्तु उसे पकड़ लिया गया। उसने जो कुछ बताया उससे ज्ञात होता है कि विधर्मियो ने हर्ष की धार्मिक नीति से असन्तुष्ट होकर उसकी (हर्ष की) हत्या के लिये उसे नियुक्त किया था। हर्ष ने षडयन्त्र के मुख्य नेताओ को प्राणदण्ड दिया और ५०० ब्राह्मणो को निर्वासित किया।

ब्राह्मण धर्म की उपेक्षा निश्चय ही हर्ष ने अत्यधिक की होगी, तभी ब्राह्मणो ने हर्ष जैसे सम्राट के विरुद्ध विद्रोह किया। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि हर्ष या ह्वेनसांग की हत्या-सम्बन्धी उक्त षडयन्त्र के विषय मे अन्य साक्ष्य मौन हैं अत यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इसमे कितनी सत्यता है।

प्रयाग का धार्मिक सम्मेलन—पौराणिक काल से ही तीर्थराज प्रयाग दान वितरण का प्रधान क्षेत्र माना जाता है। आज भी कुम्भ पर्व के अवसर पर गंगा-यमुना के संगम पर दान वितरण की यह परम्परा चली आ रही है, किन्तु प्रारम्भ मे कुम्भ पर्व का मान था। इसे मेले का रूप देने का श्रेय हम हर्ष को ही दे सकते हैं। हर्ष हर पाँचवें वर्ष प्रयाग मे आकर समस्त धर्मावलम्बियो को आमन्त्रित करके साधु-सन्यासियो, श्रमण ब्राह्मण, निग्रन्थ निधन आदि को दान देता था, यद्यपि इस प्रकार के अधिवेशन का सर्वप्रथम विवरण चीनी यात्री ह्वेनसांग के लेख से प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने लगभग ६४३–६४४ ई० मे प्रयाग मे पंचवर्षीय दान-वितरण का आयोजन किया था तथापि स्वयं हर्ष ने इसे छठा अधिवेशन स्वीकार किया है। इससे यह विदित होता है कि इसके पूर्व भी पाँच ऐसे अधिवेशन हो चुके थे, किन्तु सामग्रियो के अभाव मे उनके सम्बन्ध मे हम कुछ नही जानते।

हर्षवर्द्धन ने चीनी यात्री ह्वेनसांग को प्रयाग-अधिवेशन मे सम्मिलित होने को कहा। यद्यपि यात्री को स्वदेश लौटने की जल्दी थी तथापि प्रयाग का आकर्षण अपेक्षाकृत प्रबल निकला और यात्री को प्रयाग आना पड़ा। प्रयाग अधिवेशन तथा हर्षवर्द्धन के महादान पर यात्री का निम्न विवरण पर्याप्त प्रकाश डालता है—

"प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि राजे महाराजे तथा अन्य धनीमानी व्यक्ति जब यहाँ (प्रयाग) आते हैं तो वे अपना सम्पूर्ण धन दान के रूप मे दे डालते हैं। महाराज हर्षवर्द्धन ने भी अपने पूर्वजो का अनुसरण करते हुए पाँच वर्ष का संचित कोष एक दिन मे वितरित कर दिया ।प्रथम दिवस हर्ष ने भगवान बुद्ध की एक मूर्ति बनवाकर अपने सम्पूर्ण बहुमूल्य रत्न उस पर चढ़ा दिये और तत्पश्चात् वहाँ के रहने वाले पुजारियो को उन्होंने वह सब दान कर दिया। इसके बाद उन पुजारियो को भी दान दिया गया जो बाहर से आकर वहाँ रुके थे। हर्ष ने विद्यार्थियो, विधवाओ, अनाथो और दीन-दुखियो को भी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति मे से हिस्सा दिया। जब उनके पास कुछ भी शेष न रहा, तब उन्होंने अपना रत्नजटित मुकुट और मुक्ता-हार भी उतार कर दान कर दिया।"

अन्त मे अपनी निर्धनता के चिह्नस्वरूप हर्ष ने अपनी बहन राज्यश्री से जीर्ण-शीर्ण वस्त्र लेकर उसे धारण किया। यह सब कुछ कर लेने के पश्चात् हर्ष को यह प्रसन्नता थी कि उसने अपनी समस्त सम्पत्ति पुण्य खाते मे लगा दी है और भगवान बुद्ध का 'दसबल' प्राप्त करने के लिए उसने मार्ग प्रशस्त कर लिया है।[1]

अधिवेशन समाप्त होने के पश्चात ही ह्वेनसांग ने चीन को प्रस्थान किया। हर्ष का आदेश पाकर जालंधर के राजा उदित ने उसके साथ एक रक्षक दल नियुक्त किया और स्वयं हर्ष उसे दूर तक विदा करने गये।

हर्ष की मृत्यु—जीवन के अन्तिम तीन चार वर्षों मे हर्ष की क्या अवस्था थी, इस सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान सामग्रियो के अभाव मे स्वल्प है। वाटर्स के अनुसार "हर्ष पुण्य का वृक्ष आरोपित करने की चेष्टा मे इतना संलग्न था कि अपना सोना-खाना भी भूल गया,"[2] और सम्भवत इसी पुण्य कार्य में उसके अन्तिम दिन बीत गये होंगे। हर्ष के शब्दो में ही "ईश्वर करे कि मैं आगामी जन्म-जन्मान्तरो मे सदा इसी प्रकार अपने धन भण्डार को मानव जाति को धार्मिक रीति से दान करता रहूँ और इस प्रकार अपने को बुद्ध के दसबलो से सम्पन्न कर लूं।"[3] प्रयाग के महादान के पश्चात हर्ष ने ये वाक्य कहे थे। इन समस्त प्रमाणो के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि धार्मिक कृत्यो मे ही हर्ष के अंतिम दिन बीते होंगे। ६४६ ई० के अन्तिम दिनो मे अथवा ६४७ ई० के प्रारम्भ मे हर्ष की मृत्यु हो गई।[4]

हर्ष का शासन-प्रबन्ध

हर्ष के शासन प्रबन्ध पर हमें गुप्त शासन प्रबन्ध की स्पष्ट छाप दिखाई पडती है। गुप्त शासन प्रणाली इतनी सुव्यवस्थित एवं सुसगठित थी कि उसका अनुकरण अनेक परवर्ती राज्यो ने किया।

राजा का स्थान—शासन-प्रबन्ध मे राजा का सर्वोच्च स्थान था। उसे 'परम-भट्टारक', 'परमेश्वर', 'परम देवता', 'महाराजाधिराज' आदि की उपाधियाँ प्राप्त थी। शासन प्रबन्ध मे सक्रिय भाग लेकर राजा राज्य के सभी उच्च पदाधिकारियो की नियुक्ति करता था, आज्ञा पत्र एव घोषणा पत्र निकालता था, न्यायाधीश का काम करता था, युद्ध मे सेना का नेतृत्व भी करता था। हर्ष "अधिक परिश्रमी था और दिन का विस्तार उसके कार्य के लिए सर्वथा स्वल्प था।"[5] इन कार्यों के अतिरिक्त हर्ष का शासन सम्बन्धी अधिक महत्वपूर्ण कार्य जनता के सुख दुख का अनुसंधान द्वारा पर्यवेक्षण करना था। ह्वेनसांग हमें बताता है कि शीलादित्य ने अपनी पूर्वी यात्रा के सिलसिले मे किस प्रकार कजंगल (राजमहल) मे दरबार किया। 'जयस्कन्धावार' मे अनुसंधान के समय हर्ष रुका करता था। बंसखेरा तथा मधुबन के लेखो मे क्रमश वर्धमान कोटी तथा कपित्थक (संकाश्य) के जयस्कन्धावारो का उल्लेख मिलता है।

---

१ जीवनी, पृ० १८७
२ वाटर्स, जिल्द १, पृ० ३४४
३ जीवनी, पृ० १८७
४ स्मिथ, *Early History of India*, p 366
५ वाटर्स, जिल्द १, पृ० ३४३

बाण भी हर्ष से सर्वप्रथम अजिरावती नदी के तट पर मणितारा के जयस्कन्धावार म ही मिला था।

पदाधिकारी—राजा को उचित मन्त्रणा देने के लिए मन्त्री थे जिन्हे सचिव अथवा अमात्य कहा जाता था। हर्ष का प्रधान सचिव सम्भवत अवन्ति था। सिहनाद उसका सेनापति था। उनका ममेरा भाई भाडी और सधिविग्रहिक अवति था। सिंहनाद उसका सेनापति था। स्कन्दगुप्त हर्ष का दूसरा योग्य मन्त्री था जो गजसेना का सेनापति था। हर्ष के लेखा म स्कन्दगुप्त को 'महासामन्त और 'महाप्रमातार कहा गया है। अश्वारोही सेना का सेनापति कुतल था। सेना के कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे। बसाढ की एक मुहर म रण भडागार-विभाग (रणभाडागाराधिकरण) का उल्लेख किया गया है। दानपत्रा पर भी हर्ष के पदाधिकारियो की सूची प्राप्त होती है। वह इस प्रकार है—दौस्साधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय कुमारामात्य, उपरिक तथा विषयपति। इन पदाधिकारियो के कार्यों का सक्षिप्त परिचय अथवा दौस्साधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय आदि शब्दो के अर्थ पर आगे प्रकाश डाला जायगा। दानपत्रो म दूतक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। लेखक नामक पदाधिकारी का भी इन दानपत्रो म उल्लेख किया गया है। इसे कही कही दीवर भी कहा गया है। अनेक दीवरो के ऊपर एक दीवर पति होता था।

गृह शासन—डा० रमाशकर त्रिपाठी ने उपर्युक्त पदाधिकारियो म स अधि काश के कार्यों का परिचय दिया है जिसके आधार पर हम गृह शासन-सम्बन्धी अधि कारिया का सक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे हैं।

जैसा कि प्रारम्भ म ही कहा गया है राज-काज म राजा को मन्त्रणा देने के लिए मन्त्री थ जिनकी सम्भवत कोई परिषद रही। इन मन्त्रियो का शासन मे काफी महत्त्वपूर्ण हाथ था। ह्वेनसाग के कथनानुसार पोनी के नेतृत्व मे कन्नौज के मन्त्रिया तथा राजनीतिज्ञो ने हर्ष को कन्नौज का राजमुकुट प्रदान किया था।[1] ह्वेनसाग के ह विवरण से हमे यह ज्ञात होता है कि राज्य के पदाधिकारियो का शासन में महत्त्वपूर्ण हाथ था और देश का स्वामित्व अधिकारिया क हाथ म था।[2]

साम्राज्य की विशालता तथा यातायात के सीमित साधनो के कारण विविध प्रान्तो के समुचित शासन के लिए साम्राज्य म अनेक शासन-केन्द्रो का निर्माण किया गया था। त्रिपाठी महोदय न कुछ सैन्य तथा गृह विभाग के पदाधिकारियो की तालिका इस प्रकार दी है—

'महासंधिविग्रहाधिकृत (युद्ध और शान्ति सचिव), महाबलाधिकृत (सर्वोपरि सेनाध्यक्ष), सेनापति बृहदश्ववार (अश्वसेनाध्यक्ष) कटुक (गजसेनाध्यक्ष) चाट भट (नियत और अनियत अथवा वैतनिक तथा अवैतनिक सैनिक) दूत राजस्था नीय (परराष्ट्रमन्त्री अथवा वाइसराय), उपरिक महाराज (प्रान्तीय शासक) आयुक्त (साधारण अधिकारी) मीमासक (न्यायाधीश) महाप्रतिहार (कचुकी अथवा राजप्रासाद का रक्षक), भोगिक अथवा भोगपति (उपज का राजकीय भाग ग्रहण करने वाला) दीर्घ द्रुग (तीव्रगामी सवादक) अक्षपटलिक (रेकार्ड क्लर्क) अध्यक्ष (विविध विभागो के अध्यक्ष), लेखक करणिक (क्लर्क) सेवक आदि।

---

१ बील, १, पृ० २१०–११, वाटर्स १, पृ० ३४३
२ बील, १, पृ० २१०

प्रान्तीय शासन—प्रान्तों को भुक्ति अथवा देश कहते थे। प्रत्येक प्रान्त को जिलों में बाँटा गया था, जिन्हें प्रदेश अथवा विषय कहते थे। प्रान्तीय शासक को प्रान्त 'भुक्ति' कहते थे। 'पथक' वर्तमान तहसील की ही भाँति एक छोटा भूभाग था। भुक्तियों पर उपरिक महाराज का शासन रहता था। यह राजकुमार होता था। सीमान्त प्रदेश के शासकों को सम्भवतः गोप्ता कहा जाता था। जिले के शासक विषयपति की नियुक्ति प्रान्तीय शासक करते थे। 'अधिष्ठानों' में विषयपति के केन्द्र होते थे जहाँ उनके अधिकरण (न्यायालय तथा कार्यालय) होते थे। बसाढ की मुहर में कुछ अधिकरणों का उल्लेख किया गया है।

प्रान्तीय शासकों तथा जिले के शासकों की सहायता के लिये दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दण्डपाशिक आदि पुलिस के कर्मचारियों की भी व्यवस्था की गई थी।

ग्राम शासन—ग्राम अब भी शासन की न्यूनतम इकाई था। 'महत्तर' नामक पदाधिकारी का उल्लेख ग्राम के अधिकारियों में मिलता है जो सम्भवतः गाँव के सब मामलों की देखभाल करता था किन्तु यह राज्य की ओर से वैतनिक पदाधिकारी अथवा ग्राम का सम्मानित व्यक्ति होता था इस सम्बन्ध में हम कुछ भी ज्ञात नहीं है। बाण 'आग्रहारिक' नामक किसी पदाधिकारी का उल्लेख करता है जो सम्भवतः दान दी गई भूमि का प्रबन्धक था।

ग्रामिक तथा अष्टकुलाधिकरण ही ग्राम शासन के प्रमुख पदाधिकारी थे। ग्रामिक सम्भवतः गाँव का मुखिया होता था। अष्टकुलाधिकरण को डा० बसाक ने छोटे-छोटे विभाग बताये हैं जिनको आठ कुलों का निरीक्षण करने का अधिकार दिया गया था। डॉ० मुकर्जी के मत में कुलों से तात्पर्य या तो उसी नाम के विशेष से है, अथवा कुटुम्बों से आधुनिक पटवारी के स्थान पर उन दिनों 'अक्षपटलिक' नामक पदाधिकारी होता था।

दण्ड विधान—फौजदारी का शासन अत्यन्त कठोर था। 'राजद्रोह के लिए आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था।' सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल आचरण करने, माता पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा विश्वासघात करने पर अंग भंग (एक नाक, एक कान, एक हाथ या एक पैर का) कर दिया जाता था। देश-निर्वासन तक भी दण्ड दिया जाता था। अन्य अपराधों में जुर्माना किया जाता था।[1] जल, अग्नि तुला तथा विष द्वारा अपराधी की परीक्षा भी ली जाने की प्रथा प्रचलित थी। वाटस महोदय ने उक्त प्रकार की परीक्षाओं का पूर्ण वृत्तान्त दिया है। इन्हें अपराध-परीक्षा न मानकर सीधे दण्ड माना जाय तो अधिक उचित हो, क्योंकि जल में अपराधी को बोरे में कसकर डालकर (साथ ही पत्थर भरा हुआ एक दूसरा बोरा पानी में डाल कर) यह आशा करना कि अपराधी यदि वास्तव में अपराधी नहीं है तो वह नहीं डूबेगा कोरा भ्रम है। इसी प्रकार तप्त लोहे को जीभ से चाटकर या उस पर बैठाकर साफ बच जाने की कल्पना करना कहाँ तक उचित है। विषपान कराकर यह आशा करना कि यदि वह अपराधी न होगा तो बच जायगा, तर्कसंगत नहीं। मानवीय दृष्टिकोण से तो यह सर्वथा अनैतिक है। किन्तु उक्त दण्ड विधान प्रयोग में कहाँ तक लाया जाता था, इस पर हमें कुछ सन्देह है।

दण्ड की कठोरता का उल्लेख हमें लाक्षणिक रूप में बाण की कादम्बरी में

१ वाटस जिल्द १, पृ० १७२

प्राप्त होता है, किन्तु श्लेष में होने के कारण स्पष्ट भाव पर हल्का आवरण-सा पड़ गया है।[1]

हर्ष के समय मे दण्ड-विधान निश्चय ही कठोर था और उसका प्रतिफल यह था कि अपराधो की सख्या कम थी,[2] किन्तु इसका यह अभिप्राय नही की सम्पूर्ण राज्य में कहीं भी कोई अरक्षित स्थान था।

"एक बार पजाब में चेनाब नदी को पार करने और शाकल नगर को छोड़ने के पश्चात् वह (ह्व नसांग) पलाश के वन मे से होकर गुजरा। वहाँ पचास डाकुओ के एक दल ने उस पर आक्रमण कर दिया, वस्त्रादि सब कुछ लूट लिया और हाथ में तलवार लेकर उसका पीछा किया। अन्त मे एक ब्राह्मण ने जो खेत जोत रहा था, उसकी रक्षा की। उसने पुकारकर ८० हथियार-बन्द आदमियो को एकत्रित किया।"
—जीवनी, पृ० ७३

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण 'जीवनी' मे प्राप्त होता है। अयोध्या छोड़ने के पश्चात् गगा की जलयात्रा करते समय राजधानी से कुछ दूरी पर डाकुओं ने उसे कैद कर लिया और दुर्गा के उपासक होने के नाते ह्व नसांग को बलि देने के अभिप्राय से ले चले। सौभाग्यवश एक भयकर तूफान आया और डाकू ह्व नसांग को छोड़ कर भाग गये।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय मे फाह्यान को भारत की यात्रा म किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था, पर ह्व नसाग को जल तथा स्थल दोनों मार्गों में डाकू मिले। यह शासन की ढिलाई का सबसे बड़ा प्रमाण है और इसीलिए डॉ० मुकर्जी का मत है कि हर्ष का शासन प्रबन्ध गुप्त-नरेशो के शासन प्रबन्ध की तुलना नही कर सकता।[3] मुकर्जी का मत बिल्कुल तर्कसगत है।

सेना—प्रारम्भ मे सैनिक पदाधिकारियो की सूची दी गई है। यहाँ सैन्य शक्ति पर भी प्रकाश डाल देना आवश्यक है। हर्ष की सेना के सम्बन्ध मे ह्व नसांग लिखता है, "अपने राज्य की सीमायें बढ़ाकर उसने अपनी सेना की सख्या-वृद्धि की, गज-सेना की सख्या बढ़ाकर ६०,००० और अश्व सेना की १००,००० कर दी।[4]

आय के स्रोत—आय के निम्नलिखित सामान्य स्रोत थे—

(१) उद्र ग (एक प्रकार का भूमि कर) (२) उपरिकर (नियमित कर के अतिरिक्त कर), (३) वात (?), (४) भूत (?), (५) धान्य, (६) हिरण्य (सोना), (७) आदय आदि।

उपयुक्त करो के अतिरिक्त दूध, फल, चरागाह तथा खनिजो पर भी कर लगाया जाता था। अनाज की मण्डियो मे बिकी हुई वस्तुओ के नाप-तौल के आधार पर निर्धारित कर-सग्रह किया जाता था। घाटो पर भी कर लगाया जाता था। जुर्माना से भी अच्छी आय हो जाती थी। भूमि उपज का छठा भाग कर के रूप मे लिया जाता था।

---

१ यस्मिश्च राजनि धनकारिणो वारि प्रवेश प्रतिनामग्निधारणप्रहाणो तुला रोहण अगस्त्योदये विषशुद्धि—कादम्बरी।

२ "शासन का काम सचाई से किया जाता है और लोग परस्पर मिल कर रहते हैं, अत अपराधियों की सख्या कम है।"—वाटस, जिल्द १, पृ० १७१

३ देखिये डॉ० मुकर्जी का 'हर्ष', पृ० ६८

४ वाटस १, पृ० ३४३, बील, १, २१३

व्यय का उपादान—राजकीय आय को बडी उदारता से व्यय किया जाता था। वाटस ने लिखा है, "राजकीय आय के चार भाग थे—एक भाग राज्य की ओर से की जानेवाली पूजा-उपासना तथा सरकारी कामो में व्यय होता था। दूसरे भाग से बडे-बडे सार्वजनिक कर्मचारियो की धन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी। तीसरा भाग प्रकाण्ड विद्वानो को पुरस्कार देने के निमित्त था। चौथा भाग विभिन्न सम्प्रदायो को दान देकर पुण्यार्जन करने के लिये था।'[1]

हर्ष का व्यक्तित्व

हर्ष के प्रमुख कार्यों के पश्चात् उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण करने मे हमे किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नही करना पडता है। यहाँ हम उसके धार्मिक विचारो, धार्मिक नीति, साहित्यिक प्रवृत्ति आदि पर प्रकाश डालेंगे।

हर्ष का धर्म—पुष्यभूति शिव का उपासक था, प्रभाकर वर्द्धन तथा उसका पिता आदित्यवर्द्धन सूर्योपासक थे। राज्यवर्द्धन तथा राज्यश्री बौद्ध थे। बाण के कथनानुसार हर्ष 'दिग्विजय' के समय नीललोहित (शिव) का उपासक था। बसखेरा अभिलेख (६२८ ई०) तथा मधुवनलेख (६३१ ई०) हर्ष को क्रमश परममाहेश्वर-उपाधियुक्त तथा माहेश्वर का उपासक बताते हैं। कालान्तर मे हर्ष बौद्ध मतावलम्बी हो गया, प्रारम्भ मे सम्भवत हीनयान सम्प्रदाय मे था और तत्पश्चात् ह्वेनसाग के सम्पर्क मे आकर महायान सम्प्रदाय का समर्थक हो गया।

धार्मिक नीति—हर्ष की धार्मिक नीति के सम्बन्ध मे ह्वेनसाग का विवरण काफी महत्त्वपूर्ण है। यात्री लिखता है— 'उसने (हर्ष ने) पचभारत (पचगौड) मे मासाहार बन्द कर दिया तथा जीवो को कठोर शारीरिक दण्ड देने की मनाही कर दी। उसने गगा-तट पर हजारो स्तूपो का निर्माण करवाया अपने सम्पूर्ण राज्य मे यात्रियो के लिये विश्रामगृह बनवाया तथा पवित्र बौद्धस्थानो मे विहारो की स्थापना करवाई। वह नियमित रूप से पचवर्षीय दान वितरण का आयोजन करता और धर्म के निमित्त अस्त्र शस्त्रो के अतिरिक्त अपना सर्वस्व दान देता था। वह प्रतिदिन १०० बौद्ध भिक्षु तथा ५०० ब्राह्मणो को भोजन देता था। राजा का दिन तीन भागो मे विभक्त था जिसमें एक भाग राज काज के लिये तथा शेष दो धार्मिक कार्यों के लिये निर्धारित था।"[2]

ह्वेनसाग के उक्त विवरण को तथा उसके अन्य विवरणो को जिसमे वह हर्ष को धार्मिक वाद विवादो मे सलग्न बताता है, ज्यो का त्यो ग्रहण करना अथवा उससे यह निष्कर्ष निकालना कि हर्ष में तत्त्व ज्ञान की महान जिज्ञासा थी उचित नही है। हर्ष ने यात्री के सम्मान मे ही वाद विवाद का आयोजन किया था और उसमे (कन्नौज की परिषद् मे) उसने जो पक्षपात किया, वह बिल्कुल स्पष्ट है। ब्राह्मणो तथा अन्य धर्मावलम्बियों को भी वह दान देता था, इससे उसकी दानशीलता का तो बोध होता है किन्तु धार्मिक सहिष्णुता की पराकाष्ठा का नही। वास्तविकता तो यह थी कि वह लगभग सभी धर्मों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था पर बौद्ध धर्म (महायान

१ वाटस, जिल्द १ पृ० १७६
२ वही, पृ० ३४४

सम्प्रदाय) को विशेष प्रश्रय देता था। ब्राह्मणो द्वारा किये गये षड्यत्रो,[1] और उनके इस कथन से कि षड्यत्र का कारण यह है कि राजा बौद्ध धर्मावलम्बियो पर विशेष कृपा रखते हैं हमे हर्ष की धार्मिक सहिष्णुता मे कुछ सन्देह होने लगता है किन्तु, यह षडयत्र या तो कुछ प्रतिक्रियावादियो के मस्तिष्क का प्रमाद हो सकता है। अथवा स्वय यह षड्यत्र ही किसी मस्तिष्क की काल्पनिक उपज रहा होगा। वास्तविकता जो भी हो, केवल इस आधार पर हर्ष की धार्मिक नीति की कटु आलोचना करना तर्कसगत नही है और जैसा कि श्री मजूमदार महोदय का अनुमान है कि स्वय बौद्ध धर्म की हीनयान शाखावालो ने यह षडयत्र यात्री की हत्या के सम्बन्ध मे किया था, इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हर्ष से सभी बौद्ध धर्मावलम्बी भी प्रसन्न न थे, क्योकि उन्होने उसके कृपापात्र ह्वेनसाग की हत्या के लिये षड्यत्र रचा था।

हर्ष की साहित्यिक अभिरुचि—हर्ष साहित्य प्रेमी भी था। इसका सबसे बडा प्रमाण तो यह है कि उसने बाण को राज्याश्रय प्रदान किया था। इत्सिग के कथनानुसार हर्ष ने कवियों को अपने दरबार मे रचनायें करने को कहा था और उसके सकलन का नाम 'जातकमाला' रखखा गया। हर्ष के विशेष कृपा पात्र बाण ने हर्ष-चरित' के अतिरिक्त 'कादम्बरी' जसी अमर रचना की। कुछ विद्वानो का यह मत है कि बाण ने 'पार्वतीपरिणय' तथा 'चण्डीशतक नामक ग्रन्थो की भी रचना की। बाण के सम्बन्धी (श्वसुर या साला) मयूर को भी हर्ष ने प्रश्रय प्रदान किया और उसने कामशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रथ 'अष्टक' की रचना की। एक किवदन्ती के अनुसार उसकी पुत्री ने उक्त ग्रन्थ के लिये उसे अभिशाप दिया जिसके परिणामस्वरूप मयूर को कोढ रोग हो गया और इसके प्रायश्चित्त स्वरूप उसने 'सूर्यशतक' नामक ग्रथ की रचना की, जिससे उसका उक्त रोग समाप्त हो गया। मतग दिवाकर नामक एक अन्य प्रसिद्ध साहित्यिक हर्ष के दरबार मे रहता था। सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे सुप्रसिद्ध कवि भर्तृहरि भी जीवित था, पर यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि उसे हर्ष का प्रश्रय प्राप्त था अथवा नही। हर्ष के दरबार मे इतने कवियो एव साहित्यिक व्यक्तियों का रहना सस्कृत साहित्य-कोष की अभिवृद्धि-सम्बन्धी प्रवृत्ति के विकास के लिये एक सुन्दर साधन था।

हर्ष साहित्यिक व्यक्तियो को केवल प्रश्रय ही नही प्रदान करता था, प्रत्युत वह स्वय साहित्यकार था। रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' तथा 'नागानन्द' नामक सस्कृत के तीन नाटको की रचना हर्ष ने की थी। कुछ विद्वानो को इसमे सन्देह है कि इन ग्रन्थो की रचना स्वय हर्ष ने की। डॉ० आर० एस० त्रिपाठी के अनुसार "बाण उसे (हर्ष को) सुन्दर काव्य रचना मे दक्ष कहता है।[2] इसके अतिरिक्त सोड्ढल (ग्यारहवीं सदी) और जयदेव (बारहवी सदी) के से प्राचीन ग्रन्थकार उसे अन्य साहित्यिक राजाओ तथा भास, कालिदास आदि तक की पक्ति मे रखते हैं। फिर भी इन नाटिकाओ के रचयिता के सम्बन्ध मे काफी प्राचीन काल से सन्देह किया गया है। ग्यारहवी शताब्दी का काश्मीर ग्रन्थकार मम्मट और सत्रहवी शताब्दी के अनेक विद्वानो (उदाहरणार्थ काव्य प्रदीपोद्योत मे नागोजी तथा परमानन्द) ने उनका रचयिता धावक को माना है। उनका विश्वास है कि उस नाटककार ने इनको प्रस्तुत कर कुछ द्रव्य-लोभ के

१ श्री मजूमदार हीनयान सम्प्रदायवालों द्वारा उक्त षड्यत्र का रचा जाना बताते हैं। देखिये *Classical Age*, p 119

२ हर्षचरित।

बदले हर्षदेव को प्रदान कर दिया। इन परस्पर विरोधी अनुश्रुतियों के समक्ष कुछ निश्चित करना कठिन है, परन्तु भारतीय इतिहास में राज-साहित्यिकों का प्रादुर्भाव कभी असाधारण न रहने के कारण हर्ष को भी साहित्य-प्रणेता मानना कुछ अजब नहीं। फिर भी इसकी सम्भावना है कि हर्ष के किसी संरक्षित कवि ने अपने संरक्षक के नाटकों को संशोधित कर दिया हो। कहावत प्रसिद्ध है कि 'राज प्रणेता केवल अर्थ प्रणेता ही होते हैं'।[1]

हर्षकालीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था

सामाजिक अवस्था—हर्षकालीन भारत की विभिन्न परिस्थितियों का विवरण हमें ह्वेनसांग तथा समसामयिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। ह्वेनसांग के कथनानुसार उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों के अतिरिक्त पाँचवीं मिश्रित जाति भी थी। लगता है कि यात्री ने उपजातियों को मिश्रित जाति की संज्ञा दे दी है। ह्वेनसांग ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की काफी प्रशंसा की है। उसने बताया है कि ब्राह्मणों को समाज में उत्तम स्थान दिया जाता था। ब्राह्मण राज काज में भी भाग लेते थे और हर्ष के कुछ अमात्य ब्राह्मण भी थे। क्षत्रियों के सम्बन्ध में ह्वेनसांग ने लिखा है कि वे सरल, निर्दोष एवं मितव्ययी जीवन बिताने वाले थे। वैश्यों को ह्वेनसांग ने वाणिज्य-व्यापार में लगा हुआ पाया। शूद्रों का प्रधान-व्यवसाय कृषि-कार्य था। शूद्रों की दशा इस काल में काफी सुधर गई थी। मिश्रित जातियों की उत्पत्ति अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों से हुई थी। अछूतों की संख्या भी समाज में बहुत बड़ी थी जिन्हें नगर के बाहर रहना पड़ता था। मेहतर, कसाई, मछुए, नट, चाण्डाल आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। इनके निवास-स्थान चिह्नित कर दिये जाते थे।

उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत के वैवाहिक सिद्धान्तों एवं नियमों में कुछ विभिन्नता थी। उदाहरणार्थ, उत्तरी भारत में मामा की कन्या के साथ विवाह करना अवैध माना जाता था, किन्तु दक्षिणी भारत में यह वैध समझा जाता था। कुलीन लोगों के विवाहोत्सव में कितनी रंगरेलियाँ होती थीं, इसका पूर्ण विवरण 'हर्ष चरित में दिया गया है।[2] सामान्यतः स्वजातीय विवाह ही होते थे, पर अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। सती प्रथा का प्रचलन था। हर्ष की माता अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही इस विश्वास से कि अब पति नहीं बच सकता, सती होने को उद्यत थी। राज्यश्री भी सती होने जा रही थी, पर हर्ष ने ठीक अवसर पर उसको रोक लिया। 'हर्षचरित से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बहु-पत्नीत्व का प्रचार बहुत अधिक था। राजमहलों के अन्तःपुर में स्त्रियों की भीड़-सी लगी रहती थी।

वस्त्राभूषण—रंग बिरंगे वस्त्रों को लोग कम पसन्द करते थे। बहुधा श्वेत वस्त्र पहने जाते थे। कपड़ों की संख्या बहुत अधिक न थी। स्त्रियाँ दोनों कंधों को ढँकता हुआ एक लम्बा वस्त्र धारण करती थीं। कुलीन पुरुषों में साफे का प्रयोग प्रचलित था।

आभूषण का प्रयोग काफी होता था। विभिन्न प्रकार के आभूषण हार, कुण्डल, कड़ा आदि का काफी प्रयोग किया जाता था।

---

१ प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३५

२ राज्यश्री के विवाह के अवसर पर बाण ने जिस आयोजन का चित्रण किया है, वह पढ़ने योग्य है। इसमें आँगन की सजावट, स्वर्णकारों के आभूषण बनाने चित्रकारों के कार्यों आदि का सजीव चित्रण किया गया है।

भोजन—ह्वेनसाग के विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्राय लोग मास का प्रयोग भोजन मे नही करते थे। लहसुन-प्याज भी नही खाया जाता था। मिट्टी तथा काष्ठ के वर्तनो का प्रयोग केवल एक बार किया जाता था। घी दूध दही, चीनी, मिश्री, रोटी आदि भोजन के प्रधान अग थे। गेहू तथा चावल जनसाधारण का भोजन था।

निवास—नगरो मे बहुत धनाढय लोग निवास करते थ। नगरो के चारो ओर रक्षा भित्तियाँ बनी रहती थी। सडकें कम चौडी तथा टेढी मेढी होती थी। धनाढ्य लोगो के भवन ईंट तथा लकडी के बने होते थे किन्तु निधनो के मकान मिट्टी तथा घास फूस के बनते थे।

रीति रिवाज—पुत्रोत्पत्ति पर उत्सवो का आयोजन किया जाता था। सन्तानोत्पत्ति के लिए स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान करती थी। ह्वेनसाग ने तीन प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया का उल्लेख किया है—शव दाह जल विलयन तथा जगल म खुला छोड देना। इस युग मे विभिन्न प्रकार के व्रतो एव उत्सवो के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं।

मनोरञ्जन के साधन—शतरज तथा पासे के खेल का उल्लेख बार-बार किया गया है, जिससे यह परिलक्षित होता है कि यह खेल काफी प्रचलित था। इद्रजालिक तथा यमपटिक अपनी कलाये दिखाया करते थे। गाँवो म मदारी, नट आदि बहुधा घूम घूमकर अपना कौशल दिखलाते थे।

नाटको के अभिनय म यह समाज निश्चय ही उन्नतिशील रहा होगा। प्रेक्षागहा (रगशाला), सगीत शाला तथा चित्रशालाओ का उल्लेख तत्कालीन नाटक ग्रन्थो मे यत्र-तत्र किया गया है। चैत मास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था, इसका उदाहरण 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' मे मिलता है।

नारियों की स्थिति—जिस समाज मे बहुपत्नी प्रथा प्रचलित हो, उसमे नारियो की दयनीय दशा की कल्पना सहज ही की जा सकती है। यद्यपि हम उनके सामाजिक जीवन की उन्नत अवस्था का बोध विभिन्न साधनो स होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वे सगीत, नृत्य, चित्रकला तथा शिक्षा आदि मे निपुण होती थी, तथापि उनका कौटुम्बिक जीवन पूणतया शान्त न था। समाज म माता (और पिता का भी) इतना उच्च स्थान था, इसकी कल्पना हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इनकी उचित सेवा न करनेवाला व्यक्ति दण्ड का भागी होता था। 'हर्षचरित' के आधार पर तो हम यह कह सकते हैं कि राजघराने की स्त्रियाँ पूणतया विलासिता एव उपभोग की वस्तु होती थी। उच्च कुलो मे पर्दा प्रथा भी प्रचलित थी।

राजप्रासादों मे जीवन का मापदण्ड—तत्कालीन साहित्यिक सामग्रिया के अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि राजप्रासादो मे विलासिता ही जीवन का एकमात्र मापदण्ड था। नृत्य-सगीत मे अपने का पूर्णतया भुलाये रखना ही जीवन का ध्येय और महान लक्ष्य था। हर्ष के साथ यह कहा तक लागू होता है यह नही कहा जा सकता, क्योकि जैसा कि चीनी यात्री ने लिखा है उसका समय बहुत नियत्रित ज्ञात होता है और वह दिन के एक भाग मे राज-काज तथा शेष दो भागो मे धार्मिक कृत्य करता था। यदि 'दिन' मे यात्री का अभिप्राय प्रात काल से लकर सायकाल तक ही

१ 'शायक्षेपु शू यगहा' वाला पद 'कादम्बरी' मे देखिये।

हो तो सम्भवत रात्रि के समय हर्ष को आमोद प्रमोद का अवसर मिलता रहा होगा। वास्तविकता जो भी हो, इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि राज्य के उच्च पदाधिकारी तथा राजकुल के सदस्य विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। सुन्दरियाँ उनका खिलौना थी और ललित कलायें उनकी विनोदिका। राजमहलो मे वेश्याओ का बाहुल्य इसका साक्षात् प्रमाण है।

ह्वेनसांग की एक विलक्षण टीका—ह्वेनसांग ने भारत के विभिन्न प्रदेशों के निवासियो के सम्बन्ध मे एक अत्यन्त विलक्षण टीका प्रस्तुत की है। वह लिखता है—काश्मीर के लोग धोखेबाज तथा कायर होते थे, मथुरा निवासी विद्वता एव नतिक आचरण का सम्मान करते थे, थानेश्वर के लोगो को अभिचार क्रिया से विशेष प्रेम था, (बाण के अनुसार वे सरल स्वभाव के थे), कान्यकुब्ज (कन्नौज) के निवासियों का रूप परिष्कृत होता था तथा वे चमकीले रेशमी वस्त्र धारण करते थे। वे विद्या एव कला के व्यसनी तथा स्पष्ट एव अर्थपूर्ण वक्ता थे। मालवा निवासी बुद्धिमान एव नम्र स्वभाव के थे तथा मगध निवासियो की भाँति विद्वता का आदर करते थे (बाण की कादम्बरी से भी इसका समर्थन हो जाता है) पुण्ड्रवर्द्धन के निवासी विद्वानो का सम्मान किया करते थे, कामरूप के लोग ईमानदार होते हुए भी उग्र प्रकृति के थे और वे विद्याप्रेमी तथा अध्यवसायी थे। उडीसा, आन्ध्रदेश तथा धनकटक के लोग भी उग्र प्रकृति के थे। चोल देशवासी बहुत भयकर तथा लुच्चे थे। द्रविड के लोग पूर्ण विश्वसनीय साहसी तथा सार्वजनिक हितपूर्ण और विद्याप्रेमी होते थे। महाराष्ट्र के निवासी अभिमानी, कृतज्ञ, युद्धप्रेमी, प्रतिकार लेनेवाले तथा कष्टपीडितों के लिये आत्मत्याग करनेवाले थे।[1] ह्वेनसांग के उक्त ज्ञान का क्या आधार रहा यह हमे नही ज्ञात है। क्या उसका वयक्तिक अनुभव इसके मूल मे है अथवा जिस प्रकार आज भी कुछ स्थानो के लिये कहावत प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार उन दिनो भी उक्त नगरो के सम्बन्ध मे ऐसी कहावतें कही जाती थी जिनके आधार पर ह्वेनसांग ने ऐसा लिखा है।

धार्मिक स्थिति—हर्ष के धर्म तथा उसकी धार्मिक नीति के सम्बन्ध मे लिखते हुए यह बताया गया था कि बौद्ध धर्म का देश मे प्राधान्य था, किन्तु साथ ही अन्य धर्मों की भी दशा काफी अच्छी थी। वास्तव मे चीनी यात्री धर्म प्रचारक ह्वेनसांग ने बौद्ध धर्म की दृष्टि से भारत को देखा था और उसे बौद्ध धर्म का प्रचार भारत मे अधिक सबल दिखाई पडा। यात्री ने अन्य धर्मों की स्थिति को भी सन्तोषप्रद बताया है। ह्वेनसांग तथा 'हर्ष चरित' से हमे यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता है कि तत्कालीन भारत मे बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन धर्मों का विशेष प्रचार था। नीचे उनका पृथक् पृथक विवेचन किया जायेगा।

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के मुख्य सम्प्रदाय महायान तथा हीनयान में से प्रथम का अस्तित्व अधिक महत्वपूर्ण था। यात्री ने किस प्रकार प्रयाग और कन्नौज की सभा मे महायान धर्म को सर्वमान्य कराया, इसका विवरण हमे प्राप्त हो चुका है। स्वय हर्ष भी इस सम्प्रदाय के प्रति विशेष कृपालु ज्ञात होता है। मठ तथा बिहार बौद्ध धर्म की सन्निपता के केन्द्र थे। यात्री ने बौद्ध धर्म की १८ शाखाओ का भी वर्णन किया है जिनके क्रिया अनुष्ठान भिन्न भिन्न थे और वे सभी अपनी-अपनी बौद्धिक महत्ता घोषित करते थे।[2] सम्भवत इसी पारस्परिक फूट एव तज्जनित प्रतिक्रिया के

१ देखिये वाटर्स, *On Huen Tsang Travels in India*, Vol I

२ वाटर्स, १, पृ० १६२

फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म को गुप्त-काल से विकास का मार्ग प्राप्त होने लग गया था।

ब्राह्मण धर्म—प्रयाग तथा वाराणसी अब इस धर्म के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। आदित्य, शिव तथा विष्णु की पूजा अधिक लोकप्रिय होती जा रही थी। 'हर्ष-चरित' से यह ज्ञात होता है कि इन देवताओ की मूर्तियाँ मन्दिरो मे प्रतिष्ठापित की जाती थी और इनकी विधिवत् पूजा होती थी। प्रयाग तथा वाराणसी के अतिरिक्त कन्नौज मे भी ब्राह्मण धर्म का बोलबाला ज्ञात होता है क्योकि यहाँ दो सौ से अधिक देवमंदिर निर्मित थे। ब्राह्मण-धर्म अनेक शाखाओ मे गुप्तकाल से ही विभक्त चला आ रहा था। शैव धर्म का रूप अब विकृत होता जा रहा था। कर्मकाण्ड की प्रकृति एव उनके रूप मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। बाण के 'हर्षचरित' तथा 'जीवन वृत्तान्त' के आधार पर डा० त्रिपाठी ने लिखा है

"ब्राह्मण यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करते, गाय का आदर करते तथा सौभाग्य और समृद्धि के अन्य अनेक क्रियाओ के अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण धर्म की एक विशेषता उसकी दार्शनिक शाखाओ तथा साधुवर्गों की अनेकता मे थी। बाण ने कपिल और कणाद के अनुयायियो, वेदान्तियो, आस्तिको (ऐश्वरकरणिको) लोकायतिको (निरीश्वरवादियो) का उल्लेख किया है। इसी प्रकार साधुओ के अनेक वर्गों का भी उसने उल्लेख किया है। इनमे से मुख्य निम्नलिखित थे—

केशलुञ्चक (सिर के बाल उखाडनेवाले)—पाशुपत, पञ्चरात्रिक, भागवत आदि। 'जीवन वृत्तान्त' मे भी भूतो, कापालिको, जुतिको, सांख्यों, वैशेषिको आदि का वर्णन है। ये भिक्षाटन करते थे और बिना व्यक्तिगत आवश्यकताओ की परवाह किये अपने दृष्टिकोण से सत्य की खोज मे लगे रहते थे।"

जैन धर्म—वैशाली, पुण्ड्रवर्द्धन तथा समतट के अतिरिक्त भारत के अन्य भागो मे इस धर्म का प्राय अभाव-सा हो चला था। उक्त स्थानो मे भी दिगम्बर सम्प्रदाय-वालो का ही बाहुल्य था। इनकी दूसरी शाखा श्वेताम्बर थी। जैन धर्म के सम्बन्ध मे यात्री का विवरण अपेक्षाकृत स्वल्प है।

आर्थिक अवस्था—कृषि ही लोगो का प्रमुख व्यवसाय था किन्तु औद्योगिक एव वाणिज्य-सम्बन्धी उन्नति के फलस्वरूप अब वैश्य वर्ग इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा था और शूद्र ही बहुधा कृषि-काम करते थे। सिंचाई की पर्याप्त सुविधा थी जिससे कृषि उपज मे किसी प्रकार की कमी नही होने पाती थी। चरागाहों के लिये भी पर्याप्त भूमि छोडी जाती थी जिससे पशुओ के चारे की समस्या हल की जा सकती थी।

उद्योगो की श्रेणियो का बोध हमे इस काल मे भी होता है बाण तथा ह्वेनसाग दोनों के विवरणों से हमे इसका प्रमाण प्राप्त होता है। राजदरबार के विलास-मय जीवन मे उद्योगो के विकास को अवसर प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनो व्यापारियो की दशा काफी अच्छी थी। कुछ नये नगरो की उन्नति के मूल में व्यापारिक कारणो का ही हाथ ज्ञात होता है। बगाल में ताम्रलिपि नामक एक बन्दरगाह था। पाटलिपुत्र से उज्जैन होता हुआ एक राज मार्ग भडोच तक जाता था जिससे काफी व्यापार होता था। विदेशी व्यापार की कुछ झलक हमें ह्वेनसाग के विवरण से प्राप्त होती है। यात्री के अनुसार कपिशा

मे भारत के कोने-कोने से व्यापारिक सामग्रियाँ आया करती थी और यहाँ से ये ईरान तथा योरप के देशो को भेजी जाती थी। काश्मीर से होकर चीन तथा मध्य एशिया तक भारत का विदेशी व्यापार प्रसारित था। जलमार्ग से भी विदेशी व्यापार काफी होता था जिसका प्रमुख केन्द्र पूर्वकथित ताम्रलिपि जो दक्षिणपूर्वी द्वीप समूहो से सबद्ध और सम्भवत मलाया, सुमात्रा आदि से व्यापार का यही प्रमुख जलमार्ग था।

बाण ने नगरों तथा नगरवासियो का जो वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि देश समृद्धिशाली तथा धनधान्यपूर्ण था। नगरो मे करोडपति के निवास करने की सूचना भी बाण से प्राप्त होती है। विभिन्न प्रकार की मणियाँ भी जैसे बिखरी सी थी।

हर्षकालीन शिक्षा, साहित्य एव कला—ह्वेनसाग ने भारतीय शिक्षा की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। मध्यप्रदेश के निवासियो की भाषा की स्पष्टता तथा शुद्धता और उनके उच्चारण पर भी यात्री मुग्ध था। यात्री ने बताया है कि सात वर्ष की अवस्था के बालक को व्याकरण, यान्त्रिककला, वैद्यक, तर्कशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र अर्थात दर्शनशास्त्र की शिक्षा प्रारम्भ कर दी जाती थी। भिक्षुओं की प्रशसा में भी ह्वेनसाग ने कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ लिखी हैं—

"विद्या के परिष्करण के निमित्त उत्सुक कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो एकान्तवास मे सन्तुष्ट हैं और नियम-सयम युक्त जीवन बिताते हैं। वे साधारण मानव-जीवन की गतिविधियों से दूर रहते है। उनका यश बहुत दूर तक विस्तृत है। राजे जो उनकी आवभगत एव उनका सम्मान करते हैं उन्हे अपने दरबार मे आने को बाध्य नहीं कर सकते। चूंकि राज्य ही विद्वज्जनो का सम्मान और सत्कार करता है और जनता भी उच्च प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो का आदर करती है अत ऐसे लोगो का सम्मान और उनकी प्रशसा प्रचुरता से फली है और राज्य तथा जनता द्वारा उनके निमित्त दिया जानेवाला ध्यान विशेष महत्त्वपूर्ण है।"

नालन्दा विश्वविद्यालय —ह्वेनसाग ने अनेक शिक्षा-केन्द्रो का उल्लेख किया है सर्वप्रसिद्ध वलभी का हीनयान विश्वविद्यालय तथा नालन्दा का महायान विश्वविद्यालय था। जिस समय ह्वेनसाग इस विश्वविद्यालय मे आया था उस समय इसमें दस सहस्र विद्यार्थी थे।[1] हर्ष ने इस अपार धनराशि को दानरूप मे दिया था। कुछ अन्य साधनो से भी संस्था को पर्याप्त धन प्राप्त होता था, क्योकि इसमे नि शुल्क शिक्षा के अतिरिक्त विद्यार्थियो के भोजन-वस्त्र की भी व्यवस्था की गई थी। भारत विख्यात शील-भद्र यहाँ का कुलपति था। सौ योग्य आचार्य इस विश्वविद्यालय मे अध्यापन-कार्य करते थे। यह तीन सौ फीट ऊँचा बना था।

नालन्दा विश्वविद्यालय को कुमारगुप्त प्रथम तथा उसके अनेक उत्तराधिकारियो ने प्रश्रय एव महत्त्व प्रदान किया था। हर्ष ने इसके लिये पर्याप्त धनराशि दी थी जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शीलभद्र के पूर्व दिग्नाग, स्थिरमति तथा धर्मपाल विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध 'पण्डित' (आचार्य अथवा कुलपति) रह चुके थे। विश्वविद्यालय मे प्रवेश तभी सम्भव था जब द्वारपाल द्वारा ली गई परीक्षा मे विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाय, पर केवल ३० प्रतिशत विद्यार्थी ही इसमे सफल होते थे। स्त्रियों का भी प्रवेश वर्जित था, पर वे कक्षा में विद्यार्थियो से बात नहीं कर सकती थी, हाँ

१ ईत्सिंग इस संख्या को १३००० बताता हैं।

बाहर बात करने की आज्ञा दी गई थी । सस्कृत ही शिक्षा का माध्यम थी । नालन्द मे प्रारम्भिक (८–१३ वष के बालको के लिये), माध्यमिक (१३–३० वष तक) तथा उच्चतर शिक्षाओ की व्यवस्था थी । नाल दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सम्बन्ध मे भी इतिहासकारो की उच्च धारणा है । विश्वविद्यालय तथा उसके छात्र तो अन्त र्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर रहे थे ।

उक्त विश्वविद्यालय मे विद्यार्थियो की इतनी बडी सख्या से यह परिलक्षित होता है कि प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा का भी बहुत अधिक प्रचार था । जसा कि ऊपर बताया गया है नाल दा मे तो इसकी व्यवस्था थी ही, अ य स्थानो म भी इसका समुचित प्रब ध किया गया होगा । सामा यत बालिकाओ को घरो मे ही शिक्षा दी जाती थी ।

कला—हषकालीन कला की प्रशसा भी ह्वेनसाग ने की है । वह नाल दा के मठो तथा बिहारो की सु दरता का प्रशसनीय बताता है और बुद्ध भगवान् की आठ फीट ऊँची ताम्र मूर्ति की भी सराहना करता है । सीरपुर (राजपुर जिला—मध्य प्रदेश) मे लक्षण का इटोवाला म दिर हषकालीन भवन निर्माण-कला का एक सु दर नमूना है ।

इस काल की साहित्यिक प्रगति के सम्ब ध मे पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है ।

हर्ष का मूल्याकन

हष के सम्ब ध मे हमने पीछे जो कुछ पढा उससे हमे यह ज्ञात होता है कि हष का राजनीति, धम तथा सस्कृति के क्षत्र मे काफी महत्त्वपूर्ण योगदान है । एक साध रण स्थिति से उठकर हष ने तत्कालीन राजनीति मे अपना महत्त्वपूण स्थान बना लिया था जो उसके लिये गौरव की बात थी । हष की प्रारम्भिक कठिनाइयो ने उसकी प्रगति मे कितनी बाधायें उत्पन्न की होगी इसकी कल्पना हम सहज मे ही कर सकते हैं । यद्यपि वह अपने रण-अभियान मे समुद्रगुप्त-सा सफल न हो सका और उसके शत्रु शशाक तथा पुलकेशिन-द्वितीय उसके विजित नही हो सके तथापि उसने उत्तरापथ मे अपनी राजनीतिक स्थिति इतनी सुदृढ कर ली थी कि किसी भी तत्कालीन नरेश का यह साहस न हुआ कि उसे रणक्षेत्र मे चुनौती दे सके या उसकी आज्ञा की अव हेलना कर सके । जब हम हष को एक शासक के रूप मे देखते हैं तो हमे ऐसा लगता है कि वह भी कौटिल्य के अथशास्त्र के अनुकूल आचरण करता था । प्रजा की सुख समृद्धि के लिये, उनके कष्ट निवारण के लिए वह घूम घूमकर उनकी दशा अपनी आँखो से देखता था ।

प्रयाग के पचवर्षीय वितरण से हमे हष की विशालता का परिचय प्राप्त होता है । प्रयाग मे सवस्व दान देने वाले सम्राटो की बात ह्वेनसाग करता है, किन्तु नाम वह केवल हष का ही लेता है । इस महादान से समाज का न केवल आर्थिक लाभ हुआ होगा, प्रत्युत उसके कई रोगो—सकीर्णता, स्वाथपरता, अनुदारता आदि का उप चार प्रस्तुत हुआ होगा और सम वय की भावना को बल मिला होगा ।

साहित्य एव शिक्षा को प्रश्रय देकर हष ने गुप्तकालीन सस्कृति को नव जागरण प्रदान किया । उसके इन सारे कार्यों से भारतीय समाज को नया बल प्राप्त हुआ ।

ह्वेनसांग का भारत-आगमन उसके शासन-काल की ही नहीं, वरन भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। चीनी यात्रियों की परम्परा में यह एक उल्लेखनीय कड़ी है। हर्ष ने यात्री के साथ तो सुन्दर व्यवहार किया ही, उसने तत्कालीन तागकुलीय चीनी सम्राट् तई-त्सुंग के पास एक ब्राह्मण दूत भेजकर मैत्री स्थापित की जिसके उत्तर में चीन से भी हर्ष के पास दूत भेजा गया था।

भारत के प्रजावत्सल सम्राटों की परम्परा में हर्ष का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह अपनी प्रजा के कल्याण के लिये सदैव तत्पर रहता था। उसका सारा समय प्रजा के कल्याण में ही व्यस्त रहता था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि 'वह सदकार्य के लिये अपनी भूख और प्यास भी भूल जाता था। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है कि 'हर्ष में कुछ गुण समुद्रगुप्त और कुछ अशोक के थे।' पणिक्कर महोदय के अनुसार हर्ष को चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारम्भ होने वाले हिन्दू शासकों की परम्परा का अन्तिम शासक होने का गौरव प्राप्त है। पणिक्कर महोदय ने हर्ष की तुलना अकबर से की है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने हर्ष के विषय में विचार करते हुए लिखा है कि हर्ष के चरित्र में समुद्रगुप्त तथा अशोक दोनों के गुणों का समन्वय था। समुद्रगुप्त की भांति विभिन्न दिशाओं में विजय करके उसने सम्राट् का पद प्राप्त किया तथा देश की ऐतिहासिक एकता को पुनः स्थापित किया। इसके उपरान्त युद्ध को सदा के लिये तिलाञ्जलि देकर अशोक की भांति अपनी सम्पूर्ण शक्ति को शान्ति स्थापना के कार्य में लगाया और देश को भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में योग देकर उसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व तथा महानता का विकसित किया। गुप्त काल और राजपूत युग के बीच का यह एक ऐसा महान् राजा है जिसने भारतवर्ष को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। सत्य तो यह है कि वह भारतवर्ष का अन्तिम हिन्दू सम्राट था जिसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर एकछत्र राज्य किया।

प्रश्न

Lucknow University

1 "Harshavardhan was equally great in the arts of war as of peace' Discuss (1948)

2 Describe the proceedings of the Quinquennial Assembly of Harsa at Prayag as witnessed by Hiuen Tzang (1949)

३ हर्ष के राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं का सप्रमाण वर्णन कीजिए। (१९५२)

४ हर्ष के राज्यारोहण के सम्बन्ध में उत्तरी भारत की राजनीतिक परिस्थिति का वृत्तान्त लिखिए। युआनच्वांग के आधार पर हर्ष की बौद्ध धर्म की समस्याओं का उल्लेख कीजिए। (१९५३)

५ हर्ष की विजय एवं उसके साम्राज्य के विस्तार का विवरण दीजिए। (१९५४)

६ हर्ष के राज्यकाल की मुख्य घटनाओं का वर्णन कीजिए। (१९५५)

२४ | सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का भारत

राजनीतिक अवस्था

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के राजनीतिक गगनमण्डल पर एक बार पुनः कुछ समय के लिए अंधकार छा जाता है। उत्तरी भारत में छोटे छोटे राज्यों की स्थापना हो जाती है, जिनके पारस्परिक संघर्ष को इस युग की राजनीतिक अवस्था की विशेषता कहा जा सकता है। हर्ष निस्सन्तान मरा, जिससे उसके सिंहासन पर उसके किसी अमात्य ने अपना अधिकार जमा लिया। चीनी अनुश्रुति में एक मन्त्री का नाम अर्जुन दिया गया है, जिसने वांग ह्यू न त्से द्वारा संचालित चीनी मिशन को लूट लिया और उसके कुछ अनुचरों का वध कर दिया। इसके बाद वांग ह्यू न त्से ने तिब्बत के राजा से सैनिक सहायता लेकर अर्जुन को पराजित कर दिया और उसे बन्दी बनाकर अपने साथ चीन ले गया। चीनी अनुश्रुति की यह कथा इतने अविश्वसनीय विवरणों से भरी हुई है कि इसकी ऐतिहासिकता पर पूर्ण रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता। इस कथा में चीनी मिशन के अध्यक्ष वांग ह्यू न-त्से के पराक्रम का वर्णन निःसंदेह अतिरञ्जनापूर्ण है। केवल आठ हजार सैनिकों की सहायता से जिन्हें पड़ोस के राज्यों से ग्रहण किया गया था, अपने देश से इतनी दूर वांग ह्यू न त्से के द्वारा भारतीय नरेश की पराजय और उसका बन्दी बना लिया जाना नितान्त अस्वाभाविक जान पड़ता है। चीनी अनुश्रुति के अनुसार चीन के पराक्रमी योद्धा ने १३ ००० भारतीय सैनिकों को मार डाला और बारह हजार को बन्दी बना लिया। उसने शत्रु की राजधानी को केवल तीन दिनों के घेरे में ही जीत लिया और ५८० नगरों ने उसके आगे आत्म समर्पण कर दिया। ये बातें कोरी कल्पना द्वारा उत्पन्न जान पड़ती हैं। अतएव चीनी अनुश्रुति को एकदम सत्य मानना तो दूर रहा, इसके ऊपर आंशिक विश्वास करने में भी विवेक से काम लेना चाहिए।[१] परन्तु इस अनुश्रुति के विवरण से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हर्ष की मृत्यु के बाद राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया तथा उसके राज्य में अशान्ति एवं अव्यवस्था मच गई। परन्तु डॉ० विन्सेन्ट स्मिथ ने हर्षोत्तर-कालीन भारत की अराजकता और राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का जो चित्र खींचा है वह न केवल अविश्वसनीय है, वरन भ्रान्तिपूर्ण भी है।

हर्षोत्तर-कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था के सम्बन्ध में हमें कुछ बातें स्मरण रखनी चाहिएँ। पहली बात तो यह है कि हर्ष को भारत का अन्तिम साम्राज्य

---

१ श्री सी० वी० वैद्य अर्जुन द्वारा हर्ष का राजसिंहासन ग्रहण किये जाने और चीनी मिशन के अध्यक्ष की विजय की कथाओं को बिल्कुल मिथ्या और कपोल कल्पित मानते हैं। देखिए—*History of Medieval Hindu India* Vol I (1921), p 334

निर्माता कहना इतिहास मे तथ्यो की अवहेलना करना है। ललितादित्य और सम्भवत यशोवमन न जिस साम्राज्य पर शासन किया, वह किसी प्रकार भी हष के साम्राज्य से छोटा या कम महत्त्वपूण नही था। कुछ समय के उपरान्त पालो और प्रतिहारो ने जिन साम्राज्यो की स्थापना की व विस्तार मे हष के साम्राज्य की अपेक्षा कही अधिक बडे थे और उनसे अधिक स्थायी भी प्रमाणित हुए। प्रतिहारो का साम्राज्य तो अधिक सुसगठित था। इसके पश्चात च देल यशोवमन और कलचुरी गग तथा कण म भी जिन राज्यो की स्थापना की उनका विस्तार हष के साम्राज्य के बराबर था। दक्षिण भारत म तो और विशालतर साम्राज्यो का निर्माण हुआ। हष के जीवन-काल से ही भारत की राजनीतिक शक्ति का केन्द्र दक्षिणी भारत मे जमने लगा था। ध्रुव और गोविन्द-तृतीय के नेतृत्व में राष्ट्रकूटो ने एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया। विक्रमादित्य षष्ठ के अधीन भी अनुवर्ती चालुक्यो का साम्राज्य काफी बडा था। राजेन्द्र चोल ने जिस महान साम्राज्य को स्थापित किया वह गगा के मुहाने से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला था और बगाल की खाडी के पार के राज्य भी उस साम्राज्य म सम्मिलित थे। इन सब उदाहरणो को ध्यान मे रखते हुए हम यह कह ही नहीं सकते कि हष हिन्दू भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट था।

राजपूतो की उत्पत्ति

राजपूतों की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। इस सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न विद्वानो के मत भिन्न हैं। राजपूत स्वय को वैदिक आर्यों से सम्बन्धित सूर्य तथा चद्र वश की सन्तान बताने म गौरव का अनुभव करते हैं। राजपूतो की सभी शाखाओ ने किसी-न किसी प्रकार अपना सम्बन्ध इन वशो से स्थापित कर लिया है। हम देखते हैं कि प्रतिहारो ने अपने अभिलेखो म अपने को इक्ष्वाकु वश या सूयवश का कहा है। भोज का ग्वालियर अभिलेख, जो निम्नलिखित है--

श्लाघ्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुसो मेघनादस्य सख्ये,
सौमित्रिस्तीव्रदण्ड प्रतिहरणविधय प्रतीहार आसीत।

और बाउक के जोधपुर-अभिलेख---

स्वभ्राता रामभद्रस्य प्रातिहार्य कृत यत ।
श्रीप्रतिहार-वशोऽयमतश्चोन्नतिमाप्नुयात ॥

से स्पष्टत पता चलता है कि प्रतिहार राम के भाई लक्ष्मण की सन्तान थे। एक अनुश्रुति से पता चलता है कि चन्देलो की उत्पत्ति चन्द्रमा तथा एक ब्राह्मण गन्धव कुमारी से हुई थी। उत्कीण लेखो मे दी हुई परम्परा के अनुसार नन्नुक नामक च देल नेता, जो नवी शताब्दी क प्रारम्भ मे बुन्देलखण्ड के दक्षिणी हिस्से मे प्रबल हो उठा था, चन्द्रवशी चन्द्रात्रेय का वशज था। चालुक्यो को एक अनुश्रुति हारीति के कमण्डल के जल से उत्पन्न बताती है। ह्वेनसाग ने पुलकेशिन द्वितीय को क्षत्रिय बताया है। 'हम्मीर महाकाव्य' चाहमानो या चौहानो के आदिपुरुष चाहमान को सूर्य-पुत्र बताता है। 'पृथ्वीराज रासो' मे गिनाये गये राजपूतो के सभी ३६ कुल या तो सूय या शशि या यदु वश से सम्बन्धित बताये गये हैं[1]---

१ टाड महोदय तथा श्री मोहनलाल रवि ससि तथा यादव वश को भी ३६ वशो के अन्तर्गत गिनते हैं। यही कारण है कि टाड महोदय और उनके मत के अनुयायी ३६ राजपूत कुलो को सूयवशी चद्रवशी या यादववशी नहीं मानते। मोहनलाल कवि नौस रोस जुत, तया गरुम को और टाड महोदय धान्य पालूक, मट तथा कई अन्य नामों

11617
21912000

२४ | सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का भारत

राजनीतिक अवस्था

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के राजनीतिक गगनमण्डल पर एक बार पुन कुछ समय के लिए अन्धकार छा जाता है। उत्तरी भारत मे छोटे छोटे राज्यो की स्थापना हो जाती है जिनके पारस्परिक सघर्ष को इस युग की राजनीतिक अवस्था की विशेषता कहा जा सकता है। हर्ष निस्सन्तान मरा जिससे उसके सिंहासन पर उसके किसी अमात्य ने अपना अधिकार जमा लिया। चीनी अनुश्रुति मे एक मन्त्री का नाम अर्जुन दिया गया है, जिसने वांग ह्यू न त्से द्वारा सचालित चीनी मिशन का लूट लिया और उसके कुछ अनुचरो का वध कर दिया। इसके बाद वाग ह्यू न त्से ने तिब्बत के राजा से सनिक सहायता लेकर अर्जुन को पराजित कर दिया और उसे बन्दी बनाकर अपने साथ चीन ले गया। चीनी अनुश्रुति की यह कथा इतने अविश्वसनीय विवरणो से भरी हुई है कि इसकी ऐतिहासिकता पर पूर्ण रूप से विश्वास नही किया जा सकता। इस कथा मे चीनी मिशन के अध्यक्ष वाग ह्यू न-त्से के पराक्रम का वणन निसन्देह अतिरञ्जनापूर्ण है। केवल आठ हजार सैनिको की सहायता से, जिन्हें पडोस के राज्यो से ग्रहण किया गया था, अपने देश से इतनी दूर वाग ह्यू न त्से के द्वारा भारतीय नरेश की पराजय और उसका बन्दी बना लिया जाना नितान्त अस्वाभाविक जान पडता है। चीनी अनुश्रुति के अनुसार चीन के पराक्रमी योद्धा न १३ ००० भारतीय सैनिको को मार डाला और बारह हजार को बन्दी बना लिया। उसने शत्रु की राजधानी को केवल तीन दिनो के घेरे म ही जीत लिया और ५८० नगरो ने उसके आगे आत्म समपण कर दिया। य बातें कोरी कल्पना द्वारा उत्पन्न जान पडती हैं। अतएव चीनी अनुश्रुति को एकदम सत्य मानना तो दूर रहा, इसके ऊपर आशिक विश्वास करने मे भी विवेक से काम लेना चाहिए।[१] परन्तु इस अनुश्रुति के विवरण से हम यह निष्कष निकाल सकते हैं कि हर्ष की मृत्यु के बाद राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया तथा उसके राज्य मे अशान्ति एव अव्यवस्था मच गई। परन्तु डॉ० विन्सेन्ट स्मिथ ने हर्षोत्तर कालीन भारत की अराजकता और राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का जो चित्र खीचा है वह न केवल अविश्वसनीय है, वरन् भ्रान्तिपूर्ण भी है।

हर्षोत्तर-कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था के सम्बन्ध म हमे कुछ बातें स्मरण रखनी चाहिएँ। पहली बात तो यह है कि हर्ष को भारत का अन्तिम साम्राज्य

---

१ श्री सी० वी० वैद्य अर्जुन द्वारा हर्ष का राजसिंहासन ग्रहण किये जाने और चीनी मिशन के अध्यक्ष की विजय की कथाओं को बिल्कुल मिथ्या और कपोल-कल्पित मानते हैं। देखिए—*History of Medieval Hindu India* Vol I (1921), p 334

निर्माता कहना इतिहास के तथ्यों की अवहेलना करना है। ललितादित्य और सम्भवतः यशोवर्मन ने जिस साम्राज्य पर शासन किया, वह किसी प्रकार भी हर्ष के साम्राज्य से छोटा या कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। कुछ समय के उपरान्त पालों और प्रतिहारों ने जिन साम्राज्यों की स्थापना की व विस्तार में हर्ष के साम्राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े थे और उससे अधिक स्थायी भी प्रमाणित हुए। प्रतिहारों का साम्राज्य तो अधिक सुसंगठित था। इसके पश्चात् चन्देल यशोवर्मन और कलचुरी गांगेय तथा कर्ण ने भी जिन राज्यों की स्थापना की उनका विस्तार हर्ष के साम्राज्य के बराबर था। दक्षिण भारत में तो और विशालतर साम्राज्यों का निर्माण हुआ। हर्ष के जीवन-काल से ही भारत की राजनीतिक शक्ति का केन्द्र दक्षिणी भारत में जमने लगा था। ध्रुव और गोविन्द-तृतीय के नेतृत्व में राष्ट्रकूटों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया। विक्रमादित्य षष्ठ के अधीन भी अनुवर्ती चालुक्यों का साम्राज्य काफी बड़ा था। राजेन्द्र चोल ने जिस महान् साम्राज्य को स्थापित किया वह गंगा के मुहान से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला था और बंगाल की खाड़ी के पार के राज्य भी उस साम्राज्य में सम्मिलित थे। इन सब उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह ही नहीं सकते कि हर्ष हिन्दू भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट् था।

राजपूतों की उत्पत्ति

राजपूतों की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों के मत भिन्न हैं। राजपूत स्वयं को वैदिक आर्यों से सम्बन्धित सूर्य तथा चन्द्र वंश की सन्तान बताने में गौरव का अनुभव करते हैं। राजपूतों की सभी शाखाओं ने किसी-न किसी प्रकार अपना सम्बन्ध इन वंशों से स्थापित कर लिया है। हम देखते हैं कि प्रतिहारों ने अपने अभिलेखों में अपने को इक्ष्वाकु वंश या सूर्यवंश का कहा है। भोज का ग्वालियर अभिलेख, जो निम्नलिखित है—

श्लाघ्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुसो मेघनादस्य सङ्ख्ये,
सौमित्रिस्तीव्रदण्ड प्रतिहरणविधेय प्रतीहार आसीत्।

और बाउक के जोधपुर-अभिलेख—

स्वभ्राता रामभद्रस्य प्रातिहार्यं कृत यत।
श्रीप्रतिहार-वंशोऽयमतश्चोन्नतिमाप्नुयात॥

से स्पष्टतः पता चलता है कि प्रतिहार राम के भाई लक्ष्मण की सन्तान थे। एक अनुश्रुति से पता चलता है कि चन्देलों की उत्पत्ति चन्द्रमा तथा एक ब्राह्मण गन्धर्व कुमारी से हुई थी। उत्कीर्ण लेखों में दी हुई परम्परा के अनुसार ननुक नामक चन्देल नेता, जो नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बुन्देलखण्ड के दक्षिणी हिस्से में प्रबल हो उठा था, चन्द्रवंशी चन्द्रात्रेय का वंशज था। चालुक्यों को एक अनुश्रुति हारीति के कमण्डल के जल से उत्पन्न बताती है। ह्वेनसांग ने पुलकेशिन द्वितीय को क्षत्रिय बताया है। 'हम्मीर महाकाव्य' चाहमानों या चौहानों के आदिपुरुष चाहमान को सूर्य-पुत्र बताता है। 'पृथ्वीराज रासो' में गिनाये गये राजपूतों के सभी ३६ कुल या तो सूर्य या शशि या यदु वंश से सम्बन्धित बताये गये हैं[१]—

१ टाड महोदय तथा श्री मोहनलाल रवि, ससि तथा यादव वंश को भी ३६ वंशों के अन्तर्गत गिनते हैं। यही कारण है कि टाड महोदय और उनके मत के अनुयायी ३६ राजपूत कुलों को सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी या यादववंशी नहीं मानते। मोहनलाल कवि नीस रोस जुत, तथा गरब्भ को और टाड महोदय धान्य पालक, भट तथा कई अन्य नामों

रवि ससि जाधव बंश । ककुत्स्थ परमार सदावर ।।
चाहुवान चालुक्य । छंदक सिलार अभीयर ।।
दोय मत्त (दोयमत)मक्वान । गरुअ गोहिल गोहिलपुत ।।
चापोत्कट परिहार । राव राठोर रोसजुत ।।
देवरा टांक सैंधव अनिग । यौतिक प्रतिहार दधिपट ।।
कारट्टपाल कोटपाल हुल । हरितटगोर कला(मा)प मट ।।
धन्य पालके निकुभवर । राजपाल कविनीस ।।
कालच्छरक आदि दे । बरने बंस छत्तीस ।।

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि अभिलेख, प्रशस्ति लेख तथा अनुश्रुतियो के अनुसार राजपूत वैदिक आर्यों से सम्बन्धित उच्च कुल के क्षत्रिय थे, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् तथा कुछ भारतीय इसे मानने को तैयार नही हैं। वे ठीक इसके विपरीत ही अर्थ लगाते हैं और कहते हैं कि कितनी शीघ्रता से ये विदेशी जातियाँ (राजपूत) भारतीय जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत आत्मसात कर ली गई।

'राजपूत' शब्द का अर्थ— 'राजपूत' शब्द सस्कृत के 'राजपुत्र' का विकृत रूप है। इस शब्द का प्रयोग राजपूताना के कुछ भागो मे क्षत्रिय, सामन्त या जागीरदार के अवैधानिक पुत्र के अर्थ मे किया जाता है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राय शब्दो के दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं—अच्छे और बुरे। परन्तु बुरा अर्थ बाद का विकास होता है। उदाहरणार्थ, 'ब्राह्मण' शब्द प्रारम्भ मे जाति व्यवस्था के सर्वोच्च वर्ग को सूचित करता था जिनका कर्त्तव्य था ब्रह्म या वेद को सुरक्षित रखना। समय के साथ-साथ ब्राह्मणो को खाना पकाने का भी काम करना पड़ा। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रारम्भ मे इन्हे वेदो के पठन-पाठन आदि का काम मिला था और केवल यही उनकी जीविका था, परन्तु कालान्तर मे पतन होने के कारण कितने ही ब्राह्मण, जो केवल जन्म से ब्राह्मण थे, अनपढ रह गये। उन्हे भिक्षा की शरण लेनी पड़ी। प्रारम्भ मे विद्वान् ब्राह्मण या ऋषि भी अधिकतर भिक्षा पर ही निर्वाह करते थे। परन्तु इन दोनो मे अन्तर था। पहले को तो भिखारी की सज्ञा मिली, परन्तु दूसरे तरह के ब्राह्मण कभी भी भिखारी नही कहे जाते थे। उन्हे ऋषि, मुनि या तपस्वी के आदरसूचक सम्बोधनो से सम्बोधित किया जाता था। इस तरह ब्राह्मण का अर्थ भिखारी लगाया जाने लगा। आज भी अधिकतर भिखमगे अपने को ब्राह्मण ही कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिखारी या बावर्ची के रूप मे 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ बाद का विकास है। ठीक यही बात 'राजपूत' शब्द के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। महाभारत में 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ मे किया गया है[1]—

एते रुक्मरथा नाम राजपुत्रा महारथा।
रथेष्वस्त्रेषु नागेषु च विशांपते—

इस श्लोक मे 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग कुलीन क्षत्रिय के अर्थ मे किया गया है। साधा

को छोड़ गये हैं। इस प्रकार मोहनलाल 'रवि, ससि जाधव' को लेकर ३६ कुल गिनते हैं और टाड महोदय 'रवि, ससि, जाधव' को लेकर भी केवल ३० की एक सूची बनाते हैं। श्री वैद्य महोदय नीचे से ३६ कुलो को गिनते हैं और बताते हैं कि ये सभी राजपूत कुल सूर्य या चन्द्र या यादव वशी थे। विशेष विवरण के लिये देखिए—मेडिवल हिन्दू इण्डिया, द्वितीय भाग, पृ० २२–२६

१ महा० द्रोणपर्व, अध्याय ११२, श्लोक २०

रणत इसका अर्थ यही था, परन्तु कभी कभी इसका विशिष्ट प्रयोग सत्तारूढ़ राजा के वंशज के अर्थ में भी किया गया है। विराट् पर्व में बहुधा द्रौपदी को 'राजपुत्री' कुलीन क्षत्राणी के अर्थ में कहा गया है। इसी अर्थ में ७वीं शताब्दी के भवभूति ने कौशल्या को राजपुत्री कहा है। बाण ने अपने हर्षचरित में 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग एक क्षत्रिय सैनिक के लिए किया है। पुराणों में भी इस शब्द का उल्लेख मिलता है। 'वुञ्' या 'क' प्रत्यय से सम्बन्धित एक पाणिनीय सूत्र में 'राजपुत्र' शब्द आया हुआ है।[1]

उपर्युक्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से लेकर ९वीं शताब्दी तक कुलीन क्षत्रिय के अर्थ में किया जाता रहा, अवैधानिक पुत्र या वर्णसंकर के अर्थ में नहीं। १०वीं या ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग इस शब्द का महत्त्व कैसे और क्यों बढ़ा, इसकी विवेचना श्री वैद्य महोदय ने इस प्रकार की है—

भारत में बौद्ध धर्म के पश्चात जाति व्यवस्था के बन्धन धीरे धीरे दृढ़तर होने लगे। यह प्रक्रिया तब तक होती रही जब तक कि जाति-व्यवस्था बिल्कुल कट्टरता की सीमा को न पहुंच गई। प्रत्येक जाति अपनी अपनी सीमा संकुचित करने लगी, विशेषतः रोटी-बेटी के सम्बन्ध के लिए। उनके दायरों में केवल वे ही कुल सम्मिलित होते थे जो रक्त-सम्बन्ध में शुद्ध समझे जाते थे। सातवीं शताब्दी में कई राजघराने थे जो क्षत्रिय थे, जैसा कि ह्वेनसांग के साक्ष्य से प्रमाणित होता है। परन्तु अधिकांश क्षत्रिय बौद्ध बन गये थे और क्षत्रियों से सम्बन्धित आर्य प्रथाओं से उनका सम्पर्क बिल्कुल छूट गया था। ऐसे परिवारों को इस समय बुरी तरह बहिष्कृत किया गया। इसके अतिरिक्त स्थान-दूरी के कारण परिवारों की कुलीनता को निश्चित करना और भी कठिन था। अतएव न केवल क्षत्रियों में, वरन ब्राह्मणों तथा वैश्यों में भी प्रान्तों के अनुसार उपजातियाँ बनाने की प्रथा सी चल निकली, जिसमें दूरस्थ प्रान्तों में निवास करने वाले परिवारों की कुलीनता का प्रश्न ही न उठे। इसी कारण ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग राजपूतों ने अपने आपको उस क्षेत्र में सीमित कर लिया, जहाँ क्षत्रिय राजवंश मुख्यतः एकत्रित थे। स्वभावतः क्षत्रिय होने का गौरव केवल उन्हीं लोगों तक सीमित हो गया जो अपनी वंश-परम्परा सन्देहरहित क्षत्रिय राजकुलों के साथ सिद्ध कर सके। वह भी जीवित पीढ़ी की स्मृति के आधार पर भाटों या गायकों की पौराणिक कथाओं के आधार पर नहीं, क्योंकि सदियों के बौद्ध एवं विदेशी शासनों के कारण वे छिन्न भिन्न हो गये थे। अतः 'राजपुत्र' शब्द इस समय विशेष महत्त्व का बन गया था।

अग्निकुल की कहानी—पृथ्वीराज के समकालीन 'पृथ्वीराज रासो' के प्रणेता चन्द के मतानुसार, एक विचित्र अनुश्रुति की ओर संकेत मिलता है। संक्षेप में कहानी यह है कि जब पृथ्वी राक्षसों या म्लेच्छों से क्लान्त हो उठी तो आबू पर्वत पर वशिष्ठ ने अग्निकुण्ड से चार योद्धाओं को क्रमशः पैदा किया। पहले परमार, चालुक्य तथा परिहार को और जब इनमें से कोई भी राक्षसों को नष्ट नहीं कर सका तो चाहमान का सृजन किया। 'रासो' के साथ-साथ यह कहानी भी लोकप्रिय हुई और अन्ततोगत्वा सभी राजपूतों ने इसे स्वीकार कर लिया। इस किंवदन्ती के आधार पर ही कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राजपूत विदेशी थे जो अग्नि-संस्कार द्वारा सुसंस्कृत कर जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय मान लिये गये। परन्तु श्री वैद्य महोदय इस मत का खण्डन करते हैं और इस किंवदन्ती का अर्थ व दूसरा ही

१ गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज राजन्य राजपुत्रवत्स मनुष्याजाद्वुञ् ४-२-४१

लगाते हैं[१]—"बहुतों के लिए यह एक नई जानकारी होगी कि यह कहानी कवि की केवल कल्पना मात्र ही नहीं है, वरन इसके अतिरिक्त उस कल्पना की भी गलत धारणा की उपज है। वशिष्ठ के आह्वान पर अग्नि से निकलने वालो के रूप मे परमार, प्रतिहार चालुक्य तथा चाहमान नामक चारो योद्धाओ का वर्णन करने मे उसका (चन्द का) मतलब यह सूचित करना नही था कि ये योद्धा वशिष्ठ द्वारा नये-नये उत्पन्न किये गये वीर थे। वह केवल यह सूचित करना चाहता था कि पहले से ही वर्तमान वशों मे चार योद्धा वशिष्ठ के आदेश पर राक्षसो से लडने के लिए अग्नि से बाहर निकले।" अपने इस कथन के समर्थन म वद्य महोदय निम्नलिखित तक प्रस्तुत करते हैं—

(१) 'रासो' केवल एक काल्पनिक कथा को प्रस्तुत करता है, जिसे बाद में बिल्कुल सही मान लिया गया।

(२) या तो 'रासो' चन्द का नही है या बाद मे मुसलमानो के समय मे उसमें क्षेपक अश जोड दिये गये।

(३) उन कुलो को, जिनका उल्लेख चन्द क समय से पहले ही के अभिलेखा म सूयवशी या चन्द्रवशी के रूप मे किया गया है, अग्निकुल से उत्पन्न क्यो कहा जा सकता है ?

(४) चन्द ने स्वय भी ३६ राजपूतो के वशा का वर्णन करते समय अग्निवश का उल्लेख नही किया है, वरन उन्हें 'रवि, ससि, जाधव वश' का बताया है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत—राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार टाड ने अग्निकुल की कहानी को स्वीकार कर लिया और उसके आधार पर राजपूतो को उन्होने विदेशी ठहराया। उनका मत है कि राजपूत सीथियन या शको के वशज थे जो छठी शताब्दी के लगभग भारत मे प्रविष्ट हुए थे। इन्ही विदेशी विजेताओ को, जब वे शासक बन बैठे तो उन्हें अग्नि सस्कार द्वारा पवित्र कर जाति-व्यवस्था के अन्तगत ले लिया गया। चूंकि वे शासन का काम करते थ और यही काम क्षत्रियो के भी थे, अतएव उन्ह क्षत्रियो की श्रेणी मे रखा गया और वे राजपूत कहलाए। अपने मत के समथन मे उन्होंने राजपूतो तथा शको के बीच निम्नलिखित साम्य की ओर सकेत किया है—

(१) अश्व-पूजा,
(२) अश्वमेध,
(३) अस्त्र पूजा,
(४) अस्त्र-शिक्षा,
(५) उत्तेजक सुरा के प्रति अनुराग,
(६) शकुन विचार,
(७) अन्धविश्वास,

१ Now it will be a revelation to many to know that *this story* is not only a poet's fancy but further arises from a misconception of even that fancy In describing the four warriors, Parmar, Pratihara Chalukya and Chahman as coming out of fire at the call of Vashishtha he did not *intend to convey that these warriors* were heroes *newly created* by Vasistha He simply wanted to convey that four warriors out of the already existing clans came out of the fire at Vasistha's bid to fight the Rakshasas (*Mediaeval Hindu India*, Vol II, P 13 and 15)

(८) युद्ध मे प्रयुक्त होने वाले रथ,
(६) भाटो की प्रथा,
(१०) समाज मे स्त्रिया का स्थान, तथा
(११) युद्ध से सम्बधित धम ।

टाड महोदय का कथन है कि राजपूत युद्ध के अधिदेव हर की पूजा करत थे। वे अपने देवता को रुधिर तथा सुरा अपित करत थे। खन बहाने मे ही वे प्रसन्नता का अनुभव करते थे। इन सब बाता से यही मालूम पडता है कि राजपूत उन आय हिन्दुओ की सन्तान कभी नही हो सकत जो हरियाली की शान्ति मे रहना अधिक पसन्द करत थे। परन्तु इस निष्कष पर पहुँचते समय टाड महोदय ने आय क्षत्रियो पर शायद ध्यान ही नही दिया और यह भूल गये कि आय शान्ति के इच्छुक होते हुए भी आय-क्षत्रिय युद्ध ही अपना धम समझते थे, मरने-मारने के लिए सदैव तैयार रहते थे और राजपूतो की तरह ही अश्वमेध यज्ञ किया करत थ जिसके एक दो नही कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

टाड महोदय के 'एनल्स आफ राजस्थान क सम्पादक श्री विलियम कुक महोदय भी इस मत का समथन करत हैं। उनका कथन है कि राजपूता क कई वश का उद्भव शक या कुषाण आक्रमणो के समय मे हुआ था। गुजरो न जो कि बाद वाली जाति स सम्बन्धित थे, हिन्दू धम को अपना लिया। इन्ही गुजरा के प्रमुखो से राजपूतो के कुल उत्पन्न हुए। राजगौरव को प्राप्त कर जब इन विदेशिया न ब्राह्मण धम को स्वीकार कर लिया तो स्वभावत उन्हे उन वीरा की वश-परम्परा से सम्बन्धित बताने का प्रयत्न किया गया, जिनकी वीरगाथाए महाभारत और रामायण मे सुरक्षित हैं। यही स राजपूता की उत्पत्ति सम्बन्धी काल्पनिक कथा का प्रारम्भ होता है। स्मिथ महोदय[1] भी इसी मत को स्वीकार करत हैं। इनके मतानुसार, चन्देला राठौरा तथा गहरवारा की उत्पत्ति मूल निवासियो, जस गोण्ड, भार तथा खर्वों से हुई थी।[2]

क्या राजपूत गुजर थ ?—कुछ विद्वाना का मत है कि राजपूत गुजर थे और चूँकि गुजर विदेशी थ, अत राजपूत भी विदेशी जाति के वशज थे। डॉ० भण्डारकर[3] न प्रतिहार, परमार, चालुक्य तथा चाहमान—चारो अग्निकुला का गुजर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अपने मत के समथन म उनके द्वारा दिय गये तर्को म स कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) राजोर म पाय गय एक अभिलख म आधुनिक जयपुर के दक्षिण पूव म शासन करने वाले प्रतिहारो की एक गौण शाखा ने अपने को गुजर कहा है।

---

१ 'I have no doubt that the ruling families of both the Sakas and the Kushans when they became Hinduised were admitted to rank as Kshatriyas in the Hindu caste system, but the fact can be inferred only from the analogy of what is ascertained to have happened in later ages—it can not be proved" (*Early History of India* R E, p 425)

२ *Early History of India* 3rd Ed, p 322

३ डॉ० भण्डारकर, *Indian Antiquary*, LX (1911)

(२) कन्नौज के प्रतिहारो का राष्ट्रकूटो ने अपने अभिलेखो मे तथा अरबो ने अपने यात्रा विवरणो मे गुजर बताया है।

(३) चालुक्यो ने जब गुजरात प्रदेश को अधिकृत किया, उसी समय से उसका यह नाम पडा। उनके अधिकार के पहले वह लाट कहा जाता था। यदि चालुक्य गुजर नहीं थे तो यह गुजरात नाम कैसे पडा?

डॉ० भण्डारकार ने राजपूत-कुलो को गुजर सिद्ध करने के लिए इन तर्कों के अलावा भी कई अन्य प्रमाण प्रस्तुत किये है। उनका मत है कि ये गुर्जर खिजार हैं जो पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ मे हूणो के साथ भारत मे प्रविष्ट हुए।

कन्नौज के विजयपाल के सामन्त मथनदेव के राजोर प्रस्तर लेख से स्पष्टत हमे पता चलता है कि राजपूत प्रतिहार-गुजर थे, क्योकि उसमे उल्लिखित "गुर्जर प्रतिहारान्वय" इसी बात की ओर सकेत करता है। परन्तु अन्य विद्वानो ने कहा है कि राजपूत गुजर नही थे, प्रत्युत् गुजर प्रदेश के रहने वाले थे। डॉ० त्रिपाठी ने इस मत का विरोध किया है। उनका कथन है कि राजोर अभिलेख का " तथैतत प्रत्यासन्न श्री गुजर वाहित समस्त क्षेत्र समेत" अश स्पष्टत प्रकट करता है कि वे गुजर थे, क्योकि इसका कुछ दूसरा अर्थ लगाया ही नही जा सकता। राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष के प्रथम सज्जन दानपत्र मे प्रतिहारो को गुजरराज कहा गया है। कन्नड कवि पम्पा ने भी महीपाल प्रतिहार को 'गुजरराज' कहा है। इन सब साक्ष्यो मे राजपूत गुजर ही प्रमाणित होते हैं। परन्तु, वैद्य महोदय ने इन्हे गुजर न बताकर आर्यों की ही सन्तान बताया है। डॉ० भण्डारकर के मत का विरोध करते हुए उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है—

(१) डॉ० भण्डारकर ने स्वय यह स्वीकार किया है कि कन्नौज के प्रतिहारो ने स्वय को कभी भी गुजर नही कहा है। वत्सराज नागभट्ट जैसे उनके नाम आर्य नाम हैं। उन्होने अपने अभिलेखो मे स्वय को सूर्यवशी बताया है। राजशेखर ने, जो उनके समकालीन थे, उन्हे 'रघुकुल तिलक' बताया है। आधुनिक जयपुर के दक्षिण पूर्व मे शासन करने वाली प्रतिहार शाखा ने अपने को अन्य प्रतिहारो से पृथक बताने के लिए ही स्वय को गुजर कहा है। यह विभेद निवास-स्थान के नाम पर आश्रित है।

(२) किसी जाति को गुजर कह देने से यह नही प्रमाणित होता कि वह जाति गुजर उत्पत्ति की ही थी। उदाहरणार्थ, मुसलमान आक्रमणकारियो को भी यवन कहा गया। इसका यह अभिप्राय नही है कि मुसलमान नस्ल मे यूनानी थे।

(३) लाट का नाम गुजरात इसलिए नही पडा कि वहाँ पर चालुक्य शासन स्थापित हो गया, वरन् ऐसा लगता है कि यह नाम गुजराती भाषा के आधार पर ही पडा होगा।

क्या राजपूत विदेशी थे?—पाश्चात्य एव कतिपय भारतीय विद्वानो ने राजपूतो को शक, कुषाण या गुजर की ही सन्तान माना है और चूकि ये विदेशी थे, अत राजपूतो को भी विदेशी बताया है। श्री गौरीशकर ओझा तथा श्री वैद्य महोदय ने इनके मतो का खण्डन किया है और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजपूत विदेशी नही थे, वरन् भारतीय आर्यों की सन्तान थे। उन्होंने स्वय को कभी भी विदेशी नही बताया है। इसके विपरीत, वे अपनी उत्पत्ति सूर्य या चन्द्र वश से बताते है। उनके रीति रिवाज शको या कुषाणो के आने से पहले भी भारत में प्रचलित थे। सूर्य की पूजा वैदिक

काल में भी प्रचलित थी। अश्वमेध यज्ञ भी बहुत पहले से ज्ञात था, जैसा कि महाकाव्यों के साक्ष्य से प्रमाणित होता है। अस्त्र तथा अश्व-पूजा भारत में क्षत्रियों द्वारा हमेशा की जाती थी। उनके गोत्र और प्रवर भी वे ही हैं, जिनका उल्लेख वैदिक सूत्रों में मिलता है। वैदिक आर्यों की सन्तानों के अतिरिक्त, विदेशी जातियों की सन्तानें कभी भी वैदिक सभ्यता को सुरक्षित रखने के लिए इतनी वीरता नहीं दिखा सकती थीं। राजपूतों की लम्बी नासिका, लम्बे सिर तथा उनका डील डौल स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि वे आर्यों की सन्तान थे, विदेशियों की नहीं, क्योंकि आर्यों की ये विशेषताएँ संसार भर में प्रसिद्ध हैं।

कन्नौज का यशोवर्मन

जिस कन्नौज को सम्राट हर्ष ने अपनी राजधानी बनाकर गौरवान्वित किया था उसी का इतिहास हर्ष की मृत्यु के बाद धूमिल हो जाता है। परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक नहीं रहने पाई। हम पीछे पढ़ चुके हैं कि कन्नौज के विगत वैभव से साम्राज्य-निर्माण के इच्छुक राजाओं को उत्साह प्राप्त होता था, अतः यशोवर्मन ने कन्नौज पर अधिकार करके उसके पूर्व गौरव को पुनर्जीवित किया। यशोवर्मन के वंश और उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय में हम कोई सुनिश्चित बात नहीं मालूम। परन्तु उसकी राजसभा के प्राकृत कवि वाक्पतिराज ने काव्य 'गौडवहो' लिखा, जिससे उसके विषयों और सैन्य सफलताओं के विषय में काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। हाँ, यह अवश्य है कि चूँकि 'गौडवहो' एक काव्य-ग्रन्थ है अतएव इसमें वर्णित तथ्यों को हम विवेक तथा समालोचनात्मक बुद्धि का आश्रय ग्रहण करके ही सत्य स्वीकार करते हैं। किन्तु जैसा कि डॉ० मजूमदार ने 'Classical Age' की भूमिका में लिखा है— 'गौडवहो' के वर्णन 'हर्षचरित' के वर्णन से कम विश्वसनीय नहीं हैं। इसके अलावा 'हर्षचरित' की भाँति इस प्राकृत काव्य में ऐतिहासिक तथ्यों को विशुद्ध कल्पनात्मक वर्णन स्थलों से सफलतापूर्वक पृथक् किया जा सकता है। कुछ बातों में हर्ष और यशोवर्मन के चरित्रों में समानता है।

वाक्पति के काव्य 'गौडवहो' के नाम से अभिप्राय निकलता है कि इस ग्रन्थ में यशोवर्मन द्वारा गौड विजय का वर्णन किया गया है, परन्तु वास्तविक बात यह है कि इसमें यशोवर्मन की अन्य सैनिक सफलताओं का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। गौड विजय का अन्त में केवल उल्लेख भर कर दिया गया है। पूर्व में यशोवर्मन बंगाल तक अपनी विजयवाहिनी लेकर गया और गौडाधिपति को युद्ध में पराजित कर दिया। यह जान लेना आवश्यक है कि इस समय तक अनुवर्ती गुप्त नरेशों की शक्ति, जिनके राज्य की स्थापना आदित्यसेन गुप्त ने की थी, काफी क्षीण हो गई थी। गौड शक्ति के पूर्व-संक्रमण से मगध के गुप्त राजकुल का विनाश हो गया और मगध के राज्य पर गौडों का अधिकार हो गया। अतएव जब यशोवर्मन ने बंगाल तक अपनी विजय-सेना की यात्रा कराई और गौडाधिपति को युद्ध में हराया तो स्वभावतः मगध राज्य पर भी उसका अधिकार हो गया। यशोवर्मन की पूर्वविजय की पुष्टि एक स्वतन्त्र साक्ष्य द्वारा भी हो जाती है। नालन्दा में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जो यशोवर्मन का उल्लेख एक सर्वशक्तिमान सम्राट के रूप में करता है और इसका यह अर्थ निकाला जा सकता है कि उसकी राजसत्ता मगध तक विस्तृत थी। अतएव हम यह विश्वास कर सकते हैं कि अपनी विजय अभियानों के सम्बन्ध में यशोवर्मन पूर्व दिशा में बंगाल तक गया और गौड नरेश को पराजित करने का यशोपार्जन किया।

यद्यपि यशोवमन और काश्मीर नरेश ललितादित्य न एक सत्काय के लिए एक दूसरे से सहयोग किया था और अरबो के प्रसार को रोकन मे वे सफल भी हो गय, तथापि उनकी मैत्री अधिक दिनो तक टिक नही सकी। उन दोनो म शीघ्र ही युद्ध छिड गया और कुछ समय के लिए उन दोनो म सन्धि हो गइ, फिर भी उनमे पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना के कारण विग्रह की प्रवृत्ति बलवती हो गई। युद्ध म यशोवमन की पराजय हो गई और राजतरगिणी' के अनुसार "कान्यकुब्ज का राज्य, जिसकी सीमायें जमुना तट से लेकर कालिका तट तक थी, ललितादित्य की अधीनता म, उसके घर के आँगन के रूप म हो गया।" यशोवमन के राज्य पर ललितादित्य का अधिकार हो गया। युद्ध मे पराजित हो जाने पर यशोवमन की शक्ति बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट हो गई और उसके यश का गौरव लुप्त हो गया। यशोवमन के काल को बिल्कुल असन्दिग्ध रूप मे निश्चित नही किया जा सकता, परन्तु कतिपय विद्वानो ने ७०० से लेकर ७४० सन ई० तक क समय को उसका शासन काल निर्धारित किया है।

कामरूप का राज्य—प्राचीन भारत का कामरूप राज्य वतमान आसाम राज्य स बडा था। यह राज्य आधुनिक काल म भारत की पूर्वी सीमा का निर्माण करता है। प्राचीन कामरूप की राजधानी प्राग्ज्योतिष थी। यह राज्य करतोया नदी तक फैला हुआ था और इसमे कूचबिहार तथा रगपुर के जिले सम्मिलित थे। महाभारत मे कामरूप राज्य और इसके नरेश का उल्लेख किया गया है। परन्तु, अभिलेखो मे कामरूप का उल्लेख सबसे पहले समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति म किया गया है। प्रयाग प्रशस्ति म पता चलता है कि कामरूप राज्य ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली थी, किन्तु स्वायत्त शासन के सम्बन्ध मे इसन अपना अधिकार अक्षुण्ण रक्खा था। हमने 'हष के पूव भारत की राजनीतिक अवस्था' अध्याय म देखा है कि आदित्यसेन गुप्त के अफसड अभिलेख म भी 'लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तक महासेन गुप्त क पहुँचने का उल्लेख मिलता है। महासेन गुप्त ने कामरूप के राजा को युद्ध मे पराजित किया था। यह राजा कदाचित सुस्थितवर्मन था।

सुस्थितवमन का पुत्र भास्करवमन कामरूप का एक प्रसिद्ध शासक था तथा सम्राट हष का समकालीन था। हषचरित मे कामरूप के राजा के साथ हष की मैत्री और सधि का उल्लेख किया गया है। जब नालन्दा म चीनी यात्री ह्वेनसाग दुबारा रुका तो भास्करवमन ने साग्रह उससे परिचय प्राप्त किया और उससे अपन राज्य का पर्यटन करने का अनुरोध किया। कामरूप की राजधानी म कुछ दिन रुकने के बाद चीनी यात्री को भास्करवमन के साथ हषवद्धन से मिलन के लिए जाना पडा। भास्करवर्मन का दूसरा नाम कुमार भी था। चीनी यात्री ने लिखा है कि कुमार या भास्कर ब्राह्मण था और अपन को विष्णु की सन्तान कहता था। बाण ने लिखा है कि भास्करवमन का जन्म एक अत्यन्त प्राचीन कुल मे हुआ था। भास्करवमन के ही आग्रह पर चीनी सम्राट ने अपन देश के प्रसिद्ध दाशनिक लाओ त्से के ग्रन्थ को संस्कृत मे अनूदित करने के लिए ह्वेनसाग को आदेश दिया।

हषचरित' के अनुसार भास्करवमन शिव का अनन्य भक्त था। उसन हष के साथ जो मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया उसका कारण कदाचित धर्म न होकर राजनीतिक हित का विचार था। कर्णसुवण का राजा शशाक अपनी शक्ति बढाने मे लगा हुआ था। उसकी बढती हुई शक्ति म भास्करवमन का भय था। इसके अतिरिक्त जब देवगुप्त न (मालवाधिपति) शशाक के साथ सधि कर ली तो भास्करवमन का भय और अधिक बढ गया। इधर सम्राट हष भी शशाक की ओर स सशक तथा भयभीत था।

अतएव जब कामरूपाधिपति ने हर्ष से मैत्री का प्रस्ताव किया तो उसने तुरन्त उसे स्वीकार कर लिया। 'हर्षचरित' में बाण ने जिन शब्दों में भास्करवर्मन और हर्ष के संधि-सम्बन्ध का वर्णन किया है, वे स्पष्ट सूचित करते हैं कि दोनों ही नरेश शशांक से भयभीत थे और उसकी शक्ति को रोकने के लिए ही दोनों ने आपस में एक दूसरे से मित्रता की थी।

भास्करवर्मन और हर्ष की इस पारस्परिक संधि के व्यावहारिक परिणाम क्या हुए, यह ठीक से ज्ञात नहीं। कामरूप नरेश ने हर्ष को उसके रण अभियान में, विशेषकर शशांक के विरुद्ध, किसी प्रकार की सैनिक सहायता दी थी अथवा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु जिस उद्देश्य से भास्करवर्मन ने हर्ष के साथ मित्रता स्थापित की थी, उस उद्देश्य की पूर्ति हो गई। भास्करवर्मन के राज्य को शशांक कोई क्षति नहीं पहुँचा सका, बल्कि इस मैत्री सम्बन्ध से कामरूप नरेश भास्करवर्मन को और अधिक लाभ हुआ। ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि हर्ष की मृत्यु के अनन्तर जब उसका साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया तब कामरूप के नृपति ने भी उससे लाभ उठाया और कर्णसुवर्ण को अपने राज्य में मिला लिया। कुछ समय तक बंगाल भास्करवर्मन के अधिकार में रहा। निधानपुर वाले लेख से विदित होता है कि उसने कर्णसुवर्ण की राजधानी से कुछ भूमि दान में दी थी। डॉ० आर० सी० मजूमदार की धारणा है कि भास्करवर्मन ने हर्ष के जीवन-काल में ही बंगाल के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था। "सम्भवतः शशांक का साम्राज्य दो भागों में विभक्त कर दिया गया था, हर्ष के अधिकार में पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और कोंगोद आये और भास्करवर्मन को बंगाल का अवशिष्ट भाग मिला। परन्तु इस सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री इतनी स्वल्प है कि सुनिश्चित सम्मति देने का साहस नहीं किया जा सकता।"

भास्करवर्मन का नाम हर्ष के बाद हमें वांग ह्यू-न-त्सी के विचित्र आक्रमण के सम्बन्ध में फिर सुनने को मिलता है। जब वांग ह्यू-न त्सी ने हर्ष के साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा लेने वाले अमात्य को पूर्ण रूप से दबा दिया तो भास्करवर्मन ने उसको काफी परिमाण में उपहार समर्पित किये। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि हर्ष की मृत्यु के बाद देश में जो विचित्र राजनीतिक घटनायें घटित हुईं उनमें भास्करवर्मन का क्या हाथ था, परन्तु उन घटनाओं का प्रभाव उसके लिए हितकर नहीं प्रमाणित हुआ। वांग ह्यू-न त्सी के आक्रमण के द्वारा भारतीय राजनीति में खिंच आने पर तिब्बत के नरेश ने कामरूप पर विजय प्राप्त कर ली। यद्यपि चीनी अनुश्रुति के साक्ष्य को आधार मानकर इस विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं दी जा सकती, तथापि इस बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि तिब्बती आक्रमण के फलस्वरूप कामरूप के इस प्राचीन राजवंश का पतन हुआ।

भास्करवर्मन के बाद का भी इतिहास मिलता है किन्तु उसके बाद का इतिहास अस्पष्ट और धुंधला है। भास्करवर्मन के समय के पश्चात् से कामरूप की शक्ति क्षीण होने लगी और देश की राजनीतिक गतिविधि में इसका कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं था। मुसलमानों के समय में आसाम ने अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रक्खी, परन्तु अंग्रेजों के आने पर यह उनके अधिकार में चला गया। आज भी आसाम स्वतन्त्र भारत की पूर्वी सीमा पर स्थित एक राज्य है।

नैपाल का राज्य—भारत के साथ नैपाल के सम्बन्ध का सबसे पहला ऐतिहासिक उल्लेख हमें अशोक के काल का मिलता है। ऐसी अनुश्रुति है कि अशोक अपनी पुत्री चारुमती और दामाद देवपाल के साथ नैपाल गया था जहाँ उसने अनेक स्तूपों और

विहारो का निर्माण कराया था। ललितपाटन नामक नगर के निर्माण का श्रेय भी अशोक को ही दिया जाता है। इन बातो से यह अनुमान किया जा सकता है कि अशोक का नेपाल पर भी अधिकार था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यों के बाद नेपाल भारत से स्वतन्त्र हो गया। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे नेपाल का उल्लेख समुद्रगुप्त के करद राज्यो म किया गया है, जिससे यह विदित होता है कि कामरूप की भाँति नेपाल ने भी गुप्त सम्राट की अधीनता स्वीकार कर ली थी, किन्तु स्वायत्त शासन का अधिकार इसने नहीं खोया था। अशोक और समुद्रगुप्त के बीच के काल म नेपाल की क्या राजनीतिक स्थिति थी, यह हमे ज्ञात नही। छठी शताब्दी के अन्त मे हमे नेपाल के इतिहास का कुछ अधिक विश्वसनीय ज्ञान होने लगता है। कई अभिलेखो द्वारा हम ज्ञात होता है कि सातवी शताब्दी के प्रारम्भ मे नेपाल म लिच्छवि नरेश शिवदेव का राज्य था जो वास्तव म नाममात्र को ही राजा था। धीरे धीरे उसके महासामन्त अशुवमन ने सारी शक्ति स्वय हस्तगत कर ली। अशुवमन ने नेपाल से आभीर जाति के आक्रमणकारियो को निर्वासित कर दिया था, जिससे उसकी लोकप्रियता बहुत बढ गई थी और शिवदेव के शासन-काल मे भी राज्य-सचालन म उसका व्यक्तित्व काम कर रहा था। नेपाल के राज्य सिंहासन को हस्तगत कर लेने के बाद अशुवमन ने लिच्छवि नरेश की कन्या से विवाह करके अपनी शक्ति को सुदृढ किया।

अशुवर्मन नेपाल का एक विख्यात नरेश था। उसने कैलाशकूट को अपना राजकीय निवास स्थान बनाया। ह्वेनसाग ने अशुवमन का उल्लेख नेपाल के गुणवान् और विद्वान शासक के रूप मे किया है। कहा जाता है कि उसने व्याकरण की एक पुस्तक लिखी थी और उसका यश सवत्र फैल गया था। अशुवमन ने कम से कम पैंतालीस वर्षों तक राज्य किया और कदाचित ५६५ ई० मे आरम्भ होन वाला एक सम्वत चलाया।

कुछ विद्वानो का विचार है कि सम्राट हर्षवर्द्धन ने नेपाल पर आक्रमण किया था और वहाँ पर अपना सम्वत् चलाया था। परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि नेपाल हर्ष के साम्राज्य मे सम्मिलित था। 'अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया गृहीत कर ' के अस्पष्ट साक्ष्य के आधार पर और नेपाल के सम्वत को हर्ष का सम्वत बताकर यह कहना कि शीलादित्य हर्ष नेपाल का स्वामी था ऐतिहासिक तथ्य का प्रत्याख्यान करना है। अशुवमन के बाद का नेपाली इतिहास अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

काश्मीर का राज्य

प्राचीन भारत मे काश्मीर का शेष भारत के साथ बहुत गहरा और अविच्छिन्न राजनीतिक सम्बन्ध नहीं था, परन्तु सास्कृतिक दृष्टि से काश्मीर कभी भारत से पृथक नही था। कुछ समय तक तो काश्मीर सस्कृत विद्या के प्रमुख केन्द्र के रूप में रहा। अशोक का काश्मीर पर अधिकार था। यहाँ पर उसने अनेक स्तूप बनवाये। नेपाल के नगर ललितपाटन की भाँति काश्मीर मे भी अशोक ने एक नगर की स्थापना की थी। चीनी यात्री के विवरण के अनुसार अशोक ने सम्पूर्ण काश्मीर को एक बौद्ध सघ के ध्यगाथ दान कर दिया था। कल्हण की 'राजतरगिणी' मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि अशोक की मृत्यु के बाद जब मौय साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति का ह्रास होन लगा तो उसके पुत्र जालौक ने, जो काश्मीर मे राज्य प्रतिनिधि के रूप मे शासन कर रहा था अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करके केन्द्र से पृथक एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी थी। जालौक के उपरान्त काश्मीर मे किस राजा अथवा

राजवंश का अधिकार था, यह विश्वसनीय रूप मे हमे ज्ञात नहीं, परन्तु कुषाणों के अधिकार में काश्मीर था, यह असन्दिग्ध रूप से हमे मालूम है। कनिष्क के सम्बन्ध म पढ़ते हुए हम यह जान ही चुके हैं कि उसने एक बौद्ध संगीति का काश्मीर प्रदेश मे आयोजन किया था। हूण आक्रमणों के विषय मे विचार करते हुए हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार मालवा और मध्य भारत से बालादित्य द्वारा निकाले जाने पर मिहिरकुल ने काश्मीर के राजा के यहाँ शरण ली थी और छल प्रवञ्चनामयी नीति का अवलम्बन करके उसने काश्मीर पर अधिकार जमा लिया था। कल्हण ने मिहिरकुल का उल्लेख किया है। काश्मीर के इतिहास के विषय म ये बातें मालूम हो जाती हैं, परन्तु इसके बाद के समय से 'राजतरंगिणी' म एक नवीन राजवंश की स्थापना से जिस इतिहास का वर्णन कल्हण ने किया है, वह अधिकांश रूप मे विश्वसनीय है। इस समय के इतिहास का कल्हण ने बड़े विवेक के साथ वर्णन किया है।

कर्कोटक राजवंश—काश्मीर मे दुर्लभवर्द्धन ने नाग या कर्कोटक वंश की स्थापना की। उसके राज्य काल मे ह्वेनसाग ने काश्मीर की यात्रा की थी। चीनी यात्री के लेख से ज्ञात होता है कि दुर्लभवर्द्धन का राज्य केवल मुख्य काश्मीर तक ही सीमित नहीं था, वरन् पश्चिमी और उत्तरी-पश्चिमी पंजाब के कुछ भाग पर भी उसका अधिकार था। दुर्लभवर्द्धन ने छत्तीस वर्षों तक राज्य किया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी दुर्लभक का शासन काल पचास वर्षों तक रहा परन्तु उसके विषय म कोई ज्ञातव्य ऐतिहासिक बात मालूम नहीं है।

दुर्लभक के उपरान्त उसका पुत्र चन्द्रापीड काश्मीर के राजसिंहासन पर समासीन हुआ। चन्द्रापीड काश्मीर का एक प्रसिद्ध नरेश था। उसने अरबो के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए सम्राट् के पास अपना एक राजदूत भेजा था। यद्यपि उसे चीन देश से कोई सहायता प्राप्त न हो सकी, तथापि उसने मुहम्मद बिनकासिम को काश्मीर की सीमा मे घुसने नहीं दिया। कल्हण ने चन्द्रापीड की न्यायप्रियता का खूब विस्तार के साथ वर्णन किया है। चन्द्रापीड का राज्य-काल केवल साढ़े आठ वर्षों तक ही रहा।

कर्कोटक राजवंश का सबसे प्रसिद्ध शासक ललितादित्य मुक्तापीड था जो ७२४ ई० म सिंहासनारूढ़ हुआ। ललितादित्य काश्मीर का तो सबसे प्रसिद्ध शासक था ही, अपने समकालीन शासकों म भी उसको सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। वह एक महान् विजेता और उल्लेखनीय सम्राट था। उसकी विजयो का वर्णन काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण ने किया है।

ललितादित्य की मृत्यु लगभग ७६० सन् ई० मे हुई। उसने छत्तीस वर्षों तक राज्य किया। उसके पश्चात् काश्मीर के सिंहासन पर कई दुर्बल नरेश बैठे जिनके शासन-काल मे कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटित हुई। जयापीड विनयादित्य कर्कोटक राजकुल का अन्तिम पराक्रमी और प्रतापी सम्राट् था। उसने अपने वंश के विलुप्त गौरव को पुन प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया। अपने पितामह की भाँति जयापीड विनयादित्य ने कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा वज्रायुध अथवा इन्द्रायुध को सिंहासन च्युत कर दिया। कल्हण ने उसकी अन्य विजयो का भी उल्लेख किया है, परन्तु वे सर्वथा असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। जयापीड विद्वानों का संरक्षक था। उसका शासन-काल ८१० ई० तक था। उसके बाद, उसके उत्तराधिकारी दुर्बल

प्रमाणित हुए। नवीं शताब्दी के मध्य में काश्मीर का राज्य कर्कोटकों के हाथ से निकल गया और वहाँ उत्पल वंश की स्थापना हुई।

उत्पल वंश का शासन—काश्मीर में उत्पल वंश की स्थापना करने वाला अवन्तिवर्मन था। उसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने युद्ध से विरत होकर प्रजा के सुख संवर्द्धन की ओर ध्यान दिया। जयापीड स्वयं भी अपने जीवन के अंतिम समय में धनलोलुप हो गया था और उसके उत्तराधिकारियों ने भी जनता का शोषण किया था जिससे काश्मीर के लोग दुःखी और अकिञ्चन हो गये थे। अवन्तिवर्मन ने अपने राज्य के आर्थिक साधनों को विकसित करने तथा बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसने सबसे पहले उन राजकीय अधिकारियों को उनके पद से च्युत कर दिया जो निर्धन ग्रामवासियों को प्रपीडित करते थे। अवन्तिवर्मन ने अपने राज्य में सिंचाई के विकसित साधनों की व्यवस्था की। उसका कर्मसचिव सुय्य लोक-कल्याण के कार्यों में बड़ी अभिरुचि रखता था। उसने नालियों और बाँधों का निर्माण कराया और वितस्ता (झेलम) के मार्ग को बदल कर बाढ़ से उस प्रदेश की रक्षा की। अवन्तिवर्मन की राजसभा को विद्वान और साहित्यकार अपनी उपस्थिति द्वारा गौरवान्वित किया करते थे। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। इन सब कार्यों का वर्णन कल्हण ने बड़े उत्साह से किया है। एक इतिहासकार के रूप में कल्हण के लिए यह उसके गौरव की बात है कि उसने अपने देश के सम्राटों और शासकों की विजयों या सैनिक सफलताओं के वर्णनों से ही अपनी पुस्तक के पृष्ठ नहीं भरे हैं, वरन् उसने उनके लोक कल्याण-सम्बन्धी कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनका सविस्तार उल्लेख किया है।

अवन्तिवर्मन के बाद उसके पुत्रों में राज्याधिकार के लिए युद्ध छिड़ गया। अपने भाइयों को पराजित कर शंकरवर्मन ने राज सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। शंकरवर्मन के पश्चात उसका पुत्र गोपालवर्मन राजा हुआ। इसके शासन काल में शासन-व्यवस्था और अधिक बिगड़ गई तथा प्रजा का दुःख किसी प्रकार भी कम न हो सका।

२—कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार

हर्षोत्तर कालीन भारत की राजनीतिक शक्तियों में गुर्जर प्रतिहारों का राज्य प्रमुख था, यह हम पहले ही कह चुके हैं। गुर्जर राजकुल राजपूत जाति का था। गुर्जर राजकुल प्रतिहार शाखा का था, अतएव इतिहास में यह गुर्जर प्रतिहार के नाम से विख्यात है। सन् ८३६ ई० के लगभग प्रतिहार राजवंश ने महोदय (कन्नौज) के नगर में अपनी सत्ता जमा ली। नवीं शताब्दी के अन्त के पूर्व ही इस सम्राट-कुल की शक्ति सभी दिशाओं में फैल गई और महान प्रतिहार सम्राट की आज्ञा पंजाब के पहाड़ों से लेकर मध्य भारत में देवगढ़ तक और काठियावाड़ में ऊना से लेकर उत्तरी बंगाल में पहाड़पुर तक के विस्तृत भूभाग में मानी जाती थी।

गुर्जर प्रतिहारों की वंशावलियों द्वारा हमें ५०० ई० के पूर्व का उनका इतिहास नहीं विदित होता। सबसे पहले उनका उल्लेख पुलकेशिन द्वितीय के एहोल अभिलेख (६३४ ई०) में किया गया है। हर्षचरित में बाण ने भी उनका उल्लेख किया है। छठी शताब्दी के प्रारम्भ से गुर्जरों ने भारत की राजनीतिक घटनाओं में महत्त्वपूर्ण

भाग लिया। उन्होंने पंजाब, मारवाड़ और भड़ौंच में अपने राज्य स्थापित कर लिये। आठवीं शताब्दी के मध्य में लगभग कतिपय गुर्जर सरदारों ने राष्ट्रकूट सम्राट् के अधीन उज्जैन में एक यज्ञ में अनुष्ठान काम में द्वार रक्षक का काम किया। अतएव वे लोग गुर्जर प्रतिहार कहे जाने लगे। गुर्जर प्रतिहारों के मूल पर विचार करते हुए हम इस समस्या का विवेचन करेंगे।

गुर्जर प्रतिहारों के प्रारम्भिक इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने अरब के प्रसार और विस्तार को रोका और उनको सिन्ध से आगे बढ़ने नहीं दिया। अरबों के प्रसार को रोककर गुर्जर प्रतिहारों ने वस्तुतः भारत के प्रतिहारी (द्वार रक्षक) का कार्य किया। इस वंश के संस्थापक नागभट्ट प्रथम ने, जिसका समय अनुमानतः ७२५–७४० तक निश्चित किया जा सकता है, म्लेच्छों को पराजित किया था। उसके द्वारा म्लेच्छों की पराजय सम्भवतः इसी घटना का उल्लेख करती है कि उसने सिंध प्रान्त के अरबों को आगे बढ़ने से रोक दिया था। ह्वेनसांग ने भीनमल के गुर्जर राज्य का उल्लेख किया है जिसके आधार पर नागभट्ट की शक्ति का केन्द्र वहीं पर निश्चित किया जा सकता है।

गुर्जर प्रतिहार वंश का चतुर्थ नरेश वत्सराज अपने कुल का एक शक्तिशाली राजा था। यह सम्भवतः नागभट्ट प्रथम का प्रपौत्र था। वत्सराज ने बंगाल के शासक को पराजित किया और उससे दो छत्र छीन लिये। किन्तु राष्ट्रकूट वंश के ध्रुव नामक राजा ने उसे पराजित कर दिया और अन्त में वह बंगाल के राजा द्वारा भी हरा दिया गया। वत्सराज ने अपने वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयास किया।

(वत्सराज) का उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय (८००–८३४) भी अपने कुल का एक प्रतापी सम्राट था। नागभट्ट को अपने सैन्य जीवन के प्रारम्भ में कई सफलतायें प्राप्त हुईं। नागभट्ट द्वितीय को इस बात के लिए श्रेय प्रदान किया जाता है कि उसने उत्तर में सिंध से लेकर दक्षिण में आंध्र और पश्चिम में अनर्त (काठियावाड़ में एक स्थान) से लेकर पूर्व में बंगाल की सीमाओं तक अपने राज्य का विस्तार किया। यद्यपि राष्ट्रकूट वंश के राजा गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट द्वितीय को पराजित कर दिया, तथापि कन्नौज पर प्रतिहार वंश का अधिकार बना रहा। नागभट्ट द्वितीय को गोविन्द तृतीय द्वारा पराजय सहन करने से कुछ हानि अवश्य उठानी पड़ी, किन्तु कन्नौज को उसने अपने हाथ से नहीं जाने दिया और इसे अपनी राजधानी बनाई। नागभट्ट द्वितीय का उत्तराधिकारी रामभद्र था (८३४–८४०), जिसके शासन-काल में कोई महत्त्वपूर्ण घटना घटित नहीं हुई।

मिहिरभोज—मिहिरभोज अपने वंश का अत्यन्त प्रतापी और प्रभावशाली नरेश था। इसने एक सुदीर्घ काल (८४०–८९०) तक शासन किया। मिहिरभोज को ही वास्तव में अपने राजकुल की सीमाओं को विस्तृत करने का श्रेय दिया जा सकता है क्योंकि उसके पूर्वजों का पर्याप्त समय पालों और राष्ट्रकूटों से युद्ध करने में व्यतीत हो जाता था। मिहिरभोज को इस बात का गौरव प्राप्त था कि राजनीतिक प्रभुता के लिए तीन राजकुलों में जो संघर्ष छिड़ा, उसमें अपने वंश को उसने सबसे अधिक शक्तिशाली बनाया। विभिन्न दिशाओं में उसकी विजयों के फलस्वरूप गुर्जर-प्रतिहारों का राज्य एक वास्तविक साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। उसके राज्य में पूर्वी पंजाब, राजपूताना का अधिकांश भाग, वर्तमान उत्तर प्रदेश का अधिकतर हिस्सा और ग्वालियर आदि प्रदेश सम्मिलित थे। अपने उत्तराधिकारियों की भांति भोज ने भी सम्भवतः सुराष्ट्र (काठियावाड़), मालवा और अवंति पर शासन किया

था। इस प्रकार भोज के अधीन कन्नौज का राज्य उत्तर-पश्चिम में सतलज द्वारा, पश्चिम में वहिंद (हकरा) द्वारा, जिसके उस ओर सिंध का मुस्लिम राज्य था और दक्षिण पश्चिम में नर्मदा नदी द्वारा घिरा हुआ था। नर्मदा नदी राष्ट्रकूटों और गुर्जर प्रतिहारों के साम्राज्यों के मध्य में थी और उनके बीच एक विभाजक सीमा का निर्माण करती थी। पूर्व में भोज के राज्य की सीमा बंगाल और बिहार के राजा देवपाल के राज्य से बिल्कुल निकट थी। भोज ने देवपाल पर सफलतापूर्वक आक्रमण किया। दक्षिण में जैजाकभुक्ति (बुंदेलखण्ड) के चन्देलों का राज्य था जो अभी शक्ति प्राप्त कर रहा था। इस राज्य ने कदाचित मिहिरभोज की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार गुर्जर प्रतिहार-साम्राज्य के विस्तार की तुलना गुप्तों या हर्ष के साम्राज्य से की जा सकती है। भोज के एक अर्द्ध-शताब्दी के सुदीर्घकालीन शासन में प्रतिहार वंश ने अपने गौरव और समृद्धि का उपभोग किया। भोज के विषय में हमें उसके अभिलेखों द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। उसकी मुद्रायें भी हमें उसके सम्बन्ध में कुछ सूचना प्रदान करती हैं। उसकी रजत मुद्रायें काफी प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई हैं जो उसके विस्तृत साम्राज्य और सुदीर्घ शासन-काल का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। उसके सिक्कों पर फारसी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। भोज ने 'आदि वराह' और 'प्रभास' के विरुद धारण किये थे जो उसके सिक्कों पर उत्कीर्ण हैं।

भोज विष्णु और शिव का उपासक था। उसने सम्भवतः भोजपुर की स्थापना कराई थी। अरब यात्री सुलेमान ने भोज के साम्राज्य, उसके शासन, उसके राज्य के व्यापार तथा समृद्धि की बड़ी प्रशंसा की है। उसने उसे अरबों तथा मुसलमानों का सबसे प्रबल शत्रु कहा है। सुलेमान ने लिखा है "जुज (गुजरों) के राजा के पास असंख्य सेनायें हैं, और किसी भी भारतीय राजकुमार के पास इतनी सुन्दर अश्वारोही सेना नहीं है। उसके पास अतुल सम्पत्ति है और उसके घोड़ों तथा ऊँटों की संख्या भी बहुत अधिक है। भारत में और कोई ऐसा अन्य देश नहीं है जो डाकुओं से इसकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित हो।"[1] काश्मीर नरेश शंकरवर्मन उत्पल के लिए कहा जाता है कि उसने भोज की शक्ति को रोका था। परन्तु यह स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता कि इस बात में सत्यांश कितना है।

महेन्द्रपाल—मिहिरभोज का उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल (८९०–९०८) अपने महान पिता का एक योग्य पुत्र था। अपने पिता द्वारा प्राप्त साम्राज्य के ऊपर न केवल उसने अपना सुदृढ़ अधिकार रक्खा, वरन उसमें कुछ अन्य भाग भी मिलाये। उसके अभिलेख पेहेवा (करनाल, आधुनिक पूर्वी पंजाब का एक जिला), मगध में गया, तथा काठियावाड़ में प्राप्त हुए हैं। सियहदोनि (ग्वालियर) तथा श्रावस्ती के भुक्ति में भी उसके अभिलेख मिले हैं। उसके अभिलेख यह सूचित करते हैं कि उसने पालों से मगध और उत्तर बंगाल छीन लिया। काश्मीर के राजा शंकरवर्मन के आक्रमणों के फलस्वरूप महेन्द्रपाल की राज्य सीमा कुछ घट गई, परन्तु अन्य किसी प्रकार के ह्रास की सूचना हमें नहीं प्राप्त होती। महेन्द्रपाल ने हर्ष और यशोवर्मन की भाँति विद्या को प्रोत्साहन दिया। उसके राजदरबार में राजशेखर नामक कवि रहता था।

महीपाल—महेन्द्रपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र भोज द्वितीय हुआ किन्तु अत्यन्त अल्पकालीन शासन के बाद वह मर गया। उसके बाद उसका अनुज महीपाल (९१०–४०) कन्नौज के राज सिंहासन पर आसीन हुआ। महीपाल के शासन-काल से

१ इलियट तथा डॉसन *The History of India as told by its own Historians*.

कन्नोज के प्रतिहार-वंश की राजलक्ष्मी विचलित होने लगी। परन्तु उसके शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में उसने राज्य में शान्ति और समृद्धि व्याप्त थी। साम्राज्य की शक्ति इस समय अक्षुण्ण बनी रही और इसकी सीमायें संकुचित भी नहीं होने पाईं। कवि राजशेखर ने, जिसने उसकी राजसभा को भी सुशोभित किया था, उसे आर्यावर्त का महाराजाधिराज कहा है और उसने मुरला, मकलों, कलिंगों, करलों और कुन्तलों पर महीपाल की विजयों का भी उल्लेख किया है। परन्तु महीपाल की स्थिति निरापद नहीं थी। गुर्जर प्रतिहारों के चिर शत्रु राष्ट्रकूट और बंगाल के पाल नरेश दोनों ही सजग हो गये और कन्नौज के राज्य पर आक्रमण करने का अवसर ताकने लगे। सन् ९१६ ई० में राष्ट्रकूट नरेश (इन्द्र-तृतीय) ने एक बहुत बड़ी सेना लेकर कन्नौज पर आक्रमण कर दिया और इसको अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु महीपाल ने चन्देल राजा की सहायता से अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। कन्नौज के साथ-साथ उसने दोआब, बनारस ग्वालियर और सुदूरवर्ती काठियावाड पर भी अपना स्वामित्व स्थापित किया। काठियावाड निश्चय ही उसके अधिकार में आ गया था, क्योंकि ९६१ में स्वामिभक्त चापस ने चालुक्यों की अधीनता स्वीकार कर ली। 'चण्डकौशिक' नाटक के रचयिता क्षेमीश्वर का कथन है कि उसके आश्रय-दाता (महीपाल) ने कर्नाटकों, अर्थात् राष्ट्रकूटों पर विजय प्राप्त की। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रकूटों के आक्रमण ने प्रतीहार साम्राज्य की शक्ति पर्याप्त मात्रा में तोड़ दी। 'प्रचण्ड-पाण्डव' काव्य के एक श्लोक से पता चलता है कि जिस अवसर की प्रतीक्षा में महीपाल बैठा था वह उसे प्राप्त हो गया और उसने कुछ प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। परन्तु इस कथन पर विश्वास करना कठिन है। राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से प्रतिहार साम्राज्य को काफ़ी क्षति पहुँची और अधीनस्थ प्रान्तों ने स्वतन्त्रता की घोषणा करने का अवसर ढूँढना प्रारम्भ किया।

महीपाल के उत्तराधिकारी—महीपाल की मृत्यु सन् ९४४ ई० के लगभग हुई। उसके उपरान्त महेन्द्रपाल द्वितीय राजा हुआ। उसने अपने पिता के राज्य को दो तीन वर्षों तक सम्हाला, परन्तु उसके बाद उसका अनुज देवपाल प्रतिहार साम्राज्य का स्वामी हुआ। देवपाल के समय से साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। परवर्ती प्रतिहार राजाओं ने गंगा की घाटी, राजपूताना में कुछ भागों और मालवा पर किसी प्रकार अपना अधिकार स्थापित रक्खा। परन्तु चन्देलों ने, जो पहले उसके सामन्त थे, उसका विरोध करते हुए अपनी आक्रमणात्मक नीति प्रारम्भ की। चालुक्यों ने गुजरात में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, परमार मालवा में स्वतन्त्र हो गये और चन्देलों तथा चेदियों ने यमुना-नर्मदा के मध्यवर्ती भाग में अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। महीपाल के पश्चात् महेन्द्रपाल देवपाल, विजयपाल और राज्यपाल प्रतिहार वंश के राजसिंहासन पर बैठ थे, परन्तु इनमें से कोई भी अपने वंश के गौरव को पुनर्जीवित न कर सका। जब राज्यपाल कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा (९६०–१०१८) तब उसका राज्य सिकुड़कर केवल गंगा और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश तक ही रह गया था। मुसलमानों के आक्रमण दसवीं शताब्दी में होने लगे थे जिनका आघात राज्यपाल के राज्य को भी लगा। जब गजनी के महमूद ने १०१८-१९ ई० में कन्नौज पर आक्रमण किया तो राज्यपाल ने निर्विरोध आत्मसमर्पण कर दिया। फिर भी महमूद ने कन्नौज को काफी लूटा-खसोटा। महमूद के लौट जाने के बाद चन्देल राजकुमार विद्याधर ने राज्यपाल को उसकी कायरता का दण्ड देने के लिए उसके ऊपर आक्रमण कर दिया और युद्ध में उसे मार डाला। इस प्रकार प्रतिहार साम्राज्य को एक दुःखद

अन्त देखना पड़ा। अभिलेखों में त्रिलोचन और यशपाल के नाम मिलते हैं। इन अभिलेखों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रतिहार राजाओं के हाथ में कन्नौज निकल गया था और इस पर १०९० ई० के लगभग गहड़वाल वंश के चन्द्रदेव ने अपना अधिकार जमा लिया था।

सभी प्रतिहार-नरेश शैव या वैष्णव धर्मों के अनुयायी थे। कुछ प्रतिहार शासक वैष्णव धर्म को मानते थे और कुछ शैव धर्म को। भगवती के प्रति भी उनकी श्रद्धा और भक्ति थी। गुर्जर प्रतिहारों के पश्चात् कन्नौज का राज्य गहड़वालों के अधिकार में चला गया।

कन्नौज के गहड़वाल नरेश

गहड़वालों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनका मूल दक्षिण भारत में था परन्तु इस धारणा का अन्य विद्वान् समर्थन नहीं करते। कन्नौज पर चन्द्रदेव नामक एक गहड़वाल सरदार ने कब्जा कर लिया। चन्द्रदेव ने सम्राटोचित विरुद धारण किये, जिससे प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र नृपति था। चन्द्रदेव ने पांचाल नरेश को, जिसका सम्बन्ध राष्ट्रकूट कुल से था, पराजित कर दिया और कलचुरियों की उपेक्षा करते हुए उसने अपने राज्य का विस्तार सम्भवतः इलाहाबाद और बनारस तक किया। अपने अभिलेखों में चन्द्रदेव ने अपने को काशी, अयोध्या कान्यकुब्ज और इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का रक्षक कहा है, यह अनुमान किया जा सकता है कि इन प्रदेशों पर उसका अधिकार था। चन्द्रदेव को मगध के शासक ने पराजित कर दिया। गहड़वालों ने काशी को अपनी दूसरी राजधानी का रूप प्रदान किया और अभिलेखों में उनको कान्यकुब्ज तथा काशी का स्वामी कहा गया है।

मदनचन्द—चन्द्रदेव का उत्तराधिकारी मदनचन्द्र हुआ। गहड़वालों ने यमीनी शासकों की सत्ता का विरोध किया, क्योंकि मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों से ज्ञात होता है कि मसूद तृतीय (१०९९–१११५ ई०) ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया जिसकी राजधानी कन्नौज थी और उसके राजा को बन्दी बना लिया। इन इतिहासकारों के अनुसार मल्हिराजा ने (मल्ह नाम सम्भवतः मदनचन्द्र का एक विकृत रूप है) एक गहरी रकम भेंट कर अपने को मुक्त किया। इस घटना का भारतीय विवरण भी प्राप्त होता है। एक समकालीन आभिलेखिक साक्ष्य के अनुसार मदनचन्द्र के पुत्र गोविन्दचन्द्र ने अपने यौवराज्यकाल में ही अपने पिता के जीवन काल में मुसलमानों के ऊपर विजय प्राप्त की। अतएव हम मुस्लिम इतिहासकारों के इस कथन को पूर्णतया सत्य नहीं मान सकते कि मुस्लिम शासकों ने मदनचन्द्र को पराजित किया था।

गोविन्दचन्द्र—गोविन्दचन्द्र सन् १११४ ई० के पूर्व अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठा। गोविन्दचन्द्र निस्सन्देह अपने कुल का सबसे प्रतापी और पराक्रमी शासक था। उसके चालीस अभिलेख, जिन पर १११४ से लेकर ११५४ तक के वर्षों की तिथियाँ पड़ी हैं उसके सुदीर्घ शासन काल का परिचय देते हैं। उसके सिक्कों से भी गहड़वालों की परिवर्धमान शक्ति की सूचना प्राप्त होती है। उसके अभिलेख यह स्पष्ट सूचित करते हैं कि बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पचास वर्षों में उत्तरी भारत के काफी विशाल भूभाग पर उसका प्रभाव विद्यमान था। उसने लाहौर के यमीनी शासकों का विरोध किया और पालों से भी वह लड़ा। उसने सेन राजाओं की नौका शक्ति की उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए मुंगेर और पटना तक अपनी सेना बढ़ाई। पटना और मुंगेर में गोविन्दचन्द्र के लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे यह मालूम होता है कि

उसने इन स्थानों पर दान किये थे। ये स्थान अवश्यमेव उसके अधिकार में रहे होंगे। उसने चंदेलों को पराजित करके उनसे पूर्वी मालवा छीन लिया। दक्षिण कोशल के कलचुरि-नरेशों के साथ भी उसका संघर्ष हुआ। अहिलपाटन के चालुक्य नरेश और काश्मीर के राजा के साथ गोविन्दचन्द्र ने कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसके संधि और विग्रह दोनों के सम्बन्धों का विवेचन करने से यह सिद्ध हो जाता है कि गोविन्दचन्द्र की ख्याति उत्तर और दक्षिण में काफी दूर तक फैली हुई थी।

राजा गोविन्दचन्द्र ने केवल विजय द्वारा ही अपनी कीर्ति नहीं बढ़ाई, वरन् दानोपहारों द्वारा भी यशोपार्जन किया। उसके शासन-काल में उसके संधि विग्रहिक (मन्त्री) ने व्यवहार (कानून) के ऊपर 'कल्पतरु' नामक एक ग्रन्थ लिखा। उसके ११२८ सन् ई० तिथिवाले एक लेख से देश में प्रचलित धार्मिक अवस्था का हम काफी महत्त्वपूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। राजा अपने अभिलेख में घोषणा करता है कि बनारस में गंगा-स्नान करने के बाद उसने देवताओं, ऋषियों और पूर्वजों का स्मरण-आराधन किया। इसके पश्चात् सूर्य, शिव और वासुदेव की पूजा करने के बाद अग्नि को चावल के नैवेद्य समर्पित किये। इन सब क्रियाओं का अनुष्ठान कर चुकने के उपरान्त उसने जेतवन के मठ में निवास करने वाले शाक्य भिक्षुओं के संघ को ६ ग्राम दान में दिये थे, क्योंकि वह बौद्ध भिक्षुओं से बहुत अधिक प्रसन्न हुआ था। उत्कल के शाक्यरक्षित और उनके शिष्य वागीश्वर रक्षित ने राजा गोविन्दचन्द्र को बहुत अधिक प्रसन्न किया था। गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी ने बौद्ध धर्म के पतन-काल में उसको संरक्षण प्रदान किया। कुमारदेवी ने सारनाथ में एक बौद्ध बिहार बनवाया।

विजयचन्द्र—गोविन्दचन्द्र का उत्तराधिकारी उसका तृतीय पुत्र विजयचन्द्र (११५५–११७०) था। उसने तुर्कों से मध्यदेश की रक्षा की। अपने शासन-काल में उसने मुसलमानों को अपने राज्य की भूमि पर पाँव नहीं रखने दिया। 'पृथ्वीराज रासो' नामक हिन्दी काव्य-ग्रन्थ में विजयचन्द्र की विजयों की एक तालिका दी हुई है परन्तु उस पर विश्वास करना कठिन है। विग्रहराज बीसलदेव के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसने विजयचन्द्र से दिल्ली छीन ली।

जयचन्द्र—विजयचन्द्र का उत्तराधिकारी जयचन्द्र ११७० ई० में कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। अपने वंश का वह एक प्रतापी नरेश था। उसके पास एक विशाल सेना थी। उसको कतिपय मुसलमान इतिहासकारों ने भारत का सबसे बड़ा सम्राट कहा है। भारतीय इतिहास और अनुश्रुति में उसे काफी ख्याति (या कुख्याति ?) प्राप्त हुई है। उसके अभिलेख, जिन पर ११७० और ११८९ के बीच की तिथियाँ खुदी हुई हैं यह सूचित करते हैं कि उसने उत्तराधिकार द्वारा जो विशाल साम्राज्य प्राप्त किया था, उसकी पूर्ण रूप से उसने रक्षा की। कहा गया है कि उसने देवगिरि के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को कई बार पराजित किया। उसके राज्य की पूर्वी सीमायें गया तक फैली हुई थीं। पूर्व में उसका राज्य बंगाल के सेनों के राज्य की सीमा को स्पर्श करता था, अतएव इन दोनों राज्यों में परस्पर संघर्ष होना स्वाभाविक था। बंगाल के सेन राजाओं के साथ गहड़वाल नरेश जयचन्द्र की चिरकालीन लड़ाई छिड़ गई। पालों के पतन के उपरान्त उसने गया जिले पर अधिकार कर लिया, किन्तु लक्ष्मण सेन ने न केवल गया को पुनः अपने राज्य में मिलाया, अपितु इलाहाबाद और बनारस तक अपनी विजय वाहिनी ले गया। भारत के लिए यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि जिस समय उत्तरी सीमा को पार करके तुर्क प्रवेश कर रहे थे उस समय उसके दो शक्तिशाली नरेश बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन और कन्नौज-नरेश

जयचन्द्र आपस मे ही लड़ते रह गये और जमकर विदेशी आक्रमणकारियो का सामना नही कर सके । गोरी ने ११९२ ई० मे पृथ्वीराज को हराकर कन्नौज के राज्य पर आक्रमण कर दिया । इस समय जयचन्द्र काफी वृद्ध हो गया था, फिर भी अपनी सेना लेकर उसने गोरी के आक्रमण का सामना करने के लिए रणभूमि की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावा के मैदान मे उससे जाकर मुठभेड़ की । वीरतापूर्वक लड़ते हुए जयचन्द्र युद्धभूमि मे मारा गया । किन्तु उसके राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार नही जमाया और उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा दिया ।

गहडवालो का ह्रास—जयचन्द्र की राजसभा मे संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि श्रीहर्ष रहते थे, जिन्होंने नैषधचरित नामक महाकाव्य और 'खण्डन खण्डखाद्य' नामक तर्क ग्रन्थ का प्रणयन किया । जयचन्द्र के पश्चात हरिश्चन्द्र ने भी कुछ समय तक अवश्य कन्नौज पर राज्य किया । गहडवालो का शासन कन्नौज राज्य के केवल पूर्वी भाग पर कुछ दिनो तक और जारी रहा, परन्तु सन १२२६ ई० तक यह भी मुसलमानो के हाथ मे चला गया । कन्नौज पर अभी तक एक सामन्त का शासन था, परन्तु सन् १२२६ ई० मे मुस्लिम शासक इल्तुतमिश ने इस पर अधिकार जमा लिया । इसके बाद भारतीय इतिहास मे कन्नौज का कोई विशेष राजनीतिक महत्त्व नहीं रह गया । शेरशाह ने इसको नष्ट कर दिया और आज प्राचीन कन्नौज भग्न स्थिति मे है । आर० डी० बनर्जी का विश्वास है कि मुहम्मद गोरी ने कन्नौज पर भी अपना अधिकार नही रक्खा था । पहले यह विश्वास किया जाता था कि अपनी पराजय के बाद गहडवालो ने अरावली पर्वत की शरण ली और जोधपुर शासन करने वाले राठौर उन्ही की सन्तान थे । 'कैम्ब्रिज इडियन हिस्ट्री' मे इस मत का खडन किया गया और लिखा है कि इल्तुतमिश से पराजित हो जाने के बाद गहडवाल कुल का उन्मूलन हो गया । गहडवाल-नरेश ब्राह्मण धर्म के लगभग समस्त रूपो के प्रति भक्ति और आस्था रखते थे । गोविन्दचन्द्र और उसकी रानी कुमारदेवी ने बौद्ध धर्म के प्रति भी अपनी आस्था दिखलाई ।

शाकम्भरी और अजमेर के चौहान

चाहमान वश के अनेक राजपूत सरदारो ने आठवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही अजमेर के उत्तर मे साँभर झील के निकट साभर (शाकम्भरी) नामक स्थान पर राज करने लगे थे । इस वश की अन्य शाखाओं का राज्य आगरा और ग्वालियर के मध्य मे धौलपुर नामक स्थान मे, रणथम्भोर मे और आबू पर्वत के उत्तर मे नन्दूल (नदोल) मे भी था परन्तु ये वश शाकम्भरी के चौहानो की तरह विख्यात और महत्त्वपूर्ण नही थे । इसी वश के कुछ सरदार गुर्जर महेन्द्रपाल द्वितीय के समय मे उज्जैन के शासक के सामन्त थे । भड़ौच चाहमान सरदार, नागभट्ट प्रथम के सामन्त थे साँभर के चौहानों की ही तरह प्राचीन थे ।

विग्रहराज द्वितीय इस वश का प्रथम उल्लेखनीय नरेश था । उसने सन् ९७३ के लगभग शासन करना आरम्भ किया और अपने राजवश की स्वतन्त्रता स्थापित की । कहा जाता है कि उसने अन्हिलवाड के मूलराज प्रथम को पराजित किया । पृथ्वीराज प्रथम ने सन् ११०५ ई० के लगभग राज्य किया । उसके पुत्र अजयराज ने अजयमेरु अथवा अजमेर नामक नगर की स्थापना की । उसने बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे शासन करना शुरू किया । वह अपने कुल का प्रथम शासक था जिसने

एक आक्रमणात्मक साम्राज्यवादिनी नीति का अवलम्बन किया। उसने उज्जैन पर आक्रमण किया और परमार सेनानायक को बंदी बना लिया। उसके लिए यह कहा जाता है कि उसने युद्ध मे तीन राजाओं को तलवार के घाट उतार दिया। परन्तु हमे इस बात का विवरण प्राप्त नहीं है कि इन युद्धो के फलस्वरूप उसके राज्य की सीमा मे कोई विस्तार हुआ या नही। अजयराज के विषय मे एक विचित्र बात यह है कि उसकी कुछ मुद्राओं पर उसकी रानी सोमलदेवी का नाम उत्कीर्ण मिलता है। यह बात भारतीय इतिहास मे बहुत ही कम दिखलाई पडती है। अजयराज के उपरान्त अर्णोराज सिंहासनारूढ हुआ, जिसके दो अभिलेखो पर सन ११३९ की तिथि दी हुई है। उसका जयसिंह सिद्धराज और अन्हिलवाड के कुमारपाल से संघर्ष हुआ। अर्णोराज ने कुछ तुरुष्को (अर्थात् पजाब के मुसलमानो) को, जिन्होंने उसके राज्य पर आक्रमण किया था, युद्ध मे पराजित कर दिया और मार डाला।

विग्रहराज-चतुर्थ—विग्रहराज चतुर्थ अथवा बीसलदेव चाहमान वंश का एक अति प्रतापी और विख्यात नरेश था, जिसने चाहमानों की शक्ति को काफी बढ़ा दिया और एक साम्राज्य-सत्ता के रूप मे परिणत करने का प्रयास किया। सन ११५३ ई० मे विग्रहराज चतुर्थ बीसलदेव शाकम्भरी राजसिंहासन पर बैठा। मेवाड के बिजोला नामक स्थान से एक लेख प्राप्त हुआ है जिससे यह सूचित होता है कि उसने गहडवालो से दिल्ली छीनकर अपने राज्य मे मिला ली। परन्तु कुछ विद्वानो का कथन है कि यद्यपि विग्रहराज चतुर्थ एक वीर विजेता था और अपनी विजयो द्वारा उसने अपने राज्य की सीमा का पर्याप्त विस्तार भी किया, तथापि उसके द्वारा दिल्ली विजय की बात प्रामाणिक नही मानी जा सकती। उसने जाबालिपुर नड्डूल और राजपूताना के अन्य छोटे-छोटे भूभागो पर अपना अधिकार कर लिया। ये राज्य कुमार पाल के अधीनस्थ थे, अतएव इनको विजित कर विग्रहराज चतुर्थ ने उस पराजय का बदला लिया जो उसके पिता को चालुक्यो द्वारा सहन करनी पडी। डा० आर० सी० मजूमदार ने लिखा है कि अपनी उत्तरी विजयो द्वारा विग्रहराज ने अमर यश का उपार्जन किया। उसने ढिल्लिका (दिल्ली) को जीत लिया। विग्रहराज चतुर्थ के लेखो से पता चलता है कि उसका राज्य उत्तर म शिवालिक की पहाडियो तक फैला हुआ था और दक्षिण मे कम से कम उदयपुर और जयपुर जिले को उसके राज्य की सीमा स्पर्श करती थी।

विग्रहराज चतुर्थ प्राचीन भारत के राजपूत राजाओ की पंक्ति मे एक गौरवशाली स्थान का अधिकारी है। वह केवल विजेता ही न था, उसका सुयश उसके एक ग्रंथ हरिकेलि नाटक पर अवलम्बित है। वह स्वयं एक नाटककार था तथा विद्वानो और कवियो का आश्रयदाता भी था। उसके दरबार में सोमदेव रहता था, जिसने अपने सरक्षक के सम्मान मे ललितविग्रहराज नाटक' का प्रणयन किया। उसने मालवा के भोज प्रथम की भांति अजमेर मे एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना कराई थी। इस सस्कृत विद्यालय के स्थान पर एक मस्जिद खडी है जो विद्यालय की एक भव्य दीवाल तुडवा कर बनवाई गई थी। अजमेर की इस मस्जिद का नाम 'अढाई दिन का झोपडा' है। इसमे जडे कुछ पाषाण-खण्डो पर 'हरिकेलि नाटक' के कुछ अंश खुदे हुए दिखाई पडते हैं। 'ललितविग्रहराज नाटक' भी संस्कृत विद्यालय के भग्नावशेषो पर उत्कीर्ण मिला है। विग्रहराज चतुर्थ का देहान्त ११६४ ई० मे हुआ।

पृथ्वीराज-तृतीय—चाहमान वंश का सबसे प्रतापी राजा पृथ्वीराज-तृतीय था। डॉ० त्रिपाठी के शब्दो मे, 'इस राजा के व्यक्तित्व पर एक अद्भुत प्रभामण्डल है

जिसने रोमाचक जनश्रुतिया और गाना या उसे नायक बना दिया है।[1] डॉ० मजूमदार ने भी लिखा है कि भारतीय इतिहास म पृथ्वीराज का नाम एक अद्वितीय स्थान को अधिकृत करता है। उत्तरी भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट के रूप म उसकी स्मृति लोकगायाओ से समलकृत की गई है और इसन लोकगीतो को विषय प्रदान किया है। चन्दवरदाई नामक ख्यातनामा कवि ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य पृथ्वीराजरासो मे उसे अमर बना दिया है, परन्तु जिस रूप म यह पुस्तक उपलब्ध है, उस रूप मे इस उसके जीवन का समकालीन और प्रामाणिक विवरण ग्रथ नही माना जा सकता। उसके जीवनचरित मे सम्बन्धित एक अन्य ग्रन्थ है जिसका नाम 'पृथ्वीराजविजय' है। यह प्राचीनतर और अधिक विश्वसनीय ग्रन्थ है। परन्तु इसका कुछ ही अश अभी तक प्रकाश मे आया है।[1] मुस्लिम इतिहासकारो न भी पृथ्वीराज तृतीय के विषय मे अपने विवरण दिये हैं।

पृथ्वीराज-तृतीय एक महान् विजेता और रणबांकुरा सेनानायक था। उसने परमाल नामक चन्देल राजा को पराजित किया और उसने ११८२ ई० मे उसकी राजधानी महोबा छीन ली। चन्देल नरेश के ऊपर पृथ्वीराज चौहान की विजय का एक अभिलेखिक प्रमाण भी प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह महोबा पर अधिक समय तक अधिकार न रख सका।

पृथ्वीराज का यश मुख्यत इस बात पर अवलम्बित है कि उसन मुस्लिम आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया, यद्यपि देश मे राष्ट्रीयता की भावना के अभाव और अपनी ही राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण वह दुबारा इस आक्रमण के सामने ठहर न सका। मुहम्मद गोरी न पजाब को विजित कर लेन के उपरान्त पृथ्वीराज चौहान के पास यह सन्देश भिजवाया कि वह चौहान राजा के साथ मित्रता करना चाहता है। परन्तु पृथ्वीराज न जो इस समय यौवन की स्फूर्ति और साहसिकता स उद्वेलित हो रहा था, न केवल गोरी के प्रस्ताव को घृणापूर्वक ठुकरा दिया वरन वह मुहम्मद गोरी स मोर्चा लेन के लिए आगे बढा। परन्तु अपन वृद्ध मन्त्री के परामर्श को मानकर वह चुपचाप गोरी के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। जब मोहम्मद गोरी, पृथ्वीराज के राज्य की सीमा मे प्रविष्ट होकर उसकी प्रजा को सत्रस्त और उत्पीडित करने लगा तो चाहमान राजा एक विशाल सेना लेकर उसका सामना करने के लिए आगे बढा। तराइन के मैदान म दोनो सेनाओ की मुठभेड हुई और एक भयकर युद्ध हुआ। युद्ध म मुसलमानो के छक्के छूट गये और वे भाग खडे हुए। गोरी बडी कठिनाई से अपने कुछ विश्वासपात्र सरदारो के साथ प्राण लेकर रणक्षेत्र म भाग निकला। "बुझते हुए प्रदीप की अन्तिम प्रभापूर्ण शिखा की भाँति हिन्दुओ की यह अन्तिम महान् सैनिक सफलता थी।"[2]

परन्तु इस गहरी पराजय से गोरी तनिक भी हतोत्साह नहीं हुआ, वरन् अपनी इस अपमानजनक पराजय का बदला लेने के लिए वह दिन रात बचैन रहने लगा। मध्य एशिया के पहाडी लडाकुओ की एक विशाल सेना एकत्र कर गोरी ने पुन अगले ही वर्ष पृथ्वीराज पर आक्रमण कर दिया। राजपूत

१ डॉ० आर० सी० मजूमदार, *Ancient India* (1952) p 360

२ "It was the last great military achievement of the Hindus like the last glimmer of the lamp before it is finally extinguished
R C Majumdar, *Ancient India* (1952) p 369

सैनिकों ने वीरतापूर्वक युद्ध किया परन्तु अन्त मे उनको पराजय ही सहन करनी पड़ी। इस युद्ध म अनेक वीर राजपूत सरदार खेत रहे। स्वय पृथ्वीराज भी बन्दी बना लिया गया और उसे तलवार के घाट उतार दिया गया। शाकम्भरी और अजमेर के राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार जमा लिया।

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद मुहम्मद गोरी ने उसके पुत्र को अजमेर के सिंहासन पर बैठा दिया और उस वार्षिक कर भेजने के लिए विवश किया। परन्तु कुछ ही समय के बाद अपने चाचा के कारण उसे अजमेर छोड़कर रणथम्भौर चला जाना पड़ा। पृथ्वीराज के पुत्र ने रणथम्भौर म अपने एक नये राजकुल की स्थापना की जिसका अन्त अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १३०१ म किया। इधर कुतुबुद्दीन ने हरिराज को पराजित कर चौहान वश का अन्त कर दिया।

बुन्देलखण्ड के चन्देल

प्रतिहार साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जो राज्य उठ खड़े हुए, उनम जजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देलो का राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। विन्सेंट स्मिथ साहब का मत है कि चन्देलों का उद्भव गोंड और भरो के कबीलो से हुआ था और उनका मूल छतरपुर राज्य मे केन नदी के तट पर मनियागढ था। परन्तु चन्देल लोग अपने को ऋषि चन्द्रात्रेय की सन्तान मानते हैं। उनका कथन है कि ऋषि चन्द्रात्रेय का जन्म चन्द्रमा द्वारा हुआ था। अपने अभिलेखो मे चन्देल राजाओ ने चन्द्रात्रेय को अपना आदि पुरुष माना है। सम्भवत इसी नाम के आधार पर उनका नाम 'चन्देल' पड़ा। अभिलेखो मे चन्देल राजे 'जैजाकभुक्ति के चन्देल' कहे गये हैं। जैजाकभुक्ति का प्रदेश आधुनिक बुन्देलखण्ड मे था। अलबरूनी ने इसे जजाहूति कहा है। जजाकभुक्ति के प्रमुख नगर थे—छतरपुर, महोबा (महोत्सव-नगर आधुनिक हमीरपुर), कालिंजर और खजुराहो। खजूरवाहक या खजुराहो चन्देल राज्य की राजधानी थी।

नवी शताब्दी के प्रारम्भ म नन्नुक ने छतरपुर के निकट अपना एक राज्य स्थापित कर लिया। नन्नुक के पौत्र जयशक्ति (जेजा या जजाक) और विजयशक्ति (विजा या विज्जक) थे। जयशक्ति के ही नाम के आधार पर चन्देल राज्य का नाम जैजाकभुक्ति पड़ा। इस वश का प्रथम राजकुमार जिसने वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त की, हर्ष था। इसने महीपाल को ९१६ के राष्ट्रकूट आक्रमण के उपरान्त कन्नौज पर फिर से अधिकार करने म सहायता प्रदान की। उसने महीपाल प्रथम या क्षितिपाल का उसके गृह-कलह म भी साथ दिया और उसके सौतेले भाई भोजराज द्वितीय को सिंहासनच्युत कर दिया। हर्ष के समय मे चन्देलो की शक्ति यमुना तक फैल गई जो उनके और कन्नौज राज्य के बीच की सीमा बन गई। हर्ष ने चाहमान वश की एक कन्या के साथ विवाह किया था। उसे ही चन्देलो की शक्ति और महानता का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है।

यशोवर्मन—हर्ष का पुत्र यशोवर्मन था जिसने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उसने गुर्जरो को काफी क्षति पहुँचाई। वह एक महत्त्वाकांक्षी नरेश था। प्रतिहार साम्राज्य की गिरती हुई अवस्था ने उसकी महत्त्वाकांक्षाओ की पूर्ति के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया। चेदियो के विरुद्ध आक्रमण करने मे वह बड़ा भाग्यवान प्रमाणित हुआ क्योंकि इसी आक्रमण के फलस्वरूप उसे कालिंजर का प्रसिद्ध गढ प्राप्त हुआ। यशोवर्मन ने उत्तर मे यमुना तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके उपरान्त उसने अपना विजय-अभियान आरम्भ किया और अभिलेखो के अनुसार उसने गौड़ो, कोशलो,

काश्मीरियो, मैथिलो मालवो, चेदियो और गुजरो को परास्त किया। यह निश्चित है कि अभिलेखो की यह उक्ति अतिरजनापूण है। परन्तु फिर भी इसमे सन्देह नही कि यशोवमन ने उत्तर भारत म काफी महत्त्वपूण विजयें की और चन्देलो को काफी शक्तिशाली बना दिया। चन्देल राज्य की शक्ति कालिजर के गढ म केद्रित हो गई। यद्यपि चन्देल-लेखों मे अब भी प्रतिहार राजा को सम्राट् स्वीकार किया जाता था, तथापि यशोवमन व्याव हारिक रूप मे शासन के विषय मे पूर्ण स्वतन्त्र था। यशोवमन ने खजुराहो के एक प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया और इसमे विष्णु भगवान की उस प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराया जो उसने देवपाल से प्राप्त की थी। यशोवमन की मृत्यु के उपरात धग राजा हुआ।

धग—दसवी शताब्दी के अन्त मे धग उत्तर भारत का सबमे प्रतापी और शक्ति शाली नरेश हो गया। हमने पीछे यह देखा था कि यशोवमन के शासन-काल तक प्रतीहार शक्ति की अधीनता स्वीकार की जाती थी। धग ने अधीनता के इस छद्मवेश को भी उतार फेंका और अपनी पूण स्वाधीनता घोषित कर दी। उसके शासन-काल मे चन्देलों की शक्ति का बडी तेजी से विकास हुआ। ९५४ सन ई० तक उसका राज्य उत्तर मे यमुना तक, उत्तर-पश्चिम मे ग्वालियर तक और दक्षिण-पश्चिम मे भिलसा तक फैल गया। ग्वालियर और कालिञ्जर उसके हाथ मे आ जाने से मध्य भारत में उसकी शक्ति काफी सुदढ हो गई। उसने सम्भवत इलाहाबाद पर भी अपना अधिकार जमाया। अपने पचास वष के सुदीघकालीन शासन मे धग ने प्रतिहार साम्राज्य के भूभागो को विजित करना प्रारम्भ किया और यमुना के उत्तर म दूर तक और पूर्व मे बनारस तक अपना राज्य बढा लिया। अभिलेखो मे उसकी अन्य विजयो का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु उन विजयो का वणन सत्य के ऊपर समाधारित न हो कर प्रशस्ति मात्र जान पडता है। सुबुक्तगीन के विरुद्ध पजाब के शाही नरेश जयपाल के पक्ष मे हिन्दू राजाओ का जो सघ निर्मित किया गया था उसमे चन्देल राजा धग भी सम्मिलित हुआ था। खजुराहो मे उसने दो शिव मन्दिरो का निर्माण करया जिनका नाम माकटेश्वर और प्रमथनाथ पडा। एक विद्वान् का कथन है कि खजुराहो के कुछ सुन्दरतम मन्दिरो का निर्माता धग ही था। सौ वष की लम्बी आयु मे धग का देहावसान प्रयाग मे हुआ।

विद्याधर—धग के उपरान्त उसका पुत्र गण्ड चन्देल राज्य का स्वामी हुआ। उसने भी अपने पिता की भाँति महमूद गजनवी के विरुद्ध सगठित किये गये हिन्दू राजाओ के सघ मे भाग लिया था। आनन्दपाल (जयपाल के पुत्र) के अनुरोध पर महमूद के आक्रमणो का सामना करने के लिए हिन्दू राजाओ ने अपना एक सघ बनाया था, परन्तु यह सघ भी महमूद के प्रसार को रोकने मे सफल न हो सका। गण्ड के विषय मे अधिक जानने की आवश्यकता नहीं। उसके बाद विद्याधर जेजाकभुक्ति राज्य का अधिकारी हुआ। विद्याधर ने महमूद के प्रति आत्मसमर्पण करने के कारण राज्यपाल प्रतिहार को घोर दण्ड दिया और कन्नौज के साम्राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न किया। परमार नरेश भोज प्रथम और कलचुरि राजा कोक्कल द्वितीय के साथ विद्याधर की शत्रुता थी परन्तु उसके सामन इन राजाओ की शक्ति तुच्छ थी। उसका प्रभाव चम्बल से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ था। अतएव मुस्लिम लेखको ने उसे "अपने समय का सबसे प्रभावशाली राजकुमार कहा है। जब १०२१ मे गजनी के महमूद ने भारत पर आक्रमण किया और विद्याधर के सामने आया तो, कुछ लेखको के अनुसार, विद्याधर रणक्षेत्र से भाग खडा हुआ। परन्तु विद्याधर के रणभूमि से भागने के विवरण पर कुछ विद्वान्

विश्वास नही करते। डॉ० रे[1] ने इस बात का खण्डन किया है कि विद्याधर बिना लड़े ही रणभूमि से भाग निकला था। अधिक प्राचीन लेखकों के विवरण को अपने विश्वास का आधार बनाते हुए रे महोदय ने लिखा है कि एक भयकर, किन्तु अनिश्चयात्मक सग्राम हुआ और चन्देल नरेश रात्रि के अधकार मे रणनीति के दृष्टिकोण से पीछे हट गया। अगले वर्ष उन दोनों में पुन सघर्ष हुआ, किन्तु महमूद को ग्वालियर तथा कालिञ्जर के विरुद्ध सफलता प्राप्त न हो सकी। इसमे कोई सन्देह नहीं कि महमूद को इस बात का अनुभव हो गया कि विद्याधर के अधीन चन्देल राज्य राज्यपाल के अधीन प्रतिहार राज्य से काफी भिन्न और कहीं अधिक शक्तिशाली था। महमूद ने दो बार चन्देलों पर आक्रमण किये, परन्तु लम्बे घेरों के बाद भी उनके दुर्गों पर अधिकार न कर सकने के कारण उसे वापस लौट जाना पड़ा। उसने विद्याधर के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। डॉ० मजूमदार ने लिखा है कि विद्याधर ही ऐसा अकेला भारतीय नरेश था जिसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने सुल्तान महमूद की विजयिष्णु प्रवृत्ति को दृढ़तापूर्वक रोका और उस सहानुभूतिशून्य विजेता के द्वारा विवेकशून्य विनाश से अपने राज्य को बचा लिया।

चेदि नरेश गागेय के उत्थान ने चन्देलों की शक्ति के विकास मे बाधा पहुँचाई। उसके पुत्र लक्ष्मीकर्ण कलचुरि की शक्ति ने भी चन्देलों की शक्ति को पर्याप्त क्षति पहुँचाई। गण्ड के पौत्र विजयपाल को विवश होकर बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों मे शरण लेनी पड़ी और उसके पुत्र देववर्मन को गागेय के पुत्र कर्ण ने सिंहासनच्युत कर दिया। कर्ण ने भी कीर्तिवर्मन को अपनी सेना म नौकरी करने के लिये बाध्य किया। परन्तु *ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे कीर्तिवर्मन ने ब्राह्मण योद्धा गोपाल की सहायता* से अपने वश की लुप्तप्राय शक्ति और मर्यादा को पुन प्रतिष्ठापित किया।

कीर्तिवर्मन, मदनवर्मन और परमार्दि—कीर्तिवर्मन की शक्ति के उत्थान का विवरण हमें संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक से मिलता है। यह नाटक कृष्ण मिश्र ने लिखा था और कीर्तिवर्मन की विजय के उपलक्ष्य में यह सबसे पहले अभिनीत किया गया था। कीर्तिवर्मन ने कृष्ण मिश्र को अपना राजाश्रय प्रदान करने के अतिरिक्त और भी सास्कृतिक कार्य किये। उसने महोबा म शिवमन्दिर और कालिञ्जर तथा आजमगढ में भी भवन बनवाये। कीर्तिवर्मन ने महोबा और चन्देरी मे झीलें भी खुदवाईं। उसकी ज्ञात तिथि केवल एक ही (१०९८) है। उसके बाद चन्देल वश मे मदनवर्मन नामक उल्लेखनीय नरेश हुआ। मदनवर्मन ने ११२९ से लेकर ११६३ तक शासन किया। उसके अभिलेखों से पता चलता है कि खजुराहो, कालिञ्जर, महोबा और अजयगढ़ पर उसका अधिकार था। उसने मालवा, गुजरात और चेदि इत्यादि राज्यों से सघर्ष किया, परन्तु गहड़वालों के साथ उसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। उसके राज्य की सीमायें बेतवा और यमुना नदियों द्वारा निर्मित होती थीं। लगभग सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड, बुन्देलखण्ड का उत्तरी भाग और दक्षिण मे जबलपुर के पड़ोस का प्रदेश, उसके राज्य मे सम्मिलित थे।

मदनवर्मन के बाद उसका पौत्र परमार्दिदेव चन्देल राज्य का अधिपति बना। उसका प्रारम्भिक सैन्य-जीवन बड़ा सफल रहा और उसने चालुक्यों से भिलसा प्रदेश छीन लिया। परन्तु उसे चाहमान-नरेश पृथ्वीराज-तृतीय के द्वारा जो पराजय सहन करनी पड़ी, उससे उसकी शक्ति बिल्कुल टूट गई।

---

१ *Dynastic History of Northern India* (1936), Part II, p 691

मालवा के परमार

परमार वश की उत्पत्ति भी गुजर प्रतिहारो की भाँति अग्निकुण्ड से बताई जाती है। किन्तु अन्य अधिक प्राचीन लेखो से सिद्ध होता है कि परमार शासको का उद्भव राष्ट्रकूटो के कुल मे हुआ था। परमार वश की स्थापना उपेन्द्र अथवा कृष्णराज ने दसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे की थी। पहले परमार लोग दक्कन के राष्ट्रकूटो के सामन्त थे। आबू पर्वत के निकट उपेन्द्र रहता था। उसे राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीय ने मालवा का शासक नियुक्त कर दिया। उपेन्द्र के बाद उसके दो वशजो ने राष्ट्रकूटो के माण्डलिक नृपतियो के रूप मे मालवा पर शासन किया और वे अपने स्वामी (राष्ट्रकूट सम्राट)के प्रति वफादार बने रहे। चौथे परमार सामन्त वाक्यपति राज प्रथम ने अपने वश की स्थिति का उन्नयन किया। वीरसिंह द्वितीय ने धारा नगरी पर अधिकार किया और प्रतीहारो के साथ उसका सघष हुआ किन्तु उन्होंने उसको मालवा से निकाल बाहर कर दिया। उसके उत्तराधिकारी हषसीयक द्वितीय ने गुजर प्रतिहारो की ह्रासोन्मुखी राजसत्ता से पूरा पूरा लाभ उठाया और मालवा म फिर से अपने वश की सत्ता स्थापित की। उसने सम्भवत हूणो से भी युद्ध किया। हषसीयक द्वितीय ने राष्ट्रकूटो की शक्ति को गिरते हुए देखकर उनसे भी लोहा लिया। उदयपुर के एक अभिलेख से पता चलता है कि मान्यखेत के राष्ट्रकूटो के साथ उसका सघष हुआ और खोट्टिग नामक राष्ट्रकूट-नरेश को पराजित कर उसने उसकी विपुल सम्पत्ति का अपहरण कर लिया। पाइय-लच्छी' नामक प्राकृत शब्दकोष का प्रणेता धनपाल हषसीयक द्वितीय की राजसभा मे रहता था। सीयक द्वितीय ने मालवा के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जो दक्षिण मे ताप्ती नदी, उत्तर मे झालवर पूव मे भिलसा और पश्चिम मे साबरमती से घिरा हुआ था। उसने सम्राटोचित विरद भी धारण किये। उसका पुत्र वाक्पति मुञ्ज अपने कुल का एक प्रतापी सम्राट था।

वाक्पति मुञ्ज—वाक्पति मुञ्ज ने मालवा के परमारो की शक्ति का वास्तविक रूप मे विकास किया। अपने समय का वह एक महान योद्धा और अपने कुल का सबसे शक्तिशाली नरेश था। उसका सम्पूर्ण जीवन युद्धो और विजयो मे व्यतीत हुआ। 'उत्पलराज', 'अमोघवष' 'श्रीवल्लभ', 'पृथ्वीवल्लभ आदि विरुद उसने धारण किये। उदयपुर के अभिलेख मे वाक्पति मुञ्ज की विजयो की एक पूरी सूची दी गई है। सबसे पहले उसने त्रिपुरी के राजा युवराज द्वितीय को पराजित किया। इसके बाद लाट (गुजरात), कर्णाटक, चोल और केरल के राजाओ को युद्ध मे परास्त किया। उसने उन हूणो पर, जो मालवा के उत्तर पश्चिम मे हूणमण्डल नामक एक छोटे से प्रदेश पर शासन कर रहे थे भी विजय प्राप्त की। हूणमण्डल नामक यह लघु प्रदेश तोर माण और मिहिरकुल के विशाल साम्राज्य का अन्तिम अवशेष था। मुञ्ज ने नड्डुल के चाहमानो पर आक्रमण किया और उनसे आबू पवत और आधुनिक जयपुर राज्य के दक्षिण मे अनेक राज्यो को छीन लिया। उसने अन्हिलपाटन मे चालुक्य वश के सस्थापक मूलराज को भी हराया।

अपने पडोस के राज्यों को जीत लेने के उपरान्त मुञ्ज ने चालुक्य नरेश तल द्वितीय पर आक्रमण करने का विचार किया। इस समय तल द्वितीय की शक्ति काफी अधिक बढ गई थी। उसने राष्ट्रकूटो से दक्कन का प्रदेश जीत लिया था और मालवा पर अपनी शक्ति का सिक्का जमाना चाहा। मुञ्ज ने तल द्वितीय की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए उस पर छ बार आक्रमण किये, परन्तु जब उसने, सातवीं बार अपने अनुभवी मन्त्री की चेतावनी की उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए गोदावरी पार

भी तो वह बन्दी बना लिया गया। उसे कारावास में डाल दिया गया। मुञ्ज ने बाहर आने की योजनायें बना रक्खी थी, किन्तु उसकी योजनाओं की सूचना उसके शत्रु को मिल गई, जिसने उसका वध करा दिया गया। इस प्रकार राज्यारोहण के बीस वर्ष पश्चात् सन् ९९५ ई० में मुञ्ज को अपना दु:खद अन्त देखना पड़ा।

राजपूत युग के हिन्दू शासकों में मुञ्ज अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, यद्यपि उसकी मृत्यु अत्यन्त दु:खद परिस्थिति में हुई। वह एक महान् विजेता था, यह हम ऊपर देख चुके हैं। साहित्य में मुञ्ज का उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होता है। मेरुतुंग के 'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ की अनेक कथाओं का वह चरितनायक है। मुञ्ज स्वयं कवि था और उसके द्वारा रचित पद्य का संकलन काव्य-संग्रहों में मिलता है। कला और साहित्य का वह महान् संरक्षक और पोषक था। धनंजय, हलायुध, धनिक और पद्मगुप्त नामक कवि उसकी राजसभा को सुशोभित करते थे। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाङ्कचरित' और धनञ्जय ने 'दशरूपक' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। धनिक 'दशरूपावलोक' और हलायुध 'अभिधानरत्नमाला' तथा 'मृतसंजीवनी' के रचयिता थे। मुञ्ज के लिए यह भी कहा जाता है कि वह एक उदार शासक था। उसने अनेक बड़े-बड़े जलाशय खुदवाये और कई मन्दिरों का निर्माण कराया।

मुञ्ज के पश्चात् उसका भाई सिन्धुराज मालवा के राजसिंहासन पर बैठा। उसने चालुक्य राजा को परास्त कर अपने खोए हुए राज्यों को फिर से अधिकार में कर लिया। कहते हैं कि उसने हूणों और लाटों के विरुद्ध युद्ध किया। सिन्धुल अथवा सिन्धुराज का शासन अत्यन्त स्वल्प काल तक ही रहा।

भोज—भोज का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है। भारत के सबसे विख्यात और लोकप्रिय शासकों में भोज की गणना की जाती है। उसका शासन काल अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा। भोज अपने समय का एक पराक्रमी योद्धा था, किन्तु अपनी सैनिक सफलताओं के द्वारा वह अपने राज्य की सीमा का विस्तार अधिक न कर सका। हाँ, यह अवश्य है कि भोज के सैनिक-कार्यों ने समकालीन नरेशों के बीच उसकी ख्याति जमा दी। भोज ने कल्यानी के चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय को परास्त करके मुञ्ज की हार का बदला लिया। भोज ने कलिंग के गड्डों के एक सामन्त इन्द्ररथ और उत्तरी कोंकण के शासकों को हराया। गांगेयदेव और राजेन्द्र चोल से उसने मित्रता स्थापित की जिससे वह अपने चिरशत्रु दक्कन के चालुक्यों से लोहा ले सके। प्रारम्भ में तो भोज को अवश्य सफलता प्राप्त हुई किन्तु बाद में अपने मित्र राजाओं के साथ पीछे लौटने के लिये उसे विवश होना पड़ा। बाद में चालुक्य राजा सोमेश्वर ने भोज के राज्य पर आक्रमण करके उससे बदला लिया। माण्डू का सुदृढ़ दुर्ग, उज्जैन की प्रसिद्ध नगरी और परमार राज्य की राजधानी धारा नगरी इन सब पर सोमेश्वर का अधिकार हो गया और उसने इनको खूब लूटा-खसोटा। चन्देलों, ग्वालियर के कच्छपघाटों और कन्नौज के राष्ट्रकूटों के विरुद्ध युद्ध में उसे विफलता ही प्राप्त हुई। शाकम्भरी के चाहमान नरेशों के विरुद्ध युद्ध में उसे कुछ सफलता प्राप्त हुई। नदुल के चाहमानों द्वारा उसे गहरी पराजय सहन करनी पड़ी। भोज ने गुजरात के भीम प्रथम तथा लाट की कीर्तिराज को परास्त किया। कहते हैं कि उसने एक बार मुस्लिम सेना के विरुद्ध भी युद्ध किया और हूणों के ऊपर उसके द्वारा आक्रमण किये जाने का उल्लेख मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में भोज की विजयों का अतिरंजनापूर्ण वर्णन है और उसे कैलाश तथा मलय की भूमि का विजेता कहा गया है। निस्सन्देह यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथ्य से दूर है। वास्तव में भोज को

युद्धों मे जितनी विजयें प्राप्त हुईं, लगभग उतनी ही पराजयो को भी उसने सहन किया। हाँ, यह अवश्य है कि एक सच्चे वीर की भाँति भोज ने जय-पराजय को विशेष महत्त्व नहीं दिया। अपनी विजयो द्वारा उसने अपने समय के राजाओ को आतंकित किया और साथ ही साथ उसकी पराजयो ने उसके सैन्य-जीवन पर अपयश भी लगाया। उसके सेनानायको, कुलचन्द्र, साद और सूरादित्य ने उसके राज्य-प्रसार मे अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। भोज का राज्य बसवाडा से लेकर नासिक तक और कैरा से लेकर भिलसा तक फैला हुआ था। अपने सैन्य-जीवन मे भोज को एक दुखद अन्त देखना पड़ा।

अपने पश्चिम के पड़ोसी राज्य चालुक्य के विरोध मे भोज को प्रारम्भ मे कुछ सफलता प्राप्त हुई, परन्तु चालुक्य नरेश भीम ने भोज का सामना करने मे चतुर कूटनीति का अवलम्बन लिया। उसने भोज के पूर्वीय पड़ोसी राज्य कलचुरि से मित्रता स्थापित कर ली। कलचुरि नरेश कर्ण को साथ लेकर भीम ने पूर्व और पश्चिम दोनो दिशाओ से भोज के राज्य पर धावा बोल दिया। इस आक्रमण का सामना करने की भोज ने तैयारी की परन्तु वह काफी वृद्ध हो चला था और आजीवन युद्ध करते रहने से उसका शरीर भी शिथिल हो गया था। अतएव उसे रोग ने धर दबाया और वह ससार से चल बसा।

भोज की ख्याति उसके युद्धो के कारण नही, वरन् उसके विद्यानुराग, उसके प्रकाण्ड पाण्डित्य, विद्या और साहित्य के सवर्द्धन मे उसके योगदान एव लोक-कल्याण के लिए किये गये कार्यों से है जो आज भी उसकी कीर्तिलता को मुरझाने नही दे रहे हैं। भोज को इतने अधिक और विभिन्न विषयो के ग्रन्थो का रचयिता बताया गया है कि उनको भोज द्वारा प्रणीत मानने मे सन्देह उत्पन्न होने लगता है। चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, कोष, वास्तु, अलकार आदि विषयो पर उसके ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है। कुछ ग्रन्थो के, जो भोजरचित बताये गये हैं, नाम इस प्रकार हैं, आयुर्वेद सर्वस्व, 'राजमृगाक, 'व्यवहार-समुच्चय', शब्दानुशासन, 'समरागण सूत्रधार', सरस्वती-कण्ठाभरण', 'नाममालिका', 'युक्ति-कल्पतरु' इत्यादि। सम्भव है कि इन समस्त ग्रन्थो की रचना भोज ने न की हो, परन्तु इस बात मे सन्देह नहीं किया जा सकता कि वह एक महान् और विख्यात लेखक था। कीथ महोदय ने लिखा है कि इस बात के लिए हमारे पास वास्तविक सूचना का अभाव है जिसके आधार पर हम उस विभिन्न विषयो की पुस्तको का रचयिता मानने मे अस्वीकृति प्रकट करें।[1] भोज ने 'रामायण चम्पू' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें गद्य और पद्य दोनो की शैलियाँ विद्यमान हैं। 'सरस्वती कण्ठाभरण' और 'शृगार प्रकाश' नामक ग्रन्थ काव्यशास्त्र के हैं। विद्वानो के बीच इन ग्रन्थो का अधिक समादर होता है। 'युक्तिकल्पतरु' मे नीति या राजनीति के विषय को समझाने की चेष्टा की गई है। कहा जाता है कि राजा भोज ने अश्वो और उनके रोगो के सम्बन्ध मे भी एक पुस्तक लिखी थी। 'राजमार्तण्ड' नामक पुस्तक मे उसने योगसूत्र पर टीका लिखी और चित्त वृत्तिनिरोध पर अनेक दृष्टियो से विचार किया। 'तत्त्वप्रकाश' मे भोज ने शैव धर्म के सिद्धान्त का विश्लेषण किया। 'समरागण सूत्रधार नामक प्रसिद्ध पुस्तक मे उसने वास्तु तथा नगरो के बसने इत्यादि से सम्बन्धित विषयो का विश्लेषण किया। "भोज विद्या का महान प्रोत्साहक और सरक्षक था।

१ "We have no real knowledge to disprove his claim to polymathy exhibited in a large variety of works" *A History of Sanskrit Literature* (1928), p 3

उसने धारा में संस्कृत का एक महाविद्यालय बनवाया जहाँ दूर-दूर के विद्यार्थी अपनी बौद्धिक पिपासा शान्त करते थे। इसकी दीवालों में बहुमूल्य रचनाओं से अभिलिखित अनेक प्रस्तर खण्ड उपलब्ध हुए हैं। इस विद्यालय की इमारत को अब भी भोजशाला कहते हैं। मालवा के नवाबों ने इसके स्थान पर मस्जिद बनवा दी।" भोज की राजसभा में अनेक विद्वान् रहा करते थे। उसकी राजसभा के विद्वानों में धनपाल और उसके भाई शोभन का नाम अधिक उल्लेखनीय है। सम्भवतः सीता नाम की कवियित्री को भी राजा भोज का संरक्षण प्राप्त था। यह सम्भव है कि अन्य अनेक विद्वान् भी भोज के राज-दरबार को सुशोभित करते रहे हों, परन्तु दुर्भाग्यवश हमें उनका नाम तथा परिचय ज्ञात नहीं। विद्वानों के प्रति भोज की उदारता और दानशीलता के सम्बन्ध में संस्कृत में अनेक किंवदन्तियाँ तथा लोककथायें विद्यमान हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि इस राजा ने लोकहृदय को जीत लिया था। राजा भोज एक साधारण शासक और विजेता नहीं था। उसने भूभागों को जीतने के साथ साथ लोगों के हृदयों को भी जीतने का प्रयास किया था और उसे अपने पहले प्रयत्न में तो उसे यत्किञ्चित् सफलता प्राप्त हुई किन्तु अपने दूसरे और अधिक गौरवपूर्ण प्रयत्न में उसे पूरी सफलता मिली। आज उसका साम्राज्य नहीं रहा किन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहास में उसका नाम अजर-अमर है। विद्वानों और कवियों के आश्रयदाता के रूप में तथा उससे भी अधिक परिमाण में, एक सृजनशील साहित्यकार के रूप में भोज को संस्कृत साहित्य का विद्यार्थी श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण करता है। यह सचमुच विस्मय की बात है कि भोज का नाम संस्कृत के दो अमर महाकवियों, कालिदास तथा भवभूति के साथ, संयुक्त किया गया है। स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में जो लोककथायें प्रचलित हैं उनमें ऐतिहासिक तथ्य बहुत न्यून परिमाण में विद्यमान है, किन्तु उनसे भोज की लोकप्रियता का परिचय प्राप्त होता है।

भोज के लोक-कल्याण-सम्बन्धी कार्य—यद्यपि भोज आजीवन युद्धादि कार्यों में व्यस्त था तथापि उसने अपने सुदीर्घकालीन शासन को बिल्कुल व्यर्थ न जाने दिया। उसने उन कार्यों को करने की ओर ध्यान दिया जिनसे प्रजा का कल्याण होता है और शासक के यश में अभिवृद्धि होती है। अपने राज्य भर में मन्दिरों का निर्माण करा के उसने अपनी धर्मानुरागी प्रजा की प्रशंसा अर्जित की और राज्य को सजाया। उसने भोजपुर नामक नगर बसाया और इसके निकट एक बहुत बड़ी झील खुदाई। यह झील २५० वर्ग मील के क्षेत्र में बनी थी। इसका निर्माण जिस सुन्दर तरीके से किया गया था उससे उस समय के इञ्जीनियरों की कार्यनिपुणता का परिचय मिलता है। मालवा के सुल्तान हुशंग शाह ने पन्द्रहवीं शताब्दी में इस झील को सुखवाकर इसे कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित कर दिया। मालूम पड़ता है भोज ने इस झील को एक विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर खुदवाया था। यह विशाल जलाशय न केवल उस समय के लोगों के नेत्रों को सुख प्रदान करता था अपितु इसने मालवा की उष्ण जलवायु को नम बना दिया होगा। इस झील से दुर्भिक्षों का सामना करने में बड़ी सहायता मिलती रही होगी। भोज के नाम का एक शिवमंदिर आज भी उस स्थान में विद्यमान है। यह निश्चयपूर्वक ज्ञात नहीं है कि धार का लोह-स्तम्भ, जो ४३ फीट ४ इंच है, उसके शासन-काल में बनवाया गया था अथवा अर्जुनवर्मन के समय में (तेरहवीं शताब्दी में)। भोज ने संस्कृत विद्यालय सरस्वती मन्दिर के निकट बनवाया था। इस मंदिर के लिए सरस्वती की जो मूर्ति बनवाई गई थी वह आज भी देखी जा सकती है। यह मूर्ति ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खी हुई है। इसकी सुन्दरता और कलात्मकता की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है।

भोज का धार्मिक दृष्टिकोण—भोज स्वयं शैव धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने शैव धर्म के सिद्धान्तों पर 'तत्त्व प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा और राज्य भर में विशाल शिवमन्दिरों का निर्माण करवाया। परन्तु धर्म के विषय में भोज का दृष्टिकोण दार्शनिकता-प्रधान था जिसमें संकीर्णता और असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं था। उसके राज्य में जैनियों की संख्या काफी थी जिनके प्रति उसका व्यवहार सर्वथा प्रशंसनीय था। धर्म के सम्बन्ध में भोज के हृदय में सच्ची जिज्ञासा थी और उसके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने को वह व्यग्र रहा करता था। उसने अपने राज्य में धार्मिक सम्मेलनों का आयोजन किया जिनमें विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के प्रतिनिधिगण समुपस्थित थे। मोक्ष के प्रश्न पर उन सबों में परस्पर विचार विमर्श हुआ और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनन-चिन्तन के द्वारा व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करना चाहे तो वह पूजोपासना की किसी पद्धति का अवलम्बन करे।

भोज के उत्तराधिकारी—भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह एक ऐसे समय में मालवा के परमार राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ जिस समय राज्य को चालुक्य और कलचुरि घेरे हुए थे। ऐसी कठिन परिस्थिति में जयसिंह ने अपने दक्षिणी पड़ोसियों, दक्कन के चालुक्यों से सहायता की याचना की। दक्कन के चालुक्यों ने अपना पुराना वैर भुलाकर सिद्धराज की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और राजकुमार विक्रमादित्य ने मालवा को उसके शत्रुओं से मुक्त कर दिया। उदयादित्य ने, जो सम्भवतः भोज का भाई था, सिंहासन पर अनुचित तरीकों से अपना अधिकार जमा लिया। उसने मालवा की गिरती शक्ति को सँभालने का प्रयत्न किया। उसने उदयपुर में नीलकण्ठेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया जो अब भी अच्छी स्थिति में विद्यमान है और उस युग के उत्तर भारत की वास्तुकला का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करता है। इन्दौर के एक गाँव 'उन' में बहुत से जैन और हिन्दू मन्दिर हैं जिनमें से अधिकांश का निर्माण सम्भवतः उदयादित्य ने कराया था।

उदयादित्य के उपरान्त लक्ष्मणदेव मालवा राज्य का स्वामी हुआ। उसने यशःकर्ण कलचुरि और कदाचित चोलों तथा गजनी के महमूद के वंशजों पर विजय प्राप्त की। नरवर्मन और यशोवर्मन लक्ष्मणदेव के बाद मालवा के उत्तराधिकारी हुए जिनकी ज्ञात तिथि क्रमशः १०९७–११११ और ११३४–११४२ है। इस काल में मालवा के ऊपर सोलंकियों ने अपना अधिकार जमा लिया और ११३७ से लेकर ११७३ तक उस पर उनका अधिकार स्पष्ट है। यशोवर्मन की मृत्यु के बाद परमारों का राज्य उसके उत्तराधिकारियों के बीच विभाजित कर दिया गया।

अर्जुनवर्मन के समय में मालवा का प्राचीन वैभव कुछ अंशों में लौट आया। अर्जुनवर्मन ने स्वयं 'अमरुशतक' पर एक टीका लिखी और उसके शासन-काल में 'पारिजातमञ्जरी' नामक नाटक लिखा गया, जो अपने पूर्ण रूप में आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु यह पाषाणस्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया गया था, अतएव इसके कुछ अंश अब भी मिलते हैं। अर्जुनवर्मन की मृत्यु के पश्चात परमारों की शक्ति धीरे धीरे गिरने लगी। सन् १२३४ में इल्तुतमिश ने और १२९२ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को खूब लूटा। इसके बाद मालवा की हिन्दू-सत्ता का नाश हो गया।

अन्हिलवाड के सोलंकी

गुजरात में अन्हिलवाड (पाटन) नामक स्थान पर पहले प्रतिहार साम्राज्य का अधिकार था परन्तु राजनीतिक प्रभुता के लिए राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों में जो

पारस्परिक सघर्ष हुआ उससे लाभ उठाकर मूलराज प्रथम ने दसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और अन्हिलवाड को अपने राज्य की राजधानी बनाया।

मूलराज सोलकी—मूलराज सोलकी ने अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर लेने के बाद इसकी सीमाओ के विस्तार का भी प्रयत्न किया। उसने शीघ्र ही कच्छ देश और सुराष्ट्र के पूर्वीय भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु उसे अपने प्रबल पडोसियो की शक्ति का भी सामना करना पडा। उसने कई आक्रमणो का सामना किया और अधिकतर उसे पराजय ही प्राप्त हुई फिर भी अपने राजकुल का, जिसका कि वह स्वय प्रतिष्ठापक था, उसने नाश नही होने दिया। उसकी मृत्यु के समय सोलकियो का राज्य पूर्व और दक्षिण मे साबरमती तक फैला हुआ था। उत्तर में जोधपुर राज्य का सचोर भी इसमे सम्मिलित था। मूलराज की मृत्यु रणस्थल मे विग्रहराज-द्वितीय के हाथों से हुई। मूलराज के पुत्र चामुण्डराज ने धारा नगरी के परमार नरेश सिन्धुराज को पराजित किया। चामुण्डराज का पौत्र भीमदेव-प्रथम (१०२२) सोलकी राजकुल का एक विख्यात नरेश था।

भीमदेव प्रथम—भीमदेव-प्रथम के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों मे महमूद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया था। भीम ने उसके आक्रमण का मुकाबिला करने का निश्चय किया परन्तु एकाएक उसके ऊपर मुस्लिम आक्रमणकारी का आतक छा गया और वह रणभूमि छोडकर भाग गया। महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर को खूब लूटा-खसोटा और वह अतुल सम्पत्ति लादकर अपने देश ले गया। लेकिन एक अदभुत बात यह है कि तत्कालीन गुजराती पुस्तको मे महमूद के आक्रमण का उल्लेख नही किया गया है। इस काल के गुजरात का इतिहास जानने के कई ग्रन्थ हैं जो सम्भवत उसी समय या उससे कुछ बाद लिखे गये थे, परन्तु उनमे इस विनाशकारी आक्रमण का कही भी जिक्र नही मिलता। पाठको को स्मरण होगा कि यूनानी विजेता सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख भी भारत के किसी समकालीन ग्रन्थ मे नही किया गया है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सिकन्दर के आक्रमण की भाँति महमूद गजनवी के आक्रमण का भारत पर कोई प्रभाव नही पडा। महमूद द्वारा भगवान सोमनाथ के मन्दिर के तुडवा दिये जाने पर भीमदेव ने उसका पुनर्निर्माण कराया। महमूद के लौट जाने पर भीमदेव ने फिर से अपनी शक्ति का सगठन किया। पहले उसने आबू के परमार राजा को हराया। भीम ने परमार नरेश के पतन मे अपना योगदान दिया। इस काम मे भीम ने लक्ष्मीकर्ण कलचुरि से सहायता प्राप्त की थी परन्तु उन दोनो की मैत्री अधिक समय तक टिक न सकी। दोनो मे परस्पर लडाई छिड गई जिसमे लक्ष्मीकर्ण की हार हो गई। भीमदेव के उपरान्त कर्णदेव अन्हिलवाड के राजसिंहासन पर समासीन हुआ। कर्ण ने १०६४ से लेकर १०९४ तक शासन किया। कर्ण का शासन-काल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए विख्यात है। उसने अनेक मन्दिरो का निर्माण कराया, उसके समय में उसके ही नाम से एक नगर की स्थापना की गई। उसने कवि विल्हण को राजाश्रय प्रदान किया। कर्ण को परमार राजा उदयादित्य ने युद्ध मे पराजित किया।

जयसिंह सिद्धराज—कर्ण का पुत्र जयसिंह सिद्धराज अपने वश का प्रतापी और विख्यात राजा था। उसने अपनी रणवाहिनी को चारो दिशाओ में घुमाया और लगभग सर्वत्र विजय पायी। अपनी विजयो से उसने अपने पडोसियो को आतकित कर दिया। उसने सुराष्ट्र के आभीर सरदार को युद्ध मे पराजित करके उस राज्य को

अपने साम्राज्य में मिला लिया। जयसिंह ने बारह वर्षों तक मालवा से युद्ध किया और नरवर्मन तथा यशोवर्मन दोनों को सिंहासन-च्युत करके उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। नद्दुल और शाकम्भरी दोनों स्थानों के चाहमान नरेशों ने उसके आगे आत्म समर्पण कर दिया और उसके सामन्त के रूप में अपने राज्यों का शासन करते रहे। जयसिंह ने यशकर्ण कलचुरि और गोविन्दचन्द्र गहड़वाल से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। उसने चन्देल राज्य पर भी आक्रमण किया और कालिञ्जर तथा महोबा तक आगे बढ़ गया। चन्देल नरेश मदनवर्मन को विवश होकर जयसिंह के साथ सन्धि करनी पड़ी और इस सन्धि के फलस्वरूप उसने सोलंकी राज्य को भिलसा का प्रदेश दिया। जयसिंह ने चालुक्य नृपति विक्रमादित्य-षष्ठ पर भी विजय प्राप्त की। कहा जाता है कि सिन्ध के अरबों के विरुद्ध युद्ध में भी जयसिंह को सफलता प्राप्त हुई थी। उसके अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों से विदित होता है कि गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा और दक्षिणी राजपूताना उसके राज्य में सम्मिलित थे। जयसिंह ने १११३-१४ ई० का एक नया सम्वत् चलाया।

यद्यपि सोलंकी नरेश जयसिंह का भी समय राजा भोज की भाँति अधिकतर युद्ध में व्यतीत हुआ तथापि भोज की ही तरह उसने भी विद्या को प्रश्रय प्रदान किया। ज्योतिष, न्याय और पुराण के अध्ययन के लिए जयसिंह ने शिक्षण संस्थायें खुलवाईं। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध जैन लेखक महापण्डित हेमचन्द्र रहते थे जिनके अनेक ग्रन्थ उनके मस्तिष्क और विचार शक्ति की उर्वरता का द्योतन करते हैं। जयसिंह स्वयं कट्टर शैव था, परन्तु उसका धार्मिक दृष्टिकोण राजा भोज की भाँति जिज्ञासा प्रधान था। जयसिंह विभिन्न धर्मों के आचार्यों के बीच धार्मिक विषयों पर विचार विमर्श के लिए सम्मेलनों का आयोजन करता था। अकबर की धार्मिक विचारधारा का यह पूर्वाभास था। जयसिंह ने अपने राज्य में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। स्वयं शैव होते हुए भी उसने जैन पण्डित हेमचन्द्र को अपनी राजसभा में स्थान दिया। जयसिंह ने 'अवन्तिनाथ' और 'सिद्धराज' विरुद धारण किये।

कुमारपाल—जयसिंह के उपरान्त उसके दूर के एक सम्बन्धी कुमारपाल ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया, क्योंकि जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। कुमारपाल ने शाकम्भरी के चाहमानों को पराजित किया और आबू के परमारों को दबाया। कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन को भी उसने हराया था। कुमारपाल का नाम जैन धर्म के इतिहास में काफी प्रसिद्ध है। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र के सशक्त धर्म निरूपण से प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैन मत ग्रहण कर लिया। उसने अपने राज्य भर में अहिंसा के सिद्धान्तों के परिपालन के लिए कठोर आज्ञायें निकलवा दीं। उसने ब्राह्मणों को इस बात के लिए विवश किया कि वे पशुबलि प्रधान यज्ञों को त्याग दें। राज्य भर में कुमारपाल ने कसाइयों की दूकानों पर ताला लगवा दिया। सन्यासियों को मृगचर्म मिलना बन्द हो गया क्योंकि पशुओं का आखेट करना राजकीय कानून की दृष्टि से अवैध ठहरा दिया गया था। गिरनार पर्वत के निकट शिकारियों के समुदाय भूखों मरने लगे। राज्य भर में मनोरञ्जन के लिए पशुओं की लड़ाइयों को निषिद्ध ठहरा दिया गया। जुआ और सुरा-सेवन पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया गया। जैन ग्रन्थों में कुमारपाल के अहिंसापालन-सम्बन्धी आदेशों के विषय में बड़ी विचित्र कथायें दी हुई हैं। फिर भी उसके जैन मतानुयायी होने में सन्देह का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता। जैन धर्म का अनुयायी होने पर भी कुमारपाल ने अपने पूर्वजों की शिवोपासना-सम्बन्धिनी मनोवृत्ति का त्याग नहीं किया। उसने

सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। उत्कीर्ण लेखों में कुमारपाल को शैव कहा गया है।

भीमदेव द्वितीय—कुमारपाल के बाद गुजरात का शासक अजयपाल हुआ जिसने अपने राज्य में जैन मत के विरुद्ध एक प्रतिक्रियात्मक नीति का प्रचार किया। उसने जैन मन्दिर को विध्वस्त कराना शुरू किया। कहा जाता है कि उसने महापण्डित हेमचन्द्र के प्रिय शिष्य और प्रसिद्ध जैन लेखक रामचन्द्र का वध करा दिया था। किन्तु उसकी इस धार्मिक असहिष्णुता और संकीर्णता का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा और उसके राज्य के एक अफसर ने उसकी हत्या कर दी। अजयपाल के पश्चात् मूलराज-द्वितीय ने कुछ समय तक शासन किया। उसके बाद भीमदेव द्वितीय राजा हुआ जिसने राज्यारोहण के वर्ष ही गोर के मुहम्मद को युद्ध में हराया। सन् ११९५ में भीमदेव द्वितीय ने कुतुबुद्दीन से युद्ध किया और उसे इतनी गहरी पराजय दी कि मुस्लिम सेनानायक को अजमेर तक पीछे ढकेल दिया। परन्तु दूसरे वर्ष (११९७) में अन्हिलवाड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। किन्तु कुतुबुद्दीन का गुजरात पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं स्थापित हो सका।

भीमदेव द्वितीय ने एक लम्बे समय लगभग साठ वर्षों तक शासन किया। उसके समय में मुसलमानों के जो आक्रमण हुए उनसे उसके राज्य की स्थिति काफी डावाँडोल हो गई और प्रान्तीय शासकों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का अवसर ताकना आरम्भ किया। अन्हिलवाड़ के राज्य की स्थिति इस समय इतनी गिरी हुई थी कि इसका शीघ्र विनष्ट हो जाना अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। राज्य के बड़े-बड़े अफसरों और कुछ मन्त्रियों की नीयत भी दूषित हो गई। परन्तु अर्णोराज नामक एक बघेल ने राज्य को पूर्ण विनाश से बचा लिया। उसके सुयोग्य पुत्र लवण प्रसाद ने अपने पिता के काम को जारी रक्खा और शासन-सचालन का सारा कार्य अपने ही कन्धों पर वहन किया। उसने आन्तरिक विद्रोहों से राज्य की रक्षा की और बाहरी आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया। इस प्रकार अन्हिलवाड़ का राज्य अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता हुआ अलाउद्दीन खिलजी के पूर्व तक बना रहा। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में इस महत्त्वाकांक्षी मुस्लिम शासक ने अपने दो सेनापतियों उलुक खाँ और नुसरत खाँ की अध्यक्षता में एक विशाल सेना भेजी जिसे देखकर कर्ण, जो इस समय गुजरात का शासक था, भाग गया। गुजरात के राज्य पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। जैन आचार्य मेरुतुंग के ग्रन्थ "प्रबोधचिन्तामणि" से गुजरात के प्राचीन इतिहास के विषय में काफी महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं।

त्रिपुरी के कलचुरि

जैजाकभुक्ति के चन्देलों के राज्य के दक्षिण में आधुनिक जबलपुर के निकट कलचुरि राजपूतों का राज्य था। कलचुरि लोग अपने को हैहय वंश का क्षत्रिय बतलाते हैं। गुर्जर प्रतिहारों और बदामी के चालुक्यों के उत्थान के पूर्व बुन्देलखण्ड से लेकर गुजरात और नासिक तक, विशेषकर नर्मदा की उपरली घाटी में, कलचुरि लोग सबसे अधिक शक्तिशाली थे परन्तु गुर्जर-प्रतिहारों और चालुक्यों की शक्ति के उदय से कलचुरियों का प्रभाव दहल (वर्तमान जबलपुर के निकट) तक सीमित रह गया। अब कलचुरि राज्य की राजधानी त्रिपुरी हो गई। इसलिए उनको चेदि, दहल अथवा त्रिपुरी के कलचुरि कहा जाने लगा।

कलचुरि वंश का संस्थापक तथा प्रथम ऐतिहासिक शासक कोक्कल-प्रथम (८७५–

९२५) था जिसने राष्ट्रकूटो और चन्देलो के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये। प्रतिहारो के साथ कोक्कल प्रथम का मैत्री-सम्बन्ध था। इस प्रकार उसने अपने समय के शक्तिशाली राज्यो के साथ मित्रता और विवाह द्वारा अपनी शक्ति भी सुदृढ की। कोक्कल प्रथम अपने समय के प्रसिद्ध योद्धाओ और विजेताओ म से था। कलचुरि अभिलेखो मे कोक्कल को अनेक विजयो का गौरव प्रदान किया गया है, परन्तु जसा कि पीछे कहा जा चुका है, हम इस युग के अभिलेखो म उल्लिखित सभी बातो को ऐतिहासिक सत्य के रूप मे स्वीकार नही कर सकत। अतएव कलचुरि अभिलेखो के आधार पर ही कोक्कल को अपने समय का सबसे महान् विजेता नही कहा जा सकता। फिर भी इस बात मे सन्देह नही कि कोक्कल पराक्रमी एव साहसी विजेता था और उसने अपनी विजयो द्वारा एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।

एक अभिलेख से पता चलता है कि कोक्कल प्रथम ने अपने राष्ट्रकूट जामाता को वेंगी के विनयादित्य-तृतीय (पूर्वी चालुक्यराज) के विरुद्ध आश्रय तथा सहायता प्रदान की। एक अन्य अभिलेख से यह ध्वनित होता है कि कोक्कल ने भोज प्रथम को सुरक्षा प्रदान कर प्रतिहार नरेश महीपाल से शत्रुता कर ली, परन्तु भोज प्रथम उसका मित्र हो गया। अभिलेखो म कोक्कल को 'सारी पृथ्वी का विजेता'' तथा अपने समकालीन नरेशो का कोपहर्ता कहा गया है जो स्पष्टतया प्रशस्तिमात्र है। अपने शासन-काल के अन्तिम समय मे कोक्कल ने उत्तरी कोकण पर आक्रमण किया और पूर्वी चालुक्यो तथा प्रतिहारो के विरुद्ध राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय को सहायता प्रदान की। कोक्कल ने अपनी विजयो के द्वारा जिस राज्य की स्थापना की उसमे उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद ही विघटन के तत्त्व उत्पन्न हो गये जिससे कलचुरियो की शक्ति क्षीण होने लगी। परन्तु ग्यारहवी शताब्दी मे गागेयदेव की अधीनता मे कलचुरियो को भारत की सबसे महान राजनीतिक शक्ति होने का गौरव प्राप्त हो गया।

गागेयदेव—लगभग १०१९ ई० मे गागेयदेव त्रिपुरी के राजसिंहासन पर बैठा। गागेयदेव को अपने सभी प्रयत्नो म विफलता भी प्राप्त हुई किन्तु उसने कई विजये की और अपने राज्य का विस्तार करने मे काफी अश तक सफलता प्राप्त की। उसके अभिलेखो के अतिरजनापूर्ण विवरणो को न स्वीकार करने पर भी, यह माना गया है कि गागेयदेव ने कीर देश अथवा कांगडा घाटी तक उत्तर भारत म आक्रमण किये और पूर्व मे बनारस तथा प्रयाग तक अपने राज्य की सीमा को बढाया। प्रयाग और वाराणसी से और आगे वह पूर्व मे बढा। अपनी सेना लेकर वह सरलतापूर्वक पूर्वी समुद्र तट तक पहुँच गया और उडीसा को विजित किया। अपनी इन विजयो के कारण उसने 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया। उसने पाला के बल की अवहेलना करते हुए अग पर आक्रमण किया। इस आक्रमण म उसे सफलता प्राप्त हुई। यह सम्भव है कि गागेयदेव ने कुछ समय तक मिथिला या उत्तरी बिहार पर भी अपना अधिकार जमाये रक्खा था।

डॉ० मजूमदार की धारणा है कि गागेयदेव ने मुसलमानो की शक्ति से लोहा लिया। उसकी यह गर्वोक्ति कि उसने कीर प्रदेश तक धावा बोला था, यह ध्वनित करता है कि उसने मुसलमानो की शक्ति को चनौती दी थी क्योकि कीर प्रदेश मुसलमानो के अधीनस्थ पजाब का एक भाग था। गागेयदेव की मृत्यु प्रयाग मे हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नियाँ उसके साथ चिता मे जल कर भस्म हो गई। गागेयदेव का शासन-काल बिल्कुल ठीक तौर पर निश्चित नही किया जा सकता। परन्त

यह अनुमान किया जाता है कि १०१६ ई० मे वह सिंहासन पर बैठा और १०४० ई० मे उसकी मृत्यु हुई।

अपने वंश मे गांगेयदेव ही ऐसा सम्राट् था जिसने अपने नाम के सिक्के चलवाये। उसके सिक्कों पर उसके नाम के साथ-साथ लक्ष्मी की आकृति भी खुदी हुई है। गांगेयदेव के सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे, तीनो प्रकार के थे। वह शिवोपासक था और उसने शिव जी का एक मन्दिर बनवाया था।

लक्ष्मीकर्ण—गांगेयदेव के उपरान्त उसका प्रतापी पुत्र लक्ष्मीकर्ण अथवा कर्णराज सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता की भाँति एक वीर सैनिक और 'महत्त्वपूर्ण युद्धों का विजेता था। उसने काफी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण विजयो द्वारा कलचुरि शक्ति का विकास किया। कल्याणी और अन्हिलवाड़ के शासको से सहायता प्राप्त कर कर्ण ने परमार राजा भोज को परास्त कर दिया। उसने चन्देलों और पालों पर विजय प्राप्त की। उसके अभिलेख बंगाल और उत्तर प्रदेश में पाये गये हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इन भागों पर उसका अधिकार था। कर्ण का राज्य गुजरात से लेकर बंगाल और गंगा से महानदी तक फैला हुआ था।

कर्ण की विजयो के कारण उसे 'भारतीय इतिहास के सबसे महान विजेताओं में से एक' कहा गया है। उसकी तुलना प्रसिद्ध विजेता नेपोलियन के साथ की गई है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि अपने जीवन के अन्तिम दिनो में कर्ण को कई पराजयें सहनी पड़ी थीं। पालो, चन्देलो, परमारो और सोलंकियो, सभी ने उसको हराया। अतएव कर्ण की प्रारम्भिक विजयों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। उसकी विजयों ने उसके गौरव को तो बढ़ाया किन्तु उसकी राज्य-सीमा मे कोई विस्तार नहीं किया। १०७२ ई० मे कर्ण ने अपने पुत्र के लिए सिंहासन त्याग दिया।

यश कर्ण—सन् १०७३ के लगभग यश कर्ण त्रिपुरी के सिंहासन पर बैठा। उसने वेंगी राज्य और उत्तरी बिहार तक धावे बोले। उसके पिता के अन्तिम दिनो मे उसके राज्य की स्थिति काफी डाँवाडोल हो गई थी और इसी डाँवाडोल स्थिति मे उसने राजसिंहासन पर पैर धरा था। परन्तु अपने राज्य की इस गड़बड़ स्थिति का विचार न करते हुए यश कर्ण ने अपने पिता और पितामह की भाँति सैन्य विजय का क्रम जारी रक्खा। पहले तो उसे कुछ सफलता मिली लेकिन शीघ्र ही उसका राज्य स्वयं अनेक आक्रमणो का केन्द्रबिन्दु बन गया। उसके पिता और पितामह की आक्रमणात्मक साम्राज्यवादिनी नीति से जिन राज्यो को क्षति पहुँची थी वे सब प्रतिकार लेने का विचार करने लगे। दक्खन के चालुक्यो ने उसके राज्य पर हमला बोल दिया और अपने हमले में वे सफल भी रहे। गहड़वालो के उदय ने गंगा के मैदान मे उसकी स्थिति पर अहितकर प्रभाव डाला। चन्देलो ने भी उसकी शक्ति को सफलतापूर्वक खुली चुनौती दी। परमारो ने यश कर्ण की राजधानी को खूब लूटा खसोटा। इन सब पराजयो ने उसकी शक्ति को झकझोर दिया। उसके हाथो से प्रयाग और वाराणसी के नगर निकल गये और उसके वंश का गौरव श्रीहत हो गया।

यश कर्ण के उत्तराधिकारी और कलचुरि वंश का पतन—यश कर्ण के उपरान्त उसका पुत्र गयाकर्ण सिंहासनारूढ़ हुआ। किन्तु अपने पिता के शासन काल मे प्रारम्भ होनेवाली अपने वंश की राजनीतिक अवनति को वह रोक न सका। उसके शासन काल में रत्नपुरी की कलचुरि शाखा दक्षिण कोशल में स्वतन्त्र हो गई। गयाकर्ण ने मालवा-नरेश उदयादित्य की पौत्री से विवाह किया था। इसका नाम अल्हनादेवी था। गयाकर्ण की मृत्यु के बाद अल्हनादेवी ने भेरघाट में वैद्यनाथ के मन्दिर और मठ का

पुनर्निर्माण कराया । गयाकण का अद्वितीय पुत्र जयसिंह कुछ प्रतापी था । उसने कुछ
अश तक अपने वश के गौरव को पुन प्रतिष्ठापित करने में सफलता प्राप्त की । उसने
सोलकी नरेश कुमारपाल को पराजित किया । जयसिंह की मृत्यु ११७५ और ११८०
के मध्य किसी समय हुई । उसका पुत्र विजयसिंह कोक्कस प्रथम के वश का अन्तिम
नरेश था जिसने त्रिपुरी पर राज्य किया । विजयसिंह को ११६६ और १२०० के बीच
मे जैतुगि प्रथम ने, जो देवगिरि के यादववश का नरेश था, मार डाला और त्रिपुरी के
कलचुरि वश का उन्मूलन कर दिया ।

वगाल के पाल

वगाल का प्रान्त मगध राज्य में सम्मिलित था । नन्दो के समय मे भी बगाल
मगध साम्राज्य के अन्तगत था । मगध के राजसिंहासन पर बैठनेवाला सम्राट् बगाल
का भी स्वामी होता था । छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे गौड अथवा बगाल स्वतन्त्र
हो गया और गुप्त-सम्राज्य से पृथक हो गया । शशाक के समय में, जो हर्ष का सम
कालीन था, बगाल की शक्ति काफी बढ गई । यद्यपि सम्राट् हर्ष और आसाम के
भास्करवमन ने गौडाधिपति की शक्ति को रोकने का बहुत प्रयास किया और उसको
युद्ध मे पराजित करने की भी चेष्टा की तथापि उसके जीवन-काल मे न तो वे उसकी
शक्ति ही कम कर सके और न उसको कुछ क्षति ही पहुँचा सके । परन्तु शशाक की
मृत्यु के बाद बगाल की राजनीतिक एकता और सार्वभौमिकता विनष्ट हो गई ।
अब सम्राट् हर्षवद्धन और कामरूपाधिपति भास्करवमन दोनो को अवसर प्राप्त हो
गया और उन्होने बगाल पर आक्रमण करके इसको सम्भवत दो भागो मे विभक्त
कर दिया, जिनको उन्होंने आपस मे बाँट लिया । आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे
शैल वश के एक राजा ने पौण्ड्र या उत्तरी बगाल पर अधिकार कर लिया । काश्मीर
नरेश ललितादित्य मुक्तापीड और कन्नौज-नरेश यशोवमन ने भी बगाल पर आक्र-
मण किया था । मगध के अनुवर्ती गुप्त नरेशो का बगाल पर अधिकार था किन्तु
यह अधिकार नाममात्र को ही था । किन्तु इस नरेश के हट जाने पर यह नाममात्र
का अधिकार भी नही रह गया । कामरूप नरेश हर्षदेव ने अवसर पाकर बगाल को
विजित कर लिया । एक दृढ शासन शक्ति के अभाव मे बगाल अव्यवस्था और अरा
जकता का केन्द्र हो गया । आक्रमणो के इस ताँते ने बगाल मे चारों ओर अशाति
एव गडबडी फैला दी जिससे ऊबकर सारे सरदारो और जनता ने मिलकर गोपाल
नामक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया । गोपाल को सम्पूर्ण बगाल का शासक
स्वीकार कर लिया गया ।

गोपाल—आठवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में गोपाल ने बगाल का शासन सँभाला ।
गोपाल ने बगाल मे हिमालय से लेकर समुद्र-तट तक सम्पूर्ण राज्य को सुसगठित
किया और विगत डेढ शताब्दियो की अराजकता और अव्यवस्था का अन्त करके समस्त
बगाल मे शान्ति स्थापित की । उसने नालन्दा के निकट ओदन्तपुरी नामक स्थान पर
एक विश्वविद्यालय की स्थापना कराई । गोपाल ने अपनी मृत्यु के समय अपने उत्तरा
धिकारी के लिए एक समृद्ध और सुशासित राज्य छोडा । उसके उत्तराधिकारियो ने
बगाल को राजनीतिक उत्कर्ष और सास्कृतिक गौरव की उस पराकाष्ठा पर पहुँचाया
जिसकी उसने पहले कभी स्वप्न मे भी कल्पना न की होगी । गोपाल के बाद धर्मपाल
बगाल का राजा हुआ ।

धर्मपाल—धर्मपाल पाल वश की वास्तविक महत्ता का सस्थापक था । धर्मपाल
एक सुयोग्य और कर्मनिष्ठ शासक था जिसने अपने राज्य की सीमा सोन नदी के पश्चिम

तक बढा दी। धर्मपाल धार्मिक मनोवृत्ति का था और अपने पिता की भाँति बौद्ध था, फिर भी राजनीतिक दृष्टि से भी वह महत्वाकांक्षी था। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि धर्मपाल के राज्य का विस्तार पूर्व मे बगाल की खाडी से लेकर पश्चिम मे जालधर और उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण म विन्ध्य पर्वत तक था। सम्भव है कि तारानाथ का यह कथन अत्युक्तिपूर्ण हो परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि समस्त उत्तरी भारत मे धर्मपाल की शक्ति का प्रभाव जमा हुआ था।

धर्मपाल ने लगभग ४६ वर्षों तक राज्य किया। उसने विक्रमशिला और सोमपुर मे बौद्ध विहारो का निर्माण कराया। विक्रमशिला मे एक विश्वविद्यालय की स्थापना भी उसने कराई थी। विक्रमशिला मे भी नालन्दा की भाँति विद्या का एक बहुत बडा केन्द्र स्थापित हो गया था। धर्मपाल ने अपने राज्य में अन्य कई मन्दिरो और बौद्ध विहारो का निर्माण भी कराया था।

देवपाल—देवपाल पाल वश का तृतीय राजा था। अपने वश का यह एक शक्तिशाली राजा था। उसने अडतालीस वर्षों तक राज्य किया और कदाचित् मुदगगिरि (मुगेर) को अपनी राजधानी बनाया। उसके सेनापति लवसेन ने आसाम और उडीसा पर विजय प्राप्त की। देवपाल ने अपने पिता की प्रसार नीति को जारी रक्खा। अपने अभिलेखो मे वह एक साम्राज्यवादी के रूप मे प्रकट हुआ है। यह सम्भव है कि देवपाल ने राष्ट्रकूट-नरेश गोविन्द-तृतीय की मृत्यु से लाभ उठाया। गोविन्द-तृतीय के देहावसान से राष्ट्रकूट राज्य मे गडबडी फैल गई जिससे देवपाल को अपनी शक्ति बढाने का अवसर मिल गया। उसके अभिलेखो मे उसकी सुदूरव्यापिनी विजयो का उल्लेख किया गया है। एक अभिलेख म कहा गया है कि वह हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती सम्पूर्ण प्रदेश का स्वामी था और दक्षिण मे उसने सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक विजय प्राप्त की। परन्तु स्पष्ट है कि अभिलेख का यह कथन केवल प्रशस्तिवादन है और ऐतिहासिक तथ्य से नितान्त दूर है। परन्तु एक अन्य स्तम्भ लेख मे यह उल्लेख मिलता है कि अपने मन्त्रियों दर्भपाणि तथा केदार मिश्र की नीतियुक्त मन्त्रणा से प्रेरित होकर देवपाल ने "उत्कल जाति को मिटा दिया, हूण का दर्प खर्व कर दिया और द्रविड तथा गुर्जर के राजाओ का गर्व चूर्ण कर दिया।" डॉ० रमाशकर त्रिपाठी का मत है कि 'बादल स्तम्भ लेख का यह कथन सम्भवत सही है।' देवपाल के पिता धर्मपाल ने केवल थोडे ही दिनो तक सम्राट के रूप म शासन किया, किन्तु देवपाल ने कुछ अधिक काल तक अपनी सम्राटोचित सत्ता प्रमाणित की। उडीसा और आसाम पर उसका अधिकार हो जाने स उसका राज्य काफी विस्तृत हो गया। समकालीन नरेशो के बीच देवपाल की प्रतिष्ठा काफी जम गई, किन्तु प्रतिहार-नरेश मिहिरभोज के राज्यारोहण मे गुर्जरो की साम्राज्यवादिता का उदय हुआ जो महेन्द्रपाल की मृत्यु तक बनी रही। इस प्रबल साम्राज्यवादिता के सामने बगाल के पालो की कुछ न चल सकी और उनको अपनी राजनीतिक महत्त्वाकाक्षायें त्यागनी पडी। कुछ विद्वानो का मत है कि बादल स्तम्भ-लेख मे 'गुर्जर के राजा का गर्व चूर्ण करने का जो उल्लेख प्राप्त है, वह सम्भवत गुर्जर नरेश मिहिरभोज के लिए है। यदि यह मत ठीक हो तो यह मानना पडेगा कि देवपाल के समय मे पालो की शक्ति का ह्रास नहीं हुआ था किन्तु उसके उत्तराधिकारियो के शासन-काल मे उसके वश की राजनीतिक शक्ति निस्सन्देह घटने लगी थी। देवपाल का सुमात्रा और जावा के नरेश के साथ दौत्य सम्बन्ध (Diplomatic Relation) था। देवपाल के समय मे बगाल निश्चय ही एक शक्तिशाली राज्य था।

अपने पिता की भाँति देवपाल भी एक उत्साही बौद्ध था। नालन्दा ताम्रपत्रो से विदित होता है कि देवपाल ने राजगृह-विषय मे चार और गया विषय मे एक गाँव धर्मार्थ दान किये थे। उसने सुमात्रा के नरेश बलपुत्रदेव को नालन्दा के समीप एक बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति प्रदान कर दी थी और स्वय भी इस काय के लिए प्रचुर धन दान किया था। देवपाल का लम्बा शासन-काल बगाल मे एक विशिष्ट सस्कृति के प्रचार म व्यय हुआ। देवपाल ने मगध की बौद्ध प्रतिमाओ का पुनर्निर्माण कराया और उसके राज्याश्रय ने वास्तु तथा अय कलाओ को पनपने का अवसर प्रदान किया। बोधिगया अथवा महाबोधि के मन्दिर के निर्माण मे भी देवपाल का योग था। वह विद्या का उदार सरक्षक था और उसकी राजसभा बौद्ध विद्वानो के लिए एक आश्रय-स्थान के रूप मे हो गई। "बौद्ध कवि वज्रदत्त उसकी राजसभा मे रहता था और उसने 'लोकेश्वर शतक' नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना की थी जिसमे लोकेश्वर का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है और लोकेश्वर अथवा अवलोकितेश्वर के प्रेम और क्षमा आदि गुणो की स्तुति है।" देवपाल का शासन काल ८१५ और ८५५ के बीच रक्खा जा सकता है।

नारायण पाल—देवपाल के बाद बगाल के राज्य पर कई छोटे-छोटे राजाओ ने राज्य किया परन्तु उनके शासन की अवधि बहुत अल्प थी। उन्होंने बहुत थोड़े समय तक ही राज्य किया। नारायण पाल अपने वश का एक शक्तिशाली नरेश था जिसने कम से कम ५४ वष राज्य किया। अपने पूर्वजो के विपरीत नारायण पाल शैव धम का अनुयायी था और उसने बाहर से शैव सन्यासियो को अपन राज्य मे आमन्त्रित किया था। अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों म नारायण पाल ने शिव के एक हजार मन्दिरो का निर्माण कराया और उनका प्रबन्ध उसने इन पाशुपत आचार्यों के सुपुद कर दिया। इन आचार्यों को उसने दान मे गाव भी दिये। पहले कुछ दिनो तक नारायण पाल का मगध पर अधिकार बना रहा किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद मे मगध प्रतिहारो के राज्य मे चला गया।

महीपाल प्रथम—नारायण पाल के बाद उसका पुत्र राज्यपाल शासनाधिकारी हुआ किन्तु उसके समय मे गुजर-पाल सघर्ष मे पालो की स्थिति म कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। गोपाल द्वितीय और विग्रहपाल द्वितीय (९३५ ९९२) के समय मे पालो की शक्ति कुछ अशो मे बढ गई। राज्यपाल के समय मे काम्बोज नामक पवतीय लोगो ने बगाल के कुछ भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था किन्तु महीपाल (९७८ १०३०) ने काम्बोजो को निकाल बाहर किया। महीपाल प्रथम ने पर्याप्त अशों तक अपनी 'विचलितकुललक्ष्मी' का स्तम्भन किया। अपने राज्यारोहण के ही वष उसने सम्पूर्ण मगध, तीरभुक्ति और पूर्वीय बगाल को विजित किया। महीपाल प्रथम के राज्य-काल की सबसे महत्त्वपूण घटना थी चोलो का आक्रमण। राजेन्द्र चोल के एक सेनानायक ने उडीसा के भाग से होकर बगाल पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण का महीपाल प्रथम ने सामना किया, परन्तु चोल सेना ने उसे पराजित कर दिया। फिर भी पाल नरेश ने उसे गगापार न बढ़ने दिया। इस पराजय के द्वारा पाल साम्राज्य को क्षति अवश्य ही पहुँची होगी। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि महीपाल प्रथम के शासन-काल के उत्तराद्ध मे उसके राज्य की सीमायें सकुचित हो गई थी।

महीपाल बगाल के शासको मे काफी प्रसिद्ध है। आज भी उसकी प्रशसा में गीत गाये जाते हैं और उल्लेखनीय बात तो यह है कि ये गीत लोकप्रिय भी हैं। उसके राजत्व-काल मे बगाल का राज्य समृद्ध था। कला की उन्नति हुई तथा इसका

रूप सुधर गया। मूर्ति-कला को एक अभिनव भंगिमा तथा मुद्रा प्राप्त हो गई। नालन्दा के विशाल बुद्ध मन्दिर का पुनर्निर्माण महीपाल प्रथम के शासन के ग्यारहवें वर्ष में कराया गया था। बनारस के बौद्ध मन्दिरों की, उसके सम्बन्धियों, स्थिरपाल और वसन्तपाल ने मरम्मत कराई थी। महीपाल प्रथम के ही समय में मगध से धर्मपाल तथा अन्य धर्माचार्यों ने आमन्त्रण मिलने पर तिब्बत की यात्रा की थी और वहाँ पर उन्होंने बौद्ध धर्म को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। महीपाल के सुदीर्घ-कालीन शासन के उपरान्त नयपाल पाल वंश के राज्य का स्वामी हुआ।

नयपाल—नयपाल को बहुत थोड़े ही समय तक राज्य करने का अवसर मिला। उसके शासन-काल में हिन्दुओं का तीर्थस्थान गया एक भव्य और शानदार नगर के रूप में हो गया। गया जिले के शासक विश्वरूप ने नयपाल के शासन के पन्द्रहवें वर्ष में विष्णु के पदचिह्नों के निकट कई मन्दिर बनवाये। नयपाल के शासन-काल के अंतिम दिनों में मगध पर विख्यात चेदि नरेश कर्ण ने आक्रमण कर दिया।

नयपाल के बाद उसका पुत्र विग्रहपाल-तृतीय राजा हुआ। विग्रहपाल तृतीय यद्यपि एक श्रद्धालु बौद्ध था तथापि उसने सूर्यग्रहण अथवा चन्द्रग्रहण के अवसर पर एक बार गंगा में स्नान किया और सामवेद के पण्डित एक ब्राह्मण को एक ग्राम दान में दिया। इसी नरेश के समय में चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने बंगाल और आसाम पर चढ़ाई की। विग्रहपाल-तृतीय के समय में पाल साम्राज्य ह्रासोन्मुख हो चला था। उसकी मृत्यु ने उसके राज्य की स्थिति को और अधिक जटिल कर दिया।

विग्रहपाल-तृतीय के उत्तराधिकारी—विग्रहपाल तृतीय की मृत्यु के बाद बंगाल में गृहयुद्ध छिड़ गया। उसके तीन पुत्र थे, महीपाल द्वितीय, सूरपाल और रामपाल। महीपाल द्वितीय सिंहासनरूढ़ हुआ और उसने अपने भाइयों सूरपाल तथा रामपाल को बन्दी बना लिया। कैवर्त नामक एक कबीले ने महीपाल के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और उसे निकाल बाहर कर दिया। महीपाल विद्रोहियों के साथ लड़ते हुए रणभूमि में मारा गया। अब सूरपाल सिंहासन का अधिकारी हुआ, किन्तु उसके समय में भी अनेक सामन्तों ने विद्रोह कर दिया। अपने भाइयों में रामपाल सबसे अधिक पराक्रमी और योग्य निकला। रामपाल ने अपने वंश के समर्थकों की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर लिया और कैवर्त नामक विद्रोही कबीले को पराजित किया। अपनी विजय-स्मृति को स्थायी बनाने के लिए रामपाल ने रामवती नामक नगरी की स्थापना की। रामपाल को इस बात का श्रेय प्रदान किया गया है कि उसने आसाम तथा अन्य राज्यों पर भी विजय प्राप्त की। सन्ध्याकरनन्दी ने 'रामपालचरित' नामक ग्रन्थ में रामपाल के जीवन चरित का वर्णन किया है। रामपाल ने उत्तरी बंगाल पर भी विजय प्राप्त की और कलिंग पर आक्रमण किया। इन विजयों से पाल साम्राज्य की स्थिति कुछ सुधर गई परन्तु शीघ्र ही फिर साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया वेगवती हो गयी। अपने मामा की मृत्यु हो जाने से रामपाल के चित्त को इतना प्रबल आघात पहुँचा कि गंगा में डूबकर उसने अपने प्राण त्याग दिये।

पाल साम्राज्य का पतन—रामपाल के बाद पाल साम्राज्य की स्थिति और अधिक डावाँडोल हो गई। उसके पुत्र कुमारपाल के समय में आसाम स्वतन्त्र हो गया। उसका पुत्र गोपाल-तृतीय मदनपाल के द्वारा मार डाला गया। मदनपाल का

अधिकार दक्षिणी बिहार पटना और मुंगेर तक विस्तृत था। उसके पश्चात् गोविन्दपाल शासक हुआ जिसका अधिकार केवल गया तक सीमित रह गया। गोविन्दपाल गहडवालो और सेनो के बीच घिर गया। दोनो ओर से घिर जाने पर पाल साम्राज्य की स्थिति बडी ही शोचनीय हो गई। पाल नरेश नाममात्र को ही राजा रह गये। सेन वश के उत्कर्ष, सामन्तो के विद्रोह और परवर्ती पाल नरेशो की अयोग्यता के कारण पालो के साम्राज्य का पतन हो गया।

पाल शासन का महत्व—पाल वश का शासन काल भारत के उन राजवशो के इतिहास मे काफी महत्त्वपूर्ण है जिन्होने सबसे अधिक दिनो तक राज्य किया। पाल नरेशो ने चार शताब्दियो तक बगाल के राज्य पर शासन किया। धर्मपाल और देवपाल के शासन-काल का समय एक शताब्दी से अधिक था। उन्होने इस सुदीर्घ कालीन शासन मे बगाल को उत्तर भारत के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यो मे एक ब , दिया। साम्राज्य सत्ता के लिए उत्तर भारत मे जिन तीन राजनीतिक शक्तियो के बीच सघर्ष हुआ उनमे से एक शक्ति पालो की भी थी। धर्मपाल ने एक बार श्री महोदय (कन्नौज) की राजलक्ष्मी को स्वायत्त कर लिया था। धर्मपाल और देवपाल के उत्तराधिकारियो के समय मे यद्यपि पालो की शक्ति वैसी नही रही तथापि उनका राज्य इस समय भी उपेक्षित नही था। जिस समय पाल साम्राज्य अपने उत्कर्ष की स्थिति मे नही था उस समय भी इसका प्रभाव दूर दूर तक के प्रातो के अधीन रहा।

परन्तु पालो का शासन राजनीतिक दृष्टिकोण की अपेक्षा सास्कृतिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रोफेसर एन० एन० घोष के शब्दो मे, 'पाल शासन के अन्तर्गत न केवल बगाल की गणना सबसे बडी चढी शक्तियो मे की जाने लगी, अपितु वह बौद्धिक और कला-सम्बन्धी क्षेत्र मे उत्कृष्ट हो गया। प्रसिद्ध चित्रकार, शिल्पी एव कास्य की प्रतिमा गढने वाले धीमान और विटपाल पाल साम्राज्य मे ही राज्याश्रय पाकर अपनी कला के निर्माण मे सलग्न रहे।' कला के क्षेत्र मे पाल नरेशो का बडा महत्त्वपूर्ण योगदान था। उनके शासन-काल मे विकसित होने वाली कला परम्परा की जीवनी शक्ति का सबसे बडा प्रमाण यह है कि इसका प्रभाव भारत के बाहर दक्षिण पूर्वी देशो मे भी पहुचा। नवीं शताब्दी मे धीमान और उसके पुत्र विटपाल ने चित्र कला की जिस परम्परा को जन्म दिया, वह ग्यारहवी शताब्दी मे भी जारी रही। यद्यपि पाल युग की बौद्ध कला मे ह्रास के कुछ लक्षण अवश्य विद्यमान हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय बौद्ध धर्म की अन्तिम शताब्दियाँ कलात्मक अध्यापन का युग प्रस्तुत करती है। सारे बगाल और बिहार मे पाल नरेशो ने कितने विहारो, मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण कराया। अभाग्यवश उस काल की इमारत कोई बची न रह सकी परन्तु सरो और नहरो की एक बहुत सख्या आज भी सुरक्षित है जिससे पाल राजाओ की निर्माण-प्रियता का पता चलता है।

शिक्षा और धर्म के क्षेत्र मे भी पालो की देन महत्त्वपूर्ण थी। हम देख चुके हैं कि ओदन्तपुरी और विक्रमशीला के विश्वविद्यालयो की स्थापना पाल-नरेशो ने ही की थी। नालन्दा की भाँति इन विश्वविद्यालयो का यश भी देश के दूरवर्ती भागो तक फैला हुआ था और दूर दूर के विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए यहाँ आया करते थे। शिक्षा के सरक्षण और प्रसार मे इन बौद्ध विश्वविद्यालयो का काफी महत्त्वपूर्ण योगदान था। एक-एक नरेशो को छोडकर बाकी सभी पाल नृपति बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उन्होने बौद्ध धर्म को उस समय राज्याश्रय प्रदान किया जिस समय देश के अन्य

भागो में यह पतनोन्मुख था। पाल नरेशो ने अपने राज्य मे बौद्ध धर्म के प्रचार का पूरा प्रयत्न किया परन्तु उनका धार्मिक दृष्टिकोण सकीर्ण नही था। वे ब्राह्मणो को भी दान-दक्षिणा देकर सम्मानित करते थे। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अतीश नामक प्रसिद्ध दार्शनिक भिक्षु ने तिब्बत की यात्रा की थी। पालो के शासन काल मे साहित्य की उन्नति उतनी अधिक तो नही हुई जितनी की कला की किन्तु सान्ध्यकाल नन्दी का 'रामपालचरित' नामक श्लेषात्मक महाकाव्य इसी समय लिखा गया। 'लोकेश्वर-शतक' नामक काव्य की रचना बौद्ध कवि वज्रदत्त ने देवपाल के समय मे की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के सरक्षण और विकास की दृष्टि से पालो का शासन-काल काफी महत्त्वपूर्ण था। परन्तु यह नही भूलना चाहिए कि पालो के ही शासन-काल मे बौद्ध धर्म के उन विकृत रूप का विकास हुआ जिसने भारतवर्ष मे बौद्ध धर्म के लोप को अवश्यम्भावी बना दिया। बौद्ध विहारो मे वज्रयान और तान्त्रिक अभिचारादि के रूप मे व्यभिचार, विलासिता तथा सुरा सेवन आदि दुर्गुण प्रविष्ट हो गये।

बगाल का सेन-वश

सेन-वश का मूल—सामन्तसेन को, जिसने बगाल के सेन वश की नीव डाली थी, कर्नाटक क्षत्रिय कहा गया है। इसमे सन्देह की गुजाइश कम है कि सेनो का उद्भव दक्षिण में ही हुआ था और अवसर पाकर वे उत्तर भारत मे चले आये तथा बगाल में अपना राज्य स्थापित कर लिया। सेन वश के लोग सम्भवत ब्राह्मण थे किन्तु अपने सैनिक-कर्म के कारण वे बाद मे क्षत्रिय कहे जाने लगे। डॉ० राय महोदय ने लिखा है कि 'यह असम्भव नही है कि सामन्तसेन, मयूरशर्मन की भाँति ब्राह्मण था और उनकी भाँति ही राजकीय नौकरी में प्रविष्ट हुआ और क्षत्रिय का जीवन अपनाकर उसने शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली।' पाल साम्राज्य के केन्द्रीय भग्नावशेष पर ही सेनो के राज्य की भित्ति खडी हुई।

विजयसेन—सेन वश के सस्थापक सामन्तसेन के पौत्र विजयसेन ने अपने वश के गौरव को बढाया। उसने ६४ वर्षों तक राज्य किया। विजय सेन ने बगाल से वर्मनो को निकाल बाहर किया। उत्तरी बगाल से मदनपाल को निर्वासित करने वाला भी विजयसेन ही था। कहा जाता है कि उसने नेपाल, आसाम और कलिंग पर विजय प्राप्त की। रामपाल की मृत्यु के बाद पाल साम्राज्य के ध्वसावशेष पर विजयसेन ने जिस राज्य की स्थापना की उसमे पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी बगाल के भाग सम्मिलित थे। उसने परम माहेश्वर की उपाधि ग्रहण की जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विजयसेन शैव था। सैन्य विजयो के साथ-साथ उसने सास्कृतिक और धार्मिक कार्य भी किये। उसने शिवमन्दिर का निर्माण कराया, एक झील खुदवाई, विजयपुर नामक नगर बसाया और उमापति को राज्याश्रय प्रदान किया।

बल्लाल सेन—बल्लाल सेन एक विचित्र शासक था। बगाल के ब्राह्मणो और अन्य ऊँची जातियो मे उसे इस बात का श्रेय दिया गया है कि आधुनिक विभाजन उसी ने कराये थे। वर्ण धर्म की रक्षा के लिए बल्लाल सेन ने उस वैवाहिक प्रथा का प्रचार किया जिसे 'कुलीन प्रथा' कहा जाता है। प्रत्येक जाति मे उप विभाजन उत्पत्ति की विशुद्धता और ज्ञान पर निर्भर करता था। आगे चलकर यह उप विभाजन बडा कठोर और जटिल हो गया। बल्लाल सेन ने अपने पिता के राजत्व काल मे शासन-कार्य का सचालन किया था। वशक्रमानुगत द्वारा उसे जो राज्य मिला, उसकी

उसने पूर्ण रूप से रक्षा की। उसका राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था। उसकी तीन राजधानियाँ थी—गौडपुर, विक्रमपुर और सुवर्णग्राम। कहा जाता है कि बल्लाल सेन ने अपने गुरु की सहायता से 'दानसागर' और 'अद्भुतसागर' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। दूसरा ग्रन्थ वह अपूर्ण ही छोड़कर मर गया। 'परम माहेश्वर' और 'निशशकशकर' आदि विरुदों से बल्लाल सेन के शैव होने का प्रमाण मिलता है।

लक्ष्मण सेन—लक्ष्मण सेन अपने वंश का एक प्रसिद्ध शासक था, साथ ही साथ भारत के सबसे कायर नरेशों मे भी उसकी गणना की जानी चाहिए। अभिलेखों मे उसके लिए कहा गया है कि उसने कलिंग, आसाम, बनारस और इलाहाबाद पर विजय प्राप्त की और इन स्थानों पर उसने अपने विजय-स्तम्भ गाड़े थे। परन्तु अभिलेखों के इस कथन पर पूरी तरह से विश्वास नही किया जा सकता। हमे यह नही भूलना चाहिए कि लक्ष्मण सेन प्रसिद्ध गहड़वार नरेश जयचन्द्र का समसामयिक था जिसके अधिकार मे बनारस और इलाहाबाद थे। अतएव इन स्थानों पर लक्ष्मण सेन के द्वारा विजय-स्तम्भ गाड़े जाने की कल्पना बिल्कुल निराधार जान पड़ती है। सम्भव है कि उसने आसाम और कलिंग पर विजय प्राप्त की हो। किन्तु यदि मुस्लिम इतिहासकारों के कथन पर विश्वास किया जाय तो कहना पड़ेगा कि लक्ष्मणसेन नितान्त कायर था।

लक्ष्मण सेन का शासन संस्कृत साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उसकी राजसभा मे 'पाँच रत्न' रहते थे जिनके नाम थे—जयदेव (गीतगोविन्द के रचयिता) उमापति, धोयी (पवनदूत के रचयिता) हलायुध और श्रीधरदास। लक्ष्मण सेन ने स्वयं अपने पिता के अपूर्ण ग्रन्थ 'अद्भुतसागर' को पूरा किया।

लक्ष्मण सेन के राज्य पर मुसलमानों का आक्रमण ११९९ ई० मे हुआ था। इसके बाद सेन राजवंश का अन्त हो गया, यद्यपि पूर्वी बंगाल पर और बाद तक इस वंश के राजा राज्य करते रहे।

प्रश्न

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

१ गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति के उद्गम और विकास पर प्रकाश डालिए। (१९६६)

२ गुर्जर प्रतिहार, राष्ट्रकूट, पाल शक्तियों के त्रिकोणात्मक संघर्ष का वर्णन कीजिए। (१९६६, १९७०)

३ भारतीय इतिहास को पाल वंश की प्रमुख देनों का उल्लेख कीजिए। (१९६६, १९६७)

४ बंगाल की सेन शक्ति के उदय का वर्णन कीजिए और इसके पतन का कारण बतलाइए। (१९६७)

५ राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विविध मतों की समीक्षा कीजिए। (१९६७ १९६९)

६ राष्ट्रकूटों के उत्तरी अभियानों का वर्णन कीजिए। (१९६७)

७ गुर्जर प्रतिहारों की राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। (१९६७)

८ कान्यकुब्ज के यशोवमन के जीवन और उपलब्धियों का समालोचनात्मक वर्णन कीजिए। (१९६८)

९ गहडवाल वंश के विकास और पतन का विवेचन कीजिए। (१९६८)

१० भोज प्रथम प्रतिहार के शासन-काल का वृत्तान्त लिखिए। (१९६९)

११ पाल वंश के उदय और उत्कर्ष का विवरण दीजिए। (१९७०)

गोरखपुर विश्वविद्यालय

१ प्रभुता के निमित्त पालों, गुर्जर, प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों के बीच त्रिकोण युद्ध का वर्णन कीजिए। (१९६२, १९६५)

२ परमार शासक भोज के जीवन वृत्त का विवरण प्रस्तुत कीजिए। (१९६२)

३ प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल प्रथम की सैनिक उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए और उनके साम्राज्य विस्तार को सूचित कीजिए। (१९६२)

४ भोज प्रथम की मृत्यु के समय तक प्रतिहार सत्ता के क्रमिक विकास का उल्लेख कीजिए। (१९६३)

५ राजपूतों की उत्पत्ति की विवेचना कीजिए। (१९६५)

६ जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल के समय में गुजरात चालुक्यों की राजनीतिक शक्ति के उत्कर्ष का विवेचन कीजिए। (१९६६)

७ गहडवालों के अभ्युदय और उत्कर्ष का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए। (१९६७)

८ हर्षवर्धन की मृत्यु से गुर्जर प्रतिहार शासक नागभट्ट द्वितीय के आगमन तक के कन्नौज के राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए। (१९६७)

९ बुन्देलखण्ड में चन्देलों की राजनीतिक शक्ति के उदय और विस्तार का विवरण दीजिए। (१९६७)

१० वाक्पतिराज द्वितीय, मुञ्ज और भोज परमार के समय की राजनीतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए। (१९६०)

२५ | दक्षिणापथ के राजकुल

दक्षिणापथ का अभिप्राय—संस्कृत शब्द 'दक्षिणापथ' का अभिप्राय नर्मदा नदी के दक्षिण के देश से है। इस प्रदेश का वर्तमान नाम दक्कन है। जिस प्रकार, विन्ध्य और हिमालय के बीच की सारी भूमि को 'उत्तरापथ' की संज्ञा दी गई थी, उसी प्रकार नर्मदा नदी के दक्षिणवर्ती भूभाग को दक्षिणापथ कहा जाता था। वैसे सामान्य अर्थ में 'दक्षिणापथ' शब्द का प्रयोग दक्षिण भारत के सम्पूर्ण प्रायद्वीप का बोध कराने के लिये किया जाता था, परन्तु विशिष्ट रूप में इस शब्द से उस भूभाग का बोध होता है, जिसमें महाराष्ट्र और कन्नड प्रदेश तथा आन्ध्र प्रदेश सम्मिलित हैं। मैसूर राज्य को बहुधा दक्कन के राज्यों के अन्तर्गत समझा जाता था, सुदूर दक्षिण के राज्यों में नहीं।

दक्षिणापथ का पूर्व इतिहास—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से दक्षिणापथ अथवा दक्कन का प्रदेश बहुत ही प्राचीन है तथापि इसका प्राचीन इतिहास तमसावृत्त है। भारतीय आर्यों की लीलाभूमि उत्तरापथ में ही थी, अतएव उनके साहित्य (वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक सूत्र आदि) द्वारा हमें उत्तरापथ के इतिहास का कुछ ज्ञान अवश्य हो जाता है, परन्तु दक्षिणापथ के निवासियों की प्राचीन संस्कृति का भले ही कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय, उनके इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान शून्य के बराबर है। आर्यों के दक्षिणापथ में प्रवेश और प्रसार से उत्तरापथ के निवासियों के साथ दक्कन के लोगों का सम्पर्क हुआ और यह सम्पर्क सम्बन्ध के रूप में परिणत हो गया। परन्तु हमें स्पष्ट रूप से उन स्थितियों का भी सम्यक ज्ञान नहीं है जिनके द्वारा आर्य लोग दक्षिणापथ में प्रविष्ट हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दण्डकारण्य और विन्ध्य शृंखलाओं जैसी दुर्लंघ्य सीमाओं के कारण पर्याप्त काल तक उत्तरापथ के आर्य दक्षिण में प्रवेश न कर सके। दक्कन का वह भाग जो आर्यों को सबसे पहले मालूम हुआ, विदर्भ अथवा बरार था। ऐतरेय ब्राह्मण, जिसकी रचना ईसा की पाँचवीं शताब्दी अथवा इससे पूर्व हो चुकी थी, दक्षिणापथ के आन्ध्रों, पौण्ड्रों शबरों तथा पुलिन्दों का उल्लेख करता है और यह सचमुच एक विस्मय की बात है कि इन जातियों को विश्वामित्र के पुत्रों का वंशज बताया गया है। रामायण में आर्यों के दक्षिणापथ में जाने और रहने तथा वहाँ की राजनीतिक शक्तियों के साथ संधि अथवा विग्रह के सम्बन्ध स्थापित करने की स्पष्ट सूचना मिलती है। रामायण में राम की कथा दक्षिण में आर्यों के प्रसार और उनकी राजनीतिक विजय का काव्यात्मक वर्णन करती है, परन्तु एक अन्य प्राचीनतर काव्यानुवृत्त से ज्ञात होता है कि अगस्त्य मुनि ने पहले-पहल विन्ध्य पर्वत को लांघ कर उस प्रदेश में आर्य भाषा, धर्म और संस्थाओं के प्रचारार्थ आधार बनाया। रामायण और अगस्त्य मुनि से सम्बन्धित उन अनुश्रुतियों के सम्बन्ध में जिनका विषय दक्षिण में आर्यों तथा उनकी संस्कृति का प्रसार है, प्रोफेसर एन० एन० घोष का कथन है "रामायण में वर्णित दक्षिणापथ में राम का कथानक सम्भवतः एक ऐतिहासिक

चालुक्य (

पृष्ठभूमि लिये हुए है जो उस प्रदेश म आर्यों के राजनीतिक विस्तार का सूचक है। महाकाव्य को एक ओर पुरानी परम्परा के अनुसार महर्षि अगस्त्य पहले ऋषि थे जिन्होंने विन्ध्यगिरि के परवर्ती प्रदेश मे आर्य धम और सस्कृति का प्रकाश फैलाया और एक उपनिवेश बसाया। यदि इस परम्परा मे कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यह सांस्कृतिक प्रदेश निश्चय ही राजनीतिक प्रभुता के स्थापित होने के पहले हुआ होगा और उसका काल लगभग आठवी शताब्दी का अन्त अथवा सातवी शताब्दी ई० पू० का प्रारम्भ माना जा सकता है।"

ऐसा प्रतीत होता है कि समय के साथ साथ उत्तर और दक्षिण के निवासियो का सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढतर होता गया और उत्तरापथ के लोग दक्षिणापथ का अधिकाधिक परिचय प्राप्त करने लगे। साहित्यिक साक्ष्य से इस बात का प्रमाण मिलता है कि ज्यो ज्यो समय बीतता गया, दक्षिणापथ के भूभाग प्रकाश म आने लगे। पाणिनि को जिस दक्षिणापथ का ज्ञान था उसकी भौगोलिक सीमा कलिंग के आगे नही जाती। परन्तु पाणिनि के अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखनेवाले कात्यायन को दक्षिण के चोलो और पाण्ड्यो का भी ज्ञान था। अर्थशास्त्र का रचना-काल कात्यायन के कुछ बाद रखा जाता है, अतएव इसमे हम दक्षिणापथ का और अधिक उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने सुदूर दक्षिण से प्राप्त होनेवाली नीतियो का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण के विषय मे उत्तरापथ के निवासियो का ज्ञान बढता जा रहा था।

मौर्य साम्राज्य की सीमायें नर्मदा के दक्षिण म अवश्य ही फैली थी, यद्यपि सुदूर दक्षिण के भाग उसमे सम्मिलित नही थे। कुछ तामिल कवियो ने एक विजेता का उल्लेख किया है जिसने दक्षिण के प्रदेशो पर विजय प्राप्त की थी। इस विजेता का समीकरण विद्वानों ने चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ किया है।

आन्ध्र या सातवाहन राज्य की स्थापना के बाद कुछ समय के लिये दक्षिण मे काफी दूर तक राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। परन्तु ईसा की तीसरी शती मे जैसे ही यह साम्राज्य नष्ट हुआ, यह राजनीतिक एकता भी छिन्न भिन्न हो गई। दक्कन के विभिन्न भागो मे कई राज्य उठ खड़े हुए। तृतीय शती ई० के मध्य ईश्वरसेन नामक आभीर सरदार ने उत्तर महाराष्ट्र सातवाहनो से छीन लिया। नागो के अधिकार म भी कुछ प्रदेश आ गये। ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर वाकाटक वश के नरेशो ने मध्य भारत और दक्कन के कुछ भागो पर राज्य करना आरम्भ किया। गुप्तयुग म जिस अभिनव राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ था, उसका प्रसार दक्कन और सुदूर दक्षिण तक था। परन्तु वाकाटक और गुप्त राज्यो के पतन से दक्षिणापथ मे विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति फिर एक बार सशक्त हो गई और अनेक राजवशो की स्थापना हो गई। इन राजवशो मे वातापी (बादामी) का चालुक्य वश काफी विख्यात और शक्तिशाली था, अतएव हम पहले इसी वश के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

चालुक्य

चालुक्यो का मूल—चालुक्यो के मूल के सम्बन्ध म अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। परवर्ती चालुक्य अभिलेखो और 'विक्रमांकदेवचरित' मे अयोध्या को चालुक्यो का मूल निवास-स्थान माना गया है। किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान चालुक्यो को विदेशी मूल का मानते हैं। डा० राइस के विचार मे 'चालुक्य' शब्द सेल्यूकिया

(Seleukia) से मिलता जुलता है और पल्लवो तथा चालुक्यों में जो पारस्परिक
युद्ध हुआ करते थे, उनका सम्बन्ध दजला और फरात के तटो पर सेल्यूसिडे और
एरसेसिडे (Selucidae and Arsacidae) के बीच होनेवाले युद्धो से था। परन्तु
डॉ० राइस की इस विचित्र धारणा के लिए पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। इसी प्रकार
स्मिथ साहब का यह मत भी प्रमाणो द्वारा अनुमोदित नहीं कि "चालुक्यो अथवा
सोलंकियो का सम्बन्ध चापो से था, अतएव वे विदेशी गुजर जाति के थे (चाप लोग
गुजर जाति की एक शाखा थे) और सम्भवत वे राजपूताना से दक्कन गये थे।"
भारतीय अनुश्रुतियों मे चालुक्यो की उत्पत्ति के विषय मे जो कथायें दी हुई हैं, उनमे
कल्पना का अधिक समावेश है। यदि हम उनमे से कल्पनात्मक अशो को निकाल दें,
तो यह सिद्ध होता है कि चालुक्य उत्तर के क्षत्रिय थे और उनकी उत्पत्ति हारीति से
हुई थी। वे लोग मानव्य गोत्र के थे। ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री ने भी पुलकेशिन
द्वितीय को क्षत्रिय कुलोत्पन्न बताया है।

बादामी के प्रारम्भिक चालुक्य नरेश—चालुक्य वंश का प्रथम नरेश जयसिंह
था जिसने राष्ट्रकूटो और कदम्बों से लड़कर अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।
जयसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी रणराग था, जिसके समय मे चालुक्यो की शक्ति
का विशेष विकास न हो सका। परन्तु उसके प्रिय पुत्र पुलकेशिन प्रथम को चालुक्य
वंश का वास्तविक सस्थापक कहा जाता है। यह अपने वंश का सबसे पहला स्वतन्त्र
शासक (महाराज) था। पुलकेशिन प्रथम ने 'सत्याश्रय' और 'रणविक्रम' की उपाधियाँ
धारण की थी और उसे 'श्रीपृथ्वीवल्लभ' नामक विरुद से भी अनुराग था। चालुक्य
वल्लभेश्वर के बादामी अभिलेख से पता चलता है कि पुलकेशिन प्रथम ने अश्वमेध
तथा अन्य श्रौत यज्ञो का अनुष्ठान किया था। उसके पुत्र मंगलेश के समय के लेख उसे
केवल हिरण्यगर्भ और अश्वमेध यज्ञो का अनुष्ठानकर्ता ही नही बतलाते, अपितु उसे
अग्निष्टोम', अग्निचयन वाजपेय', 'बहुसुवर्ण और पौण्डरिक' यज्ञो के अनुष्ठान
का भी श्रेय प्रदान किया गया है। कहीं-कहीं पर उसकी तुलना पौराणिक नरेशो ययाति
और दिलीप से की गई है और उसके लिए यह भी कहा गया है कि उसने मानव धर्म
शास्त्र, पुराणों, रामायण महाभारत तथा अन्य इतिहासो का अध्ययन किया था।
पुलकेशिन ने अश्वमेध यज्ञ अवश्य किया था परन्तु उसने किसी विशिष्ट विजय द्वारा इस
अनुष्ठान की चरितार्थता नही प्रमाणित की। उसका राज्य सम्भवत आधुनिक बीजापुर
जिले तक सीमित था और बादामी इसकी राजधानी थी।

कीर्तिवर्मन—पुलकेशिन प्रथम ने अपने पड़ोसियो के ऊपर जो सफलता प्राप्त
की थी उसमे उसे अपने पुत्र कीर्तिवर्मन से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली थी। कीर्तिवर्मन
के समय में वातापी के चालुक्यो की शक्ति का पर्याप्त विकास हुआ। मंगलेश के
महाकूट स्तम्भ-अभिलेख के अनुसार कीर्तिवर्मन ने वग अग, कलिंग वत्तुर मगध,
मद्रक, केरल, गग, मूषक, पाण्ड्य द्रमिल, चोलिय आलुक और वैजयन्ती के राजाओ
को पराजित किया। परन्तु यह निश्चित है कि इस अभिलेख की शैली नितान्त अति
शयोक्तिपूर्ण है, अतएव इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। कीर्तिवर्मन के पुत्र
के ऐहोल अभिलेख में उसे (कीर्तिवर्मन को) नलों मौर्यो और कदम्बो के लिए 'विनाश
की निशा' कहा गया है और यह भी वर्णित है कि उसने कदम्ब नरेशो के एक सघ को
विध्वस्त किया था। ऐहोल-अभिलेख का विवरण विश्वसनीय प्रतीत होता है। कीर्ति
वर्मन ने कोंकण के मौर्यों और वनवासी के कदम्बो को परास्त करके अपनी शक्ति का
विकास किया था। नलो, कदम्बो और मौर्यो के ऊपर उसकी विजय की चर्चा परवर्ती

चालुक्यों के अभिलेखों में भी मिलती है। कीर्तिवर्मन की सफलताओं के फलस्वरूप जिनमें से कुछ उसके पिता के शासन काल में प्राप्त की गई थी, चालुक्यों का राजनीतिक प्रभाव बम्बई राज्य तथा मैसूर और मद्रास से लगे हुए काफी विस्तृत भागों पर फैल गया।

मंगलेश—कीर्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसके पुत्र नाबालिग थे, अतएव राजसिंहासन पर उसके सौतेले भाई ने अपना अधिकार जमा लिया। रेवती द्वीप और कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेना मंगलेश की सबसे बड़ी सफलतायें थी। मंगलेश भागवत धर्म का अनुयायी और विष्णु का अनन्य भक्त था। इसी के शासन काल में बादामी में विष्णु का भव्य गुहा मंदिर निर्मित किया गया था जो कला का एक आकृष्ट नमूना माना जाता है। मंगलेश के शासन-काल के अन्त में उसके भतीजे पुलकेशिन द्वितीय और स्वयं उसके बीच गृहयुद्ध छिड़ गया। पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल-अभिलेख में इस संघर्ष का यह कारण दिया गया है कि मंगलेश अपने ही पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था जिससे पुलकेशिन द्वितीय को अत्यन्त रोष आया और उसने अपने चाचा के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में मंगलेश को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े और बादामी का सिंहासन पुलकेशिन द्वितीय के अधिकार में चला गया।

एहोल अभिलेख (रविकीर्ति)

पुलकेशिन द्वितीय—पुलकेशिन द्वितीय (६१०-११ से लेकर ६४२ तक) अपने वंश का सबसे प्रतापी नरेश था ही अपने समकालीन सभी राजाओं में उसका स्थान गौरवपूर्ण था। उसके सिंहासनारोहण के समय में उसके राज्य की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई थी। मंगलेश और पुलकेशिन द्वितीय के गृहयुद्ध से लाभ उठाकर अधीनस्थ राज्यों ने स्वतन्त्र होने की सोची। पुलकेशिन द्वितीय को चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई पड़ने लगे। चालुक्य राज्य के बीजापुर क्षेत्र के निकटवर्ती प्रान्त को अप्पायिक और गोविन्द नामक दो राजाओं के आक्रमण की आशंका थी, क्योंकि वे भीमरथी (भीम) के उत्तरी तट तक बढ़ आये थे। इस प्रकार पुलकेशिन द्वितीय एक संकटमयी स्थिति में पड़ गया और उसके सामने अपने राज्य की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने और विद्रोही प्रान्तों का दमन करने की दो विकट समस्यायें उत्पन्न हो गई, परन्तु युवा पुलकेशिन ने अपने को स्थिति का सामना करने की शक्ति से सम्पन्न प्रमाणित किया। 'भेद' नीति का अवलम्बन करके उसने गोविन्द को अप्पायिक की ओर से विमुख करके अपना मित्र बना लिया। इस प्रकार से अपने ऊपर पड़ने वाली एक विपत्ति पर पुलकेशिन द्वितीय ने विजय पाई।

पुलकेशिन द्वितीय की अन्य सफलतायें और विजयें—अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ कर लेने के उपरान्त पुलकेशिन द्वितीय ने अपना विजय-अभियान प्रारम्भ किया। ऐहोल-अभिलेख के प्रशस्तिकार रविकीर्ति ने उसकी विजयों का वर्णन बड़ी काव्यात्मक भाषा में किया है। पुलकेशिन द्वितीय ने वनवासियों को पराजित करके उनकी राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया। मैसूर के गंगों, मालाबार के अलूपों और उत्तर के कोंकण के मौर्यों को भी उसके आगे आत्मसमर्पण कर देना पड़ा, क्योंकि वे सम्भवतः कदम्बों के मित्र थे और कदम्बों की पराजय के बाद उन्होंने अपना सिर उठाना उचित तथा शक्य न समझा। मौर्यों की राजधानी पुरी पर पुलकेशिन द्वितीय का अधिकार हो गया। दक्षिण गुजरात के लाटों, मालवों और गुर्जरों का भी उसने दमन किया। दक्षिण में पुलकेशिन-द्वितीय की सफलता का प्रमाण अन्य स्रोतों से भी मिल जाता है।

पुलकेशिन द्वितीय की सबसे महत्वपूर्ण सफलता थी, उसके द्वारा उत्तरापथ के सम्राट् हर्ष की पराजय। हर्ष ने पुलकेशिन पर आक्रमण किया, परन्तु प्रयत्न विफल ही रहा। पुलकेशिन के सामने हर्ष की एक न चल सकी और वापस होकर उसे लौटना पड़ा। पुलकेशिन की इस विजय का उल्लेख ऐहोल-अभिलेख में इन शब्दों में किया गया है, "उसने हर्ष को, जिसके चरण कमल अनेक समृद्ध और अनन्त वैभव-सम्पन्न सामन्तों के मुकुटों के मणिमयूख से भासमान रहते थे, परन्तु जो युद्ध में गिरती हुई गज-पंक्तियों को देखकर वीभत्स हो उठा था, भय से विगलित और हर्ष रहित कर दिया।"[1] इस विजय ने पुलकेशिन की प्रतिष्ठा को बहुत अधिक बढ़ा दिया। अपने अन्य समकालीन राज्यों पर उसका आतंक जम गया। महाकोशल और कलिंग के नृपति उससे भयभीत और आतंकित हो गये। उन्होंने शीघ्र ही उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद समुद्रतटीय पथ द्वारा चालुक्य सेना दक्षिण दिशा की ओर मुड़ी। पिष्टपुर और एक अन्य दुर्ग पर पुलकेशिन द्वितीय का अधिकार हो गया। पिष्टपुर के राजवंश को विनष्ट कर दिया गया और उस पर शासन करने के लिए पुलकेशिन द्वितीय को युवराज नियुक्त किया गया। युवराज कुब्ज विष्णुवर्धन ने पूर्वी चालुक्यों के नये राजकुल की नींव डाली, जिसका अस्तित्व १०७० ई० तक बना रहा। अधिक दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लव-नरेश महेन्द्रवर्मन को युद्ध में पराजित किया और उसे अपने दुर्ग में शरण लेने के लिये बाध्य किया। पल्लव-लेखों से सिद्ध होता है कि चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय पल्लव राज्य के भीतर तक घुस गया था। पुलकेशिन-द्वितीय के आक्रमण ने पल्लवों की राजधानी कांची (आधुनिक कंजीवरम्) को खतरे में डाल दिया। इसके बाद उसने कावेरी को पार करके चोलों, केरलों और पाण्ड्यों को अपना मित्र बनाया। अपने शक्तिशाली पड़ोसी पल्लवों के विरुद्ध पुलकेशिन का यह एक संगठन था। पल्लवों की शक्ति निस्सन्देह विनष्ट हो गई, परन्तु चालुक्य लोग अपनी विजय पर अधिक समय के लिए गर्व न कर सके और शीघ्र ही पल्लवों की शक्ति का अभ्युत्थान हुआ। पुलकेशिन द्वितीय का अन्त सुखद नहीं हुआ। उसके जीवन के अन्तिम दिनों में चालुक्य शक्ति का ह्रास होने लगा। पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन ने ६४२ ई० में वातापी पर आक्रमण किया और पुलकेशिन द्वितीय को युद्ध में मार डाला। वातापी पर पल्लवों का अधिकार हो गया, किन्तु यह अधिकार भी स्थायी न हो सका। कुछ ही दिनों बाद चालुक्यों ने पुनः अपनी शक्ति संगठित कर ली।

पुलकेशिन द्वितीय वातापी के चालुक्य कुल का निश्चय ही सबसे महान् राजा था और प्राचीन भारत के सर्वमहान शासकों में भी उसका स्थान है। उसका प्रभाव और यश भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर विदेशों तक पहुँच गया। मुस्लिम इतिहासकार तबारी के अनुसार, फारस के राजा खुसरू-द्वितीय और चालुक्य नरेश के बीच दौत्य सम्बन्ध था। पुलकेशिन ने पहले कुछ उपहारों के साथ अपना एक राजदूत चालुक्य राजसभा में भेजा। कुछ विद्वानों का मत है कि अजन्ता का एक चित्र इस दौत्य सम्बन्ध की सूचना देता है।

पुलकेशिन द्वितीय का साम्राज्य—पुलकेशिन द्वितीय के सुविशाल साम्राज्य की सीमायें उत्तर में विन्ध्य पर्वत श्रेणी और महानदी तक, दक्षिण में मैसूर के पार तक

१ "अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना-मकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्द
युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः।"

और आसिन्धु-सिन्धु-पर्यन्त फैली थी। इस साम्राज्य के केन्द्रीय भाग पर पुलकेशिन-द्वितीय स्वयं शासन करता था, और उत्तरी-दक्षिणी सीमावर्ती प्रदेशों का शासन सामन्तों के सुपुर्द था। भड़ोच, मालवा, गंग, कदम्ब, पूर्वी गंग और वन इत्यादि प्रान्तों के शासक चालुक्य सम्राट् के अधीनस्थ सामन्त थे। उन्हें अपने अपने प्रदेशों के आन्तरिक शासन में काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी, किन्तु वे पुलकेशिन द्वितीय की सेवा में वार्षिक कर भेजा करते थे। जिस भाग पर सम्राट् का प्रत्यक्ष शासन था, वहाँ भी पुश्तैनी सामन्त थे जिन्होंने उसकी (पुलकेशिन-द्वितीय की) अधीनता स्वीकार कर ली थी। इन सामन्तों को मुख्य प्रदेशों का शासक बना दिया गया था। वे सम्राट् की आज्ञा से शासन करते थे। युद्ध में वे उसकी सहायता करते थे। सम्पूर्ण साम्राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था और प्रत्येक प्रान्त का शासन करने के लिये एक राजप्रतिनिधि (वाइसराय) नियुक्त किया जाता था। पर्वीय समुद्रतटीय प्रान्त, जिसमें वर्तमान तेलगु प्रदेश सम्मिलित था वेंगी कहलाता था। वेंगी का प्रान्तीय शासक विष्णुवर्द्धन था, जिसने वहाँ पर एक स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना की थी। यह राजवंश ग्यारहवीं शताब्दी (१०७०) तक बना रहा। कन्नड प्रदेश के दक्षिणी प्रान्त पर, जिसमें प्राचीन कदम्ब वंश का राज्य (वनवासी) तथा गंग वंश का राज्य सम्मिलित था, आदित्यवर्मन शासन करता था। तीसरा प्रान्त पश्चिमी समुद्र तट के निकट था जिसमें कोंकण का प्राचीन राज्य सम्मिलित था। इस प्रान्त का शासक पुलकेशिन द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य था। गुजरात तथा उत्तरी भागों को मिलाकर एक प्रान्त निर्मित किया गया था, जिसकी राजधानी नासिक में थी। इस प्रान्त का शासन पुलकेशियन द्वितीय का दूसरा पुत्र जयसिंह करता था। महाराष्ट्र, बरार, हैदराबाद तथा बम्बई के कुछ भागों को मिलाकर एक प्रान्त बनाया गया था। यह साम्राज्य का पाँचवाँ प्रान्त था। इस प्रान्त पर सम्राट् का प्रत्यक्ष शासन था। कालान्तर में अन्य चार प्रान्त स्वतन्त्र राज्यों में परिवर्तित हो गये। उत्तर भारत के गुर्जर प्रतिहार वंश की भाँति दक्खन में चालुक्यों का वंश अत्यन्त प्रमुख था और यह कई शाखाओं में विभक्त था। एक विद्वान की धारणा है कि तेलंगाना, कर्नाटक, कोंकण, महाराष्ट्र और गुजरात प्रान्त वास्तव में विभिन्न भाषाभाषी प्रान्त थे और इस आधार पर पुलकेशिन द्वितीय ने अपने साम्राज्य का विभाजन करके, वर्तमान युग की भाषावार प्रान्त रचना की नीति का पूर्व रूप प्रस्तुत किया।

ह्वेनसांग का विवरण—ह्वेनसांग ने ६४१–४२ ई० में पुलकेशिन से नासिक में भेंट की थी और उसके राज्य का भ्रमण भी किया था। चीनी यात्री ने पुलकेशिन-द्वितीय के व्यक्तित्व तथा उसके राज्य और उसके प्रजाजनों के सम्बन्ध में अपने वृत्तान्त लिखे हैं। पुलकेशिन के विषय में ह्वेनसांग लिखता है, 'वह क्षत्रिय जाति का है, उसके विचार विशाल और गंभीर हैं और अपनी सहानुभूति तथा दानक्रियाओं का उसने काफी विस्तार कर रखा है। उसके प्रजाजन पूर्ण भक्ति के साथ उसकी सेवा करते हैं।' पुलकेशिन द्वितीय और हर्ष के युद्ध के विषय में भी चीनी यात्री ने लिखा है—"इस समय महान् नृपति शीलादित्य पूर्व से लेकर पश्चिम तक अपनी विजयवाहिनी ले जा रहा है, वह सुदूरवर्ती जनों को दबाता है और पड़ोस के राज्यों को उसने भयत्रस्त कर दिया है, परन्तु केवल इस राज्य के ही लोगों ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण नहीं किया है। यद्यपि पाँच द्वीपों के सैन्य समूहों में उसने शीर्ष स्थान को अधिकृत कर रखा है यद्यपि उसने समस्त राज्यों के सबसे पराक्रमी योद्धाओं को बुला रखा है और यद्यपि उनको दण्डित करने के लिए उसने प्रयाण भी किया

है, तथापि उनने विरोध को दबाने मे वह असमर्थ रहा है। इस बात से हम उनकी युद्धप्रिय आदतो और आचारो का अनुमान कर सकते हैं।" इसके बाद ह्वेनसांग ने पुलकेशिन के राज्य और उसके निवासियो के विषय मे लिखा है, मो-हो ला चो (महाराष्ट्र) लगभग ५००० लि (लगभग १७०० मील) के घेरे में है। राजधानी के पश्चिम म एक विशाल नदी है। यह लगभग ३० लि गोल है। मिटटी अच्छी और उपजाऊ है। यह नियमित रूप से जोती जाती है और इससे उपज भी बहुत अधिक होती है। जलवायु उष्ण है, लोगो का स्वभाव सादा और ईमानदार है, वे कद मे लम्बे और चरित्र मे प्रतिशोधपूर्ण मनोवृत्ति के है। अपने प्रति उपकार करने वालो के प्रति वे कृतज्ञ रहते हैं अपने शत्रुओ के प्रति दयाशून्य हैं। यदि उनका अपमान किया जाता है, वे अपने प्राणो को खतरे में डालकर उनका बदला चुकाते हैं।"

चालुक्य सत्ता का अस्थायी पतन—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पुलकेशिन द्वितीय के अंतिम दिनो में चालुक्यों की शक्ति गिरने लगी और पल्लव-नरेश नरसिंह वर्मन ने पुलकेशिन को युद्ध में मार डाला। चालुक्यो और पल्लवो के इस युद्ध मे नरसिंहवर्मन ने अपनी बर्बरता का परिचय दिया। सामान्यतया युद्धों मे ब्राह्मणों और असैनिको को कोई हानि नहीं पहुँचाई जाती थी और मन्दिरो को भी क्षति नही पहुँचती थी, परन्तु इस युद्ध म नरसिंहवर्मन ने एक बर्बर की भांति व्यवहार किया। उसने वातापी को खूब लूटा-खसोटा, मन्दिरों को ध्वस्त किया और बिना लिंग-वय का विचार किये हुए उसने सहस्रो मानवप्राणियो का वध किया।

चालुक्यो की शक्ति का पुनरुत्थान—तेरह वर्षों तक चालुक्यो की शक्ति को पल्लवो ने ग्रसित कर रक्खा था। चालुक्यो का राज्य विभिन्न भागों मे बंट गया था, परन्तु विक्रमादित्य प्रथम (६५५–८०) ने, जो पुलकेशिन-द्वितीय का सुयोग्य और वीर पुत्र था, अपने वंश के गौरव को फिर से उत्थित किया। उसने अपने पैतृक राज्य को पल्लवों से छीन लिया। उसके शासन काल के बीसवें वर्ष के गडवाल-पत्रों से पता चलता है कि ६७४ ई० के आसपास चालुक्य सेना कावेरी के दक्षिणी तट पर उरगपुर (उरैयुर, त्रिचनापल्ली) मे डेरा डाले पडी हुई थी। अपने पिता की भांति विक्रमादित्य प्रथम ने कई विरुद धारण किये थे, परन्तु महमल्ल वंश (नरसिंहवर्मन प्रथम) का विनाश करने के कारण उसने राजमल्ल की उपाधि धारण की थी। उसे रणरसिक कहा जाता था। वह कांची का विजेता भी कहा जाता था। किन्तु पल्लव अभिलेखो म लिखा है कि पेरुवलनल्लुर (त्रिचनापल्ली) के निकट मे चालुक्यो की पराजय हुई थी, जिससे पता चलता है कि विक्रमादित्य प्रथम 'अप्रतिहतरथ' नही था। किन्तु त्रिचनापल्ली तक उसका पहुंच जाना इस बात को सिद्ध करता है कि उसने कांची पर अधिकार कर लिया था और अपने पिता की पल्लवो द्वारा पराजय की कुयश कालिमा को धो डाला। चालुक्य लेखो म विक्रमादित्य प्रथम को अन्य महत्त्वपूर्ण विजयो का श्रेय भी दिया गया है। अपने पहले सामरिक प्रयास में ही उसने पल्लव राजधानी को लूटने के बाद सुदूर दक्षिण तक धावे किये और चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों की शक्तियों को परास्त किया। इन युद्धों मे विक्रमादित्य प्रथम को अपने पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य म बड़ा सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। विनयादित्य ने ६८० से लेकर ६९६ तक और विनयादित्य ने लगभग ६९६ से लेकर ७३३ तक शासन किया। एक अभिलेख मे वर्णित है कि विनयादित्य ने 'सकलोत्तरापथनाथ' को पराजित कर 'सार्वभौम पद' प्राप्त किया। परन्तु यह वर्णन निस्सन्देह अतिरंजनापूर्ण है, क्योंकि इस समय उत्तर

भारत में कोई साम्राज्य सत्ता थी ही नहीं, जिसे पराभूत कर वह 'सार्वभौम पद' प्राप्त करता। विद्वानों का मत है कि इस तथाकथित 'सकलोत्तरापथनाथ' का समीकरण उत्तरकालीन गुप्त नरेश आदित्यसेन के एक उत्तराधिकारी से करना चाहिए। आदित्यसेन ने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी और उसके वंशजों ने भी इसी उपाधि को धारण करना जारी रखा। परन्तु उसको 'सकलोत्तरापथनाथ' कहना अयुक्तिपूर्ण है। आदित्यसेन के किसी उत्तराधिकारी की विनयादित्य द्वारा पराजय को एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य समझना उचित जान पड़ता है।

विक्रमादित्य द्वितीय—विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य वंश का प्रतापी नरेश था। उसके उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन द्वितीय के ताम्रपत्रों में विक्रमादित्य द्वितीय की सैनिक सफलताओं का वर्णन किया गया है। इस साक्ष्य के अनुसार उसने प्रथम प्रकृत्यमित्र को पराजित किया और पल्लवों की राजधानी कांची में प्रविष्ट हो गया किन्तु उसे नष्ट नहीं किया। उसने राजसिंहेश्वर और अन्य मन्दिरों को उन सुवर्ण ढेरों से परिपूरित कर दिया जिन्हें कुछ दिनों पूर्व पल्लवों ने छीन लिया था। विक्रमादित्य द्वितीय के कांची अभिलेखों से कीर्तिवर्मन के ताम्रपत्रों के लेख की पुष्टि हो जाती है। उसने चोल, पाण्ड्य और केरल शक्तियों को भी आतंकित तथा भयत्रस्त कर दिया। 'उसके राज्यकाल में अरबों ने जिन्होंने सन् ७१२ ई० में सिन्ध पर अधिकार कर लिया था, दक्षिण पर भी आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने उनका सामना किया और उन्हें पराजित किया। उसका यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसके कारण दक्षिण अरबों के हाथ में जाने से बच गया।' परन्तु वह पल्लवों की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट न कर सका। पल्लव नृपति पल्लवमल्ल ने पराजित होने पर भी अपनी राजधानी कांची पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया। चालुक्य विजय को 'पल्लव प्रभुता के अन्त का प्रारम्भ' मानना तर्कसम्मत नहीं है।

चालुक्य सत्ता का अन्त—विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र कीर्तिवर्मन द्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद शासक हुआ। कीर्तिवर्मन द्वितीय वातापी के चालुक्य कुल का अंतिम नृपति था। ७५३ ई० में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने उसको पराजित कर दिया। कीर्तिवर्मन द्वितीय के राज्य के अधिकांश भागों पर दन्तिदुर्ग का अधिकार स्थापित हो गया। एक अभिलेख से पता चलता है कि कर्नाटक क्षेत्र में विक्रमादित्य की सत्ता ७५७ ई० तक बनी रही, किन्तु राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण-प्रथम ने वातापी के चालुक्य राजवंश की मूल शाखा का उन्मूलन कर दिया। परन्तु अन्यत्र उनकी दूसरी शाखाओं ने अपना अधिकार बनाये रखा।

चालुक्यों के समय में धर्म और कला की अवस्था

चालुक्य वंश के शासन की प्रारम्भिक दो शताब्दियों में ब्राह्मण धर्म को प्रधानता प्राप्त थी। राजाओं और प्रजाजनों ने वैदिक धर्म को ग्रहण किया। इस काल के विचारकों ने वेदों की अपौरुषेयता और वैदिक आदेशों की पालनीयता का समर्थन किया। पौराणिक देवताओं का समाज में सम्मान था। वातापी तथा पत्तदकल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विशाल मन्दिर बने थे। याज्ञिक क्रियाओं और अनुष्ठानों पर चालुक्य युग में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। पुलकेशिन द्वितीय ने अश्वमेध तथा वाजपेय आदि बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया था। परन्तु चालुक्य राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के कारण दक्षिण में जैन धर्म को फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ।

धार्मिक सहिष्णुता . वैदिक-पौराणिक धर्म

ऐहोल-अभिलेख का रचयिता रविकीर्ति जैन धर्मानुयायी था और उसने जिनेन्द्र का एक मंदिर बनवाया, फिर भी वह ब्राह्मण धर्मानुयायी पुलकेशिन द्वितीय का सम्मान्य कृपा भाजन था। विजयादित्य ने एक जैन मन्दिर के निर्वाह के लिये पण्डित उदयदेव को एक ग्राम दान मे दिया था। विक्रमादित्य द्वितीय ने भी अनेक जैन पण्डितो को प्रभूत दान दिया था। उसने जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान किया। बौद्ध धर्म के प्रति चालुक्य नरेशो का क्या दृष्टिकोण था, यह ठीक ठीक नही कहा जा सकता, किन्तु उनके राज्यो मे इस धर्म की क्या अवस्था थी, इस पर ह्वेनसांग के लेख से प्रकाश पड़ता है। चीनी यात्री लिखता है, 'बौद्ध विहारो की संख्या १०० से ऊपर थी और ५००० से अधिक की संख्या मे हीनयान और महायान सम्प्रदायो के भिक्षु वहाँ विद्यमान थे। राजधानी के भीतर और बाहर ५ अशोक स्तूप थे जहाँ पिछले चार बुद्ध कभी बैठे थे और उन्होंने वायुसेवन किया था। वहाँ पर पत्थर और ईंटों के अन्य स्तूप भी थे।" परन्तु जैन और वैदिक धर्मों की अत्यधिक उन्नति के कारण बौद्ध धर्म का विकास रुक गया। पौराणिक हिन्दू धर्म जिसके रूप का विवेचन गुप्तकालीन संस्कृति के अध्याय मे किया जा चुका है, चालुक्यो के समय मे काफी लोकप्रिय था।

कला—चालुक्यो के शासन-काल मे कला की भी पर्याप्त उन्नति हुई। जैनो और बौद्धो के अनुकरण मे हिन्दू देवताओं के लिये भी गुहा-मंदिरो का निर्माण चालुक्य-कला की एक सफलता है। अजन्ता की बौद्ध गुहायें अपने स्थापत्य और भित्ति चित्र, विशेषत बुद्ध भगवान का मोह और 'फारसी राजदूत' के लिए प्रख्यात हैं। अजन्ता और एलोरा दोनो ही चालुक्य राज्य मे अवस्थित थे। इनके कुछ चित्र चालुक्यो के समय मे बनवाये गये थे। औरंगाबाद और नासिक मे अनेक बौद्ध गुहा-स्थापत्य अब भी विद्यमान है। गुहा-स्थापत्य की दृष्टि से उन चित्रो का महत्त्व विशेष अधिक है जो ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित है। औरंगाबाद के निकट एलोरा में कुछ विख्यात स्थापत्य चित्र हैं, कलाश पर्वत के नीचे रावण, नृत्य करते हुए भगवान शिव और हिरणकशिपु का बध करते हुए नृसिंह भगवान्। बादामी मे भगवान् विष्णु के नृसिंह और वाराह अवतारो की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बड़ी प्रशंसनीय हैं। ऐहोल, बादामी और पत्रकदल मे इस कला के बने हुए मंदिर हैं। विरुपाक्ष मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है, जिसमे भित्तिचित्रो द्वारा रामायण की कथाओं का दिग्दर्शन किया गया है। इस मंदिर पर पल्लव कला की स्पष्ट छाप है। इसका निर्माण काञ्ची के कैलाशनाथ मन्दिर की अनुकृति के आधार पर कराया गया था। दक्षिण मे बौद्ध धर्म के ह्रासोपरान्त दक्कन का चालुक्य साम्राज्य पहला महान हिन्दू साम्राज्य था। चालुक्य शासको के शासन का दक्षिणापथ के इतिहास मे विशेष महत्त्व है। उनके समय मे दक्षिणापथ ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का अनुभव किया। चालुक्य राजाओ ने हिन्दू देवी-देवताओ के मंदिर बनवाये और मन्दिरो को प्रचुर दान दिया। इसका उल्लेख किया जा चुका है। उनकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने जैन धर्म को दक्षिणापथ मे पनपने का अवसर प्रदान किया। आगे चलकर अन्हिलवाड के जैन आचार्यों ने दक्कन मे अपने मत का प्रचार किया। समाज में इन आचार्यों को आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था और उन्होने दक्षिणापथ मे मराठी, कन्नड तथा तेलगु नामक प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य-सृजन की नींव डाली। उन्होंने इन प्रान्तीय भाषाओं में धार्मिक विषय पर अनेक ग्रंथ लिखे। कालान्तर में भक्ति-सम्प्रदायो के अनुयायियों ने भी जैन आचार्यो का अनुसरण करते हुए अपने मतों का प्रचार करने के लिए प्रान्तीय भाषाओं को ही अपनाया।

राष्ट्रकूट

मूल - कर्नाटक के राष्ट्रको

दन्तिदुर्ग (७५३) → पराजित चालुक्य कीर्तिवर्मन
(ब्राह्मण)

↓ भाई

कृष्ण - प्रथम → राजा निरु

↓

गोविन्द-द्वितीय → भोग-विलास

↓

ध्रुव (७८० - ७९३) → भाई के राज गद्दी (शिवधारा) से।

↓

चालुक्यों के समय से दक्षिणापथ में उत्तर के अनेक क्षत्रिय परिवार गये और वहाँ पर उन्होंने शक्ति तथा प्रभुता प्राप्त कर ली। चालुक्य लोग छत्तीस राजवंशों में थे। पारसियों ने मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों से बचने के लिये ७३५ ई० में थाना जिले में शरण ली। चालुक्य वंश के स्थानीय सरदार ने पारसियों का आदर-सत्कार तथा स्वागत किया और अपने राज्य में उन्हें अपना उपनिवेश स्थापित करने की आज्ञा दे दी। इस कार्य के लिए उस सरदार ने एक आज्ञा विज्ञप्ति निकाली जिसमें पारसियों के प्रति इस प्रकार शुभ-कामना प्रकट की गई— ऐ पारसियो, ईश्वर तुम्हें सन्तान, सफलता और विजय प्रदान करे। अमर और पवित्र अग्नि तुम्हें सतत विजय देती रहे। तुम पापों से मुक्त रहो। तुम सदा पवित्र रहो। तुम्हारे लिए भगवान् मातण्ड सदैव के लिए मंगलकारी बने रहें। तुम्हारी कामनायें पूरी हों। मेरे देश में तुम जो भी भूभाग चाहो, ले सकते हो। तुम्हारी प्रतिष्ठा निरन्तर वृद्धिगत होती रहे। ऐ पारसियो, यदि कोई भी दुष्ट जन तुम्हें हानि पहुँचायेगा तो मैं उसका ध्वंस कर दूँगा। तुम्हारी भाग्य-लक्ष्मी प्रशस्त और स्थायिनी हो। इस विज्ञप्ति-पत्र के बाद पारसी लोगों ने अपनी एक अलग बस्ती स्थापित कर ली और वे फारस से व्यापार करने लगे। यह महान् आदेश पत्र एक औसतन हिन्दू नरेश के उन्नत आदर्शवाद और सार्वभौम सहिष्णुता का निदर्शन करता है। इस प्रकार की उदारतापूर्ण आज्ञायें इसी काल के निकट तथा बाद में दक्षिण के अन्य नरेशों द्वारा भी निकाली गई थीं। हम आगे देखेंगे कि दक्कन के राष्ट्रकूट राजाओं ने अरबों के साथ ऐसी ही उदारता का परिचय दिया।

मान्यखेट (मालखेड़) के राष्ट्रकूट

आठवीं शताब्दी के छठे दशाब्द में दक्षिण में राजनीतिक प्रभुता चालुक्यों के हाथों से निकलकर राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई। राष्ट्रकूटों ने अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया और आगे चलकर राजनीतिक प्रभुता के लिए जिन तीन शक्तियों में संघर्ष छिड़ा, उनमें से एक शक्ति मान्यखेट के राष्ट्रकूट-कुल की थी।

राष्ट्रकूटों का मूल—राष्ट्रकूटों की मूल उत्पत्ति तथा उसके मूल निवास-स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि दक्षिण के राष्ट्रकूट कुल का उद्भव राजस्थान के राठौरों से हुआ था, परन्तु इस मत में सत्यता तनिक भी नहीं है, क्योंकि दक्षिण के राष्ट्रकूटों के प्राचीनतर अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। राष्ट्रकूटों की तेलगू उत्पत्ति का भी बताया जाता है। इस मत का आधार यह है कि 'रेड्डि' शब्द राष्ट्र का अपभ्रंश है और राष्ट्रकूट लोग रेड्डियों की सन्तान हैं। परन्तु यह मत भी निराधार है। इस बात की सम्भावना नहीं कि 'राष्ट्र' शब्द से 'रेड्डि' शब्द की उत्पत्ति हुई है। इसके अलावा रेड्डियों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में हुआ था। एक विश्वसनीय धारणा यह जान पड़ती है कि राष्ट्रकूटों का उद्भव राष्ट्रिकों से हुआ था। राष्ट्रिकों का उल्लेख अशोक के अभिलेख में किया गया है। ये लोग सम्भवतः कर्णाटक प्रदेश के रहने वाले थे। राष्ट्रकूटों की भाषा कन्नड़ थी और उन्होंने मराठी को नहीं, अपितु कन्नड़ को राजाश्रय प्रदान किया। राष्ट्रकूटों का मूल स्थान लट्टलूर (लाटूर, निजाम रियासत के बीदर जिले का स्थान) था। लट्टलूर प्रदेश बीदर जिले के कन्नड़ भाषाभाषी प्रदेश को व्यक्त करता है।

राष्ट्रकूटों का उत्कर्ष—दन्तिदुर्ग के अधीन राष्ट्रकूटो की शक्ति का उत्थान हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि दन्तिदुर्ग एक चालुक्य राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जो किसी राष्ट्रकूट सरदार के साथ ब्याही गई थी। सम्भवत उसने उत्तर और दक्षिण के प्रदेशो को छोड़कर सम्पूर्ण चालुक्य राज्य पर अधिकार जमा लिया। दन्तिदुर्ग (७४५–७५६) ने ही राष्ट्रकूटो के विशाल राज्य की नीव डाली। उसने भड़ौंच मे गुजरो और गुजरात के चालुक्यो को परास्त किया। इस कार्य में उसे नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल से बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई, जिसके साथ उसने सन्धि सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। दन्तिदुर्ग ने ७५३ मे चालुक्य राजकुमार कीर्तिवर्मन द्वितीय को युद्ध मे पराजित कर महाराष्ट्र का उत्तरी भाग अपने राज्य मे मिला लिया। कांची, कोशल, कलिंग, मालवा, लाट (दक्षिण गुजरात) और श्रीशैल (कर्नूल जिले मे) के राजाओ को उसने परास्त किया था। दन्तिदुर्ग बड़ा शक्तिशाली और विवेकी पुरुष था। अपने शत्रुओ की कमजोरी को वह समझता था और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह युद्ध और कूटनीति मे से किसी का भी अवलम्बन ग्रहण कर सकता था। धार्मिक दृष्टिकोण से वह कट्टर ब्राह्मण था और पवित्र त्योहारो के अवसर पर तीर्थों मे विपुल दान दिया करता था। दन्तिदुर्ग की मृत्यु तीस वर्ष की थोड़ी अवस्था मे हो गई।

दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र न था अतएव उसके राज्य का अधिकारी कृष्ण प्रथम हुआ। कृष्ण प्रथम दन्तिदुर्ग के पिता का भाई था। कृष्ण प्रथम ने चालुक्य राजशक्ति के विनाश-कार्य को पूरा किया और कोंकण को विजित करने के बाद वहाँ उसने शिलाहारों को अपने अधीनस्थ एक सामन्तवादी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित किया। उसने ७६८ ई० मे श्रीपुरुष को संग्राम मे परास्त किया और उसको भी अपना सामन्त बनाया। कृष्ण प्रथम ने अपने पुत्र गोविन्द द्वितीय को एक सेना के साथ वेंगी राज्य के विरुद्ध भेजा। राष्ट्रकूटों की शक्ति का बिना कुछ विरोध किये ही वेंगी ने उनके आगे आत्मसमर्पण कर दिया। उसने जो राज्य उत्तराधिकार मे प्राप्त किया था उसका उसने लगभग तिगुना विस्तार किया। दक्कन मे उसने अपने वंश की प्रभुता स्थापित की और अपने उत्तराधिकारियो के लिए उसने विन्ध्यपार देशो की अन्य-सफलताओं के लिये मार्ग प्रशस्त किया। कृष्ण का राजत्व काल एलोरा के कैलाश मन्दिर के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है।

गोविन्द द्वितीय—कृष्ण प्रथम के उपरान्त गोविन्द-द्वितीय राष्ट्रकूट राज्य का अधिकारी हुआ। जब वह अपने पिता के शासन काल मे युवराज था तभी उसने वेंगी के विष्णुवर्धन चतुर्थ को पराजित किया था। गोविन्द द्वितीय ने पारिजात को भी युद्ध मे हराया। परन्तु राज्य का अधिकारी होने के उपरान्त वह व्यभिचार और भोग-विलास मे लिप्त हो गया। परिणाम यह हुआ कि राज्य का लगभग सारा उत्तरदायित्व उसका अनुज ध्रुव वहन करने लगा और प्रलोभन के वशीभूत होकर उसने राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। ७७९ मे अवसर प्राप्त होने पर ध्रुव ने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और गद्दी पर अधिकार कर लिया।

ध्रुव—ध्रुव धारावर्ष राष्ट्रकूट-कुल का एक महान् विजेता था। उसने ७८० से लेकर ७९४ तक राज्य किया। ध्रुव ने गंगराज शिवमार द्वितीय को पराजित करके उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया और उस पर शासन करने के लिए अपना एक वाइसराय नियुक्त किया। वह पल्लव-नरेश दन्तिवर्मन के विरुद्ध काँची तक अपनी एक वाहिनी ले गया। दन्तिवर्मन को राष्ट्रकूट राजा के सम्मुख आत्म-समर्पण कर

देना पड़ा। ध्रुव ने उत्तर भारत की राजनीतिक गतिविधियों मे हस्तक्षेप किया, जिसके सम्बन्ध में उसने वत्सराज गुर्जर को हराया। यद्यपि वत्सराज गुर्जर की पराजय ने राष्ट्रकूट की सीमा में कोई विस्तार नहीं हुआ, फिर भी इसके कारण उसकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गई। इसके बाद ध्रुव ने इन्द्रायुध को परास्त कर अपने झंडे पर गंगा-यमुना का चिह्न ग्रहण किया और गंगा-यमुना के दोआब में ही उसने बंगाल के राजा धर्मपाल को पराजित कर उसका राजछत्र छीन लिया।[१] यद्यपि अपनी इन विजयों के द्वारा उत्तर में ध्रुव राष्ट्रकूटों का अधिकार न जमा पाया, तथापि उसने आक्रमणात्मक साम्राज्यवाद की नीति का अवलम्बन ग्रहण किया। उसी के समय से राष्ट्रकूटों, पालों और प्रतीहारों के बीच मे गंगा और यमुना की घाटियों में राजनीतिक प्रभुत्व जमाने के लिए पारस्परिक संघर्ष छिड़ गया। डॉ० अल्तेकर ने ध्रुव धारावर्ष के रण-अभियानों को ध्यान में रखते हुए लिखा है—"वह सुयोग्यतम राष्ट्रकूट नरेशों में एक था। अपने तेरह वर्ष के संक्षिप्त शासन-काल में उसने न केवल दक्षिण में राष्ट्रकूट प्रभुता की पुनर्स्थापना की, जिसे उसके पूर्वाधिकारी के अनैतिक तथा दोषपूर्ण शासन ने गहरी क्षति पहुँचायी थी, वरन् उसने राष्ट्रकूटों को एक अखिल भारतीय शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित किया। उत्तरी भारत के भागों के आन्ध्रों द्वारा अपने साम्राज्य मे मिलाये जाने के बाद, पहली बार, सम्भवतः नौ शताब्दियों के उपरान्त, दक्षिणापथ की एक सेना ने विन्ध्यपर्वत श्रेणियों का अतिक्रमण करके मध्यदेश के उर प्रदेश मे प्रवेश किया और उत्तर मे साम्राज्यवादी सत्ता को प्राप्त करने के उत्सुक दो प्रतिस्पर्धियों में प्रत्येक को पराजित किया।' (राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पृष्ठ ५६)। डॉ० अल्तेकर यह स्वीकार करते हैं कि ध्रुव द्वारा राज्यारोहण का कार्य उसके नैतिक चरित्र को कुछ ढक लेता है, परन्तु विद्वान लेखक ने आगे लिखा है कि कृष्ण द्वितीय वस्तुतः एक दुर्बल और विलासी नरेश था, अतएव ध्रुव ने जो कार्य किया, उसका एक पर्याप्त राजनीतिक औचित्य है।-डॉ० अल्तेकर द्वारा उद्धृत, दौलताबाद के पत्र-लेख मे यह लिखा है कि कृष्ण द्वितीय के अनुज ध्रुव ने राष्ट्रकूटों की राजलक्ष्मी को विचलित होते देखकर उसकी रक्षा करने के लिए राज्य ग्रहण किया, अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं। 'राज्यभार गुरुमर्पितव्रतोऽयमस्त्यम। मा भूत् किला वर्षपरिच्युतिस्स लक्ष्म्या।"

गोविन्द-तृतीय—ध्रुव ने अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों मे अपने तृतीय पुत्र गोविन्द को युवराज नियुक्त किया और कुछ दिनों बाद उसके पक्ष में स्वयं राज्य त्याग दिया। गोविन्द-तृतीय को अपने पिता द्वारा निर्वाचित किया जाना यह सिद्ध करता है कि वह योग्य और पराक्रमी था। वस्तुतः गोविन्द-तृतीय ने अपने

१ गंगायमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः
लक्ष्मीलीलारविन्दानि श्वेतच्छत्राणि योहरत् ॥

अमोघवर्ष प्रथम के संजन पत्र-लेख के इस श्लोक की परिपुष्टि कर्क सुवर्णवर्ष के सूरत पत्र-लेख के कतिपय श्लोकों द्वारा होती है। श्लोक से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि ध्रुव ने "अपने साम्राज्य लाञ्छनों मे गंगा और यमुना की आकृतियाँ भी जोड़ लीं।"

योगंगयमुनेतरंगसुभगे गृह्णन् परेभ्यः समम।
साक्षाच्चिह्ननिभेनचोत्तमपदंतत्प्राप्तयानीश्वरम ॥

कार्यों द्वारा अपने को एक वीर विजेता प्रमाणित किया। यद्यपि ध्रुव उसे अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करने के बाद मरा था, तथापि गोविन्द तृतीय के राज्याधिकार का उसके बड़े भाई स्तम्भ ने विरोध किया। उसने बारह राजाओं का एक संघ बनाया और इस संघ का नेतृत्व स्वयं उसी ने ग्रहण किया। इस संघ मे गंगराज शिवमार द्वितीय भी सम्मिलित था, जिसको गोविन्द तृतीय ने कारावास से मुक्त कर दिया था। गोविन्द अपने विरुद्ध बारह राजाओं की सम्मिलित शक्ति से तनिक भी भयभीत न हुआ, अपितु उसने धैर्य और साहस के साथ अकेले ही उसका सामना करने का निश्चय किया। उसने इस संघ पर विजय प्राप्त की और विद्रोह का दमन करने मे वह पूर्ण रूप से सफल रहा, किन्तु विद्रोहियों के साथ उसने उदारता का व्यवहार किया। स्तम्भ को उसने गंगवाडि का वाइसराय नियुक्त किया। किन्तु शिवमार की कृतघ्नता से सशंकित होकर गोविन्द ने उसको पुन बंदीगृह मे डाल दिया। इन्द्र को जिसने गोविन्द तृतीय के प्रति अपनी स्वामिभक्ति प्रदर्शित की थी, उसने लाट प्रदेश का शासक मनोनीत किया। इस प्रकार आन्तरिक उपद्रवों से छुटकारा प्राप्त कर लेने के उपरान्त गोविन्द अपनी रणवाहिनी उत्तर भारत मे ले गया और मालवा नरेश गुर्जर नागभट्ट द्वितीय और उसके सहयोगी चन्द्रगुप्त को पराजित किया। कुछ दिनों तक मालवा लाट-प्रदेश के शासक के अधीन रहा। अधिक उत्तर मे पहुंच कर गोविन्द तृतीय ने कन्नौजाधिपति चक्रायुध को अपने आगे आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया और इस प्रकार चक्रायुध के संरक्षक धर्मपाल की भी अवहेलना की।[1] स्पष्ट है कि तीन शक्तियों के बीच प्रभुता के इस संघर्ष मे गोविन्द तृतीय ने राष्ट्रकूटों को सबसे अधिक शक्तिशाली प्रमाणित किया। गोविन्द ने ८०३ के लगभग पल्लव राज्य पर आक्रमण करके दन्तिवर्मन को हराया था। उत्तर के रण-अभियान से लौट आने के बाद पल्लवों के साथ उसने पुन अपना युद्ध जारी कर दिया। दक्षिण की राजशक्तियों के विरुद्ध युद्ध मे गोविन्द तृतीय को इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई कि उसकी चोलों, पाण्ड्यों, गंगवाड़ी और केरलों की सम्मिलित शक्ति के ऊपर विजय का यश लंका तक पहुंच गया और लंकाधिपति ने उसकी सेवा मे अपनी एक मूर्ति भेज कर अपनी अधीनता प्रकट की।[2] दक्षिण मे अपने विद्रोहियों की शक्ति को कुचलने के बाद गोविन्द ने अपना जीवन राज्य के आन्तरिक शासन को सुव्यवस्थित करने में व्यतीत किया।

गोविन्द तृतीय के कार्यों का मूल्यांकन—राष्ट्रकूट राजकुल इस बात के लिए भारत के प्राचीन इतिहास मे विख्यात है कि इसके राजाओ ने अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थापित करने और उसके राजनीतिक गौरव को बढ़ाने का योग्यतापूर्ण प्रयास किया। इस राजकुल में कई सुयोग्य शासक और महान् विजेता हुए थे जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा वास्तविक रूप मे अपने वंश का गौरव बढ़ाया। राष्ट्रकूटों के इस विशिष्ट कुल मे गोविन्द तृतीय एक विशिष्ट और उल्लेखनीय शासक था। अपनी कुशल राजनीतिज्ञता और प्रचण्ड रणशक्ति के द्वारा उसने सम्पूर्ण भारत—उत्तरापथ और

१ संजन ताम्र-लेखों से विदित होता है कि कान्यकुब्ज के चक्रायुध और गौड़ के धर्मपाल दोनों ने उसके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया।

"स्वयमेवोपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ।'

२ 'सकातं किल तत्प्रभुप्रतिकृती काञ्चीमुपेतौ तत''
कीर्तिस्तम्भनिभौ शिवायतन के येनेह संस्थापितौ।'

दक्षिणापथ के शासकों में अपना आतंक और प्रभाव जमाया। डॉ० अल्तेकर का विश्वास है कि उसकी विजयवाहिनी के प्रयाण के अन्तर्गत हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक का सम्पूर्ण प्रदेश आ गया था। उससे भयभीत होकर लंका के राजा ने भी उसके प्रति आत्म-समर्पण कर दिया। उसने अपने वंश का सुयश और गौरव उस सीमा तक पहुँचा दिया जहाँ तक उसका न कोई पूर्ववर्ती और न परवर्ती शासक पहुँचा सका था। अपने राज्य की आन्तरिक शक्ति को सुदृढ़ करने में उसने सामन्तों के साथ समझौते की नीति का अवलम्बन किया। इन्द्र के साथ सद्व्यवहार करके उसने अपनी कूटनीति और भ्रातृ स्नेह का परिचय दिया। गोविन्द-तृतीय के राजकवि का कहना है कि उसके जन्म के बाद राष्ट्रकूट लोग उसी प्रकार अजेय हो गये जिस प्रकार श्रीकृष्ण के जन्म के बाद यादव हो गये थे। उसके अभिलेख यह सूचित करते हैं कि विन्ध्य शृङ्खला से लेकर उसका राज्य तुंगभद्रा तक फैला था। लाट-प्रदेश में, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, उसका अनुज इन्द्र उसके राज प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। गोविन्द एक विजेता ही नहीं, वरन् एक सफल शासक भी था। उसने शासन-व्यवस्था को दृढ़ और सुव्यवस्थित बनाया। उसकी सफलता का कारण यह था कि उसके अन्दर वीरता, राजनीतिज्ञता, और संगठन शक्ति के गुणों का समन्वय था। उसके भतीजे कक्क के बड़ोदा लेख में उसकी तुलना पार्थ से की गई है। इसी शासक के नौसारी लेख में यह बतलाया गया है कि गोविन्द-तृतीय रणभूमि में, अपने शत्रुओं से तनिक भी न डरते हुए, तुरन्त कूद पड़ता था। उत्तर और दक्षिण में उसका सफल रण-अभियान उसकी अपूर्व वीरता और संगठन शक्ति का निदर्शन करता है। अपने शासन-काल के आरम्भ में उसने स्तम्भ के ऊपर जिस प्रकार विजय प्राप्त की और उसके साथ जो व्यवहार किया, उससे उसकी चतुर राजनीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। उसके समस्त गुणों को ध्यान में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं कि गोविन्द-तृतीय अपने युग के सबसे महान् शासकों में से है।

अमोघवर्ष-प्रथम—अमोघवर्ष प्रथम ८१४ में राष्ट्रकूट की राजगद्दी पर बैठा। राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था केवल बारह वर्ष की थी। सर आर० जी० भण्डारकर की सम्मति है कि गोविन्द-तृतीय के उत्तराधिकारी का नाम सर्व था और अमोघवर्ष उसकी उपाधि थी। अमोघवर्ष की अल्पावस्था से राष्ट्रकूट कुल के विरोधियों ने लाभ उठाना चाहा, अतएव विद्रोही सामन्तों ने उसके विरुद्ध अपना सिर उठाया और पश्चिमी गंगों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा करके बाल-नृपति को सिंहासन च्युत कर दिया। इसके बाद राज्य में अशान्ति और अव्यवस्था फैल गई, क्योंकि जैसा कि डॉ० अल्तेकर ने बताया है, विद्रोही राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए आपस में लड़ने लगे। राष्ट्रकूट वंश के लिए इस समय एक विकट संक्रान्ति का अवसर उपस्थित हो गया था, किन्तु कर्क अथवा पातालमल्ल ने ८१६ ई० से ८२१ ई० के मध्य में राष्ट्रकूट वंश की गिरती हुई शक्ति को सँभाला। अमोघवर्ष को पुनः सिंहासन प्राप्त हो गया, किन्तु इसका श्रेय अमोघवर्ष को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इस समय उसकी आयु केवल तेरह वर्ष की थी।

सिंहासन प्राप्त कर लेने के बाद भी राज्य की आन्तरिक गड़बड़ी के कारण अमोघवर्ष काफी समय तक सैन्य-दृष्टि से निष्क्रिय रहा। हो सकता है कि अपनी अल्पायु के कारण भी उसने रण अभियान प्रारम्भ करना उचित न समझा हो। ८६० ई० के लगभग अमोघवर्ष ने वेंगी के विजयादित्य-तृतीय को पराजित किया।

इसके बाद उसने गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटो से मेल किया, जिससे वह रुष्ट हो गया था। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटों ही के कारण अमोघवर्ष को फिर से सिंहासन प्राप्त हुआ था, किन्तु बाद में उसके पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं रह गये थे। अमोघवर्ष ने गुजरात के राष्ट्रकूटों से पुन मैत्री करके एक बुद्धिमत्तापूर्ण काम किया।

अमोघवर्ष ने वेंगी के विजयादित्य को पराजित करने के अतिरिक्त और कोई सैनिक सफलता नहीं प्राप्त की। उसके समय मे राष्ट्रकूट-साम्राज्य का विस्तार कम हो गया। गंगावाडी के शासक ने उसके विरुद्ध विद्रोह का झडा खडा कर दिया और अमोघवर्ष उस विद्रोह का दमन करने में असमर्थ रहा। फलस्वरूप गंगावाडी उसके अधिकार से निकल गया। यही हाल मालवा के प्रान्त का हुआ। मालवा पर भी अमोघवर्ष अपना अधिकार नहीं जमा सका। उत्तरी भारत के प्रतापी प्रतिहार नरेश मिहिरभोज ने आगे बढकर उज्जयिनी के चारो ओर नर्मदा तक के प्रदेश को रौद डाला, किन्तु अमोघवर्ष के कानों पर जू तक न रेंगी। जिस गोविन्द तृतीय के प्रबल प्रताप के सामने गुर्जर राज नागभट्ट द्वितीय और गौडाधिपति धर्म पाल ने अपने घुटने टेक दिये थे उसी के उत्तराधिकारी अमोघवर्ष के समय में मिहिरभोज राष्ट्रकूट शक्ति को चोटें मार रहा था। यदि गुजरात के राष्ट्रकूट नृपति ध्रुव द्वितीय ने मिहिर भोज के प्रसार को रोकने मे सफलता न पाई होती तो राष्ट्रकूट वश की राजसत्ता का क्या हाल हुआ होता, यह कह सकना कठिन है। अपने साठ वर्ष के लम्बे शासन-काल मे अमोघवर्ष ने कोई भी महत्वपूर्ण सैनिक सफलता न प्राप्त की। डॉ० अल्तेकर ने लिखा है कि वह अपने पिता या पितामह की भाँति सैन्य मनोवृत्ति का नही था।

अमोघवर्ष की रुचि सैनिक-कार्यों की ओर नहीं थी। उसका स्वभाव शान्तिप्रिय था और धर्म तथा साहित्य के प्रति उसके हृदय मे पर्याप्त अनुराग था। उसने सम्भवत 'कविराजमार्ग' नामक ग्रथ का प्रणयन किया। यह ग्रथ काव्यशास्त्र पर कन्नड भाषा मे लिखा हुआ प्रथम ग्रथ है। अमोघवर्ष साहित्यानुरागी और साहित्यकारों का सरक्षक था। नागवर्मन द्वितीय केशिराज और भट्टकलक, सभी इस बात में एक-दूसरे से सहमत हैं कि अमोघवर्ष साहित्यकारो के प्रति बहुत उदार था। उसके सजन पत्रों मे तो यहाँ तक कहा गया है कि सुविख्यात नरेश विक्रमादित्य से भी वह अधिक उदार था। धर्म के क्षेत्र मे उसकी रुचि जैनमत की ओर थी। आदि पुराण के प्रणेता जिनसेन का दावा है कि वह अमोघवर्ष का गुरु था। महावीराचार्य के कथनानुसार, जो जैन मत का आचार्य तथा 'गणितसारसग्रह' नामक पुस्तक का रचयिता था, अमोघवर्ष स्याद्वाद (जैनमत) का माननेवाला था। यद्यपि अमोघवर्ष जैन मत के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित था, तथापि उसकी आस्था अपने पूर्वजों के धर्म में बनी रही। उसने हिन्दू धर्म का परित्याग नहीं किया था। वह महालक्ष्मी का परम भक्त था। उसके सजन-लेखो मे एक स्थान पर लिखा है कि एक बार अपनी प्रजा के कष्ट निवारणार्थ उसने अपने बाँयें हाथ की उँगली काटकर महालक्ष्मी देवी के चरणो मे चढा दी थी। डॉ० अल्तेकर हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करते हैं कि अमोघवर्ष की प्रजावत्सलता का यह उल्लेख कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है, वरन् इसकी पुष्टि भट्टकलक के "कर्णाटक शब्दानुशासनम्" ग्रथ द्वारा भी हो जाती है।[१]

१ *The Rastrakutas And Their Times*, pp 87-88

अमोघवर्ष प्रथम ने अपनी राजधानी मान्यखेट (निजाम राज्य में वर्तमान, मालखेड) में बसायी थी। विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि सुलेमान ने जिस "दीर्घजीवी बल्हर' ('वल्लभराज' का अरबी रूपान्तर) का उल्लेख किया है, वह अमोघवर्ष प्रथम ही था। सुलेमान नामक अरब यात्री ने लिखा है कि दीर्घजीवी बल्हर संसार के चार महान् सम्राटों में है। उसने तीन अन्य महान् सम्राटों को इस प्रकार बताया है, 'बगदाद का खलीफा, कुस्तुन्तुनिया का शासक और चीन का सम्राट।'

'प्रश्नोत्तरमालिका' नामक ग्रंथ में अमोघवर्ष के राज्य-परित्याग का उल्लेख मिलता है। उसके संजन लेखों द्वारा भी उसके राज्य परित्याग की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण के कन्धों पर राज्यभार सौंप कर स्वयं वैराग्य ले लिया था।

कृष्ण द्वितीय—कृष्ण द्वितीय (८८०–९१२ ई०) को अभिलेखों में महान् विजेता कहा गया है। एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि 'उसकी आज्ञाओं का पालन अंग, बंग, कलिंग गंग और कोशल के शासक करते थे।' यह निश्चित है कि अभिलेख का यह दावा अतिरंजन मात्र है। यह अवश्य है कि कृष्ण द्वितीय को अपने पड़ोसी राज्यों से बराबर संघर्ष करते रहना पड़ा। दक्षिण में उसने गंगों और नोलम्बों से पूर्व में वेंगी के चालुक्यों से और उत्तर में गुर्जर प्रतिहारों तथा गुजरात के राष्ट्रकूटों से युद्ध किया। मिहिरभोज से कृष्ण द्वितीय ने जो युद्ध किया उसमें वह कन्नौज के इस प्रतापी नरेश का कुछ भी बिगाड़ न सका। कृष्ण द्वितीय के समय में विजयादित्य-तृतीय और भीम प्रथम ने पूर्वीय चालुक्यों की स्वतन्त्रता प्रतिष्ठापित की। अमोघवर्ष प्रथम ने वेंगी के पूर्वीय चालुक्य राजा को पराजित करके उसे अपने अधीन किया था, किन्तु कलुचुम्बर दानपत्र से विदित है कि चालुक्य राजा भीम ने कृष्ण वल्लभ की सेना को पराजित कर दिया।[1] इस प्रकार कृष्ण द्वितीय के शासन-काल में भीम-प्रथम ने राष्ट्रकूटों की शक्ति का विरोध करते हुए अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की। कृष्ण द्वितीय गंगवाडी के राज्य को भी अपने राज्य में फिर से मिलाने में असफल रहा। कृष्ण द्वितीय अपने पिता की भाँति एक शान्तिप्रिय और धर्मानुरागी व्यक्ति था। राज्य सँभालने में उसे अपने श्वसुर त्रिपुरी के कलचुरि कोक्कल प्रथम से बहुत सहायता प्राप्त हुई। कृष्ण-तृतीय भी अपने पिता की तरह जैन सिद्धान्तों से प्रभावित था। गुणभद्र नामक जैनाचार्य उसके गुरु थे।

इन्द्र-तृतीय—९१४ ई० के लगभग कृष्ण द्वितीय का देहान्त हो जाने पर उसका पौत्र इन्द्र-तृतीय नित्यवर्ष राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठा। सिंहासनरूढ़ होने पर इन्द्र-तृतीय की आयु पैंतीस वर्ष की थी और उसने केवल पाँच वर्ष तक शासन किया। किन्तु अपने अति संक्षिप्त काल में ही इन्द्र-तृतीय ने अपने को पराक्रमी योद्धा प्रमाणित किया। उसने जिस समय सिंहासन पर चरण रखे, गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य की आन्तरिक स्थिति शोचनीय थी। पारस्परिक कलहों के कारण राजवंश की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा और सामन्तों की स्वामिभक्ति विभाजित हो जाने से उसकी शक्ति का भी बहुत ह्रास हुआ। प्रतिहार साम्राज्य की ऐसी स्थिति देख कर इन्द्र-तृतीय ने इस पर आक्रमण करने का विचार किया। गोविन्द-तृतीय ने जिस समय प्रतिहार नृपति नागभट्ट पर आक्रमण किया था, उसे एक सुदृढ़ संघ का

---

१ जित्वा समति कृष्णवल्लभमहावड सहायाधिकम्
भमो भूपतिरवमुक्त भुवनम ॥

मुकाबिला करना पड़ा था। किन्तु इन्द्र-तृतीय के आक्रमण का सामना करने के लिए किसी संघ का निर्माण न किया जा सका, क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, इस समय प्रतिहार साम्राज्य राजवंश के पारस्परिक झगड़ों के कारण जर्जर हो रहा था।

दुर्भाग्यवश इन्द्र तृतीय के आक्रमण का कोई सविस्तार विवरण हमें उपलब्ध नहीं है। खम्भात पत्र लेखों से विदित होता है कि पहले उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया।[1] इसके बाद यमुना नदी को अवतीर्ण करके उसने कन्नौज जीत लिया। गुर्जर प्रतीहार सम्राट् महीपाल भाग खड़ा हुआ और इन्द्र-तृतीय के एक सेनापति नरसिंह चालुक्य ने उसका पीछा किया। इस प्रकार की गौरवमयी सैनिक सफलता गोविन्द तृतीय तथा ध्रुव धारावर्ष को भी न प्राप्त हो सकी थी। यदि इन्द्र-तृतीय की असामयिक मृत्यु न हुई होती, तो सम्भव था कि राष्ट्रकूटों की विजय-पताका उत्तरी भारत के पर्याप्त भागों पर भी फहरा गई होती और वे भाग उनके साम्राज्य में सम्मिलित हो गये होते।

इन्द्र-तृतीय की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय राष्ट्रकूट वंश का राजा हुआ। किन्तु अमोघवर्ष का शासन-काल अपने प्रतापी पिता के शासन काल की अपेक्षा कहीं संक्षिप्त था और एक वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् पच्चीस वर्ष की अवस्था में अमोघवर्ष का देहान्त हो गया। इसके बाद गोविन्द चतुर्थ राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। सांगली पत्रलेखों से विदित होता है कि गोविन्द-चतुर्थ कामदेव की भाँति रूपवान् था। उसका अधिकांश समय भोग विलास में व्यतीत हुआ करता था और सुन्दरी नर्तकियों का समूह उसे सदैव घेरे रहा करता था। वह शासन कार्यों में विरक्त रहा करने लगा जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके मन्त्रिगण उसके विरुद्ध हो गये और उसके सामन्तों ने विद्रोह कर दिया। लेख के शब्दों में "अपनी बुद्धि के नारियों के नयनपाश से निरुद्ध हो जाने के कारण उसने सब को विमुख कर दिया।"[2] वेंगी के चालुक्यराज भीम द्वितीय के विरुद्ध युद्ध करने में उसे विफलता प्राप्त हुई। गोविन्द चतुर्थ को पुलगिरि के अरिकेसरिन द्वितीय के-से सामन्तों तक ने बड़ा कष्ट दिया। यह कहा जा चुका है कि गोविन्द चतुर्थ की शासन विमुखता तथा भोगलिप्तता से रुष्ट होकर उसके सामन्तों ने उसके विरुद्ध युद्ध कर दिया और अमोघवर्ष-तृतीय बद्दिग से इस बात का निवेदन किया कि वह राष्ट्रकूट वंश के गौरव की रक्षा करने के लिए स्वयं राज्यभार ग्रहण करे।[3]

अमोघवर्ष-तृतीय (९३५–९३९ ई०)—धार्मिक अभिरुचि का नृपति था। उसने अपने पुत्र कृष्ण-तृतीय के सुपुर्द शासन भार सौंप दिया। अपने युवराज-काल में कृष्ण-तृतीय ने अपने बहनोई पश्चिमी गंग के राजा बुतुग द्वितीय को तलकाड का सिंहासन फिर से प्राप्त करने में सहायता प्रदान की, यद्यपि अमोघवर्ष-तृतीय

---

१ यन्माद्यद्विपदन्तघातविषमं कालप्रियप्रांगणम्
तीर्णायत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धुप्रतिस्पर्धिनी।
येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मीलितम्
नाम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमिति ख्यातिपरां नीयते॥

२ "सोऽप्यङ्गनानयनपाशनिरुद्धबुद्धिः सन्मार्गसङ्गविमुखीकृतसर्वसत्त्वः।"

३ सामन्तरथ रट्ट राज्यमहिमालम्बार्थमभ्यर्थित।

ने त्रिपुरी के कलचुरि केयूरवर्ष युवराज प्रथम की कन्या से अपना विवाह किया, तथापि ऐसा मालूम पड़ता है कि कलचुरियो और राष्ट्रकूटो मे कुछ अनबन हो गई। कृष्ण-तृतीय ने कलचुरियो को परास्त किया और कालिंजर पर अपना अधिकार जमा लिया।

कृष्ण-तृतीय—सन ९३९ ई० के दिसम्बर मास मे कृष्ण-तृतीय राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। अपने पिता के समय मे यह अपनी वीरता का परिचय दे चुका था, किन्तु अपने राज्याभिषेक के पूर्व उसने रण अभियान प्रारम्भ नही किया। उसकी वीरता और योग्यता का सिक्का लोगो के ऊपर अच्छी तरह जम चुका था, अतएव उसके राज्यारोहण के समय किसी प्रकार का उपद्रव नही हुआ। कृष्ण-तृतीय ने एक भयंकर युद्ध के उपरान्त चोलो को गहरी पराजय दी। इस युद्ध मे चोल युवराज राजादित्य को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। दक्षिणी अरकाट, उत्तरी अरकाट और चिंगलपुर जिलो में कृष्ण-तृतीय के जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उत्तरी और दक्षिणी पेन्नर नदियो के प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इसके अतिरिक्त, उसने मध्य भारत के कुछ अन्य प्रदेश भी जीते थे। सुदूर दक्षिण में पाड्य तथा केरल पर भी उसने विजय प्राप्त की थी। लंका के शासक को भी उसने अपने अधीन किया था।

इन विजयो के साथ ही, उसने अपनी आन्तरिक शक्ति का भी संगठन किया। उसने सामन्तो को पूर्णतया अपने अधीन कर सामन्ती व्यवस्था को एक नया रूप दिया। कृष्ण-तृतीय राष्ट्रकूट वंश का एक योग्य शासक था। उसके किसी भी पूर्वाधिकारी ने प्रायद्वीप के भाग पर उतना सुदृढ़ अधिकार नही स्थापित किया था जितना कि उसने। गोविन्द-तृतीय-जैसा पराक्रमी विजेता भी पल्लव राजाओ के अधीनस्थ भागो पर अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित नही कर पाया था। वेंगी के सिंहासन पर गोविन्द-तृतीय अपने किसी समर्थक या मनोनीत व्यक्ति को अधिष्ठित नही कर सका था। इसमें सन्देह नही कि कृष्ण-तृतीय एक योग्य शासक और सफल योद्धा था। पोन्ना नामक कवि को उसने अपनी राजसभा मे सम्माननीय स्थान दिया। पम्पा नामक कन्नड़ कवि भी उसके किसी सामन्त की सभा को सुशोभित करता था।

राष्ट्रकूट वंश का पतन—कृष्ण-तृतीय अपने वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसकी मृत्यु (९६८ ई०) के पश्चात राष्ट्रकूटो का गौरव-सूर्य-अस्तोन्मुख होने लगा। खोट्टिग, जो कृष्ण-तृतीय का भ्राता और उत्तराधिकारी था, इतना शक्तिहीन प्रमाणित हुआ कि उसके शासन-काल में मालवा के परमार नरेश सीयकहर्ष ने राष्ट्रकूटो की राजधानी मान्यखेट तक पर अपना अधिकार जमा लिया। खोट्टिग का भतीजा और उत्तराधिकारी कर्क द्वितीय था, जिसके अधिकार से ९७३ ई० में तैल द्वितीय ने राज-सिंहासन छीन लिया। तैल ने कल्याणी के चालुक्य राजवंश की नींव डाली। इस प्रकार, राष्ट्रकूटों की शक्ति का पतन हो गया।

राष्ट्रकूटो के राज्य मे धर्म, कला और साहित्य की अवस्था

राष्ट्रकूट राजाओं के समय तक दक्कन मे पौराणिक हिन्दू धर्म अच्छी तरह से जड़ जमा चुका था। राष्ट्रकूटो के दानपत्र शिव या विष्णु के नाम से प्रारम्भ होते हैं और उनकी मुहर पर या तो विष्णु के वाहन गरुड़ की आकृति होती है अथवा योगमुद्रा में आसीन शिव की। हम आज के हिन्दू देवालयो में शिव, विष्णु, ब्रह्मा,

सूय आदि विभिन्न देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित देखते हैं। यही बात हम राष्ट्रकूट काल के दक्षिणापथ मे भी पाते हैं। एक ही मन्दिर में विभिन्न देवी-देवताओ की प्रतिमायें होती थी, जिनके चरणो में भक्तगण अपनी अचना समर्पित करते थे। दसवीं शताब्दी मे बीजापुर जिले के साल्तोगी नामक स्थान म एक देवालय था, जिसमें ब्रह्मदेव, शिव और विष्णु की सम्मिलित रूप से पूजा की जाती थी। करगुद्री मे इसी प्रकार का दूसरा मन्दिर था, जिसमें शकर, विष्णु और भास्कर की पूजा का प्रबन्ध था। हिन्दू धम के विभिन्न सम्प्रदायो के साथ-साथ जैन तथा अन्य सम्प्रदायो के प्रति भी राष्ट्रकूट नरेशो तथा उनके प्रजाजनो का व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। गुजरात शाखा का कर्कसुवर्ण स्वय कट्टर शैव था, किन्तु नौसारी मे उसने जैन विहार को एक क्षेत्र दान म दिया। अमोघवष ने जन धम स्वीकार कर लिया था, किन्तु हिन्दू धम की देवी महालक्ष्मी के प्रति उसके हृदय मे इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उसने देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने बायें हाथ की उँगली काटकर चढा दी थी। गुजरात शाखा का दन्तिवमन पौराणिक हिन्दू धम का अनुयायी था, किन्तु उसने बौद्ध विहार को एक ग्राम दान मे दे दिया था। मलगुन्द के ब्राह्मण परिवारो ने ९०२ ई० मे जैन विहार को एक क्षेत्र दान किया था। इस काल की धार्मिक सहिष्णुता के सम्बन्ध मे सौन्दत्ति के रट्टो के लेख बड़े महत्वपूर्ण हैं। महासामन्त पृथ्वीराम ने जो कृष्ण द्वितीय का समकालीन था एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। उसका पौत्र जैन था, किन्तु पृथ्वीराम के पौत्र का पौत्र हिन्दू था और उसने अपने गुरु को, जो तीन वेदो मे पारगत था, १२ निवतन भूमि दान मे दी थी। उसके पुत्र श्रीसन ने एक जैन मन्दिर बनवाया था। राष्ट्रकूटो के उदार शासन के अधीन दक्षिणापथ मे पौराणिक हिन्दू धम और जैन धम दोनों ही फूले फले। किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय का निस्सन्देह ह्रास हुआ और अमोघवर्ष प्रथम के कुछ अभिलेखो के अनुसार दक्कन में इस सम्प्रदाय का केन्द्र कन्हेरी था।[1]

राष्ट्रकूट राजाओं ने विदेशियो के साथ भी अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया। हम पीछे देख चुके हैं कि चालुक्यो के समय में पारसियों को किस प्रकार अपने उपनिवेश स्थापित करने की अनुमति प्राप्त हो गई थी। इसी प्रकार की उदारता राष्ट्रकूट राजाओं मे अरबो के प्रति दिखलाई। लेकिन उन्होंने अरब व्यापारियों को व्यापारिक और धार्मिक सुविधायें ही प्रदान कीं, उनके साथ किसी प्रकार का राजनीतिक गठबन्धन नही किया। डा० अल्तेकर का कथन है कि इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि राष्ट्रकूट राजाओ ने गुजर प्रतिहारो से युद्ध करने के लिए सिन्ध के अरब शासकों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।

कला—कला के क्षेत्र मे राष्ट्रकूटों की कोई विशिष्ट तथा मौलिक देन नहीं है। डा० सल्लकर हमें बताते है कि मौर्यो, गुप्तो चालुक्यो और पल्लवो की ललित कलाओ के क्षेत्र में अपनी-अपनी विशिष्ट तथा प्रशसनीय देन रही है, किन्तु राष्ट्रकूट युग के लिए इस प्रकार का कोई दावा नही किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि मालखेड राजसभा मे ललित कलाओ को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।[2] फिर भी, कृष्ण प्रथम के समय में एलोरा के कैलाश मन्दिर का निर्माण कराया गया। यह मन्दिर चट्टानों को काटकर बनाया गया है। इसकी अदभुत निर्माण-कुशलता

1 Rastrakutas and Their Time p 273
2 Ibid, p 418

वस्तुतः प्रशंसनीय है। एक राष्ट्रकूट लेख में इस मन्दिर की प्रशंसा इन शब्दों में की गई है, "अपने रथों में समासीन देवगण आकाश में विचरण कर रहे थे कि वे इस मन्दिर को देखकर विस्मय विमुग्ध हो गये और उन्होंने कहा कि यह स्वयमेव निर्मित हो गया होगा, मनुष्यों ने इसे नहीं बनाया होगा।" एलोरा का कैलाश मन्दिर भगवान् शिव के निमित्त निर्मित किया गया है और इसकी भित्तियों पर अन्य देवी-देवताओं की आकृतियाँ उत्टङ्कित हैं। कुछ भित्ति चित्रों में गंगावतरण का दृश्य दिखलाया गया है और एक चित्र में रावण को कैलाश पर्वत उठाते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र के विषय में प्रसिद्ध कला-समालोचक स्वर्गीय आनन्दकुमार स्वामी का कथन है कि इसमें पर्वत के हिलने की अनुभूति होती है और पार्वती शिव की बाहु मुड़कर भय से उनका हाथ दृढ़तापूर्वक पकड़ लेती हैं, जबकि उनकी कुमारी भाग खड़ी होती है, किन्तु महादेव बिलकुल स्थिर हैं और अपने चरण दबाकर निखिल पर्वत को सँभाले हैं। एलोरा के मन्दिर पर चालुक्यों की मन्दिर निर्माण शैली का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि यह मन्दिर सम्भवतः उन कलाकारों ने बनाया होगा जिनको काञ्ची से बुलवाया गया था। विंसेंट स्मिथ ने लिखा है कि ठोस चट्टान को काटकर बनाया हुआ यह अद्भुत दरी मन्दिर भारत के वास्तु आश्चर्यों में सर्वाधिक विस्मयजनक है।'[1]

शिक्षा और साहित्य—राष्ट्रकूट राजाओं के शासन काल में शिक्षा और साहित्य की उन्नति हुई। उनके राज्य में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। वे शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रचुर दान दिया करते थे। अमोघवर्ष प्रथम के शासन काल में कन्हेरी के बौद्ध विहार का भद्रविष्णु ने पुस्तकें खरीदने के लिए कुछ द्रव्य दान में दिया था। इससे स्पष्ट है कि वलभी के बौद्ध विहार की भाँति कन्हेरी के बौद्ध विहार में भी एक पुस्तकालय था। साल्तोगी (जिला बीजापुर) के एक अभिलेख से इस विद्यालय के विषय में हमें कुछ महत्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। इस विद्यालय में दूर दूर से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे, जिनके निवास के लिए उसमें २७ छात्रावास बने हुए थे। लगभग साठ एकड़ भूमि की आय का उपयोग विद्यालय में प्रकाश का प्रबन्ध करने के लिए किया जाता था। २५० एकड़ भूमि की आय विद्यालय के प्रधानाचार्य को वेतन के रूप में प्राप्त होती थी। राष्ट्रकूटों के समय में शिक्षा संस्थाओं को राज्य तथा धनी-मानी लोगों से आर्थिक सहायता प्राप्त हुआ करती थी।

साहित्य--राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन अभिलेखों के रचयिता काव्य-कला से भलीभाँति परिचित थे। यह सत्य है कि वे गुप्तकालीन अभिलेखों के रचयिताओं की भाँति सिद्ध कवि नहीं थे, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का सम्यक्रूपेण अध्ययन किया था। फ्लीहान नामक विद्वान् का कथन है कि राष्ट्रकूट राजाओं के 'शासनों' की रचनाओं की शैली सुबन्धुरचित 'वासवदत्ता' तथा बाणप्रणीत 'कादम्बरी' एवं 'हर्षचरित' की शैलियों की पर्याप्त ऋणी है। राष्ट्रकूट राजाओं ने कवियों और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान किया। अमोघवर्ष स्वयं लेखक था और उसने कन्नड़ भाषा में काव्य-शास्त्र पर कविराजमार्ग नामक पुस्तक लिखी। राष्ट्रकूट राजाओं ने जैन पण्डितों का समादर किया और उन्हें अपनी राजसभा में स्थान दिया। जैन पण्डितों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया। अमोघवर्ष प्रथम के गुरु जिनसेन ने हरिवंश नामक ग्रन्थ का

१ *Early History of India*, p 445

प्रणयन ७८३ ई० से समाप्त किया। उन्होंने 'आदिपुराण' लिखना प्रारम्भ किया था, किन्तु इसे समाप्त करने के पूर्व ही वे स्वर्गवासी हो गये। अपने पार्श्वाभ्युदय नामक ग्रन्थ में उन्होंने पार्श्वनाथ का जीवन चरित्र लिखा। इस ग्रन्थ में उन्होंने महाकवि कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' के श्लोक ग्रहण किये हैं। अमोघवर्ष-प्रथम के ही शासन-काल में 'अमोघवृत्ति' की रचना शाकटायन ने की और वीराचार्यकृत गणितसार संग्रह का प्रणयन भी इसी समय हुआ। पोन्ना नामक कवि कन्नड तथा संस्कृत दोनो भाषाओं में रचना करता था, अतएव उसे 'उभयकवि चक्रवर्तिन' की उपाधि दी गई थी। पोन्ना की प्रमुख रचना शान्तिपुराण है। पम्पा ने कृष्ण-तृतीय के समय में 'भारत' लिखा। पोन्ना और पम्पा कन्नड भाषा के तीन रत्नों में से हैं। तीसरे कवि का नाम रन्ना है। इन तीनों कवियों का आज भी बड़े आदर के साथ कन्नड भाषाभाषी लोग स्मरण करते हैं। राष्ट्रकूट-युग तक मराठी भाषा में साहित्य रचना का कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ था।

निष्कर्ष—राष्ट्रकूट वंश में कुल मिला कर चौदह नृपति हुए, जिनमें दन्तिदुर्ग, कृष्ण प्रथम, ध्रुव, गोविन्द तृतीय, इन्द्र तृतीय और कृष्ण-तृतीय काफी सफल शासक थे। अमोघवर्ष प्रथम पूर्णतया सफल शासक नहीं था, किन्तु उसके व्यक्तित्व में कुछ विशिष्ट गुण थे, जिनके कारण उसे महान कहा जा सकता है। गुप्त वंश को छोड़कर अन्य किसी भी राजवंश ने सम्भवतः इतनी अधिक संख्या में सफल शासकों को जन्म नहीं दिया। उत्तराधिकार के प्रश्न पर कई बार राष्ट्रकूट वंश के राजकुमारों में पारस्परिक मतभेद हुआ, किन्तु राज्य की आन्तरिक अवस्था विशेष गड़बड़ और अशान्तिपूर्ण नहीं होने पाई। सुलेमान ने राष्ट्रकूट राजाओं के लिए लिखा है कि वे भारत के सबसे अधिक शक्तिशाली शासक थे और देश के अन्य शासक उनसे भयभीत रहा करते थे। राष्ट्रकूटों ने व्यापार की उन्नति को प्रोत्साहन दिया। भारतीय इतिहास के अध्ययन से इस तथ्य का पता चलता है कि अधिकतर उत्तरापथ के राजाओं ने ही दक्षिणापथ पर आक्रमण किया, परन्तु राष्ट्रकूटों के समय में पासा पलट गया। उनके समय में गुर्जर-प्रतिहार या पाल वंश के नरेश दक्कन पर आक्रमण करने का साहस न कर सके। इसके विपरीत, जैसा कि हमने देखा है राष्ट्रकूटों के द्वारा इन दोनों वंशों के राजाओं को अपने ही राज्यों में पराजय स्वीकार करनी पड़ी। राष्ट्रकूटों ने गुर्जर प्रतिहारों की राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया, किन्तु इस पराजय के प्रतिशोधस्वरूप गुर्जर प्रतिहार-नरेश राष्ट्रकूट राज्य की सीमा का अतिक्रमण न कर सके। चालुक्य वंश के प्रारम्भिक नरेशों को पल्लव राजवंश के द्वारा काफी परेशानी उठानी पड़ी, किन्तु राष्ट्रकूटों के विरुद्ध दक्षिण भारत का कोई भी राजवंश अपना सिर न उठा सका।

स्थायित्व की दृष्टि से भी राष्ट्रकूट वंश का महत्त्व काफी अधिक है। राष्ट्रकूटों का साम्राज्य २२५ वर्षों तक टिका रहा। बहुत कम हिन्दू राजवंशों का गौरव इतने अधिक काल तक बना रहा। इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिणापथ को राष्ट्रकूट राजाओं ने राजनीतिक उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया था।

कल्याण के पश्चिमी चालुक्य (९७३-११९० ई०)।

तैलप द्वितीय—हम पीछे पढ़ चुके हैं कि अन्तिम राष्ट्रकूट राजा कर्क द्वितीय से तैलप द्वितीय ने राजसिंहासन छीन लिया और दक्कन में चालुक्य वंश का राज्य पुनः स्थापित किया। तैलप द्वितीय का बादामी या वातापी के अन्तिम चालुक्य

नरेश कीर्तिवर्मन द्वितीय के साथ क्या सम्बन्ध था, यह हमे सुनिश्चित रूप से ज्ञात नही। तैलप द्वितीय को राज्य प्राप्त करने मे राष्ट्रकूट राजा के सामन्तो से बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई थी। उन्ही की सहायता प्राप्त होने पर वह कक-द्वितीय को सिंहासन च्युत् करने मे सफल हो सका। त्रिपुरी के कलचुरियो ने भी तैलप द्वितीय का साथ दिया, क्योंकि कृष्ण-तृतीय ने उन्हें राष्ट्रकूटो का शत्रु बना दिया था। तैलप-द्वितीय को राजसिंहासन अधिगत करते समय कुछ राष्ट्रकूट सामन्तो तथा तलकाड के गगो के प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पडा। तैलप ने कक द्वितीय की राजकुमारी से विवाह किया और कल्याण म अपनी राजधानी बसाई।

तैलप द्वितीय एक वीर योद्धा था। उसके राज्य मे पहले महाराष्ट्र, कर्णाटक के कुछ भाग और कोंकण तथा कुन्तल के प्रदेश सम्मिलित थे। गुजरात का एक पृथक राज्य था, जिस पर मूलराज चालुक्य का शासन था। तैलप द्वितीय ने गुजरात पर भी अपना अधिकार जमाना चाहा किन्तु असफल रहा। मालवा के परमार नरेश मुञ्ज के साथ उसका बहुत दिनो तक युद्ध चलता रहा। मेरुतुग नामक समकालीन लेखक का कथन है कि मुञ्ज ने तैलप को कम से कम छ बार परास्त किया। किन्तु अन्तिम युद्ध में मुञ्ज पराजित होने पर बन्दी बना लिया गया और तैलप द्वितीय की आज्ञा से उसका वध कर दिया गया (६६५ ई०)। तैलप द्वितीय ने २४ वर्ष तक राज्य किया और ६६७ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हो गई। कन्नड भाषा का प्रसिद्ध कवि रन्न तैलप द्वितीय तथा उसके उत्तराधिकारियो का राजकवि था।

सत्याश्रय—तैलप द्वितीय के पश्चात् पश्चिमी चालुक्यो का स्वामी सत्याश्रय हुआ। सत्याश्रय (६६७-१००८ ई०) चोल नरेश राजराज का समकालीन था। उसके शासन-काल मे चोलो की राजशक्ति का बहुत अधिक उत्थान हुआ। राजराज प्रथम चोल की सेनाओं ने चालुक्य राज्य मे मृत्यु का ताण्डव खडा कर दिया। उसने गगावाडी और नोलम्बवाडी (दक्षिणी और उत्तरी मैसूर) के प्रदेशो को जीत लिया। फिर भी सत्याश्रय ने अपनी शक्ति को पुन सगठित करने मे सफलता प्राप्त की और दक्षिण मे चोलो से कुछ प्रदेश जीते। नर्मदा नदी के मुहाने के निकटवर्ती प्रदेशो के लिये अहिलवाड के राजाओ और सत्याश्रय के बीच युद्ध छिड गया। सत्याश्रय १००८ ई० मे मर गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके भतीजे विक्रमादित्य ने दस वर्ष तक शान्तिपूर्ण परिस्थितियों से शासन किया।

सन् १०१८ ई० मे जयसिंह द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने चोलो, अन्हिल-वाड के चालुक्यो अथवा सोलकियो और मालवा के परमारो से युद्ध जारी रक्खा। जयसिंह द्वितीय के समय मे शक्तिशाली सामन्तो का उदय हुआ और उन्होंने अपनी शक्ति बढा ली। वास्तव मे वे स्वतन्त्र हो गये थे और नाममात्र के लिए ही सम्राट की अधीनता स्वीकार किये हुए थे। कई स्थानों पर उन्होंने स्पष्ट रूप से सम्राट की शक्ति को चुनौती देते हुए विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया। यादव और कुन्तल सरदारो का जयसिंह द्वितीय ने सफलतापूर्वक दमन किया। उसने अपनी बहन अक्कादेवी को कुन्तल का शासक नियुक्त किया। जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल ने सम्भवत चोलो से कुछ प्रदेश जीत लिये किन्तु शीघ्र ही चोलो ने पुन अपना राज्य तुगभद्रा नदी तक फला दिया। जयसिंह द्वितीय ने परमार-वंशीय नरेश भोज को परास्त करके मालव सघ नष्ट कर दिया और इस प्रकार भोज का साम्राज्य-स्वप्न टूट गया।

सोमेश्वर-प्रथम आहवमल्ल (१०४२ १०६८ ई०)—जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम नृपति हुआ। उसने अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों से ही चोलों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। १०५२ ई० में वर्तमान कोल्हापुर के निकट कृष्णा नदी के तट पर कोप्पम नामक स्थान में सोमेश्वर-प्रथम की चोलों से मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में चोल नृपति राजाधिराज-प्रथम को वीरगति प्राप्त हुई, किन्तु विजयश्री चोलों के ही हाथ रही और उन्होंने कोल्हापुर में अपना एक विजय-स्तम्भ खड़ा किया। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी चोल-अभिलेखों के उपर्युक्त कथन को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—"चोलों के अभिलेखों का वक्तव्य है कि उनसे सघर्ष कर चालुक्य को प्रभूत क्षति उठानी पड़ी। सत्य चाहे जो हो इतना निश्चित है कि १०५२ ई० के कोप्पम के युद्ध का, जिसमें राजाधिराज प्रथम ने अपने प्राण खोये, परिणाम निश्चय चोलों के पक्ष में नहीं हुआ। 'विक्रमांकदेवचरित' का प्रख्यात रचयिता बिल्हण तो यहाँ तक कहता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोल शक्ति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र काञ्ची तक पर आक्रमण कर दिया था।"[1] १०६१ ई० मे सोमेश्वर प्रथम ने इस बात का प्रयत्न किया कि कोप्पम के युद्ध में उसे जो क्षति उठानी पड़ी है उसकी वह पूर्ति करे। किन्तु १०६२ ई० में उसे पुन चोलों से पराजय उठानी पड़ी। यह युद्ध कृष्णा और तुगभद्रा नामक नदियों के संगम पर कुडलसंगमम् नामक स्थान मे हुआ था।

चोलों के विरुद्ध सोमेश्वर-प्रथम को सफलता न प्राप्त हो सकी, किन्तु उसने मालवा के राजा भोज परमार के विरुद्ध राजाओं के संघ में भाग लिया और उसकी शक्ति को तहस-नहस कर दिया। बाद मे भोज की पराजय के बाद अन्हिलवाड़ के भीम प्रथम, लक्ष्मीकर्ण कलचुरि और सोमेश्वर प्रथम के बीच लूट की वस्तुओं के सम्बन्ध में झगड़ा उत्पन्न हो गया। सोमेश्वर प्रथम ने लक्ष्मीकर्ण को परास्त किया। उसकी शक्ति का लोहा कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों को भी मानना पड़ा। सोमेश्वर-प्रथम एक भयंकर व्याधि से प्रपीड़ित था। जब चिकित्सक रोग नष्ट करने में असमर्थ हो गये तो उसने अपनी व्याधि की असाध्यता का विचार करके तुगभद्रा नदी में डूब जाना उचित समझा। इस प्रकार उसने 'परमयोग' व्रत के अनुष्ठान द्वारा अपना प्राण त्याग दिया।

सोमेश्वर प्रथम अपने कुल का एक विख्यात और प्रतापी शासक था। उसकी वीरता इसी बात से सिद्ध होती है कि उसने उत्तरी भारत की दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों, परमार और गुर्जर प्रतिहार, को भय-सन्त्रस्त कर दिया। 'आहवमल्ल' (युद्ध में कुशल) उपाधि उसने निरर्थक ही धारण नहीं की थी। चोलों द्वारा कई बार पराजित होने पर भी सोमेश्वर प्रथम ने अपने राज्य की शासन-व्यवस्था को शिथिल नहीं होने दिया। उसके नेतृत्व में चालुक्य शक्ति इतनी प्रबल हो उठी कि उसका प्रभाव भारत में दूरस्थ प्रदेशों पर भी पड़ा। किंतु उसकी शासन-व्यवस्था सदोष थी। उसने छः विवाह किये थे जिनमें से दो को उसने प्रान्तीय शासकों के पद पर अधिष्ठित कर रखा था। मैलवा देवी वनवासी प्रदेश का शासन करती थी और केलवा देवी राजापुर की प्रशासिका थी। केलवा देवी एक धर्मात्मा स्त्री थी और अपने राज्य की आय का $\frac{1}{3}$ भाग वह मंदिरों तथा ब्राह्मणों को दे देती थी। उसके पुत्रों को भी विभिन्न प्रान्तों का गवर्नर नियुक्त किया गया था। इन बातों से यह

१ प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३१३

सिद्ध होता है कि सोमेश्वर-प्रथम के शासन-काल मे सम्पूर्ण शक्ति राजवंश में ही केन्द्रित कर दी गई थी और जनता के किसी वर्ग को भी शासन के उच्च पदों को प्राप्त करने का अधिकार नहीं प्रदान किया गया था। सोमेश्वर प्रथम ने यादवो शीलहारो, होयसलों और कदम्बो को दबाकर रक्खा था, किन्तु उसके शासन काल मे ही ये लोग अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे और उसकी मृत्यु के बाद ये एक बार सशक्त हो गये। सोमेश्वर प्रथम अपने धार्मिक विश्वासो मे शैव था। उसी ने 'कल्याण' मे अपनी राजधानी बसाई और उस नगरी को भवनों तथा मन्दिरो के निर्माण द्वारा समलकृत कर दिया।

सोमेश्वर प्रथम ने अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे अपने ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय को अपना युवराज निर्वाचित कर दिया था, अतएव उसकी मृत्यु के बाद वही राजा हुआ। सोमेश्वर द्वितीय ने भुवनैकमल्ल की उपाधि धारण की। अपने अभिलेखो मे भुवनैकमल्ल यह दावा करता है कि उसने अपने राज्यारोहण के कुछ ही समय बाद चोल आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया और आक्रमणकारी को पीछे धकेल दिया, किन्तु चोल अभिलेखों से विदित होता है कि आक्रमण मे सफलता चोलो को ही प्राप्त हुई और उन्होने काम्पिलि नामक चालुक्य-नगर को ध्वस्त कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय केवल आठ वर्ष तक ही शासन कर पाया था कि उसके अनुज विक्रमादित्य ने उसको सिंहासन-च्युत कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय शैव मतानुयायी था और उसके समय मे दक्षिणापथ मे शैव मत का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

विक्रमादित्य-षष्ठ त्रिभुवनमल्ल (१०७६–११२६ ई०)—विक्रमादित्य षष्ठ अपने कुल का सबसे प्रसिद्ध शासक था। समकालीन नृपतियो की पंक्ति मे भी उसका स्थान गौरवपूर्ण था। उसने अपने राज्य मे प्रचलित शक संवत् को नष्ट कराके अपने राज्यारोहण के वर्ष से प्रारम्भ होने वाला एक नया संवत् चलाया। उसने 'विक्रमांक' और त्रिभुवनमल्ल' के विरुद भी धारण किये। राज्यसिंहासन हस्तगत करने के बाद विक्रमादित्य-षष्ठ को अपने भाई के समर्थकों के विद्रोह का सामना करना पड़ा, किन्तु यह विद्रोह कुचल दिया गया। अपने शासन के शुरू मे ही उसने चोलो से युद्ध किया। उसके होयसल सामन्तो ने १११७ ई० के लगभग चोलो से तलकाड का प्रदेश छीन लिया, किन्तु होयसल लोग काफी शक्तिशाली हो गये थे और वे विक्रमादित्य षष्ठ की अधीनता नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे। उसके शासन के अन्त काल में चोल राजा कुलोत्तुंग प्रथम ने उसके ऊपर आक्रमण किया, किन्तु विक्रमादित्य-षष्ठ ने उसको पराजित कर दिया। इसी प्रकार, होयसल विष्णुवर्धन के विरुद्ध भी विक्रमादित्य को सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि विक्रमादित्य को कई बार अपनी तलवार म्यान मे निकालनी पड़ी, तथापि उसका शासन-काल सामान्यत शान्तिपूर्ण ही कहा जायेगा। उसने अपने विस्तृत साम्राज्य पर बुद्धिमत्तापूर्ण तरीको से शासन किया। वह प्रारम्भ मे कदाचित् जैन था, किन्तु बाद मे वह शैव मत का अनुयायी हो गया। उसके एक अभिलेख मे कहा गया है, "उसके राज्य मे दुर्भिक्ष अथवा संक्रामक रोगो का प्रकोप कभी नहीं हुआ। सभी देशों के निर्धनो के प्रति उसकी उदारता असीमित थी। उसने धर्म-कार्यों के लिए अनेक भवन बनवाये और करलाल मे एक विष्णु मन्दिर का निर्माण किया।" विक्रमादित्य षष्ठ ने काश्मीर के प्रसिद्ध कवि बिल्हण को बुलाकर अपनी राजसभा मे आदरपूर्ण स्थान दिया। बिल्हण ने अपने आश्रयदाता का जीवनचरित 'विक्रमांकचरित-चर्चा' नामक ग्रन्थ मे लिखा।

विक्रमादित्य के बाद—विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु ११२७ ई० में हुई। उसके देहावसान के उपरान्त शीघ्र ही केन्द्रीय सरकार की शक्ति छिन्न भिन्न होने लगी। उसके पुत्र सोमेश्वर-तृतीय का शासन केवल नाम को ही था। सोमेश्वर तृतीय एक शक्तिशाली शासक भी नहीं था, अतएव कल्याण के चालुक्यों का साम्राज्य दिनोदिन ह्रासोन्मुख होने लगा। किन्तु सोमेश्वर विद्यानुरागी और विद्वान् था। उसने 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें विविध विषयों का विवेचन किया गया है। 'मानसोल्लास' में यह बताया गया है कि राजनीतिक शक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, इसका उपभोग किस रीति से करना चाहिए, जिससे यह चिरस्थायी हो सके। सोमेश्वर तृतीय का पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय (११३८–११५१ ई०) था, जिसने होयसलों को आगे बढ़ने से रोका और परमार वंश के राजा जयवर्मन पर आक्रमण करके उससे मालवा का एक भाग छीन लिया। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का विचार है कि चालुक्य राजा जगदेकमल्ल ने 'संगीत चूडामणि' नामक पुस्तक लिखी।

जगदेकमल्ल द्वितीय के बाद तैलप-तृतीय कल्याण के सिंहासन पर बैठा। तैलप तृतीय को काकतीय नरेश प्रोल ने पराजित कर दिया। इस पराजय से चालुक्य वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को प्रबल आघात पहुँचा, जिससे लाभ उठाकर मन्त्री बिज्जल ने, जो सम्भवत कलचुरी वंश का था, राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया। (११५६ ई०), और तैलप-तृतीय को कल्याण के बाहर खदेड़ दिया। इस प्रकार कल्याण में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। फिर भी, तैलप-तृतीय अपने राज्य के एक छोटे से भाग पर ११६३ ई० तक शासन करता रहा।

कल्याण में कलचुरि अन्तराधिपत्य और लिंगायत सम्प्रदाय—तैलप-तृतीय के मन्त्री बिज्जल कलचुरी ने ११५५ ई० में राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। सात वर्ष तक शासन करने के बाद उसने ११६६ ई० में सिंहासन त्याग दिया। बिज्जल के उत्तराधिकारियों का अधिकार ११८३ ई० तक स्थापित रहा। कलचुरि अन्तराधिपत्य के समय में वीर-शैव मत अथवा लिंगायत सम्प्रदाय का दक्षिणापथ में काफी प्रचार बढ़ा। बिज्जल का मन्त्री बासव लिंगायत-सम्प्रदाय का संस्थापक था। कन्नड़ तथा मैसूर देश में आज भी लिंगायतों की संख्या काफी अधिक है। "ये लोग वेदों की अपौरुषेयता तथा सर्वमान्यता नहीं मानते और शिव के लिंग, रूप तथा उनके वाहन नन्दी के परम उपासक होते हैं। उनके पुनीत ग्रन्थ अपने हैं, जिनमें बासवपुराण प्रख्यात है। वे वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते और परम्परागत हिन्दुत्व की सामाजिक तथा सैद्धान्तिक व्यवस्था से भी उनका विरोध है।" लिंगायत-सम्प्रदाय के लोग पुनर्जन्म और बाल विवाह में विश्वास नहीं करते। ब्राह्मणों की जातीय श्रेष्ठता को वे स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत यों कहना चाहिए कि वे इसका प्रबल विरोध करते हैं, यद्यपि लिंगायत सम्प्रदाय के संस्थापक बासव का जन्म ब्राह्मण परिवार में ही हुआ था। लिंगायत लोग विधवा विवाह का समर्थन करते हैं। इस मत के प्रचार से कन्नड़ देश में जैन धर्म को बहुत क्षति पहुँची, किन्तु लिंगायतों ने कन्नड़ भाषा में साहित्य सृजन किया।

पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति का पुनरुत्थान—बिज्जल के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों का शासन दुर्बलतापूर्ण प्रमाणित हुआ। उनके विषय में हमें प्राय कुछ भी मालूम नहीं। सोमेश्वर चतुर्थ ने अन्तिम कलचुरि नरेश को सिंहासन-च्युत करके अपने वंश की शक्ति को पुन प्रतिष्ठापित किया। किन्तु पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति अब और अधिक दिनों तक टिक न सकी।

पश्चिमी चालुक्यों का पतन—हम इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि विक्रमादित्य षष्ठ जैसे प्रतापी नृपति के समय भी सामन्तों की शक्ति काफी दृढ़ हो गई थी। बाद में सामन्तों की शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। सोमेश्वर चतुर्थ के समय में यादव और होयसल लोग स्वतन्त्र हो गये। इन शक्तियों के उदय का यह परिणाम हुआ कि कल्याण के चालुक्य वंश का पतन हो गया।

देवगिरि के यादव

यादव लोग अपने को भगवान कृष्ण के वंश, यदुवंश का बताते हैं। पहले वे राष्ट्रकूटों के सामन्त थे, बाद में पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति बढ़ने पर यादव लोग उनके सामन्त हो गये। उत्तरवर्ती चालुक्यों के समय में, विशेषतया विक्रमादित्य-षष्ठ के शासन-काल में, यादव वंश का प्रमुख सेनुचन्द्र चालुक्य राज्य के सम्पूर्ण उत्तरी प्रदेश का शासक नियुक्त किया गया। विक्रमादित्य-षष्ठ ने यह अनुभव किया कि वह बिना स्थानीय सरदारों की सहायता के अपने साम्राज्य का शासन सम्यक् रूपेण नहीं चला सकता, अतएव उसने उन सरदारों की सहायता तथा भक्ति प्राप्त करने के लिए उनको स्थानीय शासन की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सेनुचन्द्र का शासन गोदावरी के मैदानी भाग (खानदेश) पर था। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसने अपनी शक्ति को बढ़ाया। बाद में सेनुचन्द्र के पुत्र ने अपने पिता के कार्य को जारी रक्खा। कल्याण में कलचुरी अन्तराधिपत्य के कारण यादव लोग कुछ काल तक अपनी शक्ति का अधिक विकास न कर सके। किन्तु, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सोमेश्वर चतुर्थ के समय यादव लोग स्वतन्त्र हो गये। यादवों की स्वतन्त्रता का प्रतिष्ठापक भिल्लम-पंचम था, जिसने सोमेश्वर चतुर्थ से कृष्णा नदी के उत्तरवर्ती प्रान्त छीन लिये। भिल्लम पंचम ने सम्राटों के विरुद धारण किये और अपनी राजधानी देवगिरि में बसाई। उसी के समय से देवगिरि के स्वतन्त्र राज्य का प्रारम्भ मानना चाहिए।

भिल्लम का सबसे पहला कार्य था अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ करना। उसने चालुक्य साम्राज्य के केन्द्रीय प्रदेश पर अपना अधिकार जमाया। अपने विद्रोही सामंतों को दबाने के प्रयत्न में भिल्लम पंचम को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े।

भिल्लम-पंचम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र और उत्तराधिकारी जैत्रपाल प्रथम अथवा जैतुगी देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। जैतुगी ने ११९१ ई० से लेकर १२१० ई० तक शासन किया। जैतुगी ने ११९६ ई० में त्रिपुरी के कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त की और ११९६ ई० में काकतीय नरेश महादेव को पराजित किया। कहा जाता है कि उसने गणपति काकतीय को, जो कारावास में था, मुक्त कर दिया और वारंगल के सिंहासन पर उसे बैठाया। जैतुगी प्रथम चारों वेदों और तर्क तथा मीमांसा शास्त्रों का पण्डित था। उसने प्रख्यात गणितज्ञ भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को अपना राजकवि बनाया। १२१० ई० में जैतुगी की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सिंहण राजा हुआ, जो यादव वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था।

सिंहण के सतीसवर्षीय शासन-काल में (१२१०–१२४७ ई०) देवगिरि के यादवों का राज्य अपने विस्तार और गौरव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। अपने राज्यारोहण के समय में वह महाराष्ट्र और कृष्णा नदी के उत्तर में तथा समुद्रतटीय कन्नड़ प्रदेश के कुछ जिलों का स्वामी था, किन्तु उसकी विजय-नीति से यादव

राज्य की सीमायें उसी प्रकार विस्तृत हो गईं, जिस प्रकार कभी पश्चिमी चालुक्यों की हो गई थीं।

सिहण ने भास्कराचार्य के वंशजों का समादर करना जारी रक्खा। उसका राज्य-ज्योतिषज्ञ छागदेव था, जो भास्कराचार्य का पौत्र तथा लक्ष्मीधर का पुत्र था। छागदेव ने पातना में एक विद्यालय खोला था जहाँ पर भास्कराचार्य के 'सिद्धान्त शिरोमणि' तथा अन्य ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। सिहण की राजसभा को सारंगधर सुशोभित करता था, जिसका 'संगीतरत्नाकर' तत्कालीन संगीत-साहित्य में सचमुच एक उज्ज्वल रत्न है। इस ग्रन्थ के ऊपर एक टीका प्रस्तुत है और इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वह टीका स्वयं सिहण ने लिखी थी। सिहण एक नीतिकुशल शासक और महान् निर्माता भी था। उसने अपने राज्य मे ८४ दुर्ग बनवाये और अपने सामन्तों को भी ऐसा करने की आज्ञा दी।

सिहण के उपरान्त उसका पौत्र कृष्ण सिंहासन पर बैठा। कृष्ण ने १२४७ ई० से लेकर १२६० ई० तक शासन किया। गणपति काकतीय ने दक्षिण-पश्चिम में आंध्र देश का कुछ भाग कृष्ण से छीन लिया। कृष्ण एक शान्तिप्रिय शासक था। उसने अपने तेरह वर्ष के शासन-काल में एक भी युद्ध नहीं किया और साहित्य-संवर्द्धन की ओर ध्यान दिया। कृष्ण के मन्त्री जल्हण ने 'सूक्तिमुक्तावली' नामक ग्रन्थ में सूक्तियों का संकलन किया और उसी के शासन-काल में अमलानन्द ने 'वेदान्तकल्पतरु' का प्रणयन किया। कृष्ण का भाई और उत्तराधिकारी महादेव (१२६०–७१ ई०) एक सामर्थ्यशाली शासक था। उसने काकतीय गणपति रुद्राम्बा के विरुद्ध संग्राम में सफलता प्राप्त की। उसने उत्तरी कोंकण के शिलाहार-वंशीय सोमेश्वर को पराजित किया और उससे उसका राज्य छीन लिया। हेमाद्रि महादेव का मन्त्री (श्रीकर्णाधिप) था। हेमाद्रि स्वयं एक लेखक था और उसने अनेक लेखकों को राजाश्रय प्रदान किया। हेमाद्रि ने इतने अधिक मन्दिरों का निर्माण कराया कि वास्तु-कला की एक विशिष्ट शैली ही उसके नाम से चल निकली। इस कला शैली का नाम था हेमदपन्थि। हेमाद्रि ने हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में कई ग्रंथ लिखे, जिनमें 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' सबसे प्रसिद्ध है। महादेव का १२४१ ई० मे देहान्त हो गया और यादवों का शासक रामराज अथवा रामचन्द्र हुआ।

रामचन्द्र ने मालवा के राजा और काकतीय वंश के शासक से युद्ध किये, किन्तु इन युद्धों का कुछ निश्चित परिणाम न निकला। रामचन्द्र के समय मे भी यादवों का मन्त्री हेमाद्रि ही था। उसके प्रसिद्ध सेनानायक टिक्कम ने १२७६ ई० में होयसल राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर अगले वर्ष घेरा डाल दिया। टिक्कम लूट का बहुत-सा माल लेकर देवगिरि लौट आया। यादव राजा रामचन्द्र के समय मे दिल्ली के खिल्जी सुल्तान अलाउद्दीन ने देवगिरि पर आक्रमण किया। रामचन्द्र को मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। रामचन्द्र के शासन-काल मे सन्त ज्ञानेश्वर ने गोदावरी नदी के तट पर मराठी भाषा में गीता पर एक भाष्य लिखा। देवगिरि के यादव राज्य का उन्मूलन अलाउद्दीन खिल्जी के उत्तराधिकारी मुबारक खिल्जी के समय में हुआ।

वारङ्गल के काकतीय

दक्कन के चालुक्य-साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर जो नवीन राजवंश उठ खड़े हुए, उनमे काकतीयों का राज्य भी एक था। काकतीयों के मूल के संबंध मे निश्चित

रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ अभिलेखों में काकतीयों को शूद्र बताया गया है, किन्तु स्वयं काकतीयों की "गल्पभरी वंश-तालिका से, जिसमें रघुकुल के अनेक नाम मिलते हैं, विदित होता है कि काकतीय सम्भवतः सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे।"

काकतीय वंश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति बेता था, जो कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ का सामन्त था। प्रोल द्वितीय ने पश्चिमी चालुक्यों की राज सत्ता को विनाशोन्मुखी देखकर तथा कुलोत्तुंग प्रथम की मृत्यु के कारण वेंगी में उत्पन्न अराजकता से लाभ उठाकर कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती भूभाग पर अपना अधिकार जमा लिया और अमकोंडे (अथवा हनुमकोंड) में अपनी राजधानी बनाई। ऐसी अनुश्रुति है कि प्रोल द्वितीय ने कल्याणी के तैलप-तृतीय को ११५५ ई० के लग भग पराजित किया और उसे बन्दी बना लिया, किन्तु बाद में उसे मुक्त भी कर दिया। प्रोल द्वितीय ने अपने राज्य में अनेक जलाशय खुदवाये और कृषि में सुधार करने की ओर ध्यान दिया।

प्रोल द्वितीय की मृत्यु ११६० ई० में हुई और उसके पश्चात् रुद्र अथवा प्रताप-रुद्र काकतीय वंश का नृपति हुआ। अपने पिता की भाँति प्रतापरुद्र को भी सिंहासन प्राप्त करते समय विद्रोही सामन्तों का दमन करना पड़ा था। डोम्म और मालिगिन्देव नामक दो तेलगू सरदारों से प्रतापरुद्र ने उनकी जागीरें छीन ली। प्रतापरुद्र प्रथम का राज्य दक्षिण में समुद्र तक, उत्तर में गोदावरी नदी तक और पश्चिम में वर्तमान हैदराबाद नगर तक फैला हुआ था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी शासन नीति भी उदारता और प्रजावत्सलता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने स्वयं एक 'नीतिसार' का संस्कृत और तेलगू भाषाओं में प्रणयन किया। उसकी धार्मिक रुचि वीर शैव सम्प्रदाय की ओर थी, जिससे प्रेरित होकर उसने सोमनाथ को राजाश्रय प्रदान किया। सोमनाथ संस्कृत, तेलगू और कन्नड, इन तीन भाषाओं का पण्डित था और उसने वीर शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर कई ग्रन्थ लिखे। नन्नेचोड ने जो कलहस्ति का सरदार था, 'कुमारसंभव' लिखा। यह काव्य-ग्रन्थ तेलगू भाषा में लिखा गया है और इस पर महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' का प्रभाव स्पष्टरूपेण दृष्टिगत होता है। प्रतापरुद्र प्रथम की मृत्यु (११९९ ई०) के पश्चात् उसका अनुज महादेव सिंहासनारूढ हुआ किन्तु उसे यादव राजा जतुगी ने सिंहासन च्युत कर दिया। जतुगी ने काकतीय गणपति को वारंगल के सिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया।

गणपति काकतीय वंश का एक शक्तिशाली और प्रसिद्ध शासक था। उसका समकालीन यादव नरेश सिंहण था जिसके विषय में हम पीछे पढ़ चुके हैं। गणपति ने अपने सामन्तों के प्रति उदारता दिखलाई और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसने अपनी दो पुत्रियों का विवाह कोट और नटवादि नामक शक्तिशाली सरदारों के साथ किया। उसने जय नामक मन्त्री की दो कन्याओं के साथ अपना विवाह किया। इन विवाह सम्बन्धों द्वारा गणपति ने अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ कर ली और काकतीय वंश के सौभाग्य से आगे चलकर भी इन सम्बन्धों का कोई अहितकर या अवांछनीय परिणाम न निकला। अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर लेने के बाद गणपति ने अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने चोल, कलिंग, यादव, कर्णाट, लाट और बलान्ड के शासकों को पराजित किया। गणपति ने छूदपट्ट तथा करनूल के कायस्थ शासकों, गांगेय, साहिनि तथा उसके

भतीजो, त्रिपुरान्तक तथा अम्बदेव को अपने अधीन किया। इसके पश्चात गणपति ने अपनी एकमात्र पुत्री रुद्राम्बा को अपने राज्य की उत्तराधिकारिणी नियुक्त किया और उसे 'रुद्रदेव महाराज' नाम से विभूषित किया। मातपल्लि में जो विदेशी व्यापारी तिजारत करते थे, उनको उसने अभयशासन द्वारा व्यापार करने की छूट प्रदान की। कादव कोपरनुंजिग ने भी गणपति की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

गणपति के सुदीर्घ शासन काल मे (११६९–१२६१ ई०) काकतीय वंश अपने राजनीतिक उत्कर्ष की सर्वोच्च सीमा पर पहुँच गया। काकतीय राज्य की सीमायें काफी दूर तक फैल गयी। गणपति के मन्त्री जय ने अनेक प्राचीन मंदिरों को दान दिये और कितने ही नवीन मंदिरों का निर्माण कराया। पाण्डेश्वर चिदेश्वर गणपतेश्वर, पुष्पागि, भीमश्वर, मेलमैश्वर आदि देवताओं के मन्दिरों का निर्माण अथवा पुनर्निर्माण गणपति काकतीय के मन्त्री जय ने ही कराया था। चोल सम्राट कुलोत्तुंग प्रथम का अनुसरण करते हुए गणपति ने वस्तुओं के आयात और निर्यात से अनेक कर उठा लिये और सामुद्रिक व्यापारियों को सुविधायें प्रदान की। उसने 'पाकल' नामक एक झील का भी निर्माण कराया। गणपति शैव मतानुयायी था अतएव उसने अपने राज्य में शैवों के प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित की। गणपति ने धार्मिक साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके समय में दक्षिणी भारत का विदेशी व्यापार काफी बढ़ गया और देश के धन तथा समृद्धि में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई।

गणपति के पश्चात—१२६१ ई० में गणपति की मृत्यु के उपरान्त उसकी पुत्री रुद्राम्बा सिंहासन पर बैठी। रुद्राम्बा के शासन-काल में काकतीय राज्य में कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं हुई। केवल दो-एक सामन्तों ने विद्रोह करने का प्रयत्न किया किन्तु उनका विद्रोह कुचल दिया गया। उसके समय में मार्कोपोलो नामक वेनिस के एक पर्यटक ने उसके राज्य का भ्रमण किया था। मार्कोपोलो ने अपने यात्रा विवरण में रुद्राम्बा के शासन की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ और न्यायपूर्ण है तथा समानता के सिद्धान्तों पर आधारित है। रुद्राम्बा को उसकी प्रजा बहुत चाहती थी। नाती प्रतापरुद्रदेव ने यादवों के विरुद्ध युद्ध करके ख्याति अर्जित की और १२८० ई० में वह युवराज मनोनीत कर लिया गया। आठ वर्ष बाद रुद्राम्बा के मन्त्री अम्बदेव ने विद्रोह कर दिया परन्तु युवराज ने एक चाल चलकर उसके विद्रोह को विफल कर दिया। १२९५ ई० में रुद्राम्बा की मृत्यु के उपरान्त प्रतापरुद्रदेव राजा हुआ। प्रतापरुद्रदेव ने १३२६ ई० तक शासन किया। प्रतापरुद्रदेव ने शासन-व्यवस्था में सुधार करने का प्रयत्न भी किया। उसने अपने राज्य को ७७ भागों में विभक्त किया और प्रत्येक भाग का शासन एक नायक के अधीन कर दिया। प्रतापरुद्रदेव को "वैद्यनाथ ने प्रतापरुद्री नामक अलंकारग्रन्थ समर्पित कर अमर कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय वंश का अन्तिम प्रभावशाली नरेश था और उसे मलिक काफूर की दक्षिण आक्रमण-यात्रा के समय मुसलमानों के प्रति आत्म-समर्पण करना पड़ा। तदनन्तर काकतीयों का प्रभाव घटने लगा और अन्त में उनका राज्य दक्खन के बहमनी सुल्तानों के हाथ में चला गया।"

द्वारसमुद्र के होयसल

अनुश्रुति के अनुसार होयसल वंश का संस्थापक साल था। कहा जाता है कि साल ने जैन मतानुयायी किसी महात्मा को एक व्याघ्र के आक्रमण से बचाया था। इस घटना (पोयसाल अर्थात मारना, साल) के परिणामस्वरूप इस राजकुल को

पोयसल अथवा होयसल राजा मिली। राइस नामक विद्वान ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिसमें एक नरभक्षी व्याघ्र या किसी सरदार द्वारा हनन का जिक्र मिलता है। व्याघ्र-वध के वीरतापूर्ण कार्य के बदले में प्रत्येक ग्रामवासी ने उस सरदार को वस्तुतः एक पण देना प्रारम्भ किया। ग्रामीणों ने उस सरदार को अपने लिए एक दुर्ग बनाने में भी सहायता प्रदान की। यह घटना शशकपुर नामक ग्राम में घटित हुई थी। इस प्रकार साल ने होयसल राजवंश की नींव डाली किन्तु बहुत दिनों तक इसका आधिपत्य और प्रभाव अत्यन्त क्षीण था। होयसल वंश के एक व्यक्ति मार्जिग को चोल सेनानायक अप्रेमय्या ने १००६ ई० के लगभग मार डाला था। कुछ दिनों तक साल का वंश बिलकुल लुप्त-सा रहा किन्तु १०२२ ई० में नृपकाम इस वंश का प्रमुख हुआ जिसने चोल सम्राटों के प्रान्तीय गवर्नरों से युद्ध किया। नृपकाम ने अपने वंश के भावी गौरव की नींव डाली। सरदारों के विरुद्ध उसने जो युद्ध किए, उनमें उसे सफलता प्राप्त हुई। नृपकाम का उत्तराधिकारी विनयादित्य द्वितीय (१०४७–११०० ई०) था जिसने होयसल वंश की मान प्रतिष्ठा में प्रभूत अभिवृद्धि की। उसकी नीति-कुशलता और वीरता से प्रभावित होकर कल्याणी के चालुक्य सम्राट ने उसे अपना अधीनस्थ सामन्त बना लिया और उसे प्रान्तीय शासक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। चोलों और चालुक्यों के बीच निरन्तर जो युद्ध होते रहे, उनके कारण होयसलों को बड़ा लाभ हुआ। विनयादित्य-तृतीय ११०१ ई० में परलोकगामी हो गया और उसका पौत्र बल्लाल प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। बल्लाल प्रथम को अपने कई विरोधी सामन्तों का दमन करना पड़ा। ११०८ ई० में बल्लाल-प्रथम का अनुज बिट्टिगदेव होयसल वंश का राजा हुआ।

बिट्टिगदेव (११०८–११४१ ई०)—इसे ही वास्तविक अर्थ में होयसल वंश की राजसत्ता का प्रतिष्ठापक कहा जा सकता है। उसने गंगवाडी प्रदेश को जो होयसलों के अधिकार से निकल गया था पुनः अपने अधिकार में कर लिया। इसी प्रकार, नोलम्बवाडी तथा पड़ोस के अन्य भागों को भी जीतकर उसने राज्य में मिलाया और वर्तमान मैसूर की नींव डाली। बिट्टिगदेव के अभिलेखों में उसकी विजयों और सैन्य सफलताओं का विवरण कुछ विस्तार के साथ मिलता है। उसने चोलों, मदुरा के पाण्ड्यों, मलाबार के निवासियों, दक्षिण कन्नड के तुलुवों तथा गोआ के कदम्बों को परास्त किया और कृष्णा तथा कांची तक धावे किये। तामिल देश पर आक्रमण करके वह परमेश्वरम तक पहुँच गया। 'इस प्रकार बिट्टिग ने एक विस्तृत भूभाग पर, जिसमें प्रायः सारा मैसूर और निकटवर्ती प्रदेश शामिल थे, अपना प्रभुत्व स्थापित किया।' उसके बहुत से सुवर्ण सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर कन्नड भाषा में 'तालकद्-युगोन्द विरुद उत्कीर्ण है।

बिट्टिगदेव विष्णुवर्द्धन की मृत्यु के बाद सन् ११४१ ई० में नरसिंह प्रथम होयसलों का जन्म हुआ। अपने सिंहासनारोहण के समय नरसिंह प्रथम केवल आठ वर्ष का बालक था उन्हें यौवनावस्था प्राप्त हो जाने पर नरसिंह प्रथम विलासी तथा कामुक हो गया। कहते हैं कि उसका अन्तःपुर काफी विशाल और सुसज्जित था, जिसमें ३८४ स्त्रियाँ थीं नरसिंह प्रथम में कोई सैनिक योग्यता अथवा शासन निपुणता न थी। उसके राज्य-काल में बोकन की सैनिक-सफलता के अतिरिक्त और कोई विजय-कार्य सम्पन्न नहीं किया गया। किन्तु नरसिंह प्रथम के पुत्र वीर बल्लाल प्रथम (११७२-१२१५ ई०) ने अपने को योग्य और शक्तिशाली शासक प्रमाणित किया। उसने अपने

४३ वर्ष के शासन-काल में होयसल वंश की राजशक्ति को खूब बढ़ाया। वीर बल्लाल होयसल वंश का प्रथम शासक था, जिसने सम्राटों के विरुद धारण किये। उसने बनवासी और नोलम्बवाडी के विजय-कार्य को पूर्णरूपेण सम्पन्न किया तथा पाण्ड्यों का सफलतापूर्वक दमन किया। कल्याण पर यादवों तथा कालतीयों को आक्रमणकारी के रूप में आता हुआ जानकर वीर बल्लाल भी अपनी सेना लेकर उस ओर बढ़ा। सोरब नामक स्थान के निकट युद्ध हुआ जिसमें यादव नरेश भिल्लम पञ्चम को वीर बल्लाल के हाथों पराजय स्वीकार करनी पड़ी। ११९० ई० में लोक्कुन्दी के दुर्ग पर होयसलों का अधिकार हो गया। चालुक्य सम्राट सोमेश्वर चतुर्थ को पराजित करके वीर बल्लाल ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी और उत्तर में कृष्णा नदी तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। उस कृष्णा की एक सहायक नदी मालप्रभा को अपने राज्य की उत्तरी सीमा निर्धारित किया। होयसल राज्य की यही सीमा अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक मलिक काफूर के आक्रमण तक स्थिर रही। ११९१-९२ ई० में ही बल्लाल ने कई सम्राटोचित उपाधियाँ धारण कीं और इसी वर्ष से उसने एक नया संवत चलाया। १२१५ ई० में उसकी मृत्यु के समय होयसलों का राज्य अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उसने वैष्णवों को राजाश्रय प्रदान करने की नीति जारी रक्खी।

वीर बल्लाल प्रथम की मृत्यु के पश्चात नरसिंह द्वारसमुद्र के सिंहासन पर बैठा। इस समय तक (१२१६ ई०) कुलोत्तुंग-तृतीय की मृत्यु हो गई थी, जिससे चोलों की शक्ति बिलकुल तहस-नहस होने जा रही थी। लेकिन नरसिंह द्वितीय ने चोलों को सहायता प्रदान की और उनको नष्ट होने से बचा लिया। नरसिंह द्वितीय को यादव-राजा सिंहण से हार खानी पड़ी और यादव सत्ता कृष्णा के पार पहुँच गई। नरसिंह द्वितीय के बाद वाले होयसल राजाओं के विषय में कुछ विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। केवल इतना पता चलता है कि वे चोलों और पाण्ड्यों से लड़ते रहे। किन्तु वीर बल्लाल प्रथम ने होयसलों को उनके राजनीतिक उत्कर्ष की जिस सीमा पर पहुँचा दिया था उसके कारण बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में सुदूर दक्षिण में विजयनगर के हिन्दू राज्य की स्थापना में होयसलों का भी योगदान महत्त्वपूर्ण था।

होयसल शासकों ने कवियों को राजाश्रय प्रदान किया, जिससे उनके राज्य में शिक्षा साहित्य और कला की उन्नति हुई। वे 'विशाल मन्दिरों के निर्माता थे और उन्होंने अनेक इमारतें बनवाईं जो आज भी हलेबिड तथा अन्य स्थानों में खड़ी हैं और उनकी कलाप्रियता तथा धर्मानुरागिता प्रकटित करती हैं। विष्णुवर्द्धन ने नागचन्द्र अथवा अभिनव पम्पा को अपनी राजसभा में स्थान दिया था। ये अभिनव पम्पा आदि पम्पा से भिन्न थे और इन्होंने पम्पा रामायण में रामचरित का वर्णन जैन अनुश्रुतियों के आधार पर किया है। कान्ति नामक भिक्षुणी भी कन्नड भाषा की प्रसिद्ध कवयित्री थी, जो सम्भवतः विष्णुवर्द्धन की समकालीन थी। राजादित्य ने गणित के नियमों को छन्दोबद्ध किया। नयसेन एक आचारवान् व्यक्ति और अपने समय का प्रसिद्ध विद्वान तथा लेखक था। उसने अपने समकालीन लेखकों द्वारा अनावश्यक रूप से संस्कृत शब्दों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति का विरोध किया। नेमिचन्द्र नामक विद्वान ने सुबन्धु की वासवदत्ता के मॉडल पर कन्नड भाषा में 'लीलावती' ग्रंथ का प्रणयन किया जिसे कुछ विद्वान कन्नड भाषा का प्रथम उपन्यास मानते थे। पम्पा, कान्ति, राजादित्य और नयसेन ये सभी जैन मतावलम्बी थे जिससे यह सिद्ध होता है कि कन्नड भाषा को साहित्य सृजन द्वारा समृद्ध बनाने में जैनियों का योग महत्त्वपूर्ण

था। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं कि जैन पंडितों ने तामिल भाषा को सम्पन्न बनाने में भी अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था। यह पीछे कहा जा चुका है कि वीर शैव सम्प्रदाय के लोगों ने भी कन्नड़ भाषा में अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। होयसल राजाओं के समय में हरीश्वर ने 'गिरिजाकल्याण' और राघवांक ने 'हरिश्चन्द्र काव्य' लिखा। ये दोनों साहित्यकार वीरशैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

इसमें सन्देह नहीं कि कन्नड़ भाषा की उन्नति की दृष्टि से होयसलों का समय काफी महत्त्वपूर्ण था।

कदम्ब-कुल

दक्षिणापथ के दक्षिणी पश्चिमी भाग में चौथी शताब्दी में लगभग कदम्बों का प्रभुत्व हुआ। कदम्बों के प्रारम्भिक अभिलेख प्राकृत भाषा में हैं, किन्तु उन अभिलेखों के बाद वाले सभी अभिलेख संस्कृत में हैं। कदम्ब लोग मानव्य गोत्र के ब्राह्मण थे और वे अपने को हारीति का वंशज मानते थे।

कदम्ब कुल का संस्थापक मयूरशर्मन था, जिसने कांची में पल्लवों द्वारा अपमानित किये जाने पर अपने हाथ में शस्त्र ग्रहण किया और कर्णाटक में वनवासी को राजधानी बना अपना राज्य स्थापित किया। पहले मयूरशर्मन ने राज्य की उत्तरी सीमा पर पल्लव शासक के उच्च पदाधिकारियों को भय संत्रस्त कर दिया और बृहद्बाण लोगों तथा पल्लवों के अन्य सामन्तों से कर वसूल करने के बाद श्रीशैलम के निकट अरण्य में अपनी शक्ति जमा ली। उसकी योग्यता और शक्ति से प्रभावित होकर पल्लवों ने उससे संधि कर ली और वनवासी के निकट की भूमि उसे दी। यह घटना ३४५ ई० के लगभग हुई। मयूरशर्मन के पुत्र कंगवर्मन ने विन्ध्यशक्ति के समय में वाकाटक आक्रमण का सामना किया। यद्यपि युद्ध के परिणामस्वरूप कंगवर्मन के अधिकार से थोड़ा-सा भूभाग निकल गया, तथापि उसका प्रतिरोध बस पर्याप्त रूप से सफल था। कदम्बों ने बाद में पालाशिका (हल्सी) को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। ककुत्स्थवर्मन कदम्ब कुल का एक शक्तिशाली शासक था। काकुत्स्थवर्मन ने अपने प्रसिद्ध समकालीन राजवंशों गुप्तों, वाकाटकों तथा पश्चिमी गंगों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किये। उसके पुत्र शान्तिवर्मन (४५०–७५ ई०) ने कांची के पल्लवों से भिन्न एक दूसरी पल्लव शाखा के आक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया। इस कार्य के लिये उसने अपने राज्य के दक्षिणी भाग को अपने अनुज कृष्णवर्मन प्रथम के सुपुर्द कर दिया। कृष्णवर्मन् प्रथम ने अश्वमेधयज्ञ का अनुष्ठान किया था। किन्तु पल्लवों के विरुद्ध युद्ध करते समय उसे वीर गति प्राप्त हुई। शान्तिवर्मन के पुत्र मृगेश्वरवर्मन ने पल्लवों और गंगों से सफलतापूर्वक युद्ध किया। मृगेश्वरवर्मन विद्वान था और उसे हाथियों तथा घोड़ों की नस्ल पहचानने की अद्भुत योग्यता प्राप्त थी। उसने अपने दिवंगत पिता की पुण्य स्मृति में पालाशिका (हल्सी) में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। मृगेश्वरवर्मन के पुत्र रविवर्मन ने विष्णुवर्मन को जो शान्तिवर्मन के अनुज कृष्णवर्मन प्रथम का पुत्र था, युद्ध में पराजित करके कदम्ब राजकुल को संयुक्त किया। उसने चण्डदण्ड नामक पल्लव आक्रमणकारी को पीछे ढकेल दिया। रविवर्मन ने गंगों को भी युद्ध में पराजित किया। उसके पुत्र हरिवर्मन को ५२८ ई० में राजसिंहासन प्राप्त हुआ। हरिवर्मन शान्तिप्रिय व्यक्ति था, किन्तु उसे चालुक्य शासक पुलकेशिन प्रथम के आक्रमण का सामना करना पड़ा। "वातापी के चालुक्यों के उत्कर्ष ने कदम्बों की महत्त्वाकांक्षा चूर्ण कर दी। उनके उत्तरी प्रदेश

पुलकेशिन प्रथम ने छीन लिये और पुलकेशिन द्वितीय न उनको सर्वथा नगण्य बना दिया। कदम्ब राज्य के दक्षिणी प्रदेशों पर गंगों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। फिर भी, कदम्ब राजकुल सर्वथा विलुप्त न हुआ और उसके राजा राष्ट्रकूटों के पतन के बाद १०वीं सदी ई० के अन्तिम चरण में एक बार फिर बलवान् सिद्ध हुए। इन कदम्ब शाखाओं ने दक्कन और कोंकण के विविध भागों पर १३वीं सदी ई० के प्रायः अन्त तक शासन किया, परन्तु उनकी सक्रियता स्थानीय सीमाओं तक ही परिमित रही।''

पश्चिमी गंगों का राजवंश

पश्चिम में कदम्ब राज्य और पूर्व में पल्लव राज्य के बीच में आधुनिक मैसूर के दक्षिणी भागों में पश्चिमी गंगों का राज्य था। इस भाग को प्राचीन काल में गंगवाड़ी कहा जाता था। पश्चिमी गंगों के राजकुल का प्रतिष्ठापक दिदिग अथवा कोंगनिवर्मन था, जिससे प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र शासक था। किन्तु कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार वह काण्वायन गोत्र का था। उसने धर्म महामात्र का विरुद धारण किया था, जिससे प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र शासक था। किन्तु कुछ अनुश्रुतियों से ऐसा पता चलता है कि काञ्ची के किसी पल्लव शासक ने गंगों के पड़ोसी (उत्तर-पूर्वीय दिशा में) बानों को जीतने के लिए कोंगनिवर्मन को अधिष्ठित किया था। कोंगनिवर्मन का राजत्व-काल ४०० ई० के आसपास रखा जा सकता है। उसकी राजधानी कुलबुल (कोलार) थी और उसकी राज्य पताका पर हाथी का चित्र अंकित रहा करता था। कावेरी नदी के तट पर तलकाड को, पञ्चम शती के मध्य में हरिवर्मन ने अपनी राजधानी बनाई। कोंगनिवर्मन का पुत्र माधव प्रथम महाधिराज (४२५ ई०) राजदर्शन में प्रवीण था। इसके बाद गंगवंश का शासक आर्यवर्मन (४५० ई०) हुआ जो एक पराक्रमी योद्धा तथा प्रकाण्ड पण्डित था। आर्यवर्मन को काञ्ची के पल्लव नरेश सिंहवर्मन ने अधिष्ठित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यवर्मन और उसके अनुज कृष्णवर्मन के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इस पारस्परिक झगड़े का निर्णय कराने के लिए दोनों भाइयों ने पल्लव राजा को अपना मध्यस्थ बनाया, जिसने गंग राज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया। परवर्ती अभिलेखों में इसी आर्यवर्मन के लिए हरिवर्मन नाम का प्रयोग किया गया है, और जैसा पीछे कहा जा चुका है हरिवर्मन ने ही गंग राज्य की राजधानी तलकाड में स्थापित की। गंग वंश के पूर्वकालिक राजाओं में सातवाँ नरेश दुर्विनीत शक्तिशाली और उल्लेखनीय था। दुर्विनीत कदम्ब वंश के प्रतिष्ठापक मयूरशर्मन तथा पल्लव शासक सिंहविष्णु का समकालीन था। पल्लवों से युद्ध करके उसने ख्याति अर्जित की। कदम्बों तथा बानों के ऊपर दुर्विनीत अलत्तूर और पोरु नामक स्थानों में विजय प्राप्त की। दुर्विनीत ने पशाची 'बृहत्कथा' का संस्कृत रूपान्तर किया। सातवीं शताब्दी में चालुक्य लोग गंग राज्य तक बढ़ आये और उन्होंने गंगों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। गंग वंश का बारहवाँ नरेश श्रीपुरुष (७२८–७८८ ई०) था। उसने चालुक्यों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित की और उन्हें कर देना बन्द कर दिया। वह पल्लव राज्य तक आगे बढ़ आया और उसने विलार्दी के युद्ध में पल्लवों की पतनोन्मुख राजसत्ता को बिलकुल तहस-नहस कर डाला। श्रीपुरुष ने उदीयमान राष्ट्रकूटों से सफलतापूर्वक लोहा लिया। श्रीपुरुष ने अपनी राजधानी का स्थानान्तरण बंगलोर के निकट मान्नी नामक स्थान में किया। उसका शासन उदारता के सिद्धान्तों

पर समाधारित होने के कारण प्रजा के लिए सुखकर और हितकारी था। उसके राज्य की समृद्धिशालिता के कारण उसके प्रजाजन उस राज्य को 'श्रीराज्य' कहते थे। श्रीपुरुष की मृत्यु के पश्चात पश्चिमी गंगा की शक्ति का पड़ोसी राज्यों, वेंगी के पूर्वी चालुक्यों तथा मालखेड के राष्ट्रकूटों ने बहुत क्षति पहुंचाई। श्रीपुरुष के उत्तराधिकारी शिवमार (७८८–८१० ई०) को राष्ट्रकूट राजा ध्रुव निरुपम ने पराजित करके बन्दी बना लिया और उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया। गंगवाड़ी का शासन करने के लिये राष्ट्रकूटों की ओर से एक राज प्रतिनिधि नियुक्त किया। गोविन्द-तृतीय के राज्यारोहण के बाद राष्ट्रकूट राज्य में आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गई जिससे लाभ उठा कर शिवमार ने स्वतन्त्र होने की चेष्टा की परन्तु उसका दमन कर दिया गया और गंगवाड़ी पर राष्ट्रकूट शासन बना रहा। शिवमार राजनीतिक दृष्टि से एक हतभाग्य नरेश सिद्ध हुआ, किन्तु बौद्धिक क्षेत्र में उसकी सफलतायें उल्लेखनीय थीं। वह तर्क शास्त्र, दर्शन, नाट्यशास्त्र तथा व्याकरण आदि विभिन्न विषयों का पण्डित था। हाथियों और घोड़ों की पालन विधि तथा उनकी नस्लें पहचानना वह अच्छी तरह से जानता था। कन्नड भाषा में उसने 'गजशतक' नामक तद्विषयक एक ग्रन्थ भी लिखा।

शिवमार के पश्चात काफी समय तक गंगवाड़ी राष्ट्रकूटों के अधिकार में रहा। अमोघवर्ष प्रथम के सिंहासनारोहण के पश्चात गंगों ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु इस प्रयत्न में वे विफल रहे। लेकिन अमोघवर्ष ने गंगों के साथ समझौते की नीति का अवलम्बन किया। राजमल्ल प्रथम (८१७–८५३ ई०) ने राष्ट्रकूटों के विरुद्ध विद्रोह किया। नीतिमार्ग प्रथम ने (८५३–८७० ई०) भी गंगों की स्वाधीनता का प्रयत्न जारी रखा और उसे अपने प्रयत्नों में कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। राजमल्ल द्वितीय को चोलों के विरुद्ध भी कई युद्ध करने पड़े। राजमल्ल द्वितीय के साथ राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष प्रथम का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। बुतुग प्रथम को, जो राजमल्ल का उत्तराधिकारी था, अमोघवर्ष प्रथम ने अपना दामाद बनाया। इन लोगों ने मिलकर वेंगी के चालुक्यों से संघर्ष किया। कृष्ण द्वितीय ने पश्चिमी गंगों की स्वाधीनता का अपहरण नहीं किया। पृथ्वीपति प्रथम (८५३–८८० ई०) गंगों की एक दूसरी शाखा का नृपति था। उसने श्रीपुरम्बियम (तंजोर जिले में) के युद्ध में पल्लव नरेश अपराजितवर्मन को सहायता प्रदान की। पृथ्वीपति द्वितीय (८८०–९२२ ई०) चोल नरेश परान्तक प्रथम का सामन्त था।

पश्चिमी गंगों की मूल शाखा में नीतिमार्ग द्वितीय के पश्चात् राजमल्ल-तृतीय राजा हुआ। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण-तृतीय ने बुतुग द्वितीय के समर्थन में राजमल्ल तृतीय से उसका राज्य छीन लिया। कृष्ण-तृतीय और बुतुग द्वितीय का पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। बुतुग द्वितीय ने कृष्ण-तृतीय को तक्कोलम के युद्ध में (९४९ ई०) सहायता प्रदान की थी। इस युद्ध में चोल राजकुमार राजादित्य मारा गया था। बुतुग जैन दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित था और दार्शनिक वाद विवाद में उसने एक बौद्ध तार्किक को परास्त किया था। मारसिंह-तृतीय (९६०–९७४ ई०) ने भी राष्ट्रकूटों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखा। उसने भी कृष्ण-तृतीय को उसके सामरिक कार्यों में सहायता की। कल्याणी के चालुक्य नरेश तैलप द्वितीय की शक्ति का विरोध करते हुए मारसिंह-तृतीय ने इन्द्र चतुर्थ को राष्ट्रकूट सिंहासन पर समासीन कराने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। जैन मत के एक नियम का अनुसरण करते हुए मारसिंह ने अनशन व्रत द्वारा प्राण त्याग किया। मारसिंह का

उत्तराधिकारी राजमल्ल चतुर्थ (९७४–९८५ ई०) हुआ जिसका मन्त्री चामुण्डराय जैन मतानुयायी था। चामुण्डराय एक पराक्रमी सेनानायक था और उसकी वीरता से प्रभावित होकर लोगों ने उसे वीरमार्तण्ड की उपाधि दी थी। उसने कन्नड भाषा में 'चामुण्डरायपुराण' लिखा, जिसमें उसने चौबीस जैन तीर्थंकरों का जीवन वृत्त लिखा। उसने श्रवण बेलगोल में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया।

राजमल्ल चतुर्थ के पश्चात उसका अनुज रक्कस गंग राजा हुआ। १००४ ई० में चोलों ने तलकाड पर अधिकार कर लिया और रक्कस गंग की शक्ति का अन्त हो गया। नविन, १०२४ ई० के उसके एक अभिलेख से पता चलता है कि उसके वंश का समूलोन्मूलन नहीं किया और राजेन्द्र प्रथम नामक चोल शासक के सामन्त रूप में वह कुछ और अधिक समय तक राज करता रहा। गंग वंश के राजकुमार कुछ अधिक काल तक सामन्तों के रूप में शासन करते रहे। ग्यारहवीं शताब्दी में होयसल नरेश विष्णुवर्मन का मन्त्री गंगराज था। शिवसमुद्रम् के गंगराज ने सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विजयनगर के कृष्णदेव राय का विरोध किया। इसके बाद गंग वंश के राजकुमारों के अस्तित्व का कोई पता नहीं चलता।

तलकाड के पश्चिमी गंगों का महत्त्व उसके सांस्कृतिक कार्यों के कारण अधिक है, राजनीतिक कार्यों के कारण अपेक्षाकृत कम। गंग वंश का राजनीतिक इतिहास अविस्मरणीय तथ्यों से हीन है। पड़ोस के शक्तिशाली राज्यों की लोलुप दृष्टि सदैव इस पर पड़ती रही। सुदूर दक्षिण और दक्कन के राज्यों के ठीक मध्य में स्थित होने के कारण पश्चिमी गंगों के राज्य (गंगवाडी) की स्थिति ही ऐसी थी कि इसे सदैव शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी शासकों के घोड़ों की टाप सहनी पड़ती थी। यूरोप के नीदरलैंड की भाँति गंगवाडी को भी सहस्रों बार अनिच्छापूर्वक रणभूमि बन जाना पड़ा। यही कारण है कि गंगों की राजनीतिक शक्ति का कभी भी अधिक विकास न हो सका। किन्तु अनेक गंग राजाओं ने साहित्य और कला के क्षेत्र में अपनी देन छोड़ी है। उन्होंने आधुनिक कन्नड भाषा की नींव डाली। बाद में विजयनगर राज्य के शासकों ने कन्नड भाषा की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। माधव द्वितीय तथा श्रीविक्रम, जिनका उल्लेख स्थानाभाव के कारण राजनीतिक इतिहास में नहीं किया जा सका, न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। अवनीत एक महान् विद्वान् था। दुर्विनीत, जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं, एक लेखक था। उसने 'बृहत्कथा' के संस्कृत रूपान्तर के अतिरिक्त व्याकरण का एक ग्रन्थ लिखा और किसी पुस्तक पर उसके द्वारा भाष्य लिखे जाने का प्रमाण मिलता है। कहा जाता है कि उसने संस्कृत के महाकवि भारवि को अपनी राजसभा में आदरपूर्ण स्थान दिया था और कन्नड भाषा में भी वह लिखा करता था। श्रीपुरुष का राज्य-काल भी साहित्यिक उन्नति के लिए अनुकूल था। शिवमार की बौद्धिक उपलब्धियों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ऐसी अनुश्रुति है कि वह तीन भाषाओं में लेखन-कार्य कर सकता था। एरग्गा एक प्रसिद्ध वैयाकरण तथा संगीतज्ञ था। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि बुतुग द्वितीय ने शास्त्रार्थ में एक बौद्ध विद्वान् को परास्त किया था। मारल कवि था और इस वंश का अन्तिम नरेश नरसिंह व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन और साहित्य का प्रकाण्ड पंडित था। पुराणों तथा इतिहासों पर उसने कुछ टीकायें लिखीं।

अधिकांश गंगवंशीय शासक जैन मतानुयायी थे और उन्होंने इस मत के प्रचारार्थ इसे राजकीय प्रश्रय तथा साहाय्य प्रदान किया। कला के क्षेत्र में गंगवंश के शासकों की देन विशेष उल्लेखनीय नहीं है, किन्तु इस बात का उल्लेख पीछे किया जा

चुका है कि चामुण्डराय ने श्रवण बेलगोल में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। उसने गोमतेश्वर की एक विशाल प्रतिमा बनवाई, जो मिस्र की रमेसेज मूर्तियों से कहीं अधिक बड़ी है। विस्तार, विशालता तथा प्रभावोत्पादन की दृष्टि से भारत की ही कुछ थोड़ी सी मूर्तियाँ इसकी समानता कर सकती हैं।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पूर्वी गंग न भी जो पश्चिमी गंगों की एक प्रशाखा ही थे, कला तथा वैष्णव धर्म के प्रचार के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया।

कलिङ्ग नगर के पूर्वीय गंग

कलिंग नगर के गंग राजकुमार अपने को कामार्णव प्रथम का वंशज बतलाते हैं, जिसने कोलार (मैसूर) को छोड़कर महेन्द्रगिरि के निकटवर्ती भूभाग को जीत लिया था। यद्यपि कलिंग के पूर्वीय गंग वंश की प्रतिष्ठापना आठवीं शताब्दी के मध्य में हुई थी, हमें इस वंश के शासकों के विषय में अधिक विवरण ग्यारहवीं शताब्दी से ही प्राप्त होता है। इससे पूर्वकालिक राजाओं के नाम तो अवश्य मिलते हैं किन्तु उनके विषय में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है।

पूर्वीय गंग वंश के इतिहास का सुनिश्चित विवरण वज्रहस्त-पंचम के काल से प्रारम्भ होता है। चोल सम्राट राजेन्द्र प्रथम की अधीनता से वज्रहस्त-पंचम (१०३८–१०६८ ई०) ने अपने को मुक्त किया और स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। वज्रहस्त का अधिकार आधुनिक गंजाम और विजगापट्टम के जिलों की भूमि के ऊपर था। उसके पुत्र राजाराज प्रथम गंग ने केवल दस वर्ष तक शासन किया। उसने कुलोत्तुंग चोल-प्रथम की कन्या राजसुन्दरी से विवाह किया। उसका उत्तराधिकारी अनन्तवर्मन चोडगंग राजसुन्दरी के गर्भ से ही उत्पन्न हुआ था। अनन्तवर्मन कलिंगनगर के पूर्वीय गंग वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था और उसका शासन काल निश्चय रूप से विस्मयोत्पादक है। उसने सत्तर वर्षों तक शासन किया। कहा जाता है कि उसने गोदावरी से लेकर गंगा तक के भूभाग पर धावे बोले। भी से अधिक अभिलेख अनन्तवर्मन चोडगंग की सुविस्तृत राज्य-सीमा की सूचना देते हैं। उसने बंगाल के सेना कलचुरियों और चालों से युद्ध किया। यद्यपि कुलोत्तुंग चोल प्रथम ने उसको परास्त करके उसकी शक्ति को कुछ नियन्त्रित कर दिया, तथापि ११२० ई० कुलोत्तुंग की मृत्यु के बाद उसने अपनी शक्ति फिर से बना ली। अनन्तवर्मन चोडगंग ने संस्कृत और तेलगू भाषाओं को राज्याश्रय प्रदान किया। १०९९ ई० में पुरी के शतानन्द ने, ज्योतिष पर भास्वति नामक ग्रन्थ लिखा। पुरी में अनन्तवर्मन ने जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण कराया था। पूर्वीय गंगों के राज्य पर मुसलमानों ने सबसे पहले १२०५ ई० में आक्रमण किया, किन्तु वे पीछे ढकेल दिये गये। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस वंश का उन्मूलन मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा कर दिया गया।

कलिंग नगर के पूर्वीय गंग राजाओं ने अनेक मन्दिर बनवाये, जिनमें पुरी का जगन्नाथ मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्य मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। भुवनेश्वर के निकट लगभग तीस मन्दिर आज भी विद्यमान हैं। पूर्वीय गंग वंश के शासक वैष्णव थे, अपने बन्धुओं पश्चिमी गंगों की भाँति जैन नहीं।

---

२६ | सुदूर दक्षिण के राजवंश

पल्लव राजवंश

पल्लवों का मूल—पल्लवों के मूल के विषय में विद्वानों की अनेक विभिन्न धारणाएँ हैं। डॉ० विंसेंट स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' के प्रथम संस्करण में अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि पल्लव लोग पर्सियन अथवा पार्थियन मूल के थे। स्मिथ साहब के इस मत का समर्थन श्री वेंकय्या ने कुछ विस्तार के साथ किया है। श्री वेंकय्या ने लिखा है, 'जब तक पल्लवों के मूल का प्रश्न विवादशून्य तर्कों द्वारा सन्तोषजनक रूप में सुस्थिर नहीं हो जाता, तब तक उनका समीकरण पुराणों में उल्लिखित पह्लवों, पुह्लवों और पह्नवों के साथ किया जाना चाहिए। यह समीकरण शब्द व्युत्पत्ति के ऊपर आधारित है और इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी भारत की जनसंख्या में पह्नव (पह्लव) लोग एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में विद्यमान थे। पश्चिमी भारत से पूर्वीय समुद्र तट की ओर उनका संक्रमण केवल सम्भव ही नहीं प्रतीत होता अपितु ज्ञात ऐतिहासिक तत्त्वों के द्वारा यह (संक्रमण) सम्भाव्य भी कर दिया गया है।' श्री वेंकय्या ने पह्लव संक्रमण के आधार पर अपने मत को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनके मत का वास्तविक आधार नामों का ऊपरी साम्य ही है, क्योंकि इस बात का कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि पह्लव (या पार्थियन) लोग कभी भी दक्षिणापथ (दक्कन) अथवा पश्चिमी भारत से सुदूर दक्षिण में जाकर बस गये थे। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि डॉ० एल० राइस ने चालुक्यों की उत्पत्ति के विषय में अपना जो मत व्यक्त किया था, उसका सम्बन्ध पल्लवों के मूल की समस्या से भी है। अपने 'Mysore and Coorg from Inscriptions' में डा० राइस ने लिखा है कि दक्षिण भारत के पल्लव नरेशों का समीकरण पह्लवों के साथ किया जाना चाहिए, जिन पह्लवों का उत्पादन गौतमीपुत्र शातकर्णि ने शकों और यवनों के साथ कर दिया था। डा० राइस की धारणा है कि 'पह्लव' शब्द पार्थव शब्द का प्राकृत रूप है, जिसका अभिप्राय पार्थियन, विशेषतया एरसिडियन (Arsacidian) पार्थियनों से है। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं कि चालुक्यों के मूल के सम्बन्ध में डा० राइस की विचित्र धारणा निराधार है, उसी प्रकार इस बात का भी अभी ही विचार किया जा चुका है कि दक्कन के पह्लवों और दक्षिण भारत के पल्लवों में कोई सम्बन्ध नहीं था। विंसेंट स्मिथ ने अपने ग्रंथ के तीसरे संस्करण में[१] पल्लवों के विदेशी मूल की इस धारणा का खण्डन किया और लिखा है कि पल्लव लोग देश के किसी स्वदेशोत्पन्न कबील, वंश या जाति के थे।[१]

पल्लवों और पह्लवों के समीकरण का प्रयत्न एवं अन्य प्रमाण को भी ध्यान में रखने से निराधार जान पड़ता है। डा० एस० कृष्णस्वामी आयंगर ने इस सम्बन्ध

१ *Early History of India* (Third Edition) p 469

में प्रसिद्ध कवि राजशेखर का मत उद्धृत किया है, जो गुर्जर प्रतिहार नरेश, महेन्द्र पाल या महीपाल की राजसभाओं में नवीं शताब्दी के अंत तथा दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रहता था। राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "भुवनकोष" में भारत को पाँच भागों में विभक्त किया है और प्रत्येक भाग के लोगों, नगरों और नदियों का वर्णन किया है। राजशेखर ने पल्लवों को दक्षिणी भाग अथवा दक्षिणापथ (माहिष्मती के उधर) का बताया है और पह्लवों को 'पृथूदक' के उस पार उत्तरापथ का निवासी बताया है। इस प्रकार राजशेखर के अनुसार, पल्लव और पह्लव, दो विभिन्न जातियों के लोग थे। पल्लव दक्षिण में रहते थे और पह्लव सिन्धु नदी के दूसरी ओर सीमा प्रदेश में रहते थे।

श्रीयुत रसनयगम का मत है कि पल्लवों का मूल निवास दक्षिण के उस स्थान में था, जिसे प्राचीन तामिल लोग "मणिपल्लवम" कहते थे। रसनयगम का विश्वास है कि किल्लि का पुत्र इलम तिरयम, जिसका जन्म मणिमेकलई' में उल्लिखित नाग राजकुमारी के गर्भ से हुआ था, प्रथम पल्लव शासक था। इलम तिरयम पोतभग्न होने पर बह गया था किन्तु समुद्रतट पर जब वह पकड़ा गया तो उसके टखने में तोण्डई लता की शाखा की गेंडुरी बंधी हुई थी। इसी से उसका नाम तोण्डमाल इलम तिरैयम पड़ा। इस प्रकार, इलम तिरयम पल्लवों का प्रथम नरेश और उनकी राजसत्ता का प्रतिष्ठापक था। उसका काल दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थिर किया गया है। इलम तिरैयम के वंश का नाम उसकी माँ के मूल निवास 'मणिपल्लवम्' के आधार पर "पल्लव" वंश हुआ।[1] श्रीयुत रसनयगम के मतानुसार पल्लव लोग चोल-नाग कुल के थे और सुदूर दक्षिण तथा लंका के निवासी थे। किन्तु रसनयगम के इस मत का खण्डन श्री आर० गोपालन ने प्रत्ययोत्पादक तर्कों द्वारा किया है।[2] डॉ० जायसवाल का मत है कि "पल्लव न तो विदेशी थे न द्रविड़, वरन् उत्तर के शुद्ध अभिजातकुलीन ब्राह्मण थे, जिन्होंने सैनिक-वृत्ति अपना ली थी' और जो वाकाटकों की एक शाखा के थे। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री की यह धारणा है कि अपने समकालीन इक्ष्व और कदम्ब राजवंशों की भाँति पल्लव शासक भी मूलतः उत्तर भारत के ही थे जिन्होंने अपने लिए दक्षिण में एक नया निवास-स्थान खोज लिया और वहाँ की स्थानीय परम्पराओं को अपने प्रयोग में लाने के लिए ग्रहण कर लिया लेकिन पल्लवों को कदम्बों तथा वाकाटकों की तरह ब्राह्मण मानना असंगत जचता है। डा० रमाशंकर त्रिपाठी की धारणा है कि इसमें सन्देह नहीं कि पल्लवों के उत्तरी सम्बन्ध की बात कुछ सीमा तक सही है क्योंकि उनके प्राचीन अभिलेख प्राकृत में हैं और वे संस्कृत विद्या तथा संस्कृत के भी संरक्षक थे। परन्तु 'द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा' से उनको सम्बद्ध करने वाली अनुश्रुतियाँ सम्भवतः सत्य पर अवलम्बित नहीं हैं। तालगुण्ड अभिलेख में कदम्ब मयूरशर्मन ने कांची के ऊपर "पल्लव क्षत्रियों' के प्रभाव को धिक्कारता है जिससे स्पष्ट है कि पल्लव क्षत्रिय थे।[3]

पल्लवों का राजनीतिक इतिहास—पल्लव वंश का सबसे प्राचीन ज्ञात शासक सिंहवर्मन था। उसका एक पाषाण-अभिलेख गुंटूर जिले के पालनार तालुक में प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख की भाषा प्राकृत है और इसकी लिपि प्राकृत अभिलेखों की

---

१ *Indian Antiquary*, खण्ड ५२ (अप्रैल १९२३), पृ० ७७ ७८
२ आर० गोपालन *History of the Pallavas of Kanchi*, pp 21 22
३ प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३२८

लिपि से काफी मिलता-जुलती है। सिंहवर्मन अपने सभी उत्तराधिकारियों की भाँति भारद्वाज गोत्र का था। सिंहवर्मन के पश्चात् हमें स्कन्दवर्मन का नाम मिलता है। स्कन्दवर्मन पहले युवराज था और बाद में उसने धर्ममहाराजाधिराज की उपाधि धारण कर ली। उसने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया। उसकी राजधानी काञ्ची थी। उसका राज्य उत्तर में कृष्णा नदी और पश्चिम में अरब सागर तक फैला हुआ था। स्कन्दवर्मन का पुत्र बुद्धवर्मन अपने पिता के समय में युवराज था। अपने पिता की उसने अपने युवराज-काल में शासन-कार्य में सहायता प्रदान की थी। स्कन्दवर्मन का समय ईसा की तीसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध था, जिस समय तक दक्षिण में राजकीय कार्यों के लिए प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाता था।

स्कन्दवर्मन के बाद पल्लव राजवंश के नृपति का नाम विष्णुगोप मिलता है। विष्णुगोप ने अपने सामन्त पालक उग्रसेन के साथ समुद्रगुप्त के आक्रमण का सामना किया था। विष्णुगोप का एक निकट सम्बन्धी कुमारविष्णु था, जो उसका ही समकालीन था। कुमारविष्णु (३२५–४० ई०) ने जिस वंश को चलाया, वह ६०० ई० या उसके बाद तक कायम रहा। इन राजाओं के समस्त लेख संस्कृत भाषा में और ताम्रपत्र पर हैं। 'इन अभिलेखों का उद्देश्य पुनीत ब्राह्मणों और मन्दिरों को भूमिदान देना है परन्तु साथ ही वे तात्कालिक घटनाओं पर भी प्रकाश डालते हैं। पल्लव इतिहास के इस युग का कालक्रम गंग राजाओं के लेखों से निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि गंग राजाओं ने अपने समकालीन पल्लव-नरेशों का भी उल्लेख किया है।' 'लोकविभाग' नामक सृष्टि विज्ञान विषयक ग्रंथ की पाण्डुलिपि से भी पल्लव इतिहास का कालक्रम निर्धारित करने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। इस ग्रंथ की समाप्ति जिस दिन हुई उस दिन सन् ईसवी के अनुसार २५ अगस्त, ४५८ ई० तारीख थी। इस युग के पल्लव शासकों की वंशावली भी असंदिग्ध नहीं है। इस युग के लेखों के सम्बन्ध में एक विशिष्ट बात यह है कि वे काञ्ची राजधानी से नहीं, वरन् अन्य स्थानों से घोषित किये गये थे। इस कारण से कुछ विद्वानों की धारणा है कि पल्लवों का अधिकार कुछ दिनों के लिए काञ्ची से जाता रहा था। किन्तु कुछ अन्य विद्वानों का विश्वास है कि पल्लवों के राजवंश भिन्न-भिन्न थे जो विभिन्न स्थानों से शासन कर रहे थे। इसी लेख से (अभिलेख से) ये [illegible] पल्लवों (परिक्रमे के भिन्न) प्रतिबिम्ब मिलीजुली उत्पत्ति के थे।

पल्लव-राजशक्ति का चरम विकास

सिंहविष्णु का वंश और इसकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

सिंहविष्णु के राज्यारोहण से काञ्ची के इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। सिंहविष्णु ने एक नये राजवंश की स्थापना की थी। इस राजवंश के शासकों ने पल्लव राज्य की राजनीतिक शक्ति का खूब विकास किया। इस समय से लेकर पल्लव शक्ति का प्रवेश तामिल देश में पहले की अपेक्षा अधिक दूर तक होने लगा।
(1) इस युग में शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के सबसे प्रसिद्ध संतों का प्रादुर्भाव हुआ। इन नायनार और आलवार संतों ने, अपने सरस और भावपूर्ण पदों द्वारा दक्षिणी भारत के धार्मिक जीवन तथा दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित कर दिया। एक अन्य दृष्टि से भी दक्षिण भारत के इतिहास में पल्लव इतिहास का यह युग विशेष
(2) महत्त्व का है। इसी युग में तामिल देश के निवासियों ने मन्दिर तथा अन्य इमारतों के निर्माणार्थ लकड़ी तथा ईंट के स्थान पर पत्थर का प्रयोग करना प्रारम्भ किया।

निर्माण-सामग्री के इस महत्वपूर्ण परिवर्तन में आगे आने वाली कुछ ही शताब्दियों के दौरान में दक्षिण भारत में शिव, विष्णु और ब्रह्मा के मन्दिरों का जाल सा बिछ गया। इस युग में पल्लव नरेशों ने तामिल देश में संस्कृत विद्या और संस्कृति के फैलाने का सक्रिय प्रयत्न किया। आधुनिक खोजों से यह सिद्ध होता है कि कुछ सर्वमहान् कवि और काव्यशास्त्रविद्, जैसे 'किरातार्जुनीय' तथा "काव्यादर्श" के प्रणेता क्रमशः भारवि तथा दण्डिन् इस युग में काञ्चीपुरम की राजसभा को समलंकृत करते थे।

सिंहविष्णु ने अपने राज्य की सीमा चोलों के अधिकार के भीतर कावेरी तक विस्तृत कर ली और पाण्ड्यों, कलभ्रों तथा मालवों (मलनाडु के निवासी) को अपने दक्षिणी आक्रमण के समय पराजित किया। "मत्तविलासप्रहसन" के रचयिता महेन्द्रवर्मन ने अपने पिता सिंहविष्णु की प्रशंसा में ये शब्द कहे हैं, 'पल्लव-कुलधरणिमण्डल कुलपर्वतस्य मयनयविजितसमस्त सामन्तमण्डलस्य आखण्डलसमपराक्रम श्रिय श्रीमहिमानुरूपदानविभूति परिभूत राजराजस्य।' सिंहविष्णु की धार्मिक अभिरुचि वैष्णव मत की ओर थी, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है। उसने ५७५ ई० से लेकर ६०० ई० तक शासन किया और अवनिसिंह की उपाधि धारण की थी।

महेन्द्रवर्मन प्रथम—सिंहविष्णु की मृत्यु के बाद सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महेन्द्रवर्मन पल्लव-वंश का नृपति हुआ। महेन्द्रवर्मन का शासन काल कई बातों के लिए स्मरणीय है। प्रथम बात यह है कि दक्षिण में वही ऐसा प्रथम शासक था, जिसने कठोर पाषाण-खण्डों को काटकर मन्दिर खुदवाने की कला का वहाँ प्रचार किया। दूसरी बात यह है कि उसी के शासन काल में अप्पर नामक सन्त ने अपने धर्म प्रचार का कार्य किया और संस्कृत के महाकवि भारवि ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' लिखा। शासन प्रबन्ध के दृष्टिकोण से उसके राजत्व-काल ने दक्षिण की जनता को निरुपद्रविता का वातावरण प्रदान किया, जिससे वह उद्योग-व्यवसाय के शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रवृत्त हो सकी। यह उल्लेख करना आवश्यक है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम के पहले तक जनता को अपने शासकों के युद्धों का बोझ उठाना पड़ता था। सैनिक दृष्टिकोण से भी उसका शासन-काल महत्वपूर्ण था, क्योंकि इसी समय से पल्लव चालुक्य और पल्लव-पाण्ड्य संघर्षों का प्रारम्भ हुआ, जिन संघर्षों को उसके उत्तराधिकारियों ने डेढ़ शताब्दियों तक जारी रखा। महेन्द्रवर्मन ने नाटक, संगीत, चित्रकला आदि विभिन्न ललित कलाओं की उन्नति को खूब प्रोत्साहन प्रदान किया। एक बात की ओर हम प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थी का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं कि महेन्द्रवर्मन प्रथम के दो समकालीन नरेश पुलकेशिन द्वितीय तथा सम्राट हर्षवर्द्धन शीलादित्य उसी की भाँति कलानुरागी तथा संस्कृति-सम्पोषक थे। उत्तर में हर्षवर्द्धन किस कला और साहित्य को राजाश्रय प्रदान कर रहे थे, हम यह पीछे पढ़ चुके हैं। दक्षिणापथ में पुलकेशिन-द्वितीय की शासन व्यवस्था भी आर्य धर्म के उन्नत आदर्शों पर आधारित थी और सुदूर दक्षिण में महेन्द्रवर्मन प्रथम अपने उदार शासन द्वारा संस्कृति तथा कलाओं की उन्नति के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर रहा था। यह भारत का सौभाग्य था कि उसने इस समय तीन महान शासकों को जन्म दिया, जिन्होंने अपने अपने राज्यों में शान्ति स्थापित कर रखी थी। ये तीनों शासक, देश की संस्कृति में बल-संचार करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन्होंने अपनी विजयों द्वारा भारत के विभिन्न विशाल भूभागों में राजनीतिक एकता स्थापित की। कन्नौज के हर्षवर्द्धन ने उत्तरापथ में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करके उसे राजनीतिक एकता प्रदान की, चालुक्य सम्राट पुलकेशिन-द्वितीय की धाक सम्पूर्ण

दक्षिणापथ पर जमी हुई थी और पल्लव महेन्द्रवमन ने कृष्णा नदी के दक्षिण में समस्त छोटे-छोटे राज्यो को विजित करके वहां के राजनीतिक अनैक्य को समाप्त कर दिया था। छोटे-छोटे राजाओ को इन तीन सम्राटो, हर्षवर्द्धन, पुलकेशिन द्वितीय तथा महेन्द्रवमन की सेवा मे कर देना पड़ता था। दक्कन या दक्षिणापथ में कदम्ब, कोंकण, गंग, बन तथा केशरी वंशो के नरेश पुलकेशिन द्वितीय के करद थे, सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्डय तथा चेर वंशो के नृपति महेन्द्रवमन प्रथम की अधीनता स्वीकार करते थे और उत्तरापथ मे कान्यकुब्ज सम्राट हर्षवर्द्धन के अधीन कई शासक थे, जिनमें वलभी के मैत्रकवंशीय तथा मालवा के उत्तर गुप्तकालीन नरेश प्रमुख थे।

महेन्द्रवमन प्रथम को अपने महान् समकालीन चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप उसके अधिकार से पल्लव राज्य का कुछ भाग निकल गया। परन्तु महेन्द्रवमन के त्रिचनापल्ली-दरी-अभिलेख से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसका साम्राज्य दक्षिण मे काफी दूर तक फैला हुआ था। पश्चिमी चालुक्यों के विरुद्ध उसे अपने रण अभियानो में सफलता प्राप्त हुई, किन्तु अन्य क्षेत्रो में उसने विपुल यश अर्जित किया। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि महेन्द्रवमन प्रथम ने ललित कलाओ और साहित्य की उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न किया। अपने जीवन और शासन के प्रारम्भिक दिनों में वह जैन मतानुयायी था, किन्तु कालान्तर मे अप्पर नामक सन्त के प्रभाव से उसने शैव मत ग्रहण कर लिया। महेन्द्रवमन प्रथम के त्रिचनापल्ली लेख से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसके हृदय मे भगवान् शंकर के प्रति महती श्रद्धा थी और उसने एक दरी मन्दिर का निर्माण कराया था। महेन्द्रवमन प्रथम द्वारा निर्मित शिव और विष्णु के कई दरी मन्दिर अन्य स्थानो मे भी मिलते हैं। "मण्डगप्पतु अभिलेख से विदित होता है कि महेन्द्रवमन प्रथम ने ब्रह्मा, ईश्वर, और विष्णु के लिए भी एक मन्दिर बिना ईंट, चूने, लोहे और लकड़ी के बनवाया। इस प्रकार, महेन्द्रवमन प्रथम ने दक्षिण भारत में दरी-मन्दिर बनवाने की प्रथा प्रचलित की। वास्तव में उसके अनेक विरुदो में से चेत्तकारि अथवा चैत्यकारि अर्थात् चैत्यों अथवा मन्दिरो का निर्माता है। इन मन्दिरों की विशेषता उनके त्रिमुखी स्तम्भो मे थी। ये दरी मन्दिर दलवनूर (दक्षिण अर्काट जिला), पल्लवरम, सियमंगलम, वल्लम (चिंगलिपुत्त जिला) आदि स्थानों में मिले।"[1]

महेन्द्रवमन प्रथम सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। अपने महान् समकालीन उत्तरापथपति सम्राट् हर्षवर्द्धन शिलादित्य की भाँति महेन्द्रवमन प्रथम भी एक प्रसिद्ध लेखक था। महेन्द्रवर्मन प्रथम ने 'मत्तविलासप्रहसन' नामक ग्रंथ लिखा। सित्तनवासल (पुदुक्कोटा रियासत) की जैन चित्रकारी मे नृत्य विषयक चित्र मिलते हैं जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महेन्द्रवमन प्रथम ने नृत्य-कला को प्रोत्साहन दिया। प्रसिद्ध विद्वान् डुब्रील (Dubreuil) की धारणा है कि महेन्द्रवमन ने नृत्य कला पर एक पुस्तक भी लिखी थी। इस राजा के मामण्डूर-अभिलेख मे "दक्षिणचित्र" नामक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, जिसमे सम्भवत चित्रकला तथा संगीत के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। यह ग्रंथ भी महेन्द्रवर्मन द्वारा लिखित बताया जाता है। कुडुमियमलै का संगीत-सम्बन्धी अभिलेख उसी का खुदवाया हुआ कहा जाता है, और यह विश्वास किया जाता है कि वह संगीत मे बड़ा निपुण था। चित्र-कला में उसकी निपुणता का संकेत उसके एक विरुद "चित्रकारप्पुलि" से प्राप्त होता है। महेन्द्रवमन

१ डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १११

प्रथम का एक अन्य विरुद "विचित्रचित्त" उसकी सर्वतोमुखता चरितार्थ कर देता है। 'मत्तविलासप्रहसन' के प्रारम्भ में महेन्द्रवर्मन प्रथम के विभिन्न गुणों का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—

"प्रज्ञादानदयानुभावधृतय: कान्ति: कलाकौशलं ।
सत्यं शौचसमायता विनय इत्येवम्प्रकारा गुणा: ।
अप्राप्तस्थितय: समेत्य शरणं याता मयेक कलौ
कल्पान्ते जगदादिमादिपुरुषं सम्प्रभेदा इव ।"

महेन्द्रवर्मन को विभिन्न प्रकार के विरुदों से बड़ा अनुराग था। उसने 'मत्तविलास', 'अवनिभाजन', 'शत्रुमल्ल' 'गुणाभार', 'विचित्रचित्त', 'सत्यसंघ', 'परममाहेश्वर', 'महेन्द्रविक्रम', 'चेत्तकारि' आदि उपाधियाँ धारण की। इन विरुदों का उल्लेख महेन्द्रवर्मन प्रथम के विभिन्न अभिलेखों में किया गया है।

नरसिंहवर्मन प्रथम—महेन्द्रवर्मन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम ७वीं सदी ई० के द्वितीय चरण के आरम्भ में सिंहासनारूढ़ हुआ। नरसिंहवर्मन के पिता को चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय द्वारा पराजित होना पड़ा था, किन्तु गुणवान् पिता को चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय द्वारा पराजित होना पड़ा था, किन्तु गुणवान पिता के इस पराक्रमी पुत्र ने अपने पिता के प्रबल शत्रु पुलकेशिन को गहरी पराजय दी और इस प्रकार अपने पिता की हार का बदला लिया। नरसिंहवर्मन को मणिमंगलम नामक स्थान में पुलकेशिन द्वितीय के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई, किन्तु वह अपनी सफलता से सन्तुष्ट न हुआ और उसने अपने वीर सेनानायक सिरतोंड उपनाम परन्जोति के सेनापतित्व में एक सबल सेना वातापी पर आक्रमण करने के लिए भेजी। इस सेना ने चालुक्यों की राजधानी वातापी को घेर लिया। अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए पुलकेशिन द्वितीय युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। वातापी पर नरसिंहवर्मन का अधिकार हो गया। अपनी इस महत्त्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में नरसिंहवर्मन ने वातापीकोण्ड का विरुद धारण किया (६४२ ई०)।

चालुक्यों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त नरसिंहवर्मन प्रथम अपनी राजधानी कांची लौट आया। उसे सिंहल के एक राजकुमार मानवर्म्म ने उसके युद्धों में सहायता दी थी, अतएव नरसिंहवर्मन ने भी मानवर्म्म को सिंहल का राज्य प्राप्त करने में सहायता प्रदान की। इसी उद्देश्य की पूर्ति के नरसिंहवर्मन ने महाबलिपुरम से दो बार लंकाधिपति के विरुद्ध नौसेनाएँ भेजी। दूसरी बार नरसिंहवर्मन अपने प्रयत्न में सफल रहा और उसने मानवर्म्म को सिंहल की राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

श्री गोपालन के अनुसार, "नरसिंहवर्मन को अपने पिता की भाँति अपने राज्य भर में मन्दिर बनवाने का शौक था। त्रिचनापल्ली जिले तथा पुदुक्कोटा रियासत में उसने चट्टानों को खुदवाकर मन्दिरों का निर्माण कराया था। इन मन्दिरों का साधारण नक्शा प्रायः वही है जो महेन्द्रवर्मन प्रथम के मन्दिरों के नक्शे का है। केवल उनका ऊपरी सामान अधिक अलंकृत है और उनके स्तम्भ भी अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर हैं। नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल ने अपने नाम के अनुकूल महाबलिपुरम् अथवा महामल्लपुरम् नामक नगर बसाया और उसे धर्मराज के रथ के-से मन्दिरों से मण्डित किया। धर्मराज रथ सप्तमंडपीय मन्दिरों में से एक माना जाता है।"

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने ६४२ ई० के लगभग कांची का पर्यटन

किया था। चीनी यात्री ने पल्लव राज्य और वहाँ के निवासियों के विषय में अपने अनुभव लिखे हैं। उसके कथनानुसार "देश की भूमि उर्वर है। लोग नियत समय पर इसे जोतते हैं जिससे प्रभूत अन्न उत्पन्न होता है। वहाँ फूल और फल भी अनेक प्रकार के होते हैं। बहुमूल्य रत्न और अन्य वस्तुएँ वहाँ उत्पन्न होती हैं। जलवायु उष्ण है और प्रजा साहसी है। लोग सत्यप्रिय और ईमानदार हैं और विद्या का बड़ा आदर करते हैं। यहाँ की भाषा और लिपि मे एवं मध्य देश की भाषा और लिपि में विशेष अन्तर नही है। यहाँ संघारामो की संख्या १०० के लगभग है जिसमे १०,००० भिक्षु रहते हैं। ये सभी भिक्षु महायान सम्प्रदाय की स्थविर शाखा के अनुयायी हैं। वहाँ प्राय अस्सी देव मन्दिर हैं और अनेक निर्ग्रन्थ हैं। ह्वेनसाग ने लिखा है कि लोगों का विद्याप्रेम वस्तुत प्रशसनीय है। राजधानी से नातिदूर दक्षिण की ओर एक सुविशाल संघाराम है, जिसमे देश के विख्यात विद्वानों का प्राय समागम हुआ करता है। चीनी यात्री के विवरण से ऐसा ज्ञात पड़ता है कि पल्लव राज्य में दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनियों की संख्या काफी अधिक थी। ह्वेनसाग के लेख से ही इस बात की सूचना प्राप्त होती है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य तथा सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मपाल काञ्चीपुर के ही निवासी थे।

परमेश्वरवर्मन प्रथम—नरसिंहवर्मन प्रथम के पश्चात महेन्द्रवर्मन द्वितीय राजा हुआ, किन्तु उसका पाँच वर्षों का शासन-काल घटनाशून्य था। उसकी मृत्यु के अनन्तर परमेश्वरवर्मन प्रथम को चालुक्य नरेश विक्रमादित्य प्रथम के आगे घुटने टेक देने पड़े, किन्तु पल्लव-अभिलेखों का वक्तव्य है कि परमेश्वरवर्मन प्रथम ने पेरुवलनल्लुर (त्रिचनापल्ली जिले के लालगुडी तालुक मे) के युद्ध मे विक्रमादित्य प्रथम की सेना को मार भगाया। इन परस्पर विरोधी प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चालुक्यों पर पल्लवों के इस पारस्परिक सघर्ष मे वस्तुत किसी पक्ष की पूरी तरह से विजय नहीं हुई। परमेश्वरवर्मन प्रथम भगवान शिव का परम उपासक था और उसने अपने इष्टदेव के अनेक मन्दिर राज्य भर मे निर्मित कराये। मम्मलपुरम का गणेश मन्दिर सम्भवत परमेश्वरवर्मन ने ही बनाया था और काञ्ची के निकट करम नामक स्थान मे उसने एक शिव मन्दिर का निर्माण कराया। परमेश्वरवर्मन प्रथम ने 'चित्रमाय', गुणभाजन 'श्रीभार', और 'रणजय विरुद धारण किये थे। विद्याविनीत पल्लव भी उसकी एक अन्य उपाधि थी। उसने ६६० ई० से लेकर ६८० ई० तक शासन किया।

नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह—नरसिंहवर्मन द्वितीय सातवीं शताब्दी के प्राय अन्त में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात सिंहासन पर बैठा। श्रीयुत गोपालन की धारणा है कि नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासन-काल शान्तिपूर्ण तथा बाह्याक्रमणो से विमुक्त था।[1] यही कारण है कि उसने अपने राज्य मे अनेक मन्दिर बनवाये, जिनमें काञ्ची का कैलाशनाथ मन्दिर, महाबलिपुरम का तथाकथित 'शोर' मन्दिर काञ्ची का ऐरावतेश्वर मन्दिर और पनामलई के मन्दिर अधिक उल्लेखनीय हैं। इन सभी मन्दिरों मे नरसिंहवर्मन के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

नरसिंहवर्मन को अपने पिता पितामहों की भाँति विरुदों से अतीव अनुराग था। केवल कैलाशनाथ की दीवारों पर ही उसकी २५० से अधिक उपाधियाँ खुदी हुई हैं। उसके कुछ विरुद हैं, 'श्री शकरभक्त', श्री वाद्यविद्याधर, 'आगमप्रिय,

---

[1] hrst tyHo the Pallavas of Kanchi, p 108

'शिवचूडामणि' और 'राजसिंह'। नरसिंहवर्मन द्वितीय की उपाधियों से उसकी व्यक्तिगत अभिरुचियां, उसके गुण तथा उसकी धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। गोपालन महोदय का कथन है कि नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासन काल एक उत्कृष्ट साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था।[1] वेलूरपालयम पत्रलेखों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजसिंह ने द्विजों की घटिका को पुनरुज्जीवित किया। ब्राह्मणों की घटिका में जिस विद्या का उपार्जन किया जाता था, उसके स्वरूप का वर्णन कमकुद्दी पत्रलेखों में किया गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि 'काव्यादर्श' का प्रणेता दण्डिन राजसिंह (नरसिंहवर्मन द्वितीय) की राजसभा में कुछ काल तक रह चुका था। इसी प्रकार कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि भास के नाटकों का अभिनवाय संक्षिप्तीकरण राजसिंह की ही राजसभा में किया गया था। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री की धारणा है कि पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन द्वितीय ने चीन के सम्राट की राजसभा में अपना राजदूत भेजा था।[2]

नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल—नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह की मृत्यु के अनन्तर परमेश्वरवर्मन द्वितीय नृपति हुआ, किन्तु उसका शासन-काल अत्यन्त संक्षिप्त था। वेलूरपालयम पत्रों में उसके लिए लिखा है कि उसने मनुस्मृति के आदेशानुसार शासन किया। परमेश्वरवर्मन द्वितीय के उपरान्त नन्दिवर्मन द्वितीय पल्लवमल्ल को राजसिंहासन प्राप्त हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि नन्दिवर्मन राज्यापहर्ता था, किन्तु यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। परमेश्वरवर्मन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य में उत्तराधिकार के प्रश्न पर गृहकलह उत्पन्न हो गये। इन कलहों से ऊब कर जनता के प्रतिनिधियों ने नन्दिवर्मन को, जिससे देश की प्रजा बहुत स्नेह करती थी, राजा चुन लिया। नन्दिवर्मन का जन्म सिंहविष्णु के भाई भीमवर्मन के कुल में हुआ था।

नन्दिवर्मन द्वितीय के समय में चालुक्य-पल्लव-संघर्ष पुनरुज्जीवित हो उठा। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल के समय से चालुक्यों और पल्लवों का संघर्ष शान्त पड़ गया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वरवर्मन की मृत्यु के बाद गृहकलह उत्पन्न हो जाने पर चालुक्यों ने पुनः पल्लव राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। ७४० ई० में चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने नन्दिवर्मन द्वितीय के ऊपर आक्रमण करके उसे भयसंत्रस्त कर दिया। कहा जाता है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने काञ्ची को कुछ दिनों तक अपने अधिकार में रखा। परन्तु शीघ्र ही नन्दिवर्मन ने अपनी परिस्थिति सँभाल ली और शत्रु को मार भगाया। पल्लव-संघर्ष के अलावा नन्दिवर्मन ने अन्य रण अभियान किये। पाण्ड्य नरेश राजसिंह-प्रथम के ऊपर आक्रमण किया, परन्तु नन्दिपुर नामक स्थान में जहाँ पर वह ठहरा हुआ था, वह शत्रु से घिर गया। नन्दिवर्मन के वीर सेनाध्यक्ष उदयचन्द्र ने उसकी रक्षा की। नन्दिवर्मन द्वितीय के उदयेन्दिरम पत्रलेखों में उदयचन्द्र की सैन्य सफलताओं का उल्लेख किया गया है। इन पत्रलेखों से ज्ञात होता है कि उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों से उनके राज्य का कुछ भाग छीन लिया था। पल्लव-पाण्ड्य-संघर्ष के सम्बन्ध में आधुनिक तंजोर के निकट अनेक युद्ध हुए। नन्दिवर्मन ने गंगराज श्रीपुरुष से भी युद्ध किया। काञ्ची पर राष्ट्रकूटों ने भी आक्रमण किया परन्तु इस

१ *History of the Pallavas of Kanchi*, p 110
२ *Foreign Notices of South India*, pp 116-117

आक्रमण के पश्चात् दोनों शक्तियाँ में सुलह हो गई। राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुग ने अपनी कन्या रेवा का विवाह नन्दिवमन के साथ कर दिया।

नन्दिवमन द्वितीय का शासन-काल सैन्य-कार्यों, घेराबन्दी, आक्रमणों तथा प्रत्याक्रमणों से परिपूर्ण था[१], फिर भी उसने निर्माण-कार्यों के प्रति अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की। वह वैष्णव था और उसने अपनी राजधानी कांची में मुक्तेश्वर मन्दिर बनवाया। काञ्ची का वैकुण्ठ-पेरुमल मन्दिर भी उसी के द्वारा निर्मित कराया जाता है। नन्दिवमन द्वितीय को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसके शासन-काल में ही प्रसिद्ध वैष्णव सन्त तथा विद्वान तिरुमङ्गई आलवार हुए थे, जिनकी रचनायें 'नालायिर प्रबन्धम' में संगृहीत हैं। नन्दिवमन स्वयं भी महान् विद्वान् था। उसके तण्डोतम पत्रलेखों में उसकी कलानुरागिता तथा काव्यकला-निपुणता का उल्लेख किया गया है। काव्यशक्ति में उसकी तुलना आदिकवि वाल्मीकि से की गई है। नन्दिवर्मन द्वितीय ने पैंसठ वर्षों तक शासन किया।

दन्तिवमन और उसके उत्तराधिकारी—नन्दिवमन द्वितीय की राष्ट्रकूटवंशीय पत्नी रेवा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम दन्तिवमन था। दन्तिवर्मन को नन्दिवमन द्वितीय के उपरान्त पल्लव राज्य का स्वामित्व प्राप्त हुआ। दन्तिदुग के समय में पल्लवों और राष्ट्रकूटों के बीच विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे, फिर भी ध्रुव, निरुपम तथा गोविन्द-तृतीय नामक राष्ट्रकूट राजाओं ने काञ्ची पर आक्रमण किया। वरगुण पाण्ड्य ने कुछ समय तक कावेरी प्रदेश पर अधिकार रक्खा। किन्तु नन्दिवमन तृतीय (८२६–८४९ ई०) के समय में पल्लवों ने पाण्ड्यों पर विजय प्राप्त की। तेल्लरु नामक स्थान में नन्दिवमन-तृतीय ने श्रीमार पाण्ड्य को पराजित किया, अतएव उसका एक उपनाम 'तेल्लरेन्द्र नन्दिवमन' पड़ा। कहा जाता है कि नन्दिवमन दक्षिण में काफी दूर तक पहुँच गया था। नान्दिक कलम्बकम्' नामक समकालीन तामिल ग्रन्थों में उसकी विजयों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में उसके प्रमुख नगरों, काञ्ची, महाबलिपुरम और मयलाई का वर्णन किया गया है। नन्दिवर्मन तृतीय ने राष्ट्रकूट वंश की एक राजकुमारी के साथ विवाह किया था। वह शैवमतानुयायी था और उसने तामिल साहित्य को राज-संरक्षण प्रदान किया। 'भारत वेन्वा' नामक तामिल पुस्तक का प्रणेता पेरुन्देवनर नन्दिवर्मन तृतीय का समकालीन था। नन्दिवमन-तृतीय का पुत्र या उत्तराधारी नृपतुंगवमन था, जिसे ८४९ ई० में राजसिंहासन प्राप्त हुआ। । नृपतुंगवमन ने भी पाण्ड्य-नरेश श्रीमार को पराजित किया। उसके बाहुर पत्रलेखों से विदित होता है कि उसके मन्त्री ने वेदशास्त्रों के अध्ययनार्थ स्थापित एक संस्था को तीन ग्राम दान में दिये थे। अपराजितवमन वंश का अन्तिम शासक था। उसने पाण्ड्य राजा वरगुण द्वितीय को हराया। पाण्ड्यों से लड़ने में अपराजितवमन पल्लव को गंग-नरेश पृथ्वीपति प्रथम से सहायता प्राप्त हुई। नवी शताब्दी के अन्तिम दिनों में चोल नरेश आदित्य प्रथम ने अपराजितवमन को पूरी तरह से परास्त कर दिया। इस प्रकार से पल्लव वंश की स्वतन्त्र राजसत्ता का अन्त हो गया। निःसन्देह कुछ छोटे मोटे पल्लव राजा जैसा कि उनके अभिलेखों से सूचित है

१ The reign of Nandivarman II appears to have been almost literally crowded with military engagements, sieges, invasions and counter-invasions —*History of the Pallavas of Kanchi*, p 123

जहाँ-तहाँ बाद तक राज करते रहे, परन्तु पल्लव वंश सूची मे उनका स्थान स्पष्ट नहीं है।

पल्लवों की शासन पद्धति—पल्लवो के अनेक ताम्रपत्रो मे उनकी शासन-पद्धति पर प्रचुर प्रकाश पडता है। हिरहदगल्ली ताम्रपत्र से यह स्पष्ट सूचित होता है कि तीसरी शताब्दी के मध्य मे ही पल्लव शासकों ने एक सुव्यवस्थित शासन प्रणाली को जन्म दिया था, जिसका प्रधान राजा स्वयं था। इस शासन प्रणाली के प्रमुख स्तम्भ थे, प्रान्तीय गवर्नर तथा विभागीय अमात्यगण। कुछ मन्त्रियो को सार्वजनिक उद्यानों, स्नानागारो, तथा अरण्यो से सम्बन्धित विभाग का काम सौंपा जाता था। श्रीयुत् गोपालन की सम्मति मे पल्लवो की शासन व्यवस्था कुछ बातो मे हम मौर्यों और कुछ विषयो में गुप्तो की शासन प्रणाली का स्मरण दिलाती है।[1] श्री कृष्ण स्वामी आयंगर का भी यही मत है कि प्रारम्भिक पल्लव राजाओ की शासन-व्यवस्था मौर्यों की शासन प्रणाली से काफी मिलती-जुलती है।

प्रारम्भिक पल्लव राजाओ के समय मे भी उनका साम्राज्य छोटे-बडे भागो मे विभाजित था, जिनका शासन करने के लिए राज्य की ओर से कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। सम्पूर्ण साम्राज्य को राष्ट्रो मे विभक्त किया गया था। 'राष्ट्र' के प्रधान अधिकारी को विषयिक कहा जाता था। कोष्ठक (कोट्टम) तथा ग्राम राज्य के छोटे विभाग थे जिनके शासको को क्रमश 'देशातिक' और 'वपित्र' कहा जाता था। सम्राट् शासन-सम्बन्धी प्रश्नो पर मन्त्रियो के एक दल (रहयादिकद) से परामर्श लिया करता था। सम्राट का निजी मन्त्री उसके आदेशो की घोषणा किया करता था। प्राचीन पल्लव पत्रलेखो मे इस बात की सूचना मिलती है कि कर एकत्र करने के लिए विशेष कर्मचारियो को नियुक्त किया जाता था। इन कर्मचारियों को 'मण्डपी' तथा जहाँ कर जमा किया जाता था, उस स्थान को 'मण्डप' कहते थे। इस युग मे स्नानयोग्य जलाशयो की देखरेख के लिये भी अफसरो की नियुक्ति की जाती थी, जिनका यह प्रमुख कर्त्तव्य था कि वह स्नान करने वालो की सुविधाओ तथा सुरक्षा का ध्यान रखें। ये अफसर 'तीर्थिक' कहे जाते थे। वन विभाग भी राज्य के विभिन्न विभागो मे से एक था और इस विभाग के अध्यक्ष को 'गुमिक' कहते थे। 'नियक' नामक एक अन्य अधिकारी होता था जिसका स्तर सेनापति के बाद ही होता था। इन प्रमाणो के आधार पर गोपालन महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पल्लवो की शासन प्रणाली उत्तरी भारत की शासन व्यवस्था मे मिलती जुलती है, दक्षिणी भारत की किसी शासन व्यवस्था से नहीं, जिसे कि हम जानते हैं।[2]

---

१ "From the earliest of these (copper plates) namely the Hira hadgalli copper plates issued from the capital Kanchipuram we learn that already in the middle of the third century there prevailed a system of administration with the king at the top and the provincial governors and several departmental ministers in charge of parks, public baths, forests, reminding us in several details of the Mauryan and in some respects the Gupta administration"—*History of the Pallavas of Kanchi* p 146

२ *Evolution of Hindu Administrative Institutions in South India* (Lectures III and IV)

ग्राम शासन—जैसा कि हम आगे देखेंगे, चोलों की शासन-प्रणाली में, स्वातम निर्भर ग्राम सभायें प्रारम्भ से ही विद्यमान थीं, और इन्हें चोल राजतन्त्र में प्रमुख स्थान प्राप्त था, किन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि प्रारम्भिक पल्लव युग में सस्थायें थीं, अथवा नहीं। परन्तु पाश्चात्यकालीन पल्लव राजाओं के अभिलेख यह सूचित करते हैं कि ग्राम-सभाओं का अस्तित्व उनके समय में विद्यमान था, जो गाँवों के आर्थिक, न्याय-सम्बन्धी, तथा सामान्य शासन की देखरेख करती थीं। "ग्राम सभा उद्यान, मन्दिर, तालाब आदि स्थानों के प्रबन्ध अपनी उपसमितियों द्वारा करती थी। इसके अतिरिक्त सभा के कुछ कार्य न्याय तथा व्यवहार (कानून) सम्बन्धी भी थे और प्राय सार्वजनिक दानों का प्रबन्ध भी उसी के जिम्मे था। सिंचाई और भूमि-माप की व्यवस्था सुन्दर थी। ग्राम की सीमायें स्पष्टत निर्दिष्ट कर दी जाती थी और जुते खेतों और परतियों का विवरण माप के लिए पूरा पूरा रक्खा जाता था।'

पल्लव-युग में साहित्य—दक्षिण में पल्लव शासन का एक महत्वपूर्ण लाभ यह था कि इसने साहित्य विशेषतया संस्कृति की उन्नति को सम्भव बनाया। पल्लवों के समय में ही आलवार तथा आदियार आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिनके कारण लोगों के धार्मिक दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन समुपस्थित हुआ। पल्लव-नरेशों में से अधिकांश ने कवियों और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान किया, यह हम पीछे देख चुके हैं कि पल्लवों की राजधानी काञ्ची अत्यन्त प्राचीन काल से ही संस्कृत विद्या के केन्द्र रूप में विख्यात रही है। पतञ्जलि महाभाष्य से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उनके समय में भी काञ्ची की ख्याति काफी दूर तक फैली हुई थी। संगम युग में, जिसका काल ईसा की प्रारम्भिक प्रथम तीन शताब्दियाँ निर्धारित किया गया है, अरवण अदिगल काञ्ची में बौद्ध दर्शन की शिक्षा दिया करते थे। प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक दिङ्नाग को भी अपने जीवन के कुछ महत्वपूर्ण वर्ष कांची में व्यतीत करने पड़े थे। मयूरशमन को अपनी वैदिक शिक्षा की समाप्ति के लिए कांची जाना पड़ा था, इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। छठी शताब्दी के अन्तिम दिनों में यह सुनने पर कि संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि भारवि गंगराज दुर्विनीत के साथ रह रहे हैं, सिंहविष्णु ने उनको अपनी राजसभा से आमन्त्रित किया। सम्भवत भारवि ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' की रचना इसी समय की थी। माहुर के अभिलेख से ज्ञात होता है कि किसी वैदिक विद्यालय की सहायता के लिए राज्य की ओर से तीन ग्राम प्राप्त होते थे।

सिंहविष्णु के सुविख्यात पुत्र महेन्द्रवमन प्रथम के रचना-कौशल का कुछ उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु उसके ग्रन्थ, मत्तविलासप्रहसन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रहसन की प्रधान रोचकता यह है कि वह तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का उल्लेख करता है। सम्पूर्ण नाटक हास्य विनोद से भरा हुआ है, जैसा कि प्रहसन का होना स्वभावत अनिवार्य है। नाटक का रचयिता स्वय शैव था। उसने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो तथा शून्यवाद दर्शन पर सुविनोदपूर्ण आक्रमण किया है। उसकी शैली सरल एव ललित है। कवि ने अनेक स्थलों पर अपनी कवित्व शक्ति का चमत्कार दिखाया है। नाटक का विषय बहुत साधारण है, किन्तु उसका रूप बड़ा बढ़िया है। इस असंगति से प्रहसन का प्रभाव और बढ़ जाता है, उसे हम दोष नहीं मान सकते। इसके अतिरिक्त, इस ग्रन्थ के

रचयिता ने भी हर्ष की भाँति विविध प्रकार के छंदों के प्रयोग में कौशल प्रदर्शित किया है।[१]

महेन्द्रवर्मन प्रथम के उत्तराधिकारियों में से किसी एक की राज्यसभा में दण्डिन् रहा करते थे। "कुछ विद्वानों का मत है कि त्रिवेन्द्रम से अभी कुछ ही समय पूर्व जो नाटक भास के नाम से प्रकाशित हुए हैं, वे वस्तुतः भास और शूद्रक के प्राचीनतम नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं जो इसी काल पल्लव राज्यसभा में अभिनयार्थ प्रस्तुत किये गये थे।"[२]

कला—तामिल देश में पाषाण वास्तु-कला का प्रारम्भ पल्लवों के समय में ही हुआ। पल्लव वास्तु-कला के विकास की रूपरेखा सुस्पष्ट है। सबसे पहले त्रिचनापल्ली में दरीमन्दिर बनवाये गये। इनके बाद महाबलिपुरम में रथ-मन्दिरों का निर्माण कराया गया। फिर महाबलिपुरम् में "शोरमन्दिर" जैसे विशाल मन्दिर बनवाये गये। पल्लव स्थापत्य की चार विभिन्न शैलियों के नाम पल्लव राजाओं के नाम पर रक्खे गये थे—(१) महेन्द्रवर्मन प्रथम शैली, (२) महामल्ल शैली, (३) राजसिंह और नन्दिवर्मन द्वितीय शैली और (४) अपराजित शैली। इस बात का प्रमाण मिलता है कि पहले कलाकार वास्तु कला में काष्ठ का प्रयोग करते थे, किन्तु बाद में वे पत्थर का प्रयोग भी निपुणता से करने लगे। चट्टानों को काटकर मन्दिर बनाने की कला दक्षिण में महेन्द्रवर्मन प्रथम के समय में प्रारम्भ हुई। त्रिचनापल्ली और महामल्लपुरम के मन्दिर दरी मन्दिर हैं। पत्थर और चूने से ऊँचे-ऊँचे शिखरों और मण्डपों वाले मन्दिर भी बनवाये गये, जिनमें कैलाशनाथ मन्दिर अधिक उल्लेखनीय है। इन मन्दिरों की दीवालों को विशिष्ट तक्षण चित्रों से समलंकृत किया गया था। सित्तनवासल में चित्रकारी के भी उदाहरण मिलते हैं।

सुदूर पल्लवों के काल में उत्तर भारत की कला और संस्कृति के अनेक तत्त्व दक्षिण में पहुँचे। उनके अधीन सुदूर दक्षिण में सांस्कृतिक विकास की एक परम्परा चल पड़ी, जिसका पूर्ण विकास चोल सम्राटों के समय में हुआ।

चोल राजकुल

सुदूर दक्षिण के प्राचीन इतिहास में वहाँ की तीन परम्परागत राजनीतिक शक्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। ये तीन शक्तियाँ थी—चोल, चेर और पाण्ड्य। तामिल देश अथवा सुदूर दक्षिण के इन राज्यों का उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र किया गया है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के लगभग कात्यायन ने चोलों का उल्लेख किया है। अशोक के द्वितीय शिलालेख में पाण्ड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के साथ चोलों के स्वतन्त्र राज्य का उल्लेख मिलता है। इन राज्यों के साथ सम्राट् अशोक का मैत्री सम्बन्ध था। मौर्य साम्राज्य के पश्चात् ईसा की प्रारम्भिक दूसरी-तीसरी शताब्दियों में तामिल राज्यों की स्थिति का विवरण हमें संगम युग के तामिल साहित्य तथा रोमन लेखकों, जिनमें प्लिनी और 'पेरिप्लस' के अज्ञात लेखक अधिक उल्लेखनीय है, द्वारा प्राप्त होता है। संगम युग के साहित्य में कविता की लगभग तीस हजार पंक्तियाँ तथा "पत्तुपात्तु" नामक काव्य

---

१ कीथ, *The Samskrit Drama*, p 185
स्वर्गीय गौरीशंकर चटर्जी द्वारा उद्धृत—हर्षवर्द्धन, पृ० ४०३

२ *History of the Pallavas of Kanchi*, p 159

संग्रह हैं। संगम साहित्य के चोल वंश के कुछ प्राचीन राजाओं का विवरण तो प्राप्त होता है, किन्तु इस विवरण के आधार पर चोल वंश का क्रमबद्ध इतिहास निर्मित नहीं किया जा सकता। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में तामिल देश की सांस्कृतिक अवस्था जानने के लिए संगम युग का साहित्य बहुत उपयोगी है।

संगम युग के तामिल साहित्य में चोल वंश के जिन राजाओं का उल्लेख मिलता है, उनमें करिकाल ऐतिहासिक व्यक्ति जान पड़ता है। करिकाल इस युग में चोल वंश का एक शक्तिशाली और सुप्रसिद्ध शासक था। करिकाल एक महान् विजेता था। उसने अपनी सैन्य विजयों द्वारा सुदूर दक्षिण के अन्य राज्यों पर चोलों की धाक जमा दी। करिकाल ने चोल राज्य की सीमा का विस्तार किया, फिर भी, जैसा कि प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है, उसकी स्थायी विजयों का प्रसार कावेरी से आगे की भूमि तक नहीं था।[१] 'कावेरीपट्टनम्' तथा पाण्डिचेरी के बन्दरगाह करिकाल के राज्य में सम्मिलित थे। करिकाल की राजनीतिक सफलताओं का जितना अधिक महत्व है उतना ही महत्व उसकी शान्तिकालीन विजयों का है। उसने जंगलों को साफ कराया और उनमें लोगों को बसाया। सिंचाई के लिये जलाशय खुदवाकर उसने अपने राज्य की आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने का प्रयत्न किया। करिकाल वैदिक धर्म का अनुयायी था और उसने यज्ञों का अनुष्ठान किया था। पेरुनरकिल्ली भी चोल वंश का एक शक्तिशाली शासक था जिसने राजसूय यज्ञ किया था। तामिल राजाओं में केवल पेरुनरकिल्ली को ही राजसूय यज्ञ करने का गौरव प्राप्त था। कोच्चनगणन नामक चोल नृपति ने भी करिकाल की भाँति पर्याप्त ख्याति अर्जित की। संगम-युग के चोल राजाओं से कलभ्रों ने राजनीतिक शक्ति छीन ली। पल्लवों के उत्कर्ष से भी चोल शक्ति को काफी धक्का पहुँचा फिर भी चोलों का पूर्ण विनाश नहीं किया जा सका। साहित्य ग्रन्थों तथा अभिलेखों में यदा-कदा उनका उल्लेख प्राप्त हो जाता है। संगम युग के बाद से विजयालय के पूर्व तक की छः शताब्दियों में चोलों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, यद्यपि इतना सत्य है कि उनका प्रभाव अत्यन्त परिमित था। चोल राजाओं के परवर्ती इतिहास का अध्ययन हम आगे की पंक्तियों में करेंगे, यहाँ संगम-युग के तामिल देश की सांस्कृतिक अवस्था के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

संगम युग में तामिल देश का समाज और वहाँ की संस्कृति—संगम-युग की तामिल देशीय संस्कृति आर्य तथा द्रविड़ संस्कृतियों के तत्वों से मिश्रित होकर बनी थी।[२] तामिल देश की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें उत्तरापथ की सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं से काफी मिलती जुलती थीं। तामिल नरेश अपनी राजधानी में राजभवनों पर ड्योढ़ीदारी कराने के लिये यवन प्रहरियों को नियुक्त किया करते थे। समाज का आर्थिक ढाँचा कृषिकर्म पर अवलम्बित था, किन्तु उद्योग धंधों तथा व्यापार की स्थिति बहुत ही उत्तम थी। नौकाओं द्वारा जलमार्ग से व्यापार-सामग्रियाँ भेजी जाती थीं और स्थल मार्गों में बोझ ढोने का कार्य पशुओं से लिया जाता था। अति प्राचीन काल से ही दक्षिण के महीन वस्त्र

---

१ *The Colas* (Part I), pp 39-44

२ इस सम्बन्ध में हम प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का मत गुप्तकालीन भारत की सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन करते हुए उद्धृत कर चुके हैं। उसे यहाँ फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

तथा मोतियों के प्रति उत्तर के लोग आकृष्ट थे। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने तामिल देश के मोतियों और सूती वस्त्र का उल्लेख किया है। तामिल देश के निवासी व्यापार-कुशल थे और वे पश्चिमी देशों तथा रोमन साम्राज्य से व्यापार किया करते थे। रोम के व्यापारी प्रायः तामिल देश के बन्दरगाहों में आया करते थे और कुछ प्रमुख केन्द्रों में उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। म्युजिरिस (क्रन्गनोर) में पश्चिमी समुद्र तट पर रोमन व्यापारियों ने अपने सम्राट आगस्टस का एक मन्दिर बनवाया था। दक्षिण में रोमन साम्राज्य की सुवर्ण तथा रजत मुद्रायें प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुई हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि व्यापार से तामिल लोगों को अधिक लाभ होता था। संगम युग तक तामिल देश का विदेशी व्यापार अत्यन्त समृद्ध रहा किन्तु बाद में इसका ह्रास होने लगा। 'पेरिप्लस' में दक्षिण भारत के अनेक बन्दरगाहों तथा उनकी प्रसिद्ध व्यापार सामग्रियों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। भूगोलवेत्ता तालमी (लगभग १४० ई०) को दक्षिण भारत के अनेक आन्तरिक नगरों का ज्ञान था और उसने उनके बाजारों तथा व्यापार-सामग्रियों का काफी विस्तृत वर्णन किया है। पूर्वीय देशों के साथ भी तामिल लोगों का व्यापारिक सम्बन्ध था और वे जहाजों में अपनी व्यापार-सामग्रियाँ—गरम मसाले, मिर्च, अदरक, मोती, रत्न, सुगन्धित द्रव्य आदि—लादकर सुदूर पूर्व तथा मलय द्वीपों की यात्रा किया करते थे।

धनाढ्य व्यक्तियों के घर बड़े कलापूर्ण होते थे। ये चूने तथा ईंटों से बनाये जाते थे और भीतरी दीवालों पर देवताओं तथा पशुओं के चित्र टँगे रहते थे। घर को चारों ओर से एक प्रमोद-उद्यान घेरे रहा करता था। जन-साधारण का जीवन भी प्रमोदमय था। वे मल्ल युद्धों के बड़े शौकीन होते थे। झोपड़ों में रहते थे और मछली पकड़ने में बड़े कुशल होते थे। लोगों के धार्मिक जीवन पर आर्यों की धार्मिक विचार धारा का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। संगम युग के तामिल कवि वैदिक तथा संस्कृत महाकाव्यों की दन्तकथाओं से पूर्णतया परिचित थे और उन्होंने धर्मशास्त्रों की आचार-सम्बन्धी मान्यताओं का यथास्थान निरूपण किया है। 'मणिमेकलाई' तथा 'सिलप्पदिकारम' नामक तामिल महाकाव्यों में, जिनका प्रणयन सम्भवतः संगम-युग के आस पास किया गया था, आर्यों की पौराणिक कथाओं का उल्लेख प्रचुरता से किया गया है। आर्यों के कर्मकाण्डों तथा धार्मिक अनुष्ठानों का प्रचार इस समय तक दक्षिण में भली प्रकार हो चुका था। संगम युग के चोल शासकों द्वारा वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का परिचय प्राप्त होता है। 'मणिमेकलाई' में ब्राह्मणों की नित्य अग्नि पूजा का उल्लेख किया गया है। श्रोत्रिय-परिवारों को समाज बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। आर्यों की वैदिक विवाह रीति भी तामिल समाज द्वारा अंगीकृत की जा रही थी। शिव, बलराम और कृष्ण तथा मुरुगण तामिलों के प्रसिद्ध उपास्य देव थे। वैदिक देवता इन्द्र की पूजा भी समय-समय पर की जाती थी। भजन-पूजन विधि में संगीत को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। 'मणिमेकलाई' में एक सरस्वती मन्दिर का वर्णन किया गया है। पुनर्जन्म तथा कर्मवाद के सिद्धान्तों का तामिल समाज में पूरी तरह से प्रचार हो चुका था। तामिल देश के निवासियों की विचारधारा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव भी पर्याप्त रूप से पड़ा था।[1]

---

[1] *The Cholas* चोल-इतिहास के लिए हम प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय भागों के ऋणी हैं। इस ग्रन्थ से पूरा पूरा लाभ उठाया है।

संगम-युग से विजयालय तक—यह कहा जा चुका है कि कलभ्र लोगों ने चोलों की राजनीतिक शक्ति को काफी क्षति पहुँचाई। उत्तर भारत में पल्लवों ने तामिल देश में अपना राज्य स्थापित कर लिया, जिससे चोल राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्राप्त न हो सका। 'उरैयुर' नामक भाग के निकटवर्ती चोलों की स्थिति सामन्तों के समतुल्य थी, किन्तु कुडप्पा तथा करनूल जिला के चोलों की शक्ति कुछ अधिक थी। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसाग ने रेनान्डु चोलों की राजनीतिक शक्ति का उल्लेख किया है। उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में चोल देश के निवासियों का वर्णन भी किया है। वह लिखता है, "चु लि-य (चूल्य अथवा चोल) देश प्राय २४०० या २५०० ली में फैला हुआ है और उसकी राजधानी का घेरा लगभग १० ली है। देश अधिकतर उजाड़ है और उसमें दलदलों और वनों का प्रभूत विस्तार है। देश की जनसंख्या बहुत थोड़ी है और सैनिक तथा डाकू खुले तौर पर देश को लूटते हैं। जलवायु उष्ण है प्रजा का स्वभाव चंचल और क्रूर है। लोग स्वाभाविक रूप से निर्दय हैं और उनका विश्वास सद्धर्म के विरुद्ध है। संघाराम उजाड़ और बन्द हैं और इसी प्रकार उनमें रहने वाले भिक्षु भी अपावन हैं। वहाँ दर्जनों देवमन्दिर तथा अनेक निर्ग्रन्थ भिक्षु हैं।" ऐसा प्रतीत होता है कि ह्वेनसाग का उपर्युक्त विवरण सम्पूर्ण चोल देश के लिए ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहाँ की भूमि सर्वथा अनुर्वरा तथा जनसंख्या बहुत थोड़ी नहीं थी। कनिंघम साहब की धारणा है कि चीनी यात्री ने जिस स्थान का वर्णन किया है वह आधुनिक करनूल जिला है। जिस समय ह्वेनसाग ने दक्षिण का पर्यटन किया था, वहाँ पर उस समय पल्लवों की राजसत्ता जमी हुई थी। सम्भवतः इस समय चोलवंशीय राजकुमार पल्लवों के अधीनस्थ सामन्त थे। चोलों का राजनीतिक सम्बन्ध दक्षिणापथ सुदूर दक्षिण की प्रमुख राजनीतिक शक्तियों, चालुक्यों तथा पल्लवों के साथ बहुत गहरा था। चालुक्यों तथा पल्लवों के पारस्परिक संघर्षों से लाभ उठाकर चोलों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली।

विजयालय तथा आदित्य—नवीं शताब्दी के मध्य विजयालय ने तंजोर पर अपना अधिकार जमाकर चोलों की राजनीतिक शक्ति को प्रतिष्ठित किया। विजयालय पल्लवों का सामन्त था। उसने पाण्ड्यों के सामन्त मुत्तरयर लोगों से तंजोर छीन लिया, जिसके फलस्वरूप पल्लवों और पाण्ड्यों में संघर्ष छिड़ गया। श्रीपुरम्बियम के युद्ध में विजयालय के पुत्र आदित्य ने अपने स्वामी पल्लवराज अपराजितवर्मन का साथ दिया। अपराजितवर्मन को युद्ध में सफलता प्राप्त हुई जिसके उपलक्ष्य में उसने आदित्य को तंजोर का निकटवर्ती प्रदेश दिया। इधर पल्लवों की शक्ति भी ह्रासोन्मुखी थी, अतएव ८८३ ई० के लगभग आदित्य ने अपराजितवर्मन को पराजित कर दिया और कांची को अपने अधिकार में कर लिया। सम्पूर्ण पल्लव राज्य को अपने अधिकार में कर लेने पर आदित्य प्रथम चोल को राज्य-सीमा उत्तर में राष्ट्रकूट राज्य-सीमा का स्पर्श करने लगी। गंग पृथ्वीपति द्वितीय ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। आदित्य ने विवाह-सम्बन्धों द्वारा भी अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसने राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण द्वितीय की राजकन्या से अपना विवाह किया। उसके द्वारा उसे एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम कन्नरदेव था। स्थाणु रवि ने अपनी पुत्री का विवाह आदित्य के पुत्र परान्तक के साथ कर दिया। चेद नरेश स्थाणुरवि की सहायता से आदित्य ने पाण्ड्यों से कोयम्बटूर तथा सलेम के प्रदेश छीन लिये। इस प्रकार आदित्य चोल कलहस्ति से लेकर पुदुकोट्टै तथा कोयम्बटूर तक के प्रदेश का स्वामी हो

गया। विजयालय और आदित्य दोनों ही शैव थे। आदित्य प्रथम ने शिव के कई मन्दिर बनवाये थे। उसकी मृत्यु कालहस्ति के निकट तोण्डैमानाद में हुई।

परान्तक—आदित्य प्रथम के पुत्र परान्तक (९०७-९५३ ई०) ने अपने शासन काल के प्रारम्भ से ही पाण्ड्यों से निबटने की ओर ध्यान दिया। उसने मदुरा पर आक्रमण करके मदुरैकोण्ड की उपाधि धारण की। ९१५ ई० के लगभग वेल्लूर के युद्ध में परान्तक ने पाण्ड्यों तथा सिंहलों को पराजित कर दिया। अपने तृतीय रण-अभियान में ९२० ई० के लगभग परान्तक ने पाण्ड्य-नरेश राजसिंह द्वितीय को उसके राज्य से निकाल बाहर कर दिया और तीन वर्ष बाद उसने 'मदुरयम् इलमुमकोण्ड' (मदुरा तथा लंका का विजेता) की उपाधि धारण की। परान्तक ने पल्लव राजसत्ता के अवशेष को भी समूल नष्ट कर दिया और उत्तर में नेल्लूर तक के भूभाग को अपने अधिकार में किया। पश्चिमी गंग राजा पृथ्वीपति द्वितीय परान्तक का अधीनस्थ सामन्त था। इस प्रकार परान्तक का राज्य उत्तरी पेन्नर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैल गया।

परान्तक प्रथम ने चालीस वर्षों तक शासन किया और अपने इस सुदीर्घ शासन-काल में उसे प्रायः सफलता ही प्राप्त हुई, पराभव नहीं। किन्तु उसके जीवन के अन्तिम दिन सुखपूर्वक व्यतीत न हो सके। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण-तृतीय ने पश्चिमी गंग बुतुग द्वितीय की सहायता से परान्तक प्रथम के राज्य पर नाडमण्डलम के निकट आक्रमण कर दिया। तक्कोलम (उत्तरी अरकाट जिला) के युद्ध में परान्तक प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र तथा चोलवंश का युवराज राजादित्य वीरगति को प्राप्त हुआ। तक्कोलम (९४९ ई०) के पराभव से चोलों की उन्नीयमान साम्राज्य शक्ति को प्रबल आघात पहुँचा। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूट-आक्रमण ने काञ्ची तथा तंजोर पर अधिकार कर लिया और 'तञ्जैयुन्कोण्ड' का दृप्त विरुद धारण कर लिया। राजादित्य प्रथम की मृत्यु से उसके गुरु चतुरन पण्डित को इतनी मर्मान्तक चोट लगी कि अपने प्रिय शिष्य के मरण से उन्होंने जीवन को व्यर्थ समझकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

तक्कोलम के युद्ध ने चोल राजसत्ता को समाप्त कर दिया परन्तु परान्तक-प्रथम के उत्तम शासन प्रबन्ध का गौरव अक्षुण्ण रहा। परान्तक ने वल्लाल के युद्ध के बाद पच्चीस वर्ष तक बिल्कुल शान्तिपूर्वक राज्य किया और एक सुव्यवस्थित शासन-पद्धति को जन्म दिया। उसकी शासन-व्यवस्था में ग्रामों तथा शासन की बड़ी इकाइयों में लोक-संस्थाओं को स्वशासन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। परान्तक प्रथम के उत्तरमेरु अभिलेखों में उसकी शासन-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। उसके शासन-काल में साहित्य की उन्नति हुई और कावेरी के तट पर वेंकट माधव ने ऋग्वेद पर एक भाष्य लिखा। ऋग्वेद पर वेंकटमाधव प्रणीत भाष्य ही सम्भवतः सबसे प्राचीन भाष्य है। परान्तक प्रथम शिव का परम भक्त था। चिदाम्बरम के शिव-मन्दिर पर उसने सोने की छत डलवाई थी। प्रोफसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि "वस्तुतः परान्तक का शासन-काल दक्षिण भारतीय-मन्दिर वास्तु के इतिहास में एक महान युग था और मन्दिर निर्माण का कार्य, जिसे आदित्य प्रथम ने प्रारम्भ किया था, उसके शासन-काल के सर्वोत्तम भाग में सशक्त रूप में जारी रहा।"[1]

1 'In fact Parantaka's reign was a great epoch in the history of south India temple architecture and the work of temple-building begun by Aditya was vigorously continued during the best part of his reign' —*The Colas*, Vol I, p 164

परान्तक के पश्चात और राजराज प्रथम के पूर्व—९५३ ई० में परान्तक की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद चोलों की शक्ति नाममात्र की ही रही। ९८५ ई० में राजराज प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ जिसने चोलों की राजनीतिक शक्ति का न केवल पुनरुज्जीवित ही किया, बल्कि उन्हें (चोलों को) उनके गौरव के उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। परन्तु ९५३ से ९८५ तक का बत्तीस वर्ष का समय चोल इतिहास का तिमिरावृत युग है। इस काल में चोल राजाओं की वंशावली कुछ अनिश्चित है और इसी प्रकार से उनका कालक्रम भी निश्चित नहीं किया जा सकता। इस संक्षिप्त काल का इतिहास जानने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में विद्वानों में विरोधी मत हैं। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि परान्तक के पश्चात उसका द्वितीय पुत्र गण्डरादित्य चोल वंश का राजा हुआ, क्योंकि जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं, राजादित्य तक्कोलम के युद्ध में मारा गया था।

गण्डरादित्य की ख्याति राजनीति में न होकर धर्म के क्षेत्र में है। उसकी रानी सम्बियन महादेवी बड़ी ही धर्मात्मा और दयालु स्वभाव की थी। गण्डरादित्य के पुत्र उत्तम चोल ने, जो स्वयं चोल राज्य का स्वामी होना चाहता था, आदित्य को मार डाला। अपने सुयोग्य पुत्र तथा युवराज की हत्या से व्यथित होकर सुन्दर चोल स्वर्ग सिधार गया। सुन्दर चोल के बाद उत्तम चोल ने ९७३ से लेकर ९८५ ई० तक शासन किया। उत्तम चोल ने सुवर्ण के सिक्के चलाये, जो चोल वंश के सबसे प्राचीन सिक्के हैं।[1] उत्तम चोल के उपरान्त राजराज को राजसिंहासन प्राप्त हुआ।

राजराज प्रथम—प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री के शब्दों में, 'राजराज प्रथम के राज्यारोहण से हम चोल वंश के इतिहास में गौरव तथा वैभव की शताब्दी में प्रवेश करते हैं। राजराज प्रथम के तीसवर्षीय शासन काल को चोल राजतन्त्र के इतिहास का निर्माणात्मक युग कहा जा सकता है।' राजराज प्रथम परान्तक द्वितीय का पुत्र था। उसकी प्रथम उल्लेखनीय सफलता यह थी कि उसने कन्दलूर में चेरों के एक जहाजी बेड़े को विनष्ट कर दिया। दक्षिण में राजराज प्रथम ने केवल चेर-नरेश भास्कर रविवर्मन को ही नहीं परास्त किया, अपितु उसने पाण्डय-नरेश तथा लंकाधिपति के विरुद्ध भी सफलता प्राप्त हुई। उसने पाण्डय राज्य में चोलों का अधिकार जमा दिया और उत्तरी लंका को भी अपने राज्य में मिला लिया। लंका में अपनी विजय स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिये राजराज प्रथम ने वहाँ भगवान् शिव का एक मन्दिर बनवाया। उत्तरी लंका का भूभाग मुम्मडि-चोल मण्डलम के नाम से चोल प्रान्त बन गया। पाण्डयों और चेरों की शक्ति को दबाये रखने के उद्देश्य से राजराज प्रथम कुर्ग तक अपनी विजयवाहिनी ले गया। सन् ९९१ से १००४ ई० के बीच में उसने गंगवाड़ी तथा मैसूर के अन्य प्रान्तों को विजित कर लिया। पश्चिमी चालुक्य-नरेश सत्याश्रय को राजराज प्रथम के द्वारा गहरी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। इस युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के बाद राजराज ने रट्टपाडी पर अधिकार कर लिया और चालुक्य देश को रौंद डाला। तुंगभद्रा नदी चोल साम्राज्य की सीमा बन गई। राजराज प्रथम ने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसने उनकी पारस्परिक कलहों का अंत करके उनके साथ मैत्री स्थापित कर ली। इस मैत्री के स्मारक में राजराज प्रथम ने अपनी कन्या कुन्दव्व का विवाह विमलादित्य (वेंगी-नरेश) के साथ कर दिया। अपने राजत्वकाल के अंतिम दिनों में राजराज

---

1 *The Colas*, Vol I, p 194

प्रथम ने लक्कादीव और मालदीव के द्वीप समूहों को विजित किया। इन द्वीप समूहों की विजय से यह स्पष्टतया प्रमाणित है कि राजराज प्रथम ने चोला का एक जहाजी बेड़ा सगठित किया था। सुमात्रा के श्रीविजय साम्राज्य के सम्राट मारविजयोत्तुंगवमन के साथ राजराज प्रथम का मैत्री सम्बन्ध था और उसने मारविजयोत्तुंगवमन को नागपट्टम में एक बौद्ध विहार बनवाने की आज्ञा दे दी।

अपनी विजयों के फलस्वरूप राजराज प्रथम सम्पूर्ण वर्तमान मद्रास प्रान्त, कुर्ग मैसूर और सिंहल के अनेक द्वीपों का स्वामी बन गया। इन सैन्य-सफलताओं को ध्यान में रखने पर राजराज प्रथम को प्राचीन भारत के अग्रणी योद्धाओं महान् विजेताओं और साम्राज्य निर्माताओं की पंक्ति में गौरवपूर्ण स्थान देना चाहिए।

राजराज प्रथम केवल वीर विजेता नहीं था अपितु एक सुयोग्य शासक भी था। उसने अपने विभिन्न शासन-सम्बन्धी कार्यों द्वारा अपने साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर दी। भूमि-कर नियत करने के उद्देश्य से भूमि की ठीक-ठीक पैमाइश तथा कर की दर निश्चित करना, एक सुदृढ़ तथा सुकेन्द्रित व्यवस्था द्वारा, जो आधुनिक शासन के सैक्रेटेरिएट से मिलती जुलती थी, देश के शासन संगठन को पूर्णता तक पहुँचा देना और उपयुक्त स्थानों पर केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि अफसरों की नियुक्ति करना, हिसाब की जाँच-पड़ताल तथा नियंत्रण की व्यवस्था को प्रोत्साहित करना, जिसके द्वारा ग्राम सभाओं तथा अन्य लोक संगठनों के आय-व्यय का निरीक्षण किया जाता था, किन्तु उनकी स्वतंत्रता या कार्यारम्भ की प्रवृत्ति पर कोई आघात नहीं होने पाता था, एक शक्तिशाली स्थायी सेना तथा जहाजी बेड़े का निर्माण, जिसने राजेन्द्र के समय में अधिक सफलता प्राप्त की, इन बातों से पता चलता है कि राजराज दक्षिण भारत के साम्राज्य निर्माताओं में सबसे महान् था।

राजराज स्वयं शिव का परम भक्त था, किन्तु प्राचीन भारत के सभी महान् शासकों की भाँति वह धर्म के मामले में सहिष्णु था। उसने अपने राज्य में वैष्णव सम्प्रदाय को फलने फूलने का अवसर प्रदान किया और यह हम पीछे पढ़ चुके हैं कि उसने श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मन को बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति दे दी थी। स्वयं राजराज ने इस बौद्ध विहार को एक गाँव दान में दिया था। वह मन्दिरों का निर्माता भी था। उसने तंजोर में अपने उपास्य देव शिव का एक सुन्दर मंदिर बनवाया। इस मंदिर का नाम उसी के नाम के आधार पर 'राजराजेश्वर' पड़ा। 'यह मंदिर अपने अंगानुपात, सादी रूपरेखा, सजीव मूर्तियों तथा असाधारण अलंकरणों की सुचारुता के लिए प्रसिद्ध है। मंदिर की भित्ति पर राजराज प्रथम की विजयों का वृत्तान्त खुदा है और यदि यह लेख प्रस्तुत न होता तो उस महान् नृपति के चरित का अधिकांश लुप्त हो जाता।'

राजेन्द्र प्रथम—राजराज प्रथम का सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र उसके पश्चात् नृपति हुआ। अपने पिता के शासन काल में उसने युवराज-पद से शासन तथा सैनिक कार्यों में उसकी सहायता की थी। कल्याणी के चालुक्य-नरेश सत्याश्रय पर चोलों को जो सफलता प्राप्त हुई थी, उसका श्रेय राजेन्द्र प्रथम को दिया जा सकता है। राजराज प्रथम ने पाण्ड्य नरेश के विरुद्ध जो युद्ध किया, उसके परिणामस्वरूप वह केवल उत्तरी लंका का ही स्वामी हो सका, किन्तु राजेन्द्र प्रथम ने १०१८ ई० में सिंहल के नरेश से उसका राजदण्ड छीन लिया और उसके देश को विजित कर लिया। उसी वर्ष राजेन्द्र प्रथम ने चेर शासक के ऊपर भी विजय प्राप्त की। उसने चेर और पाण्ड्य प्रदेशों का

एक ही समाय शासन विभाग बनाकर वहाँ पर चोल वश के एक शासक को नियुक्त कर दिया । इस प्रान्तीय शासक को 'चोल-पाण्डय' की उपाधि दी गई और मदुरा में उसकी राजधानी स्थापित की गई । राजेन्द्र प्रथम के समय मे लक्कादीव और मालदीव पर चोलो का अधिकार बना रहा । कल्याणी के जयसिंह द्वितीय को १०२१ ई० मे मुसन्नी (मस्की) के निकट राजेन्द्र प्रथम के हाथो पराजय स्वीकार करनी पडी, परन्तु उसने रायचूर दोआब को फिर से जीत लिया और तुगभद्रा नदी तक उसने अपना प्रभाव जमा लिया । उसकी विजयवाहिनी सेनाएँ बगाल तक पहुँची थी । गगा की घाटी में अपनी विजयो के फलस्वरूप राजेन्द्र प्रथम ने 'गगैकोण्ड' का विरुद धारण किया था । यह समझना भ्रामक है कि राजेन्द्र प्रथम ने यह अभियान धर्म-यात्रा के उद्देश्य से प्रेरित होकर किया था, परन्तु राजेन्द्र प्रथम गगैकोण्ड की इस विजय का उसके लिए कोई स्थायी राजनीतिक प्रभाव नही पडा । फिर भी अन्य दृष्टियो से यह रण-अभियान परिणाम शून्य नही था । श्री आर० डी० बनर्जी ने अपनी पुस्तक, ''पालाज आव बगाल'' मे अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि दक्षिण भारत के कुछ लोग पश्चिमी बगाल तथा मिथिला मे बस गये । बगाल मे सेन राजवश तथा मिथिला मे कर्णाट वश की स्थापना इन्ही दक्षिण भारतीयो ने की थी । उत्तरी भारत के कुछ शैव मतानुयायी तामिल देश मे जाकर बस गये ।

राजेन्द्र प्रथम गगैकोण्ड की महत्वाकाक्षा उसकी इन उपर्युक्त विजयो से शान्त न हो सकी । सम्पूर्ण भारतीय इतिहास मे वही ऐसा अकेला शासक था, जिसने भारत की सीमा के बाहर जलमार्गो द्वारा बगाल की खाडी में अपने जहाजी बेडे को प्रयोग किया । सन् १०२५ ई० के लगभग राजेन्द्र प्रथम ने केदारम और श्रीविजय के राज्यो के विरुद्ध अपना जहाजी बेडा तैयार किया । श्रीविजय का राज्य सुमात्रा में था और केदारम को भी कुछ विद्वान् उसी द्वीप मे बतलाते हैं, परन्तु अन्य विद्वानो की धारणा है कि यह (केदारम) मलाया प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर केलन्ना के निकट था । बृहत्तर भारत के इन राज्यो की विजय का वास्तविक उद्देश्य क्या था, यह नहीं कहा जा सकता । सग्रामविजयोत्तु गवमन नामक राजा जिसको राजेन्द्र चोल ने पराजित किया था, शैलेन्द्र नृपति मारविजयोत्तु गवमन का उत्तराधिकारी था । यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मारविजयोत्तु गवमन और राजराज प्रथम के बीच आपस मे मैत्री सम्बध था । डॉ० रमाशकर त्रिपाठी के अनुसार, ''सम्भवत यह आक्रमण केवल राजेन्द्र-प्रथम की महत्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए नही किया गया था, वरन् इसका उद्देश्य मलय प्रायद्वीप और दक्षिण भारत के बीच व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करना भी था ।'' प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री की धारणा है कि चोलो का व्यापारिक सम्बध चीन के साथ निरन्तर स्थापित था । श्रीविजय का राज्य दक्षिण भारत और चीन के व्यापारिक मार्ग के बीच मे पडता था, जिससे व्यापार म असुविधा होती थी । अतएव यह अस्वाभाविक नही कि व्यापारिक सुविधा के उद्देश्य स प्रेरित होकर राजेन्द्र चोल गगैकोण्ड ने यह आक्रमण किया था । राजेन्द्र प्रथम के इस आक्रमण का कारण कुछ भी रहा हो, इसमे सदेह नही कि इसका प्रभाव स्थायी नहीं था । इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि श्रीविजय और केदारम के राज्यो पर राजेन्द्र प्रथम ने अपना शासन प्रबध स्थापित किया था ।

राजेन्द्र प्रथम को अपने शासन-काल के अन्तिम दिनो मे आंतरिक विप्लवो का सामना करना पडा था । राजेन्द्र प्रथम के बृहत्तर भारत रण-अभियान के पश्चात् लका ने अपनी स्वतन्त्रता का बिगुल बजाया । पाण्ड्य और केरल राज्यो ने भी बगावत

कर दी, किन्तु राजेन्द्र प्रथम के पुत्र राजाधिराज प्रथम ने इस विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन कर दिया। पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के विरुद्ध भी राजाधिराज प्रथम को सफलता प्राप्त हुई। इस आक्रमण में चोल सेना ने कल्याणी को खूब लूटा-खसोटा। मसूर आदि स्थानों में भी कुछ छोटे मोटे आक्रमण किये गये। राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु १०४४ ई० में हुई।

राजेन्द्र प्रथम चोल वंश का एक शक्तिशाली सम्राट तथा योग्य पिता का योग्य पुत्र था। इसमें सन्देह नहीं कि उसे अपने पिता द्वारा उत्तराधिकार रूप में एक सुविशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ था किन्तु उसने अपने बल और पौरुष से उस राज्य की सीमाओं का और अधिक विस्तार किया। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि "राजेन्द्र प्रथम के शासन-काल के अन्तिम दिन विजयालय के वंश के चोल इतिहास का सबसे शानदार युग निर्मित करते हैं। (इस समय) साम्राज्य का विस्तार सबसे अधिक था और इसका सैनिक गौरव सबसे ऊँचा था।"[१]

राजेन्द्र प्रथम के समय में चोल साम्राज्य तत्कालीन भारतवर्ष का सबसे विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य था। उसकी सबसे प्रसिद्ध उपाधियाँ थीं कदारमगोण्ड, 'मुण्डिकोण्ड', 'गंगकोण्ड' तथा पण्डित'। उसकी प्रथम उपाधि से इस बात का द्योतन होता है कि उसने पाण्ड्य केरल तथा लंका के राजाओं से उनके राजमुकुट छीन लिये थे। उसने अपनी द्वितीय उपाधि की स्मृति चिरस्थायी बनाने के लिये गंगकोण्ड चोलपुरम' नामक नगर बसाया और यहीं अपनी राजधानी बनाई। 'पण्डित चोल' की उपाधि राजेन्द्र प्रथम के विद्यानुराग को सूचित करती है। उसने वेदों के अध्ययनार्थ एक विद्यालय स्थापित किया था।

राजाधिराज प्रथम (ल० १०४४–५२ ई०)—चोलों की वंश-परम्परा के अनुसार राजाधिराज प्रथम अपने पिता के शासन काल में युवराज बनाया गया था। अपने यौवराजत्वकाल में उसने अपनी योग्यता का पर्याप्त परिचय दिया। राजसिंहासन पर बैठते ही उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु उसने वीरता तथा धैर्यपूर्वक उन कठिनाइयों का सामना किया। सिंहल की राजमाता के साथ राजाधिराज ने अपमानजनक व्यवहार किया और उसकी नाक कटवा दी। पश्चिमी चालुक्यों के साथ संघर्ष जारी रहा और इसकी परिणति कोप्पम के भयानक युद्ध में हुई। इस युद्ध में चोल-नरेश राजाधिराज प्रथम को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े, किन्तु विजयश्री चोलों के ही हाथ रही। अपनी कई पराजयों और राज्यक्षति के बावजूद भी चालुक्यों ने चोलों के सम्मुख आत्म समर्पण नहीं किया। चोलों को चालुक्य राज्य के किसी भी भाग पर स्थायी रूप से अधिकार करने में सफलता न प्राप्त हो सकी। राजाधिराज का शासन-काल अधिकतर युद्धादि कार्यों में ही व्यतीत हुआ। उसने सिंहलराज के विरुद्ध युद्ध में सफलता प्राप्त करने पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

राजेन्द्र (देव) द्वितीय (ल० १०५२–६३ ई०)—राजेन्द्र द्वितीय राजाधिराज प्रथम का अनुज था। उसको कोप्पम के रणक्षेत्र में ही राजा घोषित किया गया। चालुक्यों के विरुद्ध लड़ते हुए राजेन्द्र द्वितीय ने अपनी वीरता तथा साहसिकता का परिचय

१ "The closing years of Rajendra's reign formed the most splendid period of the history of the Colas of the Vijayalaya line The extent of the empire was at its widest and its military and naval prestige stood at its highest ' *The Colas* p 277

लिया था। चोल अभिलेखों का वक्तव्य है कि राजेन्द्र द्वितीय कोल्हापुर (कोल्लापुरम्) तक जा पहुँचा और वहाँ उसने जयस्तम्भ स्थापित किया। इस वक्तव्य के विरुद्ध 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का रचयिता विल्हण लिखता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोल शक्ति के तात्कालीन मुख्य केन्द्र कांची पर आक्रमण किया। इन परस्पर विरोधी वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि दोनों पक्षों में वस्तुतः कोई पूर्णतः सफल न हुआ। कुछ विद्वानों का विचार है कि राजेन्द्र द्वितीय ने कुडलसंगमम् नामक स्थान पर चालुक्य-नरेश सोमेश्वर प्रथम को १०६२ ई० में पराजित किया था। राजेन्द्र द्वितीय के समय में चोल साम्राज्य की सीमायें संकुचित नहीं होने पायीं।

वीर राजेन्द्र प्रथम (सं० १०६३–७० ई०)—राजेन्द्र द्वितीय का अनुज वीर राजेन्द्र उसका उत्तराधिकारी हुआ। चालुक्यों से उसने संघर्ष जारी रखा। कहते हैं कि सोमेश्वर प्रथम की चुनौती स्वीकार करके वीर राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्य साम्राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु सोमेश्वर प्रथम कुडलसंगमम् के मैदान में युद्ध करने के लिए आया नहीं। सम्भवतः सोमेश्वर प्रथम रोगग्रस्त था, इसीलिये वह रणभूमि में उपस्थित न हो सका। अतएव कुडलसंगमम् में अपना जयस्तम्भ प्रतिष्ठापित कर और सोमेश्वर प्रथम की एक कायर मूर्ति बना उसे अपमानित कर वीर राजेन्द्र प्रथम आगे बढ़ा। इसके बाद चोल सम्राट् वेंगी तक पहुँच गया और बेजवाड़ा के निकट पश्चिमी चालुक्यों को पराजित किया। वेंगी पर अच्छी तरह से अपना अधिकार जमा लेने के बाद वीर राजेन्द्र अपनी राजधानी गंगैकोण्डचोलपुरम् लौट आया। उसने लंका में अपनी एक सेना भेजकर वहाँ के विद्रोह का दमन किया। उसने पाण्ड्य और केरल राजाओं के स्वतन्त्रता प्रयास को बिलकुल व्यर्थ कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय के साथ भी अधिराजेन्द्र का युद्ध हुआ। कहते हैं कि सोमेश्वर द्वितीय और उसके भाई विक्रमादित्य-षष्ठ में पारस्परिक कलह हो गई। विक्रमादित्य-षष्ठ की प्रार्थना पर, जिसका विवाह एक चोल राजकुमारी से हुआ था, वीर राजेन्द्र प्रथम ने सोमेश्वर द्वितीय के ऊपर आक्रमण किया और उसे इस बात के लिये विवश किया कि वह अपने राज्य का कुछ भाग अपने भाई विक्रमादित्य षष्ठ को दे। वीर राजेन्द्र ने अपनी राजधानी में एक सुविशाल प्रासाद तथा अपने लिए एक राजसिंहासन बनवाया। वीर राजेन्द्र ने 'सकलभुवनाश्रय', 'मेदिनीवल्लभ' तथा 'महाराजाधिराज' की उपाधियाँ धारण की थीं। उसने चालुक्यों के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में 'आहवमल्लकुलकाल' का विरुद धारण किया था। वीर-राजेन्द्र ने 'त्रैलोक्यसार' नामक लाल मणि चिदाम्बरम् के भगवान नटराज की सेवा में भेजा था। उसने भूमिदान द्वारा चालीस हजार विद्वान तथा वेदशास्त्र-पारगत ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। वीर-राजेन्द्र के समय में बुद्धमित्र ने "वीर सोलियम" नामक ग्रन्थ तामिल व्याकरण पर लिखा। इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट सूचित होता है कि इस समय भी तामिल देश में बौद्ध धर्म जीवित था और तामिल साहित्य पर बौद्ध पाण्डित्य का प्रभाव पड़ चुका था।

अधिराजेन्द्र—अधिराजेन्द्र ने अपने पिता वीर-राजेन्द्र के साथ मिलकर दस वर्षों तक शासन किया। वीर राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् अधिराजेन्द्र चोल वंश का नृपति हुआ, किन्तु केवल कुछ ही महीनों तक वह एक स्वतन्त्र नरेश की हैसियत से शासन कर सका। उसकी मृत्यु अल्पावस्था में ही हुई। अधिराजेन्द्र के समय में चोल राजसत्ता का प्रभाव और आतंक कम हो गया। उसकी मृत्यु के बाद चोल साम्राज्य का स्वामी कुलोत्तुंग हुआ, जिसकी माँ चोल वंश की एक राजकुमारी थी और जो स्वयं

चालुक्य वंश का था। कुलोत्तुंग प्रथम के सिंहासनारोहण से विजयालय के वंश का अन्त हो गया।

कुलोत्तुंग प्रथम (स० १०७०–१११२ ई०)—कुलोत्तुंग प्रथम का वास्तविक नाम राजेन्द्र था। राजेन्द्र प्रथम चोल सम्राट राजराज प्रथम का परनाती था। राजेन्द्र की माँ अम्मंग देवी राजेन्द्र प्रथम चोल की दुहिता थी और उसका पिता पूर्वी चालुक्य वंश का राजराज प्रथम कुन्दवा (चोल सम्राट राजराज प्रथम की कन्या) तथा विमलादित्य का पुत्र था। स्वयं राजेन्द्र द्वितीय चालुक्य (पश्चात् कुलोत्तुंग प्रथम) ने राजेन्द्र देव द्वितीय की कन्या मधुरान्तकी से विवाह किया था। इस प्रकार चोलों से राजेन्द्र द्वितीय (कुलोत्तुंग प्रथम) का सम्बन्ध काफी गहरा और कई ओर से था। कुलोत्तुंग प्रथम का प्रारम्भिक जीवनवृत्त सुस्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वीर राजेन्द्र-प्रथम चोल के साथ उसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था और उसने पश्चिमी चालुक्यों के विरुद्ध चोल नृपति को वेंगी के राज्य में अपनी सत्ता जमाने के कार्य में सहायता प्रदान की थी। अधिराजेन्द्र के शासन काल में चोल-साम्राज्य की शक्ति काफी शिथिल पड़ने लगी थी और अशान्ति फैल जाने के कारण चोलों की प्रतिष्ठा को भी खतरा था। अधिराजेन्द्र सम्भवतः निस्सन्तान मरा था, अतएव चोल सिंहासन पर चालुक्य वंशीय राजेन्द्र देव (कुलोत्तुंग प्रथम) बैठा। कुलोत्तुंग का सम्बन्ध तो चोल वंश के साथ था ही, उसकी योग्यता और वीरता से प्रजाजन तथा सामन्तगण इतने प्रभावित थे कि उन्होंने उसके राज्यारोहण का विरोध नहीं किया। चोल-साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा को पुनरुज्जीवित करने के लिये एक शक्तिशाली तथा साहसी व्यक्ति की आवश्यकता थी और कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने को इस कार्य के लिये योग्य प्रमाणित किया। यद्यपि कुलोत्तुंग प्रथम वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश का था, तथापि वह अपने को चोल समझा करता था। सिंहासन प्राप्त कर लेने के बाद उसे बाह्य विपत्तियों का सामना करना पड़ा। १०७३ ई० के लगभग यश:कर्ण कलचुरि ने वेंगी पर आक्रमण किया। दो वर्ष बाद लंका-नरेश ने अपने को चोलों की अधीनता से मुक्त करके स्वतन्त्र घोषित कर दिया। १०७६ ई० में लगभग कुलोत्तंग प्रथम को कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध का परिणाम क्या हुआ, यह कहना कठिन है क्योंकि चोल और चालुक्य अभिलेखों से इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी प्रमाण मिलते हैं। पूर्वी चालुक्य नरेश विजयादित्य-सप्तम को पराजित करने (१०७६ ई०) के बाद कुलोत्तुंग प्रथम ने वेंगी का राज्य भी अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ पर अपने पुत्र राजराज मुम्मडीचोल को राजप्रतिनिधि नियुक्त किया। १०८८ ई० में लंकानरेश के साथ कुलोत्तुंग प्रथम ने मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया और इसे सुदृढ़ बनाने के लिए परस्पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये गये। पाण्ड्यों तथा चेरों पर कुलोत्तुंग प्रथम ने पुनः विजय प्राप्त की और उनको दबाये रखने के लिए उनके देशों में सैन्य उपनिवेश स्थापित कर दिये, किन्तु उनके आन्तरिक मामलों में उन्हें पूरी स्वाधीनता प्रदान की गई।

कुलोत्तुंग-प्रथम ने कलिंग राज्य को विजित करने की ओर ध्यान दिया। कलिंग के विरुद्ध उसने दो रण-अभियान भेजे। १०९६ ई० के लगभग दक्षिणी कलिंग, जो वेंगी राज्य का एक प्रांत था, में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस विद्रोह का दमन करने के लिये एक सेना भेजी गई। १११० ई० में कुलोत्तुंग प्रथम ने उत्तरी कलिंग के राजा अनन्तवर्मन चोडगंग के विरुद्ध अपने विश्वस्त सेनानी करुणाकर तोण्डमान के नेतृत्व में भेजा। यह अनन्तवर्मन चोडगंग कुलोत्तुंग का नाती था। कुलोत्तुंग प्रथम के इस रण अभियान

का विवरण 'कलिंगत्तुप्पर्णि' नामक ग्रंथ मे मिलता है। इस ग्रंथ का प्रणेता जयगोंदर कुलोत्तुंग का राजकवि था। करुणाकर तोण्डमान ने अनंतवर्मन चोडगंग को पराजित कर दिया। परन्तु उत्तरी कलिंग का राज्य चोल साम्राज्य मे मिलाया नहीं गया। कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने नाती अनन्तवर्मन के विरुद्ध किन कारणो से प्रेरित होकर युद्ध किया, यह ज्ञात नहीं।

सन १११७ ई० मे कुलोत्तुंग प्रथम को होयसल-नरेश विष्णुवर्धन के आक्रमण का सामना करना पड़ा। विष्णुवर्धन ने चोल नरेश से गंगवाड़ी का प्रदेश छीन लिया। उसने तलकाड के प्रदेश को भी जीत लिया और 'तलकडुगोन्द' उपाधि धारण की। उसके अभिलेखो के अनुसार उसने तामिल देश पर आक्रमण किया और रामेश्वरम तक आगे बढ गया। गंगवाड़ी के अलावा अन्य प्रांत भी कुलोत्तुंग प्रथम के अधिकार मे निकल गये। १११८ ई० के लगभग विक्रमादित्य षष्ठ ने, जो कल्याणी का चालुक्यवंशीय राजा था, वेंगी पर अधिकार जमा लिया। लंका का राजा विजयबाहु स्वतन्त्र हो गया। समुद्र पार के द्वीपो पर, जो राजेन्द्र प्रथम गंगकोण्ड के समय मे चोलो के अधीन थे, कुलोत्तुंग प्रथम के अधीन नही रह गये थे। इन राज्यक्षतियां के बावजूद भी कुलोत्तुंग-प्रथम के समय में साम्राज्य का प्रमुख भाग उसके अधीन था।

कुलोत्तुंग प्रथम चोल वंश का एक सुयोग्य शासक था। उसके अनेक अभिलेखो से यह प्रमाणित होता है कि उसने शासन-व्यवस्था को सुसंगठित किया। उसने अपने शासन-काल के सोलहवें तथा चालीसवें वर्ष मे अपने राज्य भर मे भूमि का माप कराया था। कुलोत्तुंग प्रथम के शासन-काल का गौरव इसी बात मे है कि उसने अपने राज्य मे शान्ति स्थापित रखने तथा शासन-व्यवस्था को दृढ बनाने के लिये विविध उपाय किये। आन्तरिक शासन के सम्बन्ध मे उसने ग्राम सभा के संगठन को सुदृढ बनाया और उसके प्रत्येक विभाग की देखरेख के लिए अफसर नियुक्त किये। राजराज प्रथम ने जलाशय, उद्यान तथा कार्यकारिणी समिति के कुछ अन्य विभागो की स्थापना की थी, किन्तु खेतो म्युनिसिपल विभागो तथा सन्यासियो और ब्राह्मणो की बस्ती की देखरेख के लिए कर्मचारियो की नियुक्ति कुलोत्तुंग प्रथम का कार्य था। कुलोत्तुंग ने राजकर्मचारियो की नियुक्ति मे अपनी बुद्धिमत्ता और शासन निपुणता का परिचय दिया। उसने सिंचाई-व्यवस्था को विकसित करने की ओर पूरा ध्यान दिया। अनेक महसूलो को उसने माफ कर दिया, जिससे आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार के व्यापारो को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। करो को माफ करने के कारण उसने 'सुगन्दवत्त' की उपाधि धारण की। गंगैकोण्डचोलपुरम् का महत्व कुलोत्तुंग-प्रथम के समय में कायम रहा। किन्तु उसने काञ्ची को विशेष गौरव प्रदान किया। कहा जाता है कि वह समय-समय पर अपने साम्राज्य का दौरा किया करता था। उसने अनेक स्थानों पर कृषि उपनिवेश स्थापित किये थे, जिससे यह सूचित [redacted] कि वह अपनी ग्रामीण प्रजा की आर्थिक समृद्धि का ध्यान रखता था। सैन्य उपनिवेश स्थापित करके उसने राज्य सीमाओ की सुरक्षा पर ध्यान दिया।

कुलोत्तुंग प्रथम के शासन-काल का कुछ धार्मिक और साहित्यिक महत्व भी है। उसने सभी चोल शासको की भाँति शैव मत को राज्याश्रय प्रदान किया। उसने बौद्धो के प्रति सहिष्णुता दिखलाई और नागपट्टिनम के बौद्ध चैत्यो को अनेक दान दिये। महान वैष्णव आचार्य रामानुज उसके समकालीन थे, किन्तु उनके प्रति उसका व्यवहार असहिष्णु था। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य की प्रचार-पद्धति उस समय

के परिपाटीग्रस्त समाज को अप्रीतिकर प्रतीत हुई जिससे कुलोत्तुग प्रथम उनके प्रति असहिष्णुता दिखलाने के लिए बाध्य हो गया। रामानुज उसके अत्याचारों से तग आकर मसूर चले गये जहाँ बिट्टिग देव ने उनका प्रभूत सम्मान और आदर सत्कार किया।[1] 'पेरियापुराणम्' के प्रणेता सेक्किलार को कुलोत्तुग ने अपनी राजसभा म स्थान दिया था। कलिंगत्तुप्परनी के रचयिता जगान्न और तिरुप्पट्टिवारम' पर भाष्य लिखनेवाले अदियक्कुँनल्लर कुलोत्तुग प्रथम के समय के विख्यात साहित्यकार थे।

कुलोत्तुग प्रथम के पश्चात् विक्रम चोल—कुलोत्तुग प्रथम के प्राय अर्ध शताब्दी के सुदीर्घ शासन काल मे चोल साम्राज्य की स्थिति सन्तोषप्रद रही, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद चोल वश की शक्ति घटने लगी। परन्तु जहाँ तक सास्कृतिक कार्यों का प्रश्न है उनमे कमी नहीं आने पाई। कुलोत्तुग प्रथम का उत्तराधिकारी विक्रम चोल ११२० ई० मे चोल साम्राज्य का अधिपति हुआ। ११२७ ई० मे कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु हो जाने पर विक्रम चोल ने वगी पर चोल सत्ता पुन जमा ली। उसने गगवाडी का कुछ प्रदेश भी विजित किया। ११२८ ई० मे विक्रम चोल ने अपने कुल देवता नटराज की सेवा म राज्य के एक वर्ष के कर का अधिकाश समर्पित कर दिया। विक्रम चोल के अभिलेखो से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि वह अपने साम्राज्य के विभिन्न भागो का दौरा किया करता था। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि राजा द्वारा इस प्रकार का कुशल शासन के निमित्त राज्य का दौरा करने की नीति मध्यकाल के निरकुश राजतन्त्रात्मक राज्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थी और इस कार्य के द्वारा वह निस्स देह इस युग के चोल शासको की नियमित नीति का अनुगमन कर रहा था।[2] विक्रम चोल ने 'त्यागसमुद्र' और "अकलक' के विरुद धारण किये थे।

कुलोत्तुग द्वितीय—कुलोत्तुग-द्वितीय ने ११३५ ई० मे अपने पिता विक्रम चोल की मृत्यु के बाद शासन सूत्र अपने हाथो म ग्रहण किया। चिदाम्बरम के नटराज मन्दिर की सेवा मे उसने भी उपहार भेंट किये। तामिल साहित्य के इतिहास मे कुलोत्तुग द्वितीय का शासन काल उल्लेखनीय है, क्योंकि उसने और उसके सामन्तो ने ओट्टकूत्तम, सेक्किलर तथा कम्बन आदि कवियो को राज्याश्रय प्रदान किया था।

कुलोत्तुग द्वितीय के पश्चात राजराज द्वितीय (११५०–७३) राजा हुआ। राजराज द्वितीय तथा राजाधिराज द्वितीय दुर्बल शासक थे जिनके समय में चोल शक्ति का दिनोंदिन पतन होता गया। उत्तर मे काकतीय वश के शासको ने चोलो पर वार

१ प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का धारणा है कि रामानुज को तग करने वाला चोल शासक कौन सा था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह भी हो सकता है कि रामानुज को कुलोत्तुग प्रथम नहीं बल्कि किसी अन्य चोल शासक के अत्याचारों के कारण बिट्टिग देव की शरण लेनी पड़ी।

२ The importance of such royal progresses for ensuring efficient administration in an autocratic medieval state can hardly be overrated and in undertaking them Vikram Cola was no doubt following the regular practice of the Cola rulers of this period "—*Colas*, Part II p 69

करना आरम्भ कर दिया। गणपति और रुद्राम्बा के समय में काकतीय वंश की शक्ति प्रबल हो उठी और उन्होंने चोल साम्राज्य की उत्तरी सीमा के कुछ भूभाग पर अपना अधिकार जमा लिया। दक्षिण में पाण्ड्यों ने मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य तथा जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के अधीन अपनी शक्ति का विकास करके चोल साम्राज्य के अधीनस्थ भागों को अपने अधिकार में कर लिया। पश्चिम में यही कार्य होयसलों ने किया। लंका के राजा पराक्रमबाहु ने चोलों से संघर्ष किया। कुलोत्तुंग तृतीय इस काल में चोल वंश का एक पराक्रमी शासक हुआ और उसने कुछ अंश तक अपने शत्रुओं का सफलतापूर्वक सामना किया। उसने अपने सैन्य गुणों के द्वारा चोल साम्राज्य की रक्षा की और उसे नष्ट होने से बचाया, किन्तु कुलोत्तुंग तृतीय के उत्तराधिकारी राजराज तृतीय ने अपने को दुर्बल प्रमाणित किया। राजराज तृतीय अपने सामन्तों को भी वश में न रख सका। उसके समय में पल्लव जाति के सरदार कोप्पेरुंजिंग ने विद्रोह करके उसे बन्दी बना लिया। ऐसी सङ्कटापन्न स्थिति में चोल नरेश राजराज-तृतीय की रक्षा उसके श्वसुर नरसिंह (होयसल-नरेश) ने अपनी एक सेना भेजकर की। इस सेना ने राजराज तृतीय को मुक्त किया। इसके पूर्व १२१६ ई० में होयसल राजा नरसिंह ने राजराज-तृतीय को मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य के आक्रमण से बचाया था, तंजोर तक बढ़ आया था। पल्लवों ने चोल साम्राज्य के कुछ भागों, जैसे सेन्दमंगलम (दक्षिणी अरकाट जिला) में अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता प्रतिष्ठित कर ली। अगले होयसल राजा सोमेश्वर को भी जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के विरुद्ध चोल-नृपति की रक्षा करनी पड़ी। किन्तु चोल साम्राज्य के उत्कर्ष के दिन अब समाप्त हो चले थे। पाण्ड्यों की शक्ति काफी बढ़ चुकी थी। राजेन्द्र तृतीय को जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य ने पराजित कर दिया और कांची पर, जहाँ चोल शक्ति का प्रमुख केन्द्र था, अधिकार जमा लिया। जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के उत्तराधिकारी मारवर्मन कुलशेखर ने चोल राज्य को रौंद डाला। चोल साम्राज्य के उत्तरी जिले तेलगू सरदारों के नेतृत्व में स्वतन्त्र हो गये। ये तेलगू सरदार अपने को करिकाल चोल का वंशज बताते थे। कावेरी नदी के मैदान में रहने वाले चोलों का अस्तित्व स्थानीय सरदारों के रूप में कुछ और समय तक बना रहा। चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर के राजाओं ने चोलों के अवशेष को भी पूर्णरूपेण नष्ट कर दिया।

चोल-शासन

चोल राजाओं के अनेक अभिलेख उनकी शासन-व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। चोलों की शासन व्यवस्था सुसंगठित व कतिपय विशिष्ट तत्वों से युक्त थी। वास्तव में यदि यह पूछा जाय कि चोल इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष कौन-सा है, तो यही उत्तर ठीक हो सकता है कि शासन-व्यवस्था का उत्तम संगठन और इसकी अपनी कुछ विशेषताएँ। चोलों की शासन-व्यवस्था का अध्ययन करते समय हम इसकी विशेषताओं पर विचार करेंगे।

केन्द्रीय सरकार—चोल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था प्रमुखतः राजतन्त्रात्मक थी। चोल राज्य के एक विशाल साम्राज्य में परिणत हो जाने पर राजा का प्रभुत्व, ठाटबाट तथा सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया। सम्राट विविध प्रकार से अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने की चेष्टा किया करता था। उसकी एक से अधिक राजधानी होती थी और उसकी राजसभा ऐश्वर्यमयी तथा तड़क भड़क से परिपूर्ण हुआ करती थी। वह अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान करता था और इन अवसरों पर ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा

दान मे दिया करता था। इतना ही नही, विशेष मन्दिरो के नाम सम्राटो के नाम पर रख दिये जाते थे, जैसे राजराजेश्वर मन्दिर, और मन्दिरो मे उनकी प्रतिमायें रखी जाती थीं।

चोल साम्राज्य म उत्तराधिकार की व्यवस्था बडी ही उत्तम और सुस्पष्ट थी। सम्राट् अपने जीवन-काल मे ही अपना उत्तराधिकारी चुन लेता था, जिसे 'युवराज' कहते थे। 'युवराज' अपने पिता को शासन काय मे सहायता प्रदान किया करता था। सम्राट् को शासन कार्यों म सहायता देने के लिए कई कमचारी होते थे जिनको नकद वेतन नही, वरन् भूभाग के रूप मे पारितोषिक दिया जाता था। अभिलेखो से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि चोल साम्राज्य मे सिविल सर्विस का सगठन सुव्यवस्थित था। इस विभाग का अध्यक्ष 'ओ-लै नायक', सम्राट का प्राइवेट सेक्रेटरी होता था। यह एक उल्लेखनीय बात है कि चोल शासन-पद्धति में मन्त्रिमण्डल नही था, किन्तु इस अभाव की पूर्ति एक योग्य कमचारी वग द्वारा हो जाती थी। इस कमचारी वर्ग के प्रमुख प्रमुख सदस्य सम्राट् के निकट सम्पक मे रहा करते थे और उसे शासन-कार्यों मे परामश दिया करते थे। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि चोल नृपति अपने साम्राज्य का दौरा किया करते थे, जिससे शासन-व्यवस्था शिथिल नही होने पाती थी। वसे सद्धान्तिक रूप म सम्राट की शक्ति पर कोई नियन्त्रण नही था, किन्तु उसे स्थानीय नियमो और परम्पराओ का ध्यान रखना पडता था।

सेना और जहाजी बेडा—चोल सम्राटो के अधीन एक सुविशाल सेना हुआ करती थी। सेना म हाथी अश्वारोही और पैदल होते थे। अभिलेखो मे सेना के सत्तर सैन्य दलों का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक सैन्य दल का सगठन सहकारिता के सिद्धान्तो पर समाधारित होता था। कुछ सैन्य-दल नागरिक जीवन के कार्यों मे भी भाग लेते थे और मन्दिरों को दानादि दिया करते थे। सनिको की शिक्षा तथा उनको अनुशासित रखने पर समुचित ध्यान दिया जाता था। इस काय के लिए विशिष्ट सैन्य शिविर (कडगम) हुआ करते थे। 'चोल सेना अस्त्रो तथा आरोही और अनारोही की दृष्टि से अनेक भागो म विभाजित थी। इस प्रकार उसकी सेना मे एक स्कन्ध "चुने हुए धनुर्धरो का समूह (विल्लिगड)", दूसरा शरीर रक्षक पदाति (कडपेर कक्कोलर), तीसरा "दक्षिण पाश्व के पदाति" (वलग के वलेवकारर), चौथा चुने हुए अश्वारोही (कुदिरैच्चेवगर) पाँचवां गजदल (आनयाट्कल, कुजिर मल्लर) आदि थे।'

चोलों का जहाजी बेडा अत्यन्त सुसगठित था। इसी जहाजी बेडे की सहायता से कदारम और श्रीविजय के राज्य विजित किये गये थे। चोल सेना के सैनिको को अनुशासन की शिक्षा दी जाती थी किन्तु विजित शत्रुओं के प्रति उनका व्यवहार कभी कभी अशोभन और लज्जास्पद हो जाया करता था। पश्चिमी चालुक्य राज्य और पाण्ड्य देश पर आक्रमण करने के बाद चोल सेना के सनिको म निर्दोष नागरिको को भी काफी क्षति पहुँचाई और स्त्रियो का अपमान किया।

भूमिकर और आय के साधन—चोल साम्राज्य की आय का प्रमुख भाग भूमि-कर द्वारा प्राप्त होता था। भूमि कर ग्राम-सभायें एकत्र किया करती थी और किसानो को इस बात की सुविधा प्रदान की जाती थी कि वे अपनी इच्छानुसार कर नकद सिक्के अथवा उपज के अश द्वारा चुकता करें। राजराज प्रथम के समय मे भूमि-कर उपज का ⅓ भाग निश्चित किया गया था। राजराज प्रथम और कुलोत्तुग प्रथम के शासन-काल में चोल साम्राज्य भर मे भूमि का माप कराया गया था, इसका उल्लेख किया

जा चुका है। भूमि-कर निश्चित करने के लिए समय-समय पर भूमि का वर्गीकरण किया जाता है। दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आने के कारण फसल नष्ट होने पर भूमि-कर माफ कर दिया जाता था।

भूमि-कर के अतिरिक्त विविध प्रकार के करों से भी राज्य को आमदनी हुआ करती थी। विभिन्न व्यवसायों, यथा सुनारों, व्यापारियों, बुनकरों पर भी कर लगाया जाता था। खानों वनों, नदियों, बाजारों और तालाबों पर भी जो कर लगाये जाते थे, उनसे साम्राज्य को पर्याप्त आय होती थी। चोल-अभिलेखों से इस बात का उल्लेख मिलता है कि चोल सम्राटों की कर व्यवस्था प्राय उदार और सहानुभूतिपूर्ण हुआ करती थी। कुलोत्तुंग-प्रथम ने अनेक कर उठा दिये थे, जिसके कारण उसने "सुंगन्द वत्त" की उपाधि धारण की थी, परन्तु कभी-कभी कर के सम्बन्ध में प्रपीडन की नीति भी बरती जाती थी। श्रमिकों से बहुधा ही बेगारी कराई जाती थी। चोल इतिहास के परवर्ती युग में सामन्तों की शक्ति काफी बढ़ जाने से जनता के ऊपर कर भार कुछ अधिक बढ़ गया।

प्रादेशिक विभाजन—राजराज प्रथम के अभिलेखों से यह सूचित होता है कि उसका साम्राज्य आठ 'मण्डलों' या प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक मण्डल 'वलानाडु' और 'नाडु' में विभाजित किया जाता था। "कुरम" तथा "कोट्टम" शासन की छोटी इकाइयाँ थीं। 'मण्डलम्' का शासन करने के लिए राजवंश का कोई राजकुमार या कोई उच्च सरदार वहाँ का वाइसराय नियुक्त किया जाता था। "वलानाडु" नामक शासन इकाई में कई जिले होते थे। 'नाडु' सम्भवत आधुनिक जिले के समतुल्य था। कई ग्रामों के समूह से "कुरम" की रचना होती थी।

चोल शासन की सबसे प्रमुख विशेषता थी, इसकी स्वशासन-व्यवस्था। दक्षिण भारत में लोगों का धार्मिक तथा आर्थिक जीवन पारस्परिक सहयोग और सहकारिता के सिद्धान्तों पर आधारित था तथा 'नाडु' और 'नगरम्' से लेकर सभी शासन-इकाइयों में 'मण्डलम्' तक, स्वशासन की संस्थायें हुआ करती थीं। परन्तु चोल साम्राज्य की ग्राम-सभाओं से वहाँ की स्वशासन व्यवस्था का अधिक विस्तृत और विश्वसनीय विवरण प्राप्त होता है। गण्डल की जनता की एक सभा हुआ करती थी जिसका उल्लेख मण्डल के शासनान्तर्गत प्रान्त के कर की छूट के सम्बन्ध में हुआ है। "इसके अतिरिक्त अभिलेखों में नाडु (जिला) की जनता की 'नाट्टर' नाम की सभा तथा "नगरम् के व्यापारिक वर्गों की नगरत्तार नामक सभा" के भी उल्लेख मिलते हैं। "नाट्टर" और "नगरत्तार" सम्भवत क्रमशः जनपद और पौर हैं। दुर्भाग्यवश इनके विधान तथा कार्यक्रम का हमें विस्तृत ज्ञान नहीं। इनके अतिरिक्त श्रेणी और पूग तथा इस प्रकार के अन्य जनसत्ताक संगठनों द्वारा भी स्थानीय शासन-व्यवस्था को सहायता मिलती थी। श्रेणी और पूग आदि इस प्रकार की संस्थायें थीं जिनके एक ही शिल्प से शिल्पी सदस्य होते थे।"

ग्रामसभाओं की कार्य प्रणाली का विवरण अभिलेखों द्वारा कुछ अधिक परिमाण में प्राप्त होता है। ग्राम दो प्रकार के थे। कुछ साधारण प्रकार के ग्राम होते थे जो "उर" कहलाते थे और इनकी सभा को "उरार" कहते थे। कुछ ग्राम सम्राटों द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों को दान में दे दिये गये थे, जो "चतुर्वेदिमङ्गलम्" कहलाते थे। इन ग्रामों की जनसत्ताक संस्था को 'सभा' कहते थे। इन जनसंस्थाओं 'उरार' और 'सभा' की सदस्यता समस्त ग्राम निवासियों के लिए थी, अथवा यह सदस्यता एक निम्न साम [illegible]

त्तिक अधिकार अथवा शैक्षिक योग्यता पर आधारित थी। उत्तरमरूर अभिलेखों से ग्रामसभा की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। इन अभिलेखों में ग्राम-महासभा द्वारा स्वीकृत दो प्रस्तावों का उल्लेख किया गया है। एक प्रस्ताव को देखने से विदित होता है कि ग्राम को तीस भागों में विभाजित कर दिया जाता था। प्रत्येक भाग के निवासी कुछ व्यक्तियों को चुनते थे, जिनमें निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक था—(१) एक-चौथाई वेलि (डेढ़ एकड़ के लगभग) से कुछ अधिक की भूमि का स्वामित्व, (२) अपनी ही भूमि पर बनवाये हुए मकान में रहना, (३) ३५ वर्ष से लेकर ७० वर्ष तक की आयु होना और वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान होना। यदि किसी व्यक्ति में इस योग्यता का अभाव होता था तो उसे कम से कम एक वेद तथा एक भाष्य का ज्ञान रखना पड़ता था और उसे १⅛ वेलि भूमि का स्वामी होना आवश्यक था। इन योग्यताओं के होने पर भी निम्नलिखित व्यक्तियों को सदस्यता से वंचित कर दिया जाता था—(१) जो विगत तीन वर्षों से किसी भी समिति में रह चुके हों, (२) जो समिति में रह चुके थे, किन्तु जो अपने विभाग का आय व्यय तथा तत्सम्बन्धित विषयों का स्पष्ट लेखा जोखा नहीं दे पाते थे। (३) व्यभिचार तथा इसी प्रकार के अन्य भयंकर अपराधों के अपराधी होते थे। (४) जो दूसरों का धन चुराने के अपराधी होते थे, (५) जो निम्न जाति के लोगों के सम्पर्क में आ चुके होते थे किन्तु शुद्ध क्रियाओं का अनुष्ठान नहीं करते थे, इत्यादि।

ग्राम-सभा शासन-कार्यों के संचालनार्थ कई समितियों का संगठन करती थी। समिति को 'वेरियम' कहते थे। समितियों में कभी कभी स्त्रियों को भी ले लिया जाता था। सभा के सदस्यों द्वारा समिति के सदस्य निर्वाचित किये जाते थे। ग्राम सभा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और अधिकार बहुत अधिक थे। जो कार्य राज्य को करने पड़ते थे, लगभग वे सभी कार्य ग्राम सभायें भी करती थी, केवल ग्राम सभाओं के अधिकार में स्थायी सेना नहीं रहती थी। सभा तालाबों तथा सिंचाई के साधनों की देखरेख रखती थी, भूमिकर का संग्रह करके राज्य कोष में जमा करती थी, ग्रामवासियों के हितार्थ वस्तुओं का निर्माण कराने के लिए उन पर कुछ कर लगाती थी, बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाने का प्रयत्न करती थी। मन्दिरों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की देखरेख करना ग्राम सभा का एक प्रमुख कर्तव्य होता था। ग्रामसभा को न्याय सम्बन्धी कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता था और यह दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का फैसला करती थी। सभा ग्रामवासियों के भौतिक जीवन को सुखमय तथा सुविधापूर्ण बनाने का प्रयत्न करती थी, साथ ही उनके सदाचरण का ध्यान रखना भी इसका कर्तव्य समझा जाता था। व्यापार की सुविधा के लिए ग्राम सभायें राजपथों का निर्माण करती थी और समय-समय पर उनकी मरम्मत की व्यवस्था भी करती थी। ग्रामीणों के स्वास्थ्य-साधन के लिए ग्राम सभाओं की ओर से चिकित्सालय खोले जाते थे। सभायें बच्चों की शिक्षा का भी ध्यान रखती थी और मठों के जरिये उन्हें संस्कृत तथा तामिल भाषाओं में शिक्षा देती थी। विभिन्न समितियों के कार्यों की प्रतिवर्ष जाँच करने के लिये एक अन्य समिति होती थी। ग्राम-सभाओं की कार्य संचालन विधि तथा उनकी शासन सफलता अथवा असफलता का निरीक्षण करने के लिये राज्य की ओर से 'अधिकारी' नियुक्त किये जाते थे परन्तु प्रायः राज्य ग्राम सभा के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था और न उसके अधिकारों पर कोई कुठाराघात करता था। जब कभी दो ग्रामों में परस्पर कोई विवादजनक प्रश्न उपस्थित हो जाता था तभी

राज्य उनके कार्यों मे हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य होता था। ग्राम की सभा को साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त होते थे और इसके शासनान्तगत जिन व्यक्तियो के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी, उन पर भी यह नियन्त्रण रखती थी। यदि केन्द्रीय सरकार भूमि के वर्गीकरण म कोई परिवतन करना चाहती थी तो उसके लिए महासभा की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। सभा के अधिवेशन मन्दिरा म अथवा विशाल वृक्षो के नीचे हुआ करते थे।

चोल शासन-पद्धति की स्वशासन-व्यवस्था निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण वस्तु प्रतीत होती है, चोलो की शासन व्यवस्था के विषय मे प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि एक योग्य नौकरशाही तथा सक्रिय स्थानीय संस्थाओ के मध्य, जो विविध प्रकार से नागरिकता की भावना का पोषण करती थी, शासन निपुणता तथा शुद्धता का एक उच्च स्तर प्राप्त कर लिया गया था, जो कदाचित हिंदू राज्य द्वारा प्राप्त सर्वोच्च स्तर था।[१]

न्याय शासन—चोल सम्राटो के अधीन न्याय शासन की उत्तम व्यवस्था थी। वर्तमान जूरी प्रथा से मिलती-जुलती एक न्याय व्यवस्था उस समय भी विद्यमान थी। साधारण मुकदमो का फैसला स्थानीय संस्थायें करती थी। अभिलेखो से सूचित होता है कि विविध प्रकार की हत्याओ के अन्तर को अच्छी तरह से समझा गया था और इस अन्तर के अनुसार ही दड की व्यवस्था भी की गई थी। यदि किसी व्यक्ति के द्वारा द्वेषभाव रहित कोई हत्या की जाती तो उसे केवल सोलह गायें दड-कर के रूप में देनी पडती थी। जिस व्यक्ति की हत्या की जाती थी उसकी आत्मा को शान्ति पहुँचाने के लिए राज्य की ओर म मन्दिर मे निरन्तर प्रदीप जलाने की व्यवस्था कर दी जाती थी। चोलो की दडनीति प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति पर आधारित नही थी। उत्तर मेरुर अभिलेखो से पता चलता है कि व्यभिचार, चोरी धोखेबाजी इत्यादि को गम्भीर अपराध करने वाले व्यक्ति को गधे पर बैठाकर घुमाया जाता था। किसी व्यक्ति ने अपराध किया है अथवा नही इसका फैसला स्थानीय जनसत्ताक संस्थायें किया करती थी, किन्तु अपराधियो को दडित करने का अधिकार राजकर्मचारियो को प्राप्त होता था।

सामाजिक व्यवस्था—चोल-युग के दक्षिण भारत का सामाजिक संगठन जाति व्यवस्था पर आधारित था, किन्तु विभिन्न जातियो मे पारस्परिक सहयोग रहा करता था। उद्योग-व्यवसाय करने वाली जातियो का विभाजन वलगाई तथा इदगाई नामक वर्गों मे हो गया था। अनुश्रुति के अनुसार इन दोनो वर्गों का उद्भव करिकाल चोल के समय मे हुआ करता था, जबकि समाज के औद्योगिक वर्ग के दो प्रकार के लोग उस नृपति के दायें तथा बायें ओर खडे होकर उससे अपनी कठिनाइयाँ कहते थे। वलगाई लोग दाहिने हाथ की ओर खडे हुए और इदगाई बायें हाथ की ओर, इसीलिए उनका यह नाम पड़ा। कुलोत्तुग तृतीय के समय मे इदगाई लोगों ने अपने को 'अग्निकुल' का घोषित किया और एक अभिलेख में इस वर्ग के ९८ उपवर्गों का उल्लेख मिलता है।

[१] "Between an able bureaucracy and the active local assemblies which in various ways fostered a live sense of citizenship there was attained a high standard of administrative efficiency and purity perhaps the highest ever attained by the Hindu state "—*The Colas*, part II, p 312

चोल युग में सामाजिक अधिकारों का वितरण समान नहीं था। कुछ वर्गों को विशेष अधिकार प्रदान कर दिये जाते थे, जब कि इसके ठीक विपरीत अन्य वर्गों के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते थे। ब्राह्मणों ने अन्य जातियों के प्रति अपनी परिवर्जन प्रवृत्ति का परिचय देते हुए अपनी बस्तियाँ अलग बसानी शुरू कर दी। किन्तु इन बातों के बावजूद भी सामाजिक जीवन सहयोग और सद्भावनापूर्ण था। सामान्य उद्देश्यों की प्रतिपूर्ति के लिए विभिन्न जातियों तथा वर्गों के लोग परस्पर एक-दूसरे से मिल-जुल सकते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण समाज में कुछ मिश्रित जातियाँ उत्पन्न हो गई थीं इसका प्रमाण हम चोल सम्राटों के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

स्त्रियों का स्थान—दक्षिण भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान काफी ऊँचा था। उनके सामाजिक जीवन तथा कार्यों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था, यद्यपि लोगों की दृष्टि में लज्जाशीलता नारी का सबसे प्रधान गुण था। अभिलेखों में इस बात के प्रमाण प्रचुरता से मिलते हैं कि उच्च कुलों की स्त्रियाँ सम्पत्ति की स्वामिनी होती थीं और वे अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकती थीं। नृपतिगण तथा उनके सामन्त अनेक स्त्रियों से अपने अन्तःपुरों को परिपूर्ण रखा करते थे, किन्तु साधारण लोग एक पत्नीव्रत का नियमपूर्वक पालन करते थे।

तामिल समाज में सती प्रथा का प्रचार अवश्य था किन्तु अभिलेखों में इसके उल्लेख इतने कम मिलते हैं कि इसके व्यापक रूप में प्रचलित होने का आभास नहीं किया जा सकता। परान्तक द्वितीय की रानी वानवन महादेवी अपने पति की मृत्यु पर चिता में जलकर सती हो गई थी। प्राचीन यूनान की भाँति दक्षिण भारतीय समाज में भी नर्तकियों (देवदासियों) का एक वर्ग था। ये देवदासियाँ नृत्य-संगीतादि सकल कलाओं में निपुण होती थीं और रागरंगप्रिय व्यक्तियों को उनके कलापूर्ण हास विलास में सहायता प्रदान करती थीं। इन्हें पुरुषों से मिलने जुलने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती थी और अपने विविध गुणों द्वारा वे उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती थीं। मंदिरों में भी देवदासियाँ रहा करती थीं जो विशेष अवसरों पर नृत्य द्वारा देवता को प्रसन्न किया करती थीं। मुस्लिम यात्रियों के लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि देवदासियाँ समाज में अनाचार फैलाती थीं, किन्तु अभिलेखों से सिद्ध होता है कि तामिल समाज में उनका स्तर गिरा हुआ नहीं था। अनेक गुणशीला नर्तकियों ने अपनी उदारता तथा दानशीलता के कारण समाज में ख्याति प्राप्त कर ली थी। कुछ देवदासियों द्वारा विवाह करके गृहिणी जीवन व्यतीत किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।

चोलयुगीन दक्षिण भारतीय समाज में दास प्रथा प्रचलित थी। इस युग के साहित्य से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कृषि-कार्य करने वाले श्रमजीवियों का जीवन दासता के ही बराबर था। दासों की विभिन्न कोटियाँ हुआ करती थीं।

आर्थिक जीवन—दक्षिण भारत में आन्तरिक और बाह्य व्यापार की अवस्था उन्नत एवं समृद्ध थी, फिर भी आर्थिक जीवन का आधार कृषि-कर्म था। जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता था और कृषि-कर्म ही उसका मुख्य उद्यम था। कृषक भूमि का स्वामी होता था और भूमि का स्वामित्व समाज में सम्मान का कारण समझा जाता था। प्रत्येक व्यक्ति की, चाहे उसका व्यवसाय कुछ भी रहा हो यह इच्छा रहा करती थी कि वह कुछ न कुछ भूमि का स्वामी अवश्य रहे। भूमि पर व्यक्तियों और समुदायों का अधिकार रहता था। कृषि की उन्नति के लिए राज्य सचेष्ट रहता था। कावेरी नदी से अनेक नहरें निकलवायी गई थीं। करिकाल चोल

के समय में कावेरी नदी पर बाँध बँधवाया गया था। कावेरी नदी के जल का सदुपयोग करने के अतिरिक्त चोल शासक बड़े बड़े जलाशय बनवाया करते थे। उत्तरमेरूर में वैरमेघतटाक का निर्माण कराया गया था। परान्तक ने "वीरचोलन" नामक तालाब खुदवाया था और "भूमिक्रोडन" का निर्माण बाद में हुआ था। ग्राम महासभाओं के प्रमुख कर्तव्यों में से एक कर्तव्य ग्राम के तालाबों तथा सिंचाई के अन्य साधनों की देख रेख करना भी था जिससे सिद्ध होता है कि खेती की उन्नति के लिए राजा तथा प्रजा दोनों के द्वारा विविध प्रकार के प्रयत्न किए जाते थे। राज्य की ओर से समय समय पर भूमि का माप तथा वर्गीकरण कराया जाता था। यद्यपि दुर्भिक्ष को रोकने के लिए राज्य सचेष्ट रहता था, तथा अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ने के कई उल्लेख मिलते हैं। दुर्भिक्ष के समय या बाढ़ द्वारा फसल नष्ट हो जाने पर राज्य की ओर से कृषकों के लिए भूमि कर में माफी स्वीकृति की जाती थी। कृषि कर्म के साथ पशुपालन का व्यवसाय भी समुन्नत दशा में था। पशुपालन का व्यवसाय करने वाले 'मनादि' कहलाते थे। मनादियों ने अपने को एक व्यावसायिक वर्ग में संगठित कर लिया था।

विभिन्न उद्योग धन्धों में दक्षिण भारत के निवासियों ने काफी उन्नति कर ली थी। सुवर्णकार भाँति भाँति के बढ़िया आभूषण बनाते थे और मूर्तियों की माँग के कारण धातुकारों की कला उन्नति पर पहुँच गयी थी। कान्ची में वस्त्र व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था। कुमारी अन्तरीप मरक्कनम (दक्षिणी अरकाट) तथा समुद्र-तट के निकटवर्ती अन्य स्थानों में नमक तैयार करने का व्यवसाय होता था।

चोल शासक अपने साम्राज्य में राजमार्गों का निर्माण कराते थे, जिससे आन्तरिक व्यापार काफी सुविधापूर्ण हुआ करता था। 'पेरुवलि' या राजमार्गों द्वारा आन्ध्र, पश्चिमी चालुक्य और कांगु देश एक दूसरे से मिले रहते थे। व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ थी जो व्यापार का निरीक्षण करती थीं। नानादेश तिसैयायिरत्तु ऐय्नुरुवर नामक एक विशाल व्यापारिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है जो विजयालयवंशीय चोलों के उदय के पूर्व से ही स्थापित थी। इस व्यापारिक श्रेणी के सदस्य समुद्रपार के देशों से व्यापार किया करते थे। चीन, मलाया, पूर्वी द्वीपसमूह तथा फारस की खाड़ी इत्यादि देशों से दक्षिण भारत के निवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध था। आन्तरिक व्यापार में वस्तु विनिमय का बहुधा प्रयोग किया जाता था। चोल शासकों ने १०१५ ई० १०३३ ई० और १०७७ ई० में चीन में अपने शिष्ट मण्डल भेजे थे।

धार्मिक जीवन— संगम-युगीन दक्षिण भारत में ही शैव, वैष्णव, जैन तथा बौद्ध मतों का प्रचार हो चुका था। पल्लव युग में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा ने दक्षिण में अपनी जड़ जमा ली थी। इस युग में दक्षिण में वैष्णव और शैव मतों की जो उन्नति हुई, उसका क्रम चोल शासकों के समय में सर्वत्र जारी रहा। विजयालय वंशीय चोल शासकों का शासन काल दक्षिण में एक महान् धार्मिक उत्साह का युग था। उनकी सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति के कारण चोल साम्राज्य में शैव और वैष्णव मतों को समान रूप से फलने फूलने का अवसर प्राप्त हुआ।[1] विजयालय के वंशज

१ "चोल शासकों में से एक का धार्मिक दृष्टिकोण असहिष्णु था। हम पढ़ चुके हैं कि किसी चोल शासक के अत्याचारों से बचने के लिए प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानुज मैसूर चले आये थे। किन्तु इस धार्मिक अत्याचार के परिणाम की ओर प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। विद्वान प्रोफेसर

चोल शासकों के समय में ही दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव मतों का "रजत युग" प्रारम्भ हुआ। यद्यपि बिलकुल ठीक-ठीक रूप में तिथिक्रम निर्धारित करना दुष्कर है तथापि इस बात पर हमारी धारणा कुछ सुनिश्चित है कि नायनार और अलवार संतों के पवित्र गीतों का एक निश्चित नियमानुसार संकलन ग्यारहवीं शताब्दी में ही किया गया था।

शैव और वैष्णव मतों के कारण वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का महत्व कुछ कम हो चला। संगम युग के साहित्य में हम बात के उल्लेख प्रचुरता में मिलते हैं कि चोल शासकों ने वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया था किन्तु विजयालयवंशीय चोल-सम्राटों में केवल राजाधिराज के प्रशस्तियों में ही अश्वमेध का संकेत मिलता है। वैदिक यज्ञों का स्थान सम्भवतः दान ने ले लिया था। परवर्ती चोल शासक ब्राह्मणों को प्रभूत दान दिया करते थे। वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का महत्व कम हो जाने पर भी मंदिरों में वेदपाठ कराए जाने की व्यवस्था रहती थी। विष्णु और शिव दोनों ही के मंदिरों में कुछ ब्राह्मण वेदों का सस्वर पाठ करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। आज भी दक्षिण भारत के विशाल मंदिरों में यह प्रथा विद्यमान है। अभिलेखों में वेदपाठ प्रतियोगिता के भी उल्लेख मिलते हैं। इन प्रतियोगिताओं में जो सफलता प्राप्त करते थे उनको पुरस्कृत किया जाता था।

चोल-युगीन दक्षिण भारत के धार्मिक जीवन में मंदिरों का स्थान काफी महत्वपूर्ण था। इस काल के मंदिर लोगों के धार्मिक और सामाजिक कार्यों के प्रमुख केन्द्र थे। मंदिरों के विविध कार्यों का उल्लेख करते हुए प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है कि मध्यकालीन भारतीय मंदिर की जोड़ की संस्थाएँ मानव इतिहास में स्वल्प हैं। मंदिरों के स्वामित्व में भूभाग होते थे इसकी अधीनता में कर्मचारी हुआ करते थे। ये बैंक, विद्यालय, चिकित्सालय और रंगशाला का कार्य करते थे। संक्षेप में ये एक केन्द्र-स्थान के रूप में थे जहाँ सुसभ्य जीवन की कलाओं का सर्वोत्तम रूप एकत्र किया जाता था और जो धर्म की आत्मा द्वारा प्रसूत मानव भावना से उनको (कलाओं को) सचालित करते थे।[1] लोगों के सांस्कृतिक जीवन में मंदिरों का महत्वपूर्ण भाग था। मंदिरों और उनमें प्रतिष्ठापित की जाने वाली प्रतिमाओं के निर्माण से कितने ही लोगों को जीविका प्राप्त होती थी और कलाकारों को अपनी निपुणता दिखलाने का अवसर मिलता था। धातुकारों और सुवर्णकारों को मन्दिरों के मतानुसार इस धार्मिक प्रपीडन ने एक जनविद्रोह को जन्म दिया जिसके परिणाम स्वरूप विजयालय के अन्तिम वंशज अधिराजेन्द्र को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। इस घटना से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—पहला यह कि वैष्णव मत को नष्ट करने का विचार चोल शासकों की नीति का एक अंग नहीं था अपितु एक किसी विशेष शासक की सनक मात्र से यह विचार कार्यरूप में परिणत किया गया। दूसरा निष्कर्ष यह है कि सामान्य वातावरण एक संकीर्ण धार्मिक नीति के लिए इतना प्रतिकूल था कि जिस शासक ने इसका अवलम्बन किया, उसके प्राण एक जनविद्रोह के कारण गये।'

1 As landholder employer and consumer of goods and services, as bank school and museum as hospital and theatre in short as a nucleus which gathered round itself all that was best in the arts of civilized existence and regulated them with the humaneness born of the spirit of Dharma the medieval Indian Temple has few parallels in the annals of mankind'—*The Colas*, part II, p 504

से बहुत लाभ होता था। समय समय पर मंदिरों द्वारा धार्मिक-सामाजिक महत्त्व के पर्वों और मेलों का आयोजन किया जाता था जिनमें पुरोहित, विद्वान् पंडितों, गायकों, नर्तकों और नर्तकियों के साथ साधारण जन भी भाग लिया करते थे। इन मेलों में एक ओर विद्वान पंडित परस्पर शास्त्रार्थ करते थे और दूसरी ओर जादूगर अपनी कलाबाजियों का प्रदर्शन करते थे। मंदिर के विशाल कक्ष में नाटकों और नृत्य वाद्यक्रमों का आयोजन किया जाता था। केन्द्रीय सरकार के उच्च पदाधिकारी कभी कभी मन्दिरों के कार्यक्रमों और प्रबन्ध विधि की देखरेख करने के लिए इनका मुआयना किया करते थे, जिससे सिद्ध होता है कि चोल सम्राट मंदिरों के सामाजिक महत्त्व और इनके कार्य-संचालन की देखरेख की आवश्यकता को भली प्रकार समझते थे।

साहित्य—चोल सम्राटों का शासन काल (८५०–१२०० ई०) तमिल संस्कृति का स्वर्ण युग था। साहित्य के क्षेत्र में काव्य के प्रबंध रूप की प्रधानता रही और शैव सिद्धान्त दर्शन का शास्त्रीय निरूपण प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' की रचना दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई। इस ग्रंथ की शैली तथा काव्य सुषमा श्लाघ्य है। इससे तमिल भाषा के महाकवि कम्बन बहुत अधिक प्रभावित हुए। "जीवक चिंतामणि" के प्रणेता तिरुत्तक्कदेवर नामक जैन पण्डित थे और जैनमत के सिद्धान्त ही इस मनोरम काव्य की भावभूमि का निर्माण करते हैं। तोलामोक्ति नामक जैन लेखक ने 'शूलमणि' नामक ग्रंथ लिखा जिसकी गणना तमिल के पाँच लघुकाव्यों में की जाती थी। चोल राजसभा के कवि जयगोन्दार ने 'कलिंगत्तुप्परणि' नामक युद्ध-काव्य में कुलोत्तुंग प्रथम के कलिंग युद्ध का वर्णन किया है। कुलोत्तुंग-तृतीय के समय में कम्बन हुए जिनका सुप्रसिद्ध काव्य 'रामावतारम्' है। कम्बन ने अपने काव्य की कथावस्तु महाकवि वाल्मीकि से ग्रहण की है, किन्तु कहीं कहीं उन्होंने अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। दसवीं शताब्दी में ही किसी बौद्ध कवि ने 'कुण्डलकेशि' नामक काव्य तथा कल्लदनार नामक कवि ने अपना ग्रंथ 'कल्लदम' लिखा। अमृतसागर नामक जैन विद्वान् ने काव्य रचना-पद्धति पर एक पुस्तक का प्रणयन किया। ग्यारहवीं शताब्दी में विख्यात बौद्ध विद्वान बुद्धमित्र हुए जिन्होंने 'रसोलियम' नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा। काव्य के क्षेत्र में पुगलेंदि का नाम भुलाया नहीं जा सकता जिनका 'नलवेम्ब' एक महान काव्य है। इस काव्य में राजा नल का जीवनचरित वर्णित है। सेक्किलारप्रणीत 'पेरियापुराणम्' में शैव सिद्धान्तों का निरूपण है। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक दण्डिन की पुस्तक 'काव्यादर्श' के आधार पर तमिल में दण्डियलंगारम् नामक ग्रंथ की रचना की गई। इस पुस्तक के लेखक का नाम अज्ञात है। कुलोत्तुंग-तृतीय के शासन काल में जैन विद्वान पवनंदि ने 'नन्नूल' नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा। यद्यपि चोल शासकों ने अपने साम्राज्य में संस्कृत भाषा और साहित्य के पठन-पाठनार्थ विद्यालय स्थापित कराते थे, तथापि संस्कृत साहित्य सम्वर्द्धन में उनका योगदान अत्यन्त ही स्वल्प है। उनके कुछ अभिलेख संस्कृत में हैं। किन्तु वे वर्णन शैली की दृष्टि से तमिल अभिलेखों की तुलना नहीं कर सकते। परान्तक प्रथम के शासन काल में वेंकट माधव ने ऋग्वेद पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। राजराज द्वितीय की आज्ञा से केशवस्वामिन ने संस्कृत में 'नानार्थार्णव-संक्षेप' नामक कोष का सम्पादन किया।

निर्माण कार्य और कला—चोल सम्राटों ने लोकहित के लिए अनेक निर्माण कार्य किये। सिंचाई के लिए उन्होंने कुयें और तालाब खुदवाये। इसके अतिरिक्त कावेरी

तथा अन्य नदियों के प्रवाह को रोककर पत्थर से बंध अनेक डम (जलराशि) बनवाये और उनमें से सुविस्तृत भूखण्डों की सिंचाई के लिये नहरें खुदवाई। राजेन्द्र-प्रथम ने अपनी राजधानी 'गंगैकोण्डचोलपुरम' के निकट एक विशाल झील खुदवाई, जिसमें कोलेरून और वेल्लार नदियों का जल भरवाया गया। इस झील पर जो बाँध बंधवाया गया था, उसकी लम्बाई सोलह मील थी और इसमें प्रस्तर प्रणालिकायें तथा नहरें काटकर निकाली गई थी। चोल शासकों ने पल्लवों की मंदिर निर्माण-परम्परा को जारी रखा। प्रारम्भिक चोल-नरेशों के सभी मंदिर आकार में लघु और पाषाण निर्मित हैं। पुदुकोट्टि में इस प्रकार के मन्दिरों का एक सुन्दर नमूना है। कुम्बकोनम के छोटे से नागेश्वर मन्दिर की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसके 'गर्भगृह' के बाहरी ओर स्त्री-पुरुषों के सजीव लक्षण चित्र उत्कीर्ण हैं। इन चित्रों की तुलना सहज ही भारत की सर्वोत्तम लक्षण-मूर्तियों से की जा सकती है। परान्तक-प्रथम द्वारा निर्मित कोरंगनाथ और परान्तक-द्वितीय का मुवरकोविल मंदिर प्रारम्भिक चोल शैली के अनुपम उदाहरण हैं।

चोल साम्राज्य के गौरव और साधना में अभिवृद्धि होने पर विशाल तथा प्रभावोत्पादक मन्दिर बनवाये जाने लगे। राजराज प्रथम द्वारा निर्मित तंजोर के 'राजराजेश्वर' मन्दिर का उल्लेख किया जा चुका है। यह मन्दिर इतना विशाल और आकर्षक है कि इसको देखने वाले के चित्त पर बड़ा ही गम्भीर प्रभाव पड़ता है। राजराज प्रथम तिन्नवेली जिले के ब्रह्मदेशम् नामक स्थान में तिरुवालीश्वरम मन्दिर का भी निर्माण कराया था। इसके दुमंजिल विमान पर अनेक तक्षण चित्र खुदे हैं। राजेन्द्र-प्रथम ने अपनी राजधानी गंगैकोण्डचोलपुरम में तंजोर के 'राजराजेश्वर' मंदिर की भांति एक अत्यन्त सुविशाल मन्दिर बनवाया। इस मंदिर के स्थापत्य में 'राजराजेश्वर' मंदिर के स्थापत्य की अपेक्षा अधिक परिपक्वता है। राजराज द्वितीय के समय के 'ऐरावतेश्वर' मंदिर तथा कुलोत्तुंग तृतीय के शासन काल के 'कम्परेश्वर मन्दिर' द्वारा चोलों की मंदिर निर्माण शैली जारी रही।

दक्षिण भारत में चोल युग सुन्दर कांस्य प्रतिमाओं के निर्माण के लिये प्रमुखतया उल्लेखनीय है। भगवान् नटराज (नृत्य करते हुए शिव) की विशाल प्रतिमाओं का कलात्मक सौन्दर्य निस्सन्देह अनुपमेय है। शंकर भगवान् के अन्य रूपों की मूर्तियाँ भी कलाकारों ने गढ़ी। ब्रह्मा, सप्त मातायें, भूदेवी तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु भगवान, अपने अनुचरों के साथ राम और सीता तथा शैव संतों की धातु मूर्तियाँ भी बनवाई गई। कालिय-दमन प्रदर्शित करने वाली मूर्तियाँ बड़ी ही लोकप्रिय थी।

चोल युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत के इतिहास में यह सबसे अधिक सृजनशील युग था। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है, "दक्षिण भारतीय इतिहास के सबसे अधिक सृजनशील युग, चोलों के समय में सबसे पहली बार सम्पूर्ण भारत एक ही सरकार के अधीन हुआ और नूतन अवस्थाओं से उत्पन्न होने वाली सार्वजनिक शासन की समस्याओं का सामना करने तथा उनका हल ढूंढने का एक गम्भीर प्रयत्न किया गया। स्थानीय शासन, कला, धर्म तथा विद्या में तमिल देश श्रेष्ठता की उस सीमा पर पहुँच गया जहाँ तक आने वाले युग कभी पहुँच न सके। इन सभी क्षेत्रों में और विदेशी व्यापार तथा सामुद्रिक क्रियाशीलता में चोल युग उन सभी क्रियाओं के लिए

चरम परिणति का काल था जिनका प्रारम्भ पल्लवो के अधीन एक पूर्वतर युग मे हुआ था।"

मदुरा के पाण्ड्य

पाडय राज्य म मदुराई और तिरुनेवेलिक्कि के आधुनिक जिले सम्मिलित थे। इस राज्य की सीमा बहुधा दक्षिणी त्रावणकोर तक बढ जाती थी। पाड्य राज्य की राजधानी मधुरा (मदुरा) विस्तार, ऐश्वय, वैभव और सम्पन्नता की दृष्टि से सम्पूण दक्षिणी भारत म सबसे अधिक बढी चढी थी। इस राज्य का प्रमुख बदरगाह कोरकै ताम्रपर्णि क मुहाने पर स्थित था। पाडयो की राजधानी पहले कोरकै मे थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखने वाले कात्यायन ने पाडयो का उल्लेख किया है। रामायण म मदुरा के वैभव का जिक्र मिलता है। बौद्ध ग्रथ महावश के अनुसार लका नरेश विजय न एक पाड्य राजकुमारी के साथ विवाह किया था। अथशास्त्र म पाड्य देश म मोतियो का उल्लेख मिलता है। पाडय देश अपने मोतियो की समृद्धि के लिए विख्यात था। यहाँ के पनडुब्बे समुद्र से मोती ढूढ निकालते थे, जिससे राज्य को प्रचुर आमदनी होती थी। मेगस्थनीज ने भी पाडय राज्य का उल्लेख किया है। अशोक के कुछ अभिलेखो मे पाडय राज्य का उल्लेख मिलता है। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख म इस बात का विवरण मिलता है कि उसने एक पाड्य नरेश को पराजित किया था। स्ट्रेबो के अनुसार किसी पाडय नरेश ने रोमन सम्राट् आगस्टस सीजर की राजसभा मे २० ई० पू० के लगभग अपन राजदूत भेजे थे। 'पेरिप्लस' तथा टोलमी की 'जोगरफी' म पाडय राज्य तथा इसके नगरो का उल्लेख मिलता है।

पाडय वश के मूल के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान असदिग्ध नही है। इस वश क नरेश अपने को चन्द्रमा का वशज बताते है। प्राचीन पाडयो के इतिहास का ठीक ठीक पता लगाना एक दुष्कर काय है। 'शिलप्पदिकारम्' नामक तामिल महाकाव्य म एक पाडय नरेश नेडुञ्चेलियन का उल्लेख किया गया है। इसी नाम का दूसरा पाड्य राजा, जिसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी निर्धारित किया जाता है, अपने वश का एक शक्तिशाली और विख्यातनामा नरेश था। उसने काफी लम्बे समय तक शासन किया और अपने सभी पडोसी राजाओ को हराया। उसने तलैयालगानम के प्रसिद्ध युद्ध म चोल तथा चेर राजाओ की सम्मिलित शक्ति पर विजय प्राप्त की। नेडुञ्चेलियन द्वितीय न अपनी सामरिक सफलताओ के उपलक्ष्य मे अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। 'सगम युग' की अनेक तमिल कविताओ मे उसकी प्रशसा वदिक यज्ञो के उत्साही अनुष्ठानकर्ता के रूप म की गई है। नक्किरार तथा अ य कवियो को उसने राजाश्रय प्रदान किया। सगम परिषद का एक प्रमुख केन्द्र मदुरा मे भी था, जिससे यह सिद्ध होता है कि पाडय नृपति तमिल साहित्य की उन्नति म अपना महत्त्वपूण योग दे रहा था।

नेडुञ्चेलियन की मृत्यु के बाद पाडयो की शक्ति का ह्रास होने लगा। सम्भवत पल्लवो के उदय न पाडय शक्ति को धक्का पहुँचाया। किन्तु पल्लव प्रभुता के युग म भी पाडय नरेश अपन राज्य की सीमा मे स्वतन्त्र रूप से शासन करते रहे। सातवी शताब्दी म ह्वेनसाग ने दक्षिण भारत का भ्रमण किया था। उसने पाडय राज्य के निवासियो के विषय म लिखा है कि व मोतियो के तिजारत तथा अन्य व्यापारिक कार्यों मे लगे रहते हैं और तनिक भी विद्यानुरागी नही हैं। पाडय राज्य म बौद्ध

धर्म बिल्कुल ह्रासपूर्ण स्थिति में था। ब्राह्मण धर्म समुन्नत दशा में था और जैनियों की संख्या भी अधिक थी।

आठवीं और नवीं शताब्दियों में पांड्य शक्ति का पुनरुत्थान—इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक पांड्यों की शक्ति क्षीण रूप में विद्यमान रही। इस युग में चोल शक्ति का भी ह्रास हो गया था। दक्षिण में इन दो प्रसिद्ध और प्राचीन राज्यों की राजनीतिक शक्ति के ह्रास का कारण केवल पल्लवों का उदय ही नहीं था बल्कि कलभ्रों का संक्रमण भी था जिन्होंने मदुरा पर अपना अधिकार जमा लिया था। कलभ्र लोग उत्तरी तोंडमण्डलम में निवास करते थे। जब पल्लवों ने तोंडमंडलम में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित कर ली तो विवश होकर कलभ्रों को और दक्षिण चले जाना पड़ा। छठी शताब्दी के अन्त तक सुदूर दक्षिण भारत के कुछ भागों में कलभ्रों ने अपनी सत्ता जमाये रक्खी।

सातवीं शताब्दी के लगभग कडुंगोन के अधीन पांड्य वंश की शक्ति दक्षिण में पुनरुज्जीवित हो उठी। कडुंगोन सम्भवतः पल्लव नरेश सिंहविष्णु का समकालीन था। इस पांड्य नरेश ने पांड्य राज्य की सीमा से कलभ्रों को निर्वासित कर दिया। कडुंगोन के पश्चात् पांड्य वंश में अरिकेशरी मारवर्मन एक शक्तिशाली शासक हुआ। अरिकेशरी मारवर्मन सातवीं शताब्दी के मध्य में शासन करता था। उसने चेर-नृपति को नेलवेलि नामक स्थान में हराया। अरिकेशरी मारवर्मन का समीकरण अनुश्रुति में उल्लिखित कून पांड्य के साथ किया जाता है, जिसको सम्बन्दर नामक शैव संत ने अपने मत में दीक्षित किया था। ह्वेनसांग ने सम्भवतः उसी के समय में दक्षिण भारत का पर्यटन किया था। राजसिंह ने पल्लव-पांड्य संघर्ष में प्रमुख भाग लिया। राजसिंह के अभिलेख के अनुसार उसने नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल को पराजित किया परन्तु नन्दिवर्मन भी अपने अभिलेख में घोषित करता है कि उसने राजसिंह को हराया। राजसिंह के बाद वरगुण (७६५–८१५ ई०) नृपति हुआ जो अपने वंश के सर्वमहान शासकों में था। अपने सुदीर्घ शासन-काल में वरगुण ने दक्षिणी त्रावणकोर, सलेम, कोयम्बटूर, तंजोर और त्रिचनापल्ली के जिलों को पांड्य राज्य में सम्मिलित कर लिया। सम्भवतः उसने अपने समकालीन पल्लव राजा दन्तिवर्मन को हराया। वरगुण पांड्य ने अपने राज्य में शिव तथा विष्णु के अनेक मंदिर बनवाये जिनमें कोयम्बटूर जिले के पेरूर स्थान में स्थित विष्णु मंदिर सबसे अधिक उल्लेखनीय है। किन्तु पांड्य राज्य को आन्तरिक विद्रोह के कारण गहरी क्षति उठानी पड़ी। वरगुण के पश्चात् श्रीमार पांड्य राज्य का स्वामी हुआ जिसने बौद्ध ग्रंथ महावंश के अनुसार लंका के ऊपर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को परास्त कर दिया। श्रीमार ने पल्लवों और गंगों की सम्मिलित शक्ति को नीचा दिखाया, किन्तु बाद में पल्लव-नरेश नन्दिवर्मन-तृतीय ने तेल्लारू नामक स्थान में पांड्य-नरेश को हराया। श्रीमार का पुत्र वरगुण द्वितीय था जिसने श्रीपुरम्बियन के युद्ध में पल्लव राजा अपराजितवर्मन को परास्त किया, परन्तु बाद में गंगों की सहायता से पल्लव नरेश ने उसके ऊपर विजय प्राप्त कर ली।

पल्लव पांड्य संघर्ष में तो प्रायः सफलता पांड्यों को ही मिली किन्तु चोलों के साथ उनका संघर्ष उनके लिए अनिष्टकारी प्रमाणित हुआ। पांड्य नरेश राजसिंह द्वितीय को परान्तक चोल ने हरा दिया और उसे भागकर लंका जाने को विवश किया। इस समय से पांड्यों को चोलों की अधीनता स्वीकार कर लेनी पड़ी। चोल शक्ति के अभ्युदय के कारण तीन शताब्दियों तक पांड्यों को अपना सर उठाने का मौका न मिल

सका। फिर भी पाड्य वश निर्मूल न किया जा सका और इस वश के शासको ने चोल सम्राटो को अपने विद्रोहो द्वारा परेशान रक्खा। पाड्य वश के राजकुमारो ने चोल सम्राटो के विरुद्ध बार-बार विद्रोह किये, परन्तु उनका विद्रोह दबा दिया गया। परन्तु चोल नृपति कुलोत्तुग प्रथम के समय मे पाड्यो की राजनीतिक शक्ति एक बार फिर जीवित हो उठी। कुलोत्तुग प्रथम के पश्चात चोल राजसिंहासन पर पूववर्ती चोल सम्राटों की तरह कोई शक्तिशाली शासक न बैठा। इन परवर्ती चोल शासको की दुर्बलता से लाभ उठाकर बारहवी शताब्दी के मध्य मे पाड्यो ने अपनी शक्ति पुन सगठित कर ली। मारवमन सुन्दर पाड्य प्रथम ने (१२१६–१२३८ ई०) चोल नृपति राजराज तृतीय पर आक्रमण किया, परन्तु वह स्थायी रूप से चोल साम्राज्य पर अधिकार न कर सका। नरसिंह-द्वितीय होयसल ने राजराज का साथ देकर मारवमन को चोल राज्य म जमने न दिया। इस प्रकार चोल राज्य मे होयसलो की राजसत्ता प्रतिष्ठित हो गई। नरसिंह द्वितीय के पुत्र और उत्तराधिकारी सोमेश्वर ने होयसलो के पर और अच्छी तरह से जमा दिये। परन्तु १२५१ ई० मे पाड्य सिंहासन पर जटावमन सुन्दर पाड्य बठा। इस समय तक चोलो की शक्ति समाप्त हो चुकी थी और होयसलो की शक्ति का भी काफी ह्रास हो चुका था, अतएव सुन्दर पाड्य को अपनी राज्य सीमा का विस्तार करने मे किसी प्रबल प्रतिरोध का सामना न करना पड़ा। सुन्दर पाड्य ने सोमेश्वर को हरा दिया और काञ्ची तक पहुच गया। उसने पाड्यों को उनके राजनीतिक उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। सुन्दर पाड्य ने काकतीय नरेश गणपति को परास्त करके नेल्लोर तक सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को अपने अधिकार म रक्खा। चेर नृपति और लका के राजा को उसने अपना अधीनस्थ सामन्त बनाया। लका के राजा पराक्रमबाहु द्वितीय को उसने पराजित किया था। सुन्दर पाड्य ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। सुन्दर पाड्य के बाद मारवमन कुलशेखर (१२७२–१३११ ई०) ने पाड्य राज्य के राजनीतिक गौरव को नष्ट न होने दिया। अपने पिता के शासन-काल म उसने साथ शासन करने के कारण मारवमन कुलशेखर ने इस विषय म पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था। उसने होयसलो को चोल राज्य से बिल्कुल निकाल बाहर कर दिया। इस समय पाड्यो के पास एक शक्तिशालिनी अश्व-सेना तथा नौसेना थी। मारवमन कुलशेखर ने अरब व्यापारियो के प्रति उदारता की नीति अपनाई। उसने उनको अपने राज्य मे व्यापार करने की सुविधा प्रदान की। अरब लेखक वस्साफ़ ने पाड्य राज्य के अतुल वैभव का उल्लेख किया है। मार्कोपोलो ने भी १२९३ मे दक्षिण भारत का पयटन किया था। उसने भी पाड्य राज्य की आर्थिक समृद्धि और वहाँ के मोती-व्यापार का वर्णन किया है।

मारवमन कुलशेखर के पश्चात् उसके दो पुत्रो के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इस पारस्परिक द्वन्द्व से लाभ उठाकर अलाउद्दीन खिल्जी के सेनानायक मलिक काफ़ूर ने पांड्य राज्य पर आक्रमण करके वहाँ अशान्ति फैला दी। पांड्य राज्य चारो ओर से विशृंखलित होने लगा। काकतीयों ने तामिलनाडु म उत्तरी जिलो पर अधिकार जमा लिया। सामन्तों ने अपनी स्वधीनता की घोषणा कर दी। मलिक काफ़ूर ने मदुरा में अपना एक दुर्ग खड़ा करवा लिया। इसके बाद पांड्य राजकुमार मदुरा पर फिर से अधिकार न जमा सके और उनका स्तर केवल अधीनस्थ सामन्तों का ही रह गया।

चेर राजवंश

चेर राज्य चोल और पांड्य राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। यहाँ की

भूमि पर्वतीय होने के कारण यहाँ के निवासी कष्टसहिष्णु और युद्धप्रिय थे। 'केरल' 'चेर' का ही एक दूसरा नाम है। पहले केरल अथवा चेर राज्य तमिल देश का ही एक भाग था। बाद मे तमिल देश से मलयालम या केरल प्रदेश पृथक् हो गया। केरल के निवासी पश्चिमी देशों के साथ व्यापार किया करते थे, जिससे उनका देश समृद्धिशाली हो गया था। चेर मे मुजिरिस, बकारा और तोन्दी इत्यादि प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इस राज्य की राजधानी काञ्ची थी, जिसका समीकरण कुछ विद्वान् त्रिचनापल्ली के निकटवर्ती एक स्थान से करते है, परन्तु अन्य विद्वानो की सम्मति मे यह कोचीन के निकट अवस्थित थी।

अशोक के अभिलेख मे 'केरलपुत्र' राज्य का जो उल्लेख किया गया है, वह चेर राज्य ही था। 'पेरिप्लस' और टोलेमी की 'जोगरफी' मे चेर राज्य तथा इसके बन्दरगाह का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। प्राचीन चेर राज्य मे आधुनिक मलाबार का जिला तथा ट्रावनकोर-कोचीन के भूखण्ड सम्मिलित थे। कभी-कभी इसकी सीमा कोन्गू जिले (आधुनिक कोयम्बटूर का जिला तथा दक्षिणी सलेम) तक पहुँच जाती थी।

चोल और पांड्य राज्यो की तरह चेर राज्य का इतिहास सुस्पष्ट नही है। संगम युग मे अथन प्रथम को करिकाल चोल ने पराजित किया था। अथन द्वितीय चेर राज्य का प्रथम महान और शक्तिशाली शासक था। अथन द्वितीय का शासनकाल गौरवशाली था। वह करिकाल चोल का दामाद था। उसने कपिलार नामक कवि को राजाश्रय प्रदान किया था। अथन द्वितीय का उत्तराधिकारी सेगुत्तवन चेर राज्य के सर्वमहान् शासको मे था। सेगुत्तवन का शासन-काल ईसा की दूसरी शताब्दी मे निर्धारित किया जाता है। उसने चोल और पाड्य राज्यो की आन्तरिक गडबडी से लाभ उठाकर अपनी शक्ति संगठित कर ली। सेगुत्तवन की सफलताओ का वर्णन "शिलप्पदिकारम" नामक तमिल महाकाव्य में विस्तार के साथ किया गया है। इस महाकाव्य के अनुसार सेगुत्तवन ने उत्तरी भारत पर भी आक्रमण किया था, किन्तु स्पष्ट है कि यह कथन अतिरञ्जन मात्र है। कहा जाता है कि इस प्रतापी शासक ने कुछ सामुद्रिक विजयें भी की थी। वह साहित्यानुरागी था और साहित्यकारो को राजाश्रय प्रदान करता था। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल निकले। एक परवर्ती चेर नृपति मनिक्कन छेय अथवा मन्नम छेराल को पाड्य-नरेश नेडूछेलियन द्वितीय ने तलैयालगारम के प्रसिद्ध युद्ध मे पराजित किया था। इसके पश्चात् चेर राज्य की राजनीतिक प्रभुता कुछ शताब्दियो के लिए समाप्त हो गई। फिर भी इस राज्य ने अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता को दसवी शताब्दी तक बनाये रक्खा। बाद मे चोलो की शक्ति मे उन्नति से इसकी स्वतन्त्रता छिन गई, किन्तु चोल शासको के साथ यहाँ के राजाओ का मैत्री सम्बन्ध स्थापित था। आठवी शताब्दी मे एक चेर-नृपति को पल्लव राजा परमेश्वर वर्मन के विरुद्ध युद्ध करना पडा और बाद में उसने पांड्य राजा वरगुण प्रथम से युद्ध किया, जिसने कोंगु देश और दक्षिणी ट्रावनकोर को जीत लिया। स्थाणुरवि ने पाडयो के विरुद्ध आदित्य चोल की सहायता की थी। परान्तक चोल ने एक चेर राजकुमारी के साथ विवाह किया था। दसवी शताब्दी मे चेर शासको और चोलो का पारस्परिक मैत्री-सम्बन्ध विनष्ट हो गया। इस शताब्दी के अन्त मे राजराज चोल ने चेर राजा भास्कर रविवर्मन को परास्त किया। बारहवी शताब्दी तक चोलो ने चेर राज्य पर अपना अधिकार कायम रक्खा। बारहवी शताब्दी मे वीर केरल के नेतृत्व मे चेर राज्य स्वतन्त्र हो गया। किन्तु तेरहवीं शताब्दी मे एक बार फिर पाड्यो के उदय से चेर शक्ति

को धक्का लगा। मलिक काफूर के आक्रमण से पांड्य राज्य में जो आन्तरिक गड़बड़ी फैली, उससे लाभ उठाकर रविवमन कुलशेखर ने चेर राज्य की शक्ति को पुन संगठित कर लिया। चौन्हवी शताब्दी के प्रथम चरण में केरल अथवा चेर राज्य की शक्ति सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में सबसे अधिक थी। कुलशेखर ने काञ्ची पर अपना अधिकार जमा लिया। कुलशेखर के बाद चेर राज्य की शक्ति नष्ट हो गई और यह अनेक छोटे छोटे भागों में विभक्त हो गया।

चेर शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण उदार और सहिष्णुतापूर्ण था। स्थाणुरवि ने सीरिया के ईसाई मतावलम्बियों और भास्कर रविवमन ने यहूदियों को अपने राज्य में कुछ सुविधायें प्रदान की थीं।

प्रश्न

Agra University

१ चोल साम्राज्य के राजनैतिक इतिहास का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (१९४७)

२ राजराज एवं राजेन्द्र चोल की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। चोल स्थानीय अभिशासन के विषय में आप क्या जानते हैं? (१९५०)

३ चोलों की शासन प्रणाली का वर्णन कीजिए। (१९४७)

४ राष्ट्रकूट कौन थे? गोविन्द-तृतीय की मृत्यु तक दक्षिण में राष्ट्रकूट सत्ता के उत्कर्ष का वर्णन संक्षेप में कीजिए। (१९४२)

५ पुलकेशिन द्वितीय की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। (१९४९)

६ पुलकेशिन द्वितीय के राज्य काल का विशेष उल्लेख करते हुए वातापी के प्रारम्भिक चालुक्यों का इतिहास लिखिए। (१९५१)

Allahabad University

1 Bring out the main achievement of the Chola power in India and abroad (1955)

2 Describe the system of administration under the Cholas (1956)

3 Give a critical account of the administrative system of the Cholas (1958)

4 *Whom do you consider to be greatest of the Chola kings and why?* (1959)

५ "राजराज प्रथम के सिंहासनारोहण के साथ चोलों का सबसे ऐश्वर्य सम्पन्न युग प्रारम्भ हुआ" इस कथन की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि चोल साम्राज्य के संगठन में राजराज प्रथम एवं राजेन्द्र गंगैकोण्ड ने क्या भाग लिया। (१९४९, १९५१)

६ राष्ट्रकूट कौन थे? उत्तर भारत में साम्राज्य स्थापित करने के लिए उन्होंने कौन कौन से प्रयत्न किये और कहाँ तक सफल हुए? उत्तर भारत में उनके प्रमुख शत्रु कौन थे? (१९५१, १९७०)

७ आप राष्ट्रकूट वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक किसे समझते हैं ? और क्यों ? (१९४८)

८ राष्ट्रकूटों की विदेश नीति, विशेषकर अरबों से उनके सम्बन्ध की आलोचना कीजिए। (१९४९)

९ दक्षिण की चालुक्य शक्ति के उदय का विवरण दीजिए। पुलकेशिन द्वितीय के कार्यों पर प्रकाश डालिए। (१९५५)

१० भारतीय इतिहास में वातापी के चालुक्य-वंश का महत्व निर्धारित कीजिए। (१९६६)

११ चोल शासन पद्धति की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (१९६६)

१२ परवर्ती चालुक्य कौन थे ? सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के जीवन पर प्रकाश डालिए। (१९४७)

१३ पल्लव कौन थे ? दक्षिण भारत की संस्कृति में उनके योगदान का विवेचन कीजिए। (१९५० १९५७,१९५९,१९७०)

Varanasi University

१ चोलों की शासन प्रणाली का वर्णन विस्तारपूर्वक कीजिए। (१९५०, १९५१, १९५४, १९६०)

२ राष्ट्रकूटों के इतिहास और उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (१९५४)

Lucknow University

1 Describe the system of Chola administration with special reference to local self government (1948)

२ चोल शासन प्रणाली की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। (१९५१, ६०,'६५,'६६)

३ राष्ट्रकूट वंश में सबसे प्रतापी शासक आप किसे समझते हैं और क्यों ? (१९५४)

4 Who were the Rashtrakutas ? Give an account of the Rashtrakuta supremacy in the Deccan upto the death of Dantidurga (1956 65,'67)

5 Give a short history of the Chalukya kings of the Deccan upto the death of Pulkesin II (A D 642) (1947, 55 60)

6 Give a short history of the Chalukyas upto the time of Pulkesin II and account for his greatness (1956)

7 Give a brief account of the political and cultural history of the Pallava up to 800 A D (1965)

गोरखपुर विश्वविद्यालय

१ चोल वश का शासन प्रबन्ध बताइए। (१६६१, १६६७, १६६६)

२ वादामी के प्रारम्भिक चालुक्यों के राजनीतिक और सांस्कृतिक कृत्यों का वर्णन कीजिए। (१६६२)

३ नरसिंहवर्मन प्रथम के समय तक काञ्ची के पल्लव शासकों के इतिहास वर्णन कीजिए। (१६६२)

४ सातवीं शताब्दी ई० मे पल्लवो और चालुक्यों के बीच हुए सघर्ष का विवरण प्रस्तुत कीजिए। (१६६३)

५ राजराज प्रथम और राजेन्द्र चोल प्रथम चोल शक्ति के प्रमुख निर्माता थे। स्पष्ट कीजिए। (१६६५)

६ काञ्ची के पल्लवो का भारतीय कला, वास्तु और साहित्य के विकास मे क्या योगदान था ? (१६६६)

पूर्वमध्यकालीन सभ्यता एवं संस्कृति | २७

पूर्वमध्यकाल से हमारा अभिप्राय सातवीं शताब्दी ई० से बारहवीं शताब्दी ई० तक से है। इस युग की राजनीतिक परिस्थितियों का पूर्ण विवरण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है, किन्तु इस युग के राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा इसका सांस्कृतिक इतिहास अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस युग में साहित्य कला आदि सम्बन्धी जो प्रगति हुई, वह भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अतः पूर्व मध्यकालीन सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था, शिक्षा, कला-सम्बन्धी प्रगतियों एवं उपलब्धियों पर यहाँ पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा।

सामाजिक अवस्था

सामाजिक वर्गीकरण—पूर्वमध्यकालीन समाज और वर्तमान भारतीय समाज में इतना निकट सम्बन्ध है कि वर्तमान समाज को पूर्णतया समझ लेने से ही पूर्वमध्यकालीन समाज की कल्पित रूपरेखा खींची जा सकती है। वर्तमान भारतीय समाज की प्रवृत्तियों का मूल भले ही हम ऋग्वैदिक उत्तरवैदिक या सूत्रों के काल में बतायें पर उसकी विस्तृत शाखाओं प्रशाखाओं का उदय पूर्वमध्यकाल में ही हुआ। ये शाखाएँ प्रशाखाएँ इतनी विशाल एवं विस्तृत हुईं कि इन्होंने मूल तक को ढक लिया है। अतः वर्तमान समाज के अध्ययन की दृष्टि से पूर्वमध्यकालीन समाज का बहुत बड़ा महत्त्व है। वर्तमान हिन्दू समाज स्मृतियों द्वारा अनुशासित है और इनकी रचना इसी युग में हुई थी। विचाराधीन काल में चारों वर्णों का अस्तित्व तो पूर्ववत् बना ही रहा साथ ही प्रत्येक वर्ण अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया। वर्णाश्रम धर्म का पालन एवं उसकी रक्षा राजा का प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। पाल-लेखों में धर्मपाल तथा विग्रहपाल राजाओं को जाति-व्यवस्था के रक्षक की पदवी दी गई है। उड़ीसा प्रान्त का राजा क्षमाङ्करदेव 'वर्णाश्रमपरमोपासक' कहा गया है। अभी उपजातियों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। उपजातियों की उत्पत्ति के अनेक कारण थे। सर्वप्रधान कारण तो जीविकोपार्जन की विधि है। बहुधा लोग विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों में लगते जा रहे थे। लोहे का काम करने वाला लोहार, सोने का काम करने वाला सुनार, चमड़े का काम करने वाला चर्मकार कहा जाने लगा। अनुलोम प्रतिलोम विवाहों का भी उपजातियों की उत्पत्ति में काफी हाथ है। किन्तु परिवर्तन यहीं तक सीमित नहीं रह सका। उपजातियों में भी विभाग हुए। इन विभागों को 'कुटी' गोत्र या प्रवर कहा जाता है। लोहार, सुनार, चमकार आदि सब में अनेक विभाग हो गए। पहले हम प्रमुख वर्णों पर विचार करेंगे।

अल्तेकर महोदय ने ब्राह्य साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि ब्राह्मणों को भी राजपूतों के प्रति सम्मान प्रदर्शन करना पड़ता था किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि केवल उन राजपूतों के आगे ही ब्राह्मणों को झुकना पड़ता था जो राज्य के अधिकारी होते थे। सामान्य ब्राह्मण सामान्य क्षत्रियों से उच्च समझे जाते थे।

ब्राह्मण का स्थान प्राचीन भारत मे काफी ऊँचा था। वे धर्म-कर्म मे, शिक्षा दीक्षा मे, शासन आदि में समाज का पथ प्रदर्शन करते थे। पूर्वमध्यकालीन समाज में भी उनको वही महत्व प्रदान किया गया था, पर स्वयं ब्राह्मणो ने ही अपना प्राचीन गौरव खोना प्रारम्भ कर दिया था। प्राचीन काल मे ये अपने मानसिक विकास की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देते थे, पर पूर्व मध्यकाल मे आर्थिक विकास ही महान् लक्ष्य हो गया था। पहले वे पुरोहित थे, अब पुजारी हो गये। भक्ति के प्रचार के कारण इस युग मे मन्दिरो का निर्माण अधिक संख्या में हुआ था। अत इनमें बैठकर पूजा करना आर्थिक दृष्टि से हितकर था। ब्राह्मण राजकीय नौकरियो में भी लगे थे। पालवंशी नरेशों की सेना में ब्राह्मण सेनापति का काम करने लगे थे। दानपत्रों मे ब्राह्मणो को खेत दान देने का उल्लेख मिलता है, अत ब्राह्मणो का कृषिकार्यों मे लगा रहना भी ज्ञात होता है। ये वाणिज्य-व्यवसाय मे भी भाग लेने लगे थे। ब्राह्मणों के हाथ मे राज-काज भी थे। ह्वेनसांग ने समतट के राजा को ब्राह्मण जाति का बताया है। मुद्राओ से काबुल मे ब्राह्मणशाही का बोध होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ब्राह्मणों ने अपने परम्परागत कर्तव्यो से मुँह मोड लिया था। ब्राह्मण द्वारा सामवेद, मीमांसा तथा तर्कशास्त्र के अध्यापन का विवरण प्राप्त होता है।[1]

ब्राह्मणो के कुछ प्रमुख कर्तव्यों के सम्बन्ध मे अल्तेकर महोदय ने लिखा है—

"जिन व्यवसायो की लिखित अनुमति ब्राह्मणो को दी गई थी, उनके अतिरिक्त भी ब्राह्मण-वर्ग विभिन्न प्रकार के कार्यों मे संलग्न था। कुछ ब्राह्मण धार्मिक कृत्यो का अनुसरण करते थे। चीता तथा अन्य पशुओ की खाल लपेटे हुए ईश्वर एवं उसकी प्रकृति पर लोगो की भारी भीड मे व्याख्यान देने वाले ब्राह्मणो का उल्लेख अल इद्रिसी ने किया है। कुछ ब्राह्मण अध्यापन कार्य करते थे और पाठशालाओ तथा विद्यालयो का संचालन करते थे, जहाँ वे नि शुल्क शिक्षा प्रदान करते थे। 'ज्यूरी (jurist), ज्योतिष, गणितज्ञ कवि तथा दार्शनिक, जैसा कि अबूजैद सूचित करता है, अधिकांश ब्राह्मण-वर्ग के ही थे।' (इलियट १, पृ० ६) प्रशासन कार्यों मे ब्राह्मण-वर्ग से ही अधिक लोग लिये जाते थे। यद्यपि स्मृतिकारो ने यह विधान बनाया है कि ब्राह्मण नौकरी न करें, किन्तु उनका आशय गैरसरकारी नौकरियो से था, क्योंकि उनका ही कथन है कि केवल ब्राह्मण ही मन्त्रिमंडल तथा न्याय-सम्बन्धी पदों पर निर्वाचित किया जाना चाहिए।"—*The Rashtrakutas and Their Times*, pp 325-326

सम्पूर्ण देश का छोटे छोटे राज्यो मे विभक्त हो जाना न केवल राजनीतिक दृष्टि म अहितकर सिद्ध हुआ, प्रत्युत सामाजिक जीवन मे भी इसने संकीर्णता का बीजारोपण किया। पूर्वमध्यकालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन करते समय हमने राजाओ के पारस्परिक द्वेष एवं युद्ध का ज्ञान प्राप्त किया था। राजाओं के वैयक्तिक द्वेष एवं कलह का सीधा सम्बन्ध दोनो प्रदेशों की प्रजाओ से जुड जाता था। प्रजा अपने राजा के शत्रु को अथवा उसकी प्रजा को अच्छी दृष्टि से कैसे देख सकती थी। इस परिस्थिति का प्रतिफल यह हुआ कि दो विभिन्न स्थानो की समान जातियों मे ही अन्तर पड गया। स्थान के आधार पर उपजातियो, गोत्रों अथवा प्रवरो के निर्माण के मूल में बहुत कुछ उपर्युक्त कारण ही परिलक्षित होता है। ब्राह्मणों का पंचगौड मे विभाजित हो जाने के कुछ अन्य कारण भी विद्वानो ने बताये हैं जिनमें

१ ए० इ० १५, पृ० २९८

स्थानान्तरण भी एक प्रमुख कारण माना गया है। अब ब्राह्मणों में सरयूपारी, कान्य-कुब्ज, सारस्वत, गौड़ तथा शकद्वीपी शाखाओं का निर्माण हो गया। उपर्युक्त नामों के आधार पर तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि स्थानों के आधार पर ही यह विभाजन हुआ है। सरयू नदी के तट पर बसने वाले ब्राह्मण अपने को सरयूपारी कहने लगे। इसी प्रकार सरस्वती तटवासी सारस्वत और गौड़ देश में निवास करने वाले गौड़ कहलाये। तत्कालीन दानपत्रों से ब्राह्मणों की अनेक शाखाओं का बोध होता है। देवपाल के मान्धाता-ताम्रपत्र में पाण्डेय, पाठक, दीक्षित, शुक्ल, उपाध्याय, अग्निहोत्री, चतुर्वेदी आदि के नाम प्राप्त होते हैं। जयचन्द्र के अभिलेख में भी द्विवेदी, त्रिवेदी आदि का उल्लेख मिलता है।

गोत्र एवं प्रवरों के निर्माण के पश्चात् रोटी-बेटी का सम्बन्ध भी सीमित हो गया। यह निश्चय हो गया कि अमुक गोत्र के ब्राह्मण की कन्या का ब्याह अमुक गोत्र के ब्राह्मण से ही हो सकता है।

क्षत्रियों को समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त था और वे ब्राह्मणों की समता में खड़ा होने का दावा करते थे। क्षात्र धर्म था युद्ध करना और प्रजा एवं अनाथों की रक्षा करना। इस समय के क्षत्रिय (राजपूतों) की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए टाड महोदय ने लिखा है कि अदम्य उत्साह, राजभक्ति, देशप्रेम, वैमनस्य आदि गुण इनमें विद्यमान थे। उक्त विद्वान राजपूतों के कुछ गुणों से बहुत प्रभावित हुआ था और उसने जोरदार शब्दों में इन पर प्रकाश डाला है। समाज में क्षत्रियों का स्थान ऊँचा होने के प्रमुख कारणों में से राजनीतिक सत्ता का उनके हाथ में होना प्रमुख था। साथ ही, इस युग में कुछ विद्वान क्षत्रिय भी हुए। परमार राजा भोज तथा गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र स्वयं सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। इतना ही नहीं, इस युग में राजपूत राजे विद्वानों एवं कलाकारों को आश्रय देने में अपना गौरव समझते थे। इन समस्त कारणों के फलस्वरूप वे समाज के नेता समझे जाने लगे। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि सामान्य ब्राह्मण और सामान्य क्षत्रियों में ब्राह्मण का स्थान ही ऊँचा था, केवल राजकाज के अधिकारी क्षत्रिय (राजपूत) ही ब्राह्मणों से ऊँचे समझे जाते थे। ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय भी अनेक उपजातियों में बँट गये थे। इस समय तक लगभग ३६ उपजातियाँ बन गई थीं। राजकाज के अतिरिक्त कृषि कार्य में भी क्षत्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या लगी हुई थी। बारहवीं शताब्दी के एक लेख में दान-ग्राही क्षत्रिय सामन्त का उल्लेख किया गया है।

अल्तेकर महोदय ने क्षत्रियों की अवस्था पर विचार करते हुए लिखा है कि जो शासक थे अथवा उनके सम्बन्धी थे, वे अत्यन्त सुन्दर जीवन बिता रहे थे। इन्हीं क्षत्रियों के साथ दण्ड की कठोरता में ढिलाई की जाती थी। अल्बेरूनी के वर्णन के आधार पर अल्तेकर महोदय ने बताया है कि चोरी के अपराध पर क्षत्रियों को केवल दाहिने हाथ और बायें पाँव से रहित कर दिया जाता था, न कि ब्राह्मणों की भाँति इन्हें अन्धा भी बना दिया जाता था। उक्त विद्वान् ने आगे यह बताया है कि न तो सभी योद्धा क्षत्रिय थे और न सभी क्षत्रिय योद्धा थे। सेना में अन्य जातियों के लोग भी सम्मिलित थे। अपने निर्धारित कार्यों के स्थान पर क्षत्रियों ने अन्य कार्य भी अपना लिया था। राजकाज में क्षत्रियों का ही विशेष हाथ था। ह्वेनसाग ने जिन राजाओं का जातिसहित उल्लेख किया है, उनमें पाँच क्षत्रिय, तीन ब्राह्मण, दो वैश्य तथा दो शूद्र थे। इससे यह आशय निकाला जा सकता है कि विचाराधीन काल के पूर्व भी राजत्व पर क्षत्रियों का अधिकार था।

क्षत्रियों की धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अल्तेकर महोदय ने लिखा है कि प्राचीन क्षत्रिय राजाओं की भाँति अब वे वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते थे। अल्बेरूनी के विवरण से यह ज्ञात होता है कि वे वेदों का अध्ययन कर सकते थे और पुराणों के आदेशानुसार जीवन बिताते थे।

वैश्यों ने कृषि-कार्य तथा तत्सम्बन्धी अन्य उद्योगों से अपना हाथ खींच लिया था और अब वे पूर्णतया वाणिज्य-व्यवसाय में लग गये थे। पूर्वमध्यकालीन लेखों में संस्था एवं श्रेणियों का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रेणियों का महत्त्व अब काफी बढ़ चुका था। दैनिक आवश्यकताओं की अभिवृद्धि के कारण व्यवसायियों का स्थान अधिक सम्मानित हो सका था, क्योंकि वाणिज्य-व्यवसाय पर इनका एकाधिकार था।

यदि हम अल्तेकर महोदय के विचारों पर दृष्टि डालते हैं तो यह ज्ञात होता है कि वैश्यों को सामान्यतः कोई बहुत ऊँचा स्थान नहीं प्राप्त था और शूद्रों के साथ उनकी गणना की जाने लगी थी। बौधायन धर्मसूत्र (१, ११, ४) से यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि वैश्य व्यावहारिक रूप में उसी श्रेणी में आते थे जिसमें शूद्र थे, क्योंकि उनके वैवाहिक तथा अन्य रीति रिवाज समान थे। अल्बेरूनी भी सूचित करता है कि इन दोनों जातियों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था। अल्बेरूनी ने आगे बताया है कि यदि कोई वैश्य या शूद्र वेदमन्त्र का उच्चारण कर लेता था तो उसकी जबान काट ली जाती थी। अल्तेकर महोदय ने अल्बेरूनी के इस कथन का समर्थन करते हुए लिखा है कि "अल्बेरूनी की रचना में ऐसे अनेक स्पष्ट प्रमाण होते हैं जिनके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह धर्मशास्त्र-साहित्य से पूर्णतया परिचित था ऐसी अवस्था में यदि वह ऐसा विवरण प्रस्तुत करता है जो उक्त विषय पर स्मृतियों के प्रत्यक्ष विरोध में पड़ता है तो इसके कारण की सहज कल्पना की जा सकती है कि स्मृतियों के विधानों के होते हुए भी व्यावहारिक रूप में वैश्यों की स्थिति भी शूद्रों के स्तर तक गिर चुकी थी।"

पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में एक सर्वथा नवीन जाति का अभ्युदय होता है। वह जाति है कायस्थ। कायस्थों के कथनानुसार तो यह जाति अन्य जातियों के समान ही बहुत प्राचीन है और इसकी उत्पत्ति भी राजपूतों की भाँति पौराणिक है, किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। वास्तविकता जो भी हो, हमें काणे महोदय के इस मत से सहमत होने में कोई हिचक नहीं है कि छठी शताब्दी से पूर्व धर्मशास्त्रों में कायस्थ का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। हाँ, पिछली स्मृतियों में इनका नाम मिलता है।[1] कायस्थ शब्द का प्रयोग विशेष व्यवसाय—लेखन-कार्य करने वालों के लिए अनेक स्रोतों में किया गया है। पूर्वमध्यकालीन लेखों में लिपिक के पद पर काम करने वाले व्यक्ति को कायस्थ कहा गया है।[2] इसी प्रकार साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में भी लिपिक को कायस्थ घोषित किया है। बारहवीं शताब्दी में कायस्थों ने जाति का रूप धारण किया। उशनस तथा वेदव्यास स्मृति में कायस्थों की एक पृथक् जाति बताई गई है। कायस्थों का द्विज से कोई सम्बन्ध नहीं था, अतः वेदव्यास ने इन्हें शूद्र घोषित किया।[3] किन्तु ये शूद्रों में नहीं खप सके और कायस्थों

१ धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ७५

२ इ० हि० क्वा० ६,५५

३ वणिक किरात कायस्थ मालाकार कुटुम्बिन
एते चान्ये च बहवः शूद्रा भिन्नाः स्वकर्मभिः। वेदव्यास स्मृति १-१०

की एक पृथक जाति ही बन गई। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्या से भी इनका मेल न खा सका। कायस्थों में भी निवास स्थान के आधार पर अनेक उपजातियाँ बन गई। मथुरा मे निवास करने वाले माथुर तथा गौड (बंगाल) के निवासी गौड कहलाए।

शूद्रो की भी अनेक उपजातियों का निर्माण होता जा रहा था। वेदव्यास जी ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

वधकी नापितो गोप आशाभ कुम्भकारक

एते चान्ये च बहव शूद्राभिन्ना स्वकर्मभि (वेदव्यास स्मृति १-१०)

शूद्रो मे भी दो प्रकार के वर्ग पाये जाते है। एक वह वर्ग जिसे अस्पृश्य समझा जाता है तथा दूसरा स्पृश्य है। चाण्डाल अस्पृश्य शूद्रो मे विशेष उल्लेखनीय है। वेदव्यास ने ब्राह्मण और वैश्य मे अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल घोषित किया है।[1] कुछ घृणित कार्य करने वालो की गणना भी अस्पृश्य मे होने लगी और वे पचम वर्ग कहलाने लगे।

अल्बरूनी ने भी पचम वर्ग का उल्लेख करते हुए बताया है कि इस वर्ग के लोग गाँव के बाहर रहते थे। इनमे डोम, चमार, नट आदि सम्मिलित थे। चाहमान लेख मे भाट, अभोटी, बनजारा तथा भट्टारक के नाम उल्लिखित है जो शूद्रो की उपजातियाँ थी। स्वर्णकारो को जोधपुर लेख मे शूद्र घोषित किया गया है किन्तु वर्तमान समाज मे वे वैश्य माने जाते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति और उनका व्यवसाय ही, जिसमे उन्हें उच्च वर्गों के निकट सम्पर्क मे आना पडता है इसके मूल मे है।

सामाजिक रीति रिवाज एवं नियम—यद्यपि प्राचीन सामाजिक नियमो की महत्ता अब भी पूर्ववत बनी रही, किन्तु विभिन्न उपजातियो के उदय ने कुछ नवीन रीति रिवाजो एव प्रथाओ को जन्म दिया। उपजातियो मे पार्थक्य की भावना तीव्र थी, अत रीति रिवाजो मे विभिन्नता लाना आवश्यक था। प्राचीन काल मे प्रचलित आठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख इस युग मे नही मिलता है पर अन्तर्जातीय विवाह का वर्णन हम यत्र-तत्र प्राप्त हो जाता है। एक प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि हरिश्चन्द्र नामक किसी ब्राह्मण ने ब्राह्मण कन्या के अतिरिक्त एक क्षत्रिय कन्या से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था।[2] पाल तथा सेन लेखो मे भी हम इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। बहुविवाह की प्रथा का काफी जोर था, पर राजाओ मे ही इसका अधिक प्रचार था।

सती प्रथा अथवा जौहर—सती प्रथा का श्रीगणेश प्राचीन काल मे ही हो गया था। हर्ष की माता तो पति को मरणासन्न जानकर ही सती हो गई थी। हर्ष की बहन राज्यश्री भी पति के देहान्त के पश्चात सती होने जा रही थी। विचाराधीन काल मे इस प्रथा ने और जोर पकड लिया था। पति के देहान्त के पश्चात विधवाओ का जीना पाप समझा जाने लगा। स्मृति ग्रन्थो मे भी सती होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। हैं। चंदि लेख मे गागेयदेव की सौ पत्नियो के सती होने का उल्लेख किया गया है। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने सती प्रथा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि राज-परिवारो मे काफी सख्या मे स्त्रियाँ समय-समय पर सती होती थी। यह प्रथा इतनी प्रचलित थी कि साधारण घरो की स्त्रियाँ भी विधवा होने पर सती हो जाती थी। कभी कभी वे स्वेच्छा से इस व्रत का पालन करती थी और कभी उन्हें समाज सती होने के लिए बाध्य करता था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने बाल-हत्या का भी करुण चित्रण

१ ब्राह्मण शूद्रजनित चाण्डालो धर्मवर्जित —वेदव्यास स्मृति १-१०

२ ए० इ० १८ पृ० ९५

किया है जो उस समय समाज म प्रचलित था।[1] किन्तु यह अवस्था राजपूत-वर्ग म ही अधिक थी। शेष समाज इसका पालन इतनी कठोरता से नही करता था।

भोजन-वसन तथा आभूषण—पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों म गोधूम, चावल तथा कम्ब के नाम बार-बार आते हैं जिससे यह परिलक्षित होता है कि य भोजन के प्रमुख अग थे। मांस-मछली एव मदिरा का भी उल्लेख अभिलेखों म किया गया है। बगाल म शक्ति मत का प्राबल्य और मनायन के प्रचार क फलस्वरूप वहाँ मांस भक्षण एव मदिरा पान पर काफी जोर दिया जाता था। अल्हण देवी के एक लेख स यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण भी मांस भक्षण करते थे। किन्तु सभी ब्राह्मणों के लिए ऐसा सोचना उचित नहीं ज्ञात होता। प्रतिहार बाउक क लेख से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तो मदिरा-पान नहीं करत थे, पर क्षत्रियों म सुरापान प्रचलित था। सुरा बेचने वाली स्त्रियों का भी बोध हम कुछ स्रोतो से होता है।

तत्कालीन मूर्तियो के आधार पर वेशभूषा का अनुमान करना अधिक तक सगत नहीं जान पड़ता और इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि स्त्रियाँ अपने सम्पूर्ण शरीर को ढका रखना नहीं चाहती थी अर्थात चादर का प्रयोग कम हो चला था। वास्तव म मूर्तिकार तो सौन्दर्य के प्रदर्शन के निमित्त मूर्तियों को नग्न अथवा अर्ध-नग्न दिखलाते रह समाज मे इस प्रकार की कोई वेशभूषा प्रचलित नहीं थी। स्त्रियाँ शृगारप्रिय अवश्य थी किन्तु शृगारिकता का मापदण्ड आधुनिक युग की भाँति नग्न न था। वे अपने शरीर को वस्त्रों तथा आभूषणो म पूर्णतया ढके रहती थीं। नारी मूर्तियों को भी मूर्तिकार आभूषणो से केवल इसलिए लाद देत थे कि उनकी वस्त्रविहीनता अथवा नग्नता पर एक आवरण पड़ जाय। अधिकाश वर्तमान आभूषणों का प्रचार विचाराधीन काल म भी था।

मनोरजन के साधन—आमोद प्रमोद के प्राचीन साधन अब भी विद्यमान थे। शतरग (आधुनिक शतरज) का खेल काफी प्रिय था। सगीत एव नृत्य का आयोजन विशेष अवसरो पर हुआ करता था। धार्मिक अवसरो पर रथयात्रा की व्यवस्था की जाती थी। इनके अतिरिक्त द्यूतक्रीडा भी समाज म प्रचलित थी जिस पर कर लगता था। परमार चामुण्डराय की प्रशस्ति से इसका प्रमाण मिलता है। विभिन्न खेलकूदो म भी लोग भाग लिया करते थे। आखेट भी कुछ लोगो के लिए मनोरजन का एक साधन था।

वैयक्तिक चरित्र—समाज मे व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान था क्योंकि अब समाज काफी परिपक्व हो चुका था। व्यक्तियों के सगठित जीवन पर जोर देने की आवश्यकता का अनुभव लोगो को होने लगा था और कभी कभी इस कार्यरूप म परिणत करने की भावना भी जगती रही। किन्तु जैसा कि प्रारम्भ म ही कहा गया है, लोगों मे अहमन्यता ने घर कर लिया था। जो कुछ वीर थे उन्हें अपनी वीरता पर घमण्ड था, जो विद्वान् थे उनके लिए सारा ससार मूर्ख था और जो दानशील थे उनके लिए समस्त विश्व अर्थलोलुप था। इस प्रकार वैयक्तिक गुणों से सम्पूर्ण समाज का कोई विशेष हित न होकर वह पतन का कारण बन रहा था। इस समय के समाज म छल-कपट को घृणित समझा जाता था। वचन का पालन करना लोग अपना परम

1 Dr Ishwari Prasad *A Short History of Muslim Rule in India*, p 24

कर्तव्य समझते थे। शेष समाज के सम्बन्ध में तो कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर समाज के कर्णधार राजपूतों के लिए तो ईमानदारी और प्रतिज्ञा-पालन उनका आभूषण था।

धार्मिक अवस्था

ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान शुंगों के समय से ही आरम्भ हो चुका था। पूर्वमध्य काल तक तो इसे पूर्णता प्राप्त हो चुकी थी, जैसा कि अल्तेकर महोदय ने बताया है, केवल कुछ ही स्थानों पर बौद्ध धर्म का अस्तित्व रह गया था। चचनामा के अनुसार इस युग के आरम्भ तक सिंध में बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव बना रहा। इसी प्रकार १२वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक बंगाल में इस धर्म का बोलबाला रहा। जैन धर्म का कुछ प्रान्तों में जोर पर था। गुजरात में इस धर्म का अधिक बोलबाला था। पर हिन्दू धर्म का प्राबल्य लगभग सम्पूर्ण भारत में था।

हिन्दू धर्म—अल्तेकर महोदय ने आगे बताया है कि यद्यपि कुछ प्रान्तों में जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव स्थापित था, तथापि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विचाराधीन काल में सशोधित हिन्दू धर्म का काफी प्रचार बढ़ रहा था। माना कि गुप्त-काल में हिन्दू धर्म को राज्याश्रय प्राप्त होते हुए भी बौद्ध धर्म का बोलबाला स्थापित था, पर स्थिति में शीघ्र ही परिवर्तन आया और ह्वेनसांग देखा कि पंजाब तथा उत्तरी संयुक्त प्रदेश जो फाह्यान के समय में बौद्ध धर्म के मानने वाले थे, पुनः ब्राह्मण धर्मावलम्बियों के केन्द्र बन गये। कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर तथा वैशाली आदि प्रमुख बौद्ध स्थान या तो प्राचीन खंडहर रह गये थे, अथवा यहाँ हिन्दुओं का प्राबल्य स्थापित हो चुका था।[1]

अल्तेकर महोदय का उक्त मत तर्कसंगत है और विचाराधीन काल में हिन्दू धर्म अपनी पराकाष्ठा को पहुँच रहा था। प्रचार की दृष्टि से ऐसा कहा गया है। यहाँ हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का विवेचन पृथक् पृथक् किया जायगा। हिन्दू धर्म का केन्द्र मध्य देश ही चुका था। यहीं से ब्राह्मणों ने बंगाल में ब्राह्मण धर्म का प्रचार किया था। बंगाल के राजाओं ने भी इस कार्य में काफी योग दिया था, इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वैदिक देवता जिसमें प्रारम्भ में बहुत मन्द परिवर्तन हो रहा था, अब काफी तीव्रता से बदलने लगे और उनके स्थान पर नये देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा होने लगी। इन्हें "पौराणिक देवता" कहा जा सकता है। लोगों में विशेषतया राजाओं और धनाढ्यों में दान देने की अभिरुचि अधिक थी। इसी आय से चारों ओर मन्दिरों का निर्माण जोरों से हो रहा था।[1] इस सम्बन्ध में भी हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे। लेखों तथा मूर्तियों से यह परिलक्षित होता है कि अब त्रिदेवों के स्थान पर पंचदेवों की उपासना होने लगी थी।

शैव मत—शैव मत, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, भगवान शिव की उपासना में निष्ठा रखता है। पूर्वमध्ययुग में भगवान शिव की उपासना का बड़ा

१ मन्दिर निर्माण की दृष्टि से यह युग हिन्दू धर्म का सर्वोत्कृष्ट काल है। हाँ, यह अवश्य है कि इस युग में अन्धविश्वासों का अधिकाधिक संख्या में जन्म होता है, कर्मकाण्डों का प्राधान्य स्थापित हो जाता है, पर साथ ही इस सत्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसी समय हिन्दू धर्म अपने प्रतिस्पर्द्धी जैन तथा बौद्ध धर्मों पर वास्तविक प्रभुत्व स्थापित कर सका।

प्रचलन था। इस युग में प्राप्त लेखों और निर्मित शिव मन्दिरों से इस तथ्य का पता चलता है। पाल चंदि, चंदेल आदि राजाओं के लेखों में 'ओम् नमः शिवाय' अथवा 'ओम् नमो ब्रह्मणो निर्गुणम् व्यापकम् नित्य शिवम्' उत्कीर्ण है। कलचुरि सेन में राजाओं को परम महेश्वर की उपाधि दी गई है जो पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी बताए गए हैं। इसी प्रकार इस समय के निर्मित मन्दिरों में ७० प्रतिशत या इससे भी कुछ अधिक मन्दिर भगवान शिव के हैं। पूर्वमध्ययुग में शैव सम्प्रदाय अनेक शाखाओं में विभक्त दिखलाई पड़ता है। इन शाखाओं में पाशुपत, कापालिक, कालमुख और लिंगायत मुख्य हैं। पूर्वमध्ययुग में शैव मत के व्यापक प्रसार का एक मुख्य कारण राजाश्रय था। इसमें विशाल भव्य शिवालयों की रचना हुई, शैव दर्शन का विकास हुआ और उनके धर्म ग्रन्थों—आगमों—का प्रणयन हुआ।

वैष्णव मत—वैष्णव मत का प्रचार बंगाल से लेकर मध्य प्रान्त तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में काफी था। हम जानते हैं कि भागवत धर्म का प्रचार उत्तरी भारत में प्रथम शताब्दी ई० में ही हो चुका था और गुप्त वंशीय शासकों ने इस राजधर्म पोषित किया था जिसके फलस्वरूप उन्हें 'परम भागवत' का विरुद दिया गया था। तत्कालीन मुद्राओं पर विष्णु, लक्ष्मी तथा विष्णुवाहन गरुड़ की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उदयगिरि में शेषशायी विष्णु की प्रतिमा प्राप्त हुई है। लगभग सातवीं शताब्दी में वैष्णव मत में कृष्ण का आविर्भाव हुआ जो बंगाल में कृष्ण सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। यहाँ इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार हुआ। कृष्ण-लीला का प्रदर्शन इस प्रदेश में किस शृंगारिक ढंग से होता था इसका प्रमाण हमें आठवीं शताब्दी की पहाड़पुर की खुदाई से प्राप्त होता है जहाँ प्रस्तर पर कृष्ण-लीला के चित्र उत्कीर्ण हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों के इष्टदेव भगवान विष्णु हैं। उनके अनुसार भगवान् विष्णु के २४ अवतार हुए हैं। इन अवतारों में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और लीला पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण सर्वाधिक लोकप्रिय और समादृत हैं। वैष्णव सम्प्रदाय प्रायः समस्त भारत में प्रचलित था। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में वैष्णव भक्ति के प्रचार में वैष्णव सन्तों का अपना योग रहा है। इस दृष्टि से दक्षिण भारत के 'आल्वार' तथा 'आचार्य' नाम से अभिहित सन्तों का नाम लिया जा सकता है।

शाक्त सम्प्रदाय—पूर्वमध्ययुग का अन्य महत्वपूर्ण सम्प्रदाय शाक्त सम्प्रदाय था। शाक्त सम्प्रदाय के अनुयायी शक्ति की उपासना में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार शक्ति ही सृष्टि की सृष्टा, संहारिका और संरक्षिका है। शाक्त सम्प्रदाय में उपासना की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। शाक्त सम्प्रदाय में तन्त्र मन्त्र की प्रधानता थी। पूर्वमध्ययुग में शक्ति-पूजा का अच्छा प्रचलन था। चण्डी, चण्डिका, अम्बिका, कल्याणी महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा आदि विविध रूपों में देवियों की उपासना की जाती थी और उनके मन्दिरों का निर्माण किया जाता था।

कुछ अन्य सम्प्रदाय—भगवान शिव, भगवान् विष्णु तथा शक्ति की उपासना के अतिरिक्त पूर्व मध्ययुग में त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) गणेश, स्कंद सूर्य तथा अष्ट दिग्पाल इत्यादि की पूजा का प्रचलन था। इस प्रकार इस युग में कुछ अन्य सम्प्रदायों का भी उदय हुआ।

शक्ति सम्प्रदाय की भाँति विचाराधीन काल में नाथ सम्प्रदाय का भी काफी जोर था। इसकी उत्पत्ति तथा उत्पत्ति-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही कुछ वर्ग में योगाभ्यास तथा यौगिक क्रियाओं के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो चुकी थी। योगाभ्यास का युग

रूप तो हमें प्राचीन तपा मे ही प्राप्त होता है। ईसा पूर्व से ही योगविद्या का प्रादुर्भाव होना पाया जाता है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिव को आदि योगी माना जाता है। योगशास्त्र के आदि प्रवर्तक शिव ही हैं। इसीलिए इनका दूसरा नाम 'योगेश्वर' भी है। भस्म लगाये तथा समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। किन्तु काफी समय तक इसे किसी पृथक सम्प्रदाय के रूप में नहीं माना गया था। यौगिक क्रियाओं को पृथक् महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय नाथ सम्प्रदाय वालों को ही दिया जा सकता है। शिव ही 'आदि नाथ' भी कहे जाते हैं। गुरु गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के इतिहास में प्रथम गौरवपूर्ण स्थान रखते है। इन्होंने विभिन्न यौगिक क्रियाओं का प्रचार किया। इनके शिष्यों की सख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और शीघ्र ही नाथ सम्प्रदाय का प्रभुत्व भारत के अनेक भागों में स्थापित हो गया। विद्वानों का इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा मत है कि इस पर बौद्ध धर्म तथा शैव सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गुरु गोरखनाथ ने जिस हठयोग को प्रधानता प्रदान की, उसका उल्लेख आठवीं शताब्दी के कुछ स्रोतों में मिलता है। हठयोग द्वारा सिद्धि तथा मोक्ष प्राप्ति की कामना नाथ सम्प्रदाय वाले करते थे। नाथ सम्प्रदाय के कनफटे योगियों का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। इनका मुख्य उद्देश्य जो भी हो, ये घूम कर भिक्षाटन करते हैं। कापालिक मार्गी साधु भी नाथ सम्प्रदाय में ही सम्मिलित हैं।

सूर्योपासना हमारे देश मे प्राचीन काल से ही प्रचलित है। सातवीं शताब्दी के पश्चात् के लेखों से विकसित सूर्योपासना का आभास मिलता है। गुप्तकाल में सूर्योपासना का काफी प्रचार था। प्रभाकरवर्द्धन भी सूर्योपासक था। विचाराधीन काल में अनेक सूर्य-मन्दिरों का निर्माण हुआ था जिनके प्रतिपादन का उल्लेख गहड़वाल, प्रतिहार तथा चहमान लेखों में मिलता है। बगाल के सेन शासक विश्वरूपसेन तथा केशवसेन सूर्य के परम उपासक थे और इसीलिए उन्हें "परमसौर" का विरुद प्राप्त था। विचाराधीन काल में सूर्य की मूर्तियों का भी अधिक सख्या में निर्माण हुआ था। ये मूर्तियाँ बहुधा पाल शैली में काले पत्थर पर बनती रहीं। दोनों हाथों में कमल का पुष्प लिए हुए सूर्य देवता की खड़ी मूर्ति प्राप्त होती है। निचले भाग में सूर्य के सात अश्ववाले रथ का चित्र रहता है, जिसके दोनों ओर उषा तथा सध्या देवियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण रहती हैं। पाल तथा सेन वंश के शासन काल में इस प्रकार की सूर्य-मूर्तियाँ काफी सख्या में निर्मित हुई थीं। मुल्तान का सूर्य मन्दिर इस समय के सब प्रसिद्ध मन्दिरों में से था।

अवतारवाद का विकास—अवतारवाद इस युग की देन न थी, प्रत्युत प्राचीन काल से ही आर्यों ने अवतारों की कल्पना कर ली थी। विचाराधीन काल में अवतारवाद का महत्त्वपूर्ण विकास अवश्य हुआ। ब्राह्मण तथा आरण्यक में विष्णु के अवतारों—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह आदि का उल्लेख किया गया है। महाभारत के नारायणी पर्व में भी वराह, वामन, रामादि के अवतारों का विवरण प्राप्त होता है। इन अवतारों का प्रचार गुप्तयुग में भी खूब था और यही कारण है कि तत्कालीन कलाकारों ने इनकी मूर्तियाँ निर्मित की थीं। अवतारों का एकमात्र उद्देश्य रखा गया मनुष्यों को सासारिक कष्टों से मुक्त करना अथवा पापाचार का अन्त कर पुण्य की स्थापना। फलतः लोगों में अवतारों के प्रति विशेष श्रद्धा का भाव जागृत हुआ और पचदेवों की पूजा के साथ साथ चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा होने लगी। विचाराधीन काल में ही अवतारवाद इस पराकाष्ठा पर पहुँचा था। मूर्तिकारों ने अवतारों की मूर्तियों के निर्माण की ओर ध्यान दिया तो साहित्यकारों ने

तत्सम्बन्धी साहित्य के सृजन की ओर। पुराणों मे अवतारो पर पूर्ण प्रकाश डाला गया। क्षेमेन्द्र ने दशावतारचरित (१०६० ई०) तथा जयदेव ने गीतगोविन्द (११८० ई०) मे अवतारो का विवरण प्रस्तुत किया। इस काल के अभिलेखो में भी भगवान् के विभिन्न अवतारो का उल्लेख किया गया है। हिन्दुओ ने अपने अवतारवाद में महात्मा गौतम बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया। अवतारों की मूर्तियों के निर्माण मे मूर्तिकारो ने आश्चर्यजनक उन्नति की। विभिन्न देवताओ के लिए चार आठ तथा अन्य सख्या मे हाथो का निर्माण किया जाने लगा।

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के पतनोन्मुख होने का उल्लेख हम पिछले पृष्ठो में कर चुके हैं। उस स्थान पर अल्तेकर महोदय के विचारो पर प्रकाश डाला गया था। आगे उक्त विद्वान् ने बताया है कि कन्नौज मे बौद्ध धर्म को कुछ प्रश्रय प्राप्त हुआ था और यहाँ विहारो की सख्या सौ तक पहुँच गई थी। किन्तु यह हर्ष के स्थायी श्रम का प्रतिफल था। इसके पीछे जनता की कोई अभिरुचि न थी। ह्वेनसाग तथा इत्सिग के भ्रमण-काल में ही बौद्ध धर्म को अपनी अल्पायु का आभास प्राप्त हो चुका था। उक्त यात्रियो ने स्वय बौद्ध मतावलम्बियों मे ही अपने धर्म के भारत से विलुप्त हो जाने के विश्वास का उल्लेख किया है। बोध गया के बौद्धो का यह विश्वास था कि जब वहाँ की अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ बालू मे पूर्णतया धँस जायगी तो उनका धर्म (बौद्ध धर्म) विलुप्त हो जायगा। सातवी शताब्दी मे उनमे से कुछ मूर्तियो पर छाती तक बालू चढ चुकी थी। पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) मे ह्वेनसाग को एक जीर्ण र्ण माला दिखलाई गई थी जिसके सम्बन्ध मे यह कहा जाता था कि बुद्ध भगवान् इसे धारण कर चुके थे। भिक्षुओ का यह विश्वास था कि माला के अन्त के साथ ही साथ उनके धर्म का अन्त हो जायगा। अल्तेकर महोदय ने आगे यह लिखा है कि इत्सिग को भी बौद्ध धर्म की हीनावस्था एव उसके भावी विनाश का बोध हो चुका था और इसीलिए यात्री ने भावी पतन से बौद्ध धर्म की रक्षा के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के समन्वय की बात कही थी।[1]

इन विवरणो से यह परिलक्षित होता है कि बौद्ध धर्म अपनी प्राचीन महत्ता खोता जा रहा था। भारत मे इस धर्म के पतनोन्मुख होने का प्रमुख कारण विभिन्न सम्प्रदायों का प्रभाव है, जिसने बौद्ध धर्म की मौलिकता को क्षतिग्रस्त कर दिया। वैसे तो प्रथम शताब्दी ई० से ही भागवत धर्म के प्रभाव में आकर बौद्ध धर्म की महायान शाखा का उदय हुआ था, पर कालान्तर मे इस धर्म मे इतने महान् एव आश्चर्यजनक परिवर्तन आये कि छठी शताब्दी ई० पू० और ११वी, १२वीं शताब्दी के बौद्ध धर्म मे समता ढूढने मे काफी कठिनाई पड सकती थी। पाँचवी शताब्दी में ही आचार्य असग के ग्रन्थो में तान्त्रिक विचारधारा का समावेश प्रभावशाली ढग से किया गया जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म मे तन्त्र का प्राबल्य स्थापित हुआ। महायान सम्प्रदाय का प्राचीन स्वरूप लगभग सातवीं शताब्दी तक बना रहा, किन्तु पूर्वमध्ययुग मे इस सम्प्रदाय मे तन्त्रयान ने घर कर लिया। साधारण लोगो मे देवी-देवताओ में पूर्ण आस्था थी। मन्त्र को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते थे। ऐसा विश्वास था कि मन्त्र (धारणी) से मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। इन सारी विचारधाराओं के फलस्वरूप बौद्ध धर्म मे विभिन्न प्रकार के आडम्बरों ने घर कर लिया और भूत प्रेत, इन्द्रजाल, मोहन, वशीकरण आदि की भावनाओ से समस्त बौद्ध सम्प्रदाय पूरित हो गया। हठयोग की माया में फँस जाने के पश्चात् तो स्थिति और भी विकृत हो गई। बौद्ध

१ *The Rashtrakutas And Their Times*, p 270

ही तान्त्रिक बौद्ध धर्म ने अपनी युवावस्था को प्राप्त कर लिया और इसे वज्रयान सम्प्रदाय कहा गया। वज्रयान सम्प्रदाय वालों ने यौगिक क्रियाओं में मन्त्र के साथ-साथ मुद्रा को भी स्थान दिया। "तान्त्रिक भाषा में 'मुद्रा' उसे कहते हैं जहाँ साधक किसी युवती को अपनी संगिनी बनाता है। इस साधना में सहज सुख (मोक्ष) पाने के लिए यौगिक गुप्त रीति का पालन किया जाता है। इसमें विविध धार्मिक कृत्य तथा देवी देवताओं की पूजा को स्थान देकर पौराणिक देवों को वज्रयान में अपनाया गया। किन्तु विकार यहीं तक सीमित न रह सका। वज्रयान के साधकों ने अपनी साधना में हठयोग और मैथुन को प्रधानता दी। ८४ सिद्धों को ही इसके प्रचार का श्रेय दिया जा सकता है। इनमें सरहप्पा, लिलोपा, नरोपाद, कान्हपाद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। वज्रयान सम्प्रदाय के आचार्यों ने हठयोग के जिन साधनों का उल्लेख किया था, आनेवाली पीढ़ी ने उनका दुरुपयोग किया। बंगाल तथा बिहार वज्रयान सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र थे और नालन्दा तान्त्रिक मत का केन्द्र था। शक्ति की उपासना का बौद्ध धर्म में भी प्रचार हुआ और तारा देवी को बौद्ध शक्तियों में प्रमुख स्थान प्रदान किया गया।[१] सिद्धों ने चर्यागान में शक्ति का बार बार उल्लेख किया है। वहाँ सामान्य स्त्रियों को कोई स्थान न देकर शाश्वत शक्ति की साधना पर बल दिया गया है। दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच में सिद्धों ने इस मत के प्रचार में एड़ी चोटी का जोर लगा दिया। कालान्तर में इस मत के नय रूपों को सहजयान तथा कालचक्रयान की संज्ञा दी गई।

धार्मिक दृष्टिकोण से तो बौद्ध धर्म की उपर्युक्त परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय कही जा सकती है, क्योंकि जिन धार्मिक विडम्बनाओं एवं बाह्याडम्बरों को चुनौती देते हुए बुद्ध भगवान ने नये पथ का सृजन किया था और एक नये मत का सफल प्रतिपादन किया, स्वयं उसमें ही समस्त दुर्गुण आ गये। पर कला की दृष्टि से यह परिस्थिति हितकर सिद्ध हुई। नये विश्वासों के परिणामस्वरूप जिन नये देवी देवताओं का जन्म हुआ, कलाकारों ने उनकी सुन्दरतम मूर्तियों की कल्पना की और ऐसी मूर्तियों का निर्माण किया, जिनमें कला के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। तान्त्रिक सम्प्रदाय की अनेक मूर्तियाँ पाल शैली में सेनयुग की प्राप्त हुई हैं। प्रस्तर

१ अल्तेकर महोदय ने दक्षिण भारत में भी तारा देवी के महत्त्व का प्रदर्शन किया है और उन्होंने इस सम्बन्ध में विक्रमादित्य षष्ठम का १०६९ ई० का एक अभिलेख उद्धृत किया है जिससे उनके मत की पुष्टि हो जाती है। उक्त विद्वान ने बताया है कि महायान सम्प्रदाय में तारा की पूजा स्थल तथा जल में आपत्ति के अवसर पर सहायता के निमित्त की जाती थी। अभिलेख इस प्रकार है—

हरिकरिशिखिफणि तस्करविपज्जलार्णवपिशाचभयशमिनि।
शशिकिरणकान्त धारिणि भगवति तारे नमस्तुभ्यम्॥
या ज्ञानार्णवमन्थनात् समुदिता प्रज्ञेति या कथ्यते।
या बुद्धस्य विभूतिदा त्रिभुवने बोधिस्वरूपा परा।
या हृदव्योम्नि तथागतस्य वसति स्फीतेव चान्द्रीकला।
सा तारा भवदुःखतापशमिनि प्राशास्तु वस्सर्वदा॥

आगे अल्तेकर महोदय ने लिखा है—

'(बौद्ध) धर्म सर्वसाधारण में अपना प्रभाव पूर्णतया खो चुका था और अपने पतन के अन्तिम सोपान पर पहुँच गया था।'—*The Rastrakutas and Their Times*, p. 309

के अतिरिक्त पाल शली मे धातु की-सी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। नालन्दा मे जो तान्त्रिक मत का प्रधान केन्द्र था, ऐसी मूर्तियो का बाहुल्य है। नालन्दा के तान्त्रिको ने नैपाल, तिब्बत तथा चीन मे तान्त्रिक मत का खूब प्रचार किया था जिनके फलस्वरूप उन देशो मे भारतीय सभ्यता एव विशिष्ट भारतीय कला का भी प्रचार हुआ था।

जैन धम—यद्यपि जैन धम की भी प्राचीन महत्ता श्रीहीन होती जा रही थी, तथापि अभी उसकी स्थिति बौध धम की अपेक्षा अच्छी थी। उत्तर भारत मे इसका दबदबा अवश्य कम हो गया था, किन्तु दक्षिण भारत मे इस धम को राज्याश्रय प्राप्त करन का गौरव मिला और अल्तेकर महोदय के शब्दो मे "विचाराधीन काल (राष्ट्रकूट युग) जैन धम के इतिहास म, दक्षिण मे सर्वोच्च विकासोन्मुख काल था।" उत्तर भारत मे इसकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम हो गई थी, जिसके मूल मे हिन्दू धम का पुनरुत्थान ही रहा। उत्तर भारत मे विभिन्न राजाओ ने जैन मठो तथा विहारो को दान दिये थे, जिसका प्रमाण तत्कालीन लेखो तथा दानपत्रो म प्राप्त होता है। पाल लेख म शैव राजा की पत्नी द्वारा जैन विहार को दान देने का उल्लेख किया गया है। बगाल के पुण्ड्रवधन क्षेत्र मे अनेक जन विहार थे जिनको प्राय हिन्दू राजाओ से दान मिल जाया करता था। मारवाड के चहमान लेख मे तीथकर शान्तिनाथ की देवयात्रा के लिए अग्रहार दान का विवरण प्राप्त होता है। दान का एक अन्य उदाहरण नासिक के निकट प्राप्त एक प्रशस्ति मे मिलता है जिसमे सूयग्रहण के अवसर पर दान देने तथा दान की आय से जन साधुओ के भोजन की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।

ब्राह्मण मतावलम्बी राजाओ द्वारा जैन विहारो को दान देने के कई कारण हो सकते है। इनमे प्रमुख कारण तो दान देने की सवव्यापी प्रवत्ति है, जिसमे प्रभावित होकर राजा धार्मिक सस्थाओ को निर्पेक्ष भाव से दान दिया करते थे। किन्तु अन्य महत्त्वपूण कारण जन धम की परिवर्तित अवस्था भी है। इस समय का जन धम ब्राह्मण धर्म क काफी निकट आ चुका था। जैन मतावलम्वी पौराणिक देवी-देवताओ की पूजा करने लगे थे। सरस्वती को जैन मत की विद्या-देवियो मे स्थान मिल चुका था। गणेश की अटठारह भुजा वाली मूर्ति प्राप्त हुई है जिसकी पूजा जैन लोग किया करते थे। ब्रह्मण देव का सूय तथा शिव की उपासना करना इसका प्रमाण है कि जनी भी ब्राह्मण देवताओ की आराधना करते थे।

कुछ सामान्य धार्मिक विश्वास एव आस्थायें—पूर्वमध्ययुगीन ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्मों की अवस्थाओ पर सक्षप मे प्रकाश डाला गया है जिसके अध्ययन से हमे कुछ सामान्य धार्मिक विश्वासो का बोध होता है। उदाहरणाथ दान देने की प्रवत्ति, धार्मिक सहिष्णुता, मूर्तिपूजा आदि। धम निरपेक्ष भाव से दान देना इस युग की विशेषताओ मे एक महत्त्वपूण वस्तु है। विचाराधीन काल मे मूर्तिपूजा का प्राधान्य था, जिसके फलस्वरूप अधिक से अधिक सख्या में मन्दिरो का निर्माण होने लगा था। इन मन्दिरो के बनवाने तथा उनकी व्यवस्था के लिए अनुदान की आवश्यकता थी। राजाओ के अतिरिक्त अन्य समर्थ लोग भी दान दिया करते थे। बहुधा भूमिदान ही दिया जाता है। मन्दिरो के साथ-साथ लोग कभी-कभी व्यक्ति या शिक्षण-सस्थाओ को भी दान देते थे। विचाराधीन काल म मन्दिरो, विहारो आदि को दान देने के उदाहरणो का का उल्लेख पिछले पृष्ठो म किया जा चुका है। अहिन्दू लेखको ने भी हिन्दुओ की दान देने की प्रथा का उल्लेख किया है। इलियट ने उत्बी के तत्सम्बन्धी वचन को इस प्रकार प्रकाशित किया—

"हिन्द के राजा उस देश के सरदारगण तथा धनाढ्य भक्त समय समय पर अपना बहुमूल्य कोष और जवाहरात मूर्तियों को उपहारस्वरूप (दानस्वरूप) दिया करते थे जिससे उनको इन अच्छे कार्यों का पुरस्कार मिले और वे अपने ईश्वर के निकट पहुँच सकें।"[1]

दान देने के मूल में स्वर्ग जाने का अटूट विश्वास निहित था। दान देने के महत्त्व की छाप प्राणी प्राणी के हृदय एवं मस्तिष्क पर पड़ी थी। दान देने के कुछ विशेष अवसर भी थे। सूर्य या चन्द्रग्रहण, मुख्य पर्व, एकादशी, अक्षयतृतीया, संक्रान्ति, अधिक मास आदि के अवसर पर दान देना अधिक पुनीत कार्य समझा जाता था। शुभ अवसरों (जन्म दिवस, विवाह आदि) पर भी राजा दान दिया करते थे। दान देने की पद्धति का पूर्ण विवेचन हम स्मृतियों में प्राप्त होता है। पूर्वमध्यकालीन लेखों में भी इसी विधि का पालन किया गया है। दानी राजा लेख में यह लिखवा देता था कि दान दिये गये भूभाग को वापस लेने अथवा दान में बाधा पहुँचाने पर वह व्यक्ति नरकगामी होगा और इसके विपरीत इस नियम का पालन करने वाला शासक स्वर्गगामी होगा।

पुण्यो, नियमगमिनी
विष्ठायां तु कृमि भूत्वा, पितृभि सहमज्जति।

इस प्रकार के श्लोकों को दानपत्रों के अन्त में उत्कीर्ण कराकर दानी राजा अपनी सन्तान से भी दानग्राही को सुविधा पहुँचाने की बात कह जाता था, और पालन करने वाले को आशीर्वाद तथा विरोधक को शाप दे जाता था। धार्मिक युग में, जहाँ दान और पूजा का इतना महत्त्व हो, इन शापों से कौन नहीं भय खाता रहा होगा।

मूर्तिपूजा का प्रादुर्भाव ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि समस्त धर्मों में हो चुका था। इतना ही नहीं, प्रत्येक सम्प्रदाय का यह सर्वोत्कृष्ट धार्मिक कृत्य था। ब्राह्मण धर्म की प्रत्येक उपशाखा में इसका प्रचलन था। पौराणिक देवताओं की आराधना ही इस युग की एक विशेष उल्लेखनीय विशेषता है। देवताओं का एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में संक्रमण कर जाना भी महत्त्व की बात है। कुछ सर्वथा नवीन देवी-देवताओं का भी उदय इस युग में हुआ था। वर्तमान हिन्दू समाज में देवी-देवताओं की लम्बी तालिका देखने को मिलती है। इसमें के अधिकांश देवताओं का जन्म पूर्वमध्ययुग में ही हुआ था।

किन्तु विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों का उदय अथवा उनका विकास समाज में धार्मिक सहिष्णुता न ला सका। यद्यपि धर्मलिप्सा की परिस्थिति कुछ ऐसे ही प्रतिफल का द्योतक होती है, किन्तु विचाराधीन काल में लोग अपने मत को प्रधानता प्रदान करते हुए भी दूसरे के मत को उपेक्षित दृष्टि से नहीं देखते। धार्मिक सहिष्णुता का

1 'The kings of Hind, the chiefs of that country and rich devotees used to amass their treasures and precious jewels and send them after time to be presented to idols that they might receive a reward for their good deeds and draw near to their God —Elliot II, p 34 quted by Dr A S Altekar

उक्त उद्धरण से यह परिलक्षित हो जाता है कि दान देने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण भारत में पाई जाती थी।

सबसे बडा प्रमाण हिन्दू तथा जैन मतावलम्बी राजाओ का अपने मत के मन्दिरों एव विहारों को दान देने के साथ ही अन्य मतवालो को भी दान देना है। वास्तविकता तो यह है कि भारत मे केवल इने गिने हिन्दू सम्राटों पर ही धार्मिक असहिष्णुता का आरोप लगाया जा सकता है, पर यह आरोप भी कुछ राजाओ के साथ सन्देहात्मक प्रश्न बन जाता है।

इस धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र मे भारतीय समाज में एकता बनी रही और वास्तविकता तो यह परिलक्षित होती है कि इसी धार्मिक सहिष्णुता ने तत्कालीन समाज को पतनोन्मुख बनाने से रोका था, अन्यथा राजा और प्रजा की सामाजिक प्रवृत्तियाँ समाज को पतनोन्मुख करने को पर्याप्त थी। जीवन के विभिन्न अगों को इस सहिष्णुता ने प्रभावित किया था। कला के क्षेत्र में भी इसने विकास का माग प्रशस्त किया और दो सम्प्रदायो के कलाकारों के संयुक्त परिश्रम से देवता की मूर्तियो को सौन्दय मिलने लगा।

पूर्वमध्यकालीन साहित्य एव कला

विचाराधीन काल की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी कुछ विशेष कला सम्बन्धी उपलब्धियाँ हैं। कला का प्रस्फुटन इस युग की सर्वथा नवीन वस्तु नहीं है, इसका क्रम प्राचीन काल से चलता आ रहा था। इस युग मे कुछ क्षेत्रो में अधिकाधिक उन्नति हुई। साहित्य और वास्तुकला के क्षेत्र में जो उन्नति इस युग में हुई, वह सराहनीय है। उस समय की कलाकृतियाँ आज हमारे गौरव की वस्तु बनी हुई हैं। साहित्यिक कृतियाँ वर्तमान साहित्यकारों एव साहित्य विद्यार्थियों का पथ प्रदर्शन करने की क्षमता रखती हैं। इस युग में वास्तुकला विशारदों एव साहित्यकारों की बाढ़-सी आ गई थी। राज्याश्रय पाकर कलाकारों को उत्साह मिला (यह दूसरी बात है कि कला कभी-कभी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की कामनाओं की पूर्ति के निमित्त उनकी इच्छाओं द्वारा अनुशासित रही और उसका वैसा स्वाभाविक विकास हो सकता था, वैसा नहीं हो सका)। साहित्य के विभिन्न अग पर जितनी रचनायें इस युग में हुईं, वे संस्कृत-साहित्य के कोष में अपना अधिक महत्त्व तो रखती ही हैं, साथ ही वे संख्या में भी अधिक हैं। ललित साहित्य की ओर ही साहित्यकारों की रुचि अधिक थी और इसलिये उपयोगी साहित्य की रचना उपेक्षित रह गई। दर्शन-साहित्य की ओर भी कुछ साहित्यकारों ने ध्यान दिया था। नीचे इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

ललित साहित्य—स्थानाभाव के कारण समस्त साहित्यकारों का न तो उल्लेख ही किया जा सकता है और न महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों की तिथियों एवं उनकी रचनाओं पर ही विचार किया जा सकता है, अतः केवल नामस्मरण करके ही सन्तोष करना पड़ेगा। संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के मुख पर यह श्लोक बराबर सुनने को मिलता है 'उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः।' महाकवि कालिदास का विवरण हम गुप्तकालीन साहित्य का अध्ययन करते समय प्राप्त कर चुके हैं। दक्षिण भारत के महाकवि भारवि सातवीं शताब्दी में आते हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'किरातार्जुनीय' है। भारवि की कविता संस्कृत साहित्य में अर्थ-गौरव के लिए प्रसिद्ध है। भारवि अलंकृत काव्यशैली के जन्मदाता माने जाते हैं। वलभी के राजा श्रीधरसेन के दरबार में महाकवि भट्टि सभा-पण्डित

केशव धृत बुद्ध शरीर
... जगदीश हरे।—गीत गोविन्द।

थे जिन्होंने 'रावण वध' अथवा 'भट्टिकाव्य' की रचना की। सस्कृत साहित्य के महारथी गुजरात-निवासी माघ का आविर्भाव भी इसी युग म हुआ था। इनका सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल-वध' सस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट रचना है। यदि कालिदास अपनी उपमाओ, भारवि अर्थ-गौरव तथा दण्डी पदलालित्य के लिए विख्यात हैं तो माघ मे ये तीनों गुण विद्यमान है। यह उक्ति भले ही किसी सहृदय के तीव्रतम भावातिरेक का प्रतिफल हो, पर इतना तो स्वीकार ही करना होगा कि माघ का 'शिशुपाल-वध' उनके मस्तिष्क एव हृदय गत पक्षो की उत्कृष्टता का सजीव उदाहरण है। माघ के बाद काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये ग्यारहवी शताब्दी मे हुए थे। इन्होने अनेक वृहत् ग्रन्थो की रचना की थी जिनम वृहत्कथा मजरी, दशावतार चरित, कला विलास आदि विशेष उल्लेखनीय है।

काश्मीर मे ही बारहवी शताब्दी म एक दूसरे सुप्रसिद्ध साहित्यकार हुए जिनका नाम मखक था। ये काश्मीर-नरेश जयसिंह के सभा पण्डित थे। मखक का 'श्रीकण्ठ चरित' सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। सस्कृत साहित्य के जगमगाते रत्न श्रीहर्ष का उदय बारहवी शताब्दी म हुआ था। ये न केवल सफल कवि ही थे, वरन साथ ही साथ वे दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। इन्ही के शब्दो म—

"ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञ मन्यमना हठेन पठिति मास्मिन्खल खेलतु।

अर्थात्, जिस प्रकार मेरी बुद्धि सुकुमार साहित्य म चलती है, उसी प्रकार कठोर तथा शुष्क न्याय की ग्रन्थियों की सुलझाने म क्रीडा करती है। इनका सर्वश्रेष्ठ तथा सस्कृत साहित्य का उच्चकोटि का महाकाव्य 'नैषध चरित' है। 'खण्डन खण्डखाद्य' इनका सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त श्रीहर्ष ने अन्य कई ग्रन्थो की रचना की है। ये कन्नौज-नरेश जयचन्द्र के सभापण्डित थे। पद्मगुप्त का नाम भी सस्कृत-साहित्य म गर्व के साथ लिया जा सकता है। इनका नवसाहसाकचरित ग्यारहवी शताब्दी की उत्कृष्ट रचनाओ म गिना जाता है। काश्मीर मे दो और प्रमुख महाकवि हुए बिल्हण और कल्हण। बिल्हण ने विक्रमाकदेव चरित' लिखकर न केवल सस्कृत साहित्य के कोश मे अभिवृद्धि की, प्रत्युत इन्होने इतिहास के विद्यार्थियो के लिए भी कुछ सामग्री प्रस्तुत की है। कल्हण की 'राजतरगिणी के लिए भी यही वाक्य कहे जा सकते हैं। दोनो ही बारहवी शताब्दी म हुए थे। सुप्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने तो 'कुमारपाल चरित' लिखकर दो भाषाओं पर अपना पूर्ण अधिकार रखने का परिचय दिया।

इस युग म कुछ सुप्रसिद्ध नाटककार भी हुए। इन नाटककारो ने सस्कृत साहित्य की बहुत बडी सेवायें की। कालिदास के बाद भवभूति को ही सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। इनका उत्तररामचरित सस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इन्होने दो अन्य नाटक 'महावीरचरित तथा 'मालती माधव लिखे। ये विदर्भ निवासी और कन्नौज-नरेश यशोवर्मा के सभा-पण्डित थे। दूसरे प्रसिद्ध नाटककार भट्टनारायण थे। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वेणी सहार है। अन्य नाटककारो म मुरारि, जयदेव और राजशेखर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मुरारि का एकमात्र ग्रन्थ अनर्घराघव है। जयदेव ने प्रसन्न राघव' की रचना की। राजशेखर ने छ ग्रन्थो की रचना की जिनम बाल रामायण', बाल-भारत', विद्धशाल भञ्जिका विशेष उल्लेखनीय है। इन्होने प्राकृत म 'कर्पूरमञ्जरी की रचना की।

महाकाव्य एव नाटक के अतिरिक्त कथा साहित्य की भी इस युग म विशेष प्रगति

महाकाव्य एव नाटक के अतिरिक्त कथा-साहित्य की भी इस युग मे विशेष प्रगति हुई। कथा-साहित्य की परम्परा तो बहुत पहले से ही चली आ रही थी। उपदेशात्मक कहानियाँ ही लिखी जाती रहीं। विचाराधीन युग मे 'पचतत्र' की कहानियाँ समाज मे काफी प्रचलित थीं। 'पचतत्र' के आधार पर ही 'हितोपदेश' की रचना हुई। नारायण पण्डित ने इसकी रचना की थी। सस्कृत कथा साहित्य मे 'बृहत्कथा' का काफी ऊँचा स्थान है। गुणाढ्य इसका रचयिता था। यह ग्रथ पैशाची भाषा मे लिखा गया था किन्तु मूल ग्रथ उपलब्ध नही है। इसके तीन सस्कृतानुवाद प्राप्य हैं। पहला बुद्धस्वामी का 'बृहत्कथा श्लोकसग्रह' दूसरा क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामजरी' तथा तीसरा सोमदेव का कथासरित्सागर।

इस युग में साहित्य के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र म हुआ। इसी युग म काव्यशास्त्र को पूर्णता प्राप्त हुई (और कुछ अशो म प्रारम्भ इसी युग में होना मानना चाहिए)। डॉक्टर सुशील कुमार डे ने सस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास का जो काल विभाजन किया है और जो अत्यन्त प्रामाणिक है वह हमारे उपर्युक्त कथन के समर्थन के लिए पर्याप्त है।

काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह हैं जो काश्मीर के निवासी थे। इनका समय सातवी शताब्दी के मध्य मे माना जाता है। इन्होंने 'काव्यालकार' लिखकर अलकार सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापन किया। अलकार सम्प्रदाय के अनुयायियो मे उद्भट तथा रुद्रट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उद्भट का समय आठवी शताब्दी माना जाता है। ये काश्मीर निवासी और काश्मीर-नरेश के सभापडित थे। इनके ग्रथ का नाम "भामह-विवरण" है। रुद्रट भी काश्मीर के निवासी थे। 'काव्यमीमासा' लिख कर इन्होंने अलकार सम्प्रदाय को प्रौढ किया। किन्तु धीरे-धीरे अलकार सम्प्रदाय का लोप होने लगा और काव्य की आत्मा अलकार को न मानकर रीति को माना जाने लगा। रीति सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य दण्डी थे जो अलकारो को भी काफी अच्छा स्थान देते हैं। दण्डी ७०० से ७५० ई० के बीच म हुए थे। ये दक्षिण के काची नगरी के निवासी थे। इन्हें पल्लव-नरेश का राज्याश्रय प्राप्त था। 'काव्यादर्श' इनका काव्यशास्त्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। किन्तु रीति सम्प्रदाय के वास्तविक सस्थापक आचार्य वामन हैं जिन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि रीति ही काव्य की आत्मा है और आगे रीति की व्याख्या करते हुए इन्होंने बताया है कि विशिष्ट पदरचना ही रीति है। विद्वानो ने इनका समय आठवी शताब्दी के मध्य से ९वी के मध्य तक माना है। ये काश्मीर-नरेश जयापीड के मत्री थे। किन्तु रीति सम्प्रदाय भी अधिक दिनो तक नही चल सका और काव्य की आत्मा के अन्वेषको ने एक नवीन सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापन किया। वह है रस सम्प्रदाय। वास्तव म रस सिद्धान्त कोई सर्वथा नवीन सिद्धान्त न था और इसका प्रतिपादन बहुत पहले ही भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में कर दिया था।[1] इसी से प्रभावित होकर विचाराधीन काल मे कुछ ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा घोषित करके रस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों मे भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पर इनके विचारो को भी कुछ आचार्यों ने स्थायित्व नहीं प्राप्त करने दिया और उन्होंने काव्य शास्त्र मे एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ये आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा बताते हैं।[2] दार्शनिको के 'स्फोट सिद्धान्त' से प्रभावित होकर ध्वनिकारों

१ रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्ट पद रचना रीतिः।' काव्यालकार सूत्र १।२।६७

२ विभावानुभाव सचारि सयोगादि रसनिष्पत्ति'—नाट्यशास्त्र।

ध्वनि सिद्धान्त का प्रचार किया। 'ध्वन्यालोक'[1] नामक ग्रंथ से इस मत का
गणेश होता है। उक्त ग्रंथ के रचयिता का नाम अज्ञात होने के कारण विद्वान उसे
यों कहते हैं। डॉ० संकरन ने आनन्दवर्द्धन को ही 'ध्वन्यालोक' का रचयिता
स्वीकार किया है, किन्तु काणे महोदय इससे सहमत नहीं है। सुशील कुमार डे का भी
यही विचार है। आनन्दवर्द्धन काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे अतः
का समय ८५५ ई० ८८३ ई० तक के आसपास माना जा सकता है।

काव्यशास्त्र के इतिहास का यह रचनात्मक काल भामह से आनन्दवर्द्धन तक
(र्थात् ७वीं शताब्दी से ९वीं शताब्दी के अन्त तक चलता है। तत्पश्चात् निश्चयात्मक
स्थिति (Definite stage) का सूत्रपात होता है। इस समय अभिनवगुप्त
कुलया, कुन्तक, रुद्रभट, धनञ्जय तथा मम्मट आदि आचार्यों का आविर्भाव होता
है। यहाँ हम सर्वप्रथम कुन्तक पर विचार कर लेना चाहिए क्योंकि इन्होंने काव्य-
शास्त्र में एक नवीन सम्प्रदाय वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रचार किया। वास्तव में इन्होंने
भामह के वक्रोक्ति अलंकार के आधार पर ही वक्रोक्ति सिद्धान्त को प्रवर्तित किया।
ये अपने सिद्धान्त के प्रणेता एवं अन्तिम आचार्य भी थे। इनके ग्रंथ का नाम
वक्रोक्तिजीवित है। ये भी काश्मीर के रहने वाले थे। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध
काश्मीर में अभिनवगुप्त नाम के आचार्य हुए जिनका ग्रंथ लोचन (ध्वन्यालोक
लोचन) के नाम से प्रसिद्ध है। ये ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थक थे। इस युग के अन्तिम
प्रसिद्ध आचार्य मम्मट हैं। ये भी काश्मीर निवासी थे। इन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय का
समर्थन अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में इस विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया कि इस
सिद्धान्त के विरुद्ध फिर किसी को कुछ बोलने का साहस नहीं हुआ। इसीलिए इन्हें
ध्वनिप्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि प्रदान की गई। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी
का उत्तरार्द्ध माना जाता है। मम्मट से ही काव्यशास्त्र के इतिहास में अन्तिम काल की
व्याख्यात्मक स्थिति का प्रारम्भ होता है। ग्यारहवीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी के अन्त
तक यह काल चलता है अतः यह विचाराधीन काल के बस थोड़ा इधर पड़ता है और
इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस युग में किसी सर्वथा
नवीन मत का प्रतिपादन नहीं किया गया, वरन् प्राचीन ग्रन्थों की अधिकाधिक विशद्
व्याख्याएँ ही लिखी गईं। इसीलिए कभी-कभी इसे टीका काल भी कहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वमध्ययुग में साहित्य
के महत्त्वपूर्ण अंग काव्यशास्त्र पर जितना कार्य हुआ उतना इससे पूर्व या बाद में
सम्भव ही नहीं हुआ, यह विचाराधीन काल की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

काव्यशास्त्र के साथ साथ छन्दशास्त्र के क्षेत्र में भी कार्य होते रहे। छन्दशास्त्र
के प्रणेता पिंगल माने जाते हैं। 'पिंगल सूत्र' इस विषय का प्रामाणिक ग्रंथ है।
कालिदास (शकुन्तला के रचयिता से भिन्न) ने 'श्रुतबोध' नामक ग्रंथ की रचना
की थी। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक छन्दशास्त्र-सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना
की। हेमचन्द्र का 'छन्दानुशासन' दामोदर मिश्र का वाणीभूषण केदार भट्ट का
वृत्तरत्नाकर आदि अन्य सुप्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

दर्शन साहित्य—किन्तु केवल ललित साहित्य के क्षेत्र तक ही इस युग की साहित्यिक
प्रगति सीमित नहीं रही दार्शनिक साहित्य की भी इस समय काफी उन्नति हुई। दर्शन
के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य हुआ। यद्यपि इस युग के अधिकांश दर्शन ग्रंथ टीकायें हैं

१ काव्यस्यात्मा ध्वनिः—ध्वन्यालोक।

तथापि उनके रचयिताओं की मौलिक प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्मं के दार्शनिकों ने अपने अपने ज्ञान का प्रकाशन विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया। ब्राह्मण दर्शन की विभिन्न शाखाओं के दार्शनिकों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी देना, यहाँ स्थानाभाव के कारण असम्भव है अतः केवल उनका एवं उनके ग्रंथों का नामांकन करके ही सन्तोष करना पड़ेगा। विचाराधीन काल के प्रमुख नैयायिक हैं "न्यायवार्त्तिक' के रचयिता उद्योतकार (सातवीं शताब्दी के कुछ पूर्व), 'न्यायवार्त्तिक' के सुप्रसिद्ध टीकाकार 'तात्पर्य टीका' के तथा "न्याय सूची निबन्ध' के प्रणेता विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के महापंडित वाचस्पति मिश्र (नवीं शताब्दी), चार्वाक बौद्ध मीमांसा तथा वेदान्त मतों के सुप्रसिद्ध खण्डनकर्ता एवं 'न्यायमञ्जरी' के रचयिता जयन्त भट्ट (नवीं शताब्दी), नैयायिक-नरेश महापंडित उदयनाचार्य (दसवीं शताब्दी) जिन्हें यह दावा था कि 'जिस प्रकार जिस दिशा में सूर्य उदय होता है वही पूर्व दिशा कहलाती है, उसी प्रकार उदयाचार्य जो कुछ कहें वही सत्य है।'[1] इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसमें तात्पर्य परिशुद्धि', 'लक्षणावली', 'बौद्धधिक्कार', 'न्यायकुसुमाञ्जलि' आदि प्रसिद्ध हैं। न्याय शाखा के दो अन्य आचार्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। वे हैं "न्यायसार के प्रणेता भासर्वज्ञ (नवीं शताब्दी का अन्तिम भाग) तथा बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होने वाले सुप्रसिद्ध दर्शन ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के रचयिता गंगेश उपाध्याय।

कणाद द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक दर्शन को आगे बढ़ाने के लिए इस युग में अनेक विद्वानों एवं दर्शन महारथियों ने एड़ी चोटी का जोर लगाया। इनमें 'व्योमवती' के रचयिता व्योम शिवाचार्य (दसवीं शताब्दी) पूर्व उल्लिखित उदयनाचार्य जिन्होंने वैशेषिक दर्शन का प्रसिद्ध टीका ग्रन्थ 'किरणावली' की रचना की। श्रीधराचार्य (दसवीं शताब्दी) जिनका 'न्यायकन्दली सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है वैशेषिक सिद्धान्तों का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्याय लीलावती' के रचयिता वल्लभाचार्य (बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) तथा 'सप्तपदार्थी' के प्रणेता शिवादित्य मिश्र (बारहवीं शताब्दी) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन की भाँति सांख्य एवं योग के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुई। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यशास्त्र पर 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। दूसरे विद्वान् दार्शनिक थे गौड़पाद (सातवीं शताब्दी) जिन्होंने सांख्यकारिका पर एक महत्त्वपूर्ण भाष्य 'गौड़पाद भाष्य' की रचना की। योगदर्शन के क्षेत्र में भी कुछ आचार्यों ने कार्य किया। बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न महापण्डित वाचस्पति मिश्र इस क्षेत्र में भी कार्य किया है और उनका ग्रन्थ तत्त्ववैशारदी' प्राचीनतम योगसूत्र ग्रन्थ 'व्यासभाष्य' की सुन्दर टीका है। अन्य आचार्यों में योग वार्त्तिक तथा 'योग सार-संग्रह' के रचयिता विज्ञानभिक्षु 'पातञ्जलरहस्य' के रचयिता राघवानन्द सरस्वती, 'राजमार्तण्ड के रचयिता भोज, 'वृत्ति' के रचयिता भावागणेश, 'मणिप्रभा' के प्रणेता रामानन्द यति, 'योग चन्द्रिका के लेखक अनन्त पण्डित 'स्वागसुधाकर के रचयिता सदाशिव सरस्वती, नागोजि भट्ट आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि इस युग में टीकाओं का ही बाहुल्य रहा। दर्शन साहित्य के इतिहास में इसे टीकाकाल कहें तो अनुचित न होगा।

---

१ वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा, यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्था।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः ॥

इस युग में मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में भी पर्याप्त कार्य हुआ। कुमारिल भट्ट को ही इस युग का स्तम्भ मानना चाहिए। ये शंकराचार्यजी के पूर्ववर्ती थे। इन्होंने बौद्ध धर्म को दबाकर हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में बड़ा योग दिया। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं 'श्लोकवार्तिक', 'तन्त्रवार्तिक', टुप्टिका आदि। इनके शिष्यों में मण्डनमिश्र (आठवीं शताब्दी) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'विधि विवेक' 'भावना विवेक', विभ्रम-विवेक आदि की रचना की। उम्वेक दूसरे महत्त्वपूर्ण शिष्य थे। इन्होंने कई सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की टीकायें कीं जिनमें श्लोक वार्तिक की तात्पर्य टीका अधिक प्रसिद्ध है। भट्ट सिद्धान्त के पोषकों एवं उनके टीकाकारों में पार्थ सारथि मिश्र, माधवाचार्य तथा खण्डदेव अधिक विख्यात हैं। मीमांसा दर्शन में नवप्राण फूंकने वालों में श्री प्रभाकर मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि ये कुमारिल भट्ट को अपना गुरु मानते थे। इनकी अद्वितीय प्रतिभा से प्रभावित होकर ही कुमारिल भट्ट ने इन्हें 'गुरु' की उपाधि प्रदान की थी और तब से इनका मत 'गुरुमत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किन्तु कुछ लोग इन्हें कुमारिल का पूर्ववर्ती मानते हैं। पूर्ववर्ती शताब्दी इनका समय माना जाता है। गुरुमत के आचार्यों में शालिकनाथ भवनाथ, मुरारि मिश्र नन्दीश्वर आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

भारतीय दर्शन को विश्व में गौरव प्रदान करने का श्रेय वेदान्त दर्शन को ही दिया जा सकता है। वेदान्त दर्शन का सूत्रपात बहुत प्राचीन समय में हो चुका था और महर्षि बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना करके इसकी प्रतिष्ठा की थी। विचाराधीन काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध में अपने अपने मत का प्रतिपादन किया। प्रोफेसर वासुदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'पूर्व मध्यकालीन भारत' में इसका पूर्ण विवेचन करते हुए आचार्यों, उनके भाष्य तथा मत का खाका इस प्रकार खींचा है—

	नाम	भाष्य	मत
१	शंकराचार्य (७८८–८२० ई०)	शारीरिक भाष्य	अद्वैत
२	भास्कर (१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
३	रामानुज (११४० ई०)	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत
४	आनन्दतीर्थ (१२३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञ भाष्य	द्वैत
५	निम्बार्क (१२५० ई०)	वेदान्त पारिजात	द्वैताद्वैत

उपर्युक्त वादों के अनेक समर्थक आचार्य हुए और उन्होंने अपने मान्य मत को आगे बढ़ाया। फलतः बड़े बड़े दर्शन ग्रन्थों की रचना हुई जिससे इस काल की उन्नति हुई।

उपयोगी साहित्य

कोश—ललित साहित्य के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य के क्षेत्र में पूर्वमध्य काल में पर्याप्त कार्य हुआ था। साहित्य सृजन के लिए कोश का बहुत बड़ा महत्त्व है अतः पहले इसका ही उल्लेख आवश्यक है। संस्कृत-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाला लगभग आठवीं शताब्दी में विक्रम की सभा के नवरत्न अमरसिंह द्वारा रचित 'अमरकोश' सम्भवतः अपने ढंग का पहला ग्रन्थ है। तत्पश्चात् पुरुषोत्तमदेव ने 'त्रिकाण्ड शेष' और हारावली नामक शब्दकोशों की रचना की। इनके अतिरिक्त कोशकारों में 'अनेकार्थ समुच्चय' के रचयिता शाश्वत, 'अभिधान रत्नमाला' के प्रणेता

हसायुध, वजयती' के रचयिता यादव प्रकाश तथा अभिधानचिंतामणि' और 'दशी नाममाला' के लेखक हेमचन्द्र अधिक विख्यात हैं।

व्याकरण—व्याकरण ग्रंथो की रचना भी इस काल म विशेष रूप से हुई। पाणिनि की अष्टाध्यायी की प्रतिष्ठा प्राचीन समय से स्थापित हो चुकी थी और यही सस्कृत व्याकरण का प्राण अनवरत आज तक प्रचलित है। किन्तु उक्त ग्रन्थ की रचना के पश्चात सस्कृत म अनेक नये शब्दो की उत्पत्ति हुई जिनकी व्याख्या आवश्यक थी। अत विचाराधीन काल म कुछ वैयाकरणियो ने मौलिक तथा टीका ग्रंथो की रचना की। जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० के निकट पाणिनि की अष्टाध्यायी की टीका काशिका वृत्ति लिखी और उक्त टीका की बौद्ध पण्डित जिनेन्द्र बुद्धि ने 'न्यास' के नाम से टीका लिखी। एक अन्य बौद्ध विद्वान् शरणदेव ने ११७२ ई० म 'दुघटवृत्ति' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। किन्तु उक्त ग्रंथो की उपयोगिता मौलिक विद्वानों तक ही सीमित थी सवसाधारण उनसे लाभान्वित नहीं हो सकते थ। अत कुछ विद्वानों ने अन्य ग्रंथो की रचना कर इस अभाव को दूर करने का सफल प्रयास किया पाणिनीय व्याकरण के समय मे पाणिनीय तथा अन्य सम्प्रदायो का उदय हो चुका था जिन्होंने नये व्याकरणो का प्रणयन कर नया माग प्रशस्त किया। ६०० ई० के लगभग चन्द्रगोमिन ने चान्द्र व्याकरण की रचना की और इसकी स्वय टीका भी लिखी। बौद्ध भिक्षु काश्यप ने 'बालावबोधन' नाम से १२०० ई० म एक ग्रंथ लिखा। इस और बौद्धो के अतिरिक्त जैनियो ने भी उत्साह प्रदर्शित किया। जिनेन्द्र ने 'जिनेन्द्र व्याकरण' शाकटायन ने 'शाकटायन व्याकरण' ११५० ई० मे क्रमदीश्वर ने 'सक्षिप्त सार' और १२५० ई० म बोपदेव ने 'मुग्धबोध' व्याकरण लिखा। सस्कृत व्याकरणों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के भी व्याकरण विचाराधीन युग म लिखे गये, जिनम चण्ड का 'प्राकृत लक्षण', जनाचाय हेमचन्द्र ने 'उणादि सूत्रवृत्ति' और लक्ष्मीधर का 'शम्भु रहस्य' आदि उल्लेखनीय हैं।

आयुर्वेद—व्याकरण की भाँति आयुर्वेद का क्षेत्र भी उक्त काल म पुष्पित और पल्लवित हुआ। धनवन्तरि इस विद्या के आदि आचार्य माने जाते है। आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश आदि प्राचीन ऋषि सभी इस विद्या के पारगत स्वीकार किये जाते हैं। चरक की चरक संहिता इस विद्या का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसकी टीका विचाराधीन युग मे लगभग ८०० ई० म अरबी भाषा मे हुई। सुश्रुत द्वारा विरचित 'सुश्रुत संहिता' की प्रसिद्धि नवी शताब्दी मे कम्बोडिया से लेकर अरब तक फली थी। चक्रपाणि दत्त ने उक्त ग्रंथ की ११वी शताब्दी मे टीका लिखी। वृद्ध वाग्भट ने 'अष्टाग हृदय' और 'अष्टाग हृदय संहिता' दो ग्रंथो की रचना की। माधवकर ने आठवीं तथा नवी शताब्दी म 'रुग्विनिश्चय' का प्रणयन किया जो 'माधवनिदान' के नाम से विख्यात है। 'सिद्धियोग' या 'वृन्दमाधव' के प्रणेता वृन्द का भी उदय इसी काल मे हुआ था जो निदान का सबसे प्रामाणिक ग्रंथ है। सन् १०६० ई० मे चक्रपाणिदत्त ने 'चरक' और 'सुश्रुत' पर टीका लिखी और 'चिकित्सासार सग्रह' नामक एक मौलिक रचना भी की। १२०० ई० के निकट शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधर संहिता' और १२२४ ई० मे भिल्हण ने 'चिकित्सामृत' की रचना की। बोपदेव ने इस ग्रंथ की टीका लिखी। ७वी या ८वी शताब्दी मे नागार्जुन ने 'रस रत्नाकर' लिखा। इसी काल मे लगभग १२०० ई० म 'रसार्णव' रचा गया। नित्यनाथ ने 'रसरत्नाकर' रामचन्द्र ने 'रसेन्द्र चिंतामणि,' १०७५ ई० मे सुरेश्वर ने 'शब्द प्रदीप' की रचना की। मदनपाल ने 'मदन निघण्टु' लिखा। इन ग्रंथो के अतिरिक्त इन आचार्यो ने अनेक मौलिक सिद्धान्तो

का अनुसन्धान किया और विश्व को यह देन दी। त्रिदोष सिद्धान्त, नाड़ी विज्ञान, शल्य चिकित्सा और रसेश्वर के सिद्धान्त विशेषकर उल्लेखनीय हैं, जिन्हें विश्व ने भारत से प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त पारा भस्म बनाने की प्रक्रिया, अर्थात् आलकमी का अनुसन्धान भी हुआ था जिसका विचाराधीन युग में बड़ा चलन थी।

विभिन्न शास्त्र—संगीतशास्त्र का प्रारम्भ सामवेद से माना जाता है। भरत का नाट्यशास्त्र', 'संगीतशास्त्र' का आदि ग्रंथ माना जाता है। विचाराधीन युग में भी इस क्षेत्र में कई ग्रंथ लिखे गये। शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर' का प्रणयन किया। दामोदरगुप्त ने संगीत दर्पण' लिखा। इन ग्रंथों के अतिरिक्त संगीतशास्त्र में अन्यान्य ग्रंथों की रचना का उल्लेख मिलता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वे रचनायें अब तक प्राप्त नहीं हो सकी।

संगीतशास्त्र के पश्चात् जब हम कामशास्त्र पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें इसमें अन्य क्षेत्रों की भाँति ही प्रगति मिलती है। वात्स्यायन इस विषय के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। ज्योतिरीश्वर ने पंच सायक' नामक ग्रंथ की रचना इसी युग में की। दामोदरगुप्त ने 'कुट्टनीमत्त', जयदेव ने रतिमंजरी' तथा कल्याणमल्ल ने अनंगरूप' लिखा। नागार्जुन ने 'रतिशास्त्र' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में भी अधिक उन्नति हुई। कामन्दकी ने 'नीतिसार' लिखा। दसवीं शताब्दी में नीतिवाक्यामृत' की रचना सोमदेवसूरि ने की। हेमचन्द्र ने 'लघु अर्हन नीति' का प्रणयन राजनीतिशास्त्र पर किया। भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' और चण्डेश्वर ने नीतिरत्नाकर' की रचना इसी युग में की। इन ग्रंथों के अतिरिक्त अर्थ और नीतिशास्त्र की बहुत सी बातें तत्कालीन काव्यशास्त्रों में बिखरी पड़ी हैं। 'माघ' 'किरातार्जुनीय', दशकुमार चरित' तथा 'मुद्राराक्षस' इसके लिये उल्लेखनीय हैं।

पशुशास्त्र में भी कई ग्रंथ इस युग में रचे गये। हस्ति चिकित्सा के विषय में आचार्य पालकाप्य को ही माना जाता है जिन्होंने 'हस्त्यायुर्वेद' या 'गजायुर्वेद' ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त 'गजचिकित्सा', 'गज दर्पण' तथा 'गज परीक्षा' की रचना भी आप ही के द्वारा मानी जाती है। नारायण ने 'मातंग लीला' और बृहस्पति ने 'गज लक्षण' तथा 'गोवैद्य शास्त्र' लिखा। अश्वचिकित्सा में शालिहोत्र ने शालिहोत्र शास्त्र' तथा 'अश्वतन्त्र' ग्रंथ लिखा। गण ने अश्वायुर्वेद', जयदत्त ने 'अश्ववैद्यक' वधम ने 'योगमञ्जरी' नकुल ने अश्वचिकित्सा तथा भोज ने शालिहोत्र' लिखा। मल्लिनाथ की 'ह्य लीलावती' की रचना पूर्वमध्यकालीन मानी जाती है। इस पशु चिकित्सा के साथ-साथ पशुविज्ञान और कृषिशास्त्र का भी अध्ययन हमारे आचार्यों ने इस युग में किया और कई एक ग्रंथ भी इन्हीं विषयों पर लिखे। जैन पंडित हंसदेव ने मृगपक्षिशास्त्र' की रचना की। 'मृगयाशास्त्र' पर भी अन्यान्य रचनायें हुईं जिनकी उपलब्धि दुर्भाग्यवश आज नहीं है।

इन शास्त्रों के अतिरिक्त रत्नशास्त्र, चौर्यशास्त्र, धातुविज्ञान, भवन निर्माणशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि में भी ग्रंथ विचाराधीन युग में लिखे गये। विमान बनाने की कला पर राजा भोज का 'समरांगण सूत्रधार' नामक ग्रंथ पाया जाता है। विमान विद्या और विमान लक्षण नामक दो अन्य ग्रंथों की भी उपलब्धि होती है। मूर्ति निर्माण कला में भी कई ग्रंथ पाये गये हैं जिनमें तत्सम्बन्धी कला पर प्रकाश डाला गया है। नौशास्त्र' ग्रंथ नौ निर्माण कला को स्पष्ट करता है।

गणित— गणितशास्त्र में भी भारत बढ़ा हुआ था और इसी ने पाश्चात्य देशों को गणित-सम्बन्धी विशेष बातें बताई। अंक क्रमाव विन्यास जिसे दशमलव-पद्धति कहते हैं, हमारे आचार्यों के मस्तिष्क की वस्तु है। सर्वप्रथम यह पद्धति हमारे यहाँ से उत्पन्न हुई। गणितशास्त्र के अनेक विभागों—अंकगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, चलनगणित, स्थितिशास्त्र (स्टटिक्स) तथा गतिशास्त्र (डायनिमिक्स) में हमारे विद्वान् पारंगत थे। वराहमिहिर, श्रीधराचार्य, और भास्कराचार्य के ग्रंथों से अंकगणित का ज्ञान प्राप्त होता है जिसका उल्लेख उन्होंने किया है। 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' में गणिताध्याय तथा कुट्टकाध्याय एवं 'सिद्धांत शिरोमणि' के लीलावती खण्ड में इस गणित का अनुशीलन किया गया है। बीजगणित का सूत्रपात हमारे यहाँ पहले से ही हो गया था और इस युग में हमारे आचार्य इस गणित से भिज्ञ थे। इसे यूनानियों की देन कहना मिथ्या है। रेखागणित का प्रयोग वैदिक काल में ही यज्ञ की वेदी का निर्माण करने में किया जाता था। पाइथागोरस का सिद्धान्त योरप से पहले ही हमारे यहाँ प्रचलित था। त्रिकोणमिति में वाचस्पति ने चापीय घनक्षेत्र निकालने का साधन मौलिक रूप से प्रतिपादित किया है। भास्कराचार्य ने न्यूटन से बहुत पहले ही चलनगणित का प्रयोग ज्योतिष में किया था। ग्रहमण्डल तथा भूगोल सम्बन्धी गतिशास्त्र का भी परिचय भारतीयों को पहले से प्राप्त था।

ज्योतिषशास्त्र—प्राचीन युग में ज्योतिषशास्त्र में भी खूब प्रगति हुई थी। आर्यभट्ट ने विचाराधीन युग के पहले दो ज्योतिष ग्रंथों की रचना की थी। उसके बाद वराहमिहिर का नाम आता है। जिसने 'पंचसिद्धान्तिका', 'बृहत्संहिता' और 'बृहज्जातक' तीन ग्रंथों की रचना कर ज्योतिषशास्त्र में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ब्रह्मगुप्त ने ६२८ ई० के लगभग 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' तथा ६६५ ई० में 'खण्डखाद्यक' का प्रणयन किया। उसने पृथ्वी के घूमने का सिद्धान्त निकाला, जिसे यूरोप के विद्वानों ने बहुत समय पश्चात् मालूम किया। लगभग ६५० ई० में लल्ला ने 'लल्ल सिद्धान्त' तथा 'शिष्यधी वृद्धितंत्र' की रचना की। भास्कराचार्य ने दूसरे ग्रंथ की टीका लिखी। इसके अतिरिक्त ९०८ ई० के आसपास चतुर्वेद पृथूदक स्वामी ने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' की टीका लिखी। १०३९ ई० के लगभग 'सिद्धान्त शेखर' और 'धीकोटिद' की टीका श्रीपति ने तथा वरुण ने 'खण्ड खाद्यक' की टीका की। १०४० ई० में भोज ने 'राजमृगांक', शतानन्द ने 'भास्वती' और ब्रह्मदेव ने 'करण प्रकाश' लिखा। भास्कराचार्य का उदय इस काल के अन्तिम दिनों में हुआ। आपने 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ग्रंथ की रचना की जो ज्योतिषशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त 'सिद्धान्त शिरोमणि' 'करण कुतूहल' 'करण केशरी' आदि कई ग्रंथों का प्रणयन आपने किया।

फलित ज्योतिष—ज्योतिष में, फलित ज्योतिष में भी कई ग्रंथों की रचना इस युग में हुई। वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' और 'बृहज्जातक' नामक दो ग्रंथों की रचना की। पृथुयशा ने 'होरापट पंचाशिका' नामक ग्रंथ लिखा जिसकी टीका दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने की। १०३९ ई० में श्रीपति ने 'रत्नमाला' और 'जातकपद्धति' नाम के दो ग्रंथ लिखे। इसके बाद इस ज्योतिष की निरंतर प्रगति होती रही।

धर्म-साहित्य—धर्म-साहित्य में हमारे प्राचीन आचार्यों ने इतनी रचना कर दी कि उसके बाद के आचार्यों के लिए लिखने योग्य कोई क्षेत्र छूटा ही नहीं। अतः विचाराधीन युग में विद्वानों ने उन्हीं धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया और उन पर भाष्य लिखे। प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि तथा टीकाकार विज्ञानेश्वर ने 'मनुस्मृति'

और 'याज्ञवल्क्य स्मृति' की टीका इसी युग में की। विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' तथा जीमूतवाहन का 'दाय भाग' इसी युग की देन है। इनके अतिरिक्त असहाय, विश्वरूप, धारेश्वर, भावदेवभट्ट, देवनभट्ट आदि प्रकाण्ड विद्वानों का आविर्भाव इसी युग में हुआ जिन्होंने अपनी टीकाओं और भाष्यों द्वारा धर्म-साहित्य के कार्य को बढ़ाया।

व्याख्याकार—पूर्वमध्यकालीन युग के व्याख्याकारों में असहाय का नाम प्रमुख है। इन्होंने 'मनुस्मृति' पर भाष्य लिखा था। सम्भवतः इन्होंने 'गौतम धर्मसूत्र' की भी टीका की थी। भर्तृयज्ञ ने 'कात्यायन श्रौत सूत्र की टीका की। पारस्कर गृह्यसूत्र का सबसे प्राचीन टीकाकार इन्हीं को माना जाता है। विश्वरूप इस काल के मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'बाल क्रीडा' नामक टीका लिखी। भारुचि नामक टीकाकार का समय इसी काल में था जिन्होंने सम्भवतः 'विष्णु धर्मसूत्र' पर कई टीकाएं लिखीं। मेधातिथि ने मनुस्मृति पर बहुत गम्भीर भाष्य लिखा है। इनकी अनुपम रचना 'स्मृति विवेक' मानी जाती है। धारेश्वर भोजदेव ने दो साहित्यिक ग्रंथ 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वतीकंठाभरण' के अतिरिक्त ज्योतिष में 'राजमृगांक' और धर्मशास्त्र में 'राजमार्तण्ड' का प्रणयन किया। विज्ञानेश्वर इस युग के धर्म-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। इनकी 'मिताक्षरा' तत्कालीन युग की अपूर्व देन है। यद्यपि यह याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका है किन्तु विद्वान् लेखक ने अपनी विद्वता से ऐसी वस्तुओं का भी समावेश कर दिया है जो धर्मशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री की मौलिकता प्रस्तुत करते हैं। इनके अतिरिक्त गोविन्दराज, लक्ष्मीधर, जीमूतवाहन, अपरार्क, अनिरुद्ध, बल्लालसेन, देवणभट्ट, हरदत्त तथा हेमाद्रि इस युग के महत्त्वपूर्ण विद्वान् हैं। गोविन्दराज ने 'स्मृति मंजरी', लक्ष्मीधर ने 'कल्पतरु', जीमूतवाहन ने 'दायभाग', अपरार्क ने याज्ञवल्क्य स्मृति की 'अपरार्क-याज्ञवल्कीय धर्मशास्त्र निबन्ध' नामक टीका, अनिरुद्ध ने 'हारलता', बल्लालसेन ने 'प्रतिष्ठा सागर' तथा 'दान सागर', देवणभट्ट ने 'स्मृति चन्द्रिका', हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' का प्रणयन किया।

शिक्षा—विचाराधीन युग में शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया गया था। वैदिक काल का शिक्षा प्रबन्ध आगे चलकर परिवर्तित हो गया। बौद्धकाल में विहारों और मठों में ही शिक्षा का प्रबन्ध था। धीरे धीरे इन मठों ने शिक्षा संस्था का रूप ग्रहण कर लिया। इन संस्थाओं में प्राकृत भाषा के बदले संस्कृत का पूर्ण प्रचलन हुआ। प्रारम्भिक पाठशालाओं में हिन्दी को स्थान मिल गया, परन्तु संस्कृत की प्रधानता पूर्ववत् बनी रही। साहित्य में संस्कृत को स्थान मिल ही चुका था, नालन्दा और विक्रमशिला ने विश्वविद्यालयों की प्रधानता इसी युग में हुई थी। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी, जहाँ ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, दर्शन आदि विषय पढ़ाये जाते थे। इन विश्वविद्यालयों में चीन, पूर्वी द्वीपसमूह, लंका, तिब्बत आदि दूर दूर के देशों से विद्यार्थी अध्ययन के हेतु आते थे। इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के रहने, भोजन, कपड़ा आदि की व्यवस्था होती थी जिसका खर्च राजाओं और धनिकों के द्वारा विद्यालयों को दिये दानों से चलता था। इन विद्यालयों से निकलने पर विद्यार्थियों की सर्वसाधारण में बड़ी प्रतिष्ठा की जाती थी। उदन्तपुरी का विश्वविद्यालय भी इसी युग में स्थापित था।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षायें भी दी जाती थीं। आयुर्वेद के अन्यान्य विषयों का अध्ययन प्रायोगिक ढंग से किया जाता था। अनेकानेक चिकित्साओं का अन्वेषण प्रयोग करके किया जाता था। 'अध्यापक विद्यार्थियों को इन चिकित्साओं का ज्ञान प्रायोगिक ढंग पर ही सिखलाया करते थे। चीर-फाड़ की शिक्षा

भी इस युग म उन्नति पर थी । अरब वालो न यह विद्या हमारे यहाँ स सीखी । युद्ध शिक्षा व्यायाम शिक्षा आदि का भी अध्ययन प्रायोगिक ढग पर किया जाता था। इस प्रकार शिक्षा क प्रत्यक क्षेत्र म स्थिति सतोषजनक थी । शिक्षा का प्रब ध उत्तम था ।

पूवमध्यकालीन कला —भारतीय कला क इतिहास म गुप्तकालीन कला महत्त्व पूर्ण स्थान रखती है । इसक पश्चात पूवमध्यकालीन कला का आविर्भाव होता है। यह कला भी भारतीय कला म अपना विशिष्ट स्थान रखती है । कुछ लोगो का कथन है कि पूवमध्यकालीन कला पर गुप्तकालीन कला का अधिक प्रभाव है, किन्तु यह कथन कहाँ तक सत्य है इस पर विद्वानो का भ्रम है । सत्य तो यह है कि यह कला एक नवीन पथ प्रशस्त करती है और अपनी शैली का नवीन आदश प्रस्तुत करती है । यह गुप्तकालीन कला स भिन्न है । अजता एव एलोरा म सबस पहल इस कला का प्रस्फुटन होता है । धीरे धीरे इस कला म कुछ नवीनता आन लगती है और थोड ही समय पश्चात इस कला की प्रारम्भिक कलाशैली म पर्याप्त परिवतन आ जाता है । एलीफेंटा भुवनश्वर तथा खजुराहो शैली म इस कला का प्रदशन होता है । इस काल मे शिल्पशास्त्र मे वर्णित तालमान का अक्षरश प्रतिपादन हुआ है। इस शास्त्र म मूर्तियो की लम्बाई चौडाई, कद मुद्रा आदि का समावेश है जिसक अनुसार निर्मित मूर्ति उपयुक्त हो सकती है । इसका प्रयोग दक्षिण भारत की कास्य मूर्तियो म स्पष्टत मिलता है । गुप्तकालीन वास्तु कला का स्वरूप ही इस काल म पूणतया परिवर्तित हो गया । उसका साधारण रूप दुरूह बन गया और शि पशास्त्र का प्रयोग भी इसम होन लगा । वास्तु कला का क्षेत्र सकुचित न रहकर विशद हो गया । मूर्ति कला जिसका स्वत त्र एक पृथक क्षेत्र था, वह इस कला मे घुलमिल सा गया । इसकी कोई स्वतन्त्र अवस्था नहीं रह गई । इस प्रकार वास्तु कला का क्षेत्र अधिक व्यापक बन गया । मन्दिर तथा भवन बनाने वाले कारीगर वास्तुशास्त्र क नियमो द्वारा काम करत थ । इन वास्तु विद्या क प्रतिष्ठापक विश्वकर्मा मान जाते है जिनके नियमो पर चलकर ही मन्दिर तथा भवन का निर्माण प्रत्यक कारीगर के लिये आवश्यक था । इस प्रकार जिन हिन्दू मन्दिरो का निर्माण हुआ उनका रूप साधारण होत हुए भी वास्तुकला की विधियो मे प्रतिपादित हुआ । विशषता यह थी कि इस काल मे दो प्रस्तर क टुकडो को जोडने क लिय सीमण्ट का प्रयोग न करके एसे वैज्ञानिक ढग का प्रयोग किया जाता था जिससे दोनो टुकड सध जाते थे, और उनका जोड भी पक्का होता था । प्रस्तर के टुकड इसी प्रकार रख जाते थ जिसमे उनका भार सीधे पृथ्वी पर पडता था । मन्दिर क सन्निकट उन्ही प्रस्तरो को लाया जाता था जो आकार म नाप के उपयुक्त होते थे । कभी कभी इन प्रस्तरो को चित्रित कर मन्दिर म लगाया जाता था, अन्यथा मन्दिर के निर्माण के पश्चात् उनम कारीगरी की जाती थी । इस कारीगरी के कई उदाहरण आज भी उपलब्ध हुए हैं ।

गुफा कला—गुफा निर्माण की जो नई शैली इस काल मे प्रचलित हुई वह पहाडियो को काटकर मठ अथवा चैत्य का निर्माण था । इस ढग स इमारतो म ही बडी बडी मूर्तियो की स्थापना की जाती थी अलग से इसका कोई प्रबन्ध नहीं होता था । यह कला इसी काल म उत्तरोत्तर प्रगति करती गई जिसकी तीन श्रेणियाँ हो सकती है (१) एलोरा विधि, (२) एलीफेंटा विधि और (३) पल्लव विधि । एलोरा विधि म खोदकर एक कमरा निर्माण किया जाता था और उसम ब्राह्मण तथा जन मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं । इस गुफा म एक बरामदा बना होता है जिसके अन्त

म एक कोठरी निर्मित होती थी। एलीफेंटा गुफा म शिव की प्रतिमायें चट्टान को काटकर गुफा के साथ ही बनाई जाती हैं। यह ब्राह्मण गुफा है। यह एक वास्तविक मन्दिर के रूप मे हाती है। भद्दा ढांचा न होकर इसम बारीकी की जाती है। एलीफेंटा की गुफा मे सजीवता और स्वच्छता का विशेष ध्यान दिया गया, जिसस उसम निर्मित प्रतिमाओ का सौन्दय निखर सा गया है। यदि ऐलीफेंटा की गुफा प्रतिमा निर्माण के दृष्टिकोण मे प्रसिद्ध है तो मन्दिर की विशालता के विचार से एलोरा का कलाश मन्दिर गुफा निर्माण-कला का आदश है। साधारणतया गुफाओ का निर्माण ऊंची पहाडियो पर होता था जिनमे तीन ओर से चट्टान को काटकर गुफा बनाई जाती थी तथा उसका आकार मन्दिर का बनाया जाता था। किन्तु कलाश मन्दिर के निर्माण मे इस शली का प्रयोग न कर एक दूसरी शली का आधार लिया गया। इसमे कला कारो ने पहाड का सिर स काटना प्रारम्भ किया। ऊपरी भाग म चौकोर भाग काट कर मध्य के भाग म सतह तक मन्दिर बनाया गया। इस प्रकार गुफा निर्माण की कई शलियां बनती गई और इनका उन्नत रूप सामने आता गया। कालान्तर मे इन गुफाओ का रूप उतना परिवर्तित हो गया कि इन्ह गुफा न कहकर मन्दिर कहा जाने लगा।

इन मन्दिरो के निर्माण म कई एक शलियो का आविर्भाव हुआ जिनम किसी अश तक तादात्म्य होने पर भी भिन्नता थी। इस प्रकार दक्षिण भारत की वास्तुकला उत्तरी भारत की वास्तुकला से भिन्न है। इस भिन्नता के आधार पर दक्षिण की वास्तुकला को द्रविड शली और उत्तरी भारत की शैली को आर्य शैली के नाम से पुकारा गया।

द्रविड शैली—इस शैली म बडी-बडी चट्टानो को काटकर एक ही पत्थर से गुफा तयार की जाती थी। इसके उदाहरण अजन्ता एलोरा और एलीफेंटा मे देखने को मिलते है। इन गुफाओ के उन्नत रूप को मन्दिर कहा जाता है। यद्यपि मन्दिरो के परिवतन से तत्कालीन गुफा निर्माण का कोई तादात्म्य स्पष्ट रूप से नहीं दिख पडता, किन्तु पल्लव शैली द्वारा यही निष्कष निकलता है और उक्त बात की पुष्टि हो जाती है।

आय शली—उत्तरी भारत म गुफाओ का प्रारम्भ से ही अभाव सा रहा। इसी कारण यहां की वास्तुकला की प्रगति म गुफा निमाण कला को महत्वपूण स्थान नहीं मिल सका। यहा स्तूप और मठो तथा विहारो की ही प्रधानता रही। आय शली के मन्दिरो की विशेषता यह थी कि यहां के मन्दिरो के शिखर विकसित रूप मे होते थे। इस शली का उद्भव स्तूपो से हुआ। ये स्तूप एक ऊँचे चबूतरे पर अवस्थित किय जाते थे और उनका आकार गुम्बज की भांति होता था। गुम्बज के सिरे पर एक वर्गाकार प्रस्तर लगा होता था जिसे हरमिक कहते थे। उसका उपरी भाग छत्र कहलाता था। स्तूपो का यही रूप इस काल मे मन्दिर के आकार म आ गया। ये मन्दिर दक्षिण भारत की भांति प्रस्तरो से निर्मित नहीं होते थे, अपितु ईट तथा प्रस्तर के टुकडो स बनते थ, जिसके उदाहरण भितरगांव तथा नालन्दा के मन्दिर हैं। तत्कालीन मन्दिरो को मुसलमान आक्रामको ने विनष्ट कर उन्हीं ईटो द्वारा मस्जिदो का निर्माण करा दिया जिसस व अधिक सख्या मे आज प्राप्त नही होते। पहाडपुर मे दसवीं शताब्दी तक के ईट के बने स्तूप प्राप्त हुए हैं। इस काल म स्तूपो की रचना ईटो के अतिरिक्त कांसे और पक्की मिट्टी द्वारा भी होती थी। मूर्तिपूजा का प्रचलन इस काल में अधिक था इसी कारण मन्दिरो का निर्माण खूब हुआ। मन्दिरो को नागर या आर्य शैली म

कहते हैं। इन मन्दिरों के गर्भगृह के ऊपर शिखर होते थे जो ऊपर की ओर क्रमश पतले होते थे। इसके उदाहरण खजुराहो का मन्दिर, उडीसा का मन्दिर, कागडा का बैजनाथ मन्दिर, कुल्लू का विश्वेश्वर मन्दिर, राजपूताना का वैष्णव मन्दिर तथा बगाल के अनेक मन्दिर हैं। पूर्वमध्यकाल के आरम्भ मे जिस प्रकार मन्दिरो का निर्माण हुआ, उसकी प्रगति धीरे-धीरे होती रही और इससे शैलो मे बारीकी आती गई।

उडीसा शली—इसको आर्य तथा द्रविड शैली की मिली जुली शैली कहना उचित होगा। यह शैली भुवनेश्वर के नाम से प्रख्यात है। उडीसा की राजधानी होने के कारण भुवनेश्वर पूर्वमध्य काल मे उतना ही प्रसिद्ध हो गया जितना प्राचीन काल मे काशी था। भुवनेश्वर म यात्रियों ने बहुत से मन्दिरों का निर्माण कराया जिन्हें आज भी देखा जा सकता है। इन मन्दिरों की विशेषता शिखर निर्माण मे थी। शिखर के अन्तिम सिरे पर शेर की आकृति बनी होती है और उसके बाद आमलक का बड़ा-सा पत्थर चक्र की भांति बना रहता है। इन मन्दिरों मे अलकारिता का विशेष ध्यान दिया जाता है। यहाँ के मन्दिर विशाल होते हैं। इनमे लिंगराज नामक मन्दिर प्रधान माना जाता है।

खजुराहो शैली—चन्देल राजाओ की राजधानी होने के कारण खजुराहो का महत्त्व कला के क्षेत्र मे काफी बढ गया। उडीसा के बाद इसी शैली की प्रधानता रही। यहाँ पर शैव, वैष्णव व जैन लोगो ने मन्दिर निर्माण म काफी उत्साह दिखलाया। कन्दरिया महादेव का हिन्दू मन्दिर गहरा खोदकर बनाया गया था। इसम तीन स्तम्भ युक्त कमरे हैं। सभी कमरों पर वृत्ताकार गुम्बज निर्मित हैं, जिनके भीतर भाग मे कमल बना है। शिखर सबसे ऊपरी भाग मे है जो कलश के स्थान पर सुन्दर प्रस्तरो से विभूषित है। गर्भगृह क ऊपर चौकोर शिखर का निर्माण है जो आर्य शैली के आधार पर बना है। इसम मध्य शिखर के नीचे शिखराकार गुम्बज प्रधान शिखर क चारो ओर बने हैं। ये शिखर पच्चीकारी द्वारा विशेष अलकृत बना दिये गये हैं। इस शैली के उदाहरण चतुर्भुज वैष्णव तथा आदिनाथ के जैन मन्दिर हैं। ये मन्दिर बहुत ऊँचे नहीं हैं। इन मन्दिरों मे हवा तथा रोशनी का समुचित प्रबन्ध किया गया है। दीवालों मे ताख निर्मित होते थे जिनमे मूर्तियाँ स्थिर की जाती थी।

भवन निर्माण—पूर्वमध्य काल म धर्म के पुनीत क्षेत्र के अतिरिक्त लोगो का ध्यान भवन निर्माण की ओर भी कम न रहा। मठ, शिक्षालय भवन आदि का निर्माण कला के दृष्टिकोण से बहुत उत्तम कोटि का था। मकान कई मजिल के बनते थे। तत्कालीन एलोरा का मठ आज भी उस काल की कला को प्रदर्शित कर रहा है। नालन्दा का विश्वविद्यालय इसी काल की वस्तु है। आधुनिक खुदाइयों से नालन्दा के भवनो का भान होता है। ये भवन कई मजिल के होते थे और इनकी सख्या तथा आकार भी बहुत बडा था। यहाँ विद्यार्थियों के पढने, रहने तथा सोने के सुन्दर भवन का निर्माण हुआ था।

तक्षण-कला—इस कला म स्थान और समय के अनुसार कई शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। बगाल, राजपूताना, गुजरात, उडीसा आदि स्थानो पर भिन्न भिन्न समय पर भिन्न शैलियों का जन्म हुआ। पश्चिम भारत म पश्चिमी शैली का उद्भव हुआ जिसमे गुजराती और राजपूत दो स्कूल आते हैं। गुजराती स्कूल म प्रतिमाओ का स्वरूप नवीन हो गया। शरीर तथा अग को धनुषाकार मे निर्मित करना इसी स्कूल की विशेषता है। राजपूत स्कूल मे प्राचीनता लिये हुए प्रतिमाओ का सृजन हुआ जिनम जीवन का प्रस्फुटन रहता था। इसके अतिरिक्त चन्देल तथा हैहय स्कूलों का समावेश

होता है, जिनमें मनोविज्ञान का प्राधान्य है। इसमें आकृतियों का स्वाभाविक गुण समाविष्ट होता है। मनुष्य की मूर्ति के साथ-साथ पशुओं की भी आकृतियाँ इस स्कूल में बनी। उत्तरी भारत में सारनाथ शैली की प्रतिमायें आती हैं जिनमें चुनार प्रस्तर प्रयुक्त होते हैं। बिहार और बंगाल में राष्ट्रीय भावना की संकीर्णता ने एक नवीन शैली को जन्म दिया, जिसे पूर्व भारतीय शैली या पाल स्कूल कहते हैं। इस शैली की विशेषता यह थी कि इसमें चिकने काले प्रस्तरों का प्रयोग होता रहा। इसका समय ८०० ई० से १२०० ई० तक माना जाता है। इन चार सौ वर्षों तक इस कला में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ, न किसी व्यक्ति-विशेष का प्रभाव ही रहा। कारण यह था कि इस युग में बौद्ध, जैन और हिन्दू देवी देवताओं का स्वरूप बिखरा हुआ न होकर निश्चित हो गया था, जिससे परिवर्तन का कोई साधन ही नहीं रह गया था। इस शैली में मूर्तियों का निर्माण चिकने काले प्रस्तरों पीतल अथवा अष्टधातु से होता था तथा साधनमाला के नियमानुसार उनकी बनावट पर ध्यान दिया जाता था। स्त्री-पुरुष दोनों की मांसपेशियाँ सुगठित तथा दृढ़ होती थी। इनमें इस कला की अच्छी कारीगरी की जाती थी जो इस काल में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस शैली में खड़ी तथा बैठी मूर्तियाँ बनाई जाती थी जिन्हें कमलासन पर बिठलाया जाता था। यह प्रथा आठवीं शताब्दी में ही थी किन्तु नवीं तथा १०वीं सदी में काले पत्थरों पर स्वतन्त्र प्रतिमायें बनने लगी जिसमें बीच में प्रधान मूर्ति तथा चारों ओर देवता कमलासन पर आसीन रहते थे। पाल शैली की अधिकांश प्रतिमायें त्रिभंगी मुद्रा में प्राप्त होती हैं। मुसलमान आक्रामकों के बंगाल पर आक्रमण करने से इस कला का अवसान हो गया।

मूर्ति निर्माण—मूर्ति निर्माण कला की प्रगति इस युग में खूब हुई। शाक्त मत के प्रचार से शक्तियों का रूप मूर्तियों में ले लिया गया और इस प्रकार मूर्तियों के निर्माण की एक नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ। लोगों ने चित्त-एकाग्रता का एकमात्र साधन मूर्तियों को ही माना तथा इन शक्तियों, जैसे सूर्य विष्णु, शिव, बुद्ध आदि की विभिन्नावस्था की मुद्रायें अनेक मुख अथवा अनेक हाथों के साथ सुसज्जित किया।

सूर्य की प्रतिमा यद्यपि गुप्तकाल से ही बननी प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु इस युग में इसकी बनावट में परिवर्तन आ गया। इस मूर्ति में दंडी तथा पिंगल दो मूर्तियों के साथ ऊषा तथा प्रत्यूषा नामक दो देवियाँ भी जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार का उदाहरण मध्यभारत में प्राप्त हुआ है। ऐसा ही कोणार्क का विशाल सूर्य मन्दिर उड़ीसा में तैयार किया गया था। विष्णु प्रतिमाएँ इस काल में बहुत संख्या में प्राप्त होती हैं। विष्णु के चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ मिलती हैं जो खड़ी तथा कमलासन पर बैठी दोनों अवस्थाओं में हैं। बलराम, वराह, वामन, मत्स्य नरसिंह आदि की मूर्तियाँ अलग-अलग तथा एकसाथ बनी मिलती हैं। ११वीं शताब्दी की हैहय शासन-काल की बनी एक स्तम्भ पर विष्णु के अनेक अवतारों की प्रतिमायें मिली हैं जिसमें मत्स्य, बुद्ध वामन, कल्कि की प्रतिमायें एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। एक अन्य स्तम्भ पर कूर्म, वाराह और नरसिंह की मूर्तियाँ हैं। बंगाल में विष्णु की मूर्ति ललितासन में गरुड़ के साथ निर्मित मिली है। विष्णु मूर्ति में आयुधों (शंख, चक्र गदा और पद्म) का भी अंकन पाया जाता है। कहीं-कहीं विष्णु और ब्रह्मा की सम्मिलित प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। विष्णु मूर्ति में चतुर्भुजी रूप ही प्रायः प्रदर्शित किया गया है।

विष्णु के साथ-साथ शाक्त मतानुसार शिव की लिंगपूजा का भी विचाराधीन युग में अधिक प्रचार रहा। अस्तु एक मुख अथवा चतुर्मुख लिंग की मूर्तियाँ शिव के

आकार को प्रकट करने के लिये निर्मित हुइ। शिव की नटमूर्ति, सदाशिव, उमा-महेश्वर, कल्याण सुन्दर तथा अघोर रुद्र की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। शिव पार्वती की सम्मिलित प्रतिमा का प्रचार इस युग में खूब रहा। ग्यारवी शताब्दी के हैहय मन्दिर मे एक ऐसी ही प्रतिमा मिली है। शिव के अतिरिक्त गणेश और कार्तिकेय की भी पूजा इस युग में होती थी। इस कारण इनकी भी मूर्तियाँ अधिक संख्या मे निर्मित हुई।

इन शक्तियों के पश्चात अन्यान्य देवी देवताओ की प्रतिमाओं का इस युग मे सृजन हुआ। देवी प्रतिमाएँ बहुभुजी आकृति में प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चण्डी गणेशानी, सप्तमातृका आदि देवियो की मूर्तियाँ भी निर्मित हुई। रोग की देवी हारिती (शीतला) सर्पदेवी (मनसा), शक्ति मूर्ति (षष्ठी) गंगा और यमुना की मूर्तियाँ भी पूर्वमध्य काल में प्राप्त होती हैं। वैदिक काल के कुबेर, यम, वरुण, इन्द्र, अग्नि, आदि देवता भी इस युग मे प्रतिमाओ मे समाहित कर दिये गये थे। इन हिन्दू प्रतिमाओ के अतिरिक्त जैन और बौद्ध दोनो धर्मों की प्रतिमायें भी इस युग की देन हैं, किन्तु इनका परिमाण हिन्दू प्रतिमाओं की अपेक्षा बहुत ही कम रहा।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थङ्करो की मूर्तियाँ मिली है जिनके साथ यक्ष तथा यक्षिणी समाविष्ट किये गये है। प्रधान मूर्ति को २३ मूर्तियो के बीच में बनाया गया है। चेदि राज्य मे इस धर्म की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जो उनकी आराध्य शक्तियाँ हैं। बौद्ध धर्म मे महायान तथा वज्रयान शाखाओ मे तारा, अवलोकितेश्वर, बोधिसत्त्व, लोकेश्वर, जम्भल हेवज आदि शक्ति प्रतिमायें मिलती हैं। इन प्रतिमाओ का सृजन प्रस्तरो के अतिरिक्त कास्य ताम्र आदि धातुओ से भी हुआ, जिसके प्रमाण में कई मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। मिट्टी की मूर्तियो का भी बाहुल्य है।

संगीत तथा चित्रकला—तत्कालीन प्रतिमाओं के दिग्दर्शन से उस काल की संगीतकला का स्पष्टीकरण सफलतापूर्वक हो जाता है। पाल शैली मे पाल युग की निर्मित शिव की धातु-प्रतिमा मिली है जिसम शिव ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। पहाड़पुर की खुदाई म नाचती हुई स्त्री की *मिट्टी प्रतिमा मिली है जिससे नृत्य-कला का भान* होता है। मूर्तियो के साथ बने मृदंग, एकतारा, झाल बांसुरी आदि वादनो द्वारा वादन कला का ज्ञान होता है। सामाजिक उत्सवो पर संगीत का भी आयोजन होता था। इस प्रकार पूर्वमध्य काल मे नृत्य, वादन और गायन तीनों का प्रचार रहा।

चित्रकला का क्षेत्र भी विचाराधीन युग मे काफी उन्नतावस्था मे था। गुप्त कालीन अजन्ता की चित्रकारी इस युग तक चलती रही, जिसके अनुसार मन्दिरो की दीवालो का चित्रो से सजाया जाता था। आठवी शताब्दी म इन भित्तिचित्रो के स्थान पर छोटी आकृतियाँ निर्मित हुई जिसका प्रयोग हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन मे होता था। इनका चलन पाल शैली म खूब हुआ। ताड के पत्रो पर भी इस युग मे चित्र बने। इनम प्रज्ञापारमिता मुख्य माना जाता है। तत्कालीन चित्रो का निर्माण देवताओं की आकृतियो पर हुआ। पहले काले रंग से इन चित्रो का आकार खींच लिया जाता था, तत्पश्चात लाल, नीले हरे पीले आदि रंगो से भर दिया जाता था। खाली स्थान को पत्र-पुष्पो मे चित्रित कर दिया जाता था। चित्रो के मध्य में प्रधान देवता की रचना होती थी और चारो ओर अन्य आकृतियाँ बनाई जाती थी। इस प्रकार इस युग म चित्रो की खूब अभिवृद्धि हुई। हस्तलिखित पुस्तको के बीच-बीच मे कलाकार चित्र कला का भी निर्देशन कर अपनी कलात्मकता का परिचय दे देता था।

प्रश्न

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

१ पूर्वमध्ययुग के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का विशद वर्णन कीजिए। (१९६६)

२ पूर्वमध्ययुग की धार्मिक व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

गोरखपुर विश्वविद्यालय

१ राजपूत युग के प्रमुख कलात्मक और साहित्यिक क्रिया-कलापों का विवरण दीजिए। (१९६७)

२ सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक हिन्दू मन्दिर स्थापत्य का संक्षिप्त सर्वेक्षण कीजिए। (१९६८)

३ प्राचीन भारतवर्ष में मूर्तिपूजा तथा भक्ति के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। (१९६८)